हजारीप्रसाद द्विवेदी ग्रन्थावली

उपन्यास

बाणभट्ट की आत्मकथा

चारु चन्द्रलेख

हजारीप्रसाद द्विवेदी ग्रन्थावली

1



राजकमल प्रकाशन

नयी दिल्ली पटना

मूल्य : रु. 75.00

प्रथम संस्करण : अगस्त, 1981

प्रकाशक : राजकमल प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड,
8, नेताजी सुभाष मार्ग, नयी दिल्ली-110002

मुद्रक : अजय प्रिण्टर्स, दिल्ली-110032

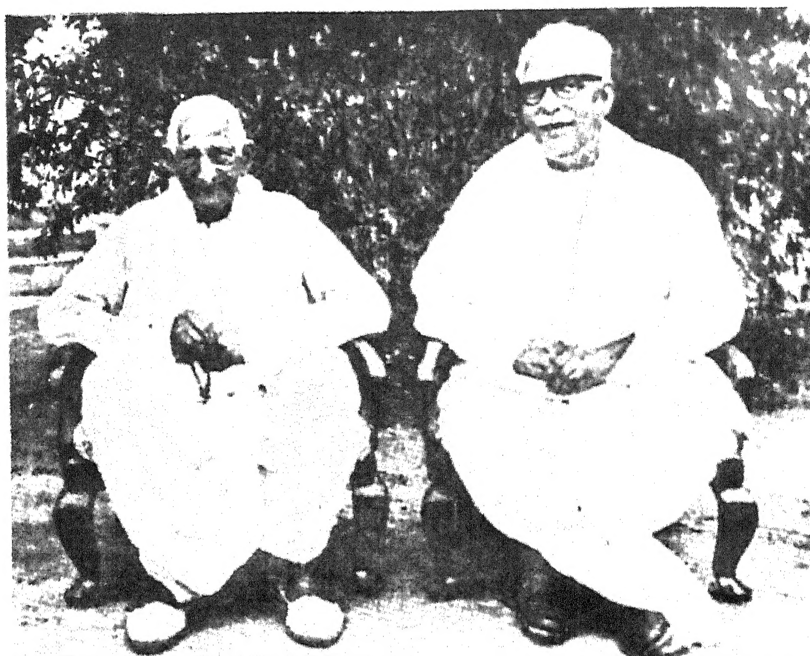
कलापक्ष : मोहन गुप्त

HAZARIPRASAD DWIVEDI GRANTHAVALI
Price : Rs. 75 00



"किसी से भी न डरना, गुरु से भी नहीं, मन्त्र से भी नहीं,
लोक से भी नहीं, वेद से भी नहीं।"

—बाणभट्ट की आत्मकथा



पिता पं. अनमोल द्विवेदी के साथ

"धारा रुद्ध न होने पाये। कौन जानता है, भविष्य में उसी धारा में कौन कृती बालक पैदा होकर संसार को नयी रोशनी दे !"

—अशोक के फूल

द्विवेदीजी की पाण्डुलिपि का एक पृष्ठ



उदयगिरि की वराहमूर्त्ति के एक फोटो के आधार पर शान्ति-निकेतन के भाई कृपालसिंह द्वारा तैयार किया गया रेखाचित्र, जिसे आचार्य द्विवेदी ने 'बाणभट्ट की आत्मकथा' के प्रथम संस्करण के प्रच्छदपट के लिए आग्रहपूर्वक बनवाया था। इस तथ्य का उल्लेख उन्होंने 'बाणभट्ट' के प्रथम संस्करण के निवेदन में किया था। बाद के संस्करणों में उस निवेदन का अन्तिम कुछ अंश प्रकाशित नहीं होता रहा है। ग्रन्थावली के इस खण्ड में 'बाणभट्ट' के साथ पहले संस्करणवाला निवेदन उसके मूल रूप में ही दिया गया है।

निवेदन

प्रातः स्मरणीय आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के समग्र साहित्य को एक सूत्र में अनुस्यूत करके हिन्दी-पाठकों को समर्पित करते हुए हमें अत्यधिक आनन्द का अनुभव हो रहा है। स्वर्गीय आचार्यजी के मन में अनेक परि-कल्पनाएँ तथा योजनाएँ थीं जिन्हें कार्यान्वित करने के लिए वे निरन्तर क्रियाशील थे। परन्तु नियति-निर्णय से उन्हें अधूरी ही छोड़कर वे चले गये हैं। **हजारीप्रसाद द्विवेदी ग्रन्थावली** की प्रकाशन-योजना उसी सम्पूर्णता की शृंखला की पहली कड़ी है।

आचार्यत्व की गरिमा से दीप्त आचार्य द्विवेदी का व्यक्तित्व और उनकी अपार सर्जनात्मक क्षमता किसी भी पाठक को चमत्कृत और अभिभूत करने के लिए पर्याप्त है। मनीषियों की दृष्टि में वे चिन्तन और भावना दोनों ही स्तरों पर महत्त्व-बिन्दु पर भासमान हैं। उनकी रचना-दृष्टि समय के आरपार देखने में समर्थ थी। इतिहास उनकी लेखनी का स्पर्श पाकर अपनी समस्त जड़ता खो बैठा और सतत् प्रवाहित जीवनधारा साहित्य में हिल्लोलित हो उठी, जो तीनों कालों को जोड़ देती है।

आचार्य द्विवेदी की बहुमुखी जीवन-साधना ने हिन्दी वाङ्मय के एक पूरे और विशाल युग को प्रभावित किया है। वे संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश तथा हिन्दी और बांग्ला साहित्य के मर्मज्ञ विद्वान् थे। साथ ही, अंग्रेजी साहित्य का भी व्यापक धरातल पर उन्होंने परिशीलन किया था और अंग्रेजी भाषा के माध्यम से ग्रीक साहित्य का भी रसास्वादन किया था। अगाध पाण्डित्य में सहजता का मणिकांचन योग उन्हें सामान्य मानव की भूमिका में प्रतिष्ठित कर देने की क्षमता प्रदान कर देता था और वे अनायास ही जनहृदय से स्पन्दित और आन्दोलित हो उठते थे। उनका विद्वान् सरलता से सजग हो उठता था। वे प्रत्येक मन में विराजमान हो जाने की अपूर्व मेधा के धनी हो जाते थे।

आचार्यजी की इन्हीं अद्वितीय प्रवृत्तियों को स्थायी रूप देने के लिए इस ग्रन्थावली की योजना बनायी गयी है। विषय और विधा दोनों दृष्टि-कोणों को साथ रखकर विभिन्न खण्डों का विभाजन किया गया है। कुल मिलाकर ये ग्यारह खण्ड हैं—

1. पहला खण्ड : उपन्यास-1
2. दूसरा खण्ड : उपन्यास-2
3. तीसरा खण्ड : हिन्दी साहित्य का इतिहास
4. चौथा खण्ड : प्रमुख सन्त कवि
5. पाँचवाँ खण्ड : मध्यकालीन साधना
6. छठवाँ खण्ड : मध्यकालीन साहित्य
7. सातवाँ खण्ड : लालित्य तत्त्व एवं साहित्य मर्म
8. आठवाँ खण्ड : कालिदास और रवीन्द्र
9. नवाँ खण्ड : निबन्ध-1
10. दसवाँ खण्ड : निबन्ध-2
11. ग्यारहवाँ खण्ड : विविध साहित्य

ग्रन्थावली को क्रमबद्ध करने में अनेकों समस्याएँ आयी हैं। निबन्धों का विभाजन भी निबन्ध-संग्रह तथा तिथि-क्रम के आधार पर न करके विषय के अनुसार ही किया गया है। निबन्ध के अन्त में मूल निबन्ध-संग्रह का नाम दे दिया गया है। ग्रन्थावली अधिकाधिक उपयोगी हो सके, इस बात को ध्यान में रखकर ऐसा किया गया है। कबीर, सूर और तुलसी के अतिरिक्त कालिदास और रवीन्द्रनाथ ठाकुर से आचार्यप्रवर प्राय: अभिभूत रहे हैं, अत: दोनों महाकवियों से सम्बद्ध सामग्री एक ही खण्ड में दे दी गयी है। अन्तिम खण्ड में विविध प्रकाशित एवं अप्रकाशित सामग्री संकलित है। आचार्य द्विवेदी ने प्रारम्भ में काव्य रचनाएँ भी की थीं और अनेक अनुवाद भी। उन्हें यहाँ समाहित कर दिया गया है।

इस विशाल योजना की परिपूर्णता में अनेक लोगों ने अपना अमूल्य सहयोग दिया है जिसके बिना निश्चय ही यह कार्य पूर्ण नहीं हो पाता। उन सबके प्रति हम हार्दिक धन्यवाद व्यक्त करते हैं। पं. राजाराम शास्त्री ने अप्रकाशित ज्योति:शास्त्र एवं साहित्य-शास्त्र सम्बन्धी रचनाओं के विषय में परामर्श दिया; और श्री महेशनारायण 'भारतीभक्त' ने मुद्रणप्रति तैयार करके हमारे दायित्व को आसान बनाया। हम इन दोनों को साधुवाद अर्पित करते हैं। श्रीमती शीला सन्धू और राजकमल प्रकाशन से सम्बद्ध सभी व्यक्तियों ने जिस तत्परता और रुचि से इस योजना को सम्पूर्ण कराया है, वह प्रशंसनीय है।

इन शब्दों के साथ आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी का सम्पूर्ण रचना-संसार ग्रन्थावली के रूप में, हम वृहद् हिन्दी विश्व परिवार को समर्पित करते हैं। इससे ज्ञानधारा एवं रससृष्टि में थोड़ा भी विकास सम्भव हुआ तो हम अपने को कृतकार्य मानेंगे।

जगदीशनारायण द्विवेदी
मुकुन्द द्विवेदी

हजारीप्रसाद द्विवेदी ग्रन्थावली

1

"प्रजा में मृत्यु का भय छा गया है, यह अशुभ लक्षण है। अगर तुम आर्यावर्त्त को बचाना चाहते हो, तो प्राण देने के लिए तत्पर हो जाओ। धर्म के लिए प्राण देना किसी जाति का पेशा नहीं है, वह मनुष्य-मात्र का उत्तम लक्ष्य है। अमृत के पुत्रो, न्याय जहाँ से भी मिले, वहाँ से बलपूर्वक खींच लाओ। यदि तुम नहीं समझते कि न्याय पाना मनुष्य का जन्मसिद्ध अधिकार और उसे न पाना अधर्म है, तो भारतवर्ष का भविष्य अन्धकार से आच्छन्न है।"

—बाणभट्ट की आत्मकथा
ग्रन्थावली-1, पृष्ठ 176

"सारा संसार मूर्खता का शिकार बना हुआ है। इस मूर्खता की धारा में योगी और सिद्ध भी उसी प्रकार बह गये हैं, जिस प्रकार गृहस्थजन। कोई शुभ-कर्म के अनुष्ठान और अशुभ-कर्म के वर्जन को ही मोक्ष समझ रहा है, कोई वेदपाठ को मुक्ति का परम सोपान मानकर भूला हुआ है, कोई निरालम्ब रूप को ही मुक्ति माने बैठा हैं, कोई ध्यान, धारणा के प्रयोग से ही मुक्ति का फल खींच लेने को उद्यत है, कोई मद्य-मांस और विलासिता के द्वारा प्राप्त आनन्द को ही मोक्ष समझे बैठा है, कोई मूल-कन्द से उल्लसित भगवती कुण्डलिनी के संचार मात्र को मुक्ति समझकर उलझा हुआ है, कोई सुलभ दृष्टि-निपात को ही मोक्ष मानने में उल्लास का अनुभव कर रहा है। ये सब खण्ड सत्य हैं। मोक्ष तो वह है जब सहज ही मनुष्य समाधि लगा सके और उस सहज समाधि के द्वारा ही स्वयं अपने मन से अपने मन को देखने लगे।

—चारु चन्द्रलेख
ग्रन्थावली-1, पृष्ठ 380

बाणभट्ट की आत्मकथा

ततः समुत्क्षिप्य धरां स्वदंष्ट्रया
महावराहः स्फुट--पद्मलोचनः।
रसातलादुत्पल - पत्र - सन्निभः
समुत्थितो नील इवाचलो महान् ।।

निवेदन

'आत्मकथा' प्रकाशित हो रही है। अनेक मित्रों के आग्रह, अनुरोध और शुभेच्छा का ही यह परिणाम। आरम्भ में कथा 'विशाल भारत' में प्रकाशित होने लगी थी। अगर उस पत्र के यशस्वी सुहृद्वर श्री मोहन सिंह सेंगर ने बार-बार बढ़ावा देकर लिखवा न ली होती, तो कथा लिखी ही न जाती। विचार था कि समाप्त होने के बाद इस कथा पर एक विस्तृत आलोचना लिखी जाये। समय के अभाव में ऐसा नहीं हो सका। सहृदय पाठकों के लिए यह कार्य छोड़ दिया गया। एक विशेष अभिप्राय से रवीन्द्रनाथ की एक कविता का भाव इसमें एक स्थान पर जोड़ दिया गया था, वह अभिप्राय तो सिद्ध नहीं हुआ, पर जोड़ा हुआ अंश जहाँ-का-तहाँ रह गया। बाणभट्ट और श्री हर्षदेव के ग्रन्थ 'कथा' के प्रधान उपजीव्य रहे हैं। इन लोगों के प्रति कैसे कृतज्ञता प्रकट करूँ? भाई कमल कुलश्रेष्ठ ने पुस्तक के ठीक-ठीक छपने में अमूल्य सहायता पहुँचायी है। अनेक ज्ञात और अज्ञात मित्रों ने नाना भाव से बढ़ावा दिया है। सबके प्रति अपनी हार्दिक कृतज्ञता प्रकट करता हूँ। शान्तिनिकेतन के कलाभवन के भाई कृपालसिंहजी ने पुस्तक के प्रच्छदपट का चित्र तैयार कर दिया है। यह चित्र उदयगिरि की वराहमूर्त्ति के एक फोटो के आधार पर बनाया गया है। भाई कृपालसिंह उदीयमान कलाकारों में हैं। भविष्य में वे अतुल कीर्त्ति अर्जन करें, यह मेरी प्रार्थना है।

ग्वालियर राज्य के पुरातत्त्व विभाग ने उदयगिरि की वराहमूर्त्ति का चित्र भी दिया है और उसे पुस्तक में छापने की अनुमति भी दी है। इस कृपा के लिए मैं उक्त संस्था के प्रति हार्दिक कृतज्ञता प्रकट करता हूँ।

हिन्दी भवन, शान्तिनिकेतन
29.11.46

हजारीप्रसाद द्विवेदी

जलौघमग्ना सचराचरा धरा
विषाणकोट्याऽखिलविश्वमूर्त्तिना।
समुद्धृता येन वराहरूपिणा।
स मे स्वयंभूर्भगवान्प्रसीदतु ॥

बाणभट्ट की 'आत्मकथा'

कथामुख

बाणभट्ट की 'आत्मकथा' के प्रकाशित होने के पूर्व उसका थोड़ा इतिहास जान लेना आवश्यक है। मिस कैथराइन आस्ट्रिया के एक सम्भ्रान्त ईसाई-परिवार की कन्या हैं। यद्यपि वे अभी तक जीवित हैं; पर उन्होंने एक विचित्र ढंग का वैराग्य ग्रहण किया है, और पिछले पाँच वर्षों में मुझे उनकी केवल एक ही चिट्ठी मिली है, जो इस लेख से सम्बद्ध होने के कारण अन्त में छाप दी गयी है। मिस कैथराइन का भारतीय विद्याओं के प्रति असीम अनुराग था। अपने देश में रहते समय ही उन्होंने संस्कृत और ईसाई-हिन्दी का अच्छा अभ्यास कर लिया था। 68 वर्ष की उम्र में वे इस देश में आयीं और अक्लान्त भाव से यहाँ के प्राचीन स्थानों का आठ वर्ष तक लगातार भ्रमण करती रहीं। यहाँ आकर उन्होंने बँगला का भी अभ्यास किया था; पर इस भाषा में लिखने की योग्यता उन्हें अब तक नहीं हुई और आगे होने की कोई विशेष सम्भावना भी नहीं है। मिस कैथराइन को हम लोग 'दीदी' कहते थे—दीदी अर्थात् दादी। आगे जब कभी 'दीदी' शब्द का प्रयोग किया जाय, तो पाठक उन्हीं से तात्पर्य समझें। बँगला में दादी के साथ मज़ाक करने का रिवाज है, दीदी इस बात को जानती थीं और कभी-कभी बड़ा करारा मज़ाक कर बैठती थीं। हम लोगों पर—विशेषकर मेरे ऊपर—दीदी का स्नेह नाती के समान ही था। दीदी बहुत भोली थीं। अपनी कष्टसाध्य यात्राओं के बाद जब वे इधर लौटतीं, तो हम लोगों के आनन्द का ठिकाना न रहता। नयी बात सुनने के लिए या नयी चीज़ देखने के लिए हम लोगों की भीड़ लग जाती। दीदी एक-एक करके, कभी कोई तालपत्र की पोथी, कभी पुरानी पोथी के ऊपर की चित्रित काठ की पाटी, कभी पुराने सिक्के निकाल-निकालकर हमारे हाथों पर रखती जातीं और उनका इतिहास सुनाती जातीं। उस समय उनका चेहरा श्रद्धा से गद्‌गद होता और उनकी छोटी-छोटी नीली आँखें पानी से भरी होतीं। फिर धीरे-से उनकी जेब से एक सफेद बिल्ली का बच्चा निकलता—बिल्कुल सिकुड़ा हुआ। हम लोग इस मज़ाक से परिचित थे। दीदी को प्रसन्न करने के लिए हम

में से कोई बड़ी उत्सुकता के साथ बिल्ली के उस बच्चे को इस प्रकार लेता, मानो कोई हस्तलिखित पोथी ले रहा हो। और तब वह बिलौटा कूद जाता और हम लोग मानो अचकचाकर डर जाते। फिर दीदी इतना हँसतीं कि नूतन कुटीर की छत हिल जाती। दीदी के इस हर्षातिरेक का परिणाम यह होता कि यार लोग संगृहीत बहुमूल्य वस्तुओं में से कुछ को दबा जाते। (मैंने कभी ऐसा अपकर्म नहीं किया!) पर दीदी को पता भी नहीं चलता। कभी-कभी दीदी जब ध्यानस्थ हो जातीं, तो उनका वलीकुंचित मुखमण्डल बहुत ही आकर्षक होता। ऐसा जान पड़ता कि साक्षात् सरस्वती आविर्भूत हुई हैं। ऊधम करते हुए छोकरे पास से निकल जाते, धूल उड़ाती हुई बैलगाड़ियाँ चली जातीं, कुत्ते उछल-कूद से शुरू कर लड़ाई-झगड़े पर आमादा हो जाते; पर दीदी कर्पूर-प्रतिमा की भाँति निर्वाक्, निश्चल, निःस्पन्द ही रहतीं! जब उनकी समाधि टूटती, तब उनकी बातें सुनने लायक होतीं।

अन्तिम वार दीदी राजगृह से लौटी थीं। उनके चेहरे से ऐसा जान पड़ता था कि बुद्धदेव से उनकी ज़रूर भेंट हुई होगी। मैं जब मिलने गया, तो यद्यपि वे थकी हुई थीं, पर यह कहना न भूलीं कि उन्हें राजगृह में एक स्यार मिल गया था, जो उन्हें देखकर तीन बार ठिठक-ठिठककर खड़ा हुआ—जैसे कुछ कहना चाहता हो! दीदी का विश्वास था कि वह बुद्धदेव का समसामयिक था और उसी युग की कोई बात कहना चाहता था; क्योंकि दीदी ने स्पष्ट ही उसके चेहरे पर एक निरीह करुण भाव देखा था। आहा, उस युग के स्यार भी कैसे करुणावान् होते थे! मैं समझ गया कि दीदी को अगर छूट दी जाय, तो उस शृगाल के सम्बन्ध में एक पुराण तैयार हो जायगा और पिण्ड छुड़ाना मुश्किल हो जायगा। मैंने कहा, "दीदी, आज विश्राम करो, स्यार की बात कल होगी।" दीदी ने भाव-विह्वल होकर कहा, "हाँ रे, थक गयी हूँ। जा, आज भाग जा। कल ज़रूर आना। देख, इस बार शोण नद के दोनों किनारों की पैदल यात्रा कर आयी हूँ।" मैं जैसे अचरज में आ गया—"शोण नद?"

"हाँ रे, शोण नद।"

"कुछ मिला है, दीदी?"

"बहुत-कुछ। कल आना।"

मैं पचहत्तर वर्ष की इस बुढ़िया के साहस और अध्यवसाय की बात सोचकर हैरान था। उस समय उठ गया। आहार के समय एक बार लौटकर फिर आया। सोचा, इस समय दीदी को घर पर भोजन के लिए ले चलूँ। पर देखा, दीदी सामने मैदान में ध्यानस्थ बैठी हैं। आहा, चाँदनी इसी को तो कहते हैं। सारा आकाश घने नील-वर्ण के अच्छोद सरोवर की भाँति एक दिगन्त से दूसरे दिगन्त तक फैला हुआ था। उसमें राजहंस की भाँति चन्द्रमा धीरे-धीरे तैर रहा था। दूर कोने में एक-दो मेघ-शिशु दिन-भर के थके-माँदे सोये हुए थे। नीचे से ऊपर तक केवल चाँदनी-ही-चाँदनी फैली थी और मैदान में दीदी निश्चल समाधि की

अवस्था में बैठी थीं। पास ही खड़ा एक छोटा-सा खजूर-वृक्ष सारी शून्यता को समता दे रहा था। मैं चुपचाप खिसक गया।

दूसरे दिन मैं शाम को दीदी के स्थान पर पहुँचा। नौकर से मालूम हुआ कि उस रात को दीदी दो बजे तक चुपचाप बैठी रहीं और फिर एकाएक अपनी टेबिल पर आकर लिखने लगीं। रात-भर लिखती रहीं और लिखने में ऐसी तन्मय थीं कि दूसरे दिन आठ बजे तक लालटेन बुझाये बिना लिखती ही रहीं। फिर टेबिल पर ही सिर रखकर लेट गयीं और शाम के तीन बजे तक लेटी रहीं। फिर उन्होंने स्नान किया और अब चाय पीने जा रही हैं। चाय पीते-पीते दीदी से बात करना बड़ा मनोरंजक होता था, सो मैंने अपना भाग्य सराहा। दीदी चाय पीने का आयोजन कर रही थीं। मुझे देखकर बहुत प्रसन्न हुईं और बोलीं, "तुझे ही खोज रही थी। शोण-यात्रा में उपलब्ध सामग्री का हिन्दी रूपान्तर मैंने कर लिया है। तू इसे एक बार पढ़ तो भला। देख, मेरी हिन्दी में जो ग़लती है, उसे सुधार दे और आनन्द से इसका अँगरेजी में उल्था करा ले। ले भला!"

यह 'ले भला!' दीदी का स्नेह-सम्भाषण था। जब वे अपने नातियों पर बहुत खुश होतीं, तो उन्हें कुछ देते समय कहती जातीं—'ले भला!' आज तक इस स्नेह-वाक्य के साथ चाय और बिस्कुट ही मिला करते थे; पर आज मिला कागज का एक बड़ा-सा पुलिन्दा। दीदी ने उसे देकर कहा कि यह उनकी दो सौ मील की पैदल यात्रा का सुपरिणाम है। फिर कहने लगीं, "तू इसे आज ही रात को ठीक कर ले और कल पाँच बजे की गाड़ी से कलकत्ते जाकर टाइप करा ला। परसों मुझे इसकी कापियाँ मिल जानी चाहिए।"

मैंने सकुचाते हुए कहा, "दीदी, कोई पाण्डुलिपि मिली है क्या?"

दीदी ने डाँटते हुए कहा, "एक बार पढ़के तो देख। इसका रहस्य फिर पूछना। तू बड़ा आलसी है। देख रे, बड़े दुःख की बात बता रही हूँ। पुरुष का जन्म पाया है, आलस छोड़कर काम कर। स्त्रियाँ चाहें भी तो आलस्यहीन होकर कहाँ काम कर सकती हैं? मेरे जीवन के वे दिन लज्जा और संकोच में ही निकल गये, जब काम करने की ताकत थी। अब वृद्धावस्था में न तो उतना उत्साह रह गया है और न शक्ति ही। तू बड़ा आलसी है। बाद में पछतायगा। पुरुष होकर इतना आलसी होना ठीक नहीं। तू समझता है, यूरोप की स्त्रियाँ सब-कुछ कर सकती हैं? गलत बात है। हम भी पराधीन हैं। समाज की पराधीनता ज़रूर कम है; पर प्रकृति की पराधीनता तो हटायी नहीं जा सकती। आज देखती हूँ कि जीवन के 68 वर्ष व्यर्थ ही बीत गये!"

मैंने देखा, दीदी की आँखें गीली हो गयी हैं और उनका पोपला मुख कुछ कहने के लिए व्याकुल है; पर बात निकल नहीं रही है। जैसे शब्द ही न मिल रहे हों। न जाने किस अतीत में उनका चित्त धीरे-धीरे डूब गया और मैं चुप बैठा रहा। उस दिन भी दीदी का चाय पीना नहीं हुआ। जब दीदी का ध्यान भंग हुआ, तो उनकी आँखों से पानी की धारा झर रही थी और वे उसे पोंछने का प्रयत्न भी

नहीं कर रही थीं।

मैंने अनुभव किया कि दीदी किसी बीती हुई घटना का ताना-बाना सुलझा रही हैं। उधर से ध्यान हटाने के लिए मैंने प्रश्न किया, "दीदी, आजकल शोण में नावें चलती हैं ?" दीदी ने मुस्करा दिया। उसका भाव था कि 'मैं समझ गयी, तू मेरा ध्यान दूसरी ओर ले जाना चाहता है।' फिर बोलीं, "देख, मैं यहाँ ज्यादा नहीं ठहर सकती। इस अनुवाद को तू ज़रा ध्यान से पढ़ और कल कलकत्ते जाकर टाइप करा ला। दो-एक चित्र भी पुस्तक में देने होंगे। जा, जल्दी कर।"

कागजों का पुलिन्दा लेकर मैं घर आया। यद्यपि मेरी आँखें कमजोर हैं और रात को काम करना मेरे लिए कठिन है; फिर भी दीदी के कागजों को मैंने पढ़ना शुरू किया। शीर्षक के स्थान पर मोटे-मोटे अक्षरों में लिखा था—'अथ बाणभट्ट की आत्मकथा लिख्यते।'

बाणभट्ट की आत्मकथा! तब तो दीदी को अमूल्य वस्तु हाथ लगी है। मैं ध्यान से सारी कथा पढ़ गया। मुझे अपार आनन्द आ रहा था। इतने दिन बाद संस्कृत-साहित्य में एक अनोखी चीज प्राप्त हुई है। रात यों ही बीत गयी। सबेरे मैं कलकत्ते को रवाना हो गया। वहाँ एक सप्ताह रुकना पड़ा। लौटकर आया, तो मालूम हुआ कि दीदी काशीवास करने चली गयी हैं। किसी को कोई पता-ठिकाना नहीं दे गयीं।

दो साल तक वह कथा यों ही पड़ी रही। एक दिन मैंने सोचा कि बाणभट्ट के ग्रन्थों से मिलाकर देखा जाय कि कथा कितनी प्रामाणिक है। कथा में ऐसी बहुत-सी बातें थीं, जो उन पुस्तकों में नहीं हैं। इनके लिए मैंने समसामयिक पुस्तकों का आश्रय लिया और एक तरह से कथा को नये सिरे से सम्पादित किया। आगे जो कथा दी हुई है, वह दीदी का अनुवाद है और फुटनोट में जो पुस्तकों के हवाले दिये हुए हैं वे मेरे हैं। कथा ही असल में महत्त्वपूर्ण है, टिप्पणियाँ तो उसकी प्रामाणिकता की सबूत हैं।

बहुत दिनों तक दीदी का कोई समाचार नहीं मिला। मैं अब उनके दर्शन की आशा छोड़ बैठा था। एक दिन अचानक मुगलसराय स्टेशन पर दीदी के दर्शन हो गये। वे गाड़ी बदल रही थीं और बहुत ही व्यस्त दीख रही थीं। मुझे देखकर वे ज़रा भी प्रसन्न नहीं हुईं। केवल कुली को डाँटकर कहती रहीं—"सँभालके ले चल। तू बड़ा आलसी है!" मैंने सोचा, कुली भी आलसी है! फिर मैंने चिल्लाकर कहा, "दीदी, तुम क्या पहचानती भी नहीं, वाह रे!"

दीदी रुक गयीं। बोलीं, "देखो, मैं बहुत दुखी हूँ! वह बिल्ली धोखा दे गयी।"

मैंने कहा, "क्यों, क्या हुआ ?"

दीदी बोलीं, "कम्बख्त स्त्री निकली। देख न, पाँच बच्चे दिये हैं, मैं कहाँ तक सँभालूँ ?"

मैंने बात काटकर कहा, "दीदी, वह आत्मकथा मेरे ही पास पड़ी है।"

दीदी गुस्से में थीं। रुकीं नहीं। गाड़ी में बैठकर उन्होंने एक कार्ड फेंककर कहा, "मैं देश जा रही हूँ। ले, मेरा पता है। ले भला !"

मैंने कार्ड सँभाला और दीदी की गाड़ी चल दी।

नीचे बाणभट्ट की 'आत्मकथा' दे रहा हूँ। दीदी ने उसे प्रकाशित करने की आज्ञा दे दी है। ध्यान देने की बात यह है कि बाणभट्ट की अन्यान्य पुस्तकों की भाँति यह आत्मकथा भी अपूर्ण ही है।

अथ बाणभट्ट की 'आत्मकथा' लिख्यते

प्रथम उच्छ्वास

जयन्ति बाणासुरमौलिलालिता
दशास्यचूड़ामणिचक्रचुम्बिनः
सुरासुराधीशशिखान्तशायिनो
भवच्छिदस्त्र्यम्बकपादपांसवः ॥1॥[1]

यद्यपि बाणभट्ट नाम से ही मेरी प्रसिद्धि है; पर यह मेरा वास्तविक नाम नहीं है। इस नाम का इतिहास लोग न जानते, तो अच्छा था। मैंने प्रयत्नपूर्वक इस इतिहास से लोगों को अनभिज्ञ रखना चाहा है; पर नाना कारणों से अब मैं उस इतिहास को अधिक नहीं छिपा सकता। मेरी लज्जा का प्रधान कारण यह है कि मेरा जन्म जिस प्रख्यात वात्स्यायन-वंश में हुआ है, उसके धवलकीर्त्ति-पट पर यह कहानी एक कलंक है। मेरे पितृ-पितामहों के गृह वेदाध्यायियों से भरे रहते थे। उनके घर की शुक-सारिकाएँ भी विशुद्ध मन्त्रोच्चारण कर लेती थीं, और यद्यपि लोगों को यह बात अतिशयोक्ति जँचेगी, परन्तु यह सत्य है कि मेरे पूर्वजों के विद्यार्थी उनकी शुक-सारिकाओं से डरते रहते थे। वे पद-पद पर उनके अशुद्ध पाठों को सुधार दिया करती थीं।[2] हमारे पूर्वजों के घर यज्ञ-धूम से निरन्तर धूमायित रहते थे। परन्तु यह सब मेरी सुनी हुई कहानी है। अपने पिता चित्रभानु भट्ट को तो मैंने स्वयं देखा है। यदि मैं कहूँ कि सरस्वती स्वयं आकर अपने पाणि-पल्लवों से मेरे पितृदेव के होमकालीन श्रम-सीकरों को पोंछा करती थीं, तो इसमें कुछ भी अत्युक्ति नहीं होगी; क्योंकि उषःकाल से लेकर सूर्योदय के दो मुहूर्त्तों तक निरन्तर हवन करने के बाद जब मेरे पिता पसीने से तर होकर उठते थे, तो सीधे अध्यापन के कुशासन पर जा बैठते थे। यही उनका विश्राम था। इसी समय विद्यार्थियों को वेदाभ्यास कराते-कराते उनके श्रम-बिन्दु सूखते थे।[3]

1. तु. 'कादम्बरी', कथामुख 2
2. तु. 'कादम्बरी', कथामुख 12
3. तु. 'कादम्बरी', 19; 'हर्षचरित', द्वितीय उच्छ्वास, पृ. 33

इसे सरस्वती का पसीना पोंछना न कहूँ, तो क्या कहूँ ? ऐसे ही कृती पिता का मैं पुत्र था— जन्म का आवारा, गप्पी, अस्थिरचित्त और घुमक्कड़। मैं घर से जब निकल भागा था, तो अपने साथ गाँव के अन्य अनेक छोकरों को भी फोड़ ले गया था। वे सब अन्त तक मेरे साथ नहीं रहे, तो भी मैं गाँव में बदनाम तो हो ही गया था। मगध की बोली में 'बण्ड' पूँछ-कटे बैल को कहते हैं। वहाँ यह कहावत मशहूर है कि 'बण्ड आप आप गये, साथ में नौ हाथ का पगहा भी लेते गये।' सो लोग मुझे 'बण्ड' कहने लगे। इसी को बाद में संस्कृत शब्द 'बाण' द्वारा संस्कार करके मैंने इस नाम की कुछ इज्जत बढ़ा ली। भट्ट तो लोगों ने और बाद में जोड़ा। वैसे मेरा असली नाम दक्ष था। इधर मेरे प्रति लोगों का आदर और स्नेह का भाव बढ़ गया है, वे चाहें तो दक्ष भट्ट कर लें। बड़ी होशियारी से मैंने यह नाम अन्यत्र सुरक्षित रख छोड़ा है। उसकी कहानी मैं अभी बताऊँगा।

मेरे पिता ग्यारह भाई थे। मैंने उनमें से सबको नहीं देखा था। मेरे एक चचेरे भाई का नाम उडुपति था। वे उम्र में मुझसे बहुत बड़े थे, पर मेरे साथ उनका व्यवहार समवयस्कों के समान ही था। वे उस युग के प्रसिद्ध तार्किक थे। उन्होंने ही वसुभूति नामक बौद्ध भिक्षु को शास्त्रार्थ में पराजित किया था। उनकी विद्वत्ता और चारित्र्य का महाराजाधिराज हर्षवर्द्धन पर बड़ा प्रभाव था, और वे एकाएक वैदिक मत की ओर प्रवृत्त हो गये थे। वे उडुपति भट्ट[1] मेरे ऊपर जितना स्नेह रखते थे, उतना मेरे परिवार में कोई नहीं रखता था। उन्होंने अनेक अप-कर्मों से मुझे बचाया है। प्रसंगवश मैं उनकी चर्चा यथास्थान करूँगा। यहाँ इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि 14 वर्ष की उम्र में जब मेरे पिता नहीं रहे—माता तो बहुत पहले मर चुकी थीं[2]—तो ये उडुपति भट्ट ही मुझे उस स्नेह-रस से सिंचित करते रहे, जिसे मैंने अपनी माता से पाया था। लेकिन इस कहानी को अपने दुर्भाग्य के रोने से नहीं शुरू करूँगा। इसे अपने सौभाग्य के उदय के साथ ही आरम्भ करूँगा। बीच-बीच में यदि दुर्भाग्य की कहानी आ जाय, तो इस कथा के अध्येता उसे क्षमा करेंगे।

आवारा तो मैं था ही। इस नगर से उस नगर में, इस जनपद से उस जनपद में बरसों मारा-मारा फिरता रहा। इस भटकन में मैंने कौन-सा कर्म नहीं किया ? कभी नट बनता, कभी पुतलियों का नाच दिखाता, कभी नाट्य-मण्डली संगठित करता और कभी पुराण-वाचक बनकर जनपदों को धोखा देता रहा; सारांश, कोई कर्म छोड़ा नहीं। भगवान् ने मुझे रूप अच्छा दिया था और बोलने की पटुता भी थोड़ी-सी थी। बस, मेरी किशोरावस्था और जवानी के दिनों में ये ही दो बातें मेरी सहायता करती थीं। यद्यपि लोग मेरे बहुविध कार्य-कलाप को देखकर मुझे

1. 'हर्षचरित' में बाण के एक पितृव्य-पुत्र का नाम तारापति लिखा है। उडुपति शायद वे ही हों।
2. तु. 'हर्षचरित', प्रथम उच्छ्वास

'भुजंग' समझने लगे थे; पर मैं लम्पट कदापि नहीं था। सो घूमता-घामता एक बार मैं स्थाण्वीश्वर (थानेसर) नगर में पहुँच गया। उस दिन को मैं अपने सौभाग्य का दिन मानता हूँ।

जब मैं नगर में पहुँचा, तो बड़ी धूमधाम देखी। कूर्मपृष्ठ के समान उन्नतोदर राजमार्ग पर एक बड़ा भारी जुलूस चला जा रहा था। उसमें स्त्रियों की संख्या ही अधिक थी। राजबधुएँ बहुमूल्य शिविकाओं पर आरूढ़ थीं। साथ-साथ चलनेवाली परिचारिकाओं के चरणविघट्टनजनित नूपुरों के क्वणन से दिगन्त शब्दायमान हो उठा था। वेगपूर्वक भुज-लताओं के उत्तोलन के कारण मणिजटित चूड़ियाँ चंचल हो उठी थीं। इससे बाहुलताएँ भी झंकार करने लगी थीं। उनकी ऊपर उठी हथेलियों को देखने से ऐसा लगता था, मानो आकाश-गंगा में खिली हुई कमलिनियाँ हवा के झोंकों से विलुलित होकर नीचे उतर आयी हों। भीड़ के संघर्ष से उनके कानों के पल्लव खिसक रहे थे। वे एक-दूसरी से टकरा जाती थीं। इस प्रकार एक का केयूर दूसरी की चादर में लगकर उसे खरोंच डालता था। पसीने से घुल-घुलकर अंगराग उनके चीनांशुकों को रँग रहे थे। साथ में नर्त्तकियों का भी एक दल जा रहा था। उनके हँसते हुए वदनों को देखकर ऐसा भान होता था कि कोई प्रस्फुटित कुमुदों का वन चला जा रहा है। उनकी चंचल हार-लताएँ जोर-जोर से हिलती हुई उनके वक्षभाग से टकरा रही थीं, खुली हुई केश-राशि सिन्दूर-बिन्दु पर अटक जाती थी। निरन्तर गुलाल और अबीर के उड़ते रहने के कारण उनके केश पिंगल वर्ण के हो उठे थे और उनके मनोरम गान से सारा राजमार्ग प्रतिध्वनित हो उठा था।

मैं नगर के एक चौराहे पर खड़ा-खड़ा मुग्ध भाव से यह दृश्य देख रहा था। इसका सबसे मजेदार हिस्सा वह था, जिसमें राजमहल में रहनेवाले बौने, कुबड़े, नपुंसक और मूर्ख लोग उद्धत नृत्य से विह्वल होकर भागे जा रहे थे। एक वृद्ध कंचुकी की दशा बड़ी दयनीय हो गयी थी। उसके गले में एक नृत्यपरायण रमणी का उत्तरीय वस्त्र अटक गया था और खींच-तान में पड़ा हुआ बेचारा बूढ़ा उपहास का पात्र बन गया था। राजकन्याओं का स्थान जुलूस के ठीक मध्य भाग में था। यहाँ का नृत्य-गान संयत, गम्भीर और मनोहारी था। एक ओर भेरी, मृदंग, पटह, काहल और शंख के निनाद से धरित्री फटी जा रही थी और दूसरी ओर राजकन्याओं के कपोल-तली के आन्दोलित मणिमय कुण्डलों और उत्पल-पत्रों से जगमगाती हुई शिविकाएँ बीच-बीच में सनूपुर चरणों की ईषत् झंकार से मुखरित हो उठती थीं। सबके पीछे राजा के चारण और बन्दी लोग विरुद-गान करते हुए जा रहे थे। उनमें से कुछ तो आनन्दातिरेक में ऐसे मदमस्त थे कि मुख से ही एक विशेष प्रकार के वाद्य का काम ले रहे थे। जुलूस के पार होने में दो दण्ड समय बीत गया[1] और मैं निश्चल प्रतिमा की भाँति इतनी देर तक खड़ा रहा।

1. यह वर्णन 'कादम्बरी' में शुकनास के पुत्रोत्सवकालीन यात्रा के वर्णन से मिलता है।

जब जुलूस निकल गया, तो मैं जैसे नींद से जागा। नगरवासियों से पता चला कि महाराजाधिराज श्रीहर्षदेव के भाई कुमार कृष्णवर्द्धन के घर पुत्र-जन्म हुआ है और आज उसका नामकरण संस्कार होने जा रहा है। मैंने जब यह सुना, तो क्षणभर के लिए मेरा चेहरा उतर गया। मुझे अपनी दशा याद आ गयी। एक ऐसे भाग्यवान् हैं जिनके जन्म पर इतना उत्सव मनाया जा रहा है और एक मैं अभागा हूँ जो देश-विदेश मारा-मारा फिर रहा हूँ! मुझे मेरा जन्म याद आया। मेरी माता मेरे जन्म के कुछ वर्ष बाद ही परलोक सिधार गयी थीं। पिता उस समय वृद्ध हो चले थे। अपने अध्ययन-अध्यापन, यजन-याजन के अनेक-विध कर्म-बहुल जीवन में उन्हें मेरे पालन-पोषण का गुरुभार भी सँभालना पड़ा था। स्नेह बड़ी दारुण वस्तु है, ममता बड़ी प्रचण्ड शक्ति है; क्योंकि वृद्ध पिता के थके जीवन में भी एक और उपसर्ग आ जुटा और फिर भी वे अक्लान्त चित्त से मुझे सँभालते रहे। होम-वेदिका से उठकर जब वे अध्यापन के कुशासन पर बैठते, तो मेरा धूलि-धूसर कलेवर प्रायः उनकी गोद में होता। मैंने उनसे जितना स्नेह पाया, उतनी विद्या नहीं पायी। चौदह वर्ष की अवस्था में वे भी मुझे अनाथ करके चले गये। मेरे जीवन में जो कुछ सार है, वह मेरे पिता का स्नेह है। उसी से मैं बिगड़ा भी और बना भी। आज इस आनन्द के कोलाहल ने धक्का देकर मुझे अपने पिता की गोद में फेंक दिया। मैंने एक बार आकाश की ओर देखा। मुझे ऐसा लगा कि मेरे पितामहगण मेरे ऊपर दुःख के अश्रु बरसा रहे हैं। कहाँ वेदाध्यायियों का 'यशोंशु-शुक्लीकृत-सप्तविष्टय' वंश और कहाँ मैं अभागा बण्ड! हे धरित्री, फट जाओ, ताकि मैं छिप जाऊँ!

एकाएक मेरे मन में आया कि क्यों न कुमार कृष्णवर्द्धन के पुत्र-जन्म के अवसर पर बधाई दे आऊँ। आशीर्वाद देना तो ब्राह्मण का धर्म है, कर्त्तव्य है, पेशा है। यद्यपि मैं योजना बनाकर कोई कार्य नहीं कर पाता—और यही कारण है कि मैं कोई भी पुस्तक समाप्त नहीं कर सका—पर निश्चय करने में बिल्कुल देर नहीं करता। सो ज्यों ही यह विचार मेरे मन में आया, मैं कुमार के गृह को प्रस्थान करने का आयोजन करने लगा। उस दिन मैंने डटके स्नान किया, शुक्ल अंगराग धारण किया, शुक्ल पुष्पों की माला धारण की, आगुल्फ शुक्ल धौत उत्तरीय धारण किया—यही मेरा प्रिय वेश था,[1] और भगवान् त्र्यंबक के चरणों में अश्रुधौत प्रणाम निवेदन करके चल पड़ा। उस समय सन्ध्या हो आयी थी। भगवान् मरीचि-माली की किरणें पृथ्वीतल को छोड़कर तरु-शिखरों पर और वहाँ से भी उठकर अस्तंगिरि की चूड़ा पर जा बैठी थीं। धीरे-धीरे चाँदनी भी छा गयी। उस दिन शुक्ल पक्ष की त्रयोदशी थी। मैं अत्यन्त पुलकित होकर कुमार कृष्णवर्द्धन के घर की ओर चला। एक बार भी मैंने यह नहीं सोचा कि इस समय वे मुझसे मिलना चाहेंगे या नहीं। मेरे मन में आज विचित्र उमंग थी। आज ही मानो मेरा सारा

1. तु. 'हर्षचरित', द्वितीय उच्छ्वास, पृ. 40

कलुष धुल गया था और मेरा मन तथा शरीर लघु-भार हो गये थे। मैं अब निश्चय कर चुका था कि अपनी लम्पटता की बदनामी को हमेशा के लिए धो दूँगा। आज मैं कुमार कृष्णवर्द्धन से मित्रता करूँगा, और दस दिन के भीतर ही महाराजाधिराज का भी कृपापात्र बन जाऊँगा। फिर मेरा गृह यज्ञधूम की कालिमा से दिशाओं को धवल बना देगा। फिर मेरे द्वार पर वेद-मन्त्रों का उच्चारण करती हुई शुक-सारिकाएँ बटुजनों को पद-पद पर टोका करेंगी। मैं अब वात्स्यायन-वंश का कलंक कदापि न रहूँगा।

पर मेरा भाग्य अब भी किसी अदृष्ट के कंटक में उलझा हुआ था। जो होना था, वह हो गया; और जो होना चाहिए था, वह न हुआ। इसके बाद मुझे एक ऐसी घटना लिखनी है, जिसे लिखते समय मुझे आज भी भय और आशंका से काँप उठना पड़ता है। मैं जिस बात से बचना चाहता था, उसी से टकराना पड़ा। भाग्य को कौन बदल सकता है? विधि की प्रबल लेखनी से जो कुछ लिख दिया गया, उसे कौन मिटा सकता है? अदृष्ट के पारावार को उलीचने में अब तक कौन समर्थ हुआ है?

द्वितीय उच्छ्वास

मैं तेजी से बढ़ा जा रहा था। भावी जीवन की रंगीन कल्पनाओं में डूबते-उतराते मनुष्य को आसपास देखने की फुरसत कहाँ होती है। मैं एक प्रकार से आँख मूँदकर चल रहा था। इसी समय एक क्षीण-कोमल कण्ठ ने पुकारा—"भट्ट, ओ भट्ट, इधर देखो, मुझे पहचानते हो?" इस आवाज ने मुझे चौंका दिया। इस सुदूर स्थाण्वीश्वर में मुझे पहचाननेवाला यह कौन है? भागते हुए घोड़े को वल्गा जिस प्रकार रोक देती है, उसी प्रकार मेरी दौड़ती हुई विचारधारा को इस आवाज ने रोक दिया। मैंने पीछे मुड़कर देखा। एक नातिकमनीय मूर्त्ति रमणी मुझे आवाज दे रही थी। उसके मुखमण्डल पर तारुण्य था, परन्तु उसकी दीप्ति धुँधली हो गयी थी, जैसे धुआँ उगलती हुई दीपशिखा हो। उसकी आँखें सन्ध्या के धुँधले प्रकाश में चमक रही थीं। उनके किनारों पर साफ ही दिख जानेवाली काली रेखाएँ उस चमक को अभिभूत नहीं कर पाती थीं। वह एक पान की दूकान पर बैठी थी। ऐसा लगता था कि वह पान कम बेच रही थी, मुस्कान ज्यादा। मुझे पहचानने की शक्ति का गर्व था। मैं हँसीवाली रुलाई और रुलाईवाली हँसी पहचानने में अपने को सिद्धहस्त समझता था, पर यह हँसी एक

विचित्र प्रकार की थी। उसमें आकर्षण था, पर आसक्ति नहीं थी; ममता थी, पर मोह नहीं था। मैं उसकी दूकान की ओर अनायास ही खिंच गया और उसे पहचानने की कोशिश करने लगा। वह बोल उठी, "भट्ट, तुम भी नहीं पहचानते !" अरे, यह तो निपुणिका है। मैं एक क्षण तक उन्मथित-सा, भ्रान्त-सा, निःसंज्ञ-सा खड़ा रहा। फिर एकाएक चिल्ला पड़ा—"अरे, निउनिया !" 'निउनिया' निपुणिका का प्राकृत नाम है। मैं उसके प्राकृत रूप से ही ज्यादा हिला हुआ था। निपुणिका ने अपनी बड़ी-बड़ी आँखों से मुझे डाँटा—"हल्ला क्यों करते हो, धीरे-धीरे बोलो।" और फिर उसने एक आसन सरकाते हुए कहा, "बैठो, पान तो खा लो।" मैं बैठ गया।

निपुणिका का संक्षिप्त परिचय यहाँ दे देना चाहिए। निपुणिका आजकल की उन जातियों में से एक की सन्तान है, जो किसी समय अस्पृश्य समझी जाती थीं; परन्तु जिनके पूर्व-पुरुषों को सौभाग्यवश गुप्त-सम्राटों की नौकरी मिल गयी थी। नौकरी मिलने से उनकी सामाजिक मर्यादा कुछ ऊपर उठ गयी। वे आजकल अपने को पवित्र वैश्य-वंश में गिनने लगी हैं और ब्राह्मण-क्षत्रियों में प्रचलित प्रथाओं का अनुकरण करने लगी हैं। उनमें विधवा-विवाह की चलन हाल ही में बन्द हुई है। निपुणिका का विवाह किसी कान्दविक वैश्य के साथ हुआ जो भड़भूजे से उठकर सेठ बना था। विवाह के बाद एक वर्ष भी नहीं बीतने पाया था कि निपुणिका विधवा हो गयी। मुझे यह नहीं मालूम कि विधवा होने के बाद निपुणिका को क्या दुःख या सुख झेलने पड़े थे, परन्तु वह घर से भाग निकली थी। मुझसे अपने पूर्व-जीवन के विषय में उसने इससे अधिक कुछ भी नहीं बताया, परन्तु उसके बाद की कहानी मेरी बहुत-कुछ जानी हुई है। निपुणिका जब पहले-पहल मेरे पास आयी थी, उस समय मैं उज्जयिनी में था। वहाँ मैं एक नाटक-मण्डली का सूत्रधार था। निपुणिका ने मण्डली में भर्ती होने की इच्छा प्रकट की और मैं राज़ी हो गया था। निपुणिका बहुत अधिक सुन्दरी नहीं थी। उसका रंग अवश्य शेफालिका के कुसुमनाल के रंग से मिलता था; परन्तु उसकी सबसे बड़ी चारुता-सम्पत्ति उसकी आँखें और अंगुलियाँ ही थीं। अंगुलियों को मैं बहुत महत्त्वपूर्ण सौन्दर्योपादान समझता हूँ। नटी की प्रणामांजलि और पताक-मुद्राओं को सफल बनाने में पतली-छरहरी अँगुलियाँ अद्भुत प्रभाव डालती हैं। सो, मैंने निपुणिका को मण्डली में आ जाने की अनुमति दे दी। मेरी मण्डली की स्त्रियाँ पुरुषों की अपेक्षा अधिक सुखी थीं। बहुत छुटपन से ही मैं स्त्री का सम्मान करना जानता हूँ। साधारणतः जिन स्त्रियों को चंचल और कुलभ्रष्टा माना जाता है, उनमें एक दैवी शक्ति भी होती है, यह बात लोग भूल जाते हैं। मैं नहीं भूलता। मैं स्त्री-शरीर को देव-मन्दिर के समान पवित्र मानता हूँ। उस पर की गयी अननुकूल टीकाओं को मैं सहन नहीं कर सकता। इसीलिए मैंने मण्डली में ऐसे कठोर नियम बना रखे थे कि स्त्रियों की इच्छा के विरुद्ध उनसे कोई बोल तक नहीं सकता था। जनता में यह प्रसिद्ध था कि बाणभट्ट की

नर्त्तकियाँ अवरोध में रहती हैं। पर इसका फल बहुत अच्छा हुआ था। जनता मेरी मण्डली को प्यार करने लगी थी। निपुणिका को मैं धीरे-धीरे रंगभूमि पर उतारने लगा, पर उसकी अनुज्ञा लिये बिना नहीं।

एक दिन उज्जयिनी में मेरा ही लिखा हुआ एक प्रकरण अभिनीत होनेवाला था। उस दिन परमभट्टारक के उपस्थित होने की सम्भावना थी। मैंने शक्ति-भर आयोजन किया था। मैंने उस दिन अपने प्रधान अभिनेताओं को अपनी उत्तम कला दिखाने के लिए खूब उत्तेजित किया था। मन-ही-मन मेरी इच्छा थी कि पूर्ण आडम्बर के साथ अभिनय हो। हुआ ऐसा ही। महाकालनाथ की सान्ध्य-आरात्रिका के बाद प्रेक्षागृह में लोग जमा होने लगे। नगरी के सभी सम्भ्रान्त नागरिक यथास्थान बैठ गये। नगाड़ा बज उठा और मैंने आडम्बर के साथ पूर्वरंग की विधि का अनुष्ठान किया। गायक और वादक यथास्थान बैठ गये और नर्त्तकियों के नूपुर-झंकार के साथ ही वीणा, वेणु, मुरज और मृदंग मुखरित हो उठे। मैं जब भृंगारधर और जर्जरधर के साथ जर्जर स्थापना के लिए रंगभूमि में आया, तो सामाजिकों में अपार औत्सुक्य देखकर गद्गद हो गया। मेरा अभिनय बहुत सफल रहा। जर्जर उत्तोलन करने के बाद मैं अत्यन्त सन्तुष्ट होकर नेपथ्यशाला में लौट गया। निपुणिका पहले से ही पुष्पोपहार लेकर वहाँ मौजूद थी। मेरे इशारे पर एक बार फिर नगाड़े पर चोट पड़ी और निपुणिका पुष्पोपहार की प्रणामांजलि लेकर रंगभूमि में अवतीर्ण हुई। यवनिका (पर्दे) के पीछे से मैं उसके अपूर्व नृत्य को देख रहा था। वीणा, वेणु और मुरज के साथ कांस्यताल झनझना रहे थे और निपुणिका के नूपुर-क्वणन को और भी गम्भीर तथा और भी मनोहारी बना रहे थे। एकाएक बाजों का बजना रुक गया और उनकी मधुर ध्वनि के अनुरणन की पृष्ठभूमि में निपुणिका का कोमल कण्ठ सुनायी पड़ा। मैं आज निपुणिका का कौशल देखकर विस्मय-मुग्ध हो गया था। गान समाप्त होते ही बाजों के साथ नूपुर के क्वणन की ध्वनि सुनायी पड़ी। बहुत ही सुकुमार भंगी से निपुणिका ने अपना उपहार देवताओं को समर्पित किया और अभिराम-संचार के साथ धीरे-धीरे नेपथ्य-भूमि की ओर लौट आयी।

क्षण-भर में मेरे मानस-समुद्र में विक्षोभ का तूफान उठा और शान्त हो गया। मैं सदा अपने को सँभाल सकने में समर्थ रहा हूँ। इस बात का मुझे अभिमान है। मैंने एक बार आग्रह-भरी आवाज में पुकारा—"निउनिया!" निपुणिका ठिठककर खड़ी हो गयी—उसका बायाँ हाथ कटिदेश पर न्यस्त था, कंकण कलाई पर सरक आया था, दाहिना हाथ शिथिल श्यामा लता के समान झूल पड़ा था, उसकी कमनीय देह-लता नृत्यभंग से ज़रा झुक गयी थी, मुखमण्डल श्रम-बिन्दुओं से परिपूर्ण था। मुझे 'मालविकाग्निमित्र' की मालविका याद आ गयी।

मैंने हँसते हुए कालिदास का वह श्लोक पढ़ दिया।[1] निपुणिका संस्कृत नहीं जानती थी, उसने क्या जाने क्या समझा। उसके अधरों पर ज़रा-सी स्मित-रेखा प्रकट हो आयी और कुछ देर के लिए उसकी आँखें झुक गयीं। उसी समय उसके शिथिल कवरीबन्ध से एक मल्लिका-पुष्प गिर गया और इस अपराध का दण्ड उसे तुरत मिल गया। निपुणिका अपने पादांगुष्ठों से उसे इधर-उधर रगड़ने लगी। कालिदास की मालविका का जो रूप निपुणिका में अभी तक नहीं आ पाया था, वह भी आ गया और मैं खिलखिलाकर हँस पड़ा। मेरा हँसना देखकर निपुणिका ने सिर उठाया। अबकी बार उसकी आँखें गीली थीं। वह धीरे-धीरे वहाँ से हट गयी। मुझे लगा कि मेरा हँसना वह बर्दाश्त नहीं कर सकी। मैं और कामों में उलझ गया। नाटक शुरू हुआ और पाँच घटी तक समारोह के साथ होता रहा। मैं उस दिन बहुत प्रसन्न था। परमभट्टारक के आनन्द-गद्गद मुख से स्पष्ट ही प्रकट हो रहा था कि मैं कल प्रचुर पुरस्कार पाऊँगा। उन्होंने दूसरे दिन राजसभा में दर्शन देने का प्रतिवचन दिया। सामाजिकों के भूयोभूयः साधुवाद के बीच अभिनय समाप्त हुआ। उस दिन का कार्य समाप्त करके मैं आवास की ओर लौटा। निपुणिका को एक अच्छा पुरस्कार देने की बात सोच रहा था कि किसी ने आकर समाचार दिया कि निपुणिका नहीं है। मैं जैसे अनभ्र गर्जन सुनकर चौंक उठा। रातभर निपुणिका की खोज करता रहा, पर उसे न पा सका। दूसरे दिन, तीसरे दिन, चौथे दिन—निपुणिका फिर नहीं मिली। मैं राजसभा में नहीं जा सका। रह-रहकर निपुणिका की गीली आँखें मेरा हृदय कुरेदने लगीं। मैं अपनी उस अशुभ हँसी से अकालकुसुम की भाँति भय पाने लगा। नाटक-मण्डली को मैंने पाँचवें दिन तोड़ दिया और अपने लिखे हुए प्रकरण को शिप्रा की चटुल तरंगों को भेंट कर दिया। तब से आज छः वर्ष बीत गये हैं, मैंने वह पेशा ही छोड़ दिया है। आज जब फिर एक पुरस्कार की आशा से राजसभा की ओर चला हूँ, तो सामने वही निपुणिका। उस दिन जिसके अदर्शन ने विघ्न उपस्थित किया था, उसका दर्शन भी क्या आज विघ्न उपस्थित करेगा? अदृष्ट को कौन रोक सकता है?

मैं बड़ी देर तक कुछ बोल न सका। केवल निर्निमेष नयनों से निपुणिका की ओर देखता रहा। वह पान लगा रही थी, पर यह अनाड़ी आदमी भी समझ सकता था कि उसके चित्त में कोई भयंकर उथल-पुथल चल रही थी। बहुत दिनों के बाद पान पर फिरती हुई निपुणिका की शिथिल अंगुलियों को देखकर मुझे एक अभूतपूर्व आह्लाद हो रहा था। निपुणिका के अधरों पर मुस्कान थी

1. निम्नलिखित श्लोक से तात्पर्य जान पड़ता है :

वामं संधिस्तिमितवलयं न्यस्तहस्तं नितम्बे
कृत्वा श्यामा-विटपि-सदृशं स्रस्तमुक्तं द्वितीयं।
पादांगुष्ठालुलितकुसुमे कुट्टिमे पातिताक्षं
नृत्यादस्याः स्थितमतितरां कान्तमृज्वायताक्षम्।

और आँखों में पानी। वह भी चुप थी। पान का एक बीड़ा एक घटी में लग सका। तब उसने मेरी ओर ताका। आँसू रुक नहीं सके। वे झरते रहे, झरते रहे, झरते रहे। मैं निर्वाक्-निश्चल देखता रहा। अश्रु फिर भी झरते रहे। अन्त में मैं ही चिल्ला उठा—"निउनिया, रो मत।" मेरी वाणी जरूर कातर रही होगी। निउनिया अब सिसकने लगी। मैं धड़फड़ाकर उठा कि उसके आँसू पोंछ दूँ। फिर तो वह सावधान हो गयी। जरा भर्त्सना-सी करती हुई बोली, "छी, छी, क्या कर रहे हो? बाजार में बैठे हैं, नहीं देखते!" मैंने दृढ़ता के साथ कहा, "मैं बिल्कुल नहीं परवा करता कि हम कहाँ बैठे हैं। मैं तुझे इस तरह रोने नहीं दूंगा। अभागी, तू भाग क्यों आयी?" निपुणिका ने एक बार फिर कनखियों से डाँटा। बोली, "पान खाओ।" अब उसका गला स्वाभाविक हो गया था। मैंने पान ले लिया।

जहाँ जा रहा था, वहाँ जाना नहीं हुआ। मैं इस अभागिनी के दुःख-सुख को अच्छी तरह समझे बिना अब उठ नहीं सकता था। बहुत दिनों के बाद अपनी असावधान हँसी के कारण उत्पन्न हुई परिस्थिति को सुधारने-सँभालने का अवसर मिला था। न जाने मेरी प्रमत्त किलकार ने इस दुःखिनी के किस सुकुमार घाव को ताजा कर दिया था, निरन्तर छः वर्षों से न जाने वह कहाँ-कहाँ मारी-मारी फिरी है और इन दिनों न जाने किस अभाग्य के नाले में छटपटा रही है, बाणभट्ट यह सब जाने बिना नहीं टल सकता। इसी सहानुभूतिमय हृदय ने तो इसे आवारा बना दिया है। जो प्रमत्त हँसी छः वर्षों से मेरा हृदय कुरेद रही है, उसका प्रायश्चित्त आज आँसुओं से करना होगा। मुझे इस विषय में कोई सन्देह नहीं कि निपुणिका का चरित्र यहाँ के सदाचारियों की दृष्टि में अत्यन्त निकृष्ट है। इस दूकान पर बैठे हुए निश्चय ही मैंने अपने को काजल की कोठरी में बन्द कर दिया है। सब है, पर निपुणिका मुझसे बड़ी है, मूल्यवान है। सारे जीवन मैंने स्त्री-शरीर को किसी अज्ञात देवता का मन्दिर समझा है। आज लोगों की आलोचना के डर से उस मन्दिर को कीचड़ में धँसा हुआ छोड़ जाना मेरे वश की बात नहीं है। मैंने फिर पूछा, "निउनिया, तू क्यों चली आयी, अब तक कहाँ रही, अब क्या कर रही है? मैं तुझे दुखी देख रहा हूँ। तुझे इसी अवस्था में छोड़कर मैं यहाँ से टल नहीं सकता। बता, किस बात पर तू भाग आयी थी? आज निरन्तर छः वर्षों से मेरा चित्त मुझे धिक्कार रहा है, मुझे ऐसा लगता है कि मैं ही तेरे समस्त दुखों का मूल हूँ। एक बार तू अपने मुख से कह दे कि यह बात गलत है। मैं क्या निर्दोष हूँ?"

निपुणिका ने दीर्घ निःश्वास लेते हुए कहा, "हाँ भट्ट, मेरे भाग आने के कारण तुम्हीं हो; परन्तु दोष तुम्हारा नहीं है। दोष मेरा ही है। तुम्हारे ऊपर मुझे मोह था। उस अभिनय की रात को मुझे एक क्षण के लिए ऐसा लगा था कि मेरी जीत होनेवाली है; परन्तु दूसरे ही क्षण तुमने मेरी आशा को चूर कर दिया। निर्दय, तुमने बहुत बार बताया था कि तुम नारी-देह को देव-मन्दिर के

समान पवित्र मानते हो, पर एक बार भी तुमने समझा होता कि यह मन्दिर हाड़-मांस का है, ईंट-चूने का नहीं ! जिस क्षण मैं अपना सर्वस्व लेकर इस आशा से तुम्हारी ओर बढ़ी थी कि तुम उसे स्वीकार कर लोगे, उसी समय तुमने मेरी आशा को धूलिसात् कर दिया। उस दिन मेरा निश्चित विश्वास हो गया कि तुम जड़ पाषाण-पिण्ड हो; तुम्हारे भीतर न देवता है, न पशु; है एक अडिग जड़ता। मैं इसीलिए वहाँ ठहर नहीं सकी। जीवन में मैंने उसके बाद बहुत दुःख झेले हैं; पर उस क्षण-भर के प्रत्याख्यान के समान कष्ट मुझे कभी नहीं हुआ। छः वर्षों तक इस कुटिल दुनिया में असहाय मारी-मारी फिरी और अब मेरा मोह भक्ति के रूप में बदल गया है। भट्ट, तुम मेरे गुरु हो, तुमने मुझे स्त्री-धर्म सिखाया है। छः वर्ष के कठोर अनुभवों के बल पर मैं कह सकती हूँ कि तुम्हारी जड़ता ही अच्छी थी -- मैं अभागिन थी, जो तुम्हारा आश्रय छोड़कर चली आयी। मेरे जीवन में जो कुछ घटा है, उसे जानने की क्या जरूरत है? आजकल मैं पान बेचती हूँ और छोटे राजकुल के अन्तःपुर में पान पहुँचाया करती हूँ। सब मिलाकर मैं दुःखी नहीं हूँ। तुम मेरी चिन्ता छोड़ो। जहाँ जा रहे हो वहाँ जाओ। यदि इस नगर में रहो, तो कभी-कभी दर्शन पाने की आशा मैं अवश्य रखूँगी। पर तुम इस दूकान पर अधिक देर तक मत ठहरो। यहाँ आने-वाले लोग स्त्री-शरीर को देव-मन्दिर नहीं मानते।" इतना कहने के बाद उसने एक बार हँसकर मेरी ओर देखा। उस दृष्टि में अपने ऊपर एक प्रकार की वितृष्णा का भाव था; पर किसी प्रकार का पश्चात्ताप या अनुशोचना का लेश भी नहीं था। जरा रुककर वह फिर कहने लगी, "भट्ट, मुझे किसी बात का पछतावा नहीं है। मैं जो हूँ, उसके सिवा और कुछ हो ही नहीं सकती थी। परन्तु तुम जो कुछ हो, उससे कहीं श्रेष्ठ हो सकते हो। इसलिए कहती हूँ, तुम यहाँ मत रुको। मैं पश्चात्ताप करूँ, तो जिस नरक में पड़ी हूँ, वहाँ भी स्थान नहीं मिलेगा। तुम सँभल जाओ, तो जिस स्वर्ग में स्थान पाओगे, उसकी कोई कल्पना मेरे मन में भी नहीं है, तुम्हारे मन में भी नहीं है। मैंने दुनिया कम नहीं देखी है। इस दुनिया में तुम्हारे जैसे पुरुषरत्न दुर्लभ हैं।" निपुणिका की आँखें नीची हो गयीं। जैसे कुछ ऐसी बात कह गयी हो, जिसे कहना नहीं चाहिए था और उसकी अंगुलियाँ तेजी से ताम्बूल-पत्र को खदिर-राग से रँगने में जुट गयीं।

निपुणिका की अन्तिम बात मेरे मर्म में चुभ गयी। वह अगर पश्चात्ताप करती है तो जिस नरक में पड़ी है, वहाँ भी स्थान नहीं मिलेगा। वह कुलभ्रष्टा स्त्री है, उसके सद्गुणों का समाज में क्या मूल्य है? दुर्गुणों की तो फिर भी कुछ-न-कुछ पूछ है ही। मैंने उसकी कोटरशायिनी आँखों को एक बार फिर देखा। उनमें आँसू भरे हुए थे। मैं बोला, "निउनिया, तू झूठ बोलती है। तू पछता रही है, तू कष्ट में है, तू आश्रय चाहती है, तू मुझे यहाँ से हटने नहीं देना चाहती। मैं जो पहले था, वह आज भी हूँ; सारी दुनिया भी तुझे मेरे आश्रय से अलग नहीं कर सकती। यह दूकान अभी बन्द कर दे। जहाँ लोग तेरी कोई बात नहीं जानते,

ऐसे किसी स्थान पर शान्तिपूर्वक रह। मैं तुझे कीचड़ में छोड़कर नहीं जा सकता। मेरे प्रति तेरा मोह कट गया है, यह अच्छी बात है। तू इस कालिमा-भरी नगरी के राजमार्ग को छोड़ दे। तेरी आँखें कैसी धँस गयी हैं ! हाँ अभागी, तू मुझसे भी छिपा रही है !" निपुणिका इस बार घायल हो गयी। वह फूट-फूटकर रो पड़ी। दो-एक ग्राहक इसी समय दूकान पर आते दिखायी पड़े। उन्हें दूर से देखकर ही निपुणिका सँभल गयी। एक क्षण का भी विलम्ब किये बिना उसने दूकान का दरवाजा बन्द कर दिया और मुझे भीतर चलने का इशारा किया। दूकान के पीछे एक छोटा-सा आँगन था, उसके बीचोंबीच एक तुलसी का वृक्ष था। पास में एक छोटी वेदी थी और उस पर महावराह की एक अत्यन्त भव्य मूर्त्ति रखी थी। मूर्त्ति छोटी ही थी; पर जिस मूर्त्तिकार ने उसे बनाया था, वह बहुत ही पका हुआ शिल्पी जान पड़ता था। महावराह के दाँतों पर उठी हुई धरित्री के मुखमण्डल पर जो उल्लास और दीप्ति का भाव था, वह देखते ही बनता था। महावराह के दोनों हाथ कटि-देश पर इस प्रगल्भता के साथ टिके हुए थे, और बाहुमूल की पेशियाँ इस दृढ़ता के साथ निकाली गयी थीं कि देखकर मन में एक अपूर्व विश्वास उद्रिक्त हो उठता था। मुझे समझने में एक मुहूर्त्त का भी विलम्ब नहीं हुआ कि ये निपुणिका के उपास्य देव हैं और निपुणिका अपने उद्धार की ऐसी ही आशा लगाये हुए है। निपुणिका ने एक बार मूर्त्ति को सतृष्ण नयनों से देखा, उसका गला तब भी रुँधा हुआ था, और इशारे से मुझे एक छोटे घर में बैठने का निर्देश किया। मैं बैठ गया। वह फिर बाहर चली गयी और बहुत शीघ्र ही स्नान करके फिर लौट आयी। मेरी ओर देखकर वह बोली, "थोड़ा रुको, मैं अभी आ रही हूँ।" फिर वह कुशासन पर बैठ गयी और महावराह के सामने रुँधे गले से एक स्तोत्र-पाठ करने लगी। उसकी आँखों से निरन्तर आँसू झरते रहे। वक्षःस्थल पर का वासन्ती उत्तरीय इस अश्रुधारा से भीग गया। मैं यह दृश्य एकटक देखता रहा। निपुणिका धन्य है, महावराह धन्य हैं, तुलसी धन्य हैं, और मैं अभागा बाण इन तीनों को देख रहा हूँ, सो धन्य ही हूँ। मुझे एक बार अपने गर्व की तुच्छता पर पश्चात्ताप हुआ। किसे आश्रय देने की बात मैं कह रहा था ? निपुणिका को जो आश्रय मिला है, उसकी तुलना में मेरा आश्रय कितना तुच्छ, कितना नगण्य और कितना अकिंचन है! मेरे पुरुषत्व का गर्व, कौलीन्य का गर्व और पाण्डित्य का गर्व क्षण-भर में भरभराके गिर गये। निपुणिका को पहचानने में मैंने कितनी भूल की थी ! वह भक्ति-गद्गद स्वर में स्तोत्र-पाठ कर रही थी, और मैं निर्निमेष नयनों से उसे देख रहा था—उस समय उसकी अंगप्रभा अलौकिक दिख रही थी; कोटरगत आँखें मानो उद्वेल वारिधारा से परिपूर्ण होकर प्रफुल्ल पुण्डरीक के समान विकसित हो गयी थीं; कुन्तल-जाल रह-रहकर इस प्रकार विलुलित हो उठते थे, मानो महावराह के चरण-प्रान्त में गिर पड़ने को व्याकुल हो उठे हों। मैं क्षण-भर के लिए भूल गया कि निपुणिका हमारी नाटक-मण्डली की परिचित निउनिया है। ऐसा लगता था कि वह कोई देवांगना

है और कब इस कलुष धरित्री को छोड़ ऊपर उड़ जायगी, यह कहा नहीं जा सकता। मैंने इस रमणी के हृदयान्तःस्थित परम प्रेममूर्त्ति महावराह को मन-ही-मन प्रणाम किया। प्रथम दर्शन में जिसे मैंने रुलाई की हँसी समझकर अपनी सहृदयता पर गर्व किया था, वह एक भद्दी भूल थी। मैंने मन-ही-मन अपनी अकिंचनता को धिक्कारा। इसी समय निपुणिका उठी, और उसके साथ ही शान्ति की एक भारी श्री भी उठ खड़ी हुई। उसके गमन में एक प्रकार की भाव-विह्वल मन्थरता अब भी वर्त्तमान थी। मानो भावमत्ता भक्ति ही देह धारण किये चली आ रही हो। उसके चेहरे पर अब फिर मुस्कान थी। इस बार मैंने समझा कि मैंने प्रथम दर्शन में इस रमणी को कितना गलत समझा था। करुणादीप्त मुखमण्डल को अनुशोचना मानना मेरा प्रमाद था। निपुणिका आयी और थोड़ी देर तक चुप बैठी रही। मेरे मुँह से भी कोई बात निकल नहीं रही थी। कुछ देर की चुप्पी के बाद उसने ही शुरू किया—"भट्ट, तुम सचमुच मेरी सहायता कर सकते हो?"

"तुम्हें सन्देह क्यों हो रहा है, निपुणिका? मैंने क्या कभी ऐसी बात कही है, जिसका पालन करने में आनाकानी की हो?"

"लेकिन अगर मेरी सहायता करने में कोई अनुचित कार्य करना पड़े?"

"देख निउनिया, मैंने अभी प्रत्यक्ष देखा है कि तू जिसके यहाँ आश्रय पाये हुई है, उसे छोड़कर तुझे किसी और की सहायता आवश्यक नहीं है, फिर भी तू परीक्षा लेने के लिए यह बात कह रही है। मेरा उत्तर स्पष्ट है। साधारणतः लोग जिस उचित-अनुचित के बँधे रास्ते से सोचते हैं, उससे मैं नहीं सोचता। मैं अपनी बुद्धि से अनुचित-उचित की विवेचना करता हूँ। मैं मोह और लोभ-वश किये गये समस्त कार्यों को अनुचित मानता हूँ; परन्तु हमेशा मैं अपने को इन दो रिपुओं से बचा नहीं सका हूँ। आज ही मैंने एक महान् संकल्प किया है। मैं नहीं जानता कि इसमें मैं कहाँ तक सफल हूँगा। अनुचित कार्यों से मैं अपने को सदा बचा नहीं पाया हूँ; पर उचित कार्यों को अवसर आने पर करने के लिए मैंने अपने प्राणों तक की परवा नहीं की है। तू मुझे वह कार्य बता, जिसमें मुझे तेरी सहायता करनी होगी। तू मुझे जानती है, मैं आशा करता हूँ कि मुझे अनुचित कार्य में कभी प्रवृत्त नहीं होने देगी।"

निपुणिका हँसी। बोली, "अब तुम बचने का रास्ता खोज रहे हो। मेरी-जैसी स्त्री से तुम उचित कार्य में सहायक बनाने की आशा रखते हो? तुम बहुत भोले हो।"

इस बार मैं सचमुच विचलित हुआ; पर फिर भी जरा दृढ़ता के साथ बोला, "तो बता न, मुझे क्या करना होगा?"

निपुणिका इस बार और जोर से हँस पड़ी। बोली, "देव-मन्दिर का उद्धार करना है।"

मैं समझ गया, देव-मन्दिर अर्थात् नारी। यह तो कोई अनुचित कार्य नहीं

है। ज़रा हँसके मैंने कहा, "तेरा उद्धार तो महावराह ने कर दिया है, तेरी परवा मुझे नहीं है। अब और कौन रमणी विपत्ति में फँसी हुई है, जिसका उद्धार मुझे करना होगा।"

निपुणिका ने कहा, "भट्ट, अब तक तुमने नारी में जो देव-मन्दिर का आभास पाया है, वह तुम्हारे भोले मन की कल्पना थी। आज मैं तुम्हें सचमुच का देव-मन्दिर दिखाऊँगी। परन्तु उसके लिए तुम्हें छोटे राजकुल में मेरी सखी बनकर प्रवेश करना होगा और कीचड़ में धँसे हुए उस मन्दिर का उद्धार करना होगा। आज ही उत्तम अवसर है। महावराह ही मेरे वास्तविक सहायक हैं। उन्होंने ही तुम्हें यहाँ भेजा है। तुम न आते तो भी मुझे तो यह करना ही था। बोलो भट्ट, तुम यह काम कर सकोगे? तुम असुर-गृह में आबद्ध लक्ष्मी का उद्धार करने का साहस रखते हो? मदिरा के पंक में डूबी हुई कामधेनु को उबारना चाहते हो? बोलो, अभी मुझे जाना है! महावराह ने आज ही अनुमति दी है। इस सीता का उद्धार करते समय तुम्हें जटायु की भाँति शायद प्राण दे देना पड़ेगा। है साहस?"

मैं हँसा। यह काम मैं जरूर कर सकता हूँ। केवल एक बार मैंने अपने स्वर्गीय पिता को मन-ही-मन प्रणाम किया—'पिता, आज आत्मोद्धार-कर्म से विरत रहना पड़ा। समय और सुयोग मिला, तो फिर कभी होता रहेगा। न जाने किस दुःखिनी के दुःखमोचन-यज्ञ में अपने-आपको होम देने की पुकार आयी है। आज इसी का ऋत्विज् बनने दो।' निपुणिका की ओर देखकर मैंने कहा, "निउनिया, मैं प्रस्तुत हूँ, नेपथ्य (वेश बदलने का वस्त्र आदि) ला।"

तृतीय उच्छ्वास

निपुणिका आँगन के बाहर मेरी प्रतीक्षा कर रही थी। उसकी सखी बनकर मैं जब बाहर आया, तो हंस के समान धवल-वर्णा, ज्योत्स्ना से भरी हुई धरती को देखकर चित्त एक अननुभूत आनन्द से भर गया। मैंने सोचा कि जब भगवान् त्रिलोचन के उत्तमांग से झरनेवाली गंगा की धारा समुद्र को भर रही होगी, तो कुछ ऐसी ही शोभा उस समय भी हुई होगी। चन्द्रमा निश्चय ही देर से आकाश पर विचर रहा था। उदयकाल में जो एक लालिमा रहा करती है, उसका कहीं कोई चिह्न नहीं रह गया था। इन्द्र का ऐरावत गज जब स्वर्मन्दाकिनी में अवगाहन करके निकलता होगा, तो उसके श्वेत कुम्भस्थल पर से सिन्दूर धुल जाने के बाद ऐसी

ही शोभा होती होगी। सारा आकाश चाँदनी से इस प्रकार भर गया था, जैसे किसी अज्ञात शिल्पी के सुधा-विलेपन चूर्ण का भण्डार ही उलट गया हो। तारात्रों का टिमटिमाना देखकर मुझे ऐसा लगा कि वे झीम रही हैं और जिस किसी क्षण लुढ़ककर सो पड़ेंगी ! मृदु-मन्द सान्ध्य समीर ने गृह-धेनुओं पर अपना प्रभाव डाल दिया था, क्योंकि उसके स्पर्श से इन जीवों में एक अलस-निद्रा का भाव आ गया था। उनके रोमन्थन-व्यस्त (पागुर में लगे हुए) जबड़े धीरे-धीरे शिथिल हो रहे थे और आँखों की बरौनियाँ जुड़ती जा रहीं थीं। मुझे सबसे दयनीय, चन्द्रमा में का वह मृग लगा। ऐसा जान पड़ता था कि वह अभागा प्यास का मारा इस अमृत-सरोवर में आया था और अब अमृत-पंक में धँसा हुआ कर्त्तव्यमूढ़ बना जकड़ा-सा खड़ा था।[1] क्षण-भर के लिए मेरे मन में आया कि क्या मैं भी किसी अमृत-पंक में धँसने जा रहा हूँ। परन्तु अब सोचना बेकार था। निपुणिका के एक इशारे पर मैं अनुचरी की भाँति उसके पीछे हो लिया। न जाने क्यों मुझे ऐसा लग रहा था कि नीचे से ऊपर तक सारी प्रकृति में एक अवश अवसाद की जड़िमा छायी हुई है। निपुणिका ने अत्यन्त संक्षेप में मुझे मेरा कर्त्तव्य बताया था। उसने अपने पक्ष के औचित्य-स्थापन की परवा बिल्कुल न की; उसकी बातचीत में मेरी अवज्ञा कहीं भी प्रकट नहीं हुई, पर इतना तो मुझे शुरू से अन्त तक लगा कि वह मुझे इस कार्य-साधन में निमित्त-मात्र मानती है, उसके असली सहायक तो महावराह हैं। उसके संकल्प की सचाई का प्रमाण उसकी बड़ी-बड़ी अश्रुपूर्ण आँखें थीं। मुझे उसने बताया था कि छोटा राजकुल प्रतापी मौखरियों का अन्तिम चिह्न है। जब से महाराजाधिराज श्री हर्षवर्द्धन ने अपने बहनोई का राज्य भी अपनी ही छत्रच्छाया में ले लिया है, तब से उक्त बहनोई के एक दूर के सम्बन्धी को—जो मौखरि-सिंहासन का उत्तराधिकारी हो सकता था—इस नगर में आश्रय मिला है। इधर की जनता में अब भी मौखरि-वंश के प्रति प्रबल सम्मान-भाव वर्त्तमान है। मौखरि-वंश का यह सम्बन्धी थोड़े ही दिनों से स्थाण्वीश्वर में रह रहा है। इसके अन्तःपुर को ही यहाँ छोटा राजकुल कहा जाता है। निपुणिका ने इस छोटे राजकुल के विभव को ज़रा विस्तारपूर्वक ही समझाया और फिर वहाँ की कलंक-वार्त्ता को भी उसी विस्तार के साथ व्यक्त किया। कान्यकुब्ज की रक्षणशील जनता में मौखरियों के प्रति आदर और संभ्रम का भाव है, चतुर महाराज हर्ष-वर्द्धन इस बात को जानते हैं। इसीलिए मौखरि-वंश का यह दावेदार, स्थाण्वी-श्वर में 'महाराज' कहकर ही पुकारा जाता है। उसे कोई अधिकार नहीं दिया गया है; पर सम्पत्ति दी गयी है। इसीलिए उसमें एक अनुत्तरदायी भोगलिप्सा बढ़ गयी है, जो अब अत्यन्त निकृष्ट अनाचार का रूप धारण कर चुकी है। महाराजा-धिराज को यह बात मालूम है; पर जनता में अब भी मौखरि-वंश का मान है, इसलिए साहसपूर्वक वे इस छोटे महाराज को हटा नहीं सकते। इसी छोटे

1. 'कादम्बरी', कथामुख के सन्ध्या-वर्णन से तुलनीय।

महाराज के घर में आज एक महीने से एक अत्यन्त साध्वी राजकुमारी अपनी इच्छा के विरुद्ध आबद्ध है। निपुणिका ने यद्यपि यह कहानी बहुत संक्षेप में बतायी; पर उस राजबाला की बात आते ही वह अपने को रोक नहीं सकी। उसने उसकी एक-एक क्रिया का विस्तारपूर्वक उल्लेख किया और अन्त में डबडबायी आँखों से कहा, "भट्ट, वह अशोक-वन की सीता है, तुम उसका उद्धार करके अपना जीवन सार्थक करो।" जीवन सार्थक करने का साधन निपुणिका ने स्वयं दे दिया था। वह एक छोटा-सा विष-दग्ध छुरा था, जो कंचुकी में आसानी से छिपाया जा सकता था। इसे देते समय उसने ज़रा हँसकर कहा था, "इसकी कोई आवश्यकता नहीं होगी भट्ट, पर रख लेने में हर्ज ही क्या है।" मैं समझ गया, प्राण लेना या देना जरूरी नहीं है; पर लेना या देना पड़ ही जाय, तो हानि क्या है! मैंने निपुणिका की ओर हँसकर देखा। वह भी हँसने लगी।

हम दोनों चुपचाप चले जा रहे थे। मैं स्त्री-वेश में मानो कुछ बदल गया था, क्योंकि एक अकारण भीरुता रह-रहकर मुझे सचेत कर देती थी, कसे हुए कंचुक-बन्ध मानो किसी अनजाने महागौरव के निरोध-यन्त्र बने हुए थे और आगुल्फ-लम्बे उत्तरीय ने किसी अननुभूत सौन्दर्य-लक्ष्मी को सारे बाह्य जगत् से अलग छिपा रखा था। राजमार्ग शान्त ही था, केवल दूर से किसी विपुल जन-समारोह की ध्वनि सुनायी दे रही थी। निपुणिका ने घूमकर मेरी ओर देखा और हँसकर पुकारा, "सुदक्षिणे!" मैं ज़रा चौंककर उसकी ओर देखने लगा। दक्ष भट्ट का यह सुकुमार संस्करण प्रथम सम्बोधन में ही स्पष्ट हो गया। मैंने ज़रा मुस्कराकर क्षीण स्वर में उत्तर दिया, "हला निपुणिके!" निपुणिका की आँखें आनन्दातिरेक से विकच पुण्डरीक के समान खिल गयीं। स्मयमान (मुस्काते हुए) मुखमण्डल के मृदु सम्भार के कारण ग्रीवा ईषद् वक्र हो गयी और उसने उल्लास-गद्गद स्वर में साधुवाद दिया, "अभिनय उत्तम कोटि का हुआ है!" मैंने संकोच और व्रीड़ा की हँसी हँसी। मैं इन बातों में सिद्धहस्त था। निपुणिका इस प्रकार चलने लगी, जैसे उड़ रही हो। बोली, "यह ध्वनि मदनोद्यान से आ रही है, सुदक्षिणा! आज चैत्र शुक्ल त्रयोदशी है। आज मदन-पूजा का दिन है। आज कुमारियों ने व्रत किया होगा, कामदेव की पूजा की होगी और वरदान में अपने अभिलषित वरों को माँग लिया होगा। कान्यकुब्ज में यह उत्सव बड़े आडम्बर के साथ मनाया जाता है। आज मदनोद्यान में कुमारियों ने फूल चुने होंगे, हार गूँथे होंगे, कुंकुम और अबीर का तिलक लगाया होगा और लाक्षारस से भूर्जपत्र पर अपने-अपने अभिलषित वरों की प्रतिमा बनाकर चुपके से भगवान् कुसुम-सायक को भेंट किया होगा[1]। आज अन्तःपुर में बड़ी धूमधाम होगी। अशोक में दोहद उत्पन्न करने के लिए अन्तःपुरिकाएँ प्रमद-वन में चली गयी होंगी। वहाँ आज मदिरा और मृदंग का उत्सव चल रहा होगा। भट्ट, नहीं, सुदक्षिणे, आज युवतियों के आनन्दकेलि

1. इस प्रकार के एक उत्सव का कुछ इससे मिलता-जुलता वर्णन भवभूति के 'मालती-माधव' नामक प्रकरण में है।

का उत्सव है। उस राजबाला के उद्धार का इससे अधिक उपयुक्त अवसर दूसरा न मिलेगा। तुम्हारे अन्दर कुछ झिझक देख रही हूँ। न हला, यह झिझक ठीक नहीं है।"

मैं चुपचाप सुनता रहा। झिझक तो मेरे अन्दर नहीं थी; पर यह संशय जरूर था कि पहचान लिया जाऊँगा। ज़रा क्षीण कण्ठ से मैंने अभिनय-सा करते हुए कहा, "हला, लज्जा तो तरुणियों का स्वाभाविक अलंकार है।" निपुणिका ने रस लेते हुए कहा, "होने दो न, पर उसे अस्वाभाविक बनाना तो ठीक नहीं। नहीं हला, आज लज्जा-संकोच को दूर रख। आज तरुणियों के उन्मत्त विलास की तिथि है।" मैं समझ गया। जहाँ से संशय था, वहाँ आज उन्माद होगा। चन्द्रमा अब धीरे-धीरे ऊपर आ गया था। जो कुछ अन्धकार है, उसे दूर कर देने को कृतसंकल्प था। हम राजकुल के द्वारदेश पर आ गये।

निपुणिका ने बार-बार छोटे राजकुल की बात बतायी थी। मुझे उस समय राजकुल की अपेक्षा 'छोटा' शब्द ही ज्यादा मुखर जान पड़ा था। इसीलिए मैंने मन-ही-मन एक छोटे अन्तःपुर की कल्पना की थी। पर द्वार पर आते ही मुझे अपनी धारणा बदल देनी पड़ी। द्वार पर विस्तीर्ण राजकुल की वृक्ष-वाटिका दूर तक फैली हुई दिखायी दे रही थी। बाहर की ओर अशोक, पुन्नाग, अरिष्ट, शिरीष आदि के छायादार वृक्ष लगे हुए थे। उनकी नील सघन पत्र-राशि पर ज्योत्स्ना बिछला रही थी। मेरे सामने लौहार्गल-युक्त विराट् कपाट और सशस्त्र रक्षक न होते, तो मैंने उस चाँदनी रात में इस विशाल राजकुल को एक घना जंगल ही समझा होता। उस समय मुझे ठीक मालूम नहीं हो सका कि इस राजकुल का बहिःप्रकोष्ठ किधर है। केवल एक बंकिम मार्ग से निकल जाने के कारण इतना ही अनुमान कर सका कि दाहिनी ओर पुरुषों का बहिःप्रकोष्ठ होगा। द्वारी निपुणिका को पहचानता था, हमारे भीतर जाने में कोई बाधा नहीं हुई। निपुणिका ने ज़रा हँसके द्वारी को ताम्बूल-वीटिका देते हुए कहा, "नाग, क्या खबर है?" नाग ने हँसते हुए कहा, "हुड़दंग है, खबर क्या है!" हम दोनों भीतर चले गये। वाटिका की वीथियाँ पर्याप्त चौड़ी थीं, पर दोनों ओर के सघन वृक्षों की छाया के कारण अन्धकार दिखता था। थोड़ा चक्कर काटकर हम अन्तःपुर के द्वार पर आये। वहाँ द्वार के एक पार्श्व में एक द्वार-रक्षिणी स्त्री बैठी हुई थी। उसके हाथ में एक नंगी तलवार थी और बायीं ओर एक क्षुद्र कृपाण कोषबद्ध अवस्था में झूल रहा था। वह स्त्री बहुत मजबूत तो नहीं थी; पर उसका वेश देखकर मुझे ऐसा लगा, मानो विषधरों से लिपटी हुई कोई चन्दन-लता हो। क्षण-भर के लिए मेरा कलेजा धड़क उठा; पर ज़रा समीप जाते ही रहस्य खुल गया। कठोर वेश ने उसकी स्वाभाविक कोमलता को और भी निखार दिया था। यद्यपि उसका रंग काला था; पर एक मोहक दीप्ति उससे साफ झलक जाती थी। वह एक जीवित नीलमणि की सुकुमार पुत्तलिका ही जान पड़ती थी। वैसे उसका सारा शरीर आगुल्फ लम्बे नील कंचुक से ढँका हुआ था और मस्तक पर लाल उत्तरीय

बँधा हुआ था; पर इससे उसकी शोभा में लेशमात्र भी कमी नहीं आयी थी, अधिकन्तु वह सन्ध्या समय की लाल सूर्यकिरणों द्वारा आच्छादित नीलकमल की वनस्थली की भाँति अधिक रमणीय हो गयी थी। धवलवर्णा ज्योत्स्ना एक ओर वृक्ष-वाटिका की घनचिक्कन नीलिमा को उज्ज्वलित कर रही थी और दूसरी ओर इस द्वार-रक्षिणी के कान में के दन्तपत्र उसके चिक्कन कपोल-मण्डल को उद्भासित कर रहे थे। उसके पैरों में लगा हुआ घन अलक्तक-रस (महावर) दूर से ही दिख रहा था। और क्षण-भर के लिए मैं सोचने लगा कि क्या तुरन्त ही महिषासुर की छाती पर नृत्य करके कराल-कृपाणधारिणी महादुर्गा तो नहीं आ गयी हैं। उसका भीषण-मनोहर रूप मुझे शंकित की अपेक्षा आनन्दित अधिक कर रहा था, फिर भी शंका तो मन में थी ही। मैंने उत्तरीय को सीमन्त के बहुत नीचे सरका लिया और चकित मृगी के अभिनय के साथ निपुणिका के पीछे छिप गया। वस्तुतः वह पिये हुई थी। यद्यपि उसके रूप की मनोहारिता और मलिनता ने मुझे भगवान् त्रिलोचन की नयनाग्नि से भस्मीभूत मदन देवता के धूम से मलिन रति की याद दिला दी थी; पर उसकी आँखों के लाल कोए और अलस जड़ भ्रूलताएँ बता रही थीं कि उन पर मदिरा ने पूरा प्रभाव डाल दिया है। उसने एक बार कुछ स्खलित वाणी में निपुणिका से पूछा और फिर शिथिल भाव से पड़ रही। फिर तो हम दोनों असली अन्तःपुर के भीतर प्रविष्ट हो गये। यहाँ भी कुछ दूर तक बड़े-बड़े वृक्ष थे; पर आगे चलकर कुरबक, मल्लिका, कुरण्टक, नवमालिका आदि के गुल्म थे। यद्यपि चाँदनी में सब-कुछ स्पष्ट नहीं दिखायी देता था, पर गन्ध से तो स्पष्ट ही पता चल जाता था कि बकुल की वीथी कहाँ है, सिन्धुवार की पाली किस ओर है और चम्पकों के गुल्म किधर लगे हुए हैं। विविध प्रकार के पुष्पों के सम्मिलित सौरभ से, एक प्रकार का औत्सुकी भाव चित्त को पर्याकुल कर रहा था। दूर से मृदंग, काहल और शंख का नाद सुनायी दे रहा था। प्रेक्षा-दोलाओं की घण्टा-ध्वनि भी स्पष्ट सुनायी दे रही थी। मैंने बिना बताये ही समझ लिया कि मदनोत्सव अपने पूरे वेग पर है।

हम अभी पुष्प-गुल्मों की वीथी में ही थे कि दो परिचारिकाओं को द्विपदी-खण्ड का गान करते अपनी ओर आते देखा। उनके हाथों में आम की मंजरी थी और वे उन्मत्त भाव से नृत्य कर रही थीं। निस्सन्देह वे मधु-पान से मत्त थीं, क्योंकि वे नारी-सुलभ मर्यादा-ज्ञान को भूल चुकी थीं। नाचते-नाचते उनके केश-पाश शिथिल हो गये थे, कवरी (जूड़े) को बाँधनेवाली मालतीमाला न जाने कहाँ गिर गयी थी, पैरों के नूपुर पटकन-झटकन के वेग को न सँभाल सकने के कारण दुगुने जोर से झनझना उठे थे—उनके भीतर और बाहर उन्मत्त आमोद की आँधी वह रही थी[1]। उनमें से एक निपुणिका की ओर बढ़ी। जान पड़ता था, उसका नाम भी निपुणिका ही होगा, क्योंकि उसने 'मित्तिया' कहकर निपुणिका

1. तु. 'रत्नावली', प्रथम अंक

को पुकारा था। ज़रा नजदीक आकर उसने निपुणिका को पुकारकर कहा, "मित्तिया, आज तो तेरा ही जय-जयकार है। महाराज ने घोषणा की है कि जो परिचारिका नयी बहू को प्रमद-वन के उत्सव में ले जायगी, उसे अपना रत्नहार उपहार देंगे। तो जा न सखी, दूसरी ऐसी बड़-भागी कौन है, जो नयी बहू को घर से बाहर निकाल सके। वे तो पूजा में लगी हैं। बहुत देखा है बाबा, इस राजकुल में ऐसी पुजारिनें कई गण्डा आ चुकी हैं। अरे, भला, यह नयी चिड़िया कहाँ से फँसा लायी, मित्तिया !" इतना कहकर वह मेरी ओर मुड़ी। निपुणिका ने मेरे कान में धीरे-से कहा, "क्षीबा है !" मैं मतलब समझ गया। 'क्षीबा' कान्यकुब्ज की बोली में मदिरा पी हुई स्त्री को कहते हैं। निपुणिका ने मुझे साहस बँधाने के लिए यह बात कही थी। इतने में वह स्त्री मेरे पास आ गयी। मैंने समझा, अबकी भेद खुला चाहता है ! पर उसके मुख से ऐसी गन्ध निकल रही थी कि मेरा मुँह बरबस दूसरी ओर फिर गया। निपुणिका को अवसर मिल गया। बोली, "उसे न छेड़ मित्तिया, गाँव से नयी आयी है, अभी यहाँ की रीति-नीति नहीं जानती।" मित्तिया जोर से हँस पड़ी। "दो दिन में सीख जाओगी लली, न जाने कितनी आँखों पर नाचती फिरोगी !" परन्तु उसे ज्यादा फुरसत नहीं थी। अपनी सखी के साथ नाचती हुई वह फिर एक ओर चली गयी। मैंने शान्ति की साँस ली। निपुणिका ने साहस बँधाते हुए कहा, "सब क्षीबा हैं, हला !"

उस समय दक्षिण-समीर मन्द गति से बह रहा था। वाटिका के वृक्ष-लता-गुल्म सभी झूम रहे थे। उनकी मूँगे-जैसी लाल-लाल किसलय-सम्पत्ति ने उनकी सारी शोभा को लाल बना दिया था। उन पर गूँजते हुए भौंरों की आवाज स्खलित वाणी के समान सुनायी दे रही थी और मलयानिल की मृदु-मन्द तरंगों से आहत होकर वे सचमुच ही झूम रहे जान पड़ते थे। शायद मधुमास के मधुपान से वे भी मत्त थे। अन्तःपुर की परिचारिकाएँ ही नहीं, कुसुमलताएँ भी क्षीबा बनी हुई थीं।[1] मैंने निपुणिका की बात पर रहस्य की टिप्पणी करते हुए कहा, "सब क्षीबा हैं, निउनिया !" निउनिया ने मुँह पर अंगुली रखके इशारा किया—'चुप !' और झुककर एक वृद्ध को अभिवादन किया। सारी अन्तःपुर की उन्मत्त विलास-लीला के विरुद्ध यह वृद्ध अपनी समस्त आयु का अनुभव लिये गम्भीर खड़ा था। उसके समस्त इन्द्रिय शिथिल हो गये थे। लम्बे श्वेत कंचुक से उसका सारा शरीर ढका हुआ था। सिर पर और कान में के समस्त केश दूध के समान शुक्ल हो गये थे। यह कंचुकी था ! इसी को देखकर मुझे चुप होने का इशारा किया गया था। वृद्ध को कुछ कहने का अवसर दिये बिना ही निपुणिका बोल उठी, "गाँव से नयी आयी है अज्ज, कोई रीति-नीति नहीं जानती !" फिर मुझे डाँटते हुए कहा, "प्रणाम कर, सुदक्षिणा ! आर्य वाभ्रव्य हैं। अन्तःपुरिकाओं के पिता के समान पूज्य हैं।" मैंने धरती पर जानुपात करते हुए प्रणाम किया। वाभ्रव्य से

1. तु. 'रत्नावली', प्रथम अंक

सौभाग्यवती होने का आशीर्वाद पाकर हम दोनों विराट् अट्टालिका में धँस गये।

जिस नयी बहू को प्रमद-वन में ले जाने के लिए छोटे महाराज ने रत्नहार का पुरस्कार घोषित किया था, वह वही राजकन्या थी, जिसके उद्धार के लिए मैं अन्तःपुर में चोरों की भाँति घुसा था। निपुणिका ने फुसफुसाते हुए मेरे कान में कहा, "महावराह निश्चय ही आज प्रसन्न हैं, नहीं तो छोटे महाराज यह घोषणा क्यों करते ?" फिर नाना अलिन्दों और कुट्टिम-वीथियों से अग्रसर होते हुए हम उस राजकन्या के गृह में गये। उस समय वह सचमुच ही पूजा की वेदी पर बैठी हुई थी। उसकी पूजा में किसी प्रकार का विघ्न न हो, इसलिए निपुणिका ने मुझे चुपचाप एक ओर बैठने का इशारा किया और स्वयं भी धीरे-से बैठ गयी। बैठकर मैंने एक बार सारे गृह को ध्यान से देखा। गृह के एक प्रान्त में एक नातिदीर्घ शय्या पड़ी हुई थी, जिसके दोनों सिरों पर दो उपधान रखे हुए थे। सारी शय्या दुग्ध-धवल प्रच्छद-पट (चादर) से ढकी हुई थी। शय्या के सिरहाने की ओर कूर्च-स्थान पर महावराह की एक भावपूर्ण मूर्त्ति पुष्पमाल्य से विभूषित विराज रही थी। महावराह का विशाल दंष्ट्रा आकाश की ओर इस प्रकार उठा हुआ था मानो अभी वेगपूर्वक समुद्र से बाहर उठा है, उस पर धरित्री की भीतचकित मूर्त्ति बहुत ही मनोहारिणी दिख रही थी। महावराह की आँखें ठीक प्रस्फुटित पद्म के समान दिख रही थीं और सारा शरीर उत्पलपत्र के समान घन-चिक्कन नील वर्ण का दिख रहा था। वस्तुतः वह सारी मूर्त्ति एक ही नील प्रस्तर को काटकर बनायी गयी थी। मन-ही-मन मैंने जीवन्त नीलाचल के समान स्फूर्जितवीर्य महावराह का ध्यान-मन्त्र-पाठ करते हुए प्रणाम किया।[1] इसी महावराह की मूर्त्ति के नीचे इस अन्तःपुर की 'नयी बहू' और हमारी 'अशोक वन की सीता' ध्यानस्थ बैठी थी। उसकी बगल में एक वेदिका पर माल्य, चन्दन और अनेक प्रकार के उपलेपन रखे हुए थे। एक छोटी-सी स्फटिक-पीठिका पर सुगन्धित सिक्थ-करण्डक (मोम की पिटारी) और सौगन्धिक पुटिका (इत्रदान) रखी हुई थी। जरा दूर हटके एक कांचन-पात्र में मातुलुंग की छाल और पान के अन्यान्य उपकरण रखे हुए थे। शय्या के पादाधान की ओर चाँदी का पतद्ग्रह (पीकदान) रखा हुआ था। ऊपर दीवार में हाथीदाँत की खूँटियों पर लाल कपड़े में लिपटी हुई एक वीणा रखी थी। दूसरी खूँटियाँ खाली पड़ी थीं, क्योंकि उन पर की विपंची उतरकर पूजापरायण राजबाला की गोद में पड़ी हुई थी। दीवार की दूसरी ओर श्वेत पट्ट लगे हुए थे, जो या तो हाथीदाँत के होंगे या वैसे ही किसी शुक्ल प्रस्तर के बने होंगे। उन पर चित्रफलक, तूलिका और रंग के डिब्बे और भूर्जपत्र पर लिखी हुई एक पुस्तक रखी हुई थी। यह पुस्तक इस देश में प्रचलित पोथियों से कुछ भिन्न थी। उसके पत्रे खुले हुए नहीं

1. तु. महावराह का ध्यान :
ततः समुत्क्षिप्य धरां स्वदंष्ट्रया महावराहः स्फुट-पद्म-लोचनः।
रसातलादुत्पल-पत्रसन्निभः समुत्थितो नील इवाचलो महान्॥

थे और पुट्ठे बँधे दिख रहे थे। एक अन्य नागदन्त (खूँटी) पर कुरण्टकमाला बड़ी सुकुमार भंगी में लटकायी गयी थी। शायद कुरण्टकमाला का यह गुण कि वह बहुत देर तक सूखती नहीं, उसे यहाँ ले आने में समर्थ हुआ था।[1] गृह में सामान बहुत थोड़े थे; पर वह फिर भी अत्यन्त भरा-पूरा दिखता था।

इसी समय उस राजकन्या ने वीणा बजाना शुरू किया। धीरे-धीरे वह अत्यन्त तन्मय हो गयी। मैंने इस बार स्वाभाविक संकोच छोड़कर इस कमनीयता की मूर्त्ति की ओर देखा। उसको देखकर अत्यन्त पतित व्यक्ति के हृदय में भी भक्ति उत्पन्न हुए बिना नहीं रह सकती। उसके सारे शरीर से स्वच्छ कान्ति प्रवाहित हो रही थी। अत्यन्त धवल प्रभापुंज से उसका शरीर एक प्रकार ढका हुआ-सा ही जान पड़ता था, मानो वह स्फटिक-गृह में आबद्ध हो, या दुग्ध-सलिल में निमग्न हो, या विमल चीनांशुक से समावृत हो, याद र्पण में प्रतिबिम्बित हो, या शरद्कालीन मेघपुंज में अन्तरित चन्द्रकला हो। उसकी धवल-कान्ति दर्शक के नयन-मार्ग से हृदय में प्रविष्ट होकर समस्त कलुष को धवलित कर देती थी, मानो स्वर्मन्दाकिनी की धवल धारा समस्त कलुषकालिमा का क्षालन कर रही हो। मेरे मन में बार-बार यह प्रश्न उठता रहा कि इतनी पवित्र रूप-राशि किस प्रकार इस कलुष धरित्री में सम्भव हुई। निश्चय ही यह धर्म के हृदय से निकली हुई है। मानो विधाता ने शंख से खोदकर, मुक्ता से खींचकर, मृणाल से सँवार-कर, चन्द्रकिरणों के कूर्चक से प्रक्षालित कर, सुधाचूर्ण से धोकर, रजत-रज से पोंछकर, कुटज, कुन्द और सिन्धुवार पुष्पों की धवल कान्ति से सजाकर ही उसका निर्माण किया था। अहा, यह कैसी अपूर्व पवित्रता है! यहाँ क्या मुनियों की ध्यान-सम्पत्ति ही पुंजीभूत होकर वर्त्तमान है, या रावण के स्पर्श-भय से भागी हुई कैलास पर्वत की शोभा ही स्त्री-विग्रह धारण करके विराज रही है, या बलराम की दीप्ति ही उनकी मत्तावस्था में उन्हें छोड़कर भाग आयी है, या मन्दाकिनी की धारा ने ही यह पवित्र रूप ग्रहण किया है।[2] वह भक्ति-गद्गद स्वर में गान करती हुई वीणा बजा रही थी। मैंने ऐसी वीणा पहले कभी नहीं सुनी थी। आबाल्य अभिनय देखने में ही काट दिया। हाय, सच्ची भक्ति तो हमने कभी देखी ही नहीं। शूद्रक के 'मृच्छकटिक' में अभिनय करते समय मैंने एक बार वीणा को असमुद्रोत्पन्न रत्न कहा जरूर था; पर समझा तो आज ही। उस दिन हमने वयस्यों से विनोद करते हुए शूद्रक के उस श्लोक का उपहास किया था। मुझे उस दिन यह समझ में नहीं आया था कि संकेत-स्थान में प्रतीक्षा करके ढाढ़स बाँधने और अनुरक्त व्यक्ति का रागवर्धन करने के सिवा वह और कौन-सी बात है, जिसे शूद्रक ने उत्कण्ठित की वयस्यता कहा है। उत्कण्ठित तो विरहा-तुर को ही कहते हैं और उसकी अनुगुणता तो रागवर्धन में ही समाप्त हो गयी। मैंने उस दिन वह रहस्य नहीं समझा था! आज देखता हूँ कि सच्चा उत्कण्ठित

1. तु. वात्स्यायन के 'कामसूत्र' का नागरक गृह-वर्णन
2. तु. 'कादम्बरी' में महाश्वेता-वर्णन

क्या होता है। सचमुच ही वीणा असमुद्रोत्पन्न रत्न है। मैं शूद्रक की बात का रहस्य समझ रहा हूँ।[1]

धीरे-धीरे वीणा बन्द हुई। प्रमद-वन की ओर के गवाक्ष से प्रमद-वन के उत्सव का आभास मिल रहा था। नर्त्तकियों का एक दल चर्चरी ताल के साथ गान करता हुआ इसी ओर आता जान पड़ता था। उस सम्मिलित ध्वनि में कैसी-कैसी बुभुक्षा थी, पिपासा थी और मानो भूख-प्यास की कभी तृप्त न होने-वाली छटपटाहट थी। ईषत्-स्पष्ट ध्वनि में दूर से गान सुनायी दिया :

इह पढमं महुमासो जणस्स हिअआइँ कुणइ मिदुलाइँ।
पच्चा विद्धइ कामो लद्धप्पसरेहि कुसमबाणेहि ॥[2]

और इसी राग-रुग्ण गान की पृष्ठभूमि में हमारी 'अशोक-वन की सीता' ने भक्ति-कातर वाणी में महावराह की स्तुति की :

जलौघमग्ना सचराचरा धरा विषाणकोट्याखिलविश्वमूर्त्तिना।
समुद्धृता येन वराहरूपिणा स मे स्वयंभूर्भगवान् प्रसीदतु ॥

फिर उसने अश्रुपूर्ण नयनों से एक बार महावराह की ओर देखा। अत्यन्त धीर पद-संचार से उसने अपने इष्टदेव की परिक्रमा की और शय्या की ओर अग्रसर हुई। शय्या पर बैठने के थोड़ी देर बाद तक भी उसकी आँखें भक्ति की मादकता से मुक्त नहीं हुईं। कुछ देर बाद हम दोनों की ओर उसने देखा। अहा, दृष्टि में इतनी पूतकारिता भी होती है! मानो वह दृष्टि पुण्य-रश्मियों से द्रष्टव्य को उद्भासित कर रही थी, तीर्थ-वारिधारा से प्लावित कर रही थी, तपस्या से पवित्र बना रही थी और सत्य के अन्तर्निहित ताप से हृदय के अशेष पाप-भावों को भस्म कर रही थी। मुझे ऐसा लगा कि वेदों की पवित्र वाणी विग्रहवती होकर मुझे आज ब्राह्मणत्व के वरण योग्य बना रही है। आज मेरी प्रतिज्ञा सफल होगी क्या?

निपुणिका ने भक्तिपूर्वक प्रणाम किया और मैंने भी उसी का अनुकरण किया। राजकन्या ने निपुणिका की ओर विश्वासपूर्वक देखा। निपुणिका के लिए वह पार्वती के समान वन्दनीया थी और उसके लिए निपुणिका सखी और वयस्या के समान दुःख-संगिनी। एक बार अपनी बड़ी-बड़ी स्नेह-मेदुर आँखों से मेरी ओर देखा। उस दृष्टि में जिज्ञासा का भाव था। निपुणिका ने आगे जाकर बहुत धीरे-धीरे कुछ कहा। उसने मेरे विषय में कुछ गोपन नहीं रखा; क्योंकि एक क्षण में ही राजकन्या के नयनों में लज्जा का भाव उदय हुआ, उसके धवलायमान कपोलों पर लज्जा की लालिमा दौड़ गयी। वह क्षण-भर के लिए कुछ म्लान भी हो गयी। उस समय मुझे अपने अनधिकार प्रवेश पर बड़ा क्षोभ हुआ; लेकिन

1. निम्नलिखित श्लोक से तात्पर्य होगा :
उत्कंठितस्य हृदयानुगुणा वयस्या सकेतके चिरयति प्रवरो विनोदः।
संस्थापना प्रियतमा विरहातुराणां रक्तस्य रागपरिवृद्धिकरः प्रमोदः ॥ —मृच्छकटिक, 3-4

2. तु. 'रत्नावली', प्रथम अंक

निपुणिका ने क्या जाने क्या कहकर उसे सँभाल लिया। राजकन्या ने बंकिम नेत्रपात से मेरी ओर देखा और फिर एक बार महावराह की ओर कातर भाव से ताका। उसकी आँखों से धारा बह चली। स्पष्ट ही उस कातर दृष्टि का अभिप्राय यह था कि हे इष्टदेव, अभी और क्या-क्या दिखाओगे! निपुणिका, किन्तु, कान में कुछ कहती ही रही। एक घड़ी तक मैं ग्लान-लज्जित बैठा रहा और वह राजकन्या नाना चिन्ताओं में डूबी पड़ी रही। फिर वह धीरे-धीरे उठी। निपुणिका ने घर के बाहर बैठी हुई चामरधारिणी को पुकारके कहा, "हञ्जे, आर्य वाभ्रव्य से कह दे कि नयी बहू को प्रमद-वन में चलने को निपुणिका ने सम्मत कर लिया है। वे आ रही हैं।"

चामरवाहिनी को आश्चर्य हुआ। क्षण-भर तक वह इसे परिहास समझे रही। पर निपुणिका ने जब दुबारा कहा, तो वह उल्लासपूर्वक दौड़ी हुई बाहर निकल गयी। ऐसा जान पड़ा कि क्षण-भर में यह संवाद समूचे अन्तःपुर में व्याप्त हो गया। प्रमद-वन के अन्यान्य बाजे बन्द हो गये, केवल मांगल्य-शंख रह-रहकर बज उठने लगा। आर्य वाभ्रव्य ने व्यस्त भाव से आकर जयनाद किया—"भावी महादेवी की जय हो!" निपुणिका ने जोर से दुहराते हुए कहा, "जय हो!" और वह राजकन्या, निपुणिका और मैं धीरे-धीरे राजभवन से प्रमद-वन की ओर चलने को उद्यत हुए। राजकन्या ने एक बार फिर महावराह को भक्तिपूर्वक देखा, उनके चरणों पर आँखें रगड़ीं और एक खण्ड-वस्त्र उनके चरण-तल से खींचकर निपुणिका को दिया। निपुणिका ने चुपचाप मेरी ओर उसे सरकाया और कहा, "सँभालकर रख लो।" महावराह के उस प्रसाद को मैंने बड़े यत्न से सँभाला।

प्रमद-वन के प्रवेश-द्वार पर जब हम तीनों पहुँचे, तो राजकुल की परिचारिकाओं की एक मण्डली आनन्द-कोलाहल के साथ आती दिखायी दी। वे बारम्बार 'भावी महादेवी की जय हो!' कहकर उल्लास प्रकट कर रही थीं। उनका वेश अस्त-व्यस्त था और वाणी स्खलित-खण्डित। 'भावी महादेवी' के गम्भीर मुख-मण्डल पर भाव-परिवर्त्तन का कोई चिह्न नहीं था। वह मेरी ओर एक बार देखकर रुक गयी। निपुणिका से जनान्तिक में उसने कुछ कहा, पर इतने जोर से बोली कि मुझे सुनने में कोई बाधा नहीं हुई। वस्तुतः मुझे सुनाना ही उसे अभीष्ट था। बोली, "निपुणिका, अन्तःपुर की मर्यादा भंग नहीं होनी चाहिए। कुमारियों और परिचारिकाओं का व्यवहार आज असंयत है।" फिर मेरी ओर घूमकर धीरे-से बोली, "भद्र, तुम हमारे अकारण बन्धु हो, बुरा न मानना; अन्तःपुर की एक मर्यादा होती है।" मैं समझ गया। मैंने हाथ जोड़कर ग्रीवा झुकाकर बिना बोले ही उत्तर दे दिया कि उनकी प्रत्येक आज्ञा मुझे शिरोधार्य है। निपुणिका बड़ी चतुर स्त्री थी। वह तत्क्षण लौटकर आर्य वाभ्रव्य के पास चली गयी और उन्हें साथ लेकर लौट आयी। मैं कुछ समझ नहीं सका। आर्य वाभ्रव्य ने परिचारिकाओं की मुख्या को बुलाके कहा, "भावी महादेवी आज अपनी इन दो सहचरियों के साथ ही प्रमद-वन का भ्रमण करना चाहती हैं। उनका आदेश है कि

उनके किसी कार्य में तुम लोग अन्तराय न बनो।" परिचारिकाओं ने संभ्रम के साथ सुना और एक स्वर से 'भावी महादेवी की जय हो !' कहकर दूसरी ओर चली गयीं।

'भावी महादेवी' प्रमद-वन के बाहर से घूमती हुई वृक्ष-वाटिका की ओर चल दीं। वाटिका के बीचोबीच एक विशाल वापी थी। सारी वापी कुमुद-कह्लारों से परिपूर्ण थी। चाँदनी की शुक्लता ने उसकी स्वच्छता को और भी गाढ़ बना दिया था। हम तीनों वहाँ पहुँचकर रुक गये। राजकन्या ने निपुणिका की ओर देखकर कहा, "अब !" और प्रस्तर-निर्मित घाट पर अवसन्न-सी होकर बैठ गयी। निपुणिका ने कहा, "आर्ये, महावराह सहायक हैं। भगवान को साधुवाद दो कि दक्ष भट्ट जैसा साहसी और भद्र पुरुष हमें सहायक मिल गया है। झिझक छोड़ो। उठो।" राजकन्या ने मेरी ओर प्रश्नभरी दृष्टि से देखा। मैंने धीरे-धीरे किन्तु दृढ़ता से कहा, "आर्ये, अभागे दक्ष को एक पुण्य-कार्य करने का अवसर मिला है। साहस करो। यमराज भी तुम्हारा कोई अनिष्ट नहीं कर सकता।" निपुणिका ने एक बार मेरी ओर देखा और राजकन्या के उत्तर की प्रतीक्षा किये बिना मुझसे कहा, "भट्ट, नेपथ्य उतार दो। महावराह का प्रसाद-वस्त्र धारण करो और प्रान्त वृक्षों की शाखा के सहारे चहारदीवारी लाँघ जाओ। फाटक पर हमारी प्रतीक्षा करना।" मैं सब समझ गया। वाटिका के एक प्रान्त में जाकर मैंने पुरुष-वस्त्र धारण किया। निपुणिका की सखी का नेपथ्य उसे ही देकर मैं एक नातिदीर्घ शिरीष-वृक्ष पर चढ़ गया और बाहर आकर राजमार्ग पर खड़ा हो गया। नाग उस समय उनींदा था। मैं दूर खड़ा प्रतीक्षा करने लगा। उस समय चन्द्रमा मध्य आकाश में आ गया था, ऐसा जान पड़ता था कि वह शुक्ल-वसन-धारिणी धरित्री के ललाट का चन्दन-तिलक है। क्या आज धरित्री ने भी अपने उद्धारकर्त्ता महावराह की पूजा की है ?

चतुर्थ उच्छ्वास

निपुणिका ने अपनी स्वामिनी को छिपा रखने के लिए जिस स्थान को चुना था, उसके दर्शन-मात्र से मेरा हृदय बैठ गया। वह एक देवी-मन्दिर से संलग्न छोटा-सा जीर्ण गृह था। जब निपुणिका के घर से कुछ आवश्यक सामग्री लेकर चोरों की भाँति हम नगर-प्रान्त में अवस्थित उस मन्दिर के पास पहुँचे, उस समय चन्द्रमा पश्चिमाकाश की ओर लटक गया था। सप्तर्षियों का मण्डल मानसरोवर में स्नान करने की तैयारी में था और काल-पुरुष अस्तगिरि के शिखर को छूता

दिखायी दे रहा था। चाँदनी उस समय भी दूध के समान श्वेत होकर धरित्री को ढके हुए थी। चण्डी-मन्दिर के बाहर लोहे के मोटे छड़ों का बना हुआ एक विराट् कपाट था, जिसके भीतर से चण्डी की मूर्त्ति स्पष्ट दिखायी दे रही थी। देवी के सामने एक लौह-वेदिका पर कज्जल के समान काला भैंसा स्थापित था, जिसके सारे शरीर पर भक्तजनों ने लाल थापे दे रखे थे। ऐसा लगता था कि वह साक्षात् यमराज का वाहन है और यमराज ने रक्ताक्त हाथों से थप्पड़ मार-मारकर उसे चलाया है। देवी के चरणों के पास एक छोटी वेदी थी, जिस पर कोई लाल-लाल वस्तु दिख रही थी। बाद में मैंने देखा कि वह और कुछ नहीं, एक पीढ़े पर रखा हुआ महावर से रँगा वस्त्र-खण्ड था। मन्दिर के सामने एक खुला हुआ प्रांगण था, जिसके कुट्टिम विदीर्ण हो चुके थे और उन दरारों से हरिद्वर्ण के तृण निकलकर जीवनी-शक्ति की विजय-घोषणा कर रहे थे। इसी प्रांगण से सटा हुआ एक घर था, जो बाहर से गुफा-जैसा दिखायी दे रहा था। घर के सामने कुछ अयत्न परिवर्द्धित करवीर के झाड़ थे, जिनमें वन-कुक्कुटों ने रात को आश्रय ग्रहण किया था। निपुणिका ने बड़ी सावधानी से उस घर को खोला और जब हम तीनों उसमें प्रविष्ट हो गये तो उसी सावधानी के साथ भीतर से बन्द कर दिया। बन्द कर देने के बाद वह आँगन चारों ओर से घिर जाता था। आँगन में दो-तीन छोटी-छोटी कोठरियाँ थीं और एक जीर्णप्राय कुआँ था। इस भग्नप्राय प्रांगण-गृह को ज्योत्स्ना ने और भी भयंकर बना दिया था। आँगन में भीतों पर लाल रंग से चित्रित नाना प्रकार के चिह्न स्पष्ट दिखायी दे रहे थे। जान पड़ता था, किसी समय इस घर में कोई भैरव अपनी भैरवी के साथ वाममार्गी साधना किया करते थे; क्योंकि उन चिह्नों का यही अर्थ हो सकता था। निपुणिका ने इस कुसुम-सुकुमार राजकन्या को छिपाने के लिए इस भयंकर स्थान को चुनकर न तो बुद्धिमानी का परिचय दिया था और न सुहृदयता का ही। लेकिन वह लाचार थी। उसकी श्रेणी की दासी के लिए इससे उत्तम स्थान चुन सकना असम्भव था। उसने केवल एक बार मेरी ओर कातर-भाव से देखा। उस दृष्टि का स्पष्ट तात्पर्य यह था, 'इससे अधिक मेरे बस की बात न थी।' वह प्रसन्न नहीं थी। मेरा पौरुष-गर्व परास्त हो चुका था। एक दीर्घ निःश्वास द्वारा मैंने अपना असन्तोष प्रकट किया। मेरे प्राण हाँफ उठे थे। उस निसर्ग सुकुमार राजबाला की ओर आँख उठाकर देख सकने का साहस भी मुझमें नहीं रह गया था। मैं जिस समय अवसन्न होकर बैठ पड़ने जा रहा था, उसी समय राजबाला ने थके हुए स्वर में कहा, "भद्र, विलम्ब हो रहा है; करणीय हो, सो करो।" इस वाक्य ने विद्युत् की त्वरा के साथ मेरे समस्त अस्तित्व को झकझोरकर जगा दिया। मेरा जड़भाव जाता रहा। ऐसा लगा, जैसे किसी अमृत संजीवनी ने मेरे भीतर नये प्राण भर दिये हैं। विनीत भाव से मैंने कहा, "देवि, आज इसी स्थान पर विश्राम करें। कल मैं कोई और व्यवस्था करूँगा। मुझे इस स्थान पर आपको देखकर बड़ा कष्ट हो रहा है; पर विवश हूँ।" उत्तर मिला—"मुझे कोई कष्ट न होगा, करणीय

कीजिए।" निपुणिका ने एक छोटी कोठरी की ओर चलने का इशारा किया। उसके वचन रुद्ध हो गये थे, शायद वह रो रही थी। वह कोठरी अपेक्षाकृत साफ और मजबूत थी। वहाँ एक कम्बल पहले से ही बिछा हुआ था। हमने राजबाला को अँधेरे में वहीं विश्राम करने को कहा। राजबाला के बैठ जाने के बाद हम दोनों अन्यान्य कार्यों में जुट गये।

निपुणिका कुछ देर तक चुपचाप काम करती रही; पर उसकी प्रत्येक क्रिया से एक व्याकुल आशंका का भाव प्रकट होता रहा। मैंने उससे पूछा कि क्या बात है। पहले तो वह जबदी-सी खड़ी रही, फिर धीरे-धीरे बोली कि किस प्रकार यहाँ के वृद्ध पुजारी को हाथ करके उसने यह घर हथियाया है। यद्यपि इस मन्दिर में बहुत कम लोग आया करते हैं, फिर भी यह स्थान सुरक्षित नहीं है, इस विषय में निपुणिका को कोई सन्देह नहीं था। उसने बताया कि दिन को इस घर का पूर्ण रूप से बन्द रहना ही उचित है। मुझे दिन-भर बाहर रहना होगा और रात को पुजारी के सो जाने के बाद ही निपुणिका से मिलना सम्भव होगा। पर वस्तुतः निपुणिका ने जो बात नहीं कही, वही उसका प्रधान वक्तव्य थी। वह डरी हुई थी। पहले उसने इस स्थान पर आने के परिणामों को जितना हल्का समझा था, अब उतना हल्का नहीं समझ रही थी, स्त्री-सुलभ भीरुता ने उसे अभिभूत कर दिया था। मैंने साहस बँधाते हुए कहा, "निउनिया, बाणभट्ट के साथ रहकर भी तू डरती है ?" वह आँखें नीची ही किये रही और स्खलित भाव से 'नहीं' कहकर धीरे-धीरे भीतर चली गयी। प्रभात होने में अब ज्यादा देर नहीं थी। मैं बाहर निकल आया। निपुणिका ने भीतर से घर बन्द कर लिया।

देखते-देखते चन्द्रमा पद्म-मधु से रँगे हुए वृद्ध कलहंस की भाँति आकाश-गंगा के पुलिन से उदास भाव से पश्चिम जलधि के तट पर उतर गया। समस्त दिङ्मण्डल वृद्ध रंकुमृग की रोमराजि के समान पाण्डुर हो उठा। हाथी के रक्त से रंजित सिंह के सटाभार की भाँति किंवा लोहित वर्ण लाक्षारस के सूत्र के समान सूर्य किरणें आकाश-रूपी वन-भूमि से नक्षत्र-रूपी फूलों को इस प्रकार झाड़ देने लगीं, मानो वे पद्मरागमणि की शलाकाओं से बनी हुई झाड़ू हों। तारिकाएँ लुप्त होने लगीं। दो-एक जो अब भी बच रही थीं, वे पश्चिमाकाश-रूपी समुद्र-तट पर सीपियों के उन्मुक्त मुख से बिखरे हुए मुक्ता-पटल की भाँति दिख रही थीं। पूर्व की ओर प्रकाश आविर्भूत होने लगा। धीरे-धीरे शिशिर-बिन्दु को वहन करता हुआ, पद्मवन को प्रकम्पित करता हुआ, परिश्रान्त नगर-रमणियों के घर्म-बिन्दु को विलुप्त करता हुआ, वन्य-महिषों के फेन-बिन्दु से सिंचा हुआ, कम्पमान पल्लवों और लता-समूहों को नृत्य की शिक्षा देता हुआ, प्रस्फुटित पद्मों का मधु बरसाकर, पुष्प-सौरभ से भ्रमरों को सन्तुष्ट करके मन्द-मन्द संचारी प्रभात-वात बहने लगा। इस समय तक छोटे राजकुल में न जाने क्या घटा होगा ! शायद सबसे अधिक आघात वृद्ध बाभ्रव्य को सहना पड़ेगा। अब तक शायद निपुणिका का घर जला दिया गया होगा। मैंने सन्तोष की साँस ली, क्योंकि मैं इस विपत्ति

में निपुणिका के साथ था और सौभाग्यवश इस नगर में मुझे कोई पहचानता भी नहीं। निपुणिका के घर से जब हम आवश्यक सामग्री लेने गये थे, उस समय मैंने अपना शुक्ल वेश धारण कर लिया था। इस समय मैं निरीह ब्राह्मण था। यद्यपि रात-भर की क्लान्ति से मेरा शरीर कुछ अवसन्न हो आया था; पर इस समय आराम करने की प्रवृत्ति मेरे अन्दर नहीं थी। मैं यही सोच रहा था कि किसी अच्छे स्थान पर कैसे जाया जा सकता है। पास की टूटी पुष्करिणी में हाथ-मुँह धोकर मैं देवी के सामने जाकर स्तुति-पाठ करने लगा। अनतिपश्चात् एक वृद्ध ब्राह्मण चण्डी-मन्दिर की ओर आते दिखायी दिये। उन्होंने भक्तिपूर्वक चण्डी को प्रणाम किया और परिक्रमा करके प्रांगण में खड़े हो गये। मैंने भी परिक्रमा की और प्रणाम किया। वे मेरी ओर इस प्रकार ताक रहे थे, जैसे कुछ जानना चाहते हों। मैं उनके पास गया और प्रणाम किया। आशीर्वाद देते हुए उन्होंने बताया कि इसके पहले उन्होंने कभी मुझे नहीं देखा है और जानना चाहते हैं कि मैं कैसे इधर भटक पड़ा हूँ। मैंने विनीत भाव से कहा कि मैं परदेशी हूँ, रात को यहीं टिक गया था। वे थोड़ी देर तक हँसते रहे! बोले, "तो आप भाग्यवान् हैं, पुजारी बाबा से आपका साक्षात्कार नहीं हुआ?"

मैंने नम्रतापूर्वक उत्तर दिया, "पुजारी बाबा को मैं नहीं जानता।"

वे बोले, "जानते, तो यहाँ नहीं रुकते।"

मैंने इसका कारण पूछा। फिर वे हँसकर पुजारी बाबा का परिचय देने लगे। वृद्ध काफी सरस जान पड़ते थे। उन्होंने पुजारी की वर्णना बड़ी रसमयी भाषा में की। बताया कि पुजारी कोई वृद्ध द्रविड़ साधु है। उनके काले-काले शरीर में शिराएँ इस प्रकार फूटी दिखायी देती हैं, मानो उन्हें जला हुआ खम्भा समझकर गिरगिट चढ़े हुए हों। सारा शरीर घाव के दागों से इस प्रकार भरा है, मानो लक्ष्मी देवी ने शुभ लक्षणों को उस देह से काट-काटकर अलग कर लिया है। वे काफी शौकीन भी हैं। यद्यपि वृद्ध हैं, तो भी कानों में ओण्ड्र-पुष्प का लटकाना नहीं भूलते। वे भक्त भी हैं, क्योंकि चण्डी-मन्दिर की चौखट पर सिर ठुकराते-ठुकराते उनके ललाट में अर्बुद हो गया है। वे तान्त्रिक भी हैं; प्रायः ही वृद्धा तीर्थ-यात्रिणियों पर वशीकरण चूर्ण फेंका करते हैं। वे प्रयोग-कुशल भी हैं, क्योंकि एक बार गुप्त स्थानों की निधि दिखानेवाला कज्जल लगाकर एक आँख खो चुके हैं। वे चिकित्सक भी हैं, अपने आगेवाले लम्बे और ऊँचे दाँतों को समान बनाने के उद्योग में अन्य दाँतों को खो चुके हैं; पर वे ऊँचे दाँत जहाँ के तहाँ हैं। वे विनोदी भी हैं, क्योंकि बालकों के पीछे एक बार ईंट लेकर दौड़ पड़े थे और लुढ़ककर गिर गये थे, जिससे होंठ कुछ कट गये हैं। उनकी विद्या का भाण्डार अक्षय है। समस्त दक्षिणापथ की सम्पत्ति प्राप्त करने की आशा से कपाल में तिलक धारण करते हैं। हरे वघरेंड़ के पत्तों के रस में श्मशान का कोयला पीसकर उससे एक सीपी को रँग रखा है। उनका विश्वास है कि उसे देखने-मात्र से धनियों के हृदयों में उच्चाटन होता है और वे अपनी सम्पत्ति छोड़कर चल देते हैं। माया-वशीकरण के

ऊपर भी उनका विश्वास है। इस कार्य के लिए उन्होंने तालपत्र की एक पोथी पर महावर के रंग से एक लाख बार 'हुँ फट्' लिख रखा है और उसे गुग्गुल-धूप से धूपित किया है। उनका विश्वास है कि इस पोथी को देखकर रमणियाँ उनकी चेरी हो रहेंगी। आँख यद्यपि एक ही है, पर उसमें एक चिक्कन शलाका द्वारा नित्य अंजन लगाया करते हैं। यद्यपि रात को रतौंधी के कारण देख नहीं सकते, परन्तु अप्सराओं के अप्रत्याशित आगमन की आशा से रात-भर प्रदीप जलाये रखते हैं। यद्यपि निद्रा में कुम्भकरण के प्रतिद्वन्द्वी हैं, पर स्वप्न में नूपुर-क्वणन निरन्तर सुना करते हैं। यद्यपि वानरों से स्पर्धा करके पेड़ पर से कूदकर एक पैर खो चुके हैं, पर मूलस्थानीय उपानहों को यत्नपूर्वक संग्रह कर रखा है। ब्राह्मणों से उनका निसर्ग-वैर है, और आप यदि अभी यहाँ से नहीं टल जाते तो एक टण्टा ज़रूर खड़ा करेंगे। भगवान् की इतनी लोकानुकम्पा अवश्य है कि उन्हें काण, खंज और बधिर बना दिया है, नहीं तो यह स्थाण्वीश्वर अब तक उजाड़ हो गया होता!

वृद्ध के इस वर्णन को सुनकर मैं समझ गया कि निपुणिका ने किस प्रकार इन्हें हाथ किया होगा और अब वह डर क्यों रही है। परन्तु मुझे कुतूहल ही हुआ। मैंने हँसते हुए कहा, "ऐसे लोकोत्तर महात्मा के दर्शन बिना तो नहीं टला जाता!"

वृद्ध ने हँसते हुए कहा, "जरूर दर्शन कीजिए; पर सावधान रहकर। कब सिर पर डण्डा बैठा देंगे, कुछ कहा नहीं जा सकता।" यह कहकर वृद्ध वहाँ से चलते बने। मैं भी प्रांगण से दूर हटकर वृद्ध पुजारी के आगमन की प्रतीक्षा करने लगा।[1]

कुछ देर बाद पुजारी निकले। चण्डी-मन्दिर के गर्भ-गृह में ही सोये हुए थे। उनकी आँखें लाल थीं। वृद्ध ने उनका जैसा रूप वर्णन किया था, वे वैसे ही थे। चण्डी-मण्डप से निकलकर उन्होंने कुछ मन्त्र पढ़े। फिर हाथ के डिब्बे से काला-सा चूर्ण निकालकर उस प्रांगण-गृह की ओर फेंका, जिसमें हम लोगों ने आश्रय लिया था। जल्दी-जल्दी वे उस घर की ओर बढ़े, दो-एक बार शीघ्रता के कारण लड़खड़ा भी गये। प्रांगण-गृह के द्वार पर उन्होंने चूर्ण निक्षेप किया और सँभाल-कर बगल से तालपत्र की पोथी निकाल उसे सामने कर लिया। फिर उन्होंने जोर-जोर से द्वार पर धक्का मारा। निपुणिका सावधानी से बाहर आयी और लीला-कटाक्ष से एक बार वृद्ध साधु की ओर देखा। फिर तो पुजारी के ऊपरवाले अर्धा-वशिष्ट दाँत बाहर निकल आये और सूखे हुए कपोलों पर अनुराग की हरीतिमा दौड़ गयी। बहुत दिनों के बाद उनका तन्त्र सफल हुआ था। वे उस महावर-लिखित तालपत्र की पोथी को बराबर सामने लिये हुए थे। यद्यपि निपुणिका ने उस पोथी की ओर विशेष ध्यान नहीं दिया, तथापि यह तो स्पष्ट ही जान पड़ता था कि वे इस विजय को उस पोथी का ही सुपरिणाम समझ रहे थे। शायद उन्हें यह

1. 'कादम्बरी' के जरद्द्रविड़ धार्मिक से तुलनीय।

आशंका थी कि पोथी सामने से हटा लेने पर वशीकरण का प्रभाव जाता रहेगा। मैं दूर बैठा यह कौतुक देख रहा था; निपुणिका ने क्या कहा, यह तो मुझे नहीं मालूम; पर उसने एक बार मेरी ओर अंगुली उठाकर दिखाया। पुजारी मुझे देखते ही अग्नितप्त हो उठे। निपुणिका ने किवाड़ बन्द कर लिये और पुजारी मेरी ओर दौड़ पड़े। शायद निपुणिका ने मुझे दिखाकर यह बताया था कि इस समय निर्जनता नहीं है और पुजारी का उसके पास आना ठीक नहीं हुआ है। पुजारी ने मुझसे क्या-क्या कहा, यह मुझे ठीक नहीं मालूम, क्योंकि उनकी स्खलित वाणी का स्पष्ट सुनना सहज नहीं था; परन्तु वे बातें भले आदमियों के सुनने योग्य नहीं रही होंगी, इस विषय में मुझे लेशमात्र भी सन्देह नहीं। वे क्रोध की मूर्त्ति बने हुए थे। यद्यपि वे एक पैर से लँगड़े थे; पर दौड़ने में उन्होंने कोई बात उठा नहीं रखी। शीघ्रता के कारण उनके हाथ से कज्जल-चूर्ण का डिब्बा लुढ़क गया और करीब-करीब खाली हो गया। ऐसा जान पड़ा कि मुझे इस स्थान पर बैठने के पाप का प्रायश्चित्त अवश्य करना होगा। उन्होंने एक बड़ा-सा प्रस्तर-खण्ड मेरे ऊपर फेंका। लेकिन वहाँ के प्रस्तर-खण्ड भी पुजारी बाबा का परिहास करना चाहते थे। उनके उत्तरीय में उलझकर वह पत्थर उनकी पीठ पर आ गिरा। बाबा का क्रोध और भी उफन पड़ा। मैं उन्हें शान्त करने का कोई उपाय सोच नहीं पा रहा था; लेकिन पत्थर ने ठीक मौके पर मेरी सहायता की। उत्तरीय के उलझने से उनका वक्षःस्थल खुल गया, शुष्कप्राय औण्ड्र-पुष्प की माला बाहर निकल आयी। काले धागे में बँधी हुई उच्चाटनवाली सीपी दिख गयी। मुझे मेरा करणीय सूझ गया। अत्यन्त नम्रतापूर्वक मैंने प्रणिपात किया और हाथ जोड़कर कहा, "धन्य हो महान् धार्मिक, आश्चर्य है यह उच्चाटन-शुक्ति, अद्भुत है इसकी महिमा! मुझे नगर-श्रेष्ठी धनदत्त ने भेजा है। आपकी इस अद्भुत शुक्ति को देखकर उनका मोह टूट गया है। धन-वैभव, कमल-पत्र के बुद्बुद के समान उन्हें निर्विकार छोड़कर अलग हो गये हैं। संसार से उन्हें वैराग्य हुआ है। वे अपनी समस्त सम्पत्ति आज ही आपके चरणों में समर्पण करना चाहते हैं। यदि आप उन्हें शिष्य बना लें, तो वे अभी सेवा करने को उपस्थित हो जायेंगे। मैं जब तक आपकी स्वीकृति का सन्देशा उनके पास न ले जाऊँगा, तब तक वे अन्न-जल नहीं ग्रहण करेंगे।" धार्मिक ने एक बार गर्व के साथ अपनी आश्चर्य-विभव-भूमि शुक्ति की ओर देखा, फिर धीरे-धीरे शान्त होकर बोले, "धनदत्त का कल्याण हो। बड़ा धार्मिक है। उससे कह दे कि वह सम्पत्ति दे जाये। शिष्य होना हो, तो सौगतों के सुगतभद्र के पास जाये। मैं शिष्य नहीं बनाता।" यह कहकर उन्होंने गर्व के साथ एक बार फिर सीपी को देखा। उस दृष्टि का तात्पर्य यह था कि 'बच्चू अब तो फँस गये हैं, जायेंगे कहाँ?' मुझे एक नयी सूचना मिली। मैंने हाथ जोड़कर विनीत भाव से पूछा, "वे अपनी सम्पत्ति और किसी को नहीं देना चाहते। वे आपके चरणों में ही सब-कुछ रख देने का संकल्प रखते हैं। आपकी अनुमति से वे सौगतों के शिष्य भी बन सकते हैं। अनुज्ञा दें, उन्हें इसी प्रकार का सन्देशा दे आऊँ।"

पुजारी ने कहा, "हाँ, जा; अभी जा। कल मैं कुछ नहीं लेता। मैं आज ही यहाँ से कान्यकुब्ज की ओर चला जाऊँगा। स्थाण्वीश्वर के नागरिक असभ्य हैं, भाग्यहीन हैं, कुत्सित हैं। मैं उन पर थूकता हूँ।" और सचमुच ही धार्मिक ने थूक दिया। फिर बोले, "परिहास करना हो तो वे इधर आयेंगे। मैं पूर्णिमा के दिन उनकी अभद्रता सह नहीं सकता।" मुझे इस बात का रहस्य बाद में मालूम हुआ था। बात यह थी कि फाल्गुनी पूर्णिमा को कई बार नागरिकों ने वृद्धा वेश्याओं से पुजारी बाबा का विवाह करा दिया था। इधर के लोग ऐसे परिहास में अधिक प्रगल्भ हैं। अब तक पुजारी बाबा को इस परिहास का ज्ञान हो गया था। वे आज ही स्थाण्वीश्वर त्याग करनेवाले थे। उनकी इच्छा शायद निपुणिका को साथ ले लेने की थी। मैंने उत्तम अवसर देखकर कहा, "तो क्यों न परम धार्मिक श्रीमान् श्रेष्ठी धनदत्त के महल की ओर चलें? नगर के प्रान्त-देश में जो ऊँचा महल है, वही उनका निवासस्थान है।" पुजारी बाबा आज अपनी सफलता के मद में बेहोश थे। बोले, "नहीं जाता मैं किसी के महल की ओर। धनदत्त को पड़ेगी, तो सौ बार यहाँ आयेगा। तू जा यहाँ से! सौगतों के सुगतभद्र के पास जा। वह घर-घर भीख माँगता फिरता है। मैं चण्डी के मन्दिर को छोड़कर कहीं नहीं जाता।" मैंने कहा, "साधु, परम धार्मिक साधु! तपस्या इसे कहते हैं, भक्ति इसका नाम है। भला वह सुगतभद्र कहाँ रहता है?" पुजारी ने अनति-दूर स्थित एक विहार की ओर उपेक्षापूर्वक उँगली उठायी। बोले, "वहाँ!" फिर मेरी ओर देखे बिना ही चण्डी-मण्डप की ओर चले गये। मैं क्षण-भर वहीं खड़ा रहा और सोचता रहा कि एक बार उधर का रंग भी क्यों न देख आऊँ। वस्तुतः मैं भूल ही गया था कि मुझे धनदत्त के पास पुजारी बाबा की अनुज्ञा ढो ले जाने का काम करना है। पुजारी ने एक बार मेरी ओर देखा। फिर तेजी से आकर बोले, "जा जल्दी यहाँ से, मार डालेगा बेचारे धनदत्त को। तू पाप-भृत्य है। वह अन्न-जल छोड़े बैठा है, तू यहाँ खड़ा है!" सचमुच ही तो मैं कैसा कुभृत्य हूँ!

मैं हाथ जोड़कर बोला, "हे परम धार्मिक, धनदत्त के महल तक आपका जाना आवश्यक है। वहाँ से वह आपके साथ गंगातट तक जायेंगे और गोधूलि के शुभ मुहूर्त्त में गंगाजल से वह संकल्प करके अपनी समस्त सम्पत्ति श्रीचरणों को सौंप देंगे। आप जब तक अनुज्ञा नहीं देते, तब तक मैं यहाँ से नहीं टल सकता।" पुजारी नर्म हुए। बोले, "तू बड़ा हठी है। भक्त जो न करा ले। मैं चलता हूँ; मगर तुझे साथ नहीं ले जा सकता। तू यहाँ से भाग जा।" शायद धार्मिक को यह सन्देह था कि मैं कुछ हिस्सा लेना चाहता हूँ। मैंने हाथ जोड़कर कहा, "सो कैसे होगा? आपने श्रेष्ठी धनदत्त का महल देखा है क्या?" मैंने तो कल्पना से श्रेष्ठी धनदत्त का सर्जन किया था और प्रान्त-भाग में कोई महल भी उसी शक्ति से खड़ा कर लिया था। पर कैसा आश्चर्य है, धार्मिक ने वह महल देख रखा था! बोले, "हाँ, हाँ, देखा है; वही न जिसके सामने विशाल अश्वत्थ-वृक्ष है!" मैंने कहा, "धन्य हो महाराज! ठीक उसी अश्वत्थवाले महल में श्रेष्ठी का निवास है। परन्तु आप

यदि महल में न जाना चाहें, तो अश्वत्थ-वृक्ष के नीचे प्रतीक्षा करें। श्रेष्ठी को मैं सन्देशा देने जा रहा हूँ।" धार्मिक ने उपेक्षापूर्वक कहा, "जा, मैं अश्वत्थ-वृक्ष के नीचे प्रतीक्षा करता रहूँगा।" मैंने सिर झुकाकर प्रणाम किया और एक ओर चला गया। थोड़ी देर बाद पुजारी ने महावर के रंग से रँगा वस्त्र पहना, उत्तरीय सँभाल लिया और कज्जल-चूर्ण बगल में लेकर प्रस्थान किया। मैंने मन-ही-मन सोचा कि नगर के उस प्रान्त तक जाने में पुजारी के लँगड़े पैरों को कम-से-कम दो घटी समय लगेगा, दो घटी प्रतीक्षा करने में जायगा और यदि उस अज्ञात महल में घुसना पड़े, तो लौटने में भी दो घटी का समय लग ही जायगा। कम-से-कम छः घटी तक तो हम निश्चिन्त हैं। इसमें यदि कोई व्यवस्था सम्भव हो, तो कर लेनी चाहिए। मैंने प्रांगण-गृह के पास जाकर निपुणिका को आवाज दी। वह पहले से ही मेरी प्रतीक्षा कर रही थी। मुझे देखते ही उसने हँसकर कहा, "अभिनय सफल हुआ है, भट्ट! पुजारी आये थे। प्रचुर अन्न दे गये हैं। गोधूलि समय तक वे अश्वत्थ-वृक्ष के नीचे प्रतीक्षा करेंगे। तुमने जिस महल की कल्पना से रचना की है, वह सचमुच है और यहाँ से एक योजन दूर है। पुजारी आज रात को भी नहीं लौट सकता। वह रात्र्यन्ध है। इस बीच कोई अच्छी व्यवस्था कर सकते हो, तो करो। भट्टिनी बहुत उदास है।" निपुणिका उस राजबाला को 'भट्टिनी' कहती थी। अन्तःपुर की परिचारिकाएँ रानी को इसी प्रकार सम्बोधन करती हैं। मैंने भी इसीलिए उन्हें 'भट्टिनी' कहना उचित समझा।

भट्टिनी की उदासी का समाचार सुनकर मुझे बड़ा कष्ट हुआ। मैंने ढाढ़स बँधाते हुए ज़रा जोर से ही कहा, "भट्टिनी को उदास होने की कोई आवश्यकता नहीं। मैं अभी कोई व्यवस्था करने जा रहा हूँ। आस-पास क्या है, मुझे बिल्कुल पता नहीं। केवल पुजारी ने बताया है कि यहाँ से पास ही कोई बौद्ध-विहार है, जहाँ 'सुगतभद्र' नामक कोई भिक्षु रहते हैं। मैं एक बार उस तरफ जाकर पता लगाता हूँ कि क्या व्यवस्था सम्भव है। भिक्षु लोगों को बहुत-कुछ पता होता है।"

मेरी बात भट्टिनी ने सुन ली। वस्तुतः उनको सुनाना ही मेरा उद्देश्य था। उन्होंने मुझे बुलाकर कहा, "क्या कहते हो, भट्ट! सुगतभद्र क्या वही हैं, जो तक्षशिला की ओर धर्मप्रचार करने गये थे? क्या वे नालन्दा के आचार्य शीलभद्र के गुरुभाई हैं?"

"मैं नहीं जानता, देवि! मैंने इतना ही सुना है कि कोई सुगतभद्र नामक भिक्षु पास के विहार में रहते हैं।"

"पता लगा लो, भद्र! यदि वे आचार्य शीलभद्र के सहपाठी तक्षशिला से लौटे हुए हैं, तो मेरा भाग्य आज प्रसन्न है। वे मेरे पिता के समान हैं, उन्हें मैं सन्देश भेजूंगी।"

मैंने विनीत भाव से कहा, "भद्रे! मैं अभी पता लगाऊँगा। परन्तु यदि वही हों, तो मैं क्या सन्देशा ले जाऊँ?"

भट्टिनी ने कहा, "कह देना, भद्र, कि देवपुत्र तुवरमिलिन्द की कन्या आपको

प्रणाम कहती है और यदि प्रसाद हो तो दर्शन पाना चाहती है।"

मेरे हृदय में धक्-से लगा। बोला, "तो देवि, क्या आप तत्रभवान् विषम समर-विजयी, वाह्लीक-विमर्दन, प्रत्यन्त-बाड़व देवपुत्र तुवरमिलिन्द की कन्या हैं ?"

राजबाला की आँखें नीची हो गयीं। बड़े-बड़े पुण्डरीक-दल से नयनों में अश्रु भर आये। भर्रायी हुई आवाज में बोलीं, "हाँ, भद्र !"

मैं थोड़ी देर तक आश्चर्य में डूबता-उतराता खड़ा रहा। उचित स्थान पर विधाता का पक्षपात हुआ है। हिमालय के सिवा गंगा की धारा को कौन जन्म दे सकता है ? महासमुद्र के सिवा कौस्तुभ-मणि को कौन उत्पन्न कर सकता है ? धरित्री के सिवा और कौन है जो सीता को जन्म दे सके ? मैं बड़भागी हूँ, जो इस महिमाशालिनी राजबाला की सेवा का अवसर पा सका। आहा ! किस पाप-अभिसन्ध ने इस कुसुम-कलिका को तोड़ लिया था ? किस दुर्वह भोग-लिप्सा ने इस पवित्र शरीर को कलुषित करने का संकल्प किया था ? किस दुर्निवार पाप-भावना ने ज्योत्स्ना को मलिन करना चाहा था ?

मेरे हृदय की भक्ति और भी बढ़ गयी। मैं सम्भ्रमपूर्वक हाथ जोड़कर बोला, "हे राजनन्दिनी, आपकी आज्ञा शिरोधार्य है; पर आज तो इस सन्देश को ले जाना बुद्धिमानी का काम नहीं है। आप एक बार सोचें कि हम लोग कैसी परिस्थिति में हैं।"

भट्टिनी ने अवसन्न होकर कहा, "मैं नहीं जानती, भद्र ! जो उचित हो, सो करो। यदि सुगतभद्र वही हैं, तो उनसे कुछ भी कहने में हानि की कोई आशंका नहीं है।" इतना कहकर वे रो पड़ीं।

निपुणिका ने रुँधे गले से कहा, "ना भट्टिनी, रोओ मत।" और उनके गले लिपट गयी। मैं कर्त्तव्यमूढ़ बना खड़ा रहा। निपुणिका ने रुँधे गले से ही कहा, "भट्ट, जाओ।"

मैं तत्काल बाहर निकल आया। आते-आते देख आया कि भट्टिनी फफक-फफककर रो रही हैं। निश्चय ही मेरा हृदय उस समय काठ के समान संज्ञाहीन रहा होगा; नहीं तो इतनी बड़ी वेदना वह सह कैसे सका ? निपुणिका ने भीतर से किवाड़ बन्द कर लिये। मैं बौद्ध-विहार की ओर अवश गति से चल पड़ा। मेरे पैरों में स्फूर्त्ति नहीं थी। क्या मैं देवपुत्र तुवरमिलिन्द की कन्या के उपयुक्त कोई आवास-स्थान खोज सकूँगा, क्या भदन्त सुगतभद्र आचार्य शीलभद्र के सहाध्यायी हैं ? इन्हीं विचारों में निमग्न मैं विहार के द्वार पर आ गया। विहार दुतल्ला था; पर आजकल बौद्धों में विहार बनाने की जो नयी शैली मान्य होती जा रही है, वह इसमें भी दिख रही थी। बाहर से सीधे दुतल्ले पर जाने की सीढ़ी थी। इकतल्ले पर आने का रास्ता भीतर की ओर था। बिना दुतल्ले पर गये कोई नीचे के तल्ले में नहीं जा सकता। मैं ठीक नहीं समझ पाता कि इस प्रकार का विहार बनाने से बौद्धों के सद्धर्म को क्या लाभ पहुँचता है। वे लोग अब सभी

बातों को रहस्यमय बनाते जा रहे हैं, शायद यह शैली भी रहस्यमयता का परिणाम हो। खैर, अपने को इन बातों से क्या मतलब ! सामने बौद्ध-विहार है। मुझे जानना है कि सुगतभद्र कौन हैं। अपने काम लायक कोई बात मिल गयी, तो ठीक है; नहीं तो समय नष्ट करने से अनर्थ हो जायगा। विहार के द्वार पर एक सामनेर हाथ में कोई पोथी लिये रट रहा था। मैंने उसी से पूछा, "क्यों भाई, भदन्त सुगतभद्र हैं ?"

उसने बिना सिर उठाये ही जवाब दिया, "हैं।"

"क्या आपसे एक बात पूछ सकता हूँ ?"

"दो पूछ लीजिए।" सामनेर ने हँसकर सिर उठाया।

"ये सुगतभद्र कौन हैं ?"

सामनेर की आँखों में जरा क्रोध का भाव खेल आया। बोला, "क्या आप आचार्य सुगतभद्र को भी नहीं जानते ! स्वयं महाराजाधिराज श्रीहर्षवर्द्धन ने उन्हें तक्षशिला से यहाँ बुलाया है। जिनकी चरण-धूलि पाने के लिए महाराजाधिराज सर्वदा समुत्सुक रहते हैं, उन आचार्यप्रवर सुगतभद्र को भी आप नहीं जानते !"

मैंने टोककर कहा, "परदेशी हूँ, भद्र !"

"कहाँ से आये हैं ?"

"मैं मगध का निवासी हूँ !"

"भद्र, आपने मगध का नाम कलंकित किया है। नालन्दा के भुवन-विश्रुत आचार्य शीलभद्र के सहाध्यायी सुगतभद्र को आप नहीं जानते और फिर भी कहते हैं, मगध के निवासी हैं !"

मैंने अपनी अज्ञता स्वीकार की। बोला, "भाई, अज्ञ जन पर दया होनी चाहिए। आपके इस सम्भाषण से मैं उपकृत हुआ हूँ। अच्छा, मैं आचार्य का दर्शन पा सकता हूँ ?"

"आचार्य अवरोध में नहीं रहते। आप क्या चाहते हैं, मैं उनकी अनुज्ञा ले आ देता हूँ।"

"उनसे कहें कि मगध देश का निवासी दक्षभट्ट—जो लोक में बाणभट्ट नाम से प्रसिद्ध है—आचार्यपाद का दर्शन करना चाहता है। उसे कुछ निवेदन करना है।"

"आप क्या शास्त्रार्थ-विचार के लिए आये हैं ?"

"मैं आचार्य से कुछ आवश्यक निवेदन करना चाहता हूँ !"

"मैं पूछ आता हूँ, आप यहीं रुकें।"

थोड़ी देर में सामनेर लौटा। उसके स्वर में इस बार मेरे प्रति थोड़ा आदरभाव था। उसने आते ही पूछा, "क्या आप मगध के महापण्डित स्वर्गीय जयन्तभट्ट के कनिष्ठ पौत्र हैं ? आचार्यपाद ने आपका नाम सुनकर यह पूछने का आदेश दिया है।" मैं चौंका। तो आचार्यपाद मुझे जानते हैं ! मेरे समस्त कलुष-जीवन

का परिचय उन्हें मिल चुका है ! क्षण-भर में मेरा सिर घूम गया। अपने को बल-पूर्वक सँभालकर मैंने कहा, "हाँ, मैं महापण्डित जयन्तभट्ट का ही अभागा पौत्र हूँ।" मेरे उत्तर की प्रतीक्षा किये बिना ही सामनेर चला गया और शीघ्र ही लौटकर बोला, "आचार्यपाद ने इसी समय आपको दर्शन देने का प्रसाद किया है। आप परम सौभाग्यशाली हैं। आइए।" मैं सामनेर के पीछे इस प्रकार चला, जैसे शूलीविद्ध होने जा रहा हूँ।

दुतल्ले पर उठकर हम नीचे की ओर आये और फिर एक पतले अलिन्द मार्ग से होते हुए नीचे के कुट्टिम प्रांगण में उपस्थित हुए। इस आँगन के ठीक केन्द्र में एक अश्वत्थ-वृक्ष था। नये किसलयों से वह लदा हुआ था। उसी की घनी छाया में आचार्य बैठे हुए थे। उनके पास दो-एक शिष्य वर्त्तमान थे। मैं जब वहाँ पहुँचा, उस समय आचार्य किसी शिष्य को कुछ समझा रहे थे। उन्होंने मेरा आना लक्ष्य नहीं किया। यह अच्छा ही हुआ, क्योंकि मैंने इस बीच अपने को सँभाल लिया। आचार्यपाद बहुत वृद्ध थे। उनका मस्तक मुण्डित था; परन्तु कानों के गह्वर में दो-चार शुक्ल केश फिर भी दिखायी देते थे और वे बता रहे थे कि वार्द्धक्य ने आचार्य को किस प्रकार प्रभावित किया है। उनकी आँखें बहुत स्निग्ध और करुणार्द्र थीं। उनकी वाणी दृढ़ और मधुर थी। उनकी स्थापना-शैली युक्तिपूर्ण और प्रत्ययोत्पादिनी थी। मैं उन्हें थोड़ी देर तक एकटक देखता रहा। तपस्या भी कैसी महिमाशालिनी होती है; क्योंकि इसी तपस्या ने उनकी आकृति को तप्त कांचन के समान निर्मल बनाया है। उस कान्ति से एक अद्‌भुत शान्ति टपक रही थी। थोड़ी देर बाद आचार्य ने मेरी ओर देखा—जैसे हर-जटा से सहस्रधार होकर पड़ी निर्मल मन्दाकिनीधारा अशेष तापदग्ध धरित्री को शीतल करने चली हो, उसी प्रकार उनकी आँखों से एक अपार करुणा-स्रोतस्विनी बह गयी। ग्रीवा को मेरी ओर फिराने में उन्हें थोड़ा आयास करना पड़ा। फिर मुझे देखकर बोले, "आ वत्स, तू जयन्त का कनिष्ठ पौत्र है न ? देखूँ जरा। आहा, ठीक जयन्त-जैसा ही दिख रहा है ! जयन्त मेरा गुरुभाई था, बेटा ! हम दोनों में बड़ी प्रीति थी। वह अन्त तक मुझे अपना भाई ही मानता रहा। मैं जब से तक्षशिला की ओर चला गया तब से हम दोनों की देखा-देखी नहीं हुई। चालीस वर्ष बाद जब उधर से लौटकर नालन्दा गया, तो सबसे पहले जयन्त के बारे में खोज-पूछ की। मुझे उस समय मालूम हुआ कि वह इस लोक को छोड़ गया। उसी समय मैंने सुना था कि तू घर-द्वार छोड़कर कहाँ-कहाँ भटकता फिरता है। बहुत अच्छा हुआ वत्स, तू मुझसे मिल गया। क्यों बेटा, अभी घर जाने की रुचि नहीं है ?"

वृद्ध आचार्य की आँखें भर आयीं। मैं अपने को कुछ प्रीत, कुछ ग्लान, कुछ आश्वस्त और कुछ गौरवान्वित अनुभव करता रहा। वृद्ध ने जैसे मुझे स्नेह-रस में डुबो दिया। मैं कुछ कातर-भाव से ही बोला, "देश जाने की रुचि तो है आर्य, पर एक विशेष कार्य में उलझ गया हूँ। आर्यपाद से अपने पितामह का सम्बन्ध जानकर आनन्दित हुआ हूँ। परन्तु इस समय जिस जंजाल में फँस गया हूँ, वह

महान् होने पर भी मेरे वंश-गौरव के अनुकूल नहीं है, और आर्य, ऐसे ही विषय में आपकी सहायता-प्रार्थना करने आया हूँ जो आपको केवल कष्ट ही देगा। मैं अभागा हूँ, पर जिस कार्य के विषय में आपकी सहायता माँगने आया हूँ, उसे आप अन्यथा न समझें।"

आचार्य की आँखें विकच पुण्डरीक के समान खिल गयीं। बोले, "बता न बेटा, क्या कार्य है?"

क्षण-भर इधर-उधर देखकर मैंने निवेदन किया, "उस बात को कहने के लिए मैं निर्जन प्रदेश चाहता हूँ।"

आचार्य ने अपने शिष्यों की ओर देखा। वे आशय समझकर उठ गये। केवल एक शिष्य थोड़ी देर तक रुका रहा। शायद उसका पाठ समाप्त होना बाकी था। फिर आचार्य ने मेरी ओर देखकर कहा, "क्षण-भर रुको वत्स, इस आयुष्मान् की एक शंका बीच में रुकी हुई है।" और फिर उस शिष्य की ओर देखकर बोले, "हाँ आयुष्मान्, तू पूछ रहा था कि आर्य असंग ने 'शून्यता' शब्द को ही इतना महत्त्व क्यों दिया? जो वस्तु है भी नहीं, नहीं भी नहीं, है और नहीं, दोनों भी नहीं और इन दोनों का अभाव भी नहीं, उसे शून्यता क्यों कहा? यही तेरा प्रश्न है न?"

"हाँ, आर्य!"

"तो आयुष्मान्, तू कोई उचित शब्द चुन सकता है? शंका की कोई बात नहीं, बोल कोई शब्द।"

"हाँ आर्य, 'निरालम्ब' या 'परम तत्त्व' जैसे शब्दों के कहने में क्या दोष होता है?"

"साधु आयुष्मान्, आज सौगत पण्डितों का एक सम्प्रदाय 'निरालम्ब' शब्द को बहुत महत्त्व देने लगा है; पर इस निषेधात्मक शब्द से तू उस वस्तु का बोध करा सकता है, जो 'नहीं' भी नहीं?"

"नहीं, आर्य!"

"और 'परम तत्त्व' कहने से 'तत्' वस्तु की सत्ता तो माननी पड़ेगी। फिर उसे 'है भी नहीं' कह सकता है?"

"नहीं, आर्य!"

"साधु आयुष्मान्! तो तेरे दोनों शब्द निरर्थक हुए न?"

"ऐसा ही दिखता है, आर्य!"

"साधु वत्स! वस्तुस्थिति यह है आयुष्मान्, कि शून्यता या निरालम्ब या निर्वाण एक अनुभवगम्य वस्तु है। भाषा की कमजोरी है कि वह उस पदार्थ को कह नहीं सकती। यह तो केवल प्रज्ञप्ति के लिए एक कामचलाऊ शब्द व्यवहार किया गया है। तू उसके शब्दार्थ पर मत जा। मनन कर। यह गुह्य रहस्य है। केवल पुस्तक पढ़ने से तू इसे नहीं समझ पायेगा।"

"तो आचार्यों ने जो ग्रन्थ लिखे हैं, वे निरर्थक हैं आर्य!"

"नहीं आयुष्मान्, आचार्यों ने ज्ञान का दीपक जलाया है। दीपक क्या है, इसकी ओर अगर ध्यान देगा, तो उसके प्रकाश में उद्भासित वस्तुओं को नहीं देख सकेगा। तू दीपक की जाँच कर रहा है, उससे उद्भासित सत्य की नहीं।"

"तो दीपक के दोष से प्रकाश की क्षति नहीं होती, आर्य!"

"कुतर्क कर रहा है आयुष्मान्, उपमा एकांश में होती है। तद्गत भूयोधर्मवत्त्व ही सादृश्य है। धर्म की साधारणता की ओर देख, तो उपमा का तात्पर्य समझ में आयेगा। सद्धर्म में कुतर्क का प्राबल्य बढ़ रहा है, आयुष्मान्! संयत बनकर आचार्यों के वाक्य का तात्पर्य अनुशीलन कर। कुतर्क सद्विचारों की दावाग्नि है, वत्स! अभी जा, मुझे जरूरी काम है, फिर आना। भिक्षुओं से कह दे कि जब तक मैं दक्षभट्ट से वार्त्तालाप करूँ, तब तक इधर कोई न आये।"

आदेश पाकर शिष्य वहाँ से उठ गया और आचार्य ने मेरी ओर जिज्ञासा के साथ देखा। मैं मुग्ध-भाव से आचार्य की प्रेमपूर्ण अध्यापन-शैली को देख रहा था। थोड़ी देर तक भूल ही गया कि मैं किस काम से आया हूँ। फिर बिना किसी भूमिका के ही मैंने कहा, "विषम-समर-विजयी वाह्लीक-विमर्दन प्रत्यन्त-वाड़व देवपुत्र तुवरमिलिन्द की कन्या आपका दर्शन पाना चाहती हैं।"

आचार्य को जैसे विस्मय का एक धक्का लगा, मानो उस धक्के से वे टल गये। ज़रा आगे झुककर आँखें फाड़कर देखते हुए बोले, "क्या कहा वत्स, देवपुत्र तुवरमिलिन्द की एकमात्र कन्या चन्द्रदीधिति अभी जीवित है? वह कहाँ है, वत्स? किस अवस्था में तुमने देखा है? वह कुशल से तो है? मैंने सुना था, प्रत्यन्त दस्युओं ने उसे हरण किया है। तुमने ठीक देखा है, वत्स! वह सुकुमारिता की मूर्त्ति है, पवित्रता की उत्स है, शोभा की खानि है, शुचिता की आश्रय-भूमि है, मूर्त्तिमती भक्ति है, कान्तिमती करुणा है! आहा, वह तुवरमिलिन्द की नयनतारा अभी जीवित है? बताओ वत्स, मैं उसे देखने को व्याकुल हूँ।"

मैंने उनका नाम पहली बार सुना। मैं हाथ जोड़कर बोला, "पास ही हैं, आर्य! पर आप सारी कथा सुन लें, फिर जैसा उचित समझें, करें।" यह कहकर मैं कल रात से लेकर इस समय तक की सारी कथा कह गया। आचार्यदेव के सहज-शान्त-कोमल मुखमण्डल पर ज़रा-सी बंकिम रेखा उग आयी। वे थोड़ी देर तक मेरा मुँह ताकते रहे। फिर बोले, "साधु वत्स, तू जयन्त का उपयुक्त पौत्र है।" फिर ज़रा भ्रू-कुंचित करके बोले, "मौखरि-वंश का कल्याण हो, यह छोटा राजकुल समस्त मौखरि-गौरव पर कालिख पोत देगा। शान्तं पापम्! शान्तं पापम्!!" मैं आचार्यपाद के मुख की ओर देखता रहा। उस पर कितने ही भाव आये और गये। मन-ही-मन वे किसी से बातें कर रहे थे। बोले कुछ नहीं। थोड़ी देर तक हम दोनों चुप बैठे रहे। फिर उन्होंने एक शिष्य को बुलाकर कहा, "शीघ्र ही कुमार कृष्णवर्द्धन के पास चले जाओ। कहना कि आचार्यदेव अत्यन्त प्रयोजनीय कार्य से यथाशीघ्र मिलना चाहते हैं।"

शिष्य के चले जाने के बाद उन्होंने मेरी ओर देखकर कहा, "राजदण्ड

कठिन होता है, वत्स ! तूने साहस का काम किया है। मैं तुझसे प्रसन्न हूँ; परन्तु अन्तःपुर में रात को प्रवेश करना धर्मतः निषिद्ध है। यहाँ रहने पर तुझे राजकोप का भाजन होना पड़ेगा। शीघ्र ही तू चन्द्रदीधिति और निपुणिका को लेकर मगध की ओर चला जा। मैं व्यवस्था किये देता हूँ। जा, चन्द्रदीधिति को मेरी ओर से आशीर्वाद कह। मैं उसके निरापद प्रस्थान की आयोजना कर रहा हूँ। जब तक कोई व्यवस्था नहीं हो जाती, तब तक उसके देखने की व्याकुलता को मैं दबा रहा हूँ। तू जाकर उसे आश्वस्त कर। मेरी ओर से उसे विश्वास दिला दे कि यहाँ कोई भी उसका कुछ बिगाड़ नहीं सकेगा। जा, जल्दी कर। पुजारी से सावधान रहना। वह मूर्ख और नीच है।"

मैंने भक्तिपूर्वक प्रणाम किया और तेजी से चण्डी-मण्डप की ओर बढ़ा।

पंचम उच्छ्वास

विहार से जब मैं बाहर निकला, तो चित्त प्रसन्न था। आती बार मैंने रास्ते की ओर दृष्टि ही नहीं दी थी। चिन्ता में निमग्न मनुष्य अन्धा होता है। इस समय मैंने लक्ष्य किया, वृक्षों और लताओं पर वसन्त का प्रभाव पूर्णरूप से व्याप्त हो गया था—विकसित मंजरियों के सौरभ से स्वयं आकृष्ट भ्रमरावली ने आम के वृक्षों को छा लिया था, पुष्प-धूलि के केसर-चूर्ण सघन भाव से वर्षित होकर वनभूमि को पीत बालुकामय पुलिन के रूप में परिणत कर रहे थे; पुष्प-मधु के पान से आमत्त भ्रमरियाँ विह्वल-भाव से लता-रूप प्रेंखादोला पर झूला झूल रही थीं; मत्त कोकिल लवली के विकसित पल्लवों के अन्तराल में लुक्कायित होकर पुष्प-मधु निकाल रहे थे और इसलिए उन पेड़ों के नीचे मधु-वृष्टि-सी हो रही थी; किसी-किसी वृक्ष और लता से जीर्ण पुष्प गिर रहे थे और भ्रमर-भार से जर्ज-रित उनके गर्भकेसरों से लतामण्डप मनोरम हो उठे थे; और नाना भाँति के रंग-बिरंगे पक्षियों से वृक्ष-समूह अतिशय रमणीय दिखायी दे रहे थे। दूर, एक विशाल पर्कटीवृक्ष आपाद रक्त-किसलयों से लदा हुआ ऐसा जान पड़ता था मानो मेरु पर्वत पद्मरागमणि के आकस्मिक आविर्भाव से लाल हो गया हो। प्रस्फुटित कांचनार-पुष्पों से नगरप्रान्त की वन-स्थली लहक उठी थी और यत्र-तत्र अयत्न-परिपुष्ट भाण्डीरक गुल्मों के पुष्प-स्तवक अपनी सुगन्ध और मधुरिमा से पथिक के चित्त को अकारण उत्कण्ठित कर देते थे। कान्यकुब्जों का सबसे प्रिय वृक्ष आम है और इस समय आम की मस्ती समस्त कान्यकुब्ज-साम्राज्य की मस्ती का

प्रतीक जान पड़ती थी।

इस भरे फागुन के भीतर मैं इस प्रकार चला जा रहा था, जैसे उड़ रहा होऊँ। मेरा उद्देश्य सिद्ध हुआ था। कुछ देर पहले आचार्य से मिलकर मेरे हृदय का भार बहुत-कुछ हल्का हो गया था। अब तक भट्टिनी को किसी भद्रतर स्थान में ले जाने की चिन्ता ही प्रबल थी। मैं भूल ही गया था कि उनके आहार और विश्राम की चिन्ता भी करनी है। मुझे याद आया कि कल रात से ही वे और निपुणिका निराहार हैं। मैं भी तथैव हूँ। उस समय तक एक प्रहर दिन चढ़ आया था। एक बार मैंने सोचा कि बाजार की ओर से होता चलूँ, और कुछ फल-मूल संग्रह कर लूँ; परन्तु उससे भी आवश्यक कार्य था भट्टिनी को आश्वस्त करना। इसलिए पहले उनसे मिलकर बाजार जाना ही उचित जँचा। चण्डी-मन्दिर के पास उस समय कोई नहीं था। मैंने प्रांगण-गृह का द्वार खटखटाया। निपुणिका ने धीरे-से दरवाजा खोला और जब मैं भीतर चला गया तो सावधानी से उसे बन्द कर दिया। मेरे मन में इस समय सन्तोष था और प्रच्छन्न रूप से एक गर्व का भाव भी वर्तमान था। मैं न होता, तो इन बिचारियों को कितने कष्टों का सामना करना पड़ता! यह अच्छा ही हुआ कि मेरा गर्व उसी समय चूर्ण हो गया। मैंने निपुणिका से पूछा कि भट्टिनी कहाँ हैं। निपुणिका ने इशारे से मुझे चुप किया और आँगन के कोने की ओर अंगुली-निर्देश किया। भट्टिनी स्नान कर एक अत्यन्त मामूली वस्त्र धारण करके ध्यानस्थ बैठी थीं। सामने गीली मिट्टी की एक छोटी-सी वेदी थी और उस पर निपुणिका के उपास्य महा-वराह की छोटी मूर्त्ति विराजमान थी। मामूली वस्त्र की पृष्ठभूमि में उनकी शोभा-सम्पत्ति शतगुण समृद्धिशालिनी दिख रही थी। निश्चल ध्यानमग्न भट्टिनी के सामने अंजलिबद्ध सुकुमार करतलों की अंगुलियाँ इतनी अभिराम दिख रही थीं कि भ्रम होता था कि शिखान्त-पर्यन्त प्रफुल्ल मालती से आच्छादित तरुण अशोक के कोमल किसलय झलक रहे हैं। ध्यानस्तिमित नयनों को देखकर जान पड़ता था कि महावराह की अपूर्व शोभा से विस्मय-विमूढ़ होकर दो चपल खंजन-शावक चित्रलिखित-से स्थिर हो रहे हैं। भट्टिनी के चारों ओर एक अनुभाव-राशि लहरा रही थी। मैं थोड़ी देर तक उस शोभा को देखता रहा। मन-ही-मन मैंने सोचा कि कैसा आश्चर्य है, विधाता का कैसा विरूप विधान है! कितनी कोमल देह-लता है और कैसी भारी अनुभाव-सम्पत्ति है! कितना मृदुल हृदय है और कितनी कठोर तपश्चर्या है! ऐसे ही रूप को देखकर महाकवि कालिदास के मन में कांचनपद्म-धर्मी शरीर की धारणा हुई होगी। ठीक ही है—'ध्रुवं वपुः कांचन-पद्म-धर्मि यत् मृदु प्रकृत्या च ससारमेव च।' इस चिन्ता में मैंने जरूर कुछ अनुचित विलम्ब किया होगा; क्योंकि निपुणिका ने मुझे धीरे-से दूसरी ओर हट जाने का संकेत किया। मुझे अपने इस आचरण पर अकारण पश्चात्ताप हुआ। पछताने की कोई बात नहीं थी। निपुणिका के साथ मैं दरवाजे के पास आया और धीरे-धीरे उससे विहार में हुई बातों को समझाने लगा। पूरी बात कहने के पहले मैंने

थोड़ी भूमिका बाँधने का यत्न किया। निपुणिका इस समय कुछ प्रसन्न दिख रही थी। स्नान उसने भी कर लिया था और सारी रात की थकान को बहुत-कुछ धो चुकी थी। उसकी कोटरशायिनी आँखों में जागर-खेद अभी भी झलक रहा था; पर कोई दृढ़ विश्वास उस खेदराग को स्निग्ध कर चुका था। उन आँखों को देखकर मुझे ऐसा लग रहा था कि प्रफुल्ल कांचनार-कुसुम पर चन्द्रमा की धवल प्रभा पड़ी हुई है। निपुणिका की प्रसन्नता देखकर मुझे सन्तोष हुआ। मन में जो गर्व था, वह ज़रा और ऊपर उठकर धरातल पर आ गया। अपना महत्त्व प्रतिष्ठित करने के लिए ही मानो मैंने बातचीत शुरू की—"निउनिया, कल सौभाग्य से मुझसे तेरी मुलाकात हो गयी।"

"हाँ, भट्ट !"

"मैं सोचता हूँ कि कहीं तू अकेली ही भट्टिनी को लेकर इधर आयी होती, तो कितना कष्ट होता !"

"सो तो होता ही।"

"इस समय मैं जो कुछ कर रहा हूँ उस समय उतना भी तो नहीं हो पाता !"

"इतना तो हो जाता, भट्ट !"

"कौन करता भला ?"

"पुजारी !"

"पुजारी ? पर तू तो पुजारी से डरी हुई थी निउनिया !"

"पुजारी-जैसे मूर्ख रसिकों से डरती तो निउनिया आज से छः वर्ष पहले ही मर गयी होती, भट्ट !"

"पर तू प्रत्यूष-काल में डरी हुई जरूर थी।"

"सो तो थी ही।"

"तो तू किससे डरी थी भला ?"

"तुमसे !"

"मुझसे ?"

"हाँ भट्ट, तुमसे !"

"तो मुझसे क्यों डरी थी, निउनिया ?"

"क्या बताऊँ, भट्ट ! मेरी-जैसी स्त्री तुम्हारे-जैसे पुरुष से क्यों डरती है, यह बात अगर आज तक तुम्हारी समझ में नहीं आयी तो अब नहीं आयेगी।"

मैं सचमुच हैरान था। निपुणिका को मुझसे डरने की क्या बात थी। निपुणिका ने ठीक ही कहा था। मैं आज तक उस अज्ञात कारण को ठीक-ठीक नहीं समझ सका। अनुमान से कुछ समझता जरूर हूँ; पर अब मुझे अपनी समझ पर भरोसा कम ही है। मैंने आश्चर्य के साथ निपुणिका को देखा और हारे हुए की तरह बोला, "तो निउनिया, मैं चला जाऊँ ?"

निपुणिका हँसी। उसकी आँखों में जैसे एक प्रकार की चुहल थी। बोली,

"यही तो डर की बात है भट्ट, कि कब तुम किस बात पर कह उठोगे कि मैं चला !"

अजीब पहेली है। मैंने कुछ देर चुप रहने के बाद कहा, "निउनिया, मैं हार मानता हूँ। मेरी कोई जरूरत भी नहीं थी, मुझसे तुम डरती भी हो और मेरा चला जाना ठीक भी नहीं है—मैं कुछ भी नहीं समझता।"

निपुणिका की आँखों में एक अद्भुत आनन्द खेल रहा था। बोली, "यही तो तुम नहीं समझते कि कौन हारता है। यदि तुम समझ लेते कि कौन हारता है, तो यह भी समझ लेते कि कौन डरता है। भट्ट, तुम भोले हो ! तुम इस पृथ्वी पर शरीरधारी देवता हो।"

मैं और भी चक्कर में पड़ गया। भोला सही, देवता भी सही; पर इसमें डरने की बात क्या हो सकती है ? मैंने सोचा कि अब अगर और कुछ बोलता हूँ, तो यह विदग्धा न जाने उसमें कौन-सी शाखा-प्रशाखा निकालकर मुझे एक बार फिर निरुत्तर कर देगी। बुद्धिमान की नीति मौन होती है। मैं हँसकर चुप हो रहा। निपुणिका हँसती रही—चुपचाप। मैं भी हँसने लगा। फिर प्रसंग बदलने के लिए मैंने कहा, "सुन निउनिया, भट्टिनी के लिए कोई अच्छी व्यवस्था आज ही हो जायेगी। परन्तु इस समय उनके आहारादि की चिन्ता करनी है। कल ही भट्टिनी ने राजभोग खाये हैं, आज एकाएक उन्हें रूखा-सूखा अन्न नहीं देना चाहिए।"

निपुणिका प्रसन्न थी। उसने मेरी बात को इस प्रकार सुना, मानो उसका कोई महत्त्व ही न हो। भट्टिनी के लिए कोई उत्तम व्यवस्था हो जायेगी, यह बात मानो वह पहले से ही जानती थी। बोली, "व्यवस्था तो हो ही जायेगी, उसकी चिन्ता अभी छोड़ो। मैंने अन्न प्रस्तुत कर लिया है। भट्टिनी के लिए थोड़ा दूध और मधु मिल जाता, तो उत्तम होता; परन्तु इस समय देर करोगे, तो अनर्थ हो जायेगा। जाओ, जल्दी स्नान करके आ जाओ। भट्टिनी तुम्हें खिलाये विना अन्न नहीं ग्रहण करेंगी।"

मैं जैसे आकाश से गिरा। बोला, "सो क्या निउनिया, भट्टिनी जब तक आहार नहीं कर लेतीं, तब तक मैं कैसे भोजन कर सकता हूँ। मैं अकिंचन सेवक··· !"

निपुणिका ने इशारा किया कि जोर से न बोलो। फिर धीरे-धीरे बोली, "भट्ट, इस छोटी गृहस्थी में तुम्हीं श्रेष्ठ व्यक्ति हो। तुम पुरुष हो, तुम ब्राह्मण हो, तुम पण्डित हो, तुम देवता हो। तुम्हें भोजन कराये बिना भट्टिनी अन्न ग्रहण कर सकेंगी भला ! आओ, जल्दी करो। वह तुम्हारी सन्ध्या-पूजावाली आदत अब भी है न ! देखो, ज़रा जल्दी करना। उठो।" मैं हतचेता स्थिर बना बैठा रहा। निउनिया ने फिर कहा, "उठो भी। भट्टिनी को असमय हो जायेगा।"

उठना पड़ा। स्नान और सन्ध्या-आह्निक करने में मैंने शीघ्रता की। लौट-कर जब आया, तो भट्टिनी मेरे आहार का आयोजन कर रही थीं। उनकी आँखें

इस समय प्रसन्न दिख रही थीं और शरीर में एक प्रकार का लाघव-भाव स्पष्ट ही लक्षित हो रहा था। वे यत्किंचित् आहार्य को बड़ी तन्मयता के साथ सजा रही थीं। निपुणिका ने मुझे बैठने का इशारा किया। मैं लाज से सिकुड़ा हुआ बैठ गया। मेरा सारा अस्तित्व संकुचित होकर गट्ठर-जैसा बनता जा रहा था। भोजन करने की इतनी बड़ी कीमत मैंने कभी नहीं चुकायी थी। भट्टिनी ने आँखें नीची किये हुए ही मन्दस्मित के साथ कहा, "संकोच करते हो, भट्ट ?"

अब कोई उपाय नहीं रह गया। मैंने सिर झुकाकर हाथ जोड़कर कहा, "देवि, इस अकिंचन को आप अनुचित गौरव दे रही हैं। आपकी आज्ञा शिरोधार्य है; परन्तु निवेदन करना चाहता हूँ कि भविष्य में इस अकिंचन को ऐसे गौरव का अधिकारी न समझा जाये।"

भट्टिनी हँसीं। उनका आर्द्रार्द्र मुख-मण्डल प्रत्यूषकालीन वृष्टि से भीगे हुए पुण्डरीक-कोरक के समान एकाएक विकसित हो गया। बोलीं, "मुझे इतना अधिकार मिलना चाहिए भट्ट, कि अपनी बुद्धि से निर्णय कर सकूँ कि कौन-सा गौरव किसे मिलना चाहिए।"

निपुणिका ज़रा दूर बैठी थी। हँसती हुई बोली, "भोजन का गौरव तो भट्ट को ही मिलना चाहिए।"

निपुणिका की बात पर मुझे भी हँसी आ गयी, और इस हँसी ने सारे व्यापार पर से संकोच का पर्दा हटा दिया। पत्ते के पात्र में बहुत मामूली भोज्य सामग्री मेरे सामने आयी; पर उसमें अपूर्व मिठास थी। मेरे मन में हर्ष और विषाद का द्वन्द्व चल रहा था। हर्ष अपने पाये हुए गौरव पर और विषाद इस बात पर कि यह मामूली अन्न भट्टिनी के गले कैसे उतरेगा। निपुणिका किन्तु निश्चिन्त थी। मैं जिसे अन्न समझ रहा था, वह उसकी दृष्टि में महावराह का प्रसाद था। उसको अच्छा या बुरा समझना भक्तिहीन चित्त का विकल्प था। भक्त के लिए तो वह अमृत से श्रेष्ठ था। भट्टिनी ने उस सामान्य अन्न के परिवेषण में असामान्य गरिमा भर दी थी। आज मैं पहली बार समझ सका कि 'प्रसाद' क्या वस्तु होता है। भट्टिनी ने इसी बीच पूछा, "सुगतभद्र वे ही हैं न, भट्ट !"

"हाँ देवि, वे ही हैं। उन्होंने आपसे मिलने की उत्कण्ठा प्रकट की है और आपको स्नेहपूर्वक आश्वासन भेजा है कि आज ही वे कोई भद्रतर व्यवस्था करके आपसे मिलेंगे। वे आपको बहुत स्नेह करते हैं।"

भट्टिनी की बड़ी-बड़ी आँखें वाष्पाकुल हो उठीं। उन्होंने संक्षेप में उत्तर दिया, "हाँ, भद्र !"

मैंने बात और आगे बढ़ायी, "आपको यह जानकर आश्चर्य होगा, देवि, कि वे मेरे पितामह के सतीर्थ हैं। मेरे ऊपर भी उनका सन्तान-जैसा ही प्रेम है। मैं यह बात बिल्कुल नहीं जानता था।"

भट्टिनी आश्चर्य के कारण दीर्घ-दीर्घायित नयनों से मेरी ओर थोड़ी देर तक देखती रहीं। बोलीं, "आप एकदम नहीं जानते थे ?"

"एकदम नहीं !"

"आश्चर्य है !"

मैं कुछ संकुचित हो गया। भट्टिनी की सरलता देखकर मैं भी कम आश्चर्यान्वित नहीं हुआ। बात को और किसी दिशा में मोड़ने के उद्देश्य से बोला, "उन्होंने कुमार कृष्णवर्द्धन को बुलवाया है। शायद वे ही कोई व्यवस्था करें।" सुनते ही भट्टिनी को जैसे काठ मार गया। क्षण-भर में स्फटिक प्रतिमा की भाँति हतचेष्ट हो गयीं। निउणिका कुछ शंकित हुई। मैं भी चौंका। बोला, "कुछ अनुचित हो गया है क्या, देवि ?"

भट्टिनी सँभल गयीं। बोलीं, "मैं स्थाण्वीश्वर के राजवंश से घृणा करती हूँ। राजवंश से सम्बद्ध किसी व्यक्ति का आश्रय पाने से पहले मैं यमराज का आश्रय ग्रहण करूँगी। भद्र, आचार्यपाद ने मेरी कल्याण-कामना के भ्रम से मेरा सत्यानाश किया है।"

मैं धक्-से रह गया। लेकिन स्थिति सुकुमार थी। जरा-सी त्रुटि होने से इस महीयसी राजबाला का सर्वनाश हो जायगा। मैंने दृढ़ता के साथ कहा, "भद्रे, आप बाणभट्ट पर भरोसा रखें। समग्र कान्यकुब्ज की सैन्य-शक्ति भी आपकी इच्छा के विरुद्ध आपको कहीं नहीं ले जा सकती। कल तक यह अकिंचन पथभ्रान्त अकर्मा था। आज से इसे विषम-समर-विजयी, बाह्लीक-विमर्दन, प्रत्यन्त बाड़व, देवपुत्र तुवरमिलिन्द की प्राणाधिका कन्या का सेवक बनने का गौरव प्राप्त है। मैं कुमार कृष्ण से निपटने की मर्यादा जानता हूँ। दृढ़ रहो, राजनन्दिनी ! सिंह-किशोरी का भीत होना अशोभन है। इधर देखिए, अपने सेवक पर भरोसा कीजिए।"

भट्टिनी आश्वस्त हो गयीं। टोककर बोलीं, "सेवक नहीं भट्ट, अभिभावक कहो।"

"मैं देवपुत्र तुवरमिलिन्द की प्राणाधिका कन्या की मर्यादा का पालन करना और कराना जानता हूँ। देवि, आप निश्चित मानें कि आपके एक इशारे पर बाणभट्ट सम्राटों का मुण्डपात कर सकता है। जिन लोगों ने सिंह के सटाभार को पैरों से कुचलने का साहस किया था, वे उसका फल पायेंगे।"

भट्टिनी ने आँगन के कोने में रखी हुई महावराह की मूर्त्ति को विश्वास के साथ देखा। गम्भीर भाव से, किन्तु मृदुल स्वर में बोलीं, "उत्तेजित मत होओ, भद्र ! तुम्हारे ऊपर मेरा पूर्ण विश्वास है। जैसा उचित समझो, करो। केवल इतना स्मरण रखो कि मैं किसी राजवंश के अन्तःपुर में या उससे सम्बद्ध या संलग्न किसी गृह में नहीं जा सकती।"

मैं भी शान्त हो गया। केवल इतना ही कहा, "बाणभट्ट इस बात को कभी नहीं भूलेगा।"

भोजन समाप्त करके मैं घर से बाहर चला आया और चण्डी-मन्दिर के सामनेवाले प्रांगण में सुखासन बाँधकर बैठ रहा। न जाने कब मेरी आँखें लग

गयीं। थोड़ी देर में मुझे किसी के पैरों की आहट मिली। मैं सावधान होकर बैठ गया। देखा, बौद्ध-विहारवाला सामनेर आ रहा है। पास आकर उसने अपेक्षाकृत संयत स्वर में कहा, "कल्याण हो भद्र, तत्रभवान् आचार्य सुगतभद्र ने आपको स्मरण किया है। कुमार कृष्णवर्द्धन स्वयं विहार में पधारे हैं और वह आपसे मिलने को उत्सुक हैं।"

मैं इस सन्देश के लिए तैयार था। सोचा, जाने के पहले एक बार भट्टिनी की आज्ञा ले लूँ; पर यह नहीं हो सका, क्योंकि सामनेर के पीछे-पीछे चार-पाँच अच्छे तगड़े तरुण आये और चण्डी-मण्डप के चारों ओर पृथक्-पृथक् खड़े हो गये। मुझे उनके रंग-ढंग से सन्देह हुआ; परन्तु उनके वेश में कहीं राजपुरुषोचित चिह्न नहीं देखकर सोचा कि ये साधारण नागरिक ही होंगे। मैंने द्वार नहीं खुलवाया। बाहर से सामनेर को उद्देश्य करके ज़रा जोर से ही बोला, "कुमार कृष्णवर्द्धन का दर्शन करने अभी चल रहा हूँ।" मेरा उद्देश्य यह था कि भीतर बात को निपुणिका और भट्टिनी सुन लें और सावधान हो जायें। फिर मैंने सरोवर में मुँह-हाथ धोया, उत्तरीय ठीक किया और मन में नाना चिन्ताओं से उलझा हुआ सामनेर के साथ चल पड़ा। सामनेर वाचाल था। उसने थोड़ी देर बाद स्वयं वार्त्तालाप शुरू कर दिया—"कुमार बड़े उदार हैं। विद्वानों और गुणियों का सम्मान जानते हैं। यद्यपि तरुण हैं, पर चरित्र के उज्ज्वल और बुद्धि के परिपक्व हैं। आचार्यपाद के भक्त हैं और महाराज परमभट्टारक श्रीहर्षदेव के अन्तरंग हैं। कितने विद्वानों का उन्होंने राजकोप से उद्धार किया है, कितने गुणियों को विपज्जाल से बचाया है, इसकी इयत्ता नहीं है।" मैं उसकी बात सुन रहा था; पर कोई उत्तर नहीं दे रहा था। सामनेर, किन्तु, उत्साह के साथ कहता ही गया—"कान्यकुब्ज विचित्र देश है, भद्र! यहाँ ऊपरी आचार को बहुत महत्त्व दिया जाता है और भीतर के तत्त्व को समझने का प्रयत्न कम किया जाता है। क्या ब्राह्मण और क्या श्रमण, सभी बाह्य आचारों को ही बहुमान देते हैं। स्वयं महाराजाधिराज श्रीहर्षदेव भी इस बात से अस्पृष्ट नहीं कहे जा सकते। उनका सबसे अधिक सम्मान सौगत तार्किक वसुभूति पर है; पर आचार्य सुगतभद्र की तुलना में वह कितना छिछला है, इसे बुद्धिमान् मात्र समझ सकते हैं। कुमार कृष्ण कान्यकुब्जों में रत्न हैं। वे खरा और खोटा पहचानते हैं।"

"तुम कहाँ से आये हो, ब्रह्मचारिन्?" मैंने प्रश्न किया।

"मैं सौवीर से आया हूँ। आचार्यपाद के साथ ही चला आया था। सौवीर में बाह्य आचारों की पूजा नहीं होती। वहाँ लोग तत्त्व जानना चाहते हैं।"

"परन्तु कान्यकुब्जों में तत्त्व-जिज्ञासु न होते, तो कुमार कृष्ण कैसे होते?"

"कुमार की बात और है। इतनी छोटी वय में इतना गाम्भीर्य दुर्लभ है।"

"वसुभूति कौन हैं, भाई?"

"वसुभूति इस देश के वाद-धुरन्धर सौगत तार्किक हैं। वे तर्क से सद्धर्म का प्रचार चाहते हैं। इस देश में यही हवा बहती है, भद्र! तर्क से ही मानो ये

भगवान बुद्ध की करुणा को देशव्यापी बना देंगे। धिक् !"

"तुम्हारा मत क्या है, ब्रह्मचारिन् ?"

"आचार्यपाद कहते हैं कि तर्क वस्तु ही गलत है। भगवान् ने जीवन में करुणा को प्रतिष्ठित करना चाहा था। जिसमें वह करुणा नहीं, वह सौगत नहीं, वह सद्धर्म का सत्यानाश करता है। तर्क से विद्वेष बढ़ता है, विद्वेष से हिंसा पनपती है और हिंसा से मनुष्यता का विध्वंस होता है। वसुभूति को ये बातें थोथी जान पड़ती हैं, वह नित्य आचार्यदेव को शास्त्रार्थ के लिए ललकारता रहता है। पर आचार्यदेव क्षमा के निधि हैं। सारी दुनिया जानती है, और स्वयं महाराजाधिराज भी जानते हैं कि वाद-सभा में सुगतभद्र और वसुभूति का कोई जोड़ ही नहीं है। सुगतभद्र सिंह हैं, वसुभूति स्यार। परन्तु नंगा अपने को भगवान् से भी बड़ा मानता है। वसुभूति को हमारे विहार के कई पण्डितों ने ललकारा है; पर वह तो आचार्यपाद से ही लड़ना चाहता है।"

सामनेर से मनोरंजक सूचना प्राप्त हो रही थी। मैंने जानने की इच्छा से थोड़ा और उसकाया—"किन्तु महाराजाधिराज को तो यह बात मालूम होनी चाहिए थी। उन्होंने ऐसे मनुष्य को क्यों प्रश्रय दिया है?"

"कान्यकुब्ज ब्राह्मण-पण्डितों की गढ़ी है। ऐसे तर्क-कुक्कुरों को ललकारकर ही यहाँ का राजा सौगत बना रह सकता है।"

"तो यह भी कम आवश्यक नहीं है, ब्रह्मचारिन् !"

"आचार्यपाद कहते हैं कि इस नीति का फल विपरीत होगा। यदि किसी दिन सद्धर्म को नीचा देखना पड़ा, तो कान्यकुब्ज से ही उस अशुभ दिन का प्रारम्भ होगा।"

इसी प्रकार की बातें करते-कराते हम विहार के द्वार पर उपस्थित हुए। सामनेर मुझे सीधे आचार्यपाद के गृह की ओर ले गया। आचार्यदेव कुशासन पर बैठे हुए थे। शायद वे मेरी प्रतीक्षा कर रहे थे। मुझे देखकर ज़रा स्मित हास्य के साथ बोले, "आओ वत्स, कुमार कृष्णवर्द्धन तुमसे मिलने को उत्सुक हैं। उनसे मिलकर तुम आयुष्मती चन्द्रदीधिति के लिए कोई अच्छी व्यवस्था की बात सोचो। कुमार मेरे विश्वासपात्र शिष्य हैं, वत्स ! उनसे कोई पर्दा रखने की आवश्यकता नहीं है। तुम उनसे सारी बातें खोलकर कह सकते हो। थोड़ा-बहुत मैंने भी बता रखा है।" फिर उन्होंने सामनेर को बुलाकर आज्ञा दी—"पण्डित-प्रवर बाणभट्ट को महासान्धिविग्रहिक कुमार कृष्णवर्द्धन के पास ले जाओ। वे पास के धर्मायतन में पण्डित की प्रतीक्षा कर रहे हैं।"

मैंने प्रणतिपूर्वक विदा ली। सामनेर मुझे एक नातिदीर्घ गृह में ले गया। वहाँ कुमार एक तृणास्तरण पर बैठे मेरी प्रतीक्षा कर रहे थे। आचार्य की बात से मैंने पहली बार जाना कि कुमार महासान्धिविग्रहिक के महत्त्वपूर्ण पद पर अधिष्ठित हैं। मुझे देखते ही वे उठ खड़े हुए और बड़े प्रेम से अपने तृणास्तरण के आधे भाग पर बैठाया। मुझे उस समय कुमार की उदारता, विनय और शील

देखकर बड़ा आश्चर्य हुआ; परन्तु वास्तव में कुमार थे ही ऐसे। वे गुणियों के आश्रय, गुणों की जन्मभूमि, विद्वानों के रक्षक और विद्या के भाण्डागार थे। उनकी आँखें प्रेमरस से परिपूर्ण थीं; पर उनकी भृकुटि में से आतंक झर रहा था। यद्यपि वे इस समय विहारोचित वेश में थे; परन्तु राजकीय गरिमा सहज ही उनके मुखमण्डल से प्रकट हो रही थी, जैसे अन्तर्मदावस्थ कोई तरुण गजराज हो। यद्यपि उनके हाथ में उस समय कोई शस्त्र नहीं था; पर एक सहज तेज से वे वलयित थे और विषधर-वेष्टित बाल चन्दन-तरु के समान भीषण-मनोरम दिखायी दे रहे थे। अवस्था बहुत कम थी; पर मुखमण्डल पर अनाविल बुद्धि और द्रुत-विवेचना-शक्ति स्पष्ट दिखायी दे रही थी। क्षण-भर तक मैं उस तेज से अभिभूत हो गया था; पर भट्टिनी की याद आते ही मैंने अपने को सम्हाल लिया। कुमार ने आवश्यक शिष्टाचार के बाद देवपुत्र तुवरमिलिन्द की कन्या के विषय में प्रश्न किया। मैंने आदि से अन्त तक सारी कथा संक्षेप में सुना दी। यह भी बताया कि कल उन्हीं का दर्शन करने जा रहा था और बीच में यह कार्य करना पड़ा। कुमार ने धैर्य के साथ सब सुना। एक बार भी उनके चेहरे पर कोई विकार नहीं आया, जिसमें मैं समझ सकूँ कि किस कार्य को वे अच्छा समझ रहे हैं और किसे बुरा। सब-कुछ समाप्त होने के बाद मैंने उनकी ओर जिज्ञासा के भाव से देखा। वे शान्त थे। किसी बात पर कोई टिप्पणी किये बिना बोले, "देवपुत्र की कन्या के लिए मेरा गृह प्रस्तुत है।"

मैंने विनीत भाव से कहा, "देवपुत्र की कन्या स्थाण्वीश्वर के राजवंश से सम्बद्ध किसी व्यक्ति के घर नहीं जा सकेंगी। मेरा मत है कि स्थाण्वीश्वर ने अपने को सम्मानित के सम्मान देने के अयोग्य सिद्ध किया है।"

मेरी बात कुमार को लगी। उनकी भृकुटियाँ तन गयीं। कुछ उद्धत स्वर में बोले, "क्या कहते हो भट्ट, सोच-समझकर बोलो।"

"सोच लिया है, कुमार!"

कुमार के क्रोध-कषायित नयनों में थोड़ी और हलचल हुई। बोले, "तुम्हें मालूम है, तुम किससे यह बात कह रहे हो?"

जरा भी अभिभूत हुए बिना मैंने कहा, "मैं कान्यकुब्ज साम्राज्य के महा-सान्धिविग्रहिक कुमार कृष्णवर्द्धन से बातें कर रहा हूँ।"

"दुर्विनीत हो, भद्र!"

"कुमार से ऐसी बात सुनने की मुझे आशा नहीं थी।"

"तुम्हें ऐसी बात करते लज्जा मालूम होनी चाहिए।"

"लज्जा मुझे क्यों होगी, कुमार?"

"तो किसे होगी?"

"उस शक्तिशाली शासक वंश को जिसने छोटे राजकुल जैसे अत्याचारियों को प्रश्रय दिया है और अपने को कलंकित कर लिया है।"

कुमार की भृकुटियाँ तन गयीं—"दुर्विनीत ब्राह्मण-वटु, तुम कल जिस

व्यक्ति से भीख माँगने जा रहे थे, उससे बात करने की यही पद्धति है ?"

"कल मैं राह का भिखारी था, कल मैं स्थाण्वीश्वर में राज्य करनेवाले राज-वंश के कलंक से परिचित नहीं था।"

"और आज क्या हो ?"

"आज मैं विषम समर-विजयी बाह्लीकविमर्दन प्रत्यन्तबाड़व देवपुत्र तुवर-मिलिन्द की प्राणाधिका कन्या का अभिभावक हूँ।"

"अभिभावक !"

"हाँ, अभिभावक।"

"मेरे एक इशारे पर तुम्हारी रक्षणीया देवपुत्र-कन्या का और तुम्हारा क्या हाल हो सकता है, तुम जानते हो ?"

"जानता हूँ, परन्तु कुमार को शायद 'बाणभट्ट' का पूरा परिचय नहीं मालूम। उस इशारे के होने के बहुत पूर्व इशारा करनेवाली आँखें नहीं रहेंगी।"

कुमार ने उत्तेजित होकर कहा, "दुर्विनीत ब्राह्मण-बटु, भिक्षाजीवी, दम्भी !" मैंने हँस दिया। कुछ कहा नहीं। कुमार और भी उत्तेजित हो गये। बोले, "अन्तःपुर में चोर की तरह प्रवेश करनेवाले, अधार्मिक, तुम्हें लज्जा नहीं है !"

"मुझे स्थाण्वीश्वर के लम्पट राजकुल के अन्तःपुर के विषय में श्रद्धा नहीं है। जहाँ चौर्य-लब्ध अत्याचारिता वधूएँ वास करती हैं, उस अन्तःपुर की कोई मर्यादा नहीं होनी चाहिए। ऐसे अन्तःपुरों को प्रश्रय देनेवाले लज्जित होना चाहें तो हो लें, उन्हें शोभा दे सकता है। कुमार, साम्राज्य-गर्व में अन्धे न बनो। स्थाण्वीश्वर ने राजलक्ष्मी का अपमान किया है। और, ब्राह्मण पर तुम्हारा कोप व्यर्थ है। वह न भिखारी होता है, न महासान्धिविग्रहिक। वह धर्म का व्यवस्थापक होता है। मैंने जो कुछ किया है, उससे न मैं लज्जित हूँ, न मेरा ब्राह्मणत्व कलुषित हुआ है। मैं देवपुत्र तुवरमिलिन्द की मर्यादा का पूर्ण जानकार हूँ और निर्भय भाव से फिर कहता हूँ कि स्थाण्वीश्वर के राजवंश ने अपने को पूज्य-पूजन के अयोग्य सिद्ध किया है। देवपुत्र-नन्दिनी इस राजवंश से घृणा करती हैं।"

कुमार कुछ चिन्ता में पड़ गये। उन्हें मेरी बात में कुछ सार मालूम पड़ा होगा। थोड़ी देर के लिए वे भेदक दृष्टि से मुझे देखते रहे। इसी समय कुमार के उत्तेजित स्वर को सुनकर आचार्यपाद वहाँ आये। उन्हें देखकर हम दोनों उठ खड़े हुए। झगड़ते समय हम दोनों ही भूल गये थे कि वस्तुतः हम आचार्य की आज्ञा-पालन करने के लिए नियुक्त हुए हैं। आचार्य ने आते ही पहले मुझसे कहा, "क्यों बेटा, तूने कुछ अनुचित कह दिया है क्या ? कुमार कृष्ण जैसे सज्जन को तूने क्यों उत्तेजित किया ? छिः, ऐसा भी करते हैं !" ऐसा कहकर उन्होंने मेरा माथा सहलाया और कुमार की ओर बढ़कर बोले, "कुमार, उत्तेजित क्यों होते हो ? वत्स, बाणभट्ट नादान है, राजोचित सम्मान करना नहीं जानता। उसकी बात का अर्थ-भर समझो, शब्द-व्यवहार पर न जाओ।" फिर उन्होंने बड़े प्रेम से

कुमार की पीठ पर थपकी दी। बोले, "बैठो।"

आचार्यदेव आसन पर और हम दोनों कुट्टिम-भूमि पर बैठ गये। कुमार ने ही पहले शुरू किया—"आर्य, बाणभट्ट स्थाण्वीश्वर के राजवंश से घृणा करते हैं।"

आचार्य ने आश्चर्य-मुद्रा में मेरी ओर ताका—"शान्तं पापम्! हाँ बेटा, तूने यही कहा है?"

मैंने शान्त-भाव से कहा, "आर्य, देवपुत्र तुवरमिलिन्द की कन्या को अपमानित करनेवाले राजकुल को प्रश्रय देनेवाले राजवंश ने अपने को पूज्य-पूजन के अयोग्य सिद्ध किया है। मैं देवपुत्र-नन्दिनी को उस राजवंश से सम्बद्ध किसी व्यक्ति के गृह में आश्रय नहीं लेने दे सकता। यह बात मैं उनकी अनुमति पाकर ही कह रहा हूँ। मेरा अविनय क्षमा हो, किन्तु इस समय मैं अकिंचन बाणभट्ट के रूप में नहीं बोल रहा हूँ, बल्कि देवपुत्र तुवरमिलिन्द की प्राणाधिका कन्या की प्रतिष्ठा और मर्यादा के रक्षक के रूप में बोल रहा हूँ। बाणभट्ट कुमार का वशंवद है, पर देवपुत्र तुवरमिलिन्द के आहत अभिमान के प्रतिनिधि के रूप में आप उसके झुकने की आशा नहीं कर सकते।"

"साधु वत्स, तुमने देवपुत्र की मर्यादा के अनुकूल कहा है। और कुमार, तुम धीर हो, विवेकी हो, तुम्हें स्थाण्वीश्वर के कलंक-पंक को धो डालने का पवित्र कार्य करना है। तुम्हीं इस कार्य को कर सकते हो। दूध का जला मट्ठा फूँककर पिया करता है। ना कुमार, तुम्हें आयुष्मती चन्द्रदीधिति के सम्मान का ध्यान रखना होगा। एक बार प्रत्यन्त-देश की ओर देखो। यौधेयों ने सौवीर से गन्धार तक आतंक फैला रखा है, सम्राट् समुद्रगुप्त की कीर्त्ति आज तक चन्द्र-किरणों के समान धवल है। परन्तु रणदुर्मद यौधेयों का दमन न किया गया, तो सद्धर्म का विनाश अवश्यम्भावी है। इस कार्य में देवपुत्र को तुम्हें मित्र बनाना है। उस मित्रता के लिए तुम्हें आयुष्मती चन्द्रदीधिति का छन्दानुरोध करना पड़ेगा और उसकी विपत्ति के अकारण बन्धु बाणभट्ट की वाणी का उचित सम्मान करना होगा।"

कुमार निर्विकार रहे। शान्त-भाव से बोले, "तो क्या आज्ञा है, आर्य?"

आचार्य ने कहा, "आयुष्मती को उस स्थान से हटाना है, भद्रतर स्थान में ले जाना है, स्थाण्वीश्वर के कलंक को धोकर उसका विश्वास अर्जन करना है और फिर देवपुत्र को सन्देशा भेजना है। वत्स, मैं चण्डी-मण्डप के मूर्ख पुजारी से डरा हुआ हूँ। न जाने वह कब क्या कर बैठेगा। उसकी कोई व्यवस्था तुमने की है, कुमार?"

कुमार यथापूर्व निर्विकार बैठे रहे। केवल भीगे हुए स्वर में बोले, "नागरिक वेश में पाँच सशस्त्र सैनिक चण्डी-मण्डप की रखवाली कर रहे हैं।"

आचार्य ने साधुवाद दिया। फिर कुमार की ओर देखकर बोले, "क्या सोच रहे हो, बेटा! तुम्हारा क्रोध क्या अभी शान्त नहीं हुआ?"

अवसर देखकर मैंने विनीत भाव से कहा, "कुमार को उत्तेजित करने का अपराध मैंने किया है, आर्य ! उसका दण्ड भी मुझे मिलना चाहिए। परन्तु मेरे औद्धत्य से देवपुत्र-नन्दिनी का कोई अनिष्ट नहीं होना चाहिए।"

कुमार ने मेरी ओर देखकर कहा, "मैं तुम्हारे साहस का प्रशंसक हूँ, भट्ट ! मैंने आज से पहले तुम्हारे जैसे ब्राह्मण को क्यों नहीं देखा, यही सोच रहा हूँ।"

आचार्य ने प्रेम-भरे स्मित के साथ कहा, "कभी खोजा था, वत्स ?"

कुमार ने कहा, "नहीं, आर्य !"

आचार्य ने पुलकित होकर कहा, "क्या ब्राह्मण और क्या श्रमण, मनुष्यता दोनों ही जगह विरल है, कुमार !" फिर हँसकर कुमार की पीठ सहलाने लगे।

थोड़ी देर चुप रहने के बाद कुमार ने मेरी ओर देखा। वे कुछ सोच में पड़े हुए थे। फिर उन्होंने आँखें आचार्य की ओर फिरायीं। बोले, "स्थाण्वीश्वर में मैं ऐसा गृह नहीं देख रहा हूँ, जो राजवंश से सम्बद्ध न हो। फिर धर्मतः मैं जो कुछ जानता हूँ उसे महाराजाधिराज को निवेदन करना आवश्यक है। धर्मतः बाणभट्ट भी राजकोप के भागी होंगे और उस हतकी निपुणिका का सर्वनाश तो निश्चित है। इसलिए मैं यह सोच रहा हूँ कि बाणभट्ट कल सायंकाल तक देवपुत्र-नन्दिनी और निपुणिका को लेकर मगध की ओर चले जायें। आज ही मैं एक बड़ी नौका की व्यवस्था कर देता हूँ। देवपुत्र-नन्दिनी आज रात को उसी में विश्राम करें। कल प्रस्थान के पूर्व बाणभट्ट मुझसे मिल लें। कल होलिकोत्सव है। कल शासन और धर्म के विभागों में छुट्टी होगी। मैं परसों मध्याह्न को महाराजाधिराज को सारी बात खोलकर समझाऊँगा। देवपुत्र-नन्दिनी को कोई कष्ट न हो, इसकी व्यवस्था करूँगा और उनकी प्रीति प्राप्त करने का प्रयत्न भी।"

आचार्य ने उत्साह दिया—"साधु वत्स ! यही कुमार के योग्य है।"

कुमार ने टोककर कहा, "परन्तु यह अनुताप मेरे चित्त में काँटे की तरह चुभा रह ही गया आर्य, कि देवपुत्र-नन्दिनी ने निर्दोष राजवंश पर कोप किया है। छोटा राजकुल जो पाप कर रहा है, उसका प्रायश्चित्त यदि हमें इस प्रकार करना पड़ा, तो अनर्थ हो जायगा !" फिर वे मेरी ओर मुड़कर बोले, "मुझे देव-पुत्र-नन्दिनी के सामने जाने में लज्जा हो रही है। भद्र, तुमने ठीक ही कहा है कि स्थाण्वीश्वर के राजवंश ने अपने को पूज्य-पूजन के अयोग्य सिद्ध किया है। पर यह सब अनजान में हुआ है। अनुकूल अवसर पर देवपुत्र-नन्दिनी को यह समझा देना कि उनकी इच्छा से पूज्य-पूजन का यह अवसर भी उस राजवंश के हाथ से निकल गया। यद्यपि साहस नहीं होता, पर मेरी ओर से तुम उन्हें शिविका पर नदी-तीर तक जाने को प्रस्तुत करना। देवपुत्र-नन्दिनी का जिन लोगों ने अपमान किया है, उन्होंने समस्त स्थाण्वीश्वर की राजलक्ष्मी को पैरों से ठुकराया है। उसका हिसाब उन्हें देना होगा, परन्तु हम किसी भी कार्य में तरलकर्मा होने को नीति-विरुद्ध मानते हैं। देखो भट्ट, तुमने देवपुत्र-नन्दिनी का विश्वास प्राप्त करने का सौभाग्य पाया है, इसीलिए यह भी आवश्यक है कि तुम तत्रभवती को

ठीक-ठीक समझाओ कि आज ही जो उन अपराधियों के अपराध का दण्ड नहीं मिलता, सो राजनीति की जटिलता के कारण हुआ है। कुमार कृष्णवर्द्धन प्रतिज्ञा करता है कि अनीति का उच्छेद करके ही वह दम लेगा। देवपुत्र-नन्दिनी के अपमान को वह अपनी बहिन का ही अपमान समझता है।" आचार्य ने करुणार्द्र आँखों से एक बार कुमार की ओर देखा। उन्होंने फिर उत्साह दिया—"साधु वत्स, साधु! स्थाण्वीश्वर के प्रतापी राजवंश के उपयुक्त वचन हैं।" कुमार ने कहा, "किन्तु आर्य, मेरे हृदय में जो कण्टक चुभा है वह जहाँ का तहाँ है। देवपुत्र-नन्दिनी की किसी इच्छा में बाधक बनना मेरी इच्छा के बाहर है। कुमार कृष्ण ने आज तक इतनी अधिक लज्जा कभी नहीं पायी। आज उस शीर्ण देवायतन के प्रांगण-गृह में कुसुम-सुकुमार राजकुमारी ने रूक्ष और कदन्न पर या शायद निरन्न रहकर जो समय व्यतीत किया, उसकी बात याद आती है, तो मेरा सम्पूर्ण क्षत्रियत्व उबल पड़ता है। मैंने बहुत प्रयत्नपूर्वक अपने को दबाया है। मुझे दुःख है कि मैं इस विषय में कुछ कर नहीं सकता। मेरा प्रत्येक कार्य देवपुत्र-नन्दिनी के सन्देह को उद्रिक्त कर सकता है। मेरा रोष और भी उग्र हो जाता है, जब मैं सोचता हूँ कि यह उन देवपुत्र तुवरमिलिन्द की कन्या हैं, जिनके दोर्दण्ड के प्रताप से रोमकपत्तन के उत्तर के देश काँपते हैं, जिनकी खरतर असि-धारास्रोतस्विनी में शाक-पार्थिव जैसे नरेश फेन-बुद्बुद की भाँति बह गये, जिनकी प्रतापाग्नि ने उद्दण्ड बाह्लीकों को इस प्रकार तोड़ डाला, जैसे क्रीड़ापरायण शिशु छत्रक-दण्ड को तोड़ देते हैं और जिनकी स्फूर्जित-दीप्ति कीर्त्ति-वह्नि में प्रत्यन्त-दस्यु स्वयं पतंगायमान हो रहे हैं। उस विषम-समरविजयी अज्ञातप्रतिस्पर्धि-विकट देवपुत्र तुवरमिलिन्द की कन्या को दुर्दशापन्न देखकर भी मैं जो कुछ सहायता नहीं कर सकता, यही विशाल शल्य मेरे आहत चित्त से निकल नहीं रहा है। मेरा यह अनुरोध आप पालन करा दें आर्य, कि तत्रभवती नदी-तट तक जाते समय पैदल न जायें और मेरी भेजी हुई शिविका के व्यवहार में संकोच न करें। कुमार कृष्णवर्द्धन को तत्रभवती का भाई होने का गौरव मिलना चाहिए।"

कुमार के प्रभास्वर मुखमण्डल से कभी रोष, कभी क्षोभ, कभी ग्लानि और कभी बेबसी के भाव टपकते रहे। दिनान्तकालीन मेघ-मण्डल के समान उनके आर्द्रार्द्र मुख-मण्डल पर अनेक रंग आये और गये। आचार्यपाद ने मेरी ओर देखकर कहा, "वत्स, मेरी ओर से कुमारी से अनुरोध पालन करने का प्रतिवेदन करना। मैं नदी-तीर पर उससे मिलूँगा। अब तुम जाओ।"

आचार्य के इंगित पर कुमार भी उठे और मैं भी उठ गया। बाहर निकलकर देखा, तो मध्याह्नकालीन सूर्य अपनी सहस्र-सहस्र तप्त किरणों से अग्निस्फुलिंग की वर्षा कर रहा था। वातोद्धूत धूल से पटलित होकर आकाश धूसरायमान हो गया था। विहार का अंगण-कुट्टिम सूर्य-किरणों से तप्त होकर अग्नि के समान दाहक बना हुआ था और इस अंगारमय वातावरण में विहार के बीचवाला अश्वत्थ आपाद ताम्र किसलयों से लदा हुआ ऐसा जान पड़ता था कि धरती के

भीतर से कोई ज्वलन्त आग्नेय-गिरि ज्वालमाला के रूप में धरती की अन्तःस्थित प्रचण्ड उष्णता को उगल रहा है। परन्तु वह क्या उष्णता थी? नहीं, अश्वत्थ की किसलय सम्पत्ति को उष्णता समझना केवल विकृत चिन्तन का परिणाम था। वास्तव में धरती के हृदय की रसराशि थी, जो प्रचण्ड ताप के भीतर भी अपनी शीतलता की घोषणा कर रही थी। कुमार कृष्णवर्द्धन की हृदय-स्थित शीतल प्रेम-धारा को भी मैंने जो उष्णता समझ लिया था, वह मेरे विकृत चिन्तन का ही परिणाम था। मैंने अपने पार्श्व-स्थित कुमार को एक बार क्षमा-याचना की दृष्टि से देखा। कुमार का मुख-मण्डल शान्त था। उससे एक स्निग्ध प्रभा निकल रही थी, जो दर्शक को अभय देती जान पड़ती थी। मेरी दृष्टि का अर्थ कुमार ने पहचाना। ज़रा स्मित के साथ कहा, "देवपुत्र की मर्यादा के उचित जानकार हो, भट्ट! मैं तुमसे प्रसन्न हूँ।"

मैंने हाथ जोड़कर कुमार का प्रसाद मौन विनय के साथ ग्रहण किया।

सहृदय कुमार समझ सके कि कृतज्ञता के आतिशय्य ने मेरे वचन रुद्ध कर दिये थे। वे प्रसन्न हो गये।

षष्ठ उच्छ्वास

शिविकाओं के निकलते-निकलते गोधूलि-काल हो गया। विलम्ब का कारण मैं ही था। नदी-तट की नौका-व्यवस्था देखे बिना भट्टिनी को वहाँ भेजना मुझे ठीक नहीं जँचा। नदी-तीर से जब मैं लौटा, तो दिवस क्षीण हो आया था। सूर्यमण्डल परिणत प्रियंगुमंजरी के केसर के समान पिंजरिमा से रँगा हुआ पश्चिम समुद्र की ओर लटक चुका था। अस्तकालीन धूप दिग्वधुओं के मुख पर पड़ी हुई एक ऐसी महीन चादर के समान दिख रही थी, जो कुसुम्भ-रस की अविरल वर्षा से लाल और कोमल हो गयी हो। आकाश की नीलिमा बहुत-कुछ दूर हो गयी थी और वह चकोर की नयन-तारिका के समान पिंगल-वर्ण की कान्ति से विलिप्त हो चुका था। कोकिल के विलोचनों के समान बभ्रु-वर्ण किरणें समस्त भुवन-मण्डल को अरुणायित कर रही थीं। अधिक प्रकाशयुक्त एकाध नक्षत्र पूर्व-गगन में उन्म-षित होते-से दिख रहे थे और सारी सन्ध्या मोहन-वेशा गैरिकधारिणी किसी भैरवी के समान चण्डी-मण्डप में उतर रही थी। शिविकाएँ पहले से ही उपस्थित थीं। भट्टिनी और निपुणिका तैयार बैठी थीं। मेरे आते ही वे शिविकाओं पर बैठ गयीं और नदी-तीर के लिए प्रस्थित हो गयीं।

प्रांगण-गृह से बाहर निकलकर मैंने एक बार चारों ओर देखा। आकाश की अरुणिमा धुल गयी थी। वह गाढ़े नील पट्ट के समान सिर पर फैला हुआ दिख रहा था। मध्याह्न की नीलिमा अब अधिक सान्द्र हो गयी थी। आस-पास की वृक्षावलियों की हरीतिमा कालिमा में बदल चुकी थी। वनराजियाँ वन्य महिष के मलीमस शरीर की भाँति काली हो चली थीं। उन पर होनेवाला पक्षि-विराव अब शान्त हो गया था। सामने की टूटी दीर्घिका अपने शान्त वक्षःस्थल में आकाश की समस्त सम्पत्ति लिये हँस रही थी। सब-कुछ शान्त, निस्तब्ध और महिमापूर्ण था। मैंने एक क्षण के लिए सोचा कि पुजारी इस समय आ जाता, तो ज़रा हृदय खोलकर ठठोली कर लेता। पर पुजारी न जाने इस समय कहाँ था। जाने के पहले मैं एक बार फिर प्रांगण-गृह में गया, मानो कोई भूली हुई वस्तु खोजनी थी। मोह भी कैसी विचित्र वस्तु है। इस टूटे प्रांगण-गृह के प्रति मेरा आकर्षण इस समय कुछ बढ़-सा गया था। सूना तो वह सदा से था; लेकिन भट्टिनी के निकल जाने के बाद वह विकट सूना हो गया था। उसकी दीवारें मानो बार-बार चिल्लाकर कह रही थीं कि आज हम यथार्थ में सूनी हैं। कुछ देर तक मैं अकारण वहाँ ठिठका खड़ा रहा। भट्टिनी की एक दिन की पूजावेदी अब भी गीली थी। उस पर के महावराह चले गये थे; पर अपनी उद्धार-महिमा का चिह्न उस पर छोड़ गये थे; थोड़ी देर तक मैं उस वेदी की ओर मुग्धभाव से देखता रहा और फिर एक बार उन तान्त्रिक चिह्नों की ओर भी स्थिर नयनों से देखा। मुझे भैरवी-चक्र के चिह्नों की पृष्ठभूमि में महावराह की वेदी ऐसी अद्‌भुत दिखायी पड़ी कि एक क्षण के लिए मैं उसे भविष्य का निमित्त-निर्देशक समझे बिना न रह सका। यह एक दिन के लिए जो परस्पर विरोधी प्रतीकों का समन्वय हुआ है, वह आकस्मिक हो सकता है; पर अकारण निश्चय ही नहीं है। इसमें किसी भावी विरोधाभास की सूचना है। हठात् मेरे मुँह से मेरी बनायी हुई एक पुरानी आर्या निकल पड़ी।

उन दिनों मैं वाराणसी के पास जनपद में पुराण-पाठ का अभिनय कर रहा था। मेरे हृदय में कहीं भी भक्ति का लेश भी नहीं था; पर स्वेद, अश्रु और रोमांच का मैंने इतना उत्तम आयोजन किया था कि सरल-हृदया जनपदवधुएँ और ग्राम-वृद्ध मेरी कथा पर मुग्ध बने हुए थे। एक सन्ध्या को मैं व्यासासन से उठा ही था कि एक अति कमनीय-मूर्त्ति वृद्ध महिला ने आकर मेरे चरण स्पर्श किये। मैंने उसकी ओर देखा—उसका मुख-मण्डल मुरझाये हुए कमल-पुष्प के समान खिन्न था। कुण्डलित केश अस्त-व्यस्त हो रहे थे। आँखों में एक प्रलयपूर का दृश्य था। अहा, कितनी भक्तिमती थी वह, कितनी विश्वास-परायण और कैसी सरल-हृदया! मैंने पूछा, "क्यों अम्ब, इतनी व्याकुल क्यों हैं? क्या हुआ? कल्याण हो मातः, अपनी व्यथा मुझसे बता। मैं क्या सहायता कर सकता हूँ?" वृद्धा ने रुद्ध कण्ठ से कहा, "तुम ब्राह्मण हो आर्य, पृथ्वी के देवता हो आर्य, तुम्हारे आशीर्वाद से मेरा कल्याण होगा। मेरा एकमात्र पुत्र घर-द्वार छोड़कर न जाने कहाँ चला गया है; कोई विधि बताओ कि मैं अपनी खोयी हुई निधि पा सकूँ।

कोई अनुष्ठान, कोई मांगल्यव्रत, कोई जप-होम बता दो कि मैं अपने लाल को पा सकूँ। हाय, उसकी बालिका-वधू को क्या कहकर सान्त्वना दूँ ?" उस वृद्धा की बात से मैं क्षण-भर के लिए विचलित हुआ। मैं भी तो घर-द्वार छोड़कर भाग आया हूँ। पर दूसरे ही क्षण मैं सम्हल गया; चलो मेरी कोई माता नहीं है, जो बिलख-बिलखकर धार्मिकता का ढोंग रचनेवालों से अनुष्ठान की विधि पूछती फिरेगी। फिर कोई बालिका या प्रौढ़ा वधू भी नहीं है, जिसे सान्त्वना देने के लिए किसी को माथापच्ची करनी पड़ेगी। पर यह हतभाग्य कौन है, जो ऐसी माता और बहू को छोड़कर भाग गया है? वह कहाँ गया होगा ? वृद्धा को धीरज बँधाते हुए मैंने कहा, "व्याकुल मत हो अम्ब, तेरी निधि तुझे मिलेगी।" और फिर कुछ व्रत और उपवास की विधियाँ बताकर अपना पिण्ड छुड़ाया। वृद्धा ने अपनी पुत्र-वधू का हाथ भी दिखाया था। अहा, कैसा अदनार मुख था उसका ! मैंने चकित होकर उस बालिका की ओर देखा था। वह निराश जान पड़ती थी। वृद्धा चली गयी; पर मेरे मानसपट में एक विशाल छेद करती गयी। मेरा कोई नहीं है---न बिलखनेवाला, न सान्त्वना की आशा लगाये रहनेवाला। मैं अकेला हूँ, संगहीन हूँ, हतभाग्य हूँ, रह-रहकर मेरा मन मुझे अवश करने लगा। मुझे यह दुर्निमित्त-सा लगा। अब तक जिसके हृदय पर संसार की हँसी और रुलाई पद्म-पत्र पर के सलिल-बिन्दु के समान आयी और गयी, वह व्यक्ति आज व्याकुल क्यों है ? क्या अरुण को देखकर सूर्योदय की सम्भावना नहीं होती ? क्या पवन को देखकर जलागम का अनुमान संगत नहीं है ? तो क्या मेरे चित्त का यह विकार किसी पूर्व-निदर्शन के उदय के समान है ? मैंने सोच्छ्वास कहा,

अरुण इव पुरःसरो रविं पवन इवातिजवो जलागमम् ।
शुभमशुभमथापि वा नृणां कथयति पूर्वनिदर्शनोदयः ।[1]

तबसे मैं उस घटना को भूल गया था। आज हठात् मेरे मुँह से यही आर्या निकल पड़ी। तो दुर्निमित्त अभी कटा नहीं है ? कल सन्ध्या से लेकर आज की सन्ध्या तक घटनाओं के एक वात्याचक्र में बुरी तरह उलझ गया हूँ। क्या कोई अदृष्ट शक्ति किसी अचिन्तनीय विरोध-परिस्थान में मुझे घसीट रही है ? क्या आज से बाणभट्ट का हृदय पद्म-पत्र की तरह अनासक्त नहीं रह सकेगा ? कौन जाने !

इसी समय गृह के द्वार पर वन-कुक्कुटों के उड़ने के कारण भरभराहट की आवाज हुई। गृह-द्वार के एक पार्श्व में कुछ अयत्नवर्द्धित करवीर के झाड़ थे। सन्ध्या होते ही उन पर वन-कुक्कुटों की बस्ती बस जाती थी। उनके अचानक उड़ने से मुझे सन्देह हुआ कि कोई आ गया है। निश्चय ही पुजारी होगा। मैं जल्दी-जल्दी घर से बाहर निकला। द्वार पर मैंने जो कुछ देखा, वह अप्रत्याशित ही नहीं, अदृष्टपूर्व भी था। मैं इस प्रकार हतचेष्ट हो गया, जैसे बिजली मार

1. 'हर्षचरित', चतुर्थ उच्छ्वास

गयी हो। सामने एक गाढ़ गैरिक वस्त्रधारिणी स्त्री थी। उसके एक हाथ में त्रिशूल था और दूसरे में काला-सा कोई पात्र। खुले हुए पिंगल-वर्ण के केश गुल्फों तक लटके ऐसे लग रहे थे मानो सायंकालीन अरुण मेघ-मण्डल में विद्युत् की शिखाएँ अचंचल होकर रुक गयी हों। उसका सुनहरा मुखमण्डल गैरिक वस्त्रों से इस प्रकार कुण्डलित था, मानो धातुमयी अधित्यका में आरग्वध के झाड़ फूले हुए हों। उसकी आँखें विकच कांचनार-कुसुम के समान लाल-लाल और फटी हुई थीं और उनसे एक मन्द-मन्द रश्मि-सी निकल रही थी। उसकी मूर्त्ति मनोहर नहीं थी; पर वह भयंकर भी नहीं थी। यदि कड़ककर उसने पहले ही मुझे डाँट न दिया होता, तो निस्सन्देह मैं उसे साक्षाद्विग्रहधारिणी चण्डिका ही समझता। उसने भी मुझे वहाँ देखकर आश्चर्य का ही भाव दिखाया। फिर एक क्षण में ही उसके अधरोष्ठ काँपने लगे। छितरायी हुई आँखें और भी छितरा गयीं। नासाग्र में एक प्रकार की हलचल हुई और भ्रू लताएँ विकुंचित हो उठीं। उसके ललाट की वलियाँ स्पष्ट ही दिख पड़ीं। उसने कड़ककर पूछा, "इस साधना-गृह में चोर की भाँति घुसनेवाला तू कौन है ?"

मैंने अभी तक अपने को सँभाला नहीं था। क्या कहना चाहिए, क्या नहीं कहना चाहिए, कुछ स्थिर न कर पाया था। केवल पथरायी आँखों से उसे देखता रहा। वेश देखकर मैंने अनुमान किया कि यह कोई भैरवी होगी। फिर मुझे इस प्रांगण-गृह के भीतर के विचित्र चिह्नों की बात याद आयी। मुझे ऐसा लगा कि क्षण-भर पूर्व मेरा मन जिस दुर्निमित्त की आशंका कर रहा था, वह सिर पर सवार है। इस समय भट्टिनी यहाँ से चली गयी हैं, यह सोचकर मेरे मन में अपार सन्तोष हुआ। मैं अपने को सँभालने में समर्थ हो गया। हाथ जोड़कर बोला, "परदेशी हूँ मातः, अपराध क्षमा हो।"

भैरवी ने एक बार मुझे नीचे से ऊपर तक ध्यान से देखा। बोलीं, "तू ब्राह्मण है ?"

"मेरा जन्म ब्राह्मण-वंश में ही हुआ है, मातः !"

"वैदिक क्रिया का अभ्यास है ?"

"बहुत थोड़ा।"

"इस साधना-गृह में तूने क्या किया है ?"

मैं ठीक समझ नहीं सका कि भैरवी मुझसे क्या जानना चाहती हैं। कोई वैदिक क्रिया मैंने यहाँ नहीं की है; पर प्रांगण-गृह में एक गीली मिट्टी की वेदी अब भी है, मुझे उसकी सफाई तो देनी ही होगी। फिर प्रसंगवश भट्टिनी की बात भी चल सकती है। इस समय तक वाममार्गी साधकों के सम्बन्ध में मेरे मन में श्रद्धा का भाव नहीं था। विशेषकर इन भैरवियों के सम्बन्ध में मैंने ऐसी बातें सुन रखी थीं, जिनसे उनके विषय में श्रद्धा नहीं बढ़ सकती। इसलिए मैंने अपने को दबाया। बोला, "इस गृह में मैं बहुत थोड़ी देर ही रहा हूँ, देवि ! यहाँ मैंने कोई वैदिक या अवैदिक अनुष्ठान नहीं किया।"

भैरवी भी मेरे मुख को देखकर समझ गयीं कि मैं कुछ छिपा रहा हूँ। बोलीं, "ठीक-ठीक बता, नहीं तो अमंगल होगा।"

इस बार मैं डरा। इन भैरवियों से मंगल चाहे न हो, अमंगल अवश्य होता है। मेरा ऐसा विश्वास था। हाथ जोड़कर बोला, "अज्ञ जन के ऊपर दया होनी चाहिए, मातः !" भैरवी ने स्मित हास्य किया। यह हँसी नारी-जनोचित बिल्कुल नहीं थी। उसमें किसी प्रकार के शील, विनय, लज्जा या माधुर्य का एकदम अभाव था। वह रूखी नहीं थी, रहस्यपूर्ण थी। उल्का के क्षणभंगुर प्रकाश की भाँति वह हँसी मेरे मन में आशंका को दीप्त कर गयी। मैंने फिर भीत-भीत भाव से कहा, "अपराध क्षमा हो, मातः !"

भैरवी ने कहा, "इधर आओ" और फिर ज़रा ज़ोर से पुकारकर कहा, "आर्य, यह देखो कौन है?"

भैरवी मुझे टूटी दीर्घिका (तालाब) के घाट पर ले गयीं। यहाँ पहले से ही तीन व्यक्ति उपस्थित थे। दो तो कोई साधक भैरव और भैरवी थे, पर एक महात्मा उनमें विशेष थे। वे व्याघ्र-चर्म पर अर्द्धशायित अवस्था में लेटे हुए थे। उनके शरीर से एक प्रकार का तेज निकल रहा था। सिर पर केश नहीं के समान थे; पर कान की शष्कुलियाँ श्वेत केशों से आच्छादित थीं। ललाट-मण्डल की सहज वलियाँ कूर्चप्रदेश तक व्याप्त हो गयी थीं। आँखों के ऊपर की दोनों भ्रूलताएँ मिल गयी थीं और सारा मुख-मण्डल छोटे-छोटे श्मश्रु-लोमों से परि-व्याप्त था। उनकी आँखें बहुत ही आकर्षक थीं। उन्हें देखकर बड़ी-बड़ी समुद्री कौड़ियों का भ्रम होता था। ऐसा जान पड़ता था कि वे आँखें पूरी-पूरी कभी खुली ही नहीं थीं। सदा आधी ही खुलती रहने के कारण उनके नीचे मांस-खण्ड फूल उठे थे और कोनों में एक प्रकार की स्थायी सिकुड़न आ गयी थी। उनके वेश में कोई विशेष साम्प्रदायिक चिह्न नहीं था; केवल दाहिनी ओर रखा हुआ पान-पात्र देखकर अनुमान होता था कि वे कोई वाममार्गी अवधूत होंगे। उनके पहनावे में एक छोटा-सा वस्त्र-खण्ड था, जो लाल नहीं था और तन ढकने के लिए पर्याप्त तो किसी प्रकार नहीं था। उनकी तोंद कुछ ज्यादा निकली दिखती थी, यद्यपि वह उतनी अधिक निकली हुई थी नहीं। भैरवी ने उनके पास आकर कहा, "बाबा, यह देखो, यह व्यक्ति साधना-गृह को भ्रष्ट कर आया है।" बाबा की आँखें मुँदी हुई थीं। भैरवी की वाणी सुनकर वे ज़रा सचेत हुए और उन्होंने अपनी आधी खुली आँखों से क्षण-भर के लिए मेरी ओर ताका। वह दृष्टि बहुत ही पवित्र जान पड़ी। बाबा ने फिर आँखें बन्द कर लीं। थोड़ी देर तक उसी अवस्था में रहने के बाद बोले, "मायाविनी ! मायाविनी ! मायाविनी !!" मुझे ऐसा लगा, मानो वे प्रत्यक्ष सब-कुछ देख रहे हैं, जैसे त्रिकाल उनके हाथ में आमलक फल के समान सुदर्श है। भैरवी ने फिर एक बार मेरे विरुद्ध अभियोग किया। बाबा ने बच्चे की भाँति हँसते हुए कहा, "क्यों रे, वहाँ क्यों गया था? पगले, वह मायाविनी है, उसके जाल में फँस गया।" यह कहकर उन्होंने चण्डी-मण्डप की मूर्त्ति की ओर

इशारा किया। फिर बोले, "अकेला था ?" मुझे ऐसा लगा कि बाबा जान गये हैं, उनसे कुछ छिपाना व्यर्थ है। परन्तु बाबा का अभिप्राय कुछ और ही था। मैं समझ नहीं सका और गिड़गिड़ाकर बोल उठा, "कल रात को दो दुःखिनी स्त्रियों को लेकर इस गृह में आश्रय लिया था, बाबा ! इस गृह में हमने खाया-पिया है और जूठन से इसे अपवित्र किया है। मैं जिस दुःखिनी कन्या को आश्रय देने के लिए यहाँ ले आया था, उसने महावराह की पूजा भी की है—पर सब-कुछ अनजान में हुआ है। अपराध क्षमा हो, आर्य !" यह कहकर मैंने भयपूर्वक प्रणिपात किया। बाबा बोले, "डरता है रे !" मैंने संक्षेप में उत्तर दिया—"हाँ बाबा !"

बाबा कुछ इस प्रकार सजग हो गये, जैसे किसी बच्चे को कोई तमाशा देखने को मिल गया हो। उठकर सीधे बैठ गये और कौतूहल के साथ बोले, "इधर आ !" मैं जब उनके पास गया, तो उन्होंने मेरा ललाट छू दिया। मेरे दोनों भ्रुओं के मध्यभाग को उन्होंने अपने अंगुष्ठ से दबाया और फिर हटा लिया। मेरा सिर चकरा गया। क्षण-भर में मेरे सामने एक भयंकर दृश्य उपस्थित हो गया। मैंने देखा कि भट्टिनी और निपुणिका नाव में बैठी पूरब की ओर जा रही हैं। उधर पूर्वी आकाश काले बादलों से छा गया है। बादलों के आगे-आगे पिंगल-वर्ण की धूलि दौड़ रही है और उसके भी आगे छोटे-छोटे तालचंचु पक्षियों का एक दल धूल और बादलों के साथ खेलता हुआ भागा जा रहा है। मैं किनारे पर खड़ा हूँ। बादल और घने हो गये। वायुमण्डल में थोड़ी सर्दी का आभास मिला। फिर भयंकर प्रभंजन के साथ-ही-साथ आकाश-मण्डल में विकट विद्युत्-स्फोट हुआ। गंगा की लहरें एक-दूसरे से क्रुद्ध भाव से भिड़ गयीं। आकाश धूलि से, दिङ्मण्डल अन्धकार से और गंगा का प्रवाह फेन-पुंज से आच्छादित हो गया। देखते-देखते भट्टिनी की नौका अन्धकार में अदृश्य हो गयी। मेरे हृदय और मस्तिष्क निष्क्रिय-निश्चेष्ट हो गये। मुँह से आवाज नहीं निकली। पैरों के नीचे पृथ्वी कुम्भकार के चक्र की भाँति घूमने लगी। इसी समय बिजली चमकी। नाव धारा में बैठ गयी। निपुणिका और भट्टिनी पानी में कूद पड़ीं। फिर अन्धकार, गर्जन, फूत्कार ! मेरा मस्तक झनझना उठा। शिराएँ इस प्रकार स्फीत हो उठीं, जैसे वे रक्त के दबाव को अधिक नहीं सह सकेंगी। बादल फैलते गये, आँधी का वेग बढ़ता गया, गर्जन का शब्द ऊँचा होता गया, फूत्कार का विकट विराव दिङ्मण्डल में व्याप्त होता गया। मैं चिल्ला उठा—"त्राहि आर्य, त्राहि !" इस समय मेरे ललाट में फिर एक बार अंगुलि-स्पर्श का अनुभव हुआ। गंगा की धारा शान्त हो गयी, आकाश स्वच्छ हो गया और भुवन-मण्डल प्रसन्न जान पड़ा। मैंने देखा, भट्टिनी नौका में आराम कर रही हैं। निपुणिका उनके पैरों के पास बैठी हुई कुछ कह रही है। भट्टिनी का मुख प्रसन्न है, आँखें उत्सुकता से भरी हैं और कपोलपालि विकसित है। फिर मैंने बाबा की ओर देखा, उनकी अधखुली आँखों में मीठी-मीठी हँसी है। मैंने भीत-भीत भाव से कहा, "बाबा, यह क्या देखा मैंने ? ऐसा ही होनेवाला है क्या ?" बाबा बच्चों के समान विनोद करते हुए बोले, "मैं क्या

जानूँ ?" फिर उनकी आँखें मुँद गयीं। कुछ भावावेश की-सी अवस्था में बोले, "कितनी माया जानती है, पगली !" फिर मुझे लक्ष्य करके बोले, "क्यों रे, डरता है क्या ?"

"मेरा अपराध क्षमा करें, आर्य !"

"तूने कोई अपराध किया है रे ?"

"मैं साधारण मनुष्य हूँ, आर्य ! अपराध करता ही रहता हूँ; किन्तु जान-बूझकर कभी किसी का अनिष्ट नहीं किया है। मैं अमंगल से डरता हूँ।"

"ब्राह्मण है ?"

"हाँ, आर्य !"

"तेरी जाति ही डरपोक है। क्यों रे, महावराह पर तेरा विश्वास नहीं है ?"

"है, आर्य !"

"झूठा ! तेरी जाति ही झूठी है ! क्यों रे, तू आत्मा को नित्य मानता है ?"

"मानता हूँ, आर्य !"

"पाखन्डी ! तेरे सब शास्त्र पाखण्ड सिखाते हैं ! क्यों रे, कर्मफल मानता है ?"

बाबा के इस प्रश्न का उत्तर अब सहज ही मैं नहीं दे सका। फिर न जाने मेरी जाति पर कौन-सा विशेषण बैठा दिया जाय। ज़रा-सा वक्रभंगी से कतरा जाने की चेष्टा करते हुए मैंने कहा, "कैसे कहूँ बाबा !"

बाबा हँसे। बोले, "बता न, तू कर्मफल मानता है या नहीं ?"

"मानता हूँ, आर्य !"

"तो अमंगल से क्यों डरता है ? मिथ्याचारी है तू !"

"हाँ, आर्य, सो तो हूँ।"

"तो कुछ सच्ची बात सीख न !"

"क्या आर्य ?"

"यही कि डरना नहीं चाहिए। जिस पर विश्वास करना चाहिए, उस पर पूरा विश्वास करना चाहिए, चाहे परिणाम जो हो। जिसे मानना चाहिए, उसे अन्त तक मानना चाहिए।"

"माया-पंक में डूबा हुआ संसार-कीट हूँ, आर्य ! बहुत-कुछ समझता हूँ; पर कर नहीं पाता।"

"प्रपंची ! तेरी जाति ही प्रपंची है। सौ बात क्यों समझता फिरता है ? एक को समझ और उसी को कर। क्यों रे, उस लड़की पर तेरी ममता है न ?"

यह अजीब प्रश्न है। क्या जवाब दूँ ? चुप रहना ही ठीक समझा। बाबा ने इसी समय उस भैरवी से कहा, "महामाया ! सब ठीक है न ?"

भैरवी ने कहा, "अभी ठीक हो जाता है।" यह कहकर वे और दोनों अन्य साधक भी उठ पड़े। मैं अकेला रह गया। बाबा ने मुझसे फिर पूछा, "क्यों रे, बताता क्यों नहीं ?"

मैंने हाथ जोड़कर कहा, "उस कन्या का सेवक होना गौरव का विषय है, आर्य ! मैं उसके मंगल के लिए प्राण तक दे सकता हूँ।"

बाबा हँसते रहे। बोले, "ना रे पागल, प्राण मैं नहीं माँगता। मैं जानना चाहता हूँ कि उस कन्या पर तेरी ममता है या नहीं। सीधा क्यों नहीं कहता कि है। तेरी जाति ही टेढ़ी है। हाँ रे, और महावराह पर तेरी ममता है ?"

"है आर्य !"

"मान ले कि एक निशाचर अचानक आकर तुझे धर दबाये और अपने बायें हाथ में तेरी स्वामिनी को और दाहिने हाथ में महावराह की मूर्त्ति को लेकर बोले कि तू अपना प्राण देकर किसी एक को बचा सकता है, तो तू किसे बचाने के लिए प्राण देना पसन्द करेगा ?"

बाबा बेढब जीव है। ऐसा भी प्रश्न किया जाता है ! मैं चुप हो रहा। थोड़ी देर तक सोचकर बोला, "मैं दोनों को बचाना चाहूँगा।"

बाबा क्रोध से काँप उठे—"फिर झूठ बोलता है, जन्म का पातकी, कर्म का अभागा, मिथ्यावादी, पाषण्ड ! ! महावराह को बचायेगा तू, दम्भी !"

मैं हतचेष्ट, निर्वाक् स्तब्ध ! बाबा का क्रोध वास्तविक नहीं था। मेरी परीक्षा लेने के लिए ही उन्होंने यह रूप धारण किया था। मैं विचलित हो गया। मेरी इच्छा के विरुद्ध जैसे किसी ने मुझसे कहलवा लिया—"प्राण देकर मैं भट्टिनी को बचाऊँगा।"

बाबा हँसने लगे। उनकी अर्द्धमुद्रित आँखें चमक उठीं। बोले, "अभागा, सारी जिन्दगी में तूने यही एक बात सच कही है। क्यों रे, लजाता है ? दुत् पगले, उस मायाविनी के जाल में फँस रहा है ? क्या बुरा है रे, त्रिपुर-सुन्दरी ने जिस रूप में तेरे मन को भुलाया है, उसे साहसपूर्वक स्वीकार क्यों नहीं करता ? तू अभागा ही बना रहेगा, भोले ! तेरे मन में महावराह से अधिक पूज्य भावना उस लड़की के प्रति है। है न रे ? फिर झूठ बोलेगा भाग्यहीन ?"

"ना बाबा, झूठ क्या मैं समझ-बूझकर बोल रहा हूँ, कोई बुलवा रहा है। भट्टिनी के प्रति मेरी पूज्य भावना है, यह ठीक बात है।"

"हाँ, तू अब ठीक कह रहा है। भुवनमोहिनी का साक्षात्कार पाकर भी तू भटकता फिर रहा है पागल ! देख रे, तेरे शास्त्र तुझे धोखा देते हैं। जो तेरे भीतर सत्य है, उसे दबाने को कहते हैं; जो तेरे भीतर मोहन है, उसे भुलाने को कहते हैं; जिसे तू पूजता है, उसे छोड़ने को कहते हैं। मायाविनी है यह मायाविनी, तू इसके जाल में न फँस। समस्त पुरुषों को भरमा रही है, स्त्रियों को सता रही है, माया का दर्पण पसारे है। तू उसे नहीं देखता, मैं देख रहा हूँ। तुझे देखकर वह हँस रही है।"

मैं मुग्ध-सा बना बाबा की ओर देख रहा था। उनका प्रत्येक वाक्य मेरे अन्तस्तल में उथल-पुथल मचा देता था जैसे वर्षों की गन्दगी साफ हो रही हो।

बाबा की बातें जितनी विचित्र थीं, उतनी ही भेदक भी। थोड़ी देर तक

अभिभूत-सा बना रहने के बाद मैंने हाथ जोड़कर पूछा, "क्यों बाबा, मैंने जो कुछ देखा है, वही घटनेवाला है क्या ?"

बाबा ने निर्ममता के साथ कहा, "तो बुरा क्या है रे ? इसके झाँसे में क्यों आता है ? घटने न दे, कितना आनन्द आ जायगा ! तू भूलता है, पागल ! इसे लीला में रस मिलता है न ? अच्छा ठीक बता, तू उस लड़की को क्या समझता है ?"

"मैं···मैं·· मैं···"

"धिक् मूर्ख, कुछ बता न ! जो बात तेरे मन में पहले आवे, वही कह जा।"

"वह पवित्रता की मूर्त्ति है, आर्य !"

"तू पशु नहीं है !"

मैं कुछ भी समझ न सका। इसी समय महामाया नामक भैरवी आयीं। बाबा ने उनसे कहा, "महामाया, यह पशु नहीं जान पड़ता; किन्तु वीर भी नहीं है। अमंगल से डरा हुआ है। इसे आज का प्रसाद देना। अमंगल से इसका चित्त विक्षिप्त हो रहा है।"

महामाया क्षण-भर ठिठककर खड़ी रही। फिर विनीत भाव से बोलीं, "अधिकारी है, आर्य ?"

बाबा फिर हँसे—"तुम भी अभी उसके जाल से नहीं निकलीं, महामाया ! कह तो दिया, पशु नहीं है। अधिकारी नहीं होगा, तो क्या कर लेगा ? तुम्हें बदनाम करता फिरेगा, यही न ? डरती हो। दुत् पगली, तू भी डरती है ?"

महामाया ने कहा, "जो आज्ञा, आर्य !"

बाबा ने कहा, "ठहरो महामाया, तुम्हें प्रत्यय दिला दूँ।"—यह कहकर उन्होंने मुझे पास बुलाया। न जाने क्या फिर देखने को मिले, यह सोचकर मैं डरता-डरता उनके पास गया। उन्होंने मेरा उत्तरीय हटा दिया और मेरु-दण्ड की धीरे-धीरे परीक्षा की। आधी पीठ तक आकर उन्होंने हाथ हटा लिया। बोले, "मैं ठीक कह रहा हूँ, महामाया ! यह देखो, इसकी कुण्डलिनी जाग्रत है।"

महामाया भैरवी ने भी हाथ से उस स्थान को छूकर देखा। आश्वस्त होकर बोलीं, "तो जैसी आज्ञा हो, बाबा !"

"इसे कुएँ के पास बैठा लेना !" फिर मेरी ओर देखकर बोले, "अमंगल दूर हो जायेगा, पर तू अमंगल को मंगल क्यों नहीं मान लेता ? आज पूर्णिमा लगते ही इन लोगों की गोपन साधना होगी। महामाया तुझे प्रसाद देंगी। उसे तू निष्ठा के साथ ग्रहण कर और देख बाबा, भटकता न फिर। इस ब्रह्माण्ड का प्रत्येक अणु देवता है। देवता ने जिस रूप में तुझे सबसे अधिक मोहित किया है, उसी की पूजा कर। आ, तुझे मन्त्र बता दूँ।" मैं बाबा के पास इस प्रकार खिंच गया, जैसे लोहा चुम्बक से खिंच जाता है। उन्होंने मुझे एक मन्त्र बताया और कहा, "जब तेरे चित्त में भय, लोभ और मोह का संचार हो, तो तू इसे ही जपा

कर।"

मैंने भक्तिपूर्वक बाबा की बात स्वीकार की। थोड़ी देर तक बाबा निश्चल-से बठे रहे। फिर किसी के पैरों की आहट सुनकर उन्होंने आँखें खोलीं। बोले, "कौन है?"

"विरतिवज्र हूँ, आर्य!"

"आओ।"

विरतिवज्र की अवस्था पच्चीस के नीचे ही जान पड़ती थी। उनका मुख-मण्डल स्वच्छ, मोहनीय और आकर्षक था। उन्होंने बौद्ध भिक्षुओं के समान चीवर धारण किया था; पर चीवर का रंग पीला न होकर लाल था। चाँदनी में वह रंग और भी खिल उठा था। उनका कण्ठ-स्वर भी कोमल और बालकोचित था। बाबा को भूमिष्ठ होकर प्रणाम करके वे एक स्थान पर शान्त-भाव से बैठ रहे। बाबा उसी प्रकार झीमते-से रहे। फिर थोड़ी देर बाद उन्होंने पूछा, "क्या निश्चय किया है, विरति?"

"कुछ समझ नहीं सका, आर्य! मेरे आदिगुरु अमोघवज्र ने मुझे ऐसा कुछ करने को नहीं कहा था। उन्होंने केवल नैरात्म्य की भावना में स्थिर रहने का उपदेश दिया था। एक बार मेरा चित्त जब बहुत उत्क्षिप्त हो गया था तब गुरु भी चिन्तित हुए। अपने मानसिक उत्क्षेप का कारण तो आपसे निवेदन कर ही चुका हूँ। एक दिन अचानक उन्होंने मुझे बुलाकर कहा, 'आयुष्मान्, मैं अब अधिक दिन नहीं रह सकूँगा। तू कौलाचार्य अघोर भैरव के पास जा। वे ही तेरी व्यवस्था कर देंगे।' उसी दिन से मैं आर्य की खोज में था। पर मैं अपने आदिगुरु की बात ठीक नहीं समझ सका कि क्यों उन्होंने मुझे आपके पास भेजा!"

"नैरात्म्य-भावना तुम्हारी समझ में आयी है?"

"नहीं, आर्य!"

"तुम्हारे ऊपर कोई विश्वास करे, तो उसे छोड़ सकने का साहस है तुममें?"

"नहीं, आर्य!"

"तुम और मैं का भेद भूलने में तुम्हें रस मिलता है?"

"हाँ, आर्य!"

"पुरुष और स्त्री का भेद तुम भूल सकते हो?"

"नहीं, आर्य!"

"बुद्ध और बद्ध का भेद तुम्हें अच्छा लगता है या बुरा?"

"अच्छा, आर्य!"

"साधु आयुष्मान्, तुम सत्यवादी हो। अमोघवज्र ने समझ-बूझकर ही तुम्हें मेरे पास भेजा है। तुम सौगत-तन्त्र के अधिकारी नहीं हो, तुम कौल-मार्ग में विचर सकते हो। पर आयुष्मान्, बिना शक्ति के साधना तो इस मार्ग में नहीं

चल सकती। इस बात का एक निश्चय तो तुम्हें करना ही पड़ेगा।"

"यही मैं नहीं समझ सकता, आर्य !"

"जब तक तुम पुरुष और स्त्री का भेद नहीं भूल जाते, तब तक तुम अधूरे हो, अपूर्ण हो, आसक्त हो। तुम और मैं का भेद तब तक तुमसे निरन्तर चिपटा रहेगा। अगर तुममें नैरात्म्य-भावना की प्रवृत्ति होती, तो शक्ति के बिना भी साधना चल सकती। तुममें वह प्रवृत्ति नहीं है। पर मैं अपनी ओर से यह साधना तुम्हारे सिर लादना नहीं चाहता। तुम्हारी रुचि हो तो स्वीकार करो। देखो, न तो प्रवृत्तियों को छिपाना उचित है, न उनसे डरना कर्त्तव्य है और न लज्जित होना युक्तियुक्त है। इतनी बात गाँठ बाँध लो, फिर गुरु के उपदेश पर चलते रहो। आज तुम चक्र में एकत्र बैठ सकते हो।"

विरतिवज्र ने साष्टांग प्रणति के साथ आदेश अंगीकार किया। उनके चेहरे से स्पष्ट ही लक्षित हो रहा था कि उनके भीतर अशान्ति है, वे उसे अपनी शक्ति-भर दबा रहे हैं। गुरु को प्रणाम करने के बाद वे मेरी ओर फिरे। अबकी बार चाँदनी ठीक उनके मुख पर पड़ी। अहा, कैसा कमनीय मुख है! क्षण-भर के लिए लाल चीवर से लिपटे विरतिवज्र को देखकर मेरे मन में धूर्जटि की नयनाग्नि-शिखा में वलयित मदन देवता का स्मरण हो आया। अस्थान में वैराग्य का उदय हुआ है। विद्युल्लता में चन्द्रमण्डल उलझ गया है। सान्ध्य-किरणों में पुण्डरीक पुष्प फँस गया है। उषःकालीन आकाश-मण्डल में शुक्र ग्रह स्थिर हो गया है। मदन-शोक से व्याकुल वसन्त ने वैराग्य ग्रहण किया है। अहा, ऐसा भी क्या सम्भव है? विरतिवज्र ने जिज्ञासा-भरी दृष्टि से मुझे देखा। उन्हें मेरा वेश इस समाज का विरोधी जान पड़ा और मुझे उनका रूप। बाबा ने ही मध्यस्थता की—"परदेशी ब्राह्मण हैं, विरति! साधना-गृह में आश्रय लिया था। महामाया इनसे अप्रसन्न हैं। अभी वे जाल से निकल नहीं सकी हैं। विकट है उस मायाविनी का जाल,दुरतिक्रम्य है उसका विधान। महामाया अभी उलझी हुई हैं। ये अमंगल से डरते हैं; मोह है अभी, शीघ्र ही कट जायेगा। जन्म-जन्मान्तर का संस्कार है, मिटते-मिटते वर्षों लग जायेंगे। पशु नहीं हैं, निकल चलेंगे। महामाया प्रसाद देंगी इन्हें। वे भी प्रसन्न होंगी, ये भी अभीत होंगे।" इतना कहने के बाद बाबा ने आकाश की ओर देखा। बोले, "समय हो आया है, विरति, सुधापात्र देना जरा!" विरति ने पात्र बढ़ा दिया। बाबा ने ऊपर मुँह करके पुकारा—"माया-विनी, मायाविनी।" और फिर गट-गट करके पी गये। थोड़ी देर तक एक अद्भुत मस्ती की दशा में झूमते रहे और फिर उठ खड़े हुए। हम दोनों भी उठ गये। विरति के साथ वे साधना-गृह में चले गये और मुझे थोड़ी देर बाद आने का आदेश दिया। चलते-चलते कहते गये—"किसी से न डरना, गुरु से भी नहीं, मन्त्र से भी नहीं, लोक से भी नहीं, वेद से भी नहीं। मन्त्र याद है न?"

"हाँ आर्य!"

"थोड़ी देर बाद बिना किसी के बुलाये निडर होकर आ जाना, भला!"

"हाँ आर्य !"

बाबा के चले जाने के बाद मैंने सोचने का अवसर पाया। यह कहाँ आ फँसा है। बाबा की बातों का मतलब क्या है? महामाया यदि स्वयं उलझी हुई हैं तो उनके प्रसाद को निष्ठापूर्वक क्यों ग्रहण करूँ? पर बाबा ने तो ऐसा ही आदेश दिया है। बाबा के प्रभाव से मैंने जो कुछ देखा, वह क्या सत्य है? भट्टिनी इस समय निरापद हैं न? निपुणिका की क्या अवस्था है? क्या मैं भट्टिनी की ही पूजा का अधिकारी हूँ? कैसा आश्चर्य है! इतनी सीधी बात मेरे मन में इतनी हलचल क्यों पैदा कर रही है? मुझे फिर एक बार ऐसा लगा कि चक्कर आ जायगा। बाबा का मन्त्र थोड़ी देर तक जपते रहने में ही कल्याण था। मैं निष्ठा-पूर्वक जपने लगा। एक मुहूर्त्त के बाद मुझे अकारण ऐसा प्रतीत हुआ कि बाबा बुला रहे हैं। मैं साधना-गृह की ओर अभिभूत की भाँति चल पड़ा। प्रांगण-गृह के द्वार पर से ही मैंने अत्यन्त शान्त और मृदु कण्ठ से यह श्लोक उच्चारित होते सुना :

> 'आदाय दक्षिणकरेण सुवर्णदर्वीन्-
> दुग्धान्नपूर्णमितरेण च रत्नपात्रम्।
> भिक्षान्नदाननिरतां नवहेमवर्णा-
> मम्बां भजे सकलभूषणभूषितांगीम्।

कण्ठ महामाया का था। मैंने अनुमान से समझा कि जब अन्नपूर्णा का ध्यान-मन्त्र पढ़ा जा रहा है, तो निश्चय ही कुछ भोजन का व्यापार चल रहा है। परन्तु भीतर जाने पर जो कुछ देखा, उसका भोजन से केवल दूर का ही सम्बन्ध था। एक चक्राकार मण्डल में पाँच व्यक्ति बैठे हुए थे। कौलाचार्य अघोरभैरव के पास महामाया भैरवी प्रायः सटकर बैठी थीं। साधक भैरवों की दूसरी जोड़ी भी ज़रा दूर हटकर उसी प्रकार बैठी हुई थी। विरतिवज्र अकेले ही एक सिरे पर पद्मासन बाँधे विराजमान थे। कुएँ के पास अपने निर्दिष्ट स्थान पर मैं बैठ गया। वहाँ से बाबा और महामाया बिल्कुल सामने पड़ते थे। सभी साधकों के पास एक-एक पान-पात्र था और सभी साधक लाल वस्त्र से ढँके हुए थे। किन्तु शरीर पर कोई वस्त्र नहीं था। पहले जो छोटा-सा चिथड़ा था, वह भी न जाने कब खिसक पड़ा था। केन्द्रस्थल में लाल कपड़े से ढका हुआ कारण (मदिरा) से भरा पात्र था और उसके ऊपर अष्टदल कमल के आकार का कोई पात्र रखा हुआ था। साधक लोग जप में व्यस्त थे। बाबा कुछ भी नहीं कर रहे थे। एक अद्‌भुत आत्म-विस्मृति की-सी अवस्था में दिखायी दे रहे थे। उनका सारा शरीर निर्वात-निष्कम्प दीपशिखा की भाँति स्थिर और प्रशान्त था। उनके मुख-मण्डल पर ज्योत्स्ना बरस रही थी। ऐसा जान पड़ता था कि समाधिस्थ शिव के उत्तमांग पर गंगा की धवल धारा सहस्र-धार होकर झर रही है। मैंने इस बार महामाया को अच्छी तरह देखा। उनका मुख-मण्डल कमल-कोरक के समान लम्बा-सा था। उस पर ललाटपट्ट अष्टमी के चन्द्र के समान आयत और स्वच्छ विराज रहा

था। ज्योत्स्ना के प्रतिफलन से उस मुख-मण्डल की स्निग्धता बढ़ गयी थी। प्रथम बार मैंने उन्हें ठीक नहीं समझा था। उनकी छितरायी और तनी भृकुटियों ने मेरे मन में अश्रद्धा का भाव ला दिया था। इस बार मैंने पार्वती-प्रतिमा के समान निश्चल गौर मुख-मण्डल को देखकर अपनी गलती समझी। अघोरभैरव के पार्श्वदेश में शान्त भाव से बैठी हुई महामाया भगवान शंकर की पार्श्ववर्त्तिनी उमा के समान शान्त-मनोरम दिख रही थीं। अनुष्ठान की विधियों के सम्पादन का भार उन्हीं पर था। बाबा शान्त निःस्पन्द बैठे थे। महामाया कारण-घट से पात्र पूर्ण कर रही थीं और अस्फुट ध्वनि में कुछ मन्त्र पढ़ती जा रही थीं। सभी साधकों के पात्र भरे गये। महामाया ने पहले बाबा अघोरभैरव के हाथ में पात्र दिया। देने के पूर्व उन्होंने कुछ मन्त्र पढ़े। सम्भवतः वह सुधादेवी का ध्यान-मन्त्र था। फिर कई बार दोनों हाथों के सहयोग से कुछ विशेष मुद्राओं से पात्र को मुद्रायित किया। फिर एक बार अपने चारों ओर चुटकी बजाकर न जाने कौन-सा अनुष्ठान किया। शायद वह दिग्बन्धन की विधि थी। बाबा ने ज्यों ही हाथ में पात्र लिया, त्यों ही साधकों ने भी अपने-अपने पात्र उठा लिये। अत्यन्त मृदु मन्द्र कण्ठ से विरतिवज्र ने प्रथम पात्र की वन्दना-स्तुति पढ़ी :

श्रीमद्भैरवशेखरप्रविचलच्चन्द्रामृताप्लावितम् ।
क्षेत्राधीश्वरयोगिनीगण-महासिद्धैः समासेवितम् ।
आनन्दार्णवकं महात्मकमिदं साक्षात्त्रिखण्डामृतम्
वन्दे श्री प्रथमं कराम्बुजगतं पात्रं विशुद्धिप्रदम् ।[1]

मन्त्र समाप्त होते ही बाबा ने महामाया के अधरोष्ठों से पात्र स्पर्श कराया और फिर धीरे-धीरे बिना किसी प्रकार का शब्द किये पी गये। साधकों ने भी वैसा ही किया। थोड़ी देर तक करवीर-पुष्पों के सौरभ और गुग्गुल-धूम के साथ मिलकर कारण-सौरभ ने मेरे मन और प्राण दोनों को व्याकुल कर दिया। साधकों में कोई भी विचलित नहीं हुआ। जप चलता रहा। अन्यान्य साधकों ने पान के समय दाहिने हाथ से कुछ विशेष प्रकार की मुद्राएँ धारण कीं; पर बाबा यथापूर्व रहे। उन्होंने न मन्त्र पढ़ा, न मुद्रा धारण की और न कोई अनुष्ठान ही किया। वे कैलास-शिखर पर समाधिस्थ भगवान् त्रिनयन के समान शान्तनिश्चल बैठे रहे। साधकों ने क्रमशः द्वितीय, तृतीय पात्रों का आवाहन किया। सात बार यों ही हुआ। पान-मुद्रा-जप, पान-मुद्रा-जप, पान-मुद्रा-जप ! दूसरे भैरव-युगल कुछ चंचल दिखायी दिये। महामाया और विरतिवज्र यथापूर्वक अनुष्ठान में लगे रहे। मेरा सिर भन्नाने लगा। इस बार बाबा ने आँखें खोलीं। उनके मानस में कोई चांचल्य नहीं था, सिर्फ एक बार ताककर उन्होंने फिर समाधि ली। भैरव-युगल कुछ अधिक चंचल हुए। बाबा अघोरभैरव ने प्रथम बार शान्त-स्फुट स्वर में आदेश दिया—"शान्ति-मन्त्र पाठ करो।" महामाया और विरतिवज्र ने बड़े

1. तु. 'कौलावलिनिर्णय', अष्टम उल्लास।

मनोहर कण्ठ से शान्ति-शाठ किया। मुझे सभी मन्त्र याद नहीं हैं; पर भाव उनके बड़े ही मनोरम थे। प्रत्येक मन्त्र के बाद विरतिवज्र अकेले ही एक श्लोक पढ़ते थे। बार-बार सुनने के कारण वह मुझे अब भी स्मरण है :

> शिवमस्तु सर्वजगतः परहितनिरता भवन्तु भूतगणाः।
> दोषाः प्रयान्तु शान्ति सर्वो लोकः सुखी भवतु।।
> सर्वो लोकः सुखी भवतु ।।[1]

भैरव-युगल प्रकृतिस्थ हुए। अनुष्ठान फिर आगे बढ़ा। ग्यारहवें पात्र की समाप्ति के बाद साधकों के हाथों में विशेष प्रकार की आकृतियाँ दिखायी देने लगीं। चन्द्रमा की ज्योत्स्ना हट चुकी थी। आँगन का कुट्टिम अन्धकार से, वायु-मण्डल मदिर-गन्ध से और नभोमण्डल गुग्गुल-धूम से परिपूर्ण था। मेरा मस्तिष्क यह सब सहने का एकदम अभ्यस्त नहीं था। मुझे ऐसा लगा कि आकाश से विकटाकार भूत-वैताल उतर रहे हैं और घट के चारों ओर खड़े हो रहे हैं। साधकों की चक्राकार मण्डली कुछ छाया-चित्रों-सी दिखने लगी। रह-रहकर उन छाया-चित्रों में विक्षोभ और आन्दोलन होते रहे। मैं अपने को अधिक नहीं सँभाल सका। सिर घूम गया और मैं निःसंज्ञ होकर कब लुढ़क गया, इसका मुझे कुछ भी पता नहीं चला।

थोड़ी देर बाद मेरी चेतना लौट आयी। मुझे मस्तक की ओर से कुछ शीतलता का अनुभव हुआ। यद्यपि मेरी आँखें उस समय भी बन्द थीं, तो भी मैंने प्रत्यक्ष देखा कि नभोमण्डल के मध्य-भाग से आनन्दभैरव उतर रहे हैं। उनके शरीर में कोटि-कोटि सूर्यों की प्रभा है और फिर भी वे कोटि-कोटि चन्द्रमा से अधिक शीतल लग रहे हैं। अमृत-समुद्र में उद्भूत ब्रह्मा के कमल पर से उठकर वे सुधा-धवल वृषभ पर आरूढ़ हुए। उनके कण्ठ की नीलिमा इस समस्त श्वेत पृष्ठभूमि में ऐसी लग रही थी, मानो कर्पूरगिरि पर नीलमणि का छोटा अंकुर निकल आया हो। वे अपने अठारह हाथों में घण्टा, डमरू, पाश, अंकुश, खट्वा आदि विविध शस्त्रों को और एक हाथ में अभय मुद्रा को धारण किये हुए थे। आनन्दभैरव के साथ ही आनन्दभैरवी सुरादेवी का पदार्पण हुआ। आनन्दभैरव के समान इनके भी पाँच मुख, तीन नेत्र और अठारह भुजाएँ थीं। उनका रंग हिम, कुन्द और चन्द्र की भाँति धवल था। आँखें चंचल खंजरीट की भाँति लीला-परायण थीं। प्रवाल के समान आरक्त ओष्ठपुटों में मन्द-मन्द स्मित सदा विराजमान था। वे आनन्द की मूर्त्ति, मस्ती की प्रभव-भूमि, सौन्दर्य का विश्रान्ति-स्थल, आभा का आवास-गृह और यौवन का मूर्त्त विग्रह दिखायी दे रही थीं। आनन्दभैरव के इशारे पर उन्होंने मेरा मस्तक स्पर्श किया। मुझे ऐसा लगा, मानो अमृत-तूलिका से किसी ने मेरे सारे शरीर को विलिप्त कर दिया हो। आनन्दभैरवी ने मेरा सिर धीरे-धीरे अपने उत्संग में ले लिया। मेरी सारी जड़िमा

1. नागानन्द का अन्तिम श्लोक भी प्रायः ज्यों-का-त्यों ऐसा ही है।

क्षण-भर में विलुप्त हो गयी। आनन्दभैरवी ने मन्द स्मितपूर्वक मेरे नयनों और कपोल-प्रान्तों को अपने अमृतार्द्र हाथों से पोंछ दिया। मेरी आँखें खुल गयीं। तब भी मेरा मस्तक भैरवी की गोद में था। मैंने अभिभूत की भाँति कहा, "अपराध क्षमा हो, अम्ब! आज मैं कृतार्थ हूँ।" भैरवी के मुख पर आनन्द की धारा बह गयी। उन्होंने फिर एक बार भैरव और सुरादेवी का ध्यान-मन्त्र पढ़ा। अब मैंने समझा कि मेरा मस्तक महामाया की गोद में है। उनका कण्ठ-स्वर स्पष्ट, मधुर और करुण था। उनकी आँखों में मातृ-स्नेह छलक रहा था। उनके मुख-मण्डल से एक प्रकार की स्निग्ध प्रभा निकल रही थी। वे कुछ परिवर्तित हो गयी थीं। मैंने कृतज्ञ भाव से कहा, "मातः, आज मैं कृतार्थ हुआ। अत्यन्त बाल्य वयस में मैंने अपनी माता खो दी थी। पिता का मुख भी मैं बहुत दिनों तक नहीं देख सका। मातृ-पितृहीन अभागा बाणभट्ट वात्स्यायन-वंश का कलंक ही सिद्ध हुआ है। आज मेरा जन्म सफल है, जो मैं आनन्दभैरवी का अमृतायमान स्नेहस्पर्श पा रहा हूँ। मातः, मेरा अपराध क्षमा हो, अमंगल अपगत हो, कल्याण प्राप्त हो।" भैरवी ने स्नेहपूर्वक कहा, "कल्याण हो, वत्स! महामाया का प्रसाद ग्रहण करो।" इस बार मैंने अच्छी तरह से आँखें खोलीं। महामाया ही तो हैं। धारासार वर्षा के बाद शिथिल-वृन्त अशोक-पुष्प के समान उनके नयन रक्त होने पर भी आर्द्र थे, शेफालिका-कुसुमनाल के समान उनका नासावंश पिंगल होकर भी मनोरम था, विद्युत्-शिखा-संवलित मेघ-मण्डल से आच्छादित चन्द्र-मण्डल की भाँति उनका कपिशवर्ण मुखमण्डल अस्त-व्यस्त चिकुर राशि से आच्छन्न होकर भी अभिराम था। आँधी-पानी मे उद्धूत फूले हुए कोविदार-वृक्षों के समान उनका परिधेय वस्त्र श्लथ-कुंचित होकर भी सुन्दर था और कारण-घट पर स्थापित जपा-पुष्प के समान उनका सिन्दूर-तिलक छिन्न-भिन्न होकर भी पवित्र था। उनकी आज्ञा से मैं उठ बैठा। बड़े स्नेह और आदर के साथ उन्होंने प्रसाद दिया। प्रसाद में मधु, अदरख, भुना हुआ कन्द तथा अपराजिता-पुष्प के कुछ दल थे। मैंने भक्तिपूर्वक उस प्रसाद को ग्रहण किया। महामाया भैरवी मेरी ओर उत्सुकताभरी दृष्टि से देखती रहीं। मैंने अपने चारों ओर एक बार ध्यान से देखा। महामाया के अतिरिक्त वहाँ और कोई नहीं था, यहाँ तक कि कारण-पात्र और करवीर-पुष्प का एक छोटा दल भी वहाँ नहीं था। मैंने विनीत भाव से पूछा, "मातः, आर्य अघोरभैरव कहाँ गये? और वे दोनों साधक कहाँ चले गये?"

महामाया ने संक्षेप में उत्तर दिया—"सब लोग अपने-अपने आश्रमों में चले गये। मैं भी जाऊँगी। बाबा की आज्ञा थी कि तुम्हें प्रसाद दे लूँ, इसीलिए अब तक रुकी हुई थी।"

"वे लोग अब इधर नहीं आयेंगे क्या?"

"वैशाख की अमावस्या से पहले नहीं।"

"बाबा भी नहीं?"

"बाबा सिद्ध अवधूत हैं, उनका कुछ ठीक-ठिकाना नहीं है। आ भी सकते

हैं, नहीं भी आ सकते हैं। उनका पाना तुम्हारे परम पुण्यों का परिणाम है।"

"एक बात पूछूँ, माता ?"

"पूछो।"

"बाबा ने कल मुझसे जो कुछ कहा, उसका क्या अभिप्राय है ?"

"बाबा से अधिक मैं क्या बता सकती हूँ।"

"प्रवृत्तियों की पूजा करने का क्या तात्पर्य हो सकता है ?"

"बाबा ने क्या कहा है ?"

"बाबा ने कहा है कि प्रवृत्तियों से डरना भी ग़लत है, उन्हें छिपाना भी ठीक नहीं और उनसे लज्जित होना बालिशता है। फिर उन्होंने कहा है कि त्रिभुवन-मोहिनी ने जिस रूप में तुझे मोह लिया है, उसी रूप की पूजा कर, वही तेरा देवता है। फिर विरतिवज्र से उन्होंने कहा— इस मार्ग में शक्ति के बिना साधना नहीं चल सकती। ऐसी बहुत-सी बातें उन्होंने बतायीं जो अश्रुतपूर्व थीं। क्यों अम्ब, शक्ति क्या स्त्री को कहते हैं ? और स्त्री में क्या सचमुच त्रिभुवन-मोहिनी का वास होता है ?"

"देख बाबा, तू व्यर्थ की बहस करने जा रहा है। बाबा ने जो कुछ कहा है वह पुरुष का सत्य है। स्त्री का सत्य ठीक वैसा ही नहीं है।"

"उसका विरोधी है, मातः ?"

"पूरक है रे ! पूरक अविरोधी हुआ करता है !"

"मैं समझ नहीं सका।"

"समझ जायगा, तेरे गुरु प्रसन्न हैं, तेरी कुण्डलिनी जाग्रत है, तुझे कौल-अवधूत का प्रसाद प्राप्त है, उतावला न हो। इतना याद रख कि पुरुष वस्तु-विच्छिन्न भावरूप सत्य में आनन्द का साक्षात्कार करता है, स्त्री वस्तु-परिगृहीत रूप में रस पाती है। पुरुष निःसंग है, स्त्री आसक्त; पुरुष निर्द्वन्द्व है, स्त्री द्वन्द्वोन्मुखी; पुरुष मुक्त है, स्त्री बद्ध। पुरुष स्त्री को शक्ति समझकर ही पूर्ण हो सकता है; पर स्त्री, स्त्री को शक्ति समझकर अधूरी रह जाती है।"

"तो स्त्री की पूर्णता के लिए पुरुष को शक्तिमान मानने की आवश्यकता है न, अम्ब ?"

"ना। उससे स्त्री अपना कोई उपकार नहीं कर सकती, पुरुष का अपकार कर सकती है। स्त्री प्रकृति हैं। वत्स, उसकी सफलता पुरुष को बाँधने में है, किन्तु सार्थकता पुरुष की मुक्ति में है।" मैं कुछ भी नहीं समझ सका। केवल आँखें फाड़-फाड़कर महामाया की ओर देखता रहा। वे समझ गयीं कि मैंने कहीं मूल में ही प्रमाद किया है। बोलीं, "नहीं समझ सका न ? मूल में ही प्रमाद कर रहा है, भोले ! तू क्या अपने को पुरुष समझ रहा है और मुझे स्त्री ? यही प्रमाद है। मुझमें पुरुष की अपेक्षा प्रकृति की अभिव्यक्ति की मात्रा अधिक है, इसलिए मैं स्त्री हूँ। तुझमें प्रकृति की अपेक्षा पुरुष की अभिव्यक्ति अधिक है, इसलिए तू पुरुष है। यह लोक की प्रज्ञप्तिप्रज्ञा है, वास्तव सत्य नहीं। ऐसी स्त्री प्रकृति

नहीं है, प्रकृति का अपेक्षाकृत निकटस्थ प्रतिनिधि है और ऐसा पुरुष प्रकृति का दूरस्थ प्रतिनिधि है। यद्यपि तुझमें तेरे ही भीतर के प्रकृति-तत्त्व की अपेक्षा पुरुष तत्त्व अधिक है; पर वह पुरुष-तत्त्व मेरे भीतर के पुरुष-तत्त्व की अपेक्षा अधिक नहीं है। मैं तुझसे अधिक निःसंग, अधिक निर्द्वन्द्व और अधिक मुक्त हूँ। मैं अपने भीतर की अधिक मात्रावाली प्रकृति को अपने ही भीतरवाले पुरुष-तत्त्व से अभिभूत नहीं कर सकती। इसलिए मुझे अघोरभैरव की आवश्यकता है। जो कोई भी 'पुरुष' प्रज्ञप्तिवाला मनुष्य मेरे विकास का साधन नहीं हो सकता।"

"और अघोरभैरव को आपकी क्या आवश्यकता है?"

"मुझे मेरी ही अन्तःस्थिता प्रकृति रूप में सार्थकता देना। वे गुरु हैं, वे महान् हैं, वे मुक्त हैं, वे सिद्ध हैं। उनकी बात अलग है।"

"किन्तु यह कारण-द्रव्य इस तत्त्व में क्या सहायता पहुँचाता है?"

"तू नहीं समझ सकेगा। मदिरा प्रकृति की सुव्यक्ति का कारण है। वह उसे छिपी नहीं रहने देती। यह गोपन रहस्य है!"

"होगा।" मैंने मन-ही-मन महामाया भैरवी की अपूर्व चिन्तन-शक्ति पर आश्चर्य किया। वे थोड़ी देर तक खड़ी रहीं, जैसे कुछ याद कर रही हों। उनके रक्तिम नयन-कोरकों में अश्रुकण दिखायी दिये। वे कुछ व्याकुल-सी लगीं। फिर बोलीं, "जा, जहाँ जाना था, वहाँ जा। मुझे दूर जाना है।" और फिर बिना प्रतीक्षा किये चलने को प्रस्तुत हो गयीं। मैंने हड़बड़ाकर प्रणाम किया और आग्रहपूर्वक पूछा, "मातः, ये विरतिवज्र कौन हैं?"

"उनका आश्रम कहीं हिमालय के पाददेश में है। वे सौगत अवधूत अमोघवज्र के शिष्य हैं; पर सौगत-तन्त्र में अनधिकारी समझकर गुरु ने उन्हें हमारे सम्प्रदाय में भेज दिया है।"

"अनधिकारी क्यों हैं, मातः?"

"त्रिभुवनमोहिनी की माया है। वे शक्ति-हीन हैं। उनकी शक्ति उनकी प्रतीक्षा कर रही है। वाराणसी के जनपद में उनका जन्म है, उनकी वह शक्ति भी वहीं कहीं होगी।"

महामाया भैरवी की बात सुनते ही मुझे वाराणसी-जनपद की वह वृद्धा याद आ गयी। विरतिवज्र का मुख उससे मिलता-जुलता था। अहा, यही क्या उस बुढ़िया का लाल था? फिर क्या इस साधक से साक्षात्कार नहीं होगा? मैं चिन्तामग्न थोड़ी देर तक खड़ा रहा। महामाया तब तक दूर निकल गयी थीं। मैं भी तेजी से बाहर निकल आया। उस समय आकाश वृद्ध कपोत के पक्ष के समान धूम्र हो गया था। चन्द्रमा कटी हुई पतंग की भाँति अस्तशिखर पर ढल चुका था। तरुण अरुण की पीताभ रश्मियाँ स्वर्ण-शलाका की बनी झाड़ू के समान पूर्व-गगन के नक्षत्रों को झाड़ रही थीं। महारुद्र के पिनाक की भाँति धनुराशि आकाश के पश्चिम-मण्डलार्द्ध में प्रत्यंचित हो चुकी थी और क्षीणभूयिष्ठा रजनी संन्यास लेने के लिए एक-एक करके अपने नक्षत्रालंकारों को खोल रही थीं।

चण्डी-मण्डप तुहिनसिक्त हो गया था और सामने के मैदान की दूर्वावलियाँ अलसशिथिल भाव से पड़ी दिख रही थीं। मैं नदी-तट की ओर चल पड़ा।

सप्तम उच्छ्वास

नदी-तट पर पहुँचा, तो सवेरा हो चुका था। मैंने बिल्कुल ही नहीं सोचा था कि मेरे आने में विलम्ब होने से भट्टिनी और निपुणिका इतनी चिन्तित हो जायेंगी कि उन्हें रात-भर नींद ही न आयेगी। भट्टिनी की जागर-खिन्न आँखें आषाढ़ की प्रथम वृष्टि के वाष्प से परिग्लान बन्धुजीव-कुसुम के समान दयनीय दिखायी देती थीं। उन आँखों को देखकर मेरा हृदय अज्ञात आनन्द से भर गया। अभागे बाण की इतनी चिन्ता भी किसी को हो सकती है, यह बात मेरी बिल्कुल जानी हुई नहीं थी। मैं अपने हर्ष का कारण ठीक-ठीक समझ रहा हूँ, ऐसा ही मेरा विश्वास है; परन्तु मैं इस समय बिल्कुल ही नहीं समझ पाया कि भट्टिनी की खिन्न-मनोहर आँखें मुझे देखकर क्यों अश्रु से भर गयीं। उन्होंने कातरता के साथ मुझे देखा और बिना कुछ कहे ही भीतर चली गयीं। नौका बड़ी थी। कुमार कृष्णवर्द्धन ने उसमें सभी आवश्यक सामग्री रखवा दी थी। नागरिक वेश में कुछ सैनिक भी साथ में एक अलग नौका पर थे। मैं भट्टिनी की अप्रसन्नता का कारण नहीं समझ सका। केवल अपराधी की भाँति सिर नीचा किये खड़ा रहा। निपुणिका मुझे थोड़ी देर तक इसी अवस्था में देखती रही। उसे शायद मेरा उस प्रकार दु:खी होना अच्छा लग रहा था। मेरे मन में एक ही साथ सैकड़ों प्रकार की चिन्ताएँ टकराने लगीं। मैंने सारा जीवन ही तो अनुत्तरदायी ढंग पर समय काट-कर बिताया है। कितनी रात्रियाँ और कितने दिन न जाने कहाँ-कहाँ बिताये हैं; पर अपराधी तो आज ही बनना पड़ा है। मैंने स्वेच्छा से यह कैसा बन्धन अपने लिए तैयार कर लिया है। कल तक मैं स्वतन्त्र था, आज पराधीन हूँ। मेरी रात अपनी नहीं है, मेरे दिन अपने नहीं हैं, मेरी गति अपनी नहीं है, मेरा मन अपना नहीं है। क्यों ऐसा हुआ? आजीवन फक्कड़ की जिन्दगी बितानेवाला बाणभट्ट आज अपने को इतना पराधीन क्यों समझ रहा है? कौन कहता है कि तुम नौकरी कर रहे हो, तुम्हें नौकरों की भाँति रहना होगा? कोई तो नहीं कहता है। यह पराधीनता तो तुमने स्वयं मोल ली है। मुझे सबसे अधिक आश्चर्य इस बात पर हुआ कि एक बार भी मेरे मन ने विद्रोह नहीं किया। एक बार भी उसने नहीं कहा कि यह मुझसे नहीं होगा। उलटे वह यही समझने में उल्लसित

होता रहा कि वह अपराधी है, भयंकर दोषी है, उसे दण्ड मिलना चाहिए। अपराध क्या है, पता नहीं; पर अपराधी होने में मानो एक पुरस्कार मिल रहा है। निपुणिका ने मेरी चिन्ता के स्रोत को अधिक नहीं बहने दिया, बोली, "तुम्हें इस तरह भट्टिनी को नहीं छोड़ देना चाहिए, भट्ट!" अब मैं थोड़ा-थोड़ा उस अपराध का रूप समझ सका। पर मैंने तो भट्टिनी के कल्याण के लिए ही उन्हें छोड़ा था। मैंने रात की सारी बातें संक्षेप में निपुणिका को सुना दीं। सुनकर निपुणिका को न आश्चर्य हुआ और न खेद। उसने एक दीर्घ निःश्वास लिया और थोड़ी देर तक पैर की अंगुलियों से नाव के पट्टे को कुरेदती-सी सोचती रही। थोड़ी देर बाद जब उसने आँखें उठायीं, तो उनमें एक अद्‌भुत अवसाद का भाव देखकर मैं चिन्तित हो उठा। मैंने शिथिल भाव से कहा, "निउनिया, तू भी उदास हो गयी!"

निपुणिका सम्हल गयी। उसने अपने मुख पर प्रसन्नता का भाव ले आने का प्रयत्न किया; पर उस प्रयत्न में जो एक प्रकार का मानसिक क्लेश वह अनुभव कर रही थी, वह मुझसे छिपा भी नहीं और उसने छिपाने का यत्न भी नहीं किया। मैंने आग्रहपूर्वक पूछा, "निउनिया, तू क्यों उदास हो रही है?" निपुणिका ने सहज भाव से ही उत्तर दिया, "कुछ नहीं भट्ट, मैं सोच रही थी कि महामाया ने जो कुछ कहा है वह कितना गम्भीर सत्य है! पुरुष का सत्य और है, नारी का सत्य और। मैंने नारी का शरीर पाया है, पर न उसे सफल बना सकी, न सार्थक। क्यों भट्ट, महामाया ने क्या यह भी कुछ बताया है कि नारी-जन्म को सार्थक बनाने का क्या उपाय है?" मैंने चिन्तित होकर कहा, "मुझे महामाया ने कुछ विशेष पूछने का अवसर नहीं दिया। पर अवधूत की बात को यदि तुम्हारे प्रश्न के लिए प्रमाण माना जाय, तो मेरा अनुमान है कि उसका उत्तर यह होगा कि प्रवृत्तियों को दबाना भी नहीं चाहिए और उनसे दबना भी नहीं चाहिए। प्रत्येक व्यक्ति का देवता अलग होता है। देवता का परिचय शायद प्रवृत्तियाँ ही कराती हैं। हम बहुत बार अपने देवता को मन-ही-मन भी पूजते तो रहते हैं, पर हमें पता नहीं होता। मैं सच कहता हूँ, निउनिया, मैं इन बातों को समझ नहीं सका हूँ; परन्तु मन के किसी कोने से बार-बार प्रतिध्वनि हो रही है कि इस बात में सचाई है।" निपुणिका ने बात ध्यान से सुनी। लगता था कि उसके प्रत्येक अक्षर को वह समझ लेना चाहती है। उसने फिर एक दीर्घ निःश्वास लिया। बोली, "भट्ट, जल्दी स्नान कर लो, आचार्यदेव तुम्हें कुमार के पास जाने को कह गये हैं। वह कल सन्ध्या को आये थे।" यह कहकर वह भट्टिनी के पास चली गयी। उसने विशेष कुछ कहा भी नहीं और पूछने का अवसर भी नहीं दिया। मेरे मन में आचार्यदेव और भट्टिनी के बीच क्या बातें हुई यह जानने की उत्सुकता थी; पर उपयुक्त अवसर के लिए उसे छोड़ देना ही अच्छा जान पड़ा।

मैं स्नानादि से निवृत्त होकर कुमार कृष्णवर्द्धन के महल की ओर जाने को प्रस्तुत हो गया। नौका से नीचे उतरा ही था कि आहट पाकर पीछे की ओर

मुड़ा। देखा, भट्टिनी खड़ी हैं। उनका मुखमण्डल मेघमुक्त शरच्चन्द्र के समान प्रसन्न-मनोहर जान पड़ता था। उन्होंने तत्काल ही स्नान कर कुसुम्भ-वस्त्र धारण किया था। प्रत्यग्र स्नान ने उनकी कुंकुम-गौर कान्ति को निखार दिया था। उनका रुचिर अंशुकान्त (आँचल) मन्द-मन्द वायु के आश्लेष से चंचल हो रहा था। वे काठ की नौका में से सद्यः-समुपजात चल-किसलयवती मधुमालती-लता के समान फुल्ल कमनीय दिख रही थीं। उनकी खुली हुई कबरी के छितराये हुए सुवर्णाभ केश, कुसुम्भ की आभा से ऐसे मनोहर दिखायी दे रहे थे कि उन्हें देखकर सौवर्ण-शिरीष के सुकुमार तन्तुओं के पराग-पिंजर जाल का ध्यान हो आता था। वे आनन्द से प्रदीप्त दिखायी दे रही थीं। भट्टिनी को प्रसन्न देखकर मेरा चित्त आनन्द-गद्गद हो गया। मैं बिना कुछ बोले ही उनकी आज्ञा की प्रतीक्षा में खड़ा हो गया। उन्होंने धीरे-धीरे कहा, "जल्दी ही लौटना, भट्ट!" मैंने सिर झुकाकर कातर-भाव से कहा, "शीघ्र ही लौटूँगा।" परन्तु मेरी वाणी का वाच्यार्थ जो-कुछ भी क्यों न रहा हो, मेरा हृदय जानता है कि उसका असली अर्थ क्या था। उसका वास्तविक अर्थ यह था कि 'देवि, अपराध क्षमा हो, भविष्य में ऐसी ग़लती फिर न होगी।' मैं मानो अपने वाक्य की व्यंजना समझकर ही लज्जित हो रहा। भट्टिनी ने स्नेह-मेदुर स्वर में कहा, "हाँ।" फिर लौट गयीं। मैं नगर की ओर बढ़ गया।

आज फाल्गुन की पूर्णिमा थी। आज कान्यकुब्जों के प्रमत्त मदनोत्सव का दिन था। मैं भूल ही गया था कि आज नगर में धँसना कितने साहस का काम है। सारा नगर पुरवासियों की करतल-ध्वनि, मधुर संगीत और मृदंग के घोष से गूँज उठा था। मधुमत्त नगर-विलासिनियों के सामने जो भी पुरुष पड़ जाता था, उस पर शृंगक (पिचकारी) के रंगीन जल की बौछार हो जाती थी। बड़े-बड़े चौराहे मर्दल के गम्भीर घोष से और चर्चरी-ध्वनि से शब्दायमान हो रहे थे। ढेर-का-ढेर सुगन्धित अबीर दसों दिशाओं में ऐसा उड़ा था कि दिशाएँ रंगीन हो उठी थीं और नगरी के राजपथ केसर-मिश्रित पिष्टातक (अबीर) से इस प्रकार भर गये थे, जैसे उन पर ऊषा की छाया पड़ी हुई हो। पौरजनों के शरीर पर शोभमान अलंकार और सिर पर धारण किये हुए अशोक के लाल फूल इस लाल-पीले सौन्दर्य को और भी बढ़ा रहे थे। ऐसा जान पड़ता था, नगरी के सभी लोग सुनहरे रंग में डुबो दिये गये हैं। समृद्धिशाली भवनों के सामनेवाले आँगन में धारायन्त्रों (फव्वारों) से पानी उत्क्षिप्त हो रहा था और उसमें अपनी-अपनी पिचकारी भरने की होड़-सी मची हुई थी। इन स्थानों पर पौरविलासिनियों के निरन्तर आते रहने से उनके सीमन्त के सिन्दूर और कपोल के अबीर झरते रहते थे और सारे कुट्टिम (फ़र्श) लाल पिष्टातक-पंक से भरकर सिन्दूरमय हो उठे थे।[1] इस प्रमत्त रंगवर्षा से बचने के लिए मैंने अनेक कौशल किये, रास्ता छोड़कर सँकरी गलियों में धँस गया और उल्टा-सीधा चक्कर काटता हुआ राजमार्ग से

1. तु. 'रत्नावली', प्रथम अंक

कुछ दूर चला गया। यहाँ का उत्सव जितना ही मादक था, उतना ही मनोहर। स्थान-स्थान पर पण्य-विलासिनियों का नृत्य हो रहा था। मन्द-मन्द भाव से आस्फाल्यमान आलिंग्यक नामक वाद्य से, मधुर शिंजनकारी मंजुल वेणु-नाद से, झनझनाती हुई झल्लरी की ध्वनि से, कलकांस्य और कोशी (काँसे का दण्ड और जोड़ी) के मनोरम क्वणन से, साथ-साथ दिये जानेवाले उत्ताल ताल से, निरन्तर ताड़न पाते हुए तन्त्रीपटह की गुंजार से और मृदु-मन्द झंकार के झंकृत अलावुवीणा की मनोरम ध्वनि से वे नृत्य जितने ही आकर्षक थे, उतने ही अश्लील रासक पदों के रुग्ण शृंगार के कारण विकर्षक जान पड़ते थे। विटों के कर्ण-कुहर में मानो ये अश्लील पद अमृत-संचार कर रहे थे। कैसा आश्चर्य है, एक ही वस्तु भिन्न-भिन्न श्रोताओं को कितने विपरीत ढंग से प्रभावित कर रही थी। सौन्दर्य को भी विधाता ने कहाँ ला पटका है। इन युवतियों के कर्णों में नव-कर्णिकार के पुष्प झूल रहे थे, चल-नील अलकों में अशोक-स्तवक विराजमान थे और कपोल-पालि पर वेपथु-विहीन अंगुलियों की अंकित सुडौल मंजरियाँ झलक रही थीं। ललाट के कुंकुम की गौर कान्ति से वलयित वे काश्मीर-किशोरियों-सी दिख रही थीं। नृत्य के नाना करणों में जब वे अपनी बाहुलता का आकाश में उत्क्षेप करती थीं, तो ऐसा लगता था कि उनके समुत्सुक वलय उछलकर सूर्य-मण्डल को बन्दी बना लेंगे। उनकी कनक-मेखला की किंकिणियों से उछली हुई कुरण्टक-माला उनके मध्यदेश को घेरती हुई ऐसी शोभित हो रही थी, मानो रागाग्नि ही प्रदीप्त होकर उन्हें वलयित किये है। उनके मुखमण्डल से अबीर और सिन्दूर की छटा विच्छुरित हो रही थी और उस लाल-लाल कान्ति से अरुणायित कुण्डल-पत्र इस प्रकार शोभ रहे थे, मानो मदन चन्दनद्रुम की सुकुमार लताओं के विलुलित किसलय हों। उनके नीले, वासन्ती चित्रक और कौसुम्भ-वस्त्रों के उत्तरीय जब नृत्यवेग के घूर्णन से तरंगायित हो उठते थे, तो वे शृंगार-रस की चटुल वीचियों के समान उल्लसित हो उठती थीं। घनपटह-ध्वनि की पृष्ठभूमि में सात्त्विक अभिनय से जब वे रोमांचित हो उठती थीं, तब सहृदय के चित्त में दुर्दिन के गर्जन-मुखर मेघों की छाया में कुसुम-धूलि की उद्गिरण करनेवाली केतकी लता का स्मरण हो आता था। वे मद को भी मदमत्त बना रही थीं, राग को भी रँग रही थीं, आनन्द को भी आनन्दित कर रही थीं, नृत्य को भी नचा रही थीं और उत्सव को भी उत्सुक कर रही थीं।[1] उनमें नारी-सुलभ सुकुमार भावना का लोप हो चुका था। वे उजड़े हुए देव-मन्दिर की भाँति, रास्ते में फेंकी हुई प्रतिमा की भाँति, कीचड़ में धँसी हुई मालती-माला की भाँति अपनी प्रतिष्ठा खो चुकी थीं, अपना सम्मान भूल चुकी थीं और अपनी शुचिता म्लान कर चुकी थीं। मैं नारी-सौन्दर्य को संसार की सबसे अधिक प्रभावोत्पादिनी शक्ति मानता रहा हूँ; परन्तु यह क्या देख रहा हूँ ? महामाया ने कहा था : नारी की सफलता

1, तु. 'हर्षचरित', चतुर्थ उच्छ्वास।

पुरुष को बाँधने में है, सार्थकता उसे मुक्ति देने में। यह सफलता है या सार्थकता ? मेरे मन में रह-रहकर यही ध्वनि निकलती रही कि नारी-सौन्दर्य यहाँ बन्ध्य है, निष्फल है, ऊषर है। क्यों ऐसा हुआ ? इस महान् शक्तिशाली तत्त्व से बड़ी भी कोई शक्ति है क्या, जिसने इसे इस तरह हीनदर्प बना दिया है ? अवश्य होगी। मेरा अनुमान है, वह शक्ति सम्पत्ति ही हो सकती है।

मैं नाना गलियों में भटकता हुआ छोटे राजकुल के सामने आ उपस्थित हुआ। द्वार पर नाग नहीं था, मेरा हृदय धक्-से धड़क गया। क्या उस रात्रि की असावधानी के अपराध में नाग को बन्दी बना लिया गया है ? या वह शूली-विद्ध हो गया ? छोटे राजकुल में उत्सव का कोई समारोह नहीं दिखायी दिया। एक मृत्यु का सन्नाटा समस्त वायुमण्डल को अभिभूत कर रहा था। इस समय मुझे वह शुक्ल-केश वृद्ध वाभ्रव्य याद आया। बेचारे की न जाने क्या गति हुई होगी। भट्टिनी के निकल जाने में उसे जरूर सहायक माना गया होगा। छोटे महाराज ने उस वृद्ध की खाल खिंचवा ली होगी। मेरा चित्त ग्लानि और दुःख से अभिभूत हो गया। मुझमें अगर पक्षी बनने की शक्ति होती, तो निश्चय ही उड़कर अन्तःपुर में धँस जाता और वहाँ की बातें जान आता। राजपथ के एक स्थान पर, जहाँ राजकुल का विशाल उद्यान समाप्त होता था, मैं ठिठककर खड़ा हो गया। वहाँ एक विशाल वकुल वृक्ष था, जो अपने मद्यगन्धी सौरभ से मस्तिष्क को व्याकुल बना रहा था। मुझे ऐसा लगा कि राजकुल का भीतरी समाचार जाने बिना आगे बढ़ना पाप है; पर समाचार पाना असम्भव था। मैं थोड़ी देर तक खड़ा रहा। चित्त ग्लान, लज्जित और खिन्न था। इसी समय अत्यन्त मृदु और स्पष्ट ध्वनि में एक सारिका कुछ बोलती हुई सुनायी दी। मुझे उसके उलझे हुए अक्षरोंवाले वाक्य को समझने में क्षण-भर का भी विलम्ब नहीं हुआ। वह बहुत मीठे सुर में बोल रही थी—"स मे स्वयंभूर्भगवान् प्रसीदतु।" मेरे हृदय में विद्युत् की धारा-सी बह गयी। एक नवीन शक्ति ने समस्त शिराओं को उत्तेजित कर दिया। मैं अपने-आपसे ही बोल उठा—"निश्चय ही यह भट्टिनी की सारिका है।" मैंने इधर-उधर ताका और अपनी मूर्खता पर पछताकर रह गया। कोई सुनता, तो न जाने क्या कहता। सारिका ने थोड़ी देर चुप रहने के बाद फिर सुनाया—"जा अभागी, भाग जा इस पाप अन्तःपुर से। तेरी भट्टिनी भाग गयी, मैं मरने जा रहा हूँ!" हाय, ये तो वाभ्रव्य के वाक्य जान पड़ते हैं। मुखरा सारिका ने अपनी मुक्ति का घोषणा-पत्र कण्ठस्थ कर लिया है। मैं चुपचाप साँस रोककर खड़ा हो गया। जाने अब क्या सुनने को मिले। सारिका एक क्षण चुप रहकर फिर सुरीली आवाज में गाने लगी—"स मे स्वयंभूर्भगवान् प्रसीदतु" और फिर उड़कर राजकुल के वृक्षसंकुल उद्यान में अन्तर्धान हो गयी[1]। मेरा चित्त उद्वेग से व्याकुल हो गया। साहित्यशास्त्र में पढ़ा था कि शुक-सारिका और शिशु के मुख से अन्तःपुर की

1. (रत्नावली), द्वितीय अंक की घपना से तुलनीय।

कहानी सुनना भाग्यवानों को ही प्राप्त होता है।[1] शास्त्र का यह कैसा निष्ठुर परिहास है ! अन्तःपुर की इस कहानी को सुनाकर सारिका ने मेरे भाग्य की कैसी विडम्बना दिखायी है ! हानिर्दोष वाभ्रव्य, तुम्हारा प्राणान्त हो गया और दोषी बाण अभी जीता है ! भट्टिनी ने क्या कभी इन गरीबों की चिन्ता की है। वे जब सुनेंगी कि अन्तःपुरिकाओं के पिता के समान पूज्य वाभ्रव्य ने किस परिताप के साथ उनकी सारिका का बन्धन-मोचन किया था, तो उनका कुसुम-कोमल हृदय क्या सूख नहीं जायगा ?

आज छोटे राजकुल का अन्तःपुर मौन है। आज उसके क्रीड़ापर्वत पर सुन्दरियाँ अपनी वलय-ध्वनि से उन्मद मयूरों को नहीं नचा रही होंगी। आज उसके क्रीड़ा-सरोवर के मृदंग ने चक्रवाक-दम्पती को अकारण उत्कण्ठित नहीं किया होगा। आज अन्तःपुर की कुट्टिमभूमि पादालक्तकों से लाल नहीं बन सकी होगी। आज 'मित्तियाओं' के अंगहारों ने महोत्सव को मंगल कलश से सुसज्जित-सा नहीं कर दिया होगा। आज चंचल चक्षुओं की किरणों से सारा दिन कृष्ण-सार मृगों से परिपूर्ण की भाँति नहीं दिखेगा, भुज-लताओं के विक्षेप से जीवलोक मृणाल-वलय से वलयित नहीं जान पड़ेगा, शिरीष-कुसुम के स्तवकों के कर्णपूरों से अन्तःपुर की धूप शुक-पिच्छ के रंग में नहीं रँगी होगी, शिथिल धम्मिल्ल से चुए हुए तमाल-पत्रों ने अन्तरिक्ष को कज्जलायमान नहीं किया होगा, आभरणों के रणत्कार ने दिशाओं में किंकणी नहीं बाँध दी होगी। छोटे राजकुल का अन्तःपुर आज न जाने कैसी भीति और आशंका का शिकार बना होगा। नाना देशों की अपहृता, लांछिता अन्तःपुरिकाएँ वर्ष में एक दिन आनन्द का उत्सव मनाती हैं; हाय, आज वह भी बन्द होगा। मैंने एक भट्टिनी का उद्धार किया है सही; पर मुझे क्या मालूम है कि इस अन्तःपुर में और कितनी भट्टिनियाँ हैं। और ऐसे अन्तःपुरों की संख्या यहीं तो समाप्त नहीं हो जाती। अभी जो उच्छृंखल नृत्य देख आया हूँ और यहाँ जो भयंकर भीति-भाव लक्ष्य कर रहा हूँ, इन दोनों ही दशाओं में आपाततः कितना प्रभेद है; पर सत्य यह है कि दोनों ही जगह इस सृष्टि की सबसे बहुमूल्य वस्तु अपमानित हो रही है। क्यों ऐसा हो रहा है ? क्या स्त्रियों ने स्वयं यह जाल बुना है और अब स्वयं उलझ गयी हैं ? मैं जिस रास्ते पर जा रहा हूँ, वहाँ से कोई मदोन्मत्त उत्सवकारी दल निकल गया है। कालिदास ने उज्जयिनी में प्रातःकाल जो दृश्य देखा था, वह मैं स्थाण्वीश्वर में मध्याह्न को देख रहा हूँ। ठीक उसी प्रकार गमन के उत्कम्पवश यहाँ भी सुन्दरियों के केश से मन्दार-पुष्प झड़े हुए हैं, कान से सुनहरे कमल खिसककर भू-लुण्ठित हो रहे हैं, हृदय-देश पर बार-बार आघात करनेवाले हारों से बड़े-बड़े गन्धराज-

1. दुर्वारां कुसुम-शर-व्यथां वहन्त्या,
कामिन्या यदभिहितं पुरः सखीनां।
तद्भूयः शुक-शिशु-सारिकाभिरुक्तं,
धन्यानां श्रवणपथतिथित्वमेति ॥ ('रत्नावली', 2।33)

कुसुम टूटकर गिर गये हैं; परन्तु फिर भी मैं इसे प्रेमाभिसार का मार्ग नहीं समझ रहा हूँ।[1] इस रास्ते से उल्लास और उन्माद चाहे गये हों, अनुराग और औत्सुक्य नहीं गये। यह सब क्यों हो रहा है? यह क्या धर्म है? क्या न्याय है? मेरा चित्त कहता है कि कहीं-न-कहीं मनुष्य-समाज ने अवश्य गलती की है। यह उन्मत्त उत्सव, ये रासक गान, ये शृंगक-सीत्कार, ये अबीर-गुलाल, ये चर्चरी और पटह मनुष्य की किसी मानसिक दुर्बलता को छिपाने के लिए हैं, ये दुःख भुलाने-वाली मदिरा हैं, ये हमारी मानसिक दुर्बलता के पर्दे हैं। इनका अस्तित्व सिद्ध करता है कि मनुष्य का मन रोगी है, उसकी चिन्ताधारा आविल है, उसका पारस्परिक सम्बन्ध दुःखपूर्ण है। मेरा मन इस दुर्वह चिन्ताभार को ढोने में असमर्थ होता जा रहा था। शायद और थोड़ी देर रुकता, तो मैं चिल्ला उठता। चिन्ता के उत्कट वेग ने मेरे पैरों में चंचलता ला दी। मैं क्षिप्र गति से आगे बढ़ने लगा। नगर के राजपथ में उत्सव का वेग मन्द पड़ गया था। सौध-वातायनों से अवसाद की हवा निकल रही थी। नागरक-गृहों की परिचारिकाएँ शिथिल गति से गृह-कार्य में जुट गयी थीं और विश्राम-गृहों की सुगन्धित धूपवर्त्तिकाएँ दिङ्-मण्डल को सौरभसिक्त कर रही थीं। मैं जब कुमार कृष्णवर्द्धन के द्वार पर पहुँचा, तो मध्याह्न हो चुका था, सूर्यातप तीक्ष्ण हो चुका था और आकाशमण्डल भी थककर शिथिल-गात्र हो चुका था। कुमार मेरी प्रतीक्षा कर रहे थे। मैंने जब उन्हें अपने आने का संवाद दिया तो वे स्वयं बाहर आ गये और प्रेमपूर्वक भीतर ले गये।

कुमार का गृह बहुत स्वच्छ और सुन्दर था। दीवारें स्फटिक-मणि के समान स्वच्छ थीं। उनके ऊपरी हिस्से में बहुत उत्तम अलंकरण चित्र बने थे। उत्फुल्ल कमलों का एक अविरल प्रवाही स्रोत-सा अंकित था, जिसके बिन्दु-बिन्दु पर हंस, मत्स्य, गज और शार्दूल स्रोत की अभिमुख दिशा में लपकते हुए चित्रित थे। सारा ऊपरी हिस्सा एक सुलझी हुई कमलिनी-लता की धारा थी, जिसके प्रत्येक पत्ते में कोई-न-कोई जीवाकृति बन जाती थी। दरवाजे के सामने वेस्सन्तर जातक का भावपूर्ण चित्र था। जो ब्राह्मण राजकुमार के पुत्र को दानरूप में माँग रहा था, उसकी कातर मुखमुद्रा स्पष्ट ही फूट उठी थी; परन्तु राजकुमार और उनके पुत्र में जो सहज दानवीर भाव था, वह देखने ही लायक था। बड़ी देर तक मैं उस चित्र के लेखक की कला पर मुग्ध बना उसे देखता रहा। आजकल दीवार को चूने से पाटकर, महिष-चर्म को घोंटकर लेप लगाने की जो प्रथा है, वह इस चित्र में नहीं दिखायी देती थी; क्योंकि ऐसे भित्तिपट्टों के लिए वज्रलेप के

1. कालिदास के निम्नांकित श्लोक से तुलनीय :
गत्युत्कम्पादलकपतितैर्यत्र मन्दार-पुष्पैः
पत्रच्छेदैः कनककमलैः कर्ण-विभ्रंशिभिश्च ।
मुक्ताजालैः स्तनपरिचितच्छिन्नसूत्रैश्च हारैः
नैशो मार्गः सवितुरुदये सूच्यते कामिनीनाम् ॥ ('मेघदूत', 68)

लगाने की प्रथा है जो हवा में ठण्डा होकर सूखता है। ऐसे पट्ट बाँस की नाली में लगे हुए ताम्र-तिन्दुकों के उन तूली-कूर्चकों के योग्य ही होते हैं, जो बछड़ों के कान के रोमों से बनते हैं।[1] इस चित्र में स्पष्ट ही ऐसी रोम-तूलिकाएँ व्यवहृत नहीं हुई थीं, फिर भी भाव-प्रकाश की कैसी मनोहर कला थी! राजकुमार के पुत्र की कोमलकान्त मुखभंगिमा में आत्मदान का कैसा दृढ़ भाव था। मैं चकित होकर सोचता रहा कि मोम और भात में काजल रगड़कर बनाये हुए रंगों से कैसा स्वर्गीय भाव फूट उठा है। क्या काजल, मोम और भात ऐसे स्वर्गीय भावों के उत्पादक हैं? मेरा दृढ़ विश्वास है कि मनुष्य का भक्ति-भरा चित्त ही वह वास्तविक उपादान है, जिसने इस मनोहर दृश्य को प्रत्यक्ष कराया है। इस एक चित्र के अतिरिक्त और कोई भी चित्र उस गृह में नहीं था। कुमार के आसन के लिए एक छोटा-सा स्फटिक-पीठ था, जिस पर बहुत कोमल शय्या और उपधान रखे हुए थे। चन्दन की कुछ और चौकियाँ भी उसी प्रकार सजी हुई थीं। ये पण्डितों और महात्माओं के बैठने के लिए थीं। कुमार ने आग्रहपूर्वक मुझे एक चन्दनपीठिका पर बैठाया। जब तक मैं बैठ नहीं गया, उन्होंने स्वयं आसन नहीं ग्रहण किया।

आसन ग्रहण करने के बाद कुमार ने भट्टिनी का कुशल-संवाद पूछा। मैंने संक्षेप में उत्तर दिया कि वे प्रसन्न हैं; परन्तु कुमार अधिक सुनना चाहते थे। वे यथासम्भव प्रत्येक मनोभाव को जान लेने के लिए उत्सुक थे, जो कल से लेकर आज तक भट्टिनी के चेहरे से प्रकट हुए हों। कुमार को क्या पता था कि मैं भट्टिनी को कितना कम जानता हूँ। परन्तु मुझे मन-ही-मन यह गर्व अवश्य हो रहा था कि भट्टिनी-विषयक जिज्ञासा का आप्त व्यक्ति मैं ही माना जा रहा हूँ। मैंने कुमार से अपनी जानी हुई कोई भी बात छिपायी नहीं, क्योंकि मुझे पूर्ण विश्वास था कि कुमार हमारे अकृत्रिम मित्र हैं। मैंने बताया कि जब कुमार से मिलकर मैं भट्टिनी के पास लौट आया तो क्या-क्या हुआ। भट्टिनी उत्सुकता-पूर्वक मेरी प्रतीक्षा कर रही थीं और बेतरह चिन्तित हो गयी थीं। जब मैंने उनसे कहा कि कुमार कृष्णवर्द्धन ने कहा है, देवपुत्र-नन्दिनी को अपने भाई का यह अनुरोध तो पालन करना ही होगा कि वे शिविका से गंगातट तक जायें, तो भट्टिनी की नीलोत्पल के समान बड़ी-बड़ी आँखों से अत्यन्त निर्मल बड़े-बड़े अश्रु-बिन्दु झर पड़े। उन स्थूल अश्रु-बिन्दुओं को देखकर ऐसा भान होता था, मानो उनके अन्तस्तल की चित्त-शुद्धि को लेकर ही ये बाहर आ रहे हैं, इन्द्रिय-समूह के प्रसाद ही मानो वर्षित हो रहे हैं, तपस्या के रस ही स्रवित हो रहे हैं, आँखों की धवल प्रभा ही मानो द्रवित होकर गिर रही है, पवित्रता की मेघमाल ही मानो बरस रही है और कृतज्ञता की मुक्तामाला ही मानो छिन्न होकर मोतियों के रूप में बिखर रही है। वे देर तक पृथ्वी की ओर मुख करके बैठी रहीं। फिर थोड़ी देर के लिए आत्म-विस्मृत-सी मेरी ओर देखती रहीं। जैसे उन्हें मेरी बात पर विश्वास

1. तु. 'अभिलषितार्थ चिन्तामणि', 3

ही नहीं हुआ हो, जैसे मैं कुमार की बात न कहकर किसी स्वर्गीय देवता की बात कर रहा होऊँ और फिर शान्त भाव से ही बोलीं—शिविका मँगा लो।

मेरी बात कुमार ने आग्रहपूर्वक सुनी। कल उनके चेहरे पर जो कूट चतुरता थी, वह आज नहीं थी। कल वे महासान्धिविग्रहिक थे, आज किसी अनजानी बहिन के भाई थे। आज उनका कोई भी मनोविकार दब नहीं रहा था, उनके चटुल मत्स्य के समान चंचल नयनों ने तैरने में ही रस लिया। मेरे पास कहने को बहुत कम था, वे सुनना बहुत अधिक चाहते थे। मुझे देखकर उन्होंने अपने आग्रह को दबाया। बोले, "भट्ट, देवपुत्र-नन्दिनी के उपयुक्त वचन हैं। मेरी प्रार्थना उन्होंने स्वीकार कर ली है, कुमार कृष्ण आज अपने को धन्य मानता है। मैं उनके हृदय की गम्भीरता देखकर मुग्ध हूँ। परन्तु सच बताऊँ, भट्ट, तुम बहुत भोले हो। तुमने देवपुत्र-नन्दिनी के मर्म की व्यथा नहीं देखी है। निपुणिका समझती है। उससे पूछकर तुम उनका मन पा सकते हो।" मुझे आश्चर्य हुआ। कुमार ने ऐसी क्या बात देख ली, जो मैं नहीं देख सका। निपुणिका जरूर मुझसे ज्यादा समझती है; पर कुमार ने क्या ऐसा समझ लिया कि मुझे भोला कह दिया। जनम का आवारा बाणभट्ट कल से बराबर यही सुन रहा है कि वह बहुत भोला है। कुछ लोगों को दूसरों को भोला समझने में आनन्द आता है। कुमार भी क्या ऐसे ही हैं? अत्यन्त खिन्न-विनीत स्वर में मैंने प्रश्न किया—"कुमार ने मुझमें क्या भोलापन देखा है?" कुमार हँसे। बोले, "तुम जितना कवित्व करते हो, उतना वस्तुस्थिति का ज्ञान नहीं प्राप्त करते। तुमने भट्टिनी से उनके हृदय की बात कभी पूछी है? तुम क्या समझते हो कि भट्टिनी की अन्तर्गूढ़ वेदना दिन-रात उनकी जिह्वा पर बनी रहेगी? भट्ट, कवित्व बुरी चीज नहीं है, पर तुमने जो सेवा का गुरु भार लिया है, वह वास्तविकता चाहता है। भट्टिनी वाभ्रव्य के लिए कितनी व्याकुल हैं, यह तुम्हें मालूम है?" कुमार के मुख से वाभ्रव्य का नाम सुनकर मैं चौंक पड़ा। मुझे भी वाभ्रव्य की चिन्ता हो रही है; परन्तु भट्टिनी ने तो मुझसे कुछ भी नहीं कहा और कुमार को कैसे मालूम हुआ कि भट्टिनी उस वृद्ध ब्राह्मण के लिए व्याकुल हैं। मैं कुमार को नम्रतापूर्वक वाभ्रव्य-विषयक अपनी चिन्ता की बात कह गया और पूछा कि भट्टिनी की व्याकुलता की बात उनसे किसने बतायी। कुमार हँसे। बोले, "भट्टिनी ने कल आचार्यपाद से कहा है और उन्होंने मुझे बताया है।" रहस्य समझने के बाद मेरा मुख मुरझा गया, कान तक की शिराएँ रक्त के वेगाधिक्य से झनझना उठीं, पैरों के नीचे की आधार-भूमि खिसकती-सी जान पड़ी और दिङ्मण्डल कुलाल चक्र की भाँति घूम गया। मैं मूर्ख हूँ। भट्टिनी को मुझ पर भरोसा नहीं है। क्यों नहीं उन्होंने मुझसे यह बात कही? क्या मैं भट्टिनी के एक इंगित पर अपने प्राण दे देने की प्रतिज्ञा नहीं कर चुका हूँ? भट्टिनी मेरे ऊपर विश्वास भले ही करती हों, भरोसा नहीं रखतीं। अभागा बाण आज भी अभागा ही है। उस समय कुमार मेरे भोलेपन का आनन्द ले रहे थे। उनकी क्रीड़ा-चपल

नयनताराएँ मेरे गिरते-पड़ते मनोभावों के भीतर घुसने की चेष्टा कर रही थीं। उनका स्मयमान मुखमण्डल मध्याह्नकालीन नवमल्लिका की भाँति स्थिर और उत्फुल्ल दिखायी दे रहा था। उनके वक्रिम प्रेक्षित से विकुंचित गण्ड-मण्डल विकचमान पद्म-कोरक के पार्श्वपालि की भाँति प्रसन्न दिख रहा था—उन्हें मेरे मनःक्लेश में रस मिल रहा था। कुमार के मनोभाव को मैं समझ गया और अधिक देर तक बैठना उचित नहीं समझा।

आज विचार करके देखता हूँ, तो मुझे अपने उस दिन के मनोभाव पर आश्चर्य हो रहा है। कुमार ने जो बात बतायी थी, उसमें इतना अधिक लज्जित और खिन्न होने की तो कोई बात नहीं थी। कुमार से चलने की आज्ञा माँगते ही वे हँस पड़े। बोले, "बैठो भट्ट, तुमने बिल्कुल नहीं समझा। देवपुत्र-नन्दिनी तुम्हारी कृतज्ञता के बोझ से दबी हुई हैं। वे ऐसा धन संसार में खोजे नहीं पा रही हैं, जिसे देकर तुम्हारे उपकार का किंचिन्मात्र भी ऋण कम कर सकें। वे क्या तुमसे क्षण-क्षण पर नये-नये आदेश पालन करातीं रहेंगी! तुम ही अगर कौशलपूर्वक उनकी मनोव्यथा जान लो, तो उनकी सेवा करने का अवसर पा सकते हो। वे हिमालय से भी अधिक महीयसी और समुद्र से भी अधिक गम्भीर हैं। कुमार कृष्णवर्द्धन ऐसी बहिन का भाई होने से गौरवान्वित है।" निस्सन्देह इस वाक्य से चित्त कुछ हल्का हुआ, पर एक अभिमान का ऐसा बोझ हृदय पर पड़ा हुआ था कि मैं उससे शीघ्र ही अपने को मुक्त नहीं कर सका। मुझे असह्य मालूम हो रहा था कि भट्टिनी की महत्ता और गम्भीरता के विषय में मुझे कोई उपदेश दे। मैंने फिर कुमार से चलने की आज्ञा माँगी।

कुमार ने जरा व्यथित स्वर में कहा, "आज सायंकाल तुम्हें यहाँ से चल देना होगा, भट्ट! राजनीति भुजंग से भी अधिक कुटिल है, असिधारा से भी अधिक दुर्गम है, विद्युत-शिखा से भी अधिक चंचल है। तुम्हारा और भट्टिनी का यहाँ तब तक रहना उचित नहीं है, जब तक अनुकूल अवसर न आ जाय। तुमने कल अपने को देवपुत्र-नन्दिनी का अभिभावक कहा था। तुम निश्चय ही इस महान् उत्तरदायित्व के योग्य हो; परन्तु तुम्हें मालूम नहीं कि इस पद को पाकर तुमने अपने को राजनीति के कैसे आवर्त्त-संकुल तरंग में छोड़ दिया है। तुम्हारे मनोविकार बहुत स्पष्ट होते हैं, क्योंकि तुममें अशुचि कूटनीति का लेश भी नहीं है; पर तुम्हें अपने को देवपुत्र-नन्दिनी का उत्तम अभिभावक बनाना है। तुम झूठ से शायद घृणा करते हो, मैं भी करता हूँ; परन्तु जो समाज-व्यवस्था झूठ को प्रश्रय देने के लिए ही तैयार की गयी है, उसे मानकर अगर कोई कल्याण-कार्य करना चाहो, तो तुम्हें झूठ का ही आश्रय लेना पड़ेगा। सत्य इस समाज-व्यवस्था में प्रच्छन्न होकर वास कर रहा है। तुम उसे पहचानने में भूल न करना। इतिहास साक्षी है कि देखी-सुनी बात को ज्यों-का-त्यों कह देना या मान लेना सत्य नहीं है। सत्य वह है जिससे लोक का आत्यन्तिक कल्याण होता है। ऊपर से वह जैसा भी

झूठ क्यों न दिखायी देता हो, वही सत्य है।[1] तुम्हें देवपुत्र-नन्दिनी की सेवा इसलिए नहीं करनी है कि देवपुत्र-नन्दिनी तुम्हारी दृष्टि में पूज्य और सेव्य हैं, बल्कि इसलिए कि उनकी सेवा द्वारा तुम लोक का आत्यन्तिक कल्याण करने जा रहे हो। मैं तुमसे आशा रखता हूँ कि उचित अवसर पर तुम न तो झूठ से झल्ला उठोगे और न ऐसे झूठ के बोलने में हिचकोगे ही, जिससे समग्र मनुष्य जाति उपकृत होती हो।" कुमार ने इतना लम्बा उपदेश देने के बाद एक बार खाँसकर गला साफ कर लिया। अपने को इस प्रकार श्रेष्ठ ज्ञानी के रूप में उपस्थित करने के कारण वे स्वयं ही कुछ लज्जित हो गये। मानो अपनी लज्जा को कुछ धो डालने के लिए ही वे फिर बोले, "मैं जो कुछ कह रहा हूँ, उसको ठीक-ठीक समझ रहे हो न, भट्ट? लोक-कल्याण प्रधान वस्तु है। वह जिससे सधता हो, वही सत्य है। आचार्य आर्यदेव ने सबसे बड़े सत्य को भी सर्वत्र बोलने का निषेध किया है। औषध के समान अनुचित स्थान पर प्रयुक्त होने पर सत्य भी विष हो जाता है।[2] हमारी समाज-व्यवस्था ही ऐसी है कि उसमें सत्य अधिकतर स्थानों में विष का काम करता है। मैंने न 'हाँ' किया, न 'ना' किया। केवल आश्चर्य के साथ उनकी ओर देखता रहा। कुमार को इस बात पर ग्लानि हुई कि वे मुझे अपनी बात ठीक-ठीक नहीं समझा सके। उनका मुख-मण्डल उपरागग्रस्त चन्द्र-मण्डल की भाँति म्लान हो गया। मुझे भी उनका भाव देखकर क्लेश हुआ। मैंने नम्रतापूर्वक उत्तर दिया—"मैं कुमार की आज्ञा पालन करने का प्रयत्न करूँगा।"

कुमार उठे और बोले, "तुम्हें ये दो उपहार भट्टिनी को देने हैं।" उन्होंने कोने में रखे हुए चन्दन-काष्ठ के विशाल पिटक से एक मूर्त्ति निकाली। मूर्त्ति एक काले पत्थर को काटकर बनायी गयी बुद्ध-प्रतिमा थी। वितस्तिमात्र की इस मूर्त्ति में कलाकार ने एक विचित्र चारुता भर दी थी। शक नरपतियों ने अपनी बुद्ध-भक्ति के आवेश में इस देश में भारतीय और यावनी शिल्प की जो गंगा-यमुनी मूर्त्तियाँ तैयार करायी हैं, उन्हें मैं बिल्कुल पसन्द नहीं करता। वे न तो मूर्त्ति के अर्थ-पुरुष की गहराई में जाती हैं, न प्रमेय-पाटव में। एक तरफ उनमें यावनी प्रतिमाओं की भाँति अंग-प्रमाण की ओर बेतरह ध्यान दिया गया होता है, दूसरी तरफ हाथ और पैर की मुद्राओं में वाच्यार्थ की अपेक्षा व्यंग्यार्थ को प्रधानता दे दी गयी होती है। जो छोटी-सी मूर्त्ति इस समय कुमार कृष्ण के हाथ में थी, उसकी छटा अजब थी। पहली बार मैंने ऐसा पद्मासन देखा, जिसमें चरणतल उसी प्रकार

1. तु. सत्यस्य वचनं श्रेयः सत्यादपि हितं वदेत्।
   यद् भूतहितमप्यन्तमेतत्सत्यं मतं मम।।
   (महाभारत, शान्ति, 229-13)

2. तु. शून्यता पुण्यकामेन वक्तव्या नैव सर्वदा।
   औषधं युक्तामस्थाने गरलं ननु जायते।।
   (चतुःशतक, 8-18)

बने थे, जैसे वे वास्तव में होते हैं। भारतीय शिल्पियों के अनुकरण पर कुषाण-नरपतियों ने ऊर्ध्वमुख चरणतल वाले पद्मासन ही बँधाये हैं। प्रमाण-पाटव वाली यावनी मूर्तियों में ऐसे पद्मासन ऊर्णातन्तु से सिले हुए चीनांशुक के समान बेखाप लगते हैं। इस मूर्त्ति में बुद्ध का मस्तक मुण्डित बनाया गया था, जबकि शक नरपतियों की मूर्त्तियों में दक्षिणावर्त्त कुंचित केश कुछ जँचते नहीं दिखते। मूर्त्ति-कार ने ऐसी मूर्त्ति बनायी थी, जिसे देखकर भान होता था कि सचमुच ही बुद्ध बैठे हैं। उनके अर्द्धस्तिमित नयन के ऊपर भ्रू-लताएँ धारायन्त्र की ऊर्ध्वविक्षिप्त पयोरेखाओं की वक्रिमता लिये हुए नहीं थीं, बल्कि इस प्रकार छायी हुई थीं कि वे नासावंश के क्षत्र का काम दे रही थीं। हाथ की अंगुलियाँ स्वाभाविक थीं। गुप्तों की मूर्त्ति-कला के साथ उनका कोई दूर का सम्बन्ध भी नहीं था। समाधि और निद्रा में एक भेद होता है। अधिकांश कुषाण-मूर्त्तियाँ उस भेद को स्मरण भी नहीं होने देतीं, पर यह मूर्त्ति ऐसा ओज लिये हुए थी कि उसके रोम-रोम से जागरूकता प्रकट हो रही थी। कुमार ने कहा कि यह मूर्त्ति तत्रभवती को देना और कहना कि आपके भाई की यह श्रद्धापूर्वक दी हुई भेंट है। फिर उन्होंने एक और मूर्त्ति निकाली। मैं देखकर एक ही साथ उल्लास, आश्चर्य और औत्सुक्य से झुक पड़ा। यह भट्टिनी के उपास्य महावराह की मूर्त्ति थी। मूर्त्ति को हाथ में लेकर उसे बड़े आग्रह के साथ देखते हुए उन्होंने कहा, "इसे तुम अपनी ओर से देना।" फिर कुमार ने एक छोटा-सा चन्दन-काष्ठ का खटोला निकाला। उसके चारों कोनों में चार श्वेत हस्ती थे। इन्हीं की पीठ पर यह खटोला बना हुआ था। दोनों मूर्त्तियों को उन्होंने उस खटोले पर आमने-सामने बैठा दिया और मुझसे कहा, "दो आदमी इसे लेकर तुम्हारे साथ जायेंगे। उन्हें तुम तीर पर से लौटा देना। इसे तुम स्वयं नाव में चढ़ा देना। देवपुत्र-नन्दिनी से कह देना कि बाभ्रव्य पर कोई विपत्ति नहीं आयेगी, वह मेरे पास हैं।" मैंने कुमार को आश्चर्य के साथ देखा। कैसे बाभ्रव्य बचा, वह कहाँ है, अन्यान्य अन्तःपुरिकाओं का क्या समाचार है, नाग का क्या हुआ, इत्यादि प्रश्न मेरे मन में उठने लगे। कुमार ने समझ लिया। बोले, "उचित अवसर पर सब मालूम हो जायेगा, भट्ट! इस समय इतना याद रखो कि झूठ बोलना सर्वदा अनुचित नहीं होता।" मैंने कृतज्ञतापूर्वक सिर झुका लिया और विदा हुआ।

उस समय भगवान् मरीचिमाली मध्य-गगन से पश्चिम की ओर लटक गये थे, मानो प्रकृति-सुन्दरी के सीमन्त की टीका-मणि उसकी श्रान्त अवस्था में शिथिल होकर स्थानच्युत हो गयी हो। छाया पूर्व की ओर इस तेजी से बढ़ती जा रही थी, मानो पूर्व प्रान्त के उदयगिरि को कोई सन्देश पहुँचाने जा रही हो। मैं अपने दो साथियों के साथ उन्हीं के दिखाये मार्ग से बढ़ता जा रहा था। रास्ते में एक मन्दिर के सामने अनेक प्रकार के तोरण, कलश और बन्दनवार देखकर मैंने अपने साथियों से पूछा कि यहाँ क्या होने जा रहा है। उन्होंने बताया कि वह सरस्वती-मन्दिर है। प्रतिवर्ष मदनोत्सव के अवसर पर यहाँ समाज बैठा करता है,

उसी की तैयारी हो रही है। 'समाज' में नगर की लक्ष्मी, शोभा की खानि, कला की स्रोतस्विनी, परम शीलगुणान्विता गणिका चारुस्मिता का मयूर और पद्म-नृत्य होनेवाला है। प्रतिवर्ष 'समाज' की व्यवस्था 'छोटे महाराज' की ओर से होती थी। नाना दिग्देश से समागत कवि, कलाकार और गणिकाएँ, नृत्य-गीत की प्रतियोगिता में उतरती थीं। नानाविधि काव्य-समस्याएँ, मानसी काव्य-क्रिया, पुस्तक-वाचन, दुर्वाचक-योग, अक्षरमुष्टिक, पद्मविन्दुमती आदि कलाओं से समस्त नागरिकों का मनोविनोद होता था। पर कल न जाने क्यों छोटे महाराज ने 'समाज' बन्द करा दिया है। अनेक गुणी लौटने लगे थे। स्थाण्वीश्वर की कीर्त्ति को मलिन होते देख कुमार कृष्णवर्द्धन ने स्वयं इस समाज की व्यवस्था करायी है। आज इसीलिए जल्दी-जल्दी में तैयारी हो रही है। प्रदोष-काल में चारुस्मिता का मयूर और पद्म-नृत्य होगा। आज तक उसने यह नृत्य राजपुरुषों के अतिरिक्त और किसी को नहीं दिखाया था, पर आज प्रथम बार नागरिक इस दुर्लभ नृत्य को देखेंगे। इसीलिए आज नगर में बड़ा समारोह है। कान्यकुब्ज की सबसे श्रेष्ठ गौरवभूता गणिका के अपूर्व नृत्य-कौशल को देखने के लिए आज नागरिकों के जन-स्रोत की बाढ़ आ जायेगी। मैंने सरस्वती मन्दिर के सामने बनी हुई इस विशाल प्रेक्षाशाला को देखा। विराट् पटवास शाल-प्रांशु सोलह खम्भों पर टिका हुआ था। वह क्रमशः नतोदर भूमि को छाये हुए था। सभापति का आसन प्रफुल्ल शतदलों से सजाया गया था। सभापति की दाहिनी ओर संस्कृत के कवियों के लिए आसन निर्दिष्ट थे और बायीं ओर प्राकृत और अपभ्रंश के कवियों के लिए। सभापति के पीछे करणाधिपों (अफसरों) के लिए स्थान निर्दिष्ट था और दाहिनी ओर के एक पार्श्व में तिरस्करिणी (परदा) के पीछे सम्भ्रान्त महिलाओं के लिए स्थान बनाया गया था। सभापति के सामने और वाम ओर के पार्श्व में समस्त नागरिकों के लिए स्थान निर्दिष्ट था। रंगभूमि ठीक बीच में थी। उसमें अभ्रक से मिला हुआ पिष्टातक चूर्ण बिछा हुआ था। मैं उसका मतलब समझ गया। वह मयूर-नृत्य या पद्म-नृत्य का आधार था। कान्यकुब्ज के लोग बड़े रूढ़िप्रिय और चित्र-प्रवण हैं। वे मयूर और पद्म-नृत्य जैसी कला को अब भी जिलाये हुए हैं, और उनका सम्मान करते हैं। मगध में मयूर-नृत्य देखने की इतनी चंचलता नहीं हो सकती। मगध इन बातों को कब का छोड़ चुका है। मेरा अपना मत तो यह है कि मयूर-नृत्य ताण्डव का सबसे घटिया भेद है। ताल ही इसमें प्रधान है। पैरों को इस वेग से ताल देते-देते संचालित किया गया कि उससे कुट्टिम-भूमि के अबीर में पद्म का चित्र बन गया या मयूर का चित्र बन गया, तो कौन-सी बड़ी रस-सिद्धि हो गयी? मैं रस को नृत्य का प्रधान रहस्य मानता हूँ। पर कान्यकुब्ज के लोग विचित्र हैं। वे लास्य की अपेक्षा ताण्डव में अधिक रुचि रखते हैं। वे मनुष्य के मनोभावों की अपेक्षा उसके करण-कौशल को अधिक महत्त्व देते हैं। मैं उनकी दृष्टि को ठीक-ठीक नहीं समझ पाता। फिर भी यदि मुझे समय होता, तो इस नृत्य को देखता जरूर। मैंने चारुस्मिता का नाम-यश बहुत सुना

था और उसके अभिराम पद-संचार की अनेक कहानियाँ भी सुन रखी थीं। मेरी प्रवृत्ति उससे बने हुए मयूर या पद्म के चित्रों की ओर बिल्कुल नहीं थी, पर उसके ताल-लयान्वित पद-संचार को देखने की उत्कण्ठा अवश्य थी। मैं रुक नहीं सकता था। मुझे जाना था, पर मेरा आवारा मन मुँहजोर घोड़े की तरह बाग नहीं मान रहा था। प्रेक्षाशाला अब भी पूर्ण नहीं हुई थी। कारीगर फुर्ती से काम में जुटे हुए थे। बाहर दिव्य गायकों की एक स्रोतस्विनी कमल के फूलों से बनायी जा रही थी। इन कारीगरों की शिल्पपटुता आश्चर्यजनक थी। मैंने बड़े प्रयत्न से अपने मन को इस शिल्प-जाल से मुक्त किया और शीघ्रता के साथ नदी-तट की ओर बढ़ा।

छोटी नौका से यमुना पार करने के बाद गंगा-तट तक पहुँचने के लिए शिविकाओं और घोड़ों की व्यवस्था कुमार ने ही करा दी थी। दूसरे दिन सन्ध्या समय हम गंगा-तट पर पहुँच गये।

तीर के पास एक अद्भुत शान्ति अनुभूत हुई। दूसरे, सीकर-सिक्त वीचि-वायु मेरे चित्त को परितृप्त कर रही थी। और श्वेत पंकजों की माला की भाँति दिगन्त के छोर तक फैली हुई धारा नयनों को अपूर्व शामक शोभा से स्निग्ध कर रही थी। गंगा कैलास की समस्त धवलिमा की मूर्त्तिमती धारा है, हर-जटा से चुई हुई चन्द्रमा के पीयूष का स्रोत है, ब्रह्मा के कमण्डलु से ढुलकी हुई वेदविद्या का प्रवाह है, आर्यावर्त्त के जनगण मातृत्व का चिरन्तन आश्रय है। सामने जो स्फटिक-स्वच्छ जलराशि लहरा रही है, वह कितनी पवित्र है, कितनी शीतल है, कितनी मनोहर है ! अहा, यहाँ गगन-तल ही जल-रूप में मानो अवतरित हो गया है, तुषार-गिरि ही द्रवीभूत होकर मानो वर्त्तमान है, चन्द्रातप ही मानो रस-रूप में परिणत हो गया है, शिव का पवित्र स्मित ही मानो जल-धारा बन गया है, पार्वती का अपांग-वीक्षण ही मानो तरलित हो रहा है, त्रिभुवन की पुण्य-राशि ही मानो पिघल गयी है, शरद्कालीन मेघमाला ही मानो ठिठक गयी है, सरस्वती की कर्पूर-धवल कान्ति ही मानो द्रवित हुई है। चारुता का यह आश्रय है, शुचिता का प्रवाह है, महिमा का स्रोत है। तट पर से क्रौंचों और कलहंसों का कल-स्वन सुनायी दे रहा था। तीर-द्रुमों के पुष्प के सौरभ से नभोमण्डल व्याप्त हो गया था, सारसों के क्रेंकार से पुलिन-भूमि मुखरित थी, धवलायमान वक-पंक्ति शुभ्र मालतीमाला के समान ध्यान आकर्षित कर रही थी और सूर्य की किरणें निर्मल वारि-धारा से टकराकर सौ-सौ रंगों में फूट रही थीं। मैंने नौका के पास आकर चन्दन का खटोला ले लिया और अपने दोनों साथियों को सप्रेम विदा किया।

अष्टम उच्छ्वास

गोधूलि-वेला में मल्लाहों ने नाव खोल दी। इसके थोड़ी देर पहले ही आचार्य सुगतभद्र भट्टिनी को स्नेहपूर्वक आशीर्वाद देकर और उनके पिता के पास पहुँचाने का आश्वासन देकर चले गये थे। भट्टिनी बड़ी देर तक उसी ओर उदास भाव से ताकती रहीं, जिस ओर आचार्य गये थे। उनकी घन-चिक्कन चिकुर-राशि अस्त-व्यस्त होकर मुख पर पड़ी हुई थी, जिसे देखकर शैवाल-जाल में उलझे हुए पद्मपुष्प का भ्रम होता था। धीरे-धीरे नदी की धारा में लाल चन्द्रमा का बिम्ब प्रकट हुआ और देखते-देखते सौ-सौ रूपों में बिखरकर अवगाहन करने लगा, मानो दिन-भर फाग खेल लेने के बाद अब अपने शरीर पर लिपटे हुए पिष्टातक चूर्ण (अबीर) को धो डालना चाहता हो। रात की कालिमा घनी होती गयी, ज्योत्स्ना धवलतर होकर सारे गंगा-पुलिन को दुग्ध-धौत-सी बनाने लगी और गंगा की चटुल वीचियों पर चन्द्रमा तथा नक्षत्रमण्डल का नृत्य होने लगा, पर भट्टिनी वैसी ही उदास बैठी रहीं। मुझसे अधिक न देखा गया। व्यथित होकर बोला, "देवि, चिन्ता छोड़ो, बाणभट्ट पर विश्वास रखो, आचार्यपाद का आशीर्वाद सफल होगा। मैं जैसे भी हो, अत्रभवती को विषम-समर-विजयी बाह्लीक-विमर्दन, प्रत्यन्त-वाड़व, अज्ञात-प्रतिस्पर्धि-विकट देवपुत्र तुवरमिलिन्द के पास पहुँचा दूँगा। मगध तो मैं केवल आचार्यपाद की आज्ञापालन के निमित्त जा रहा हूँ। मैं ठीक नहीं कह सकता कि मुझे मगध ले जाने की आज्ञा उन्होंने क्यों दी है; देर से सही, मैं अपनी प्रतिज्ञा का पालन अवश्य करूँगा।"

भट्टिनी ने मेरी प्रार्थना सुन ली। अपनी मृणाल-कोमल अंगुलियों से उन्होंने अस्त-व्यस्त अलक-जाल को संयत किया और मन्द स्मितपूर्वक मेरी ओर देखा। क्षण-भर में नौका में एक स्वच्छ प्रभा बह गयी। मैंने मन-ही-मन उस अपूर्व कल्प-कवि कालिदास को याद किया। अहा, महाकवि ने जब चन्द्रमा की उदयगूढ़ किरणों से अन्धकार को दूरतक हटते देखकर अलक-संयमनपूर्वक नयनों को हरण करनेवाली प्राची दिग्वधू की कल्पना की थी[1] तो क्या लेशमात्र भी सोचा था कि उनके उस कथन के 200 वर्ष बाद गंगा की पवित्र धारा पर द्युलोक और भूलोक में एक ही साथ यह अद्भुत दृश्य दिखायी देगा? उन्हें क्या पता था कि एक दिन जब बाह्य जगत् को चन्द्रमा सुधा-सलिल से प्लावित करता रहेगा, चन्दन-रस के अविरल स्रावी निर्झर से रसमय बना देगा, अमृत-सागर की बाढ़ से भुवनान्तराल को भरता होगा, श्वेत गंगा के सहस्र-सहस्र प्रवाहों को ढरकाता रहेगा और

1. विक्रमोर्वशीय के निम्नलिखित श्लोक के तात्पर्य होगा :
उदयगूढ़-शशांक-मरीचिभिस्तमसि दूरतरे प्रतिसारिते।
अलकसंयमनादिव लोचने हरित मे हरिवाहन-दिङ्मुखम्॥

महावराह के दंष्ट्रा-मण्डल की शोभा बिखेरता रहेगा, उस समय गंगा के प्रवाह पर गंगा के ही समान ज्योत्स्ना-स्वच्छरूपा एक राजबाला अपने मन्द स्मित से अन्तर्जगत् को भी उसी प्रकार पवित्र, निर्मल और उत्फुल्ल बना देगी ! भट्टिनी को प्रसन्न देखकर मेरा हृदय आनन्द-गद्‌गद हो गया। मैंने उत्साहपूर्वक कहा, "देवि, महावराह सहायक हैं, आप अपने सेवक पर भरोसा रखें। जिन लोगों ने सिंह के सटाभार को पैरों से कुचलने की चेष्टा की थी, वे फल पायेंगे। अकिंचन बाणभट्ट को आप उपेक्षा योग्य न समझें। आज भी आर्यावर्त्त में कृतज्ञता का एकदम अभाव नहीं हो गया है और वाह्लीक और प्रत्यन्त से बर्बर हूणों को उखाड़ फेंकनेवाले परम भागवत, परम सौगत देवपुत्र के प्रति इस देश में भक्ति का स्रोत भी सूख नहीं गया है। जिस दिन देवपुत्र को पता लग जायगा कि आप कहाँ हैं, उस दिन यमराज भी उनका मार्ग नहीं रोक सकेगा। आज दुर्भाग्य-विडम्बित देवपुत्र शोक से हतबुद्धि होकर न जाने कहाँ पड़े हुए हैं, परन्तु विश्वास रखिए, एक-न-एक दिन ऐसा अवश्य आयेगा, जब ब्राह्मणों और श्रमणों के रक्षक, मन्दिरों और देवमूर्त्तियों की आशाभूमि, तरुणियों और वृद्धाओं के प्रतिष्ठा-रक्षक देवपुत्र आपका संवाद पायेंगे। उस दिन मार्ग की बड़ी-से-बड़ी बाधा छत्रक-दण्ड की भाँति टूट जायेगी, भयंकर से भयंकर व्यूह कच्चे कलश की भाँति छितरा जायँगे। उस दिन फिर एक बार समुद्र की भाँति अप्रमेय देवपुत्र-वाहिनी विक्षोभ से कलमला उठेगी और आज चोर की भाँति भागनेवाला बाणभट्ट उस दिन प्रलय-पूर का बाँध बनेगा। देवि, बाणभट्ट कर्त्तव्य से कभी नहीं चूकेगा, आप आश्वस्त हों।"

भट्टिनी की आँखों में आँसू आ गये। उन्होंने छिपाने के लिए मुँह फेर लिया। फिर आँचल से आँखें पोंछकर मेरी ओर देखने लगीं। उनके मुख पर तब भी गीली-गीली हँसी सटी हुई थी। उस हँसी का अर्थ मैंने समझा। उसमें कृतज्ञता थी; पर भरोसा नहीं था। मानो वह हँसी ही उच्च स्वर से भट्टिनी के निगूढ़ मनोभावों को प्रकट कर रही थी—'आश्वासन दे रहे हो, इसके लिए कृतज्ञ हूँ; पर तुम्हारी प्रतिज्ञा की रक्षा दुःशक्य है।' मैं क्षण-भर तक हतचेता होकर भट्टिनी की करुण-गम्भीर मुख-भंगिमा को देखता रहा। मैं उनके मर्म की व्यथा जान लेना चाहता था; परन्तु एक सहज अनुभाव से उनका पवित्र मुख-मण्डल कुछ इस प्रकार आच्छादित था कि न तो मैं उसे अतिक्रम कर उनके मर्म के भीतर देख ही सकता था और न साहसपूर्वक कुछ पूछ ही सकता था। निपुणिका ने मेरी सहायता की। उसने वेदना-भरी कातरता के साथ कहा, "भट्ट, तुम बहुत ऊपर-ऊपर चक्कर काटते हो। कविता छोड़ो, भट्टिनी की मर्मवेदना गम्भीर है। सेवक उनके पहले भी थे; पर वे उनकी रक्षा न कर सके। देवपुत्र की अप्रमेय वाहिनी तब भी थी और अब भी है; पर भट्टिनी को वह नहीं बचा सकी। तुम अकेले क्या कर लोगे ? सोच-समझकर प्रतिज्ञा करो।"

निपुणिका ने एक बार फिर मेरे अभिमान को धक्का मारा। मैं इसके लिए बिल्कुल तैयार नहीं था। किसी दुःखी मनुष्य को आश्वासन देते समय मनुष्य कुछ

बढ़ाकर बोलता ही है। मैं भी शायद मर्यादा अतिक्रम कर गया था; पर निपुणिका को इस प्रकार आघात नहीं पहुँचाना चाहिए था। मैं क्षण-भर के लिए ग्लान हो गया। मैं अपनी ही दृष्टि में कुछ गिर गया। सायंकालीन शिरीषपत्र के समान मेरी आँखें अपने-आप झपक गयीं, धक्का खाये हुए शम्बूक (घोंघे) की भाँति मेरा मुख अपने-आपमें ही सिकुड़कर मानो छिप गया। पर यह अवस्था अधिक देर तक नहीं रही। मेरे आहत अभिमान ने मुझे उद्धत बना दिया। मैं कुछ उत्तेजित होकर कहना ही चाहता था कि भट्टिनी बीच ही में बोल उठीं। मेरा ग्लान मुख देखकर उन्हें मेरे ऊपर दया आयी होगी। उन्होंने निपुणिका को मृदु भाव से डाँटते हुए कहा, "छिः निउनिया, तू क्यों ऐसा कह रही है? भट्ट पर मेरा पूर्ण विश्वास है। कवित्व की शक्ति तू नहीं जानती। भट्ट कवि हैं। वे स्वयं नहीं जानते कि वे क्या हैं! तो क्या हमें भी भूल जाना चाहिए कि वे कितने महान् हैं? सेवक मेरे पहले भी थे; पर ऐसा देवोपम अभिभावक मुझे पहले नहीं मिला था। तू शायद प्रतिज्ञा के सफल होने को बड़ी चीज समझती है। ना बहिन, प्रतिज्ञा करना ही बड़ी चीज है। और देखो, भट्ट, महावराह की ही मुझे आशा है। महावराह ने ही तुम्हें मेरे पास भेजा है। महावराह ही चाहेंगे, तो वे मेरे पिता से भी मुझे मिला देंगे। उनकी ही इच्छा प्रधान है, हम-तुम तो यन्त्र-मात्र हैं। वे जो चाहेंगे, वही होगा। उदासी और प्रसन्नता, हँसी और रुलाई, सब उन्हीं का प्रसाद है। मनुष्य क्या कर सकता है!"

क्षणभर रुककर भट्टिनी बोलीं, "भट्ट, मुझे बहुत पहले मर जाना चाहिए था। जिस दिन नगरहार के मार्ग में प्रत्यन्त दस्युओं ने मुझ पर आक्रमण किया था, उस दिन चुने हुए दो सौ विश्वस्त सेवक मेरी पालकी के साथ थे। पितामह के समान पूज्य और प्रबल पराक्रान्त आदित्यसेन का विश्वासभाजन सेवक धीर नापित मेरे साथ था। डाकुओं ने एकाएक आक्रमण किया था। धीर अन्त तक मेरे ऊपर छत्र की भाँति छाया रहा। मेरे दो सौ वीर देवपुत्र का नाम ले-लेकर खेत रहे। एक प्रहर तक वे लड़ते रहे। जब तक उनके शरीर में एक बूँद भी रक्त बचा था, तब तक किसी दस्यु को उन्होंने मेरी पालकी के पास नहीं आने दिया। मैं कम्पमान वक्षःस्थल पर पत्थर रखकर त्राहि-त्राहि करती हुई अपने विश्वस्त सेवकों का मरण-दृश्य देखती रही। धीर तब भी गला फाड़कर देवपुत्र का जय-निनाद करता रहा। मरते समय तक वह यही कहता रहा कि निर्भय रहो बेटी, ये पापी तुम्हारी छाया नहीं छू सकेंगे। पचासों दस्यु उस पर चींटी की तरह चढ़ दौड़े। उन्होंने उसके वस्त्र और केश नोच डाले; पर वह पालकी पर से नहीं हटा, नहीं हटा। उसके रक्त से मेरी पालकी भीग गयी। जब उसने अन्तिम बार चिल्लाकर कहा कि निर्भय रहो बेटी, उस समय मैं अपने को सँभाल न सकी। पालकी से निकलकर मैंने वृद्ध को पालकी के भीतर खींच लेना चाहा। तब तक उसके तीन खण्ड हो चुके थे। मुझ अभागी को उसके चरण ही मिले। मैं कटे रूख की तरह गिर पड़ी। क्यों भट्ट, मैं उसी समय क्यों नहीं मर गयी?"

थोड़ी देर चुप रहने के बाद भट्टिनी निपुणिका की ओर फिरीं। उसकी आँखों से आँसू का निर्झर बह रहा था। भट्टिनी बोलीं, "रो मत निउनिया, मैं बहुत रो चुकी हूँ। नगरहार से पुरुषपुर, पुरुषपुर से जालन्धर और फिर और न जाने कहाँ-कहाँ मुझे दस्युओं के साथ घूमना पड़ा और अन्त में स्थाण्वीश्वर के छोटे राजकुल में आश्रय मिला। जिस दिन नगरहार के मार्ग में दस्युओं ने इस अभागे शरीर का स्पर्श किया, उस दिन तक मुझे देवपुत्र की कन्या होने का अभिमान था। मैं एक मास तक अपने पिता का नाम ले-लेकर रोती रही। बाद में मुझमें से वह अभिमान चला गया। आज भगवान् की बनायी और लाखों कन्याओं की भाँति मैं भी एक मनुष्य-कन्या हूँ। उन्हीं की भाँति सुख-दुःख का पात्र मैं भी हूँ। उन्हीं की भाँति मेरा जन्म भी अपनी सार्थकता के लिए नहीं है। मेरा अहंकार मर चुका है। अभिमान नष्ट हो गया है, कौलीन्यगर्व विलुप्त हो चुका है। मैं धर्षिता, अपमानिता, कलंकिनी, सौ-सौ मानवियों की भाँति सामान्य नारी हूँ। जगत् के दुःख-प्रवाह में फेन-बुद्बुद के समान मैं भी नष्ट हो जाऊँगी और प्रवाह अपनी मस्तानी चाल से चलता जायेगा। माता से मैंने बौद्ध दुःखवाद का भाव पाया है और पिता से भागवत अनुकम्पा का। मेरे ऊपर महावराह की करुणा है, यही एकमात्र सुख है, और इसी करुणा ने मुझे तुमसे और भट्ट से मिलाया है। ना निउनिया, रोने से क्या होता है! मैं आज भी अपनी रुलाई रोक नहीं सकती; परन्तु तू उसे सामयिक आवेग समझ। मैं सब-कुछ भूल जाने की साधना कर रही हूँ। पिता से क्या फिर मिलना होगा? महावराह ही जानें, हम क्यों चिन्ता करें?"

मैं अधिक नहीं सुन सका। उत्तेजित होकर बोला, "कौन कहता है देवि, कि आप कलंकिनी सामान्य नारी हैं? पार्वती के समान निर्मल अन्तःकरण, गंगा के समान पूतकारी विचारधारा, कैलास के समान शुभ्र चरित्र और मानसरोवर के समान सकरुण-हृदय ने जिस देवी को अशेष लोक की पूजनीय बनाया है, उसे कलंकिनी समझनेवाला नरक-भागी होगा। देवि, पावक को कभी कलंक स्पर्श नहीं करता, दीपशिखा को अन्धकार की कालिमा नहीं लगती, चन्द्र-मण्डल को आकाश की नीलिमा कलंकित नहीं करती और जाह्नवी की वारि-धारा को धरती का कलुष स्पर्श भी नहीं करता। आपके अवसादयुक्त वाक्य आपके योग्य नहीं हैं, देवि! स्यारों के स्पर्श से सिंह-किशोरी कलुषित नहीं होती। असुरों के गृह में जाने से लक्ष्मी धर्षिता नहीं होती। चींटियों के स्पर्श से कामधेनु अपमानित नहीं होती। चरित्रहीनों के बीच वास करने से सरस्वती कलंकित नहीं होती। आश्वस्त हो देवि, तुम पवित्रता की मूर्त्ति हो, कल्याण की खानि हो। समग्र आर्यावर्त्त के ब्राह्मण और श्रमण, देव-मन्दिर और शस्य-क्षेत्र, अनाथ और नारी, पौर और जानपद जिस दिन अपने रक्षक देवपुत्र तुवरमिलिन्द की नयनतारा को पहचान लेंगे, उस दिन वे मन्दिरों में तुम्हारी मूर्त्तियाँ बनाकर पूजेंगे, और यदि कहीं भी इस चिरदृप्त देश में प्राण-कण का लेश-मात्र भी अवशिष्ट होगा, तो प्रत्यन्त दस्युओं को अपने

किये का कठोर प्रायश्चित्त करना होगा। देवि, मैं सचमुच नहीं जानता कि मैं कवि हूँ। मुझे एक-एक श्लोक लिखने में घटियों तक माथापच्ची करनी होती है; परन्तु मैं यदि कवि होता, तो क्या करता, आप जानती हैं? मैं ऐसा गान लिखता कि आर्यावर्त्त के इस कोने से उस कोने तक देवपुत्र की नयनतारा का धवल यश फैल जाता। मैं ऐसा काव्य लिखता कि युग-युग तक इस पवित्र आर्यभूमि में नारी-सौन्दर्य की पूजा होती रहती और इस पवित्र देव-प्रतिमा को अपमानित करने का साहस किसी को न होता। पर देवि, मैं कवि नहीं हूँ।"

भट्टिनी का मुख-मण्डल प्रभातकालीन नवमल्लिका की भाँति खिल गया। स्मयमान मुख की कपोल-पालि विकसित हो गयी। नयन-कोरकों में वंकिम आनन्द-रेखा विद्युत् की भाँति खेल गयी। ललाटपट्ट की वलियाँ विलीन हो गयीं और वह अष्टमी के चन्द्रमा के समान मनोहर हो गया। उनके अशोक-किसलय के समान आताम्र अधरोष्ठ चंचल हो उठे। धीर-प्रसन्न भाव से बोलीं, "कौन कहता है भट्ट, कि तुम कवि नहीं हो? श्लोक बनाना ही तो कविता नहीं है। निरन्तर पवित्र चिन्तन के कारण तुम्हारा चित्त विगत-कल्मष हो गया है। तुम्हारे चारित्र्यपूत हृदय में सरस्वती का निवास है। तुम्हारे अधरों से विमलधारा की भाँति वाणी का स्रोत झरता रहता है। कौन कहता है कि तुम कवि नहीं हो? जिस दिन तुम्हारी शक्तिशालिनी वाक्-स्रोतस्विनी से इस धरा का कल्मष धुल जायेगा, उस दिन लोगों को सचमुच शान्ति मिलेगी। भट्ट, कविता श्लोक को नहीं कहते। हमारे यवन साहित्य में गद्य को काव्य की 'निकषा' कहा है। छन्द, तुक और अलंकार तो कविता के प्राण नहीं हैं। प्राण है रस, विशुद्ध सात्त्विक रस। सच्चे कवि हो। मेरी बात गाँठ बाँध लो, तुम इस आर्यावर्त्त के द्वितीय कालिदास हो।" इतना कह लेने के बाद भट्टिनी ने अचानक अपने को रोक लिया, मानो जितना कहना चाहिए, उससे अधिक कह गयी हों; मानो जहाँ रुक जाना उचित था, उससे बहुत दूर आगे बढ़ गयी हों। फिर उनका मुख कुछ लाल भी हो गया। बड़े-बड़े खंजन-शावक-से चपल नयन झुक गये और अधरोष्ठों का मन्द स्मित जल्दी-जल्दी भीतर भाग जाने की चेष्टा करने लगा। लेकिन भट्टिनी का आनन्द छिपाया नहीं जा सका। रह-रहकर कपोल-पालि विकसित हो उठती थी और नयन-कोरक विस्फारित हो उठते थे। भट्टिनी का मुख आनन्द, व्रीड़ा और मन्द स्मित से मनोहर हो उठा।

मैं मुहूर्त्त-भर तक शिथिल भाव से सोचता रहा। भट्टिनी कह रही हैं, मैं आर्यावर्त्त का द्वितीय कालिदास हूँ। कालिदास आर्यावर्त्त के गौरव थे। मुझे एक बार याद आया मालिनी-तट का वह आश्रम, जिसके पत्ते हूत होम-धूम से मलिन हो गये हैं, जहाँ सैकत पुलिन में हंस मिथुन-लीन हो रहे हैं, जलाशय के मार्ग मुनियों के वल्कल-क्षरित जलधारा की पंक्ति से सिक्त हैं, जहाँ के शान्त-विश्वस्त मृगयूथ ज्यानिर्घोष से एकदम अपरिचित हैं, जहाँ लोल अपांग का दर्शन किसी ने नहीं किया, जहाँ सरल ऋषि-कन्याएँ कृतक पुत्रों की गृहस्थी का रस ले रही हैं। इस शान्त वातावरण में याद आयी वह सौन्दर्य की मूर्त्ति, सुकुमारता की खानि,

शैवालानुविद्ध कमलिनी के समान वल्कलपिहिता शकुन्तला। फिर याद आयी नवोदित वसन्तश्री, नगाधिराज हिमालय की शोभा-सम्पत्ति और शिव का ध्यान। उस दिन कैलास की देवदारु-द्रुम-वेदिका पर निर्वात-निष्कम्प प्रदीप की भाँति स्थिर भाव से आसीन महादेव के सामने अपने ही यौवन-भार से दबी हुई, वसन्त-पुष्पों की आभरण-धारिणी पार्वती जब पुष्प-स्तवक के भार से झुकी हुई संचारिणी पल्लविनी लता की भाँति उपस्थित हुई थीं और अपने नील अलकों में शोभमान कर्णिकार तथा कानों में विराजमान नव-किसलय दल को असावधानी से विस्रस्त करती हुई उस तपस्वी के पाद-प्रान्त में झुकी थीं तो योगी क्षण-भर के लिए चंचल हो उठा था। उसने बरबस अपने नयनों को पार्वती के सुन्दर मुख की ओर व्यापारित किया था; क्षणभर के लिए उसे सारा संसार मधुमय दिख गया था—अशोक कन्धे पर से फूट पड़ा था, वकुल कंटकित हो गया था; न उसने सुन्दरियों के आसिंजित नूपुरों की प्रतीक्षा की थी, न इसने गण्डूषसेक की ! किन्तु एक ही क्षण में योगी सम्हल गया। उसे अपदेवता का अनधिकार हस्तक्षेप—कुसुमबाण-सन्धान —उचित नहीं जान पड़ा। जब तक आकाश से मरुद्गण उससे क्रोध-शमन करने की पुकार करते रहे, तब तक कामदेव कपोत-कर्बुर भस्म में परिणत हो गया। किशोरी पार्वती का कोमल हृदय अपने सौन्दर्य के इस बाँझपन को देखकर झुँझला उठा और उन्होंने तपस्या से इस रूप की वन्ध्यता को दूर करना चाहा। प्रथम दर्शन के प्रेम पर, बाह्य रूप के आकर्षण पर क्षणभर में वज्रपात कराकर, समस्त हिमालय के सौन्दर्य को इस प्रकार असफल बनाकर कालिदास त्याग और तपस्या का आयोजन इस मस्ती के साथ करने में जुट गये, मानो कुछ हुआ ही नहीं; मानो 'कुमारसम्भव' के प्रथम तीन सर्ग माया थे, कवि का उन पर कोई मोह नहीं, कोई ममता नहीं, क्योंकि वे मनुष्य को और उसकी इस दुनिया को ही सब-कुछ नहीं मानते थे। कुछ और भी है। इस दृश्यमान सौन्दर्य के उस पार, इस भासमान जगत् के अन्तराल में कोई एक शाश्वत सत्ता है, जो इसे मंगल की ओर ले जाने का संकल्प किये हुए है।

कालिदास ने भुवनमोहिनी के गौरव को हृदयंगम किया था। वे उच्छृंखल पौरुष की निर्मर्याद महत्त्वाकांक्षा के दोष पहचानते थे। राज्य-गठन, सैन्य-संचालन, मठ-स्थापन और निर्जन-वास पुरुष की समताहीन, मर्यादाहीन, शृंखलाहीन महत्त्वाकांक्षा के परिणाम हैं। इनको नियन्त्रित कर सकने की एक-मात्र शक्ति नारी है। कालिदास ने इस रहस्य को पहचाना था। इतिहास साक्षी है कि इस महिमामयी शक्ति की उपेक्षा करनेवाले साम्राज्य नष्ट हो गये हैं, मठ विध्वस्त हो गये हैं, ज्ञान और वैराग्य के जंजाल फेन-बुद्बुद की भाँति क्षणभर में विलुप्त हो गये हैं। कहाँ कालिदास और कहाँ मैं अभागा बण्ड ! भट्टिनी या तो जान-बूझकर मुझे केवल आश्वस्त करने के लिए यह बात कह रही हैं, या फिर वे कालिदास को ठीक-ठीक जानती ही नहीं। कालिदास ने जिस महासत्य का साक्षात्कार किया था, उसे वे ही प्रकाशित कर सकते थे। सरस्वती स्वयं उनके

कण्ठ में वास करती थीं। वे वाग्देवता के दुलारे थे। मैं पथभ्रान्त, अकर्मा उनकी तुलना में कैसे रखा जा सकता हूँ? फिर भी भट्टिनी का मेरे प्रति आदर-भाव तो है ही। क्षणभर के लिए मैं सोचना-विचारना छोड़कर भट्टिनी के मनोहर मुख को देखने लगा। वह पाटल-प्रसून के समान लाल हो गया था; पर उस लाली ने उसके सौन्दर्य को सौगुना बढ़ा दिया था। भट्टिनी ने मेरी ओर से मुख हटा लिया। वे निपुणिका की ओर देखने लगीं। निपुणिका का चेहरा उतर गया था। जान पड़ता था, किसी अज्ञात आशंका से वह भयभीत हो उठी थी। निदाघान्त में ग्लपित आरग्वध कुसुम के समान उसका पीला मुख मुरझा गया था। उसकी आँखों के नीचे की नीली रेखा और भी नीली हो गयी थी। मैंने भयपूर्वक पुकारा—"निउनिया, तुझे क्या हो गया है?" निउनिया कुछ बोली नहीं। भट्टिनी के आग्रह पर भी वह चुप ही रही और धीरे-धीरे उठकर भीतर चली गयी। भट्टिनी ने उसका अनुगमन किया। मैं नाव की छत पर चला आया।

गंगा का स्वच्छ सैकत-पुलिन चाँदनी में चमक रहा था और उसके बीचोबीच गंगा की धारा दूर तक फैली हुई रजत-चूर्ण से समावृत पारद-प्रवाह की भाँति दिखायी दे रही थी। दिगन्त के एक छोर से एक क्षीण नीली रेखा के रूप में इस धारा का आविर्भाव हुआ था और दूसरे दिगन्त के छोर में उसी प्रकार एक पतली नीली रेखा के रूप में वह विलुप्त हो गयी थी। बीच में उसकी चटुल लहरें एक पर एक सोपान-श्रेणी की भाँति सजी हुई थीं और चन्द्रमा का प्रतिबिम्ब बार-बार उनसे टकराकर खण्ड-खण्ड हो जाता था। सब-कुछ शान्त, स्निग्ध और मनोरम था। आकाश में ताराओं की सभा में चन्द्रमा राजा की भाँति विराजमान था और गंगा की धारा में निपुण मल्ल की भाँति विविध व्यायाम का अभ्यास कर रहा था। मेरे सामने इस निःशब्द प्रकृति के अन्तराल में एक कोलाहलपूर्ण युद्ध चल रहा था। भट्टिनी की पालकी चली जा रही है। सब-कुछ शान्त, गम्भीर और गुरुता लिये हुए है। अचानक प्रत्यन्त-दस्युओं का दल उस पर टूट पड़ता है। दो सौ विश्वस्त सैनिक एक-एक करके मर रहे हैं। उनके श्रम-बिन्दु से सुसज्जित भाल-पट्ट पर कभी न झुकनेवाला निश्चय है। उनके हाथ में नंगी तलवारें हैं, कन्धों पर तीक्ष्ण-फलक कुन्त हैं, हृदय में मर-मिटने की साध है और मनों में भट्टिनी को न बचा सकने का पश्चात्ताप है। उनकी शिराओं से रक्त की धारा छुट रही है। मांसखण्ड लटककर टूट रहे हैं, परतु वे चट्टान की भाँति अपने स्थान पर दृढ़ हैं। धीर नापित निराशा-भरे स्वर में बेटी को निर्भय रहने की पुकार कर रहा है। उसका गला रुँधा है, मस्तिष्क बेचैन है, हाथ शत्रुओं से उलझे हुए हैं और वाणी कातर है; पर उसमें भट्टिनी को बचा लेने की अदमनीय आशा है। और भट्टिनी का कमल के समान प्रफुल्ल मुख भय से काला हो गया है, आँखें विकट दृश्य से पथरा गयी हैं, श्रुति-संवेदन भोथा हो गया है—वे बेहोश होकर गिर पड़ती हैं। मेरे रक्त का प्रत्येक कण झनझना उठा। मैंने अनुभव किया कि शिराओं में सर्वत्र कुछ कर गुजरने की उमंग है; पर करना क्या है?

संसार में यह विकट घृणित दृश्य पहली बार नहीं दिखायी दिया है, यहीं इसकी समाप्ति भी नहीं है। बाणभट्ट जितना भी चिन्तित और उत्तेजित क्यों न हो, यह घिनौना दृश्य संसार में बार-बार दिखायी देगा। महापुरुषों ने करुणा और मैत्री के अनेक उपदेश दिये हैं, भ्रातृभाव और जीव-दया के बहुत ग्रन्थ लिखे हैं, पर उन्हें सफलता नहीं मिली है। मैं निराशा से कातर हो उठा हूँ। क्या यह कभी बन्द नहीं होगा? क्या संसार की सबसे बहुमूल्य वस्तु इसी प्रकार अपमानित होती रहेगी? मेरा मन कहता था कि जब तक राज्य रहेंगे, सैन्य-संगठन रहेंगे, पौरुष-दर्प का प्राचुर्य रहेगा, तब तक यह होता ही रहेगा। परन्तु क्या कभी यह भी सम्भव है कि मानव-समाज में राज्य न हों, सैन्य-संगठन न हों, सम्पत्ति-मोह न हो? मैं कोई उत्तर खोज नहीं पा रहा था। इसी समय मैंने पीछे फिरकर देखा, निपुणिका खड़ी है। उस समय वह प्रकृतस्थ हो गयी थी। हँसती हुई बोली, "एक बात बताऊँ भट्ट, मैं भाग जाने के चौथे दिन तुमसे उज्जयिनी में ही मिली थी।"

मैं इस बिना भूमिका के प्रसंग का कुछ तात्पर्य नहीं समझ सका; पर यह जानकर मुझे आश्चर्य हुआ कि उज्जयिनी में निपुणिका मुझसे मिली थी। मैंने कुतूहल के साथ प्रश्न किया—"क्या कहती है निउनिया, तू उज्जयिनी में मुझसे मिली थी?"

"हाँ भट्ट, मैं उज्जयिनी में तुमसे मिली थी। तुम उस समय शार्विलक के अड्डे पर मुझे ही खोजने गये थे।"

शार्विलक का अड्डा! मुझे उज्जयिनी के जनाकीर्ण लोकालय में मिट्टी के दियों से सदा सुसज्जित वह गन्दी पानशाला याद आ गयी, जहाँ मद्यपों, द्यूतकरों और चोरों का निवास है। वहाँ स्त्रियों की खरीद-बिक्री का भी कारबार होता है। नगर के निचली श्रेणी के विटों, विदूषकों और लम्पटों का वह अड्डा है। मुझे सन्देह था कि निपुणिका कहीं इन लोगों के जाल में न फँस गयी हो, इसलिए कई दण्डधरों को साथ लेकर मैं उस नरक-कुण्ड की तलाशी लेने गया था। वह दुर्गन्ध का भाण्डार है, दुराचार का आश्रय है, लम्पटता का आवास है। वहीं निपुणिका मुझसे मिली थी! मैंने आश्चर्य के साथ पूछा, "तू वहाँ कैसे गयी, निउनिया?"

"मैं मदपायियों को चषक भर-भरकर मद्य दिया करती थी।"

"इसी रूप में?"

"नहीं, मैंने बालक-वेश धारण किया था।"

"तू स्वेच्छा से गयी थी, निउनिया?"

"हाँ भट्ट, मैंने स्वेच्छा से केवल एक दिन के लिए नौकरी कर ली थी और वेतन लिये बिना ही दूसरे दिन भाग आयी।" मैं आश्चर्य से निपुणिका के मुँह की ओर ताकने लगा। वह हँसती हुई बोली, "तुम नहीं समझोगे भट्ट, मैं बता रही हूँ।" फिर निपुणिका ने अपनी कहानी इस प्रकार सुनायी—"तुम्हें जानकर आश्चर्य

होगा कि यद्यपि तुम्हारी नर्त्तकियाँ अवरोध में रहती थीं और तुमने उनको कुल-वधुओं का सम्मान दिया था; पर वे शर्विलक की दूकान का पता जानती थीं। जिस अशुभ रात्रि को मैं तुम्हारे आश्रय को छोड़कर भागी, उस रात्रि को शार्विलक की दूकान बन्द थी। वह तुम्हारे प्रकरण का अभिनय देखने गया था। मैं नेपथ्य से नटी के वेश में ही भाग पड़ी थी। बड़ी देर तक मैं उज्जयिनी की सूनी गलियों में मारी-मारी फिरी। उस रात्रि को उज्जयिनी के समस्त स्त्री-पुरुष बाणभट्ट का अभिनय देखने गये हुए थे। गवाक्षों के कपाट बन्द थे। अलिन्दों की देहलियाँ सूनी थीं। वीथियों में यत्र-तत्र राजकीय प्रदीप अन्धकार दूर करने का असफल प्रयत्न कर रहे थे। मैं एक-दो घटी तक कुछ ठीक न कर सकी कि कहाँ जाऊँ। मेरा मन बुरी तरह आहत था। मैं लज्जा और निराशा से पागल हो गयी थी। आज सोचती हूँ, तो जान पड़ता है, मैंने कितनी बड़ी मूर्खता का काम किया था। घूमते-घूमते मैं थक गयी और एक बार मन में आया कि फिर लौटकर तुम्हारे ही आश्रय में चली जाऊँ। मुझे पूरा विश्वास था कि तुम मुझे क्षमा भी कर दोगे। पर मेरा भाग्य अप्रसन्न था, मैं आगे बढ़ी। मुझे बिल्कुल मालूम नहीं था कि मैं कहाँ चली जा रही हूँ। घूमते-घामते मैं एक बड़े प्रासाद के सामने पहुँच गयी। मुझे ऐसा लगा कि यह जरूर परम-भट्टारक के किसी राज-कर्मचारी का प्रासाद होगा। प्रासाद के भीतर दीपमालिका-सी जगमग हो रही थी। भीतर दो-चार दासियाँ कदाचित् रही हों, पर बाहर कोई नहीं था। मैं अन्धकार में एक जगह खड़ी होकर सोचने लगी कि क्या यहाँ मुझे एक रात के लिए कोई रुकने देगा? इसी समय मैं जिस स्थान पर खड़ी थी, उसके पास ही हलचल-सी हुई। फिर दो काले भूत-जैसे आदमी उस स्थान के एक बिल में से निकल पड़े। उनके सारे शरीर में तेल चुपड़ा हुआ था और पहनावे में एक नील लँगोट के अतिरिक्त और कुछ न था। बाहर आते ही वे कुछ सँभालने लगे। मैं उन्हें देखते ही मारे डर के चिल्ला उठी और मूर्च्छित होकर धड़ाम-से गिर गयी। मेरा चिल्लाना सुनते ही वे सब-कुछ छोड़-छाड़कर भाग गये। उस समय तुम्हारा प्रकरण अभिनीत हो चुका होगा; क्योंकि मेरे गिरने के कुछ क्षण बाद ही नगरी की प्रधान गणिका मदनश्री की गाड़ी वहाँ लगी। उल्का के प्रकाश में एक दासी ने मुझे देखा और आश्चर्य तथा भय से चिल्ला उठी। मदनश्री ने गाड़ी से उतरकर मुझे उठाया। मैं उस समय संज्ञाहीन तो नहीं थी, पर मेरी शिराएँ हत-चेष्ट हो गयी थीं। मैं लज्जा और भय से जड़ीभूत बनी वहीं पड़ी रही। मदनश्री ने मेरा वेश देखकर मुझे पहचान लिया। आश्चर्य और कुतूहल से वह हैरान-सी रह गयी। अस्फुट स्वर में बोली, 'यह तो बाणभट्ट की नर्त्तकी है!' फिर उसने बड़े प्यार से मेरे सिर पर हाथ रखा और हेला के साथ बोली, 'कहाँ चली हो, हला! इसी वेश में अभिसार को निकल पड़ीं! वह कौन सौभाग्यशाली प्रेमी है, जिसके लिए इस गहन अन्धकार में तुम चल पड़ीं? निष्ठुर है वह सखी, निष्ठुर है!' मैंने मदनश्री को पहचाना। हँसकर बोली, 'मेरा प्रिय यम है, हला!'

मदनश्री ने मेरे कपोल पर हल्का-सा आघात किया—'छि: सरले, ऐसा भी बोलते हैं! उठो तो।' मैं उठी और मेरे वस्त्रों में उलझी हुई एक पटोलिका गिर पड़ी। उसमें की सामग्री रास्ते पर बिखर गयी। भागते समय चोर उसे फेंक गये होंगे। पटोलिका में अलक्तक (महावर), मनःशिला, हरिताल, हिंगुल और राजावर्त्त का चूर्ण रखा हुआ था। स्पष्ट ही वह मदनश्री की चित्रकर्म की सामग्री थी। मुझे बाद में चलकर पता चला कि मदनश्री बहुत अच्छा चित्रकर्म जानती थी। महाकाल के मन्दिर में जो हर-पार्वती की मनुष्य-प्रमाण प्रतिकृति तुमने देखी थी, वह उसी का बनाया हुआ था। उसे मनःशिला और राजावर्त्त के चूर्णों के मिश्रण का अद्भुत प्रयोग मालूम था। न जाने सिक्थक (मोम) में ऐसी क्या वस्तु वह मिला देती थी कि मनःशिला का रंग एक विचित्र प्रकार से चमक उठता था। तो उस पटोलिका को देखकर गणिका के आश्चर्य का ठिकाना नहीं रहा। मुझे डरी हुई देखकर उसने पहले अनुमान किया था कि उसके रथ को देखकर ही मैं डर गयी थी। बाद में जब मैंने चोरों की बात बतायी, तो उसने शंकित-भाव से सेंध की ओर देखा। पटोलिका के अतिरिक्त उसके शृंगाराधान की पेटिका भी बाहर पड़ी हुई थी। एक बार तो वह कातर भाव से चिल्ला उठी कि 'हला, मैं लुट गयी!' पर ध्यान से देखने पर मालूम हुआ कि पेटिका से कुछ गया नहीं है। उसने कृतज्ञतापूर्वक मुझे गले लगा लिया। बोली, 'सखि, तुम न आयी होतीं, तो मेरा सर्वस्व लुट जाता।' फिर ज़रा रुककर बोली, 'सखि, तुम लोग तो बाण-भट्ट की कुलवधू हो, क्या यहाँ एक रात नहीं रुक सकतीं?' मैं क्या कहूँ भट्ट, जिस समय उसने तुम्हारा नाम इस ढंग से लिया, उस समय मेरा मुँह क्रोध से और अमर्ष से लाल हो गया। उसके इस कथन का तात्पर्य तुम नहीं समझ सकोगे। वह कलुष-मानस का कलुषतर अभियोग था। मुझे अपने ऊपर भी बड़ा क्रोध आया, क्योंकि वह बराकी मुझे तब भी अभिसारिका समझ रही थी और मुझे चिढ़ाने के लिए ही उसने ऐसा वाक्य कहा था। मैंने शान्ति के साथ ही कहा, 'सखि, मेरी-जैसी अभागिनों को देखकर बाणभट्ट को छोटा न समझो। मैं अब वहाँ नहीं जाऊँगी।' गणिका अवाक् होकर मेरे मुँह की ओर देखने लगी। फिर मेरा हाथ पकड़कर बोली, 'चलो, भीतर चलें।' मैं मदनश्री के साथ उसके विशाल महल में घुस गयी। जिसे एक क्षण पहले 'बाणभट्ट की कुलवधू' कहा गया था, उसे गणिका के घर में प्रवेश करने के पहले मर जाना चाहिए था। भट्ट, मैंने तुम्हारे पवित्र नाम को कलंकित किया है, मैं अपराधिनी हूँ!"

इतना कहकर निपुणिका ने घुटने टेककर मुझे प्रणाम किया। मैं धड़फड़ाकर उठ खड़ा हुआ। निपुणिका की इन समस्त बातों का रहस्य मैं बिल्कुल नहीं समझ सका था। उसने शान्त भाव से कहा, "बैठो भट्ट, थोड़ा और बैठो।" मैं बैठ गया। निपुणिका का चेहरा खिल गया। एक क्षण में ही मेघमुक्त चन्द्र-मण्डल की भाँति, शैवालमुक्त कमलपुष्प की भाँति, काई हटायी हुई पुष्करिणी की भाँति और कुज्झटिका-विरहित दिङ्मण्डल की भाँति वह प्रसन्न और निर्मल हो गयी,

मानो उसके हृदय का कोई विशाल शल्य निकल गया हो, चित्त में धँसी नुकीली कील बाहर निकल आयी हो। वह फिर बोली, "मदनश्री का प्रासाद बहुत विशाल था। उसके द्वार पर नाना भाँति की कुसुम-मालिकाएँ मनोहर ढंग से सजी थीं। भिन्न-भिन्न प्रकोष्ठों में शुक-सारिका, लाव-तित्तिर, हंस-कारण्डव, मयूर-सारस के निवास थे। घोड़ों और मेषों के लिए अलग प्रकोष्ठ थे और नागरजनों के विश्राम और गान-नृत्य सुनने के अलग-अलग प्रकोष्ठ नियत थे। उसके प्रमद-वन की स्थण्डिल-पीठिकाओं पर नगरी के बड़े-बड़े श्रेष्ठि-कुमार कुसुमास्तरण (फूल बिछाना) किया करते थे। उसकी क्रीड़ा-वापी के हंसों और चक्रवाकों को मृणाल भक्षण कराना नागरिक लोग सौभाग्य का कार्य मानते थे। मदनश्री ने बड़े उद्धत गर्व के साथ तुम्हारे विषय में कुवाच्य कहे थे भट्ट, पर उस बेचारी का दोष नहीं था। उसने पुरुष देखा ही नहीं था। उस बन्धुलों, विटों, लम्पटों और स्त्रैणों की रंगभूमि में मनुष्य का कहीं पता न था। उसने गर्वपूर्वक जब कहा था कि 'तेरे बाणभट्ट-जैसे सैकड़ों यहाँ तलवे चाटने आया करते हैं, सखी!' तो मुझे उस पर क्रोध नहीं हुआ था। मैंने केवल उपेक्षा की हँसी हँस दी थी। दूसरे दिन जब वह चीनांशुक में सजकर, गले में रत्नावली पहनकर, लोध्ररेणु से कपोल-संस्कार कर और अलक्तक-रंजित पैरों को कुसुम-स्तवक वाले उपानहों से सज्जित कर तुमसे मिलने गयी थी, तो मैं क्षणभर के लिए चिन्तित हो गयी थी!" इतना कहने के बाद निपुणिका कुछ लजा-सी गयी। फिर सँभलकर बोली, "तुम्हें स्मरण है न भट्ट, दूसरे दिन वह तुमसे मिलने गयी थी!"

मैं उस घटना को भूल गया था। आज निपुणिका के स्मरण कराने पर उज्जयिनी की मदनश्री का रूप स्मृति-पट पर एकाएक आ उपस्थित हुआ। उस दिन निपुणिका के न मिलने के कारण मैं बहुत चिन्तित था। उसी समय मेरे एक भृत्य ने समाचार दिया कि नगरी की प्रधान गणिका मदनश्री कल के अभिनय की सफलता पर बधाई देने को पधारी है। मैंने उसका स्वागत किया था। उसमें कुलकन्या का-सा शील था और कवि की-सी प्रतिभा। उसने अलक्तक भी धारण किया था, यह मुझे खूब याद है; क्योंकि जब उसने कुट्टिम-भूमि पर पैर रखा, तो मैंने आश्चर्य के साथ देखा कि उस पर प्रवालमणि की रसधारा-सी बह गयी; ऐसा जान पड़ा, मानो लाल-लाल लावण्य-स्रोत से सारा कुट्टिम प्लावित हो गया है। उसके चीनांशुक के किनारों पर एक हल्की लाली की लहर-सी डोल रही थी। नूपुरों की क्वणन-ध्वनि ने उस तरंगायित अलक्ताभा को शोभामय बना दिया था। मैंने रत्नावली माला को शायद लक्ष्य ही नहीं किया; पर उसके अंशुकान्त (आँचल) के बाहर निकले हुए बाहु-युगल को देखकर मृणाल-नाल का भ्रम हुआ था। उसकी पतली, छरहरी अंगुलियों की नख-प्रभा से वे वलयित जान पड़ते थे। मदनश्री नगर की प्रधान गणिका होने के योग्य ही थी। उसके प्रवाल के समान लाल-लाल अधर-युगल अनुराग-सागर की तरंगों के समान मोहन दिखायी दे रहे थे। उसके गण्डस्थल की रक्तावदात कान्ति देखकर मदिरा-रस से पूर्ण माणिक्य-शुक्ति के

सम्पुट की याद आ जाती थी। उसकी बड़ी-बड़ी काली आँखें शतदल-विबद्ध भ्रमर की भाँति मनोहर थीं। भ्रू-लताएँ मदमत्त यौवन-गजराज की मदराजि की भाँति तरंगायित होती दिख रही थीं और ललाट-पट्ट पर मनःशिला का लाल बिन्दु अनुराग-प्रदीप की भाँति जल रहा था। उसने लोध्ररेणु से अंसस्थलों का संस्कार अवश्य किया होगा, क्योंकि माणिक्य कुण्डलों में उसके उड़े हुए चूर्ण लगे हुए थे और ऐसा जान पड़ता था कि कर्णोत्पल से क्षरित मधुधारा में पद्म-किंजल्क-चूर्ण वहे जा रहे हों। ललाटमणि की लाल किरणों से धुले हुए उसके मेचक केशपाश सन्ध्याकालीन मेघाडम्बर की भाँति दर्शक को बरबस आकृष्ट कर रहे थे और ऐसा जान पड़ता था कि एक अद्भुत मदधारा लोचन-जगत् को विह्वल कर रही है। उसकी हँसी में बालिका की-सी सरलता प्रकट हुई थी और क्षणभर के लिए मेरा उद्विग्न चित्त भी उस शोभा की मनोहारिणी पद्मराग-पुत्तलिका को देखकर विश्राम पाने लगा था। उससे थोड़ी देर तक ही बातचीत हुई थी। मैं घूम-फिरकर खोयी हुई निपुणिका की बात पर आ जाता था; पर वह कला और शिल्प की बात करना चाहती थी। वह उठकर जब चली गयी, तो मैं भूल ही गया कि कोई आया था। विद्युत् की क्षणस्थायी प्रभा की भाँति वह एक भूल जाने योग्य झलक छोड़ गयी थी। मुझे ऐसा लगा था कि वह मेरे वैदग्ध्य का आदर नहीं कर सकी, और मैंने उसकी परवा भी नहीं की, क्योंकि मैं उस दिन अपनी विदग्धता का श्राद्ध करने जा रहा था।

निपुणिका ने कहा, "भट्ट, वह लौटकर आयी, तो उसका चेहरा उतर गया था। उसने जीवन में पहली बार ऐसा पुरुष देखा था, जो स्त्री का सम्मान तो करता है, पर तलवा नहीं चाटता। उसने सूखी हँसी के साथ कहा—'बाणभट्ट आदमी नहीं है, हला!' मैंने गर्वपूर्वक उत्तर दिया—'वह देवता है, सखी!' भट्ट मैंने तुम्हारा नाम कलंकित किया था, पर तुमने मेरा मान रख लिया। मैं उसके सामने गर्व से सिर ऊँचा करके चलने लगी। मैंने उस अभागी रात के समस्त क्षोभ को धो दिया। मैं उसी दिन से अपने को हाड़-मांस की गठरी से अधिक समझने लगी। तुमने मुझे मुक्ति दी है, भट्ट!"

मैं आश्चर्य के साथ निपुणिका की बात सुन रहा था। अब मेरे लिए धैर्य रखना असम्भव हो गया। बोला, "मैं देवता हूँ, यह जानने की इस समय मुझे क्या आवश्यकता है, निउनिया! असली बात बता न! इतनी बड़ी कहानी का आज क्या प्रयोजन है?" निपुणिका ने आहत भाव से कहा, "तुम्हारे लिए कोई मूल्य नहीं है इस कहानी का; पर मेरा तो यही सर्वस्व है। गले तक पाप-पंक में डूबी हुई निउनिया के पास और धन है ही क्या, भट्ट?" मैंने स्नेह के साथ कहा, "ना, निउनिया, मूल्य तो मेरे लिए पर्याप्त है। तेरे सारे जीवन की कहानी मैं सुनना चाहता हूँ। तूने मुझमें जो कुछ देखा है, वह मैं स्वयं न देख सका हूँ और न समझ पाया हूँ। मूल्य क्यों नहीं है, पर प्रयोजन तो बता!"

पर निपुणिका सब-कुछ कह जाना चाहती थी। उसे रोकना ठीक नहीं था,

क्योंकि ऐसा करने से उसके दुखी चित्त को ठेस लगती। एक बार उसको ठेस लगाकर मैं जिस प्रकार चिन्तित और उद्विग्न हो गया था, उसकी पुनरावृत्ति अब असम्भव थी। वह कहने लगी और मैं सावधान होकर सुनता रहा। निपुणिका ज़रा सँभलकर मुस्कराती हुई बोली, "तुम विश्वास नहीं कर सकोगे, भट्ट, मदनश्री बुरी तरह पराजित हुई थी।" इतना कहने के बाद निपुणिका की आँखें झुक गयीं और वह रुक-रुककर हँसती हुई बोली, "बताऊँ, भट्ट ! एक दिन मदनश्री के प्रमदवन में मैं घूम रही थी। प्रमदवन के पूर्वी सिरे पर अशोक और वकुल वृक्षों के बीच माधवी-लता का मण्डप था। उसके चारों ओर कुरबक का बेड़ा दिया हुआ था। उसी एकान्त कुंज में मैंने आश्चर्य के साथ देखा कि उज्जयिनी की प्रधान गणिका एकाग्र चित्त से चित्र बना रही है। अनाड़ी भी समझ सकता था, उसका हृदय गम्भीर अनुराग से उत्क्षिप्त था। दुकूल विस्रस्त भाव से एक ओर पड़ा हुआ था, कंचुकबन्ध शिथिल हो गये थे, नयनपक्ष्म स्थिर और चिन्तामग्न थे, अंगुलियाँ सफाई से घूम रही थीं और प्रवालमणि के समान लाल ओठों पर मनःशिला और लाजावर्त्त के रंग लगे हुए थे। उस समय वनस्थली शान्त थी, वृक्षों पर पक्षि-विराव एकदम नहीं था, लताओं के किसलय तक मानो सम्भ्रम के कारण स्तब्ध थे। मैं दबे पाँव उसके पीछे जाकर खड़ी हो गयी और साँस रोककर उसका कला-नैपुण्य देखने लगी। उसने चित्र का प्रायः समस्त अंग नील प्रावरण से ढक रखा था। केवल पैरों की अंगुलियाँ बाकी थीं। वह बड़े यत्न से उस पर रंग चढ़ा रही थी। चित्र समाप्त होने के बाद उसने बड़ी सुकुमार भंगी से नील प्रावरण को हटाया। मैं आश्चर्य से स्तब्ध रह गयी। भट्ट, वह तुम्हारा ही चित्र था।"

मैंने हँसकर कहा, "निउनिया, चण्डी-मण्डप के पुजारी के बाद उपहास करने योग्य व्यक्ति तुझे नहीं मिला था, अब मैं मिल गया हूँ।" निउनिया ने सिर ऊपर उठाया। वह हँस रही थी। उसकी आँखें बार-बार नीचे झुक जाती थीं और वह बार-बार ऊपर उठाना चाहती थी। हँसी की शुचिता उन्हें ऊपर ले जाती थी और सरसता नीचे झुका देती थी। जरा कनखियों से स्थिर भाव से देखती हुई बोली, "लेकिन वास्तविक बात तो अभी मैंने बतायी ही नहीं।" वह अबकी बार आँखें झुकाकर देर तक हँसती रही। फिर सम्हलकर बोली, "भट्ट, उसकी हथेलियों में पसीना आ गया था और चित्र पर एक-आध बूँद आँसू भी गिरे थे !" यह बनायी हुई बात थी। निपुणिका की आँखें ही इसका प्रमाण थीं। मैंने कहा, "सात्त्विक भाव के स्वेद-बिन्दु ?" अब निपुणिका जोर से हँस पड़ी। उसकी आँखें ऊपर नहीं उठीं और आँचल मुँह पर चला गया। थोड़ी देर के बाद निपुणिका ने कहा, "मैंने पीछे से सीत्कार किया। गणिका मुझे देखकर लजा गयी। उसका लज्जित मुख बहुत सुन्दर था, भट्ट ! तुम देखते तो कविता लिख देते। मैंने हँसकर पूछा, 'किस बड़भागी का चित्र बना रही है, हला !' लज्जा और अनुराग गणिका को मूक नहीं बनाते, और भी प्रगल्भ बना देते हैं। हँसती हुई बोली, 'तेरे

देवता का !' और चित्र-फलक मुझे दे दिया। मैं दूसरे ही दिन उसे चुराकर भाग खड़ी हुई थी, भट्ट !"

फिर थोड़ा रुककर निपुणिका बोली, "मैं बहुत दिन नहीं जीऊँगी, भट्ट, थोड़े दिनों की अतिथि हूँ। मेरा एक अनुरोध तुम्हें रखना होगा।" निपुणिका की इस कहानी का यह उपसंहार सुनकर मैं सिहर गया। बोला, "छिः निउनिया, ऐसा भी बोलते हैं !" किन्तु वह सुनने को प्रस्तुत नहीं थी। बोली, "भागते समय मैंने बालक-वेश धारण कर लिया था। तुम्हारे आवास पर गयी, तो पता लगा कि तुम मुझे खोजने कहीं गये हो। यह भी पता चला कि शार्विलक की दूकान पर दण्डधरों के साथ तलाशी लेने जाओगे। मैं एक बार सिर्फ तुम्हें देखकर उज्जयिनी छोड़ देना चाहती थी। शार्विलक की दूकान पर मैं चली जा रही थी कि रास्ते में एक शकद्वीप का ब्राह्मण ज्योतिषी मिल गया। उसने मुझे देखते ही कहा, 'आ बेटा, तेरा भाग्य गिन दूँ।' मैंने एक दीनार ज्योतिषी को दिया। मेरे पास बहुत थे। उसने नाना भाँति के चक्र खींचकर बताया कि 'तेरा भविष्य अच्छा है; पर तुझे दुःख भोगना है।' मैंने पूछा कि 'मैं जिससे भेंट करने जा रहा हूँ, उसके विषय में कुछ बताओ।' उसने थोड़ी देर तक गणना करने के बाद कहा, 'वह बड़ा यशस्वी कवि होगा, परन्तु कोई रचना समाप्त नहीं कर सकेगा। जिस दिन वह कविता लिखने बैठेगा, उस दिन से उसकी आयु क्षीण होने लगेगी। वह उसके बाद सहस्र दिन तक जीवित रह सकेगा।' ज्योतिषी की बात से मैं शंकित हो गयी और हाथ जोड़कर बोली, 'कोई बचने की विधि है क्या, आर्य ?' ज्योतिषी ने सिर हिलाकर कहा, 'है।' फिर थोड़ी देर चुप रहने के बाद ज्योतिषी ने कहा, 'उससे कह देना कि किसी जीवित व्यक्ति के नाम पर काव्य न लिखे।' मैंने यह सुनकर तत्काल शार्विलक की दूकान का रास्ता लिया। सौभाग्य से वह उस समय प्रसन्न था और चषक भरने के काम में मुझे नियुक्त कर लिया। तुम दण्डधरों के साथ आये और मैंने तुम्हें जी भरकर देखा। तुमने घृणा के कारण मेरी ओर ताका भी नहीं। नगर-प्रतीहार जरा देर बाद आये थे और उनसे तुम कह रहे थे कि अपना लिखा हुआ प्रकरण तुमने सिप्रा में फेंक दिया है। और जब तक निपुणिका नहीं मिल जाती, तब तक न तुम नाटक लिखोगे, न खेलोगे। मैं सुनकर आश्वस्त हो गयी और नहीं मिलने का संकल्प लेकर भाग आयी। आज भट्टिनी के बारे में तुमने जब कविता लिखने की बात कही, तो मेरा चित्त काँप उठा। मैं यही कहने आयी हूँ भट्ट, कि तुम भट्टिनी के या किसी अन्य जीवित व्यक्ति के विषय में कविता मत लिखो। मेरा अनुरोध रख लो, मैं अकिंचन गरीब केवल प्रार्थना कर सकती हूँ।"

निपुणिका ने जानुपातपूर्वक प्रणाम किया। मैंने उसे आश्वासन देते हुए कहा, "मैं तेरा अनुरोध पालन करूँगा, निउनिया; पर मैं ज्योतिषी की बात पर विश्वास नहीं करता।" निउनिया आँख फाड़कर मेरी ओर देखने लगी। ज्योतिषी की बात पर विश्वास न करना उसकी समझ में आने लायक बात नहीं थी। मैंने

कुछ अधिक नहीं कहा। केवल आकाश की ओर देखकर एक दीर्घ निःश्वास लिया। मैं जानता हूँ कि इधर हाल ही में यवन लोगों ने जिस होरा-शास्त्र और प्रश्न-शास्त्र नामक ज्योतिष-विद्या का प्रचार इस देश में किया है, वह यावनी पुराण-गाथा के आधार पर रचा हुआ एक अटकलपच्चू विधान है। भारतीय विद्या ने जिस कर्म-फल और पुनर्जन्म का सिद्धान्त प्रतिपादित किया है, उसके साथ इसका कोई मेल ही नहीं है। यहाँ तक कि हमारे पुराण-प्रथित ग्रह-देवताओं की जाति, स्वभाव और लिंग तक में अद्भुत विरोध स्वीकार कर लिये गये हैं। हमारे पुराण-प्रसिद्ध शुक्र और चन्द्रमा इस ज्योतिष में स्त्री-ग्रह मान लिये गये हैं, क्योंकि यवन-गाथाओं की वीनस और डिएना देवियाँ हैं और वे ही इन ग्रहों की अधिष्ठात्री देवी मान ली गयी हैं। ग्रह-मैत्री का तो अद्भुत विधान है। आर्य-पुराण ग्रन्थों से इस मैत्री-बन्ध का कोई समर्थन नहीं होता। इस विद्या ने देश के अशिक्षित जन-समूह को खूब प्रभावित किया है, और धीरे-धीरे यह विद्या कुसंस्कार के रूप में राजाओं और पण्डितों में फैलती जाती है। सबसे आश्चर्य तो यह है कि भगवान् बुद्ध के प्रवर्त्तित सौगत-मार्ग में भी इसका प्राधान्य स्थापित हो गया है। मैं इसका रहस्य जानता हूँ, परन्तु निउनिया नहीं जानती। तो भी उसको आश्वस्त करने के लिए मैंने प्रतिज्ञा की कि किसी जीवित व्यक्ति के विषय में कविता लिखने में संकोच करूँगा। अन्त तक मेरी प्रतिज्ञा निभ नहीं सकी; पर जिस दिन वह टूटी, उस दिन निपुणिका हमें छोड़कर लोकान्तर को प्रस्थान कर चुकी थी। हम दोनों थोड़ी देर तक चुप बैठे रहे। नौका के नीचे से आनन्द-गद्‌गद स्वर में सुनायी दिया :

जलौघमग्ना सचराचरा धरा विषाणकोट्याखिलमूर्त्तिधारिणा।
समुद्धृता येन वराहरूपिणा स मे स्वयंभूर्भगवान् प्रसीदतु ॥

कण्ठ भट्टिनी का था। निपुणिका धड़फड़ाकर उठ पड़ी—"भट्टिनी की पूजा समाप्त हो गयी। चलो, प्रसाद लें।"

नवम उच्छ्वास

त्रिवेणी पार करने के बाद हमारी नौकाएँ गुणकर्ष के बिना ही तीव्र गति से चलने लगीं। इसके पहले मल्लाहों को कई स्थानों पर नौकाओं को खींचना या ठेलना पड़ा था; पर प्रयाग के बाद पानी की कमी नहीं रही। सबसे बड़ी बात जो अब मेरे आवारे चित्त को चंचल करने लगी, वह यह थी कि गंगा अब प्रायः ही

छोटी-मोटी पहाड़ियों के पार्श्व को दरेरती हुई चलने लगी थी। विन्ध्याटवी का आकर्षण मैं अपने जीवन में कभी नहीं काट सका हूँ। पूर्व-समुद्र से अपर-समुद्र तक विस्तीर्ण, पृथ्वी की मनोहर मेखला के समान, मध्यदेश की अलंकारस्वरूपा यह परम रमणीय विन्ध्याटवी बाल्यकाल से ही मेरे चित्तरूपी चपल अश्व का खलीन (लगाम) रही है, वैराग्य-रूप द्विरद (हाथी) का अंकुश रही है; और भ्रमणोन्माद-रूप मानस-द्वन्द्व का कवच रही है। मैं घूम-फिरकर इसके पास लौट आया हूँ। मैं उन वृक्षों की माया नहीं काट सका, जो जंगली हाथियों के मदजल से सिक्त होकर बढ़े हैं, जिनके मस्तक पर के श्वेत कुसुम बहुत ऊँचे पर स्थित होने के कारण उलझे हुए नक्षत्रों के समान शोभित होते हैं, जिनकी घनी छाया एक ही साथ शान्ति और सम्भ्रम को उत्पन्न कर देती है। शैशव काल में मैंने इस विशाल विन्ध्याटवी के एक अंशमात्र का आस्वाद पाया था, आज देश-विदेश घूमने के बाद मैंने इसके प्रत्येक भाग का रस निपुण भाव से उपलब्ध किया है। इसमें कहीं मदमत्त कुरर पक्षी अपने चंचुओं से मरीच-पल्लव कुतरते देखे जाते हैं; कहीं गज-शावकों के शुण्ड-कण्डूयन से तमाल-वृक्ष के किसलय टूट-टूटकर वन-भूमि को आमोद-मग्न कर देते हैं; कहीं मधुपान से लाल बने हुए केरल-कामिनी के कपोल-तल की शोभा आहरण करनेवाले बाल-तरु-पल्लव ऐसे लगते हैं मानो लीलालोल वनदेवताओं के चरणालक्तक (महावर) के रंग से लाल हो गये हों; कहीं ऐसे अनेकानेक लता-मण्डप विराज रहे हैं, जिनके तलदेश शुक पक्षियों के कुतरे हुए दाड़िमी फल के रस से आर्द्र हो गये होते हैं, जिनके भीतर चपल वानरों द्वारा कम्पिल्ल (नारंगी) वृक्ष के फल और पल्लव गिराये गये होते हैं, जो निरन्तर पुष्प-रेणु के झड़ते रहने से रेणुमय हो गये होते हैं, और जिनके भीतर पथिक लोग लवंग-पल्लवों की शय्या बिछाकर विश्राम कर लेते हैं।

जब हमारी नौका इन पहाड़ियों के तलदेश से चलने लगती थी, तो मेरा चित्त छिन्न-रज्जु वृषभ की भाँति भाग पड़ता था और मदस्रावी गजयूथों, निर्झर-मुखर गिरि-कन्दराओं, नीरन्ध्र नील निचुल-(बेंत) कुंजों और एला-लवंग तथा तमाल के झुरमुटों में दौड़ पड़ता था। चरणाद्रि-दुर्ग (चुनार) को विन्ध्याटवी-वेष्टित गंगा ने तीन ओर से घेर लिया है। यहाँ से एक ही दृष्टि में मैंने दूर तक फैले हुए बदरी-वृक्षों के झुरमुट, बनपनस के झाड़ और सीताफलों की काली वनराजि देखी। एक बार जी में आया कि कूद पड़ूँ इस वनदेवताओं के आवास में, इस उन्मद मयूरों की विहारस्थली में, इस करेणु-सेवित कान्तार में, इस निर्झर-मुखर विन्ध्याटवी में। दुर्ग के अपर-प्रान्त में घाट था। नौका वहीं रोक दी गयी थी। मैं बड़े उदास भाव से विन्ध्याटवी की ओर देख रहा था, क्योंकि उसमें धँस पड़ने को मैं स्वतन्त्र नहीं था।

इसी समय मेरी साथवाली नौका का एक सैनिक युवक मेरे सामने आया और जानुपातपूर्वक प्रणाम करके बोला, "आर्य, अनुमति हो तो एक प्रयोजनीय विषय में कुछ निवेदन करूँ।" मैंने युवक को ध्यान से देखा। इकहरा शरीर,

चौड़ी छाती, बड़ी-बड़ी आँखें और सहज आनन्दमय मुखमण्डल देखकर अहैतुक आनन्द-सा हुआ। बोला, "क्या कहना है, भद्र? अवहित हूँ, बोलो।" युवक ने नम्रतापूर्वक कहा, "यह चरणाद्रि-दुर्ग है। कान्यकुब्जेश्वर का यही इस समय तक का पूर्वी दुर्ग है। इसके बाद के देशों में इस समय अराजकता है। उत्तर का काशी और दक्षिण का करूष जनपद इस समय न तो मगध के गुप्तों के हाथ में है और न अपने। महाराजाधिराज के ज्येष्ठ ने यहाँ बड़ी कुशलता की नीति बरती थी। उन्होंने उत्तरी तट के कुछ ब्राह्मणों को भूमि का अग्रहार देकर अपने पक्ष में कर लिया है। ये भूमि-अग्रहारभोजी ब्राह्मण समस्त जनपद में प्रधान हो चुके हैं। वे ही इधर के सामन्त हैं। उनमें वैदिक क्रिया लोप होती जा रही है। अब वे खुलकर बौद्ध राजा का समर्थन करने लगे हैं। पर दक्षिण के व्याघ्रसरोवर में आभीर सामन्त ईश्वरसेन का प्रभाव है। वह गुप्त सम्राटों का बड़ा ही विश्वास-भाजन है। कुमार ने हमें आदेश दिया है कि नौका उत्तरी तट से ले जायी जाय और इन प्रान्तों में हमें कोई कान्यकुब्ज न समझ सके। आर्य को भी इस स्थान पर सावधान रहना होगा।"

इस संवाद ने मुझे जैसे सोते से जगा दिया। मुझे कुमार का वह उपदेश याद आ गया जिसमें उन्होंने संकोचपूर्वक बताया था कि झूठ बोलना सदा अनुचित नहीं होता। वह उपदेश क्या इसी अवसर के लिए था? यदि इसी अवसर पर उस उपदेश की आवश्यकता है, तो हम निश्चय ही किसी भयजनक स्थान पर आ गये हैं। मैं कुछ बोला नहीं; पर मेरे मुख पर उद्वेग के चिह्न जरूर लक्षित हुए होंगे, क्योंकि उस प्रसन्न-मनोहर युवक के दीप्त भाल-पट्ट पर गाम्भीर्य दिखायी दिया, उसका गण्डस्थल धौतकेसर कदम्ब-पुष्प की भाँति परिम्लान हो गया और उसके लाल होंठ कुछ व्यग्र भाव से स्फुरित हो गये। पर वह बोला नहीं। धीरे-से प्रणाम करके चला गया और थोड़ी देर में एक वृद्ध सैनिक के साथ फिर लौट आया। मैं उस समय चिन्तित था। क्या फिर भट्टिनी को लेकर मैं भय-स्थान की ओर अग्रसर हो रहा हूँ? परन्तु मैं तो कान्यकुब्जेश्वर के राज्य से बाहर निकल जाने के लिए ही चला हूँ। फिर डरने की क्या बात है?

वृद्ध सैनिक ने प्रणिपातपूर्वक निवेदन किया—"आर्य, इस बालक ने आपसे जो कुछ कहा है, वह सत्य है; परन्तु इससे आपके चिन्तित या उद्विग्न होने की बात नहीं है। दूसरी नौका में दस क्षत्रिय कुमार आपकी रक्षा के लिए तैयार हैं। आर्य, इन नाड़ियों में मौखरियों का उष्ण रक्त प्रवाहित हो रहा है। मैं प्रतापी यशोवर्मा का सेवक हूँ। मदमत्त हाथियों के धाराजल की वर्षा में मेरी आयु कटी है, शस्त्रों के झणत्कार में ही मैंने जीवन का संगीत सुना है, अश्व की पीठ पर ही मेरा विश्राम हुआ है। आज मौखरियों का प्रतापानल निर्वापित हो गया है; किन्तु उस जाति में अब भी प्राण हैं। आज बड़े पुण्य से इस पवित्र जाह्नवी की जलधारा पर ब्राह्मण-दम्पती की सम्मान-रक्षा का भार इन भुजाओं पर है। आप निरुद्विग्न हों, आर्य! आज तक विग्रहवर्मा ने पराजय नहीं देखी है। मृत्यु की देहली पर

खड़ा होकर कभी भी वह अपने समस्त जीवन के यश को काला नहीं होने देगा।"

वृद्ध की दर्पोद्धत गर्वोक्तियों में एक अत्यन्त सहज भाव था। उसके रोम-रोम से आत्मविश्वास प्रकट हो रहा था। परन्तु 'मौखरि' शब्द ने मुझे चौंका दिया। भट्टिनी को यह मालूम नहीं होना चाहिए। परन्तु जान-बूझकर कुमार ने मौखरि वीरों को हमारी रक्षा के लिए क्यों नियुक्त किया ? फिर इस वृद्ध क्षत्रिय सैनिक ने 'ब्राह्मण-दम्पती' किसे कहा है ? मैं भीतर-ही-भीतर परिम्लान हो गया। ऐसा न हो कि इन दोनों में से कोई भी एक शब्द भट्टिनी के कानों में पहुँच जाये। छिः ! कैसी लज्जा की बात है यह ! मैंने प्रसंग बदलकर अपने-आपको ही भुलावा देने का प्रयत्न किया। बोला, "जानता हूँ भद्र, प्रतापी यशोवर्मा की विमल कीर्त्ति से मैं परिचित हूँ। कौन उस दुर्द्धर्ष पराक्रमी यशोवर्मा को नहीं जानता, जिनकी दृढ़ मुष्टि में बँधी हुई तलवार जब मदमत्त हाथियों के कुम्भ-पीठ पर पड़ती थी तो उसमें स्थूल-स्थूल गजमुक्ताएँ इस प्रकार लग जाती थीं, मानो मुट्ठी बाँधने के जोर से तलवार की धारा ही बड़े-बड़े बिन्दुओं के रूप में टपकने लगी हो। इस मुक्तालग्न दन्तुर कृपाणधारा ने न जाने कितनी शत्रु-राजलक्ष्मियों को खींच लिया था। जानता हूँ भद्र, अनेकानेक सुभटों के वक्षःस्थल पर बँधे हुए लौह-कवचों से अन्धकार हो जाने पर हाथियों की मदधारा के दुर्दिन में भीगती हुई राजलक्ष्मियाँ जिस यशोवर्मा के पास अभिसारिकाओं के समान आती थीं, उस अतुल पराक्रम मौखरि-वीर को मैं जानता हूँ। मुझे तुम्हारे प्रतापी भुजदण्ड पर भी विश्वास है, भद्र ! मैं निश्चिन्त हूँ। परन्तु एक बात जानने की मेरी बड़ी उत्सुकता है। तुम क्या छोटे महाराज के सैनिक हो ?"

वृद्ध की आँखें एकाएक लाल हो गयीं। उनसे अग्नि-स्फुलिंग-से झड़ने लगे। रोष-रुद्ध कण्ठ से वह बोला, "ना आर्य, छोटा महाराज लम्पट है। वह मौखरि-वंश का कलंक है। उसे पोसकर नीति-निपुण महाराजाधिराज श्रीहर्षदेव ने सारे देश में मौखरियों के ऊपर घृणा उत्पन्न करा दी है। मैं पट्टदेवी राज्यश्री की आज्ञा से बौद्ध नरपति की सेवा कर रहा हूँ। पट्टदेवी हर-जटा-प्रवाहिता जाह्नवी की भाँति पवित्र हैं, अद्वितीय पतिधर्मचारिणी अरुन्धती की पार्थिव विग्रह हैं, इस धारित्री पर भूल से चली आयी हुई कल्प-लतिका हैं, पार्वती के तरल हास की मूर्त्तिमती प्रतिमा हैं, सरस्वती की कर्पूर-गौर कान्ति का ससार रूप हैं। वे ही मौखरियों की नेत्री हैं, वे ही उनका सर्वस्व हैं। आज उस देवी के रूप में ही मौखरि-राज-लक्ष्मी जीवित है। आज भी उनके इंगित-मात्र से मौखरि-वीर धरित्री को आन्दोलित कर सकते हैं। हम उनकी इच्छा से ही इस समय महाराजाधिराज के विश्वस्त अनुचर हैं। उनकी दयालुता के कारण ही छोटा महाराज अभी जीवित है, नहीं तो मौखरियों के कुल का कलंक यह राजा नामधारी अत्याचारी भेड़िया कब का नरक जा चुका होता।" वृद्ध की बातों से मैं आश्वस्त हुआ और अत्यन्त उत्साहपूर्वक उसे साधुवाद दिया। वृद्ध को मेरे सन्तुष्ट चेहरे से मानो कोई बड़ा भारी पुरस्कार मिल गया। वह प्रणाम करके सहज भाव से चला गया। वृद्ध

देर बाद नाव चल पड़ी।

आभीर सामन्त ईश्वरसेन के सैनिकों को हमारे ऊपर सन्देह हो गया। उन्होंने नाव पकड़नी चाही। युद्ध अवश्यम्भावी था। वह शुरू भी हो गया। उस समय कठिनता से आधी रात बीती होगी। हमारी नौकाएँ यथाशक्ति भागने की कोशिश कर रही थीं; पर वे एक स्थन पर घेर ली गयीं। तमसा का संगम पार हो चुका था। और भी किसी छोटी नदी का संगम पीछे छूट गया था। हम प्राणों का पण लगाकर मगध की सीमा में घुस जाना चाहते थे। पर जो नहीं होना था, वह नहीं हुआ; और जो होना था, वह हो गया। विग्रहवर्मा और उसके वीर सैनिक अद्भुत विक्रम से प्रतिपक्षियों पर टूट पड़े। संख्या में वे उनके आधे से भी कम थे; पर अब भागना असम्भव था। देखते-देखते उनके हुंकार से दिङ्मण्डल, धनुष्टंकार से आकाश-मण्डल और वाणों से गंगा की धारा परिपूर्ण हो गयी। सुभटों के कवचों से स्फुलिंग निकलकर अन्धकार की नीलिमा को छिन्न-विच्छिन्न करने लगे। हमारी नौकाएँ तेजी से पूर्व की ओर बढ़ना चाहती थीं और और भी तेजी से हमारे प्रतिपक्षी हमें घेर लेना चाहते थे। वे क्रमशः समीप आते गये और फिर इतनी दूरी पर रह गये कि बाणयुद्ध असम्भव हो गया। विग्रहवर्मा ने मौखरि-कुल-लक्ष्मी राज्यश्री का नाम लेकर जयनिनाद किया और अपने सैनिकों को कुन्त सम्हाल लेने का आदेश दिया। मैं अब तक हतबुद्धि की भाँति इस युद्ध को देख रहा था। मैं अब भी यह आशा लगाये था कि किसी-न-किसी प्रकार यह विपत्ति दूर हो जायेगी; परन्तु अब विपत्ति एकदम सिर पर आ गयी। क्षण-भर में मुझे नगर-हार के पथ में आक्रान्त भट्टिनी का करुणापूर्ण मुखमण्डल स्मरण हो आया। मैंने देखा कि वह घटना पुनरावृत्ति की ओर आ रही है। मैं अब स्थिर न रह सका। मेरे शरीर पर वर्म नहीं था, हाथों में शस्त्र नहीं था और हृदय में आशा भी नहीं थी। मैं स्पष्ट देख रहा था कि धीर नापित की भाँति मैं भी भट्टिनी का जयनिनाद करता हुआ खण्ड-खण्ड हो जाऊँगा। अधिक सोचना बेकार था। मैं भी विग्रहवर्मा की नौका की ओर बढ़ने को तैयार हुआ। केवल एक क्षण के लिए मैं भट्टिनी और उनकी नील उपास्य मूर्त्ति का ध्यान किये रहा। मेरे मन में कहीं भी कोई भी आशा नहीं थी; पर फिर भी महावराह के भरोसे मैं थोड़ा आश्वस्त हो लेना चाहता था। दुर्बल का सम्बल ही ईश्वर है। मैं उठ पड़ा। जय हो उस महाविष्णु की, उस नरसिंह-मूर्त्ति की, जिसकी क्रोध-कषायित लाल दृष्टि ने ही हिरण्यकशिपु का वक्ष विदीर्ण कर दिया था। जय हो उस महिमाशाली वराह-मूर्त्ति की, जिसके चन्द्रकिरणों के अंकुर के समान दाँतों ने असुर-कुल में अन्धकार उत्पन्न कर दिया था। मैं उठ पड़ा। विग्रहवर्मा ने ललकारा—"वीरो, मरण का ऐसा त्योहार नहीं मिल सकता। सावधान, शत्रु ब्राह्मण-दम्पती की छाया न छू सकें। जय मौखरि-कुल-राजलक्ष्मी, जय महाराज्ञी राज्यश्री, जय-जय मौखरि-वंश, जय!" सुभटों ने एक साथ जयनिनाद किया और तीक्ष्ण-फलक कुन्त लेकर प्रतिपक्षी भटों से गुँथ गये। नावें प्रायः सट गयी

थीं। मल्लाहों ने भी विकट जयघोष किया और गंगा की धारा रक्त से लाल होने लगी।

ठीक इसी समय धम्म-से आवाज हुई। निपुणिका चिल्ला उठी—"भट्ट, बचाओ, बचाओ।" और वह स्वयं भी नदी में कूद पड़ी। मैं कुछ समझ नहीं सका। नीचे आकर देखता हूँ, तो भट्टिनी और निपुणिका पानी में डूब रही हैं। क्षण-भर में मैंने अपना कर्त्तव्य निर्णय कर लिया और पानी में कूद पड़ा। निपुणिका ने चिल्लाकर कहा, "मुझे छोड़ो, भट्टिनी को सँभालो। उधर देखो, उधर…।" मैं भट्टिनी की ओर लपका। एक क्षण का विलम्ब हुआ होता, तो भट्टिनी गंगा के तल में होतीं। मुझमें न जाने कहाँ से अद्भुत शक्ति आ गयी थी। भट्टिनी को मैंने पकड़ लिया और अपनी पीठ पर डाल लिया। मुझे ऐसा लगा कि भट्टिनी काफी पानी पी चुकी हैं। वे अवश हो गयी थीं और बहुत भारी लग रही थीं। फिर भी मैं उन्हें लेकर नाव की ओर लौटने की कोशिश करने लगा। परन्तु नाव पीछे छूट गयी थी। मल्लाह और सैनिक मिलकर शत्रुओं से जूझ रहे थे। नाव को देखने की फुरसत किसी को नहीं थी। धारा के विरुद्ध मैं देर तक नहीं जूझ सका। लाचार होकर धारा के अनुकूल बहने लगा। एक बार मुझे लगा कि भट्टिनी को अपनी पीठ पर देर तक नहीं ढो सकूँगा। मेरा शरीर क्रमशः क्लान्त होता जा रहा था। कहीं ऐसा न हो कि क्लान्ति के कारण मैं शिथिल हो जाऊँ और भट्टिनी मेरी पीठ से खिसक जायें। मैंने अपने उत्तरीय से भट्टिनी को कसकर बाँधना चाहा। जब उत्तरीय भट्टिनी की भुजाओं में लपेटने लगा, तो कुछ कठोर वस्तु का अनुभव हुआ। खींचकर देखता हूँ, तो महावराह की मूर्त्ति है! हाय 'जलौघमग्ना सचराचरा धरा' के उद्धारकर्त्ता आज अपने भक्त को ही डुबा रहे हैं, यह कैसी विषम विडम्बना है! भट्टिनी इस मूर्त्ति के कारण ही भारी लग रही थीं, और निरन्तर जो डूबती जा रही थीं, सो भी इसी के कारण। अवधूत का प्रश्न आज मूर्तिमान होकर सामने आया, 'किसे बचाऊँ—भट्टिनी को या महावराह को?' अवधूत की क्रुद्ध मुद्रा याद आयी—'मूर्ख, तू महावराह को बचायेगा?' सचमुच ही तो, इस महामहिमाशाली उद्धारकर्त्ता को बचा लेने का संकल्प क्या स्पर्धा नहीं है? हे 'जलौघमग्ना सचराचरा धरा' के उद्धारकर्त्ता, तुमसे अधिक चिन्ता मुझे तुम्हारे भक्त की है, अविनय क्षमा हो, मैं तुम्हें गंगा की पवित्र धारा में विसर्जन कर रहा हूँ। मेरे सामने अवधूत बाबा अघोरभैरव की प्रसन्न मूर्त्ति खेल गयी। ऐसा लगा कि वे प्रेमपूर्वक डाँट रहे हैं। 'फिर झूठ बोलता है जन्म का पातकी, कर्म का अभागा, मिथ्यावादी पाषण्ड! महावराह को बचायगा तू! दम्भी!' मैं कुछ लज्जित-सा हो रहा। फिर ऐसा लगा कि वे स्नेहपूर्वक कह रहे हैं: 'देख बाबा, इस ब्रह्माण्ड का प्रत्येक अणु देवता है; त्रिपुरसुन्दरी ने जिस रूप में तुझे सबसे अधिक प्रभावित किया है, उसी की पूजा कर!' फिर महावराह की मूर्त्ति मेरे हाथ से खिसक गयी। अघोर-भैरव की मूर्त्ति आकाश की ओर उठने लगी। वह दूर से दूरतर होती गयी।

मेरी नाड़ी में रक्त का स्रोत क्षीण भाव से बहने लगा, भुजाएँ शिथिल होने लगीं, आँखों के सामने अन्धकार छा गया। सिर्फ दूर से बादलों को चीरकर एक आवाज कानों में प्रवेश करती रही : 'किसी से न डरना, गुरु से भी नहीं, मन्त्र से भी नहीं, लोक से भी नहीं, वेद से भी नहीं।' मेरी सारी चेष्टा अवसन्न हो गयी, केवल चेतना पर मृदु आघात-सा करता हुआ वह अदृश्य शब्द आकाश में विलीन होते-होते भी बना रहा। अवधूत की मूर्त्ति और ऊपर उठी—नक्षत्र-मण्डल के भी ऊपर, और भी ऊपर, और भी ...।

मैं रेती से टकराया। अंग-अंग शिथिल हो चुके थे; परन्तु ज्यों ही भट्टिनी का ध्यान आया, त्यों ही एक शक्ति अचानक न जाने कहाँ से जाग पड़ी। तट पर बालू का एक ढूह इकट्ठा हो गया था। किसी प्रकार मैं भट्टिनी को वहाँ तक खींच ले गया। वे निस्संग पड़ी हुई थीं; परन्तु चेहरे पर ग्लानि का कोई चिह्न नहीं था। आर्द्र केश-मण्डल और भी मेचक हो गया था, बंकिम भ्रूयुगल और भी जिह्म (कुटिल) हो गये थे और भीगे वस्त्रों से घनाश्लिष्ट सौन्दर्य-लक्ष्मी और भी अनुभाववती हो गयी थी। ऐसा जान पड़ता था कि वे किसी मधुर स्वप्न में व्याप्त हैं। सारा शरीर जल-चादर के अन्तराल से जगमगाती हुई दीप-ज्योति की तरह आँखों को अपने-स्निग्ध आलोक से प्रसन्न कर रहा था। मुझमें इतनी भी शक्ति नहीं बची थी कि मैं भट्टिनी के लिए कोई उपयुक्त आश्रय की खोज करूँ। अवश अवसाद से मैं भी उसी ढूह पर पड़ रहा। धीरे-धीरे प्रभात हुआ। सूर्य देवता की लाल-लाल किरणों ने अन्धकार के घने आवरण को छेद डाला। दिनमणि जब आकाश में कुछ ऊपर उठ आये, तो मेरे शरीर में कुछ गर्मी मालूम हुई। मैं उठ बैठा। हाय, जिस देवी को सुरक्षित रखने की बार-बार मैंने प्रतिज्ञा की थी, उसकी यह कैसी दशा है ! वस्त्र अस्त-व्यस्त हैं, मृणाल-नाल के समान कोमल भुजलता शिथिल पड़ी हुई है, पद्मपलाश को लज्जित करनेवाले चरणतल रक्तहीन हो गये हैं और पद्मराग के समान प्रभावर्षण करनेवाले नख पाण्डुर हो गये हैं। बालुका का आस्तरण क्या इस अपूर्व लावण्य-पुत्तलिका के योग्य है ? धिक् भाग्यहीन बण्ड ! धिक् !

सूर्य की किरणें बालू के कणों पर प्रतिफलित होने लगीं। ऐसा लगता था कि सूर्य-देवता के घोड़ों के खुराग्र से नक्षत्र-मण्डली चूर्ण-विचूर्ण होकर पृथ्वी पर गिरी हुई है और इस अनर्थ से मुह्यमान चन्द्रलक्ष्मी उनको ढकने के लिए भूलोक पर उतर आयी है। हाय, विषय-समर-विजयी प्रत्यन्तबाड़व अविज्ञात-प्रतिस्पर्द्धि-विकट तुवरमिलिन्द की कन्या को यह दिन भी देखने थे ! परन्तु शोक करना मूर्खता है। अभी थोड़ी देर में बालुका-कण अग्नि के समान तप्त हो जायेंगे और भट्टिनी को और भी अधिक क्लेश होगा। क्या करूँ, कौन-सा उपाय है? इस अवस्था में भट्टिनी को अकेली कैसे छोड़ूँ ? आहा, इस समय निपुणिका का अभाव कितना दुःखदायक हो रहा है ! निपुणिका क्या बची है? मेरी ही जब यह दशा है, तो निपुणिका तो क्या बचेगी ! वह जरूर डूबकर मर गयी है। अरी ओ

निउनिया, कहाँ है तू ? देख, तेरी भट्टिनी कैसी अवस्था को प्राप्त हो गयी हैं ! हाय, इस समय ऐसा भी तो कोई नहीं है, जो भट्टिनी के शिथिल वस्त्रों को ठीक से सँभाल दे । निउनिया, जहाँ हो, दौड़ आ । कौन मेरी सहायता करेगा ? धीरे-धीरे अवधूत की मूर्त्ति आकाश से उतरने लगी । मेरी वाष्पपूर्ण आँखों ने स्पष्ट ही देखा कि दिगन्त के दूसरे छोर से अघोरभैरव तेजी से मेरी ओर आ रहे हैं—'डरना किसी से भी नहीं, गुरु से भी नहीं, मन्त्र से भी नहीं, लोक से भी नहीं, वेद से भी नहीं !' आकाश से अघोरभैरव पुकार-पुकारकर कह रहे थे । मैं उठा, भट्टिनी के वस्त्रों को ठीक किया और नाड़ी की परीक्षा की । नाड़ी ठीक थी । मैंने धीरे-धीरे उनके ललाट पर हाथ फेरा, पैरों के तलवों को सहलाया, हथेलियों और भुजाओं को मृदु-मन्द भाव से दबाया और फिर ललाट पर हाथ फेरने लगा । भट्टिनी को होश आने लगा । रक्तोत्पल के समान नयन-पक्ष्म में थोड़ी हलचल हुई और आँखें खुल गयीं । वे निदाघग्लपित जपा-पुष्प के समान लाल होकर भी म्लान थीं, झंझा-विलोड़ित कांचनार के समान प्रफुल्ल होने पर भी क्लान्त थीं, धूलि-पटलित अशोक-कुसुम के समान मनोहर होकर भी धूसर थीं । भट्टिनी ने मेरी ओर देखा, पहचाना भी । एक विवश लज्जा का भाव उस दृष्टि में स्पष्ट ही मैंने लक्ष्य किया; परन्तु वे बोलीं नहीं, कोई इंगित भी नहीं किया । मुहूर्त्त-भर के बाद उन्होंने आँखें फिर बन्द कर लीं । मेरा व्याकुल हृदय सहस्र-सहस्र स्रोतों में विगलित होकर बह जाना चाहता था; परन्तु मैंने अपने को सम्हाला । भट्टिनी का सिर फिर धीरे-धीरे दबाने लगा । थोड़ी देर तक इसी प्रकार बीता । फिर मैंने उस सिर को उठाने का प्रयत्न किया । नयन-पक्ष्मों में फिर स्पन्दन हुआ । भट्टिनी की आँखें फिर खुलीं । उन्होंने बैठने की चेष्टा की और मैंने सहारा दिया ।

भट्टिनी उठकर बैठ गयीं । उन्होंने केवल एक बार मेरी ओर देखा । उस दृष्टि में कोई जिज्ञासा नहीं थी, न उसमें कोई भाव था, न विभाव था; न राग था, न विराग था—केवल एक शून्य दृष्टि ! सामने गंगा कलकल-नाद करती हुई बह रही थी और तीर पर अपूर्व शोभा एवं सम्पत्ति की मूर्त्त विग्रह-धारिणी भट्टिनी भूली-सी, भ्रमी-सी, खोई-सी बैठी हुई थीं । स्वभाव के उद्धत प्रमथ-गणों ने केशाकर्षणपूर्वक जब दक्ष की यज्ञ-क्रिया को खींचा था, तो वह कुछ इसी प्रकार भूली-भ्रमी गंगा की शरण में आयी होगी; त्रिनयन के तृतीय नयन से स्फुलिंग झड़ते देख भागी हुई चन्द्रकला कुछ इसी प्रकार अस्त-व्यस्त होकर गंगा के तट पर पहुँची होगी; असुर-निपीड़िता स्वर्गलक्ष्मी कुछ इसी प्रकार खोयी हुई स्वर्मन्दाकिनी के तीर पर पहुँची होगी । आहा, उपयुक्त स्थान में भस्मावृता रति का आविर्भाव हुआ है, वराह-दन्त पर अधिष्ठिता धरित्री का आसन जमा है, राहु-भीता ज्योत्स्ना का पुंज केन्द्रित हुआ है, असुर-त्रासिता सुधा का अवतार हुआ है, पल्लवग्राहियों से डरी हुई सरस्वती का निवास हुआ है, कृपण-शंकिता लक्ष्मी का आगमन हुआ है । भट्टिनी का खिन्न-मनोहर मुख-मण्डल इस अवस्था में भी

अत्यन्त प्रभावशाली लग रहा था। थोड़ी देर तक वे गंगा के प्रवाह को एकटक देखती रहीं। यह कहना गंगा के लिए भी कठिन ही होगा कि इतनी पवित्र, इतनी निर्मल और इतनी गरिमा-भरी दृष्टि उन्होंने कभी देखी है या नहीं। मैं बड़ी देर तक कुछ बोल नहीं सका। परन्तु बालुका-राशि तप्त होती जा रही थी और अधिक देर तक वहाँ बैठना असम्भव हो रहा था। मैंने अत्यन्त विनीत भाव से कहा, "देवि, आपका शरीर क्लान्त है, सूर्यातप तीव्र होता जा रहा है और बालुका-राशि तप्त होती जा रही है। आज्ञा हो, तो किसी आश्रय का सन्धान करूँ।"

भट्टिनी ने फिर एक बार कातर भाव से मेरी ओर देखा। इस दृष्टि में भी कोई जिज्ञासा नहीं थी, मानो उनका पूर्वजीवन गंगा में ही धुल गया हो, मानो उसके विषय में पूछने लायक कुछ रह ही नहीं गया हो। हाय अभागे बाण, तूने भट्टिनी को किस अवस्था में डाल दिया है! भट्टिनी कुछ बोलीं नहीं। वे फिर एक बार गंगा की ओर देखने लगीं। दूर तक सोपानश्रेणी की भाँति गंगा की तरंगें एक-दूसरे पर सजी हुई दिख रही थीं और भट्टिनी की स्निग्ध दृष्टि उन पर अचल मीन की भाँति बिछला रही थी। मैंने फिर संक्षेप में निवेदन किया—"देवि, क्या आज्ञा है?" भट्टिनी ने क्षीण-श्रान्त कण्ठ से कहा, "चलो।"

दशम उच्छ्वास

जिस विशाल शालमली-वृक्ष के नीचे मैं भट्टिनी को ले गया, उसके कोटर में एक छोटी-सी लाल पताका, कुछ सिन्दूर के थापे और दो-चार शुष्क पुष्प पड़े हुए थे। मैंने अनुमान किया कि यहाँ किसी ग्रामदेवता का निवास होगा, क्योंकि आसपास की ऊबड़-खाबड़ धरती की अपेक्षा वृक्ष का मूल कुछ अधिक समोदर और उन्नत था। ग्रामदेवता जब हैं, तो ग्राम भी निश्चय ही कहीं होगा। परन्तु जहाँ तक दृष्टि जाती थी, वहाँ तक सरकण्डों, सत्यानाशियों और कण्टकारियों के विरल गुल्मों के अतिरिक्त और कुछ नहीं दिखायी देता था। कभी-कभी गंगा की धारा की ओर उड़ते हुए एकाध टिट्टिभ निर्जनता का प्रतिवाद कर देते थे; नहीं तो कोई भी पक्षी वहाँ दिखायी नहीं देता था। सुदीर्घ शरकान्तार मध्याह्न के तप्त वायुमण्डल में झायँ-झायँ कर रहा था। भट्टिनी अवश अवसाद में प्रायः मूर्च्छित-सी पड़ी हुई थीं, और मैं कर्त्तव्यविमूढ़ होकर दिगन्त के एक छोर से दूसरे छोर तक दृग्वलय निर्माण कर रहा था। ऐसा जान पड़ता था, समूचे विश्व की एक-घृष्ट अवसन्नता वहीं केन्द्रित हो गयी है। थोड़ी देर तक चुपचाप यों ही बीता।

फिर भट्टिनी ने ही मौन भंग किया। मुझे समझने में बिल्कुल देर नहीं लगी कि एक छोटा-सा वाक्य बोलने में भट्टिनी को कितने बड़े संकोच का सागर पार करना पड़ा है। उनकी ग्रीवा झुकी हुई थी, आँखें धरती में गड़ी हुई थीं और शुष्क किसलय के समान अधर निस्पन्द हो रहे थे, मानो वे कौलीन्य के भार से दब गये हों, लज्जा के आवेग से झुक गये हों, शोभा के अतिरेक से आच्छादित हो गये हों और अनुभाव की तरंगों से उलझकर नीचे आ गये हों। भट्टिनी ने कहा, "निउनिया भी तो इधर ही कहीं लगी होगी, भट्ट!" मैंने अत्यन्त नम्रतापूर्वक उत्तर दिया—"हाँ देवि, मैं भी निउनिया को खोजने को उत्सुक हूँ। परन्तु जब तक आपको किसी सुरक्षित स्थान न पहुँचा दूँ, तब तक···।" भट्टिनी ने मेरे वाक्य का तात्पर्य समझ लिया। बीच में ही टोककर बोलीं, "छोड़ो मेरी सुरक्षा की बात। तुम मुझे नहीं बचा सकते। कोई मेरी रक्षा नहीं कर सकता। मैं जिसके साथ रहूँगी, उसी को डुबाऊँगी। मैं सत्यानाश लेकर पैदा हुई हूँ, वैसी ही रहकर जी सकती हूँ। मेरी चिन्ता छोड़ो। देखो, निउनिया जरूर कहीं पास ही में होगी।" मेरे मुँह से बात नहीं निकली। भट्टिनी का ऐसा निराश मुख मैंने कभी नहीं देखा था। उनके दुःख में भी भक्ति और विश्वास साथ रहते थे। यह कैसा विकट परिवर्त्तन है! मैंने कातरता के साथ उनकी ओर देखा। मेरी आँखों में अश्रु भर आये थे। एकाएक भट्टिनी के नेत्र मेरी ओर फिरे। उनका दयार्द्र हृदय मेरा मुख देखकर उमड़ पड़ा। एक मुहूर्त्त के लिए एक भीगी हँसी की रेखा उनके सूखे अधरों पर खेल गयी और फिर अविरल अश्रुधारा बह चली। हाय महाकवि, तुमने हँसी-खुशी में ही जिन्दगी काट दी! तुमने ऐसा करुण-मोहक स्मित देखा होता, तो दुनिया को बता सकते कि वह कैसा था। पार्वती के लीला-स्मित को तुमने अमर कर दिया है; किसलयविनिहित पुष्प में जो पवित्रता है और निर्मल विद्रुम-पात्र में रखे हुए मुक्ताफल में जो आभिजात्य है, वह तुमने लक्ष्य किया था[1]। पर इनको स्वर्मन्दाकिनी की धारा में लुढ़कते-पुढ़कते, बहते-उतराते तुमने नहीं देखा। यह वह पुष्प था, जिसके विकास के क्षण-भर बाद ही धारासार वर्षा हो गयी; यह वह तारिका थी, जिसके उदय होते ही कुज्झटिका से दिगन्त धूसर हो गया; यह वह इन्द्रधनुष था, जिसके उठते ही झंझा ने आकाश को धूलिच्छन्न बना दिया। भट्टिनी सिर झुकाये रोती रहीं। मैं दिङ्मूढ़ पथरायी आँखों से ताकता रहा!

शाल्मली-वृक्ष की दूसरी ओर से किसी के आने की आहट मिली। भट्टिनी उस समय भी सिर झुकाये रोये चली जा रही थी। मैं थोड़ा सतर्क हुआ। सिर उठाकर देखता हूँ, तो रक्ताम्बरधारिणी, त्रिशूलपाणि भैरवी महामाया हैं!

1, कालिदास के निम्नलिखित श्लोक से तात्पर्य जान पड़ता है :
पुष्पं प्रवालोपहितं यदि स्यान्मुक्ताफलं चेत् स्फुटविद्रुमस्थम् ।
ततोऽनुकुर्याद् विशदस्य तस्य ताम्रौष्ठपर्यस्तरुचः स्मितस्य ॥
—'कुमारसम्भव', 1.44

क्षणभर तक मैं अपनी आँखों पर विश्वास ही नहीं कर सका; परन्तु वे महामाया ही थीं। वही पिंगल जटाभार, कांचनार-शोण नयन, बन्धुजीव-वलय के समान रक्त पुण्ड्र, अष्टमी के चाँद के समान प्रदीप्त ललाट-पट्ट और वह्निशिखा से लिपटी हुई दमनकयष्टि के समान रक्ताम्बर-समावृता तनुलता। मुझे उस अवस्था में देखकर उन्हें आश्चर्य भी हुआ और कुछ लज्जा भी। वे न तो लौट ही सकीं, न कुछ पूछ ही सकीं। शैलाधिराज-तनया की भाँति उनकी 'न ययौ न तस्थौ' अवस्था हो गयी। मैं ससम्भ्रम उठ पड़ा। साष्टांग प्रणाम करने के बाद मैंने भट्टिनी को सम्बोधन करके कहा, "देवि, उठो; पार्वती के समान प्रभावशालिनी साक्षात् महामाया-स्वरूपा महामाया माता हमारे सौभाग्य से यहाँ आ गयी हैं। आज परम मंगल का दिवस है, ग्रहगण आज प्रसन्न हैं, सविता आज प्रसन्नोदय हैं, कर्मफल आज उपारूढ़ हैं। देवि, उठो, प्रणाम करके अपने को कृतार्थ करो।" भट्टिनी को सम्हलने में क्षणभर की देर लगी। उनकी कमल-जैसी आँखें सूजकर लाल हो गयी थीं, मुख-मण्डल निदाघग्लपित केतक-पुष्प के समान मुरझा गया था। मेरे कहने पर वे उठीं और महामाया को प्रणाम करके सिर झुकाकर खड़ी हो रहीं। महामाया इस प्रकार निश्चल खड़ी रहीं, मानो उन्होंने कोई बड़ा भारी अपराध कर दिया हो। वे एक बार भट्टिनी की ओर देख रही थीं और एक बार मेरी ओर। लज्जा, जिज्ञासा और स्नेह तीनों ही उनके मुख पर आ-आकर भाग जाते थे। मैंने उनकी जिज्ञासा को शान्त करना ही पहले उचित समझा। बोला, "भगवति, यही वह भट्टिनी हैं, जिनके विषय में मैंने तत्रभवान् अघोरभैरव से निवेदन किया था। मैं इन्हीं का अकिंचन सेवक हूँ।" इतना कहने के बाद मैं संक्षेप में कल की सारी कहानी कह गया। महामाया ने ध्यान से मेरी बात सुनी। उनके मुख से संकोच का भाव जाता रहा। मन्द स्मित के साथ उन्होंने भट्टिनी के सिर पर हाथ फेरा। फिर मेरी ओर देखकर कुछ चिन्ता-सी करती हुई बोलीं, "साधु वत्स, तेरी कुल-कुण्डलिनी जाग्रत है, तुझे अवधूत गुरु का प्रसाद प्रगत है। तेरी स्वामिनी की विपत्ति कट गयी। पर तेरी विपत्ति तो अभी दूर नहीं हुई, बेटा!" फिर थोड़ा सोचकर बोलीं, "आज महानवमी है, त्रिपुरसुन्दरी की जो इच्छा होगी, वह टल नहीं सकती।" उनकी मुखमुद्रा ज़रा कठोर हो गयी, मानो वे अपने-आपसे ही उलझ गयीं। मेरे मन में भय का भाव आया और चला गया; पर महामाया गम्भीर ही बनी रहीं। भट्टिनी भी कुछ शंकित हुईं; पर उन्होंने प्रयत्नपूर्वक अपने मनोभावों को दबा रखा। भट्टिनी की वह अवस्था देखने ही योग्य थी—घन-कृष्ण केशपाश मुख-मण्डल पर विस्रस्त हो गये थे; बड़ी-बड़ी फूली आँखें झुकी हुई थीं, प्रवाल-ताम्र अधर-युगल दृढ़ भाव से सम्पुटित थे, आपाण्डुर कपोलमण्डल पर रोमराशि उद्भिन्न हो आयी थी, आताम्र चिबुक रह-रहकर हिल उठते थे, वाम बाहु श्यामा-लता की भाँति झूल रहा था और दाहिना हाथ कपोत-कर्बुर अंशुकान्त (आँचल) में छिपा हुआ था। वे पादांगुष्ठ से धरती कुरेद रही थीं और इस प्रकार मूर्त्तिमती चिन्ता बनी खड़ी

थीं। महामाया की चिन्ता टूटी। उन्होंने भट्टिनी की ओर फिर देखा। एक बार अपने चारों ओर ध्यान से अवलोकन किया, फिर जमुहाई लेते हुए चुटकी बजायी —"त्रिपुरभैरवी! त्रिपुरभैरवी!" अब उन्होंने बड़े स्नेह से भट्टिनी को अपनी ओर खींचा, चिबुक पकड़कर उनका मुख ऊपर उठाया और बोलीं, "तो यही वह स्वामिनी है! है तो स्वामिनी होने योग्य। अहा, कैसा अमृतस्रावी मुख है! आ बेटी, हम अलग चलें।" फिर मेरी ओर मुख करके बोलीं, "जा बेटा, तू निउनिया को खोज ले आ, तेरी स्वामिनी यहीं रहेंगी। चिन्ता मत कर, तुझे अवधूत गुरु का प्रसाद प्राप्त है, तेरी कुल-कुण्डलिनी जाग्रत है।" मैंने प्रणाम किया और धीरे-धीरे गंगा के किनारे की ओर अग्रसर हुआ।

मैं दूर तक निकल गया, पर निपुणिका का कोई चिह्न नहीं मिला। एक-एक बार मेरे मन में आता था कि इस प्रकार निपुणिका को खोजना निरी बालिशता है। डूबा हुआ आदमी कहीं इस प्रकार पाया जाता है? पर हृदय में विश्वास था कि निपुणिका जीवित अवश्य है और वह मिलेगी भी। कुछ दूर निकल जाने के बाद मुझे भट्टिनी की चिन्ता होने लगी। अभी तक उन्होंने कुछ आहार नहीं किया है। मैं स्वयं निरन्न हूँ; पर मैं तो इस प्रकार रहने का बहुत अभ्यस्त रहा हूँ। अपने आवारे जीवन में मैंने यही साधना तो की है—'करतल भिक्षा तरुतलवासः' तो मेरी सिद्धि ही है। परन्तु भट्टिनी की बात याद आते ही मेरा हृदय टूक-टूक होने लगा। यदि आहार किसी प्रकार वहाँ पहुँचा भी सका, तो महावराह कहाँ हैं? इस समय भट्टिनी निश्चय ही अपने परम उपास्य की बात सोच रही होंगी। जिस समय उन्हें मालूम होगा कि मैंने अपने हाथों उनके परम आराध्य को डुबाया है, उस समय वे मुझसे निश्चय ही घृणा करने लगेंगी। हाय! अभागा बाण, तेरे लिए भट्टिनी का विश्वास ही सबसे बड़ी सम्पत्ति थी; पर तू उसे भी खो देना चाहता है! आगे बढ़ना बेकार है। दूर तक नील जल-स्रोत चमक रहा है, दीर्घ शरकान्तार झनझना रहा है, और मानव-परिचय से बिल्कुल अछूता बालुका-पुंज चिनचिना रहा है। मुझे भट्टिनी को छोड़कर इतनी दूर नहीं जाना चाहिए। लौटना पड़ा। जब मैं पहुँचा तो दिन ढल चुका था।

भट्टिनी और महामाया शाल्मली-वृक्ष के पूर्व की ओर बैठी बातें कर रही थीं। उन्होंने मुझे नहीं देखा। इतनी देर में भट्टिनी ने महामाया का परिपूर्ण स्नेह प्राप्त कर लिया था। वे इस प्रकार उनकी गोद में बैठी हुई थीं, जैसे बहुत दिनों की बिछुड़ी कन्या माता के उत्संग में आ गयी हो। महामाया पूछ रही थीं और भट्टिनी धीरे-धीरे उत्तर दे रही थीं। बात का प्रसंग कुछ ऐसा था कि मैं चुपचाप छिपकर सुनने लगा। यह अनुचित था; पर अस्वाभाविक नहीं था। भट्टिनी और महामाया में कुछ इस प्रकार बात चल रही थी:

"तो तू भट्ट को क्या समझती है, बेटी?"

"क्या समझती हूँ भगवति, सो मैं नहीं जानती। निउनिया कहती थी कि भट्ट देवता हैं; पर मैं देवता कैसे कहूँ?"

"तो तेरे मन में जो बात पहले आवे उसे ही कह जा न; सोचकर कही हुई बात सब समय सत्य नहीं होती।"

"क्या बताऊँ, आर्ये, जिस दिन भट्ट ने मुझसे प्रथम वाक्य कहा था, उस दिन मेरा नवीन जन्म हुआ; उस दिन सूर्य उदयगिरि के तट पर मांगल्य-वर्षा कर उदित हुआ था; उस दिन उषःकाल ने मेरे सम्पूर्ण जीवन को परम सौभाग्य से भर दिया था। मैंने उस दिन अपनी सार्थकता को प्रथम बार अनुभव किया।"

"सार्थकता! सो कैसे बेटी?"

"मातः, भट्ट ने चकित मृग-शिशु के समान मेरी ओर देखा, मानो उन्होंने कोई नवीन प्रकाश, कोई अभिनव ज्योति देखी हो। उनके दीप्त ललाट-पट्ट पर भक्ति की शुभ्र किरण विराजमान थी। उनके विमल-विशाल नयनों में उज्ज्वल प्रकाश इस प्रकार फूट रहा था, मानो दो ज्वलन्त शुक्रग्रह चमक रहे हों। उनकी कोमल-मधुर वाणी में एक अद्भुत मिठास थी। भट्ट ने अत्यन्त स्पष्ट, संकोच-रहित और अर्थपूर्ण वाणी में जो दो-चार वाक्य कहे, वे साम-गान के समान पवित्र थे; परन्तु उनका माहात्म्य उससे अधिक था। राजभवन में अपने सौन्दर्य की चाटूक्तियाँ मैंने बहुत सुनी थीं, किन्तु सत्य वाणी मैंने पहली बार सुनी। मैंने प्रथम बार अनुभव किया कि मेरे भीतर एक देवता है, जो आराधक के अभाव में मुरझाया हुआ छिपा बैठा है। मैंने प्रथम बार अनुभव किया कि भगवान् ने नारी बनाकर मुझे धन्य किया है; मैं अपनी सार्थकता पहचान गयी।"

"कोई नयी बात नहीं है, बेटी…!"

"मातः, निश्चय नयी बात है, यह नील आकाश, यह विलोल वायु, यह निर्मल जाह्नवी की धारा साक्षी हैं। नारी के लिए इतनी अर्थवती गाथा का साक्षात्कार इस भुवनमण्डल में प्रथम बार हुआ है।"

"तो तू सार्थकता किस बात को समझती है, बेटी?"

"मैं अज्ञ हूँ, माता! किस शब्द का कैसा प्रयोग होना चाहिए, यह मुझे नहीं मालूम। पर भट्ट की वाणी सुनने के बाद मैंने पहली बार अनुभव किया, मेरा यह शरीर केवल भार नहीं है, केवल मिट्टी का ढेला नहीं है—यह उससे बड़ा है। विधाता ने जब उसे बनाया था, तो उनका उद्देश्य मुझे दण्ड देना नहीं था। उन्होंने मुझे नारी बनाकर मेरा उपकार किया था। माँ, भट्ट इस पृथ्वी के पारिजात हैं, इस भवसागर के पुण्डरीक हैं, इस कण्टकमय भुवन के मनोहर कुसुम हैं।"

महामाया थोड़ी देर तक चुप रहीं, फिर उन्होंने एक दीर्घ निःश्वास लिया। क्षण-भर तक पूरी शान्ति रही। फिर एकाएक महामाया ने पराजित की भाँति कहा, "यया जाने क्या बात है बिटिया, गुरु ने मुझे बताया है कि नारी की सफलता पुरुष को बाँधने में है और सार्थकता उसको मुक्त करने में। सारा जीवन मैं इसी विश्वास पर चलती रही हूँ। जप-तप, साधन-भजन सबका एक लक्ष्य रहा है—सार्थकता! त्रिपुरभैरवी का साक्षात्कार अभी तक तो नहीं हुआ बेटी,

आगे की बात गुरु जानें। पर तूने सत्य को देखा है। तेरी बात ठीक भी हो सकती है।" कुछ देर कुछ भूली हुई बात को याद-सी करती हुई महामाया बोलीं, "नारी की सार्थकता !" और फिर चुप हो गयीं।

मैंने बहुत देर तक यहाँ छिपा रहना ठीक नहीं समझा। जितना सुन चुका हूँ, उतना ही बहुत है। अधिक से अभिमान बढ़ेगा, मोह उद्रिक्त होगा, ममता कठिन होगी। यहीं रुक जाना अच्छा है। बाणभट्ट को जो पुरस्कार मिला है, वह प्राप्य से कई लाख गुना है। उससे आगे लोभ की पराकाष्ठा होगी। मैंने कण्ठ से खाँसने की ध्वनि की और धीरे-धीरे उस ओर बढ़ा, जिधर महामाया और भट्टिनी बैठी थीं। आहट पाकर वे सँभल गयीं। भट्टिनी ने केवल एक बार अपने अविलोल अपांग से मुझे देखा। वे समझ लेना चाहती थीं कि उनकी बात मैंने कहीं सुन तो नहीं ली। परन्तु बाण इतना कच्चा आदमी नहीं है। सच-झूठ का अभिनय करते ही उसने जीवन काट दिया है। हे स्वर्ग की देवांगना, तुमने मर्त्य के इन अभिनेताओं को समझने में गलती की है, लेकिन यह प्रमाद बुरा नहीं है।

महामाया मुझे देखकर प्रसन्न हुईं। अपने झोले से कुछ फल-मूल निकालकर उन्होंने मुझे दिये और बताया कि मेरे न खाने से भट्टिनी अभी तक उपोषित हैं। भोजन के बाद मुझे फिर दूसरी ओर प्रस्थान करना पड़ा। निपुणिका को खोजना गौण था, भट्टिनी को अवसर देना प्रधान। अबकी बार पूर्व की ओर चला। दिन तो पहले ही ढल चुका था। लगभग एक क्रोश जाने पर आभीर युवतियों का एक दल नृत्य-गान करता हुआ मिला। मर्दल, मुरज और मुरली बजानेवाले दो-तीन किशोर-वय युवकों के अतिरिक्त पुरुष उनमें थे ही नहीं। स्त्रियाँ तरंगायित उपान्तवाली लाल शाटिकाएँ पहने हुई थीं और नील कंचुक के ऊपर हारिद्र उत्तरीय धारण किये हुई थीं। वे उन्मत्त भाव से नाच रही थीं। उनके आघूर्णन-वेग से तरंगायित शाटिकान्त इस प्रकार भ्रमित हो उठता, मानो अनुराग के समुद्र में वात्याचक्र चंचल हो उठा हो। उनकी चारियाँ तालानुग नहीं थीं; परन्तु इतनी उद्दाम थीं कि उनके हारिद्र उत्तरीय और नील कंचुकों का एक घूर्णमान चक्रवाल तैयार हो जाता था। दीर्घ वेणियाँ मटकन-झटकन के वेग से धरती और आकाश को काली मसृण रेखाओं से पूर्ण कर देती थीं। बार-बार ऊपर-नीचे आनेवाले लाल करतल आकाश-रूप नील सरोवर में अधोमुख स्वर्ण-कमलों की शोभा भर देते और क्षीण कटि-प्रान्त झंझा में बार-बार झटका खाती हुई पार्वतीय शतावरी लता की भाँति दर्शक को चिन्तापरायण बना देते थे— न जाने कब कौन-सा झटका उन्हें मरोड़ दे ! मैं मुग्ध-भाव से इस उद्दाम-मनोहर नृत्य को देखता रहा। एक बार जब नृत्य का वेग कुछ देर के लिए रुका, तो मैंने मर्दल बजानेवाले युवक से उनका परिचय पूछा। उसने जो कुछ बताया उसका सारांश यह था कि वे गंगा और महासरयू के संगम पर जो वज्रतीर्थ है, उसी स्थान पर देवी की पूजा करने गये थे। आज महानवमी की तिथि है। आज वज्रतीर्थ की देवी के पूजन का परम माहात्म्य है। उनका ग्राम महासरयू के उस पार है।

मैंने मतलब की बात भी उनसे पूछ ली। उनका सरदार लोरिकदेव प्रतापी मल्ल है। ब्राह्मणों और देवताओं पर उसकी अपरिमेय श्रद्धा है और मेरे जैसे विद्वान् को वे लोग सिर-आँखों पर रखेंगे। उस युवक ने तो उसी क्षण मुझे ले चलने का आग्रह प्रकट किया; पर मैंने देवी के दर्शन का बहाना बनाकर पिण्ड छुड़ाया। युवक ने और भी आग्रह करते हुए कहा कि वज्रतीर्थ की देवी का दर्शन रात्रि में निषिद्ध है, उस समय वहाँ साधक लोग आते हैं, गृहस्थ का उधर जाना ठीक नहीं है। परन्तु मैंने उसकी सरलता की मन-ही-मन प्रशंसा करते हुए भी उसकी बात नहीं सुनी। सचमुच ही सन्ध्या हो आयी थी और मुझे भट्टिनी के पास लौट आना चाहिए था; पर जाने कैसी एक अद्‌भुत शक्ति मुझे वज्रतीर्थ की ओर ठेले लिये जा रही थी। यदि मैं कहूँ कि अपनी ही इच्छा के विरुद्ध मैं चल रहा था, तो लोग विश्वास नहीं करेंगे; पर सत्य यही है। मेरे पार्श्व से आँधी की तरह दौड़ती हुई एक रहस्यमयी स्त्री निकल गयी। उसके गले में कपालमाला झूल रही थी, कटि में हड्डियों की किंकणी खड़खड़ा रही थी और हाथ में नर-कपाल की खंजड़ी खनखना रही थी। उसकी जटाएँ न्यग्रोध (बरगद) तरु के प्ररोह के समान कर्कश थीं, जो कटि-विन्यस्त खट्वांग घण्टे से टकरा-टकराकर कठोर ध्वनि उत्पन्न कर रही थीं और कपोलदेश पर लटकी हुई बराटक (कौड़ी) माला से बार-बार उलझ पड़ती थीं। मेरे पार्श्व को दरेरती हुई वह इस प्रकार निकल गयी, मानो उड़ रही हो। मैं रज्जुबद्ध मर्कट की भाँति खिंचता ही चला गया!

वज्रतीर्थ एक विशाल श्मशान था। चारों ओर नीम के तेल में भूने जाते हुए लशुन के समान जलते हुए शवों की दुर्गन्ध व्याप्त हो रही थी। सारा श्मशानघाट गिद्धों और सियारों के पद-चिह्नों से भरा था। हड्डियों और मांस के छिन्न खण्डों के ऊपर सन्ध्या का धूसर प्रकाश बड़ा भयावना दिखायी दे रहा था। जलती चिताओं के पास थोड़ा प्रकाश दिखायी दे जाता था; परन्तु उनके आगे अन्धकार और भी ठोस हो जाता था। रह-रहकर उलूकों के घूत्कार और शिवाओं के चीत्कार से श्मशान का वातावरण प्रकम्पित हो उठता था। इसी विकट दृश्य के बीच करालादेवी का मन्दिर था। मन्दिर वह नाम-मात्र का ही था। एक चत्वर, एक हवन-कुण्ड और एक यूपकाष्ठ के अतिरिक्त वहाँ और कुछ नहीं था। करालादेवी की मूर्त्ति सचमुच ही कराल थी। उनकी लोल जिह्वा एक ही साथ विश्व को ग्रास करती हुई और उसका त्राण करती हुई भी जान पड़ती थी। उनके गले में विशाल मुण्डमाल गुल्फों तक लटक रही थी। करालादेवी के सामने वही रहस्यमयी स्त्री जानुपातपूर्वक खड़ी थी और उससे भी अधिक अशिव-वेशधारी एक पुरुष ताजी चर्बी से हवन कर रहा था। आहुति पड़ने के साथ-ही-साथ अग्नि की पिंगल-लोल जिह्वा विकराल भाव से लपक पड़ती थी और क्षणभर के लिए वायुमण्डल दुर्गन्धि से और नभोमण्डल पिंगल प्रकाश से व्याप्त हो जाता था। कुण्ड के चारों ओर नर-कपालों में भिन्न-भिन्न आहवनीय सामग्री रखी हुई थी। मेरा मस्तिष्क घृणा और जुगुप्सा से भर गया; परन्तु फिर

भी आश्चर्य की बात है कि मैं खिंचता ही गया। अन्त में मैं यूपकाष्ठ से सटकर खड़ा हो गया। साधक पुरुष ने विकट फूत्कार के साथ संकल्प पढ़ा और मैं चित्र-लिखित की तरह जहाँ-का-तहाँ खड़ा कौतूहल के साथ सब-कुछ देखता रहा। संकल्प-वाक्य से मालूम हुआ कि साधक का नाम अघोरघण्ट है और साधिका का चण्डमण्डना। साधिका ने कुछ मुद्राओं का प्रदर्शन करते हुए एक लाल कर्णिकार की माला मेरे गले में डाल दी। फिर उसने सुरीले कण्ठ से ध्यानमन्त्र पढ़ा—

चण्डोद्दण्डनिशुम्भमानमथनात्युष्णोष्णरक्तप्रिया
उत्तालोद्धतताण्डवाहतनभोविध्वस्ततारागणा।
पिण्डे षोडशनाडिकार्चितपादा षट्चक्रवक्रासना
मुण्डस्रक्परिवेष्टिताम्बरपटा सिद्ध्यै करालाऽस्तु वः॥

मेरा मस्तक दुर्गन्धि से छिन्न हो रहा था, नसें फूल गयी थीं और कटु धूम से आँखें फटने को आ चुकी थीं; परन्तु यह विचित्र साधना अव्याहत गति से चल रही थी। धीरे-धीरे मेरी चेतना खोने लगी; परन्तु आश्चर्य यह है कि मैं गिरा नहीं और संवेदन-शून्य की भाँति सबकुछ देखता रहा। नभोमण्डल से विकटाकृति कटपूतनाएँ और भैरवियाँ उतरतीं, मुझे विचित्र ढंग से प्रणिपात करतीं और आरती उतारती रहीं। फेरुओं के चण्डरव के समान विचित्र जय-जयकार-से दिङ्मण्डल उत्तम्भित होता रहा और विकराल-वदन पिशाचों के अस्थिकरताल से अन्धकार फटता रहा। मैं हतसंज्ञ, निश्चेष्ट! चण्डमण्डना ने फिर स्तुति पढ़ी—

यद्ब्रह्माण्डकटाहसम्पुटतटोल्लासिप्रचण्डं महः
यत्तद्गर्भविभाण्डमण्डनमहज्ज्योतिः परं ज्योतिषाम्।
ध्यानावस्थिततद्गतेन मनसा यद् योगिभिर्ध्यायते—
तत्ते धाम निरस्तविश्वकुहकं भर्गः परं धीमहि॥

नाना अंगन्यास के साथ खट्वांग की पूजा हुई। अघोरघण्ट ने आदेश दिया—"जो तेरा सबसे प्रिय है, उसका ध्यान कर।" मुहूर्त्त-भर में भट्टिनी की कोमलकान्त मुखच्छवि मेरे सामने उपस्थित हुई। मैं कातरतापूर्वक चीख उठा। मैं भट्टिनी को निर्जन शरकान्तार में छोड़कर बलि होने जा रहा हूँ। मेरी नसें झनझना उठीं। मैंने कातर-भाव से अघोरभैरव का स्मरण किया। मेरी आँखें अपने-आप झपक गयीं। कटपूतनाएँ आरती करती रहीं, फेरुओं का चण्डविराव जय-जयकार करता रहा और उलूकों का घूत्कार दिङ्मण्डल को फाड़ता रहा। अघोरघण्ट और चण्डमण्डना विकट फूत्कार से वायुमण्डल को कँपाने लगे। उग्र भैरवियों ने तुमुल चीत्कार किया और कटपूतनाएँ सावधानी से मुझे घेरकर खड़ी हो गयीं। चण्डमण्डना विचित्र आविष्ट भंगी में उद्दाम-भाव से सिर पटकने लगी और अघोरघण्ट घनघन आहुतियों और क्रम-वर्द्धमान फूत्कार से हवन-कुण्ड को लोलकम्पित करता गया। मैंने आँखें खोलीं। सामने महामाया, भट्टिनी और निपुणिका और पीछे नंगी तलवार लिये हुए विग्रहवर्मा और दस मौखरि-वीर पत्थर की मूर्त्ति बने खड़े थे। भट्टिनी कातर-भाव से मुझे देख रही थीं। मैं अवश

व्याकुलता से उन्हें देख रहा था। मेरी शिराएँ अधिक नहीं सँभल सकीं। मुझे लगा कि कान के पास से रक्त की धारा फूट पड़ी है। रक्त देखकर अघोरघण्ट विचलित हुआ। उसने चण्डमण्डना को शीघ्रता करने का आदेश दिया। उधर भट्टिनी मूर्च्छित होकर गिर गयीं। भट्टिनी को मूर्च्छित देखकर मेरा उद्विग्न मस्तिष्क और भी विचलित हुआ। निपुणिका उन्मत्त की भाँति वेदी की ओर बढ़ी। जैसे उसके पैरों में किसी ने आँधी बाँध दी हो। महामाया प्रस्तर प्रतिमा की भाँति निश्चल खड़ी थीं। भट्टिनी की ओर उन्होंने देखा भी नहीं। उनकी आँखों से एक अद्भुत ज्वालामयी ज्योति निकल रही थी। वे स्थिर भाव से निपुणिका को देख रही थीं। निपुणिका आँधी तरह आयी। उसने एक ही धक्के में चण्डमण्डना को पटक दिया और उसके हाथ का खट्वांग झटककर छीन लिया। खट्वांग लेकर निपुणिका ने विकट नृत्य शुरू किया। उसके उद्धत संचार से हवन-कुण्ड विध्वस्त हो गया, लाल पताका छिन्न-विच्छिन्न हो गयी और यूपकाष्ठ चूर्ण-विचूर्ण हो गया। ओह, कितना उत्ताल था वह नर्त्तन! उसके एक-एक पद-संचार से धरित्री धसक-सी रही थी, तारा-मण्डल लड़खड़ाता-सा जान पड़ता था और कराला का मुण्डमाल खटखटा उठता था। मैं महामाया की ओर देखने लगा। वे स्थिर भाव से निपुणिका की ओर देख रही थीं। अचानक उनकी दृष्टि मेरी ओर फिरी। मालूम हुआ जैसे सहस्र-सहस्र सूर्य इधर ही टूट पड़े हों, जैसे कोई विचित्र धूमकेतु मेरी ओर लपक पड़ा हो। मैं लड़खड़ा गया। निपुणिका बेहोश नीचे गिर गयी। अबकी बार मेरी बारी थी। मैंने अघोरघण्ट को कन्धे पर उठा लिया और किस प्रकार का ताण्डव किया, वह तो याद नहीं है; पर इतना ही याद है कि श्मशान का कोई भी कोना मेरे उत्ताल-नर्त्तन से अस्पृष्ट नहीं रहा। अन्त में मैंने अघोरघण्ट को गंगा में फेंक दिया। महामाया भीमवेग से मेरी ओर दौड़ीं और मुझे घसीटती हुई पूर्व की ओर भागीं—और भी तेज, और भी, और भी!

गंगा और महासरयू के संगम पर अवधूत अघोरभैरव एक शव पर आसन जमाये चुपचाप ध्यानमग्न बैठे थे। मैं बुरी तरह हाँफ रहा था। मुझे पीछे ढकेल-कर महामाया ने चीत्कार किया, "त्राहि गुरो, त्राहि!" अघोरभैरव ने आँखें खोलीं और कुछ आश्चर्य के साथ बोले, "महामाया, महामाया, महामाया!" महामाया निश्चेष्ट, हतसंज्ञ! गुरु ने मुझे देखा। मैं हाँफता हुआ भूलुण्ठित हो गया, केवल दीर्घ श्वास के साथ बोला, "त्राहि!" अघोरभैरव ने मुझे घसीटकर शव पर खींच लिया और ललाट पर हाथ फेरा। बोले, "तो तू अभी जीता है! त्रिपुर-भैरवी की माया है।" फिर उनके इंगित पर मैं संक्षेप में उन्हें सारा वृत्तान्त सुना गया। वे अविचलित रहे। केवल एक बार महामाया की ओर देखकर हँसे। जरा फटकारते हुए-से बोले, "पगली! डरती है!" हाथ में थोड़ा-सा जल लेकर उन्होंने महामाया के मुख पर फेंका। वे थोड़ा सचेत हुईं। कुछ रुककर महामाया से धीरे-धीरे न जाने क्या कहा। महामाया वहाँ से करालादेवी के स्थान की ओर चली गयीं।

अवधूत थोड़ी देर तक चुपचाप ध्यानस्थ बैठे रहे। उनकी कौड़ी जैसी आँखें

बिल्कुल निश्चेष्ट थीं। थोड़ी देर बाद मेरी पीठ पर हाथ फेरते हुए उन्होंने कहा, "तू कवि है न रे ?" अजीव प्रश्न है ! इस समय कवित्व की क्या आवश्यकता है ? मैं कुतूहल के साथ उनकी ओर ताकने लगा। क्षणभर बाद बाबा ने डाँटा—"हाँ क्यों नहीं कहता, अभागा ?" मन्त्रमुग्ध की भाँति मैंने कहा, "हाँ, आर्य !" बाबा ने रस लेते हुए कहा, "पाषण्ड ! पहले क्यों नहीं बोला ?" मैंने संकोच-पूर्वक कहा, "मैं नहीं जानता आर्य, भट्टिनी ने मुझे कवि कहा था और आप कहवा रहे हैं।" बाबा ने और भी रस लेते हुए कहा, "तू अपनी भट्टिनी की स्तुति गा सकता है ?" मैंने तुरन्त जवाब दिया, "ना, आर्य !" "क्यों रे ?" मैंने बता दिया कि निपुणिका को वचन दे चुका हूँ। बाबा ने कहा, "साधु ! तो देवी की स्तुति कर सकता है ? करालादेवी की स्तुति ?" मैंने सिर झुकाकर कहा, "हाँ, आर्य !" अवधूत ने कहा, "अभागा, तू देवी की बलि हो रहा था,देवांगनाओं ने तेरी आरती की थी और शिवाओं ने मंगलवाद्य बजाया था; परन्तु तेरा भाग्य अप्रसन्न था। तूने देवी की पिपासा शान्त नहीं की, अब उनका असन्तोष तो दूर कर। देख, देवी के व्यायाम-मनोहर शरीर का वर्णन कर तो भला।"

और उपाय न था। मैंने थोड़ा सोचकर पढ़ा—

बाहूत्क्षेपसमुल्लसत्कुचतटं प्रान्तस्फुटत्कञ्चुकम्
गम्भीरोदरनाभिमण्डलगलत्काञ्चीधृतार्धांशुकम्।
पार्वत्या महिषासुरव्यतिकरे व्यायामरम्यं वपुः
पर्यस्तावधिबन्धबन्धुरलसत्केशोच्चायं पातु वः ॥[1]

अवधूत ने डाँटा—"पशु है, अभागा ! इसी को व्यायाम-रम्य वपु कहते हैं ? और सुना।" मैंने दूसरा सुनाया—

चक्षुर्दिक्षु क्षिपन्त्याश्चलितस्कलिनीचारुकोपाभिताम्रं
भद्रं ध्यानानुयातं झटिति वलयिनो मुक्तबाणस्य पाणेः।
चण्ड्याः सव्यापसव्यं सुररिपुषु शरान् प्रेरयन्त्या जयन्ति
त्रुट्यन्तः पीनभागे स्तनवलनभरात् सन्धयः कञ्चुकस्य ॥[2]

अवधूत हँसे। बोले, "तुझसे नहीं होगा। उठ भाग यहाँ से।"

एकादश उच्छ्वास

मेरा सारा शरीर एक प्रकार की अवश जड़िमा से भाराक्रान्त हो रहा था। तीन दिन और तीन रात तक मैं संज्ञाहीन पड़ा रहा, और जब चैतन्य-लाभ हुआ, तब

1. तु. 'चण्डीशतक', 2. तु. 'चण्डीशतक',

भी स्वप्नावेश की माया मेरे सारे अस्तित्व को अभिभूत किये रही। मैं मानो एक तरल मरुकान्तार में वृन्तच्युत तूल-खण्ड की भाँति उतरा रहा था। मुझे ऐसा लगता था कि इस तरल कान्तार का कोई ओर-छोर नहीं है—दिगन्त के एक किनारे से दूसरे किनारे तक वह विशाल अजगर की भाँति निश्चेष्ट पड़ा हुआ है। क्षितिज भी उसे छूने में शंकित हो रहा है और वायु की लहरियाँ भी उसे विक्षुब्ध नहीं कर रही हैं। बीच-बीच में सुदूर आकाश के कोने में चन्द्रमण्डल की क्षीण आभा दिखायी देती और वहीं से प्रफुल्ल शतदल पर वज्रासनासीन कर्पूरगौरी आनन्दभैरवी धीरे-धीरे उतरतीं। उनकी अठारह भुजाओं के विविध अस्त्र चन्द्रमा की पिंगल प्रभा में झलमलाया करते और उनकी गोद का रजत-कलश गैरिक वस्त्र की आभा से सिन्दूर-मनोहर कान्ति धारण करता। उनके तीनों नयनों से अमृत का स्रोत झरता रहता और उनकी विद्रुमांकुर के समान लाल-लाल अंगुलियाँ मेरे केशों में उलझ जातीं। किसलयों को भी लज्जित करनेवाली उनकी हथेली जब मेरे ललाट-देश पर फिरती रहती, तो मेरे सौ-सौ जनमान्तर कृतार्थ हो जाते। बीच-बीच में मुझे धरती का आकर्षण नीचे की ओर खींचता, परन्तु उसमें शक्ति ही न होती। जिस दिन वह आकर्षण अत्यन्त प्रबल भाव से अनुभूत हुआ, उस दिन वह दिगन्त-प्रसारी तरल कान्तार सदा के लिए विलुप्त हो गया, स्वप्न का आवेश टूट गया, जड़िमा जाती रही और आँखें खुल गयीं। सामने भट्टिनी बैठी थीं। उनकी बड़ी-बड़ी आँखें धँस गयीं थीं, मुख-मण्डल पाण्डुर हो गया था और कपोलतल फीके पड़ गये थे। निश्चय ही कई दिनों से उन्हें नींद नहीं आयी थी। उनकी जागरखिन्न लाल आँखें धूलि-लुण्ठित पलाश-पुष्प के समान, आतप-ग्लान बन्धुजीव-कुसुम के समान और पिंजरबद्ध खंजन-शावक की भाँति दर्शक को व्यथित, खिन्न और उत्सुक बना देती थीं। उनके चिकुर-जाल अस्तव्यस्त हो रहे थे, मानो संकीर्ण तरुषण्ड से कष्टपूर्वक निकले हुए मयूर के विक्षुब्ध बर्हभार हों, पुष्करिणी के आलोड़ित शैवाल-जाल हों या उद्वेलित मालती-लता की विक्षुब्ध भ्रमर-पंक्ति हों। गंगा की धारा के समान पवित्र और कैलास के नील वनराजिगामी मार्ग के समान मनोहर उनकी सीमन्त-रेखा बिखरी अलक-राशि से आच्छन्न हो गयी थी। सदैव अवगुण्ठन के आश्रित केश आज उसके अभाव में सशंक-से जान पड़ते थे। भट्टिनी मेरे पैरों की ओर बैठी हुई निर्निमेष भाव से मेरी ही ओर देख रही थीं। उस दृष्टि में कारुण्य-धारा उमड़ रही थी। मैंने स्पष्ट ही लक्ष्य किया कि मेरी आँखों के खुलते ही भट्टिनी का रोम-रोम उल्लसित हो गया, जैसे शोभा के समुद्र में अचानक ज्वार आ गया हो।

परन्तु भट्टिनी इसके लिए तैयार नहीं थीं। उन्हें शीघ्र ही मेरी संज्ञा के लौट आने की शायद आशा नहीं थी। वे कुछ झेंप-सी गयीं। उनके पारिजात-पल्लवों के समान सुकुमार-मनोहर हाथ तेजी से उत्तरीय की खोज में दौड़ पड़े। एक निमेष बीतते-न-बीतते भट्टिनी का कपोत-कर्बुर अंशुकान्त (आँचल) सीमन्त रेखा पर

आ गया, मानो विद्युल्लता ने चन्द्रमा पर नील मेघपटल का आवरण डाल दिया हो, मानो मृणाल-नाल ने कमल-पुष्प को पत्तों से ढँक दिया हो, मानो विद्रुम-लता ने तरंगों से जल-देवता को छिपा लिया हो। भट्टिनी को उस प्रकार बैठी देखकर मेरा चित्त उत्क्रान्त होने लगा, एक दुर्निवार सम्भ्रम-वेग मुझे ठेलकर उठने को बाध्य करने लगा, पर भट्टिनी ने मुझे उठने से रोका। उनके स्नेह-मेदुर नयनों में वाष्पबिन्दु भर आये थे, उनके म्लान मुखमण्डल में लालिमा का संचार हो गया था और सम्पूर्ण सत्ता से एक कातर प्रार्थना प्रतिध्वनित हो रही थी। मुझे निषेध करने के लिए उन्होंने आयासपूर्वक अपने कोमल करतलों से मुझे दबाया। उनके मुख से केवल एक ही शब्द निकल सका—'नहीं।' उनका गला रुँधा हुआ था, दृष्टि कातर थी और करतल स्वेद-धारा से आर्द्र था। मुझमें तब भी उठने की शक्ति नहीं थी। मैंने आँखें मूंद लीं और भट्टिनी की स्नेह-मेदुर मुखश्री का ध्यान करने लगा। कहाँ भटक रहे हैं इस मर्त्यलोक के वातुल कवि? लक्ष्मी क्या स्वर्ग में रहती हैं? इस पृथ्वी पर ही तो वे अवतीर्ण हुई हैं। भट्टिनी से बढ़कर किस श्रीशालिनी की कल्पना हो सकी है? इन पाणि-पल्लवों के आगे स्वर्ग का पारिजात-पल्लव कितनी तुच्छ कल्पना है और काल्पनिक अमृत क्या इस करतल-स्रावी स्वेद-धारा से अधिक शामक होता होगा।[1] मेरा मन-प्राण-आत्मा सब-कुछ मानो आनन्द-स्रोत में निमज्जित हो गये। मेरी आँखें बन्द ही रहीं। मैं क्षण-भर के लिए मोहाविष्ट-सा हो रहा।

इसी बीच महामाया आकर मेरे सिरहाने बैठ गयीं और बड़े स्नेह के साथ मेरी भृकुटियों के अन्तराल को धीरे-धीरे सहलाने लगीं। मुझे इस मातृस्नेह का आस्वाद स्वप्नावेश में आनन्दभैरवी के हाथों हो चुका था। मैं अर्द्धचेतन-सा उसी प्रकार पड़ा रहा। महामाया ने भट्टिनी की आँखों में आँसू देखकर स्नेहपूर्वक डाँटते हुए कहा, "फिर रो रही थी न? भोली है तू! मेरे ऊपर तेरा विश्वास नहीं है न? क्या हुआ है भट्ट को, जो तू इस प्रकार रो रही है? आज इसे अवश्य चैतन्य-लाभ होगा। सम्मोहन की क्लान्ति है, बिटिया! बहत्तर हजार नाड़ियों को रोमकूपों के भीतर से चूर करके सम्मोहन का प्रयोग मन को अभिभूत करता है, नाग और कूर्म प्राणों को रुद्ध कर देता है, कृकल को नाभिकूप में गाड़ देता है और देवदत्त तथा धनंजय को त्वगिन्द्रिय में निरुद्ध कर देता है। विकट क्लान्ति होती है इसकी। बिल्कुल चिन्ता मत कर बिटिया, आज भट्ट की नाड़ियाँ स्वस्थ हैं, कलाएँ उद्बुद्ध हैं, द्वार रुद्ध हैं। यह देख, अलम्बुषा और पयस्विनी कितनी स्वस्थ हैं। अभी इसकी आँखें खुली जाती हैं। निपुणिका में अभी देर है। प्रति-प्रसव की क्लान्ति और भी कठिन होती है। घबराती नहीं है न! छिः, ऐसा भी व्याकुल हुआ जाता है!"

भट्टिनी ने केवल रुद्ध कण्ठ से कहा, "ना!"

1. तु. श्रीरेषा पाणिरप्यस्याः पारिजातस्य पल्लवः।
कुतोऽन्यथा स्रवत्यस्मात्स्वेदच्छद्मामृतद्रवः। —'रत्नावली', 2.42

महामाया ने मेरे ललाट पर हाथ फेरते हुए कहा, "मुझे आश्चर्य होता है कि भट्ट किस प्रकार सम्मोहन का शिकार हो गया। इसकी कुल-कुण्डलिनी जाग्रत है, इसे अवधूत गुरु का प्रसाद प्राप्त है। देख बिटिया, भट्ट की मनोगमा पाँचों नाड़ियाँ अब पूर्ण स्वस्थ हैं। यह देख, कल्पिका है, इससे संकल्प होता है; यह विकल्पिका है, इससे मन में विकल्प होते हैं; यह स्थीवा है, इससे जड़ता आती है; यह मूर्च्छना है, इससे मूर्च्छा होती है; और यह मन्या है, इससे मननशक्ति प्राप्त होती है। भट्ट की स्थीवा कमजोर है। अब ठीक हो जायेगी। मगर अद्भुत शक्ति है निपुणिका की नाड़ियों में। एक बात बताऊँ बेटी, निपुणिका महामाया-स्वरूप है, उसे सामान्य नारी न समझ। सम्मोहन का प्रतिप्रसव बड़ा कठिन होता है, बेटी! प्रथम बार मैं दस पल भी नहीं सम्हाल सकी थी। उफ!" महामाया मानो कुछ भूली हुई बात सोचने लगीं। फिर एकाएक बोलीं, "आज तो मुझे जाना होगा बेटी, अक्षय तृतीया में तो अब अधिक देर नहीं है। यहाँ तुझे कोई भय नहीं है। लोरिकदेव बड़ा धार्मिक सामन्त है। तुझे कोई कष्ट नहीं होगा। क्या कहती है, जाऊँ न?"

भट्टिनी ने दृढ़ता के साथ संक्षेप में उत्तर दिया—"ना!"

महामाया गुनगुनाती हुई मानो अपने-आपसे ही बोलीं, "फिर माया के कंचुक में कसी जा रही हूँ। त्रिपुरभैरवी, तुम्हारी लीला अपरम्पार है। काल, नियति, राग, विद्या और कला माया के कंचुक हैं; पर सत्य हैं। इन्हें अतिक्रमण कौन कर सकता है? त्रिपुरसुन्दरी की लीला है!"

भट्टिनी ने चिन्तित होकर कहा, "मैं तप में विघ्न पैदा कर रही हूँ, माता?"

महामाया ने स्नेहपूर्वक कहा, "ना रे, ना! मैं विघ्नों की पूजा का ही तो तप कर रही हूँ। विघ्न ही तो मेरे उपास्य हैं। तेरे शास्त्रों के अनुसार तू भी तो एक विघ्न ही है। विधाता ने विघ्न के रूप में ही तो सुन्दरियों की सृष्टि की थी। क्यों रे, तू अपने को किसी का विघ्न नहीं समझती?"

भट्टिनी ने सहज भाव से उत्तर दिया, "तुम्हारे ही लिए क्या विघ्न नहीं बन रही हूँ?

"मेरे लिए? नहीं, मैं स्वयं विघ्नरूपा हूँ। ना, तू नहीं समझेगी।"

"तो नारी का जन्म विघ्न के लिए हुआ है, माता?"

"इतिहास तो यही कहता है रे! पुरुषों के समस्त वैराग्य के आयोजन, तपस्या के विशाल मठ, मुक्ति-साधना के अतुलनीय आश्रय नारी की एक बंकिम-दृष्टि में ही तो ढह गये हैं। क्या यह दृष्टि सत्यानाशिनी नहीं है?"

थोड़ी देर तक निस्तब्धता रही। ऐसा जान पड़ा, भट्टिनी हार गयी हैं। महामाया के प्रश्न का प्रतिवाद करने के लिए मेरा रोम-रोम उद्बुद्ध हो गया, मेरी सारी सत्ता प्रत्याख्यान के लिए आलोड़ित हो गयी; परन्तु मैं वैसे ही अवश पड़ा रहा। भट्टिनी के सामने मेरी धृष्टता प्रकट हो, यह बात मैं सोच भी नहीं

सकता था। महामाया ने ही फिर शुरू किया—"तो तू मेरी बात नहीं मानती। हाँ बेटी, नारीहीन तपस्या संसार की भद्दी भूल है। यह धर्म-कर्म का विशाल आयोजन, सैन्य-संगठन और राज्य-व्यवस्थापन सब फेन-बुद्बुद की भाँति विलुप्त हो जायेंगे; क्योंकि नारी का इसमें सहयोग नहीं है। यह सारा ठाट-बाट संसार में केवल अशान्ति पैदा करेगा।"

भट्टिनी ने चकित की भाँति प्रश्न किया—"तो माता, क्या स्त्रियाँ सेना में भरती होने लगें, या राजगद्दी पाने लगें, तो यह अशान्ति दूर हो जायेगी?"

महामाया हँसीं। बोलीं, "सरला है तू, मैं दूसरी बात कह रही थी। मैं पिण्ड-नारी को कोई महत्त्वपूर्ण वस्तु नहीं मानती। तुम्हारे इस भट्ट ने भी मुझसे पहली बार इसी प्रकार प्रश्न किया था। मैं नारी-तत्त्व की बात कह रही हूँ रे! सेना में अगर पिण्ड-नारियों का दल भरती हो भी जाय तो भी जब तक उसमें नारी-तत्त्व की प्रधानता नहीं होती, तब तक अशान्ति बनी ही रहेगी।"

मेरी आँखें बन्द थीं, खोलने का साहस मुझमें नहीं था। परन्तु मैं कल्पना के नेत्रों से देख रहा था कि भट्टिनी के विशाल नयन आश्चर्य से आकर्ण विस्फारित हो गये हैं। जरा आगे झुककर उन्होंने कहा, "मैं नहीं समझी।"

महामाया ने दीर्घ निःश्वास लिया। फिर थोड़ा सम्हलकर बोलीं, "परम शिव से दो तत्त्व एक ही साथ प्रकट हुए थे—शिव और शक्ति। शिव विधिरूप है और शक्ति निषेधरूपा। इन्हीं दो तत्त्वों के प्रस्पन्द-विस्पन्द से यह संसार आभासित हो रहा है। पिण्ड में शिव का प्राधान्य ही पुरुष है और शक्ति का प्राधान्य नारी है। तू क्या इस मांस-पिण्ड को स्त्री या पुरुष समझती है? ना सरले, यह जड़ मांस-पिण्ड न नारी है, न पुरुष। वह निषेधरूप तत्त्व ही नारी है। निषेधरूप तत्त्व, याद रख। जहाँ कहीं अपने-आपको उत्सर्ग करने की, अपने-आपको खपा देने की भावना प्रधान है, वहीं नारी है। जहाँ कहीं दुःख-सुख की लाख-लाख धाराओं में अपने को दलित द्राक्षा के समान निचोड़कर दूसरे को तृप्त करने की भावना प्रबल है, वहीं 'नारी-तत्त्व' है, या शास्त्रीय भाषा में कहना हो, तो 'शक्ति-तत्त्व' है। हाँ रे, नारी निषेधरूपा है। वह आनन्द-भोग के लिए नहीं आती, आनन्द लुटाने के लिए आती है। आज के धर्म-कर्म के आयोजन, सैन्य-संगठन और राज्य-विस्तार विधि-रूप हैं। उनमें अपने-आपको दूसरों के लिए गला देने की भावना नहीं है, इसीलिए वे एक कटाक्ष पर ढह जाते हैं, एक स्मित पर बिक जाते हैं। वे फेन-बुद्बुद की भाँति अनित्य हैं। वे सैकतसेतु की भाँति अस्थिर हैं। वे जल-रेखा की भाँति नश्वर हैं। उनमें अपने-आपको दूसरों के लिए मिटा देने की भावना जब तक नहीं आती, तब तक वे ऐसे ही रहेंगे। उन्हें जब तक पूजाहीन दिवस और सेवाहीन रात्रियाँ अनुतप्त नहीं करतीं और जब तक निष्फल अर्घ्यदान उन्हें कुरेद नहीं देता, तब तक उनमें निषेधरूपा नारी तत्त्व का अभाव रहेगा और तब तक वे केवल दूसरों को दुःख दे सकते हैं।" महामाया थोड़ा रुकीं। वे कुछ भावाविष्ट की अवस्था में थीं। तनिक विश्राम करने के बाद वे

सम्हल गयीं। उन्हें रोगी के सिरहाने बैठकर देर तक बोलते रहने से कुछ ग्लानि हुई। मेरी आँखों पर अंगुली फेरते हुए उन्होंने मानो झेंप मिटाने के लिए ही कहा, "भट्ट अब स्वस्थ है। अभी जगेगा।"

भट्टिनी कुछ बोली नहीं। मैंने आँखें खोलीं। भट्टिनी इस बार सम्हली हुई थीं। उनके बड़े-बड़े नयन महामाया के व्याख्यान-जन्य आश्चर्य से अब भी मुक्त नहीं हो सके थे। अब भी उड़ने के लिए सावधान खंजन-शाव की तरह उत्क्षिप्त भृकुटियों में झूल रहे थे। महामाया ने जब धीरे-धीरे प्रश्न किया कि कैसा लग रहा है, तो वे आग्रहपूर्वक झुक आयीं। मैंने संकेत से बताया कि स्वस्थ हूँ। अब भी मेरे अन्दर बोलने की शक्ति नहीं थी। महामाया और भट्टिनी की बातचीत से ही मुझे मालूम हो गया था कि मैं लोरिकदेव नामक आभीर सामन्त के घर में हूँ और निपुणिका भी कहीं इधर ही शय्याशायी पड़ी है। इसलिए बहुत आयासपूर्वक मैंने पूछा कि निपुणिका की क्या हालत है? महामाया ने बोलने से मुझे रोकते हुए कहा—'ठीक है।'

तीन दिन बाद मैं सम्पूर्ण स्वस्थ हो गया। आभीर सामन्त ने दूध-घी से हमें स्नान-सा करा दिया। इतना अतिथि-वत्सल व्यक्ति मैंने पहले नहीं देखा था। इस बीच महामाया विन्ध्यगिरि के किसी अज्ञात शक्तिपीठ को चली गयी हैं। निपुणिका की संज्ञा लौट आयी है, यद्यपि वह भी अत्यन्त क्षीण है। भट्टिनी में स्वाभाविक ज्योति फिर से प्रतिष्ठित हो गयी है। विग्रहवर्मा और उसके सैनिक वज्रतीर्थ के पास ही कहीं नौका रोके पड़े हुए हैं। वे नित्य आकर हमारी खबर ले जाते हैं। मैं सब मिलाकर प्रसन्न ही हूँ। सोच रहा हूँ कि निपुणिका अच्छी हो जाय, तो शीघ्र ही मगध की ओर चल दूँ। परन्तु इस बीच एक ऐसी घटना हो गयी कि मेरी सारी योजना चौपट हो गयी।

मैं भद्रेश्वर-दुर्ग के पश्चिमी प्राचीर पर खड़ा होकर सूर्यास्त का सौन्दर्य देख रहा था। सूर्यमण्डल अपने किरण-जाल को ऊपर की ओर समेट रहा था। ऐसा लग रहा था, मानो दिवस-लक्ष्मी आकाश के पश्चिम-प्रान्त से नीचे की ओर चली जा रही हैं और उनके द्रुत-संचारित चरणों से पद्मराग मणि के नूपुर खिसककर पीछे छूट गये हैं। सूर्य-बिम्ब ने सारा दिन करपुटों से जो कमल-पराग संग्रह किया था, वह मानो अचानक ढरक गया और सारा आकाश पद्मराग के रस से पिंजर हो गया। क्रमशः पश्चिम दिग्वधू के कानों को सुशोभित करनेवाले रक्तोत्पल के समान मनोहर सूर्य-मण्डल अस्त हो गया, आकाशरूप सरोवर में सन्ध्या-रूपी पद्मिनी प्रकाशित हो उठी, कृष्णागुरु के पंक से निर्मित पत्रलेखा की भाँति तिमिर-रेखा दिङ्मुखों में परिव्याप्त हो उठी और उससे सन्ध्या की लालिमा इस प्रकार आच्छादित हो गयी, मानो भ्रमर-भूषित नीलोत्पलों ने रक्तपद्म के सरोवर को आच्छन्न कर लिया हो। धीरे-धीरे निशाविलासिनी के अवतंस-पल्लव की भाँति शोभमान सन्ध्याराग विलुप्त हो गया। पारावतगण भवन-वलभियों में लौटने लगे, मानो अट्टालिका-स्थित भवन-लक्ष्मी ने नैशविहार के लिए कानों में

नील कमल धारण कर लिया हो। जलहारी रमणियों का संचरण बन्द हुआ और नूपुरों की रुनझुन के साथ ही भवन-दीर्घिका के सारसों का क्रेंकार भी शान्त हो गया। हाथियों को नींद आने लगी, इसीलिए उनके गण्डस्थल से धाराजल का चूना शान्त हो जाने से वायुमण्डल कुछ हल्का जान पड़ने लगा, और दिनभर की आतपक्लान्त वनचारी वायु धीरे-धीरे बहकर श्रान्ति दूर करने लगी। मैं उठकर चलने की सोच ही रहा था कि एक आभीर सैनिक ने अभिवादन किया। मैंने आशीर्वाद देकर पूछा, "कुछ कहना चाहते हो, भद्र !"

सैनिक ने अत्यन्त कातर क्षमा-याचना के साथ कहा, "अपराध मार्जित हो आर्य, ब्राह्मण की शपथ है, इसीलिए आपको कष्ट दे रहा हूँ।" यह कहकर सैनिक ने एक पत्र दिया और प्रणाम करके चलता बना। उस समय चारों ओर अन्धकार घना हो गया था, पत्र पढ़ सकना सम्भव नहीं था; परन्तु सैनिक ने जिस ढंग से पत्र दिया, उससे कुतूहल बढ़ गया। तुरत पत्र पढ़ने की व्याकुलता से मैं चंचल हो उठा।

अपने आवास पर लौटा, तो देखा कि भट्टिनी उत्सुकता के साथ मेरी प्रतीक्षा कर रही हैं। आते ही उन्होंने मृदु तिरस्कार के साथ कहा, "इतनी देर करना ठीक नहीं है।" उनकी आँखें नीचे झुकी हुई थीं, अधरोष्ठ कुंचित थे और चिबुक भारग्रस्त था। स्पष्ट ही भट्टिनी को मेरे देर से आने के कारण खीझ हुई थी; पर सहज आभिजात्य गौरव से उस क्रोध में भारीपन आ गया था। उनकी वाणी में शासन का ओज था, अधिकार का स्वर था, स्नेह की मृदुता थी। मैंने ससम्भ्रम उत्तर दिया कि मैं दुर्ग में ही था। क्षण-भर के लिए मैं चिन्तित भी हुआ। इतना क्या सह्य होगा ! परन्तु मुझे चिट्ठी पढ़ने की जल्दी थी। सीधे अपने शयन के पास गया। वहाँ दीपक रखा था। पत्र खोलकर पढ़ने लगा। पत्र अशुद्ध संस्कृत में लिखा था। जान पड़ता था, किसी गँवार ने उसकी प्रतिलिपि की है; परन्तु उससे चिट्ठी के भावार्थ को समझने में बाधा नहीं पड़ी। चिट्ठी की प्रत्येक पंक्ति मेरे रक्त में सनसनी पैदा करने लगी। मेरी शिराओं में विचित्र विलोड़न होने लगा। मुझे ऐसा लगा कि फिर मूर्च्छित होकर शय्याशायी हो जाऊँगा। मैंने पत्र कई बार पढ़ा। जब अपने को सम्हालने में समर्थ हो सका, तब रात्रि एक पहर बीत चुकी थी। पत्र में लिखा था—

"स्वस्ति। पुरुषपुर से सामवेद की कौथुमीशाखा का अध्यायी जैमिनि-गोत्रोत्पन्न कान्यकुब्ज भर्वुशर्मा ब्राह्मणों और श्रमणों के नाम पर, देवमन्दिरों और विहारों के नाम पर, स्त्रियों और बालकों के नाम पर, समस्त आर्यावर्त के निवासियों को आवेदित करता है :

"भाइयो, फिर प्रत्यन्त दस्यु आ रहे हैं। देवता भी जिस आर्यभूमि में निवास पाने की स्पृहा करते हैं, उस पवित्र भारत-भूमि की अट्टालिकाएँ फिर भस्म होंगी, फिर वे दिनान्तकालीन प्रचण्ड आँधी से छिन्न-भिन्न मेघपटल की भाँति श्री-हीन हो जायेंगी। शंख और घण्टा-निनाद से मुखरित राजपथ फिर शृगालों के विकट नाद से भयंकर हो उठेंगे। अन्तःपुर की ललनाओं की विलास-पुष्करिणियाँ जंगली

भैंसों के लोटने से फिर गँदली होंगी। सुवर्णयष्टियों पर विहार करनेवाले क्रीड़ा-मयूरों के बर्हभार फिर दावाग्नि से झुलस जायेंगे। मन्दिरों और विहारों की सीढ़ियों पर फिर जंगली वृकों की घुड़दौड़ होगी। शस्यश्यामला आर्यभूमि फिर से रक्त और भस्म के कीचड़ से भयंकर हो उठेगी।—भाइयो, प्रत्यन्त-दस्यु आ रहे हैं।

"किसने प्रत्यन्तों को आज तक रोक रखा था? विषम समय-विजयी, बाह्लीकविमर्दन, प्रत्यन्त-बाड़व अज्ञात-प्रतिस्पर्धि-विकट देवपुत्र तुवरमिलिन्द ने। देवमन्दिरों और विहारों के रक्षक, स्त्रियों और बालकों के मानदाता, ब्राह्मणों और श्रमणों की आश्रय-भूमि देवपुत्र आज विषम शोक-सागर में निमग्न हैं। उनकी प्राणाधिका कन्या को दस्युओं ने अज्ञात स्थान में पहुँचा दिया है। देवपुत्र आज मन्त्रौषधिरुद्ध-वीर्य कालसर्प की भाँति अपने विष से आप ही जल रहे हैं। कौन है, जो देवपुत्र का इस शोक-सागर से उद्धार करेगा? कौन है, जो प्रत्यन्त-दस्युओं के उत्पाटन में फिर से निमित्त बनेगा?—भाइयो, प्रत्यन्त-दस्यु आ रहे हैं।

"कौन है, जो देवपुत्र की कन्या का सन्धान बतायेगा? भाइयो, प्रयत्न करो, देवपुत्र की प्राणाधिका कन्या का सन्धान प्राप्त करो। फिर एक बार देवपुत्र की विशाल वाहिनी के सैन्य-सम्मर्द से भुवन-मण्डल जीर्ण शकट के क्रोड़देश की भाँति धूम्र हो उठे। गैरिक गिरिवर्त्म अश्वों के क्षुर-क्षोद से गिरि-कुहरों को कम्मेलक-(ऊँट) सटा के समान कपिश बना दे; मदमत्त गजराजों की वाहिनी प्रत्यन्त देश को काली मदधारा से परिणत रल्लक मृग के रोमराजि के समान कर्बुर बना दे; महीतल अश्वमय, दिक्चक्रवाल कुंजरमय, अन्तरिक्ष आतपत्रमय, अम्बरतल ध्वज-वनमय, वायुमण्डल मद-गन्धमय और त्रिभुवन जयशब्दमय हो उठे।—भाइयो, प्रत्यन्त-दस्यु फिर आ रहे हैं।

"कौन है, जो आज आर्यावर्त्त का दस्युओं के दंष्ट्राजाल से उद्धार करेगा? आज स्कन्द के अवतार समुद्रगुप्त नहीं हैं, जिनके धनुष-टंकार ने यौधेयों का दर्प-दलन किया था, म्लेच्छों का मान-मर्दन किया था, मन्दिरों और मठों के विध्वंसकों का प्राण-हरण किया था। आज नृसिंह-पराक्रम चन्द्रगुप्त नहीं हैं, जिन्होंने चारों समुद्रों को अपने सुरभित यश से सुगन्धमय बना दिया था, जिनके हुंकारमात्र से प्रत्यन्त सामन्त सिर झुकाने को बाध्य हुए थे, जो विद्या और कला के सर्वस्व थे, जो स्त्रियों और बालकों के अभयदाता थे, जो देवमन्दिरों और विहारों के आश्रय-स्थल थे। आज प्रचण्ड पराक्रम मौखरि-वीर विग्रहवर्मा भी नहीं हैं, जो शत्रुओं के लिए काल और दीनों के लिए कल्पवृक्ष थे। आज टिड्डियों से भी विपुल, भेड़ियों से भी क्रूर, गृध्रों से भी निर्घृण, शृगालों से भी हीन और कृकलासों से भी अधिक बहुरूपी हूण दस्युओं से इस पवित्र भूमि को बचाने की सामर्थ्य कौन रखता है? एकमात्र देवपुत्र तुवरमिलिन्द।—भाइयो, प्रत्यन्त-दस्यु फिर आ रहे हैं।

"जय हो उस अज्ञात-प्रतिस्पर्धि-विकट देवपुत्र तुवरमिलिन्द की। जय हो इस आर्यभूमि की। भाइयो, देवपुत्र की नयनतारा को, उनकी प्राणाधिका कन्या को

खोजो—यही एकमात्र रक्षा का उपाय है। मैं ब्राह्मणों और श्रमणों के नाम पर, देवमन्दिरों और विहारों के नाम पर, स्त्रियों और बालकों के नाम पर, विद्वानों और तपस्वियों के नाम पर भूमि के निवासियों को आवेदित करता हूँ।—भाइयो, प्रत्यन्त-दस्यु फिर आ रहे हैं।

"अपरंच मैं अशीतिपर वृद्ध हूँ। मैं सामाध्यायी कान्यकुब्ज ब्राह्मण हूँ। मैं मौखरियों का गुरु हूँ—मैं अपनी ही शपथ देकर निवेदन करता हूँ कि जो कोई इस पत्र को पढ़े, वह इसकी दस प्रतियाँ लिखकर अन्य लोगों को दे दे। यह क्रिया तब तक चलती रहे, जब तक देवपुत्र की प्राणाधिका कन्या का पता न लग जाय। —इति शुभमस्तु।"

मेरी उत्तेजना तब भी शान्त नहीं हुई थी। किससे इस विषय में कुछ परामर्श लूँ। भट्टिनी को यह संवाद नहीं देना चाहिए। निपुणिका दुर्बल है। हाय, बाणभट्ट अकेला है! मुझमें उड़ने की शक्ति होती, तो तुरत उड़कर देवपुत्र के पास चला जाता; पर मैं उड़ तो नहीं सकता। पत्र के विषय में मैं उलझा हुआ उत्तेजित हो रहा था, उसी समय भट्टिनी का स्वर सुनायी दिया। जान पड़ता था, वे देर से मेरी दशा देख रही थीं। उनके मुख-मण्डल पर सहज अनुभाव तरंगित हो रहा था और सारे शरीर को घेरकर एक अपूर्व भाव-माधुर्य उल्लसित हो रहा था। अपने सीमन्त-स्थित अवगुण्ठन को प्रवाल-शोण नख-प्रभा से सिंचित करते हुए उन्होंने आगे की ओर सरकाया और आदेश देती हुई-सी बोलीं, "भट्ट, पत्र पढ़ना छोड़ो, प्रसाद ग्रहण करने का समय हो गया है।" प्रसाद-ग्रहण अर्थात् भोजन। भट्टिनी ने मुझसे एक बार भी महावराह की मूर्त्ति के बारे में नहीं पूछा था। वे समझ गयी थीं कि मैंने गंगा की धारा में मूर्त्ति का विसर्जन कर दिया होगा। मैं जानता हूँ कि इस बात से उन्हें कितना क्लेश पहुँचा होगा, परन्तु इस कुसुमकोमल शरीर में कितना गम्भीर हृदय है, इस लघु-काया में कैसा कौलीन्य तेज है, इस छोटी अवस्था में कैसी अनुभावशालीनता है। भट्टिनी को आशंका है कि पूछने से मुझे क्लेश होगा, और इसीलिए उन्होंने पूछा ही नहीं; परन्तु महावराह की पूजा एक दिन भी बन्द नहीं हुई है। 'जलौघमग्ना सचराचराधरा' का मोहन स्तव कभी नहीं रुका है। प्रसाद पाने के सौभाग्य से हम कभी वंचित नहीं हुए हैं। मैंने विनयपूर्वक उत्तर दिया कि अभी चलता हूँ।

भट्टिनी लौटने लगीं। फिर एक क्षण के बाद मेरी ओर घूम गयीं। अबकी बार उन्होंने थोड़ा हँसने का प्रयत्न किया। एक पवित्र आलोक से सारा घर जगमगा उठा, मानो एक ही साथ सौ-सौ आरात्रिक प्रदीप जल उठे हों। भट्टिनी के चेहरे पर बहुत दिनों बाद आज स्मितरेखा दिखायी दी है। मेरा व्याकुल और उद्विग्न चित्त इस शामक मुस्कान से बहुत शान्त हो गया। उत्साहावेश में मैंने अनावश्यक प्रश्न किया, "कुछ आज्ञा है क्या, देवि?" भट्टिनी ने और भी प्रसन्नता प्रकट की। बोलीं, "इस पत्र से इतने उत्तेजित क्यों हो गये, भट्ट?" मेरे मन में अज्ञात आशंका का प्रादुर्भाव हुआ। क्या भट्टिनी ने इसे पढ़ लिया है? मैंने शंकित भाव से

कहा, "पत्र का विषय कुछ चिन्तित करनेवाला ही है, देवि ! पर सेवक का अपराध मार्जित हो, मैं इस एक विषय को आपसे छिपा रखने की अनुमति चाहता हूँ।" भट्टिनी ने मेरे मनोभावों का रस लेते हुए कहा, "बहुत गोपनीय है क्या ?" और मधुर हँसी से खिलखिला उठीं। मैं भट्टिनी के विनोद का रस ले सकता था; पर भट्टिनी को क्या मालूम कि मेरा चित्त कितना उद्विग्न है। मैंने गम्भीरता के साथ ही उत्तर दिया, "हाँ देवि, कुछ दिन तक आपसे इस संवाद को छिपा रखना ही श्रेयस्कर समझता हूँ।" भट्टिनी ने निष्ठुरतापूर्वक और भी छेड़ा, "मैं विघ्न बन सकती हूँ ! यही बात है न ?" मैं हतबुद्धि !

थोड़ी देर तक मन्द-मधुर स्मित से मेरी विवशता को उकसाती हुई वे खड़ी रहीं। फिर सहज भाव से बोलीं, "आभीर सामन्त की रानी ने मुझे भी एक प्रति भेजी है। मैं इसे पढ़ चुकी हूँ। चलो, इसमें उत्तेजित होने की क्या बात है ?" मैं आश्चर्य में निमग्न-सा हो गया। देर तक भट्टिनी की विनोद-प्रफुल्ल मुखश्री की ओर अवाक् भाव से देखता हुआ बोला, "धन्य हो देवि, देवपुत्र की उपयुक्त कन्या हो ! दूसरा कौन इस प्रकार धीर रह सकता था ? उपयुक्त स्थल में देवपुत्र का पक्षपात है। समुद्र से ही कौस्तुभ-मणि का प्रादुर्भाव हो सकता है, पृथ्वी से ही जानकी का जन्म सम्भव है, हिमालय से ही पार्वती की उत्पत्ति हो सकती है, विष्णुचरण से ही गंगा प्रवाहित हो सकती है, ब्रह्मा से ही त्रयी विद्या प्रादुर्भूत हो सकती है। ऐसे समय में मानसिक वेगों को धारण करना देवपुत्र की कन्या का ही कार्य है। आश्वस्त हूँ देवि, आर्यावर्त्त आज कृतार्थ है, देव-मन्दिर और विहार आज सुरक्षित हैं, ब्राह्मण और श्रमण आज वीत-विघ्न हैं, तरुणियाँ और बालक आज निश्चिन्त हैं। आज धरित्री प्रसन्न है, दिशाएँ निर्मल हैं, वायु पवित्र है। प्रत्यन्त समुद्र में फिर बाड़वाग्नि की ज्वाला धधकेगी, देवपुत्र की भुजारूप वह्नि-शिखा में आज फिर पापदस्युओं की आहुति होगी। देवि, मैं धन्य हूँ।"

भट्टिनी अविचलित चित्त से मेरी स्तुति सुन रही थीं। उनमें एक दिव्य ज्योति प्रत्यक्ष दिखायी दे रही थी। मुझे ऐसा लगता था कि पार्वती ही भक्त की स्तुति सुनने के लोभ से रुक गयी हैं। मैंने दीप्त श्रद्धा के साथ और कहना शुरू किया। भट्टिनी ने डाँटा—"यह क्या बालकों की भाँति उत्तरल भाव है, भट्ट ! मैं देवी नहीं हूँ। हाड़-मांस की नारी हूँ। मैं विघ्नस्वरूपा हूँ; परन्तु मैं जानती हूँ कि मेरा विघ्नरूप होना ही विश्व का परित्राण है। तुम्हीं ने मुझे यह ज्ञान दिया है, भट्ट, और तुम्हीं उसे भुलवाने को प्ररोचित कर रहे हो ? मैं हूँ चन्द्रदीधिति—सौ-सौ बालिकाओं के समान एक सामान्य बालिका ! मैं हूँ तुम्हारी भट्टिनी,—" अचानक वे रुक गयीं। कुछ कहती-कहती भी न कह सकीं। केवल वाष्परुद्ध कण्ठ से उपसंहार करती हुई बोलीं, "मैं देवी नहीं हूँ, चलो, प्रसाद लो।"

भट्टिनी चलीं और मैं अपने ही ऊपर झुँझलाया हुआ उनके पीछे हो लिया। तुम कह सकती हो, तुम देवी नहीं हो; पर जिस दिन से तुम्हें देखा है, उस दिन से मेरा सारा अन्तरतर अपने को निःशेष करके तुम्हारी सेवा के लिए ढरक जाना

चाहता है, सम्पूर्ण अस्तित्व परिणाम-रक्त दाड़िमी फल की तरह तुम्हारे लिए फट पड़ना चाहता है, सारी वाग्धारा उद्वेल जलराशि की भाँति तुम्हारी सत्ता को निमज्जित कर लेना चाहती है—यह क्या बालकोचित उत्तरल भाव है? मैं अकिंचन हूँ, साधनहीन हूँ, पथभ्रान्त हूँ। मेरे पास है ही क्या, जिससे तुम्हारी पूजा करूँ? तुम देवी हो; सौ बार प्रतिवाद करो, तो भी देवी हो—इस कलुष-पंकिल संसार-सागर की प्रफुल्ल पद्मिनी, इस धूलिधूसर वनभूमि की मालती-लता! लाख-लाख सामान्य बालिकाएँ आज आर्यावर्त्त को महानाश के गह्वर में गिरने से नहीं बचा सकतीं—तुम बचा सकती हो। मेरा क्षोभ मेरे चेहरे पर ज़रूर प्रतिफलित हुआ होगा, क्योंकि भट्टिनी ने मेरी ओर फिरकर कई बार देखा। प्रसाद देते हुए उन्होंने ज़रा दुलार करते हुए कहा, "बुरा मान गये, भट्ट!" मैंने करुण भाव से उनकी ओर देखा। भट्टिनी का चित्त आज कुछ प्रसन्न था। उनमें आज कुछ अप्रत्याशित लीला आ गयी थी। इस समय उन्हें ज़रा भी चिन्तित होने देना अपराध था। परन्तु भट्टिनी को मेरे उत्तर की अपेक्षा नहीं थी। बोलीं, "बुरा न मानो। तुम्हें मुझे देवी समझने में आनन्द मिलता है, तो मैं देवी ही सही। यह वरदान लो।"—कहकर भट्टिनी ने मेरी थाली में अपने हाथ का बनाया हुआ मिष्टान्न डाल दिया। मैं हँसा और भट्टिनी भी मन्द स्मित के साथ हँस पड़ीं।

द्वादश उच्छ्वास

भद्रेश्वर स्वस्तिकाधार दुर्ग था। लोरिक देव का राजभवन केन्द्रस्थल पर था। हम लोगों के ठहरने को जो स्थान दिया गया था, वह पूर्वी तोरण से बिल्कुल सटा हुआ था। वहाँ से परिखा तक कूर्मपृष्ठ की भाँति उन्नतोदर राजमार्ग था, जो आगे चलकर दाहिनी ओर वक्राकार होकर घूम गया था। राजमार्ग के दोनों ओर समृद्ध नागरिकों के बड़े-बड़े सौध थे। रात को इन मकानों के वातायनों से दीपालोक की क्षीण रश्मियाँ ही दिखायी पड़ती थीं। सारा मार्ग विशाल अजगर की भाँति निस्तब्ध पड़ा दिखायी देता था। भट्टिनी के हाथ का प्रसाद पाकर मैं बाहर आया और एक छोटी-सी स्थण्डिल-पीठिका पर बैठकर पूर्व की ओर जानेवाले इस राजमार्ग को देखने लगा। आकाश एक विकच कमल-सरोवर की भाँति लग रहा था। रात के सन्नाटे में यह छोटा-सा दुर्ग-नगर बहुत मनोहर जान पड़ता था। मेरे मन में भर्वुशर्मा के पत्र की स्मृति वैसी ही बनी हुई थी। यद्यपि भट्टिनी के प्रसन्न मुख से मैं थोड़ा आश्वस्त हो गया था; पर मेरा कर्त्तव्य-भार हल्का नहीं हुआ था। मुझे ऐसा लग रहा था कि निपुणिका इस विषय में मेरी सहायता कर

सकती है। निपुणिका से मैं खुलकर बातें कर सकता हूँ। भट्टिनी के सामने मुझमें एक प्रकार की मोहनकारी जड़िमा ग्रा जाती है। मैं सोच रहा था कि प्रातःकाल इस विषय में निउनिया से परामर्श करूँगा। वह भट्टिनी को ग्रच्छी तरह पहचानती है। मैं ग्रब भी उन्हें पहचान नहीं पाया हूँ।

धीरे-धीरे पूर्व-गगन-मंच पर चन्द्रमा का ग्रभ्युदय हुग्रा। सारा भुवन-मण्डल पहले सिन्दूरराग से लाल हो उठा ग्रौर फिर मानो धवल चन्दन-रस की धारा से ग्राप्लावित हो गया। भवन-वलभियों के पारावतों में क्षण-भर के लिए चंचलता ग्रायी। उनके भस्म के समान कर्बुरपक्ष रह-रहकर फड़फड़ा उठने लगे, ग्रौर उन्हीं से मानो ग्रन्धकार झाड़ दिया जाने लगा। चमगीदड़ों की छाया कभी-कभी मेरे सिर पर से पार जाने लगी। उन्हें देखकर ग्रनुमान होता था कि ग्रन्धकार-रूपी सेनापति के इक्के-दुक्के सैनिक ग्रवसर पाकर इधर-उधर भाग जाने की चेष्टा कर रहे हैं। सारा वातावरण शान्त ग्रौर मनोरम हो गया। चन्द्रमा की स्निग्ध ज्योत्स्ना में स्नान-सा करता हुग्रा भद्रेश्वर-दुर्ग ग्रौर भी मनोहर हो उठा। मैंने सोचा कि जिस दिन कर्पूरधवल महादेव के जटाजूट से शतधार होकर गंगा की धारा हिमालय पर गिरी होगी, उस दिन उसकी शोभा कुछ ऐसी ही रही होगी—ग्रभ्रभेरी श्वेत शिखर यथास्थान इसी प्रकार ग्रविचल खड़े होंगे, जिस प्रकार भद्रेश्वर की सौध-ग्रट्टालिकाएँ दिख रही हैं; कभी न बुझनेवाली ग्रौषध-मणियाँ उस श्वेत धारा में इसी प्रकार जल रही होंगी, जिस प्रकार इस दुर्ग के प्रासार-वातायनों में प्रदीप जल रहे हैं; मेखला को घेरकर संचरण करनेवाले मेघखण्ड उसी प्रकार सिमट गये होंगे, जिस प्रकार इन दुर्ग-हर्म्यों की तिरस्करिणियाँ (पर्दे) सिमट गयी हैं ग्रौर दरी-गुहाग्रों में शयन करनेवाली सिद्धवधुएँ मन्दाकिनी के निर्झर-सीकरों से सिक्त वायु को उसी प्रकार ग्रलस-विलसति से उपभोग कर रही होंगी, जिस प्रकार इस दुर्ग की सुन्दरियाँ ग्राज के मधुर-मदिर-शीतल वायु का उपभोग कर रही हैं।

उस रात को मुझे नींद नहीं ग्रायी। मैं भट्टिनी को पहचान नहीं पा रहा हूँ। छोटे महाराज के विशाल ग्रन्तःपुर में ग्राबद्ध भट्टिनी का परिपाण्डु-दुर्बल-कपोल-सुन्दर मुख मैं देख चुका हूँ। चण्डीमण्डप में कुमार कृष्णवर्द्धन का ग्राश्रय लेने से स्पष्ट इनकार करने के बाद बाणविद्ध मृग के समान उनकी करुण मुखच्छवि मैं भुलाने पर भी नहीं भूल सका हूँ। गंगा की मनोहर धारा पर ग्रपने ग्रपहरण का वृत्तान्त कहती हुई निराश सिंहिनी के समान उनकी स्फुल्लिंग-वर्षी ग्राँखें मेरे मानस-पटल पर विद्ध हो गयी हैं ग्रौर ग्रन्तिम बार गंगा की धारा से विनिर्गता उनकी वह शिथिलश्रान्त मनोहर शोभा मेरे मानस-पटल पर ग्रंकित हो गयी है, जो बराह के दन्त पर समासीन श्रान्त धरित्री को धैर्य ग्रौर गाम्भीर्य में पराभूत कर रही थी। परन्तु ग्राज मैं भट्टिनी को जिस रूप में देख चुका हूँ, वह रूप उन सबसे भिन्न है। मैं इन सब रूपों में कोई एक सूत्र खोजना चाहता हूँ; पर पा नहीं रहा हूँ। कुछ दिनों से मुझे ऐसा लग रहा है कि मेरी बुद्धि लुप्त हो गयी है, क्रियाशक्ति शिथिल हो गयी है, वाग्धारा सूख गयी है। मैं संसार की विषमताग्रों

को देख चुका हूँ, इस दुनिया का अबोध ब्राह्मण-वटु नहीं हूँ। यद्यपि मेरे कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य की कसौटी वही नहीं है, जो सारी दुनिया को मान्य है; पर मैं लोक-मर्यादा से अनभिज्ञ नहीं हूँ। फिर भी इधर मेरा चित्त जड़ होता जा रहा है, बुद्धि मुग्ध होती जा रही है और मस्तिष्क भोथा होता जा रहा है। आखिर वह कौन-सा अन्तर्विकार है, जो मेरे चित्त को जड़ बना रहा है और मेरी बुद्धि को मोहग्रस्त बना रहा है! मेरे लिए इसका उत्तर पाना कठिन हो रहा है। आज मैं स्वयं अपनी समस्या हो रहा हूँ।

एक बात स्पष्ट है। भट्टिनी और निपुणिका के साथ रहने से मेरे अन्दर परिवर्त्तन आया है। मैं कहने को तो उनकी रक्षा के लिए साथ हूँ; पर हो गया हूँ परम आश्रित। इस अवस्था से मुक्ति मिलनी चाहिए। आज से अधिक पराधीन मैं कभी नहीं था। परन्तु भट्टिनी को अकेली छोड़कर मैं जा भी कैसे सकता हूँ। विषम समस्या है। मेरा रोम-रोम कदम्ब-केसर की भाँति उद्‌भिन्न होकर इस परवशता का स्वागत करता जान पड़ता है, मेरा सारा हृदय द्रवित नवनीत के समान इसके सामने ढरक पड़ने को आतुर हो रहा है और भीतर से एक तीव्र अभिलाषा उद्‌बुद्ध कोकनद के समान अपना आवरण तोड़कर फूट पड़ना चाहती है! मुझे क्या हो गया है? और यह भी आश्चर्य की बात है कि मेरे चित्त में यह द्वन्द्व उस समय उठा है, जब उसे उठना ही नहीं चाहिए। मैंने आज भट्टिनी का स्मयमान मुख देखा है। अधरों पर लीला तरंगित हो रही थी, कपोल-पालि विभ्रम-वीचियों से चटुल हो उठी थी, श्वेत पुण्डरीक के समान विशाल नयनों में लालिमा खेल रही थी, कान्ति की लहरों से सारी अंगयष्टि आच्छादित थी, मानो मुक्ता-छटा की स्रोतस्विनी ही लहरा रही हो। यह तो मेरे लिए कृतकृत्य होने का अवसर है। आज तो मेरा सारा जीवन ही सार्थक जान पड़ना चाहिए था; परन्तु मैं आज ही इतना हतबुद्धि क्यों हो गया हूँ? सचमुच मुझे हो क्या गया है?

मुझे एक-एक करके सारी बातें याद आने लगीं। आज भट्टिनी ने जो कुछ कहा है, उसका क्या अर्थ है? वे हजार-हजार बालिकाओं की भाँति एक बालिका हैं, तो इससे क्या हुआ? वे हाड़-मांस की नारी हैं—न होतीं, तो बाणभट्ट आज इस पवित्र देव-प्रतिमा के सामने अपने-आपको निःशेष भाव से उँडेल देने में अपनी सार्थकता क्यों मानता? हाय, संसार ने इस हाड़-मांस के देव-मन्दिर की पूजा नहीं की! वह वैराग्य और शक्ति-मद की बालू की दीवार खड़ी करता रहा! उसे अपने परम आराध्य का पता नहीं लगा! लेकिन इन सब बातों में क्या रखा है? मैं बहुत देख चुका हूँ। शोभा और कान्ति को विभ्रम और विच्छित्ति पर बिकते देखकर मैं जिस दिन प्रथम बार विचलित हुआ था, उस दिन की बात याद आती है, तो मेरी सम्पूर्ण सत्ता विद्रोह कर उठती है। माधुर्य और लावण्य की अपेक्षा हेला और विब्बोक का सम्मान दैनन्दिन घटना है, मैं यह सब जानता हूँ। परन्तु मैं यह भी जानता हूँ कि इन सारे आपाततः परस्पर-विरोधी दिखनेवाले आचरणों में एक सामरस्य है—निरन्तर परिवर्त्तमान बाह्य आचरणों के भीतर

एक परम मंगलमय देवता स्तब्ध है। उस देवता को नहीं देखनेवाले ही यौवन को मत्त गजराज कहा करते हैं, अनुराग को मानस अन्धकार बताया करते हैं, सहज भाव को वंकिम लीला का नाम दिया करते हैं। माधवी लता को घेरकर जब मधुकर-श्रेणी गुंजार करती रहती है, तो मैं स्पष्ट ही पुष्पों के भीतर सौरभ के रूप में स्तब्ध उस महादेवता को देख पाता हूँ; नदी जब उन्मत्त वेग से अपने सर्वस्व को दोनों हाथों लुटाते हुए समुद्र की ओर दौड़ती रहती है, तो उस महा-रागमय देवता का मुझे साक्षात्कार होता है; मेघ के श्यामल-मेदुर वक्षस्थल में क्षण-भर के लिए जब विभ्रमवती विद्युत् चमककर छिप जाती है, तो उस समय भी मैं उस व्याकुल वेदना के देवता को देखना नहीं भूलता।

अचानक पीछे से भट्टिनी की आवाज आयी—'भट्ट, दुर्बल शरीर लेकर रात-भर बाहर बैठना तो उचित नहीं है।' मैंने प्रथम मेघ-गर्जन सुननेवाले मृग-शिशु की भाँति चौंककर पीछे देखा। भट्टिनी ही थीं—आगुल्फ आच्छादित नील आवरण में से उनका मनोहर मुख सौगुना रमणीय दिखायी दे रहा था, मानो ज्योत्स्ना-रूप धवल मन्दाकिनी-धारा में बहते हुए शैवाल-जाल में उलझा हुआ प्रफुल्ल कमल हो, क्षीर-सागर में सन्तरण करती हुई नीलवसना पद्मा हो, कैलास पर्वत पर खिली हुई सपुष्पा दमनकयष्टि हो, नील मेघ-मण्डल में झलकनेवाली स्थिर सौदामिनी हो! उनकी बड़ी-बड़ी मनोहर आँखों की शोभा अपना उपमान आप ही थीं। मैं भट्टिनी के अचानक आगमन से क्षण-भर के लिए स्तब्ध रह गया। कुछ उत्तर नहीं सूझ पड़ा। केवल उस मृदुल-मनोहर दृष्टि की ओर मुग्ध-भाव से देखता रहा, जो इन्दीवर की माला की भाँति मुझे बाँध रही थी, कस्तूरिका-लेप की भाँति मुझे स्निग्ध बना रही थी और मन्दारमाला की भाँति मेरे अन्तर और बाहर को आमोद-मग्न कर रही थी। भट्टिनी वहाँ क्षण-भर खड़ी रहकर फिर अपने घर की ओर लौट गयीं, केवल आदेश के स्वर में कहती गयीं—'जाओ, भीतर सो जाओ!'

कौन किसका अभिभावक है—भट्टिनी का मैं या मेरी भट्टिनी? कौन किसकी सेवा में नियुक्त है—मैं उनकी या वे मेरी? आकाश के नक्षत्रो, साक्षी रहना, बाणभट्ट पथ-भ्रान्त अकर्मा नहीं है, छिन्नरज्जु अनड्वान की भाँति अनर्गलचारी नहीं है, केदारोत्पाटित दूर्वादल की भाँति रास्ते पर विक्षिप्त हत-भाग्य नहीं है, बन में खिलकर मुरझा जानेवाले जंगली फूल की भाँति निष्फल-जन्मा नहीं है, क्षुरक्षुण्ण धूलिकण के समान आश्रयहीन नहीं है, मरु-कान्तार में सूख जानेवाली नदी के समान व्यर्थकाम नहीं है! हे हतज्योति निशानाथ, अखिल भुवन-मण्डल के राग-विराग के तुम अविसंवादी साक्षी हो। लोक से लोकान्तर को, काल से कालान्तर को, दिशा से दिगन्तर को तुम यह सन्देश पहुँचा देना कि बाणभट्ट का जीवन व्यर्थ नहीं था। मैं आज ही इस सौभाग्य को अपने ही हाथों डुबा जाऊँगा—विस्मृति के अतल गह्वर में। तुम याद रखना। मैं धीरे-धीरे अपने शयन-कक्ष में जाकर लेट गया।

नींद खुली, तो दिन चढ़ आया था। निउनिया घर के बाहर बैठी हुई मेरी प्रतीक्षा कर रही थी। उसे इतना सवेरे वहाँ आयी देखकर मेरे आश्चर्य का ठिकाना नहीं रहा। उसका मुँह सूखा हुआ था, आँखें और भी अधिक धँस गयी थीं, सारा शरीर पीला पड़ गया था। उसने बड़े आयासपूर्वक मुझे प्रणाम किया। मैं उसके आगमन का कारण पूछने जा ही रहा था कि वह स्वयं बोल उठी—"मैं अब धीरे-धीरे स्वस्थ हो जाऊँगी, मेरी चिन्ता मत करो। एक अत्यन्त आवश्यक विषय में तुमसे कुछ सलाह लेने आयी हूँ। अपराध मन में न लाओ, तो कहूँ।" मैं कुछ अवांछित सुनने की आशंका से मन-ही-मन सिहर गया। केवल आश्चर्य के साथ उसकी ओर ताकता रहा। निउनिया ने जानुपातपूर्वक फिर से प्रणाम किया और थोड़ी देर तक चुप रहने के बाद बोली, "कल रात को तुमने भट्टिनी को कुछ अनुचित कहा है, भट्ट?" मैं सन्न रह गया। मैं भट्टिनी को अनुचित कह सकता हूँ! निपुणिका ने मुझे अधिक सोचने का अवसर नहीं दिया। मेरा कुतूहल और भी बढ़ाती हुई बोली, "मैं क्या नहीं जानती कि तुम जान-बूझकर कभी अनुचित बात नहीं कह सकते? देखो भट्ट, तुम नहीं जानते कि तुमने मेरे इस पाप-पंकिल शरीर में कैसा प्रफुल्ल शतदल खिला रखा है। तुम मेरे देवता हो, मैं तुम्हारा नाम जपनेवाली अधम नारी हूँ। ऐसा कलुष मानस लेकर भी जो जी रही हूँ, सो केवल इसीलिए कि तुमने जीने योग्य समझा है। सूर्य पश्चिम दिग्विभाग में उदय हो सकता है; पर तुम भट्टिनी को कोई अनुचित बात नहीं कह सकते, यह मैं जानती हूँ। फिर भी कोई ऐसी बात जरूर हुई है, जिससे भट्टिनी का चित्त उत्क्षिप्त हो गया है। रात-भर वे रोती रही हैं। उनकी आँखें सूज गयी हैं। उनका मुख-मण्डल उत्तेजित है। वे अपने-आपमें नहीं हैं। मुझे शंका हो रही है कि उन्हें तीव्र ज्वर हो गया है। तुम यदि उनके उच्छुष्क शोण अधरों को देखो, तो अवश्य रो पड़ोगे। क्या बात हुई है, भट्ट!" निपुणिका की बात सुनकर मैं हतप्रभ हो गया। ऐसा लगा कि मेरा सारा अन्तरतर शरत्कालीन केतक 'पुष्प' की तरह विवर्ण हो गया है। मैं उन्मत्त की भाँति बोल उठा—"निउनिया, अधिक न कह। तू नहीं समझ सकती कि मेरे ऊपर तू कैसा वज्र प्रहार कर रही है।"

निपुणिका अवाक् होकर मेरी ओर देर तक ताकती रही। मैंने धीरे-धीरे रात की सारी कहानी उसे सुना दी। निपुणिका के शीर्ण चेहरे पर आनन्द की ज्योति दमक उठी। उसका श्वेत मुख-मण्डल कर्पूर-गुटिका की भाँति जल उठा। उसकी धँसी आँखों से इस प्रकार दिव्य ज्योति प्रकट होने लगी, जैसे विवरद्वार की नागमणि हो। वह क्षण-भर तक निस्पन्द-भाव से बैठी रही, मानो नाना दिशाओं से तरंगित भाव-लहरियों से टकराकर वह गतिहीन हो गयी हो। फिर उसने मेरी ओर आँख उठायी। मोतियों-भरे शुक्ति-पटल की भाँति, तुहिन-बिन्दु से पूर्ण पद्म-पलाश की भाँति, शिशिर-सिक्त पारिजात-पुष्प की भाँति, अर्द्धस्फुट सिन्दुवार-कुसुम की भाँति वे अश्रु-भरी आँखें चित्त को करुणरस से प्लावित कर रही थीं, सहानुभूति की वर्षा से सींच रही थीं, अनुकम्पा की धारा से धौत कर रही थीं।

निपुणिका देर तक भूली-सी, भ्रमी-सी, खोयी-सी ताकती रही और फिर एकाएक भूमि-तल में करतल रखकर प्रणाम करके बोली, "मैं समझ गयी, भट्ट, मेरा अपराध क्षमा करो। तुम मेरा दोष नहीं समझ सकोगे; परन्तु अपना दोष तुम्हें समझना चाहिए। मैं अपनी बात के लिए लज्जित होने योग्य भी नहीं हूँ। निउनिया की बात छोड़ो, वह बहत्तर घाट का पानी पी चुकी है, वह भले-बुरे को पहचानती है, अपने पहचानने की शक्ति पर भरोसा रखती है; अपने कलुष मानस के विकारों को दूसरे पर आरोप कर सकती है; पर भट्टिनी तो बालिका हैं। उन्हें संसार की कटुता का लेशमात्र भी ज्ञान नहीं है। वे तुम्हें समझ नहीं सकतीं। धिक् भट्ट! पुरुष में पौरुष होना चाहिए। तुमसे मैं पूछती हूँ कि तुमने भट्टिनी से कभी पूछा क्यों नहीं कि वे गंगा में क्यों कूद पड़ीं? तुमने कल उनके अस्वाभाविक तारल्य पर उन्हें कसके डाँट क्यों नहीं दिया?" निपुणिका की इन सारी बातों का कोई अर्थ मैं आज तक नहीं समझ सका हूँ; पर मुझे अपनी स्थिति समझा देने में इन शब्दों ने आश्चर्यजनक कार्य किया। मेघमुक्त आकाश की भाँति कुज्झटिका-विरहित दिङ्मण्डल की भाँति और शैवालहीन सरोवर की भाँति मेरा चित्त प्रसन्न हो गया। मैंने निपुणिका को साधुवाद देते हुए कहा, 'निउनिया, मैं भट्टिनी का सेवक होकर गौरवान्वित हुआ हूँ, अभिभावक होने की योग्यता मुझमें नहीं है। मैं उनको उनके पिता के पास पहुँचाकर छुट्टी लूँगा। मैं अधिक मोहग्रस्त होना पसन्द नहीं करता। तू भट्टिनी से कह दे कि बाणभट्ट महान् भविष्य का निमित्त बनने का संकल्प कर चुका है। वह कल ही स्थाण्वीश्वर को रवाना हो जायगा।" निपुणिका चली गयी। वह इस प्रकार उदास थी, मानो लाभ की आशा से व्यापार करनेवाला वणिक् मूल भी गँवा चुका हो!

मैं देर तक अपने आसन पर बैठा रहा। धीरे-धीरे सूर्य उत्तप्त हो उठे। अजगर के फूत्कार के समान पश्चिमी वायु सों-सों करती हुई दिक्चक्रवाल को दग्ध करने लगी, आतप के मारे कृकलास क्षण-क्षण पर रंग बदलने लगे, चटक-दम्पती अलस-भाव से हर्म्य-छिद्रों में छिपने लगे, वनसारिकाएँ नाना वचन-भंगियों से अपनी परिताप-कथा कहने लगीं और गृह-धेनुओं के रोमन्थन-व्यस्त जबड़ों में भी आलस्य का आविर्भाव हुआ। मैं दीर्घ काल तक निर्निमेष-सा स्वस्तिकाकार राजमार्ग के एक बाहु की ओर एकटक देखता रहा। इसी समय विग्रहवर्मा ने आकर प्रणाम किया और कुमार कृष्णवर्द्धन के भेजे हुए दूत से मेरा परिचय कराया। मेरे आश्चर्य की उस समय कोई सीमा न रही, जब दूत ने बताया कि कुमार ने मुझसे अनुरोध किया है कि मैं महाराजाधिराज श्री हर्षदेव से वैर त्याग करूँ और उनसे मिलूँ!

स्थाण्वीश्वर जाना तै हो गया! मैंने अन्तिम बार भट्टिनी से विदा लेने का निश्चय किया। उस समय भगवान् मरीचिमाली अस्त हो चुके थे। पश्चिम-समुद्र के तीर से प्रवाल-लता की भाँति सन्ध्याराग उदित हो गया था। विराट् सूर्य-मण्डल के पश्चिमी समुद्र में पतित होने से जो छींटें उछल पड़ी थीं, वे ही नक्षत्रों

के रूप में मानो आकाश-मण्डल में सट गयी थीं और शायद उसी समुद्र से उत्थित जलधारा ने बाद में निकटवर्ती पश्चिमी तट की लालिमा को धो डाला था। भट्टिनी स्नान करके पूजा-वेदी पर बैठी थीं। कुछ क्षण तक मैं बाहर खड़ा प्रतीक्षा करता रहा। आज भट्टिनी ने भगवान् की स्तुति बड़े करुण कण्ठ से गायी। आकाश लाख-लाख नक्षत्रनयनों को विस्फारित करके आश्चर्य के साथ उस मोहक गान को सुन रहा था। पूजा समाप्त हुई। परिक्रमा करके भट्टिनी ने अदृश्य वराह देवता को प्रणाम किया। उनके अंग-प्रत्यंग से भक्ति की शीतल स्निग्ध लहरियाँ उद्वेल हो उठीं। हल्के कौसुम्भ-वस्त्र को दीर्ण-विदीर्ण करके उनकी अंगयष्टि की लावण्य-प्रभा बाहर निर्गत होने लगी, मानो अदृश्य सौभाग्य-चन्द्रमा की सूचना-मात्र से शोभा के समुद्र में ज्वार आ गया हो। कुछ देर तक भट्टिनी आविष्ट-सी, अभिभूत-सी, घूर्णउद्भ्रान्त-सी जानुपातपूर्वक खड़ी रहीं। फिर धीरे-धीरे उठीं। मुझे द्वार पर खड़ा देखकर मेरी ओर फिरीं। उनकी आँखों में अस्वाभाविक गुरुता थी। पलकों के झुकते देर नहीं लगी। एक आसन की ओर इशारा करके वे बैठ गयीं। मैं भी बैठ गया। देर तक भट्टिनी के मुख से कोई बात नहीं निकली। मैं भी अपना वक्तव्य कहने का कोई सूत्र नहीं खोज सका। फिर भट्टिनी ने करुण-कातर स्वर में कहा, "निपुणिका ने कुछ अनुचित कहा हो, तो मन में न लाना। वह मुझे अपने प्राणों से भी अधिक प्यार करती है। तुम्हारे ऊपर उसकी जो अपार श्रद्धा है, उसका प्रमाण तो मिल ही चुका है। कई दिनों से उसका मन स्थिर नहीं मालूम हो रहा है। जान पड़ता है, तान्त्रिक अभिचार के कारण उसमें कुछ विकार आ गया है। मैं आज दिन-भर उसके बारे में सोचती रही हूँ। महामाया जाते समय कह गयी थीं कि वैशाखी पूर्णिमा को वे स्थाण्वीश्वर में पहुँच गयी रहेंगी। वहीं अवधूत भी मिलेंगे। यदि निपुणिका में कोई विकार दिखे, तो भट्ट को वहाँ जरूर भेज देना। कल चले जाओ, तो कैसा हो, भट्ट!" मैं आश्चर्य से भट्टिनी की ओर देखने लगा। भट्टिनी ने जो आदेश दिया है, वह निपुणिका की सलाह और कुमार कृष्ण के सन्देश के साथ इस प्रकार मिल रहा था कि मैं हतबुद्धि हो रहा। यह कैसा विचित्र संयोग है! और निपुणिका क्या पागल हो गयी है? प्रातःकाल उसका आना, असंगत बातें करना, क्या उन्माद था? भट्टिनी ने अधिक सोचने का अवसर नहीं दिया। बिना रुके ही बोलती गयीं—"लोरिकदेव की रानी ने अन्तःपुर में हम दोनों के लिए स्थान कर देना चाहा था; पर मैं निपुणिका की अवस्था देखकर वहाँ रहना पसन्द नहीं करती। उन्होंने यहीं उचित व्यवस्था कर देने की आशा दिलायी है। विग्रहवर्मा को कह देना कि वे यहीं रहें। उनके रहते चिन्ता की कोई बात नहीं है। महावराह पर भरोसा रखो। कल चले जाओ।"

मैंने चुपचाप सिर झुकाकर आज्ञा शिरोधार्य की। परन्तु हृदय पर जैसे कहीं-से अचानक शल्यपात हुआ। भट्टिनी को छोड़कर जाना पड़ेगा! मैं जो समझ रहा था कि मेरा मन मोहमुक्त हो गया है, वह भ्रम था! यदि भट्टिनी की ओर से

अनुमति न मिलती, तो शायद मैं अधिक निर्विकार हो सकता। कुछ देर चुप रहने के बाद भट्टिनी ने मेरी ओर देखा। वर्षा-वारि से भीगे हुए खंजरीट-शाव की भाँति वे आँखें ऊपर नहीं उठ सकीं। शीघ्र ही वे फिर नीचे आ गयीं। भट्टिनी ने जरा रुक-रुककर कहना शुरू किया—"भट्ट, मैं अभागिनी हूँ। तुमने ही मुझे जीने की सार्थकता सिखायी है। मैं नहीं जानती कि किस प्राक्तन पुण्य से महावराह ने तुम्हें मेरे पास भेज दिया था। तुम्हारे साथ रहकर मैं भूल गयी थी कि मैं भाग्य-हीना हूँ। मैंने तुम्हें बहुत कष्ट दिया है। और भी बहुत देती रहूँगी। मैं अबोध बाला हूँ। निपुणिका ने आज उन्मत्त प्रलाप के भीतर से मुझे मेरा स्वरूप दिखा दिया है। कौन जाने, उसका कहना ही ठीक हो कि मैं तुम्हें गंगा में डुबाने के लिए स्वयं गंगा में कूद पड़ी थी। मैं नहीं कह सकती। मुझे क्षण-भर के लिए ऐसा मालूम हुआ था कि मौखरियों के उस निर्घृण महाराज ने मुझे फिर से कैद करना चाहा था। जब विग्रहवर्मा तुमसे बता रहा था कि वह मौखरि है, तभी मुझे सन्देह हुआ था। निर्बुद्धि बालिका को क्षमा करना, भट्ट ! निपुणिका कह रही थी कि यदि भट्ट न होते, तो तुम गंगा में कभी न कूदतीं। आज मैं सब बातें विचार-कर देखती हूँ, तो मुझे ऐसा लगता है कि मेरे मन के किसी अज्ञात कोने में यह भावना जरूर थी कि तुम मुझे डूबने नहीं दोगे—तुम मुझे बचा लोगे। तुमने मेरा शरीर, मन, लाज-शर्म सब-कुछ बचाया है। मैं भाग्यहीना अपने सबसे बड़े हिता-कांक्षी को विपत्ति में झोंक देने की अपराधिनी हूँ। मेरा अपराध क्षमा करो, भट्ट !" कहते-कहते भट्टिनी ने हाथ जोड़कर भूमितल में सिर रखकर मुझे प्रणाम किया। मैं इस प्रकार जड़ हो गया था कि कहीं किसी प्रकार के संवेदन का लेश-मात्र भी अनुभव नहीं कर पा रहा था। इतना बड़ा व्यापार मेरी आँखों के सामने देखते-देखते हो गया और मैं हतसंज्ञ, निश्चेष्ट बैठा रहा ! भट्टिनी को जानुपात की अवस्था में देखकर मुझे जैसे होश-सा हुआ। मैं धड़फड़ाकर उठ पड़ा—"क्या कह रही हो, देवि ! निपुणिका ने उन्माद की अवस्था में जो कुछ कहा है, उसी को प्रमाण मानकर मुझे अपराधी बना रही हो !" भट्टिनी चुप रहीं। वे देर तक निस्पन्द दीपशिखा की भाँति, अचंचल विद्युल्लता की भाँति और प्रफुल्ल दमनक-यष्टि की भाँति बैठी रहीं। फिर धीरे-धीरे कहा, "वहाँ से जल्दी ही लौटना। जाओ।" मैं चला, तो भट्टिनी ने फिर पुकारा। इस बार उनका स्वर काफी साफ था। बोलीं, "निपुणिका से मत मिलना। समय मिले, तो निपुणिका की सखी सुचरिता की खबर लेते आना। वह उसकी दुकान के पास ही कहीं रहती है। वह अत्यन्त भाग्यहीना है। मैंने उसे सिर्फ एक बार देखा है। भूलना नहीं।"

प्रातःकाल मैं स्थाण्वीश्वर के लिए रवाना हो गया। घोड़े की पीठ पर निरन्तर भागता हुआ दस दिन बाद स्थाण्वीश्वर के दुर्गद्वार पर उपस्थित हुआ। प्रवेश करते ही सुचरिता सबसे पहले याद आयी। केवल एक बार निपुणिका ने उसके बारे में मुझसे चर्चा की थी। परन्तु जब मैंने उसकी पूरी कहानी पूछी, तो वह चुप हो गयी थी। भट्टिनी से भी उसने उसकी चर्चा चलायी होगी। क्या

करती है वह ! कोई अच्छा काम नहीं करती, यह तो स्पष्ट है। तो भी बाणभट्ट उधर जायेगा जरूर। आजीवन उसने नारी-देह को पवित्र देवप्रतिमा समझा है। वह जहाँ भी हो, जिस अवस्था में भी हो, सम्मान और श्रद्धा की वस्तु है। यद्यपि आज मुझे महाराजाधिराज से मिलना है, आचार्य सुगतभद्र को प्रणाम करना है और अवधूत अघोरभैरव का दर्शन पाना है, तो भी मैं सुचरिता को भूल नहीं सकता। आज बाण क्या देव-प्रतिमा को कीचड़ में धँसा देखकर सिर्फ इसलिए कतरा जायेगा कि उसे किसी सम्राट् से या किसी महासान्धिविग्रहिक से मिलने जाना है ? नहीं, यह नहीं होने का। परन्तु इतना तो होना चाहिए कि मेरे किसी आचरण से भट्टिनी के भावी मंगल का व्याघात न हो ! जो हो, मैंने निश्चय किया कि कुमार, महाराज और आचार्यपाद से मिले बिना कुछ नहीं करूँगा।

उसी दिन वैशाखी पूर्णिमा थी। इसी दिन तथागत ने जन्म ग्रहण किया था और इसी दिन निर्वाण प्राप्त किया था। बौद्ध नरपति की राजधानी में आज उत्सव जैसा होना चाहिए, वैसा ही हुआ था। वीथियाँ सुगन्धि से सिक्त थीं, पौर-भवनों में मंगल-पताकाएँ सुशोभित हो रही थीं, राजमार्ग की ओर के सभी वातायन मालती-दाम से अलंकृत हो रहे थे और पौरजन नवीन वस्त्र-भूषा से सुसज्जित थे। नगर में प्रवेश करते ही मुझे ज्ञात हुआ कि आज आचार्य सुगत-भद्र की धर्म-देशना होनेवाली है। सम्राट् और कुमार कृष्णवर्द्धन की सवारी उधर ही गयी है। मैंने जब यह सुना, तो और सभी बातें भूल गयीं और आचार्यपाद की धर्म-देशना सुनने के लोभ से मैं उधर ही खिंच गया। विहार मेरा देखा हुआ था। राजमार्ग श्वेत वस्त्रधारी नागरिकों से पूर्ण था। उनके वस्त्र, उष्णीष, अंगराग और माल्य सभी श्वेत थे। ऐसा जान पड़ता था, सब लोगों ने रजत-धारा में स्नान किया है। ऊपर सौध-वातायनों से युवतियों के स्वर्णालंकारों की पीली प्रभा व्याप्त हो रही थी। नीचे की श्वेतच्छटा के ऊपर सौध-वातायनों की सौवर्णच्छटा ऐसी मनोहर मालूम हो रही थी, मानो कैलास पर्वत पर शरत्कालीन प्राभातिक धूप फैली हुई हो। दुर्भाग्यवश जब मैं विहार तक पहुँचा, तब तक धर्म-देशना समाप्त हो चुकी थी। अब श्रोताओं की शंकाओं का समाधान किया जा रहा था।

बाहर महाराजाधिराज के आगमन से जितना आनन्द-उल्लास, कोलाहल, जयनिनाद था, उससे मैंने अनुमान किया था कि भीतर भी भारी भीड़ होगी और उसी प्रकार का हल्ला-गुल्ला होगा। परन्तु यद्यपि विहार सबके लिए खुला था, फिर भी बहुत थोड़े लोग भीतर जाने का साहस कर रहे थे। सभास्थल में भिक्षुओं का ही आधिक्य था। गृहस्थों में स्वयं महाराज और उनके कई निकटवर्त्ती पदाधिकारी समासीन थे। महाराज के शरीर पर कोई उत्तरीय भी नहीं था। सारा शरीर सौगन्धित अंगराग से उपलिप्त था और भुजमूल में केयूर और हृदय में एक मौक्तिक हार के सिवा और कोई भी अलंकार उन्होंने नहीं धारण किया था। वे बहुत शान्त-मनोरम दिखायी दे रहे थे। आचार्य के प्रति उनकी अगाध श्रद्धा थी, और आचार्य भी अत्यन्त स्नेहपूर्वक उनकी ओर देख रहे थे। सब मिलाकर वहाँ

अर्द्ध-सहस्र व्यक्ति बैठे हुए थे। आधे में तो भिक्षु थे और आधे में महाराजाधिराज के सामन्त तथा अन्तःपुर की देवियाँ थीं। एक महीन तिरस्करिणी (पर्दा) के पीछे देवियों का आसन था।

मैं चुपचाप एक ओर बैठ गया। आचार्य सुगतभद्र बहुत प्रसन्न जान पड़ते थे। उन्होंने मन्दस्मितपूर्वक महाराज की ओर देखा और धीर-शान्त वाणी में पूछा, "महाराज, आप इस जम्बूद्वीप के सर्वप्रधान चक्रवर्ती राजा हैं। आपकी सद्बुद्धि से प्रजा का कल्याण होगा। तथागत की बतायी धर्म-देशना आपने सुनी है। मैं पूछता हूँ महाराज, क्या आपको सन्तोष हुआ है? आपके चित्त में मैत्री और करुणा के धर्म के विषय में सन्देह तो नहीं रह गया है?"

महाराज ने आचार्य को शिरसा प्रणाम किया। थोड़ी देर तक वे निश्चल प्रतिमा की भाँति ध्यानावस्थ हो रहे। फिर दोनों हाथ जोड़कर अनुमति माँगी—"तो आचार्यपाद की अनुमति है?"

आचार्य ने फिर मन्दस्मित के साथ साधुवाद देते हुए कहा, "अवश्य महाराज!"

महाराजाधिराज ने विनीत भाव से प्रश्न किया—"हे भदन्त-प्रवर, कई दिनों से कुछ तैर्थिक यतियों ने मुझसे भगवान् बुद्ध के पूजा ग्रहण करने के सम्बन्ध में प्रश्न किये हैं। मैं उनका उत्तर नहीं दे सका हूँ और मेरा चित्त उन प्रश्नों पर मनन करने के बाद उत्क्षिप्त हो गया है। यदि अविनय न समझें, तो पूछूँ।"

आचार्य ने उत्साहपूर्वक कहा, "अवश्य पूछिये, महाराज! शंका-शल्य को चित्त से उखाड़ फेंकना ही उचित है। भगवान् तथागत का धर्म अन्धश्रद्धा पर प्रतिष्ठित नहीं है। वह युक्ति और विचार का अविरोधी है, इसीलिए वह सद्धर्म है।"

"तो आचार्यपाद, अनुग्रहपूर्वक बतावें कि बुद्ध निर्वाण प्राप्त होने के बाद भी पूजा कैसे ग्रहण करते हैं? दो बातें हो सकती हैं। प्रथम यह कि बुद्ध पूजा ग्रहण करते हैं। ऐसी अवस्था में लोक के साथ उनका संयोग है, वे भव के ही अन्तर्गत हैं और दस और मनुष्यों की भाँति एक साधारण व्यक्ति हैं। फिर उनकी पूजा निष्फल हो जाती है, बन्ध्य सिद्ध होती है। दूसरी बात यह हो सकती है कि वे परिनिर्वाण प्राप्त कर गये हैं, लोक के साथ उनका कोई संस्रव नहीं है, वे भव से मुक्त हैं। ऐसी अवस्था में भी उनकी पूजा निष्फल होगी और बन्ध्य सिद्ध होगी, क्योंकि परिनिर्वाण-प्राप्त व्यक्ति ग्रहण कुछ नहीं कर सकता और ऐसे व्यक्ति के उद्देश्य से निवेदन की हुई पूजा बन्ध्य है, निष्फल है। हे आचार्य-श्रेष्ठ, आप ही इस प्रश्न का समाधान कर सकते हैं, आप ही इसके यथार्थ तत्त्व का निर्णय कर सकते हैं।"

आचार्य के मुख-मण्डल पर फिर स्निग्धमन्द हास्य खेल गया। वे फिर उत्साहित होकर बोले, "साधु महाराज! तुमने प्रश्न को द्विधाहीन भाषा में उपस्थित किया है। मैं यथामति इस प्रश्न का समाधान करूँगा। परन्तु मैं तुमसे एक प्रश्न

करना चाहता हूँ। बिना संकोच के अपना उत्तर दो।"

"पूछिये।"

"अच्छा महाराज, अति महान् कोई अग्नि-राशि जब प्रज्वलित होकर निर्वाण प्राप्त होती है—बुझ जाती है, तो तृण-काष्ठ आदि ईंधन-समूह को ग्रहण करती है?"

"ना, भदन्त!"

"महाराज, वह अग्नि जब उपरत-उपशान्त हो जाती है, तो क्या संसार में अग्नि का होना एकदम उठ जाता है?"

"ना भदन्त, ईंधन-रूप काष्ठ अग्नि का आश्रय-स्थान है, अतएव अग्नि की कामना करनेवाले मनुष्य अपने-अपने उद्यम से अग्नि उत्पन्न कर लेते हैं। वे काष्ठ का मन्थन करके या अन्य स्थान से अग्नि संग्रह करके फिर से महान् अग्नि-राशि उत्पन्न कर लेते हैं और अपना काम चलाते हैं।"

"इसी प्रकार भगवान की बात समझो। महाराज, जिस प्रकार महान् अग्नि-राशि प्रज्वलित हुई थी, भगवान् भी उसी प्रकार दस सहस्र संसार के ऊपर बुद्ध-लक्ष्मी द्वारा प्रज्वलित हुए थे। जिस प्रकार वह महान् अग्नि-राशि प्रज्वलित होकर निर्वाण-प्राप्त हुई थी, उसी प्रकार महाराज, भगवान् भी दस सहस्र लोक के ऊपर बुद्ध-लक्ष्मी द्वारा प्रज्वलित होने के पश्चात् निरवशेष निर्वाण द्वारा परि-निर्वाण प्राप्त हुए थे। महाराज, जिस प्रकार निर्वाण-प्राप्त अग्नि-तृण, काष्ठ आदि ईंधनों को नहीं ग्रहण करती, उसी प्रकार लोक-हितकारी भगवान् भी कुछ परिग्रहण नहीं करते। परन्तु जिस प्रकार महाराज, ईंधनहीन अग्नि के निर्वाण-प्राप्त होने पर मनुष्यगण अपने-अपने उद्यम से अग्नि उत्पन्न करके अपना-अपना कार्य सिद्ध करते हैं, उसी प्रकार देव और मनुष्यगण परिनिर्वाण-प्राप्त तथागत के धातुरत्नों से स्तूपादि निर्माण करके शीलादि का अनुष्ठान करते हैं और सम्पत्ति-त्रय प्राप्त करते हैं। इस प्रकार महाराज, यद्यपि तथागत कुछ भी ग्रहण नहीं करते, तथापि उनके उद्देश्य से निवेदित पूजा सफल होती है, अवन्ध्य होती है!"

आचार्य की स्थापना सीधी, मधुर और प्रभावोत्पादक थी। श्रोताओं में अधिकांश बौद्ध श्रमण थे, उन्होंने एक स्वर से साधुवाद दिया—"धन्य हो महा-स्थविर सुगतभद्र! अद्भुत है भदन्त, यह स्थापना! आश्चर्य है भदन्त, यह धर्म-देशना!" परन्तु राजा के मुख पर कोई विशेष उल्लास नहीं दिखायी दिया। वे कुछ सोच में उलझे हुए जान पड़ते थे। आचार्यपाद ने समझा। बोले, "तुम यही कह रहे हो न महाराज, कि जो पूजा ग्रहण नहीं करता, उसके उद्देश्य से अनुष्ठित पूजा निष्फल है?"

"हाँ, आचार्य!"

"अच्छा महाराज, महान् वायु बह जाने के बाद जब उपरत-उपशान्त हो जाती है, तो उसकी वायु संज्ञा हो सकती है?"

"ना, भदन्त! तालवृन्त और व्यजन वायु के कारण हैं। जिन्हें वायु की

आवश्यकता होती है, वे अपने उद्यम से उसे उत्पन्न करके अपना ताप शमन करते हैं।"

"वैसे ही महाराज, शास्ता (बुद्ध) दस सहस्र लोकों पर मृदु-मधुर वायु के समान मैत्री-रूप में बहते रहे। जिस प्रकार प्रचण्ड वायु बह जाने के बाद उपरत-उपशान्त हो जाती है, वैसे ही महाराज, भगवान् भी निर्वाण को प्राप्त हो गये। जिस प्रकार महाराज, तापग्रस्त प्राणी व्यजन के सहारे वायु को फिर से ले आकर अपना ताप शमन करते हैं, उसी प्रकार महाराज, देवता और मनुष्य भगवान् के शरीर-धातु की सहायता से शीलादि का अनुष्ठान करके अपना भव-ताप दूर करते हैं। इस प्रकार महाराज, यद्यपि तथागत कुछ भी ग्रहण नहीं करते, तथापि उनके उद्देश्य से निवेदित पूजा सफल होती है, अबन्ध्य होती है।"

"साधु भदन्त ! आश्चर्य है आपकी स्थापना, अद्भुत है आपकी प्रतिपादन शैली, विस्मयजनक है आपकी तर्कयुक्ति। मेरा समाधान हो गया।[1] परन्तु आचार्य, तथागत क्या सर्वज्ञ थे ? मैं इसलिए पूछ रहा हूँ आचार्य, कि तैर्थिक साधुओं ने मुझे बताया है कि वे ध्यान करने पर ही कुछ जान सकते थे, नहीं तो तत्क्षण वे उसी प्रकार मुग्ध रहते थे, जिस प्रकार हम लोग हैं। यह क्या सत्य है, आचार्य ?"

"हाँ, महाराज, भगवान् की सर्वज्ञता इसी में थी कि वे ध्यान से सब बातों को जान लेते थे। यह सत्य है। परन्तु इससे महाराज, क्या भगवान् की सर्वज्ञता खण्डित होती है ?"

"होती है, भदन्त !"

"तो महाराज, मैं एक प्रश्न पूछूँ, सोचकर उत्तर दीजिये।"

"पूछिये आचार्य, अवहित हूँ।"

"आप महाराज, चक्रवर्त्ती राजा हैं। आपके घर में अन्न, दूध, दही, घृत, शर्करा आदि का कोई अभाव नहीं है। यदि कोई अतिथि आपके घर असमय में आवे, उस समय भोजनालय का पक्व-अन्न समाप्त हो चुका हो और आपके अतिथि-सत्कार में देर हो जाय, तो क्या आप निर्धन सिद्ध हुए ?"

"नहीं भदन्त, समय-बे-समय चक्रवर्त्ती के भोजनागार में भी अन्न नहीं रहता; परन्तु इसलिए वह निर्धन नहीं कहा जा सकता।"

"उसी तरह महाराज, बुद्धों की सर्वज्ञता आसर्जन-प्रतिबद्ध होती है। तत्क्षण ज्ञान के अभाव में वे मुग्ध नहीं सिद्ध होते। वे ध्यान करते ही सब-कुछ जान लेते हैं। यहीं साधारण जनों से वे विशिष्ट होते हैं।"

"साधु आर्य ! आश्चर्य है भदन्त आपकी स्थापना, अद्भुत है आपकी तर्क-युक्ति ! मेरी शंका दूर हो गयी[2]।"

कुछ देर तक इसी प्रकार शंका-समाधान चलते रहे। फिर सभा-विसर्जन का शंख बजा। महाराज उठे और उनके परिचारकों में चंचलता लक्षित हुई। महाराज

1. तु. 'मिलिन्द प्रश्न', 4.1.2
2. तु. 'मिलिन्द प्रश्न', 4.1.3

विशाल हाथी पर समासीन होकर जब चले गये, तब कुमार कृष्ण ने मुझे बुलवाया और अत्यन्त संक्षेप में आदेश दिया कि सन्ध्या समय उनके घर मिलूँ। जब वे भी चले गये, तो मैं आचार्यपाद के पास गया।

त्रयोदश उच्छ्वास

महाराजाधिराज ने मेरे साथ अच्छा व्यवहार नहीं किया। राजसभा से निकलने पर मेरा चित्त क्षोभ और ग्लानि से भर गया था। सूर्यास्त तक मैं व्यर्थ ही पौर-वीथियों का चक्कर काटता रहा। असल में उस समय अभिभूत था। राजसभा में प्रवेश करके मैंने देखा कि महाराजाधिराज चन्द्रकान्त मणियों से बने हुए एक सुन्दर पर्यंक पर बैठे हुए इस प्रकार सुशोभित हो रहे थे, जैसे वज्र के डर से पुंजित कुलपर्वतों के बीच में सुमेरु आसीन हो। नाना भाँति के रत्नमय आभरणों की किरणों से उनका शरीर इस प्रकार अनुरंजित हो रहा था, मानो सहस्र-सहस्र इन्द्रधनुषों से आच्छादित व्योममण्डल में सरस जलधर सुशोभित हो रहा हो। उनके आसन पर्यंक के ऊपर एक पट्ट वस्त्र का श्वेत चन्द्रातप तना हुआ था, जिसमें बड़े-बड़े मुक्ताओं की झालरें लटक रही थीं। चारों कोनों में चार मणिमय दण्डों में सोने की शृंखला (जंजीरों) से यह चन्द्रातप बाँध दिया गया था। सुवर्णदण्ड में बँधे हुए चामर-कलाप झले जा रहे थे। एक स्फटिक मणि के गोल पाद-पीठ पर महाराज वाम चरण रखे हुए थे। नील मणि से बने हुए कुट्टिम से नीली ज्योति-रेखा निकलकर सभामण्डप को ईषत् नील वर्ण से रँग सी रही थी। महाराज अमृतफेन के समान शुभ्रवर्ण के दो दुकूल धारण किये हुए थे, जिनके आँचलों में गोरोचना से हंस के जोड़े आँक दिये गये थे। अति सुगन्धित धवल चन्दन से उपलिप्त होने के कारण उनका विशाल वक्षःस्थल श्वेत दिखायी दे रहा था। उस चन्दन के उपलेप के ऊपर कमल के आकार का कुंकुम उपलिप्त था, जिसे देखकर नवोदित सूर्य-किरणों के अन्तरालवर्ती कैलास पर्वत का भ्रम होता था। गजमुक्ताओं से बना एक हार राजाधिराज के वक्षःस्थल को घेरकर विराजित हो रहा था। दोनों भुजमूलों में इन्द्रनील मणि द्वारा खचित केयूर बँधे हुए थे, जो चन्दन की सुगन्धि से खिंच आये हुए वलयित भुजंग-से शोभित हो रहे थे। कानों के ईषदा-लम्बित उत्पल अत्यन्त मनोहर दिख रहे थे। अष्टमी के चाँद के समान विशाल ललाटपट्ट से दीप्ति-सी निकल रही थी तथा शिरोदेश की चूड़ानिहित बकुल माला की सुगन्धि से राजसभा आमोदमग्न हो रही थी। मैंने इतना विराट् ऐश्वर्य पहले

कभी नहीं देखा था, इसलिए मेरे ऊपर इन सबका ऐसा प्रभाव पड़ा कि मेरा तेज म्लान हो गया था। महाराज से जब मेरा परिचय कराया गया, तो उन्होंने तिरस्कार-भरी दृष्टि से मेरी ओर देखा और पास ही पीछे की ओर बैठे हुए मालवराज के पुत्र से कहा, "यह परम लम्पट व्यक्ति है !"

मेरे कान तक की शिराएँ लाल हो गयीं, तीव्र मानस-सन्ताप से सारा शरीर जल उठा। मुझे ऐसा मालूम हुआ कि मैं चक्कर खाकर गिर जाऊँगा। अगर विशाल ऐश्वर्य देखकर मैं अभिभूत न हो गया होता, तो निश्चय ही इसका उपयुक्त उत्तर देता। वस्तुतः जब मैं बाहर निकल आया, तो मेरे मन में हजार-हजार उत्तर उद्भूत और विलीन होने लगे। मैं अपने विष से आप ही दीर्घकाल तक जलता रहा। मुझे उस समय अपने प्राणों की कोई परवा नहीं थी; परन्तु फिर भी ऐसा उत्तर नहीं दे सका, जो उचित कहा जा सकता है; जो महाराजाधिराज को यह अनुभव करा देता कि महाराजा होने मात्र से किसी को किसी के विषय में अनर्गल विचार रखने का अधिकार नहीं हो जाता। पर उस समय मैं मूक की भाँति, स्तब्ध की भाँति, जड़ की भाँति देर तक हाथ जोड़े खड़ा रहा। महाराजाधिराज अन्यान्य कार्यों में लग गये। मेरी उपस्थिति की ओर उन्होंने ध्यान नहीं दिया, मानो मैं कोई हूँ ही नहीं। ऐश्वर्यमद और तेजोभ्रष्टता का यह बीभत्स प्रदर्शन था। थोड़ी देर तक इसी प्रकार बीता। फिर एक बार उनकी दृष्टि मेरी ओर फिरी। वस्तुतः उन्हें भी अपने वाक्य पर खेद था। आश्चर्य यह था कि सारी राजसभा चुप थी। किसी ने भी इस स्पष्ट प्रमादपूर्ण व्यवहार के विरुद्ध कुछ बोलने का साहस नहीं किया। मैं कुछ सम्हल गया था। कण्ठ साफ करके बोला, "अपराध क्षमा हो देव, आप चक्रवर्त्ती राजा हैं। आपके श्रीमुख से निकली हुई यह बात पक्षपातहीन तत्त्वज्ञ की-सी नहीं है। आप अश्रद्धधान की भाँति, नेय की भाँति, लोक वृत्तान्त से अनभिज्ञ की भाँति बात कर रहे हैं। राज-राजेश्वर को क्या इस प्रकार निर्णयात्मक दोषारोप करना उचित है? न जाने किस दुर्जन ने मेरे विरुद्ध आपसे क्या कह रखा है, उसी के आधार पर मुझे आत्मदोष को जानने दिये बिना आप ऐसी बात कह रहे हैं। मैं सोमपायी वात्स्यायनों के विमल वंश में उत्पन्न हुआ हूँ, यथाकाल उपनयनादि संस्कारों से संस्कृत हूँ, सांगवेद का अध्ययन करने का सुयोग पा चुका हूँ, यथाशक्ति शास्त्रों का अभ्यास भी करता रहा हूँ। मैं किस अपराध के कारण लम्पट बताया जा रहा हूँ?"

महाराजाधिराज का चित्त ज़रा कोमल हुआ। उन्होंने धीरे-से कहा, "मैंने ऐसा सुन रखा है।" एक बार फिर उपेक्षा से मेरी ओर देखकर वे अन्य कार्यों में लग गये। न बैठने को आसन दिया और न ताम्बूल-वीटिका से सत्कार किया। इस बार मेरा आवारा मन मुँहजोर घोड़े की तरह लगाम से विद्रोह कर उठा। महाराजाधिराज ने मेरी लम्पटता की बात सुनी है। मैं इनकी लम्पट-शरण्यता को जानता हूँ। न जाने मौखरियों के छोटे महाराज-जैसे पाप-लिप्त कितने सामन्त इनकी छाया पाकर दुर्धर्ष हो गये हैं। इन्होंने मेरे विरुद्ध सुना है। क्या सुना होगा

भला। यही न कि मैंने छोटे महाराज के अन्तःपुर में प्रवेश किया था और वहाँ से भट्टिनी को छुड़ा ले गया था? यही मेरी लम्पटता है और यही इनका ऐश्वर्य-दम्भ है! धिक्! क्रोध के मारे मेरे अधर प्रस्फुरित हो गये। मैं कुछ कहने जा ही रहा था कि कुमार कृष्णवर्द्धन की ओर मेरी दृष्टि फिरी; उन्होंने संकेत किया कि शान्त हो जाओ। मन्त्ररुद्ध पददलित भुजंग की भाँति मैं जैसे-का-तैसा रह गया। थोड़ी देर बाद महाराज ने फिर मेरी ओर दृष्टि फिरायी! इस बार कुमार कृष्णवर्द्धन खड़े हुए। उन्होंने विनीत भाव से निवेदन किया—"देव, बाणभट्ट पवित्र वात्स्यायन-वंश के तिलक हैं, उनका उपयुक्त सम्मान होना चाहिए।" महाराजाधिराज ने मौन भाव से कुमार की बात का समर्थन किया। कुमार ने मुझे चलने का इशारा किया, और मैं जरा औद्धत्य के साथ ही राजसभा से बाहर निकल आया। आज मैं अपनी बात पर विचार करता हूँ, तो ऐसा लगता है कि मैं यदि उस दिन कुछ औद्धत्य कर बैठता, तो वह एक महान् अनर्थ होता। मेरा अभिभूत हो जाना उस दिन अच्छा ही हुआ। बाद में दीर्घकाल तक महाराजाधिराज के संसर्ग में रहकर मैंने जाना है कि वस्तुतः उनका हृदय फूल से भी अधिक कोमल है। उस दिन उन्होंने मेरे साथ जो व्यवहार किया, उसे बहुत दयापूर्ण कहा जाना चाहिए; क्योंकि मेरे सम्बन्ध में उन्हें जो कुछ बताया गया था, वह अत्यन्त घृणित था।

जो हो, उस दिन मेरा मन विक्षुब्ध था। मैं बिना किसी उद्देश्य के नगर की गलियों में प्रमत्त की भाँति चक्कर काटता रहा। सन्ध्या समय नगर-वीथियों के प्रदीप जलाये जाने लगे, पक्षिगण अपने-अपने कुलायों में लौटने लगे और स्वच्छ नील आकाश में दो-एक नक्षत्र चमक उठे। मैं भटकते-भटकते उस स्थान पर पहुँच गया, जहाँ निपुणिका की दुकान थी। पहचानने में मुझे बिल्कुल आयास नहीं करना पड़ा। परन्तु भट्टिनी की बात मुझे याद आ गयी। सुचरिता कहीं यहीं रहती है। क्यों न उसका समाचार लेता चलूँ। महाराजाधिराज से मुझे कुछ लेना-देना नहीं है। उनसे भट्टिनी के विषय में मैं बात भी नहीं करना चाहता। कुमार कृष्णवर्द्धन इतने अधिक नीति-निपुण हैं कि उनकी बातें मेरी समझ में ही नहीं आतीं। वे क्या चाहते हैं, वे ही जानें। आचार्य सुगतभद्र से कुछ सहायता पाने की आशा रख सकता हूँ; परन्तु वे कुमार के भरोसे ही बैठे रहेंगे। सुचरिता के पास जाने में बाधा क्या है? किसी के अप्रसन्न होने की चिन्ता नहीं है। परन्तु सुचरिता कहाँ रहती है? उसे यहाँ कोई पहचानता है? किसी से उसके बारे में पूछना क्या उचित है? इतना तो निश्चित है कि वह यहीं कहीं रहती है। किसी वृद्ध भद्र पुरुष से पूछना ही उचित है। स्थाण्वीश्वर के युवकों को मैं जानता हूँ। वे अज्ञ को उपहासपात्र समझते हैं। पूछनेवाले को मूर्ख बनाने में रस पाते हैं। इसीलिए मैंने एक वृद्ध सज्जन को रास्ते पर एक ओर जाते देखकर पूछा, "कुछ पूछना चाहता हूँ, आर्य!"

"क्या, आयुष्मन्?"

"आर्य क्या इस नगर के निवासी हैं ?"

"दीर्घकाल से इस नगर में ही वास कर रहा हूँ, भद्र ! परन्तु मैं निवासी काशी का हूँ। इस नगर से प्रायः पूरा परिचित हूँ। क्या पूछना है तुम्हें ? नये आये हो क्या ?"

"हाँ आर्य, कल ही आया हूँ। मगधवासी हूँ।"

"कल आये हो ? इसके पहले कभी नहीं आये ?"

"फाल्गुन में दो-एक दिन के लिए आना हुआ था, आर्य !"

वृद्ध की मुख-मुद्रा प्रसन्न दिखी। उनके वली-कुंचित कपोलप्रान्त मधुर हास्य से विकसित हो गये। बोले, "तीन महीनों में स्थाण्वीश्वर में बहुत परिवर्त्तन हो गया है। वह जो सामने विशाल आयोजन देख रहे हो, तीन महीने के भीतर ही वह इतना व्यापक हो गया है। आज नगर में ऐसी स्त्री नहीं है, जो इस विचित्र धर्माचार की भक्ति-धारा में न वह गयी हो। पुरुषों का एक दल भी इस आयोजन में शामिल है। कान्यकुब्ज विचित्र देश है, आयुष्मन् ! काशी में लोग धर्म के नाम पर इस तरह उतराकर नहीं बहते।"

मुझे वृद्ध की दुर्बलता समझ में आ गयी। मैं स्वयं काशी में पुराण-पाठ करके सहस्रों नर-नारियों को उन्मत्त बना चुका हूँ, इसलिए इस विषय में मुझे वृद्ध को प्रामाणिक समझने की जरूरत नहीं। परन्तु उनसे मनोरंजक समाचार मिल रहे थे, इसलिए मैंने थोड़ी स्तुति की—"काशी की बात और है, आर्य ! वह विद्या की पीठस्थली है, शास्त्र-ज्ञान की जननी है।"

वृद्ध और भी उत्साहित हुए, बोले, "आज से कई महीने पहले से श्रीपर्वत के वैष्णव तान्त्रिक वेंकटेश भट्ट इस नगर में आये हुए हैं।"

मैंने बीच ही में टोका, "क्या कह रहे हैं, आर्य ! श्रीपर्वत तो वामाचारियों और कापालिकों की साधना-भूमि है। वहाँ वैष्णव तान्त्रिक साधना भी है, यह बात तो नयी सुन रहा हूँ।"

वृद्ध ने मन्द स्मितपूर्वक उत्तर दिया, "स्थाण्वीश्वर में आये हो, तो बहुत-सी नयी बातें सुनोगे, भद्र ! ये वेंकटेश भट्ट पहले उड्डियानपीठ में, सौगत तन्त्र की उपासना करते थे। वहाँ से न जाने क्या बात हुई कि ये श्रीपर्वत पर चले आये और अब तो इस नगर को ही पवित्र कर रहे हैं। शुरू-शुरू में कुछ चपल-स्वभावा स्त्रियों ने ही उनसे दीक्षा ली थी। एक छोटे अन्तःपुर की परिचारिका निउनिया थी, उसने उनसे प्रथम दीक्षा ली थी। वह तुरन्त कहीं अन्तर्धान हो गयी। दूसरी चेली उसी की एक सखी सुचरिता हुई। इसी गली में वह गाने में प्रसिद्ध थी। वह इस समय नगर की प्रधान भक्तिमती मानी जाने लगी है। अब तो यह हालत है कि सन्ध्या हुई नहीं कि नगर का अन्तःपुर निःशेष भाव से उलटकर इस आयोजन में शामिल हो जाता है। कांस्य और करताल के साथ संयवक वाद्य उन्माद का वातावरण पैदा करता है और उसमें सुचरिता के गान मोहिनीमन्त्र की तरह सबको मन्त्रमुग्ध बना लेते हैं। वेंकटेश भट्ट जब आवेश में नाच उठते हैं, तो

ऐसा लगता है कि भूतों का राजा आसव पीकर प्रमत्त हो गया है। यह विचित्र धर्म है, आयुष्मन् ! जाकर एक बार देखो न।"

मैंने नम्रतापूर्वक कहा, "अवश्य देखूँगा। पर यह सुचरिता पहले क्या करती थी, आर्य ?"

वृद्ध हँसे—"अपनी उम्र के लोगों से यथार्थ समाचार पा सकते हो, भद्र ! मैं पक्व-केश वृद्ध हूँ।"

वृद्ध इस बार रसाविष्ट हुए। अबकी बार उनमें काशीवासी का स्वभाव स्पष्ट ही प्रकट हो गया। मैंने स्मितपूर्वक उत्तर दिया, "क्षमा करें आर्य, मैं देखने जाता हूँ।"

वृद्ध ने कहा, "परन्तु तुम तो कुछ पूछना चाहते थे न, भद्र ?"

मुझे जल्दी थी। "यही सब बातें पूछनी थीं, आर्य !"—कहकर मैंने प्रणाम किया और विदा ली। वृद्ध ने बहुत अधिक सूचना दे दी थी। मैं सीधे उस विशाल पट-मण्डप में गया। भीड़ प्रतिक्षण बढ़ती जा रही थी। सचमुच ही आगतों में अधिकांश स्त्रियाँ थीं। सबके मुख पर भक्ति और उल्लास का भाव था ! आचार्य वेंकटेश भट्ट एक चन्दन-काष्ठ के आसन पर पद्मासन बाँधकर बैठे थे। उनके मुख से एक प्रकार का आनन्द-गद्गद भाव प्रकट हो रहा था। आसन के ठीक सामने एक वेदी पर कलश स्थापित था। मैंने आश्चर्य के साथ देखा कि माष और तन्दुल से एक ऊर्ध्वमुख त्रिकोण को आड़े भाव से विद्ध करके अधोमुख त्रिकोण चक्र ठीक उसी प्रकार अंकित था, जिस प्रकार शाक्त-तान्त्रिकों का श्रीचक्र हुआ करता है। उस चक्र के मध्य में प्रफुल्ल शतदल देखकर तो मैं और भी आश्चर्य-चकित रह गया। मैंने अब तक यही समझा था कि ऊर्ध्वमुख त्रिकोण शिव-तत्त्व का प्रतीक है और अधोमुख त्रिकोण शक्ति-तत्त्व का। भागवत सम्प्रदाय से तो इनका दूर का सम्बन्ध भी नहीं है। और यह पद्म तो किसी प्रकार वहाँ नहीं चल सकता, क्योंकि पद्म के साथ वज्र होना चाहिए। ऐसा होता, तो सौगत तन्त्र ही इसे मान लेते, परन्तु यह तो अद्भुत मिश्रण है। मगध का साधारण मनुष्य भी इस अनुष्ठान का विरोध किये बिना न रहता; परन्तु कान्यकुब्ज विचित्र देश है ! यहाँ बाह्य आचारों में तो तिल-मात्र परिवर्तन भी नहीं सहन किया जाता; पर धार्मिक अनुष्ठान में प्रतिदिन नये-नये उपादान मिश्रित होते रहते हैं। जो हो, है यह बहुत मनोरंजक अनुष्ठान। मुझे और भी आनन्द इसलिए अनुभव हो रहा था कि ये ही वेंकटेश भट्ट निपुणिका के भी गुरु हैं, और सम्भवतः इस प्रकार के अनुष्ठान की आदि-संचालिका भी वही होगी। परन्तु उसने कभी भी मुझसे इसकी चर्चा क्यों नहीं की ? होगा कुछ कारण। मैंने और भी ध्यान से चक्र को देखा, केन्द्र में जहाँ पद्म था, उसके चारों ओर सिन्दूर से एक गोल चक्र अंकित था। इस साधना का वज्र यही था क्या ? पद्म के ऊपर ताँबे का घट स्थापित था। घट के ऊपर आम के पल्लव थे और उनके भी ऊपर एक ताम्रपात्र में जौ भरा हुआ था। अभी दीप-स्थापन की क्रिया चल रही थी। आचार्य की दाहिनी ओर एक वृद्ध पुरोहित

मन्त्रोच्चार कर रहे थे और एक युवती स्त्री उनकी बतायी हुई विधि से क्रिया कर रही थी। मैंने पहले अनुमान से स्थिर किया कि वही सुचरिता होगी। फिर पुरोहित के दीप-दानकालीन संकल्प-वाक्य से मेरा अनुमान सत्य सिद्ध हुआ।

सुचरिता नीचे से ऊपर तक एक शुभ्र कौशेय वस्त्र से समावृत थी। उसका मुख गुरु की ओर था, इसलिए दूर से मैं ठीक-ठीक नहीं देख सका। उसका शरीर बहुत पतला था और श्वेत वस्त्र से आच्छादित होने के कारण नारायण की स्मित-रेखा के समान दिखायी दे रहा था। उसकी प्रत्येक क्रिया में एक प्रकार का गौरव था। प्रदीपन्यास का संकल्प पठित हो जाने के बाद उसने कलश पर उसे सहज ही नहीं रख दिया। उसने बड़ी सुकुमार भंगी से प्रदीप को उठाया, वाम करतल को त्रिपताक मुद्रा से मुद्रित किया और प्रदीप के ऊपर उसे दक्षिणामुख घुमाया। सब-कुछ उसने अत्यन्त सहज भाव से किया। स्पष्ट ही जान पड़ता था कि दीर्घकाल के अभ्यास के कारण उसके हाथ स्वयं घूम रहे थे। बायें हाथ से उसने आँचल खींचकर गले से लपेट लिया और भक्तिभाव से जानुओं के बल खड़ी हुई। गुरु की पूजा ही उसकी क्रिया का प्रधान अंग जान पड़ता था। गुरु के सामने कई बार प्रदीप घुमाने के बाद वह खड़ी हो गयी और एक बार प्रदक्षिणा करके फिर उसी प्रकार जानुओं पर खड़ी हुई। प्रदक्षिणा के समय उसके हाथ बराबर प्रदीप को भी दक्षिणामुख घुमा रहे थे।

इसी समय मैं उसे अच्छी तरह देख सका। उसका रंग मैला था; परन्तु आँखों में अपूर्व माधुर्य था। अधरों पर स्वाभाविक हँसी खिलानेवाला वह धर्म, जिसे सौन्दर्यशास्त्री 'राग' कहते हैं, इस गम्भीर मुख-श्री में भी प्रत्यक्ष हो रहा था। उसकी प्रत्येक अंग-भंगिमा से भक्ति की लहर तरंगित हो रही थी; पर अनाड़ी भी समझ सकता था कि वह 'छायावती' रही होगी, क्योंकि उसकी प्रत्येक गति से वक्रिमता और परिपाटी-विहित शिष्टाचार प्रकट हो रहे थे। सहृदय लोग जिस रंजक गुण को 'सौभाग्य' कहते हैं, जो पुष्प-स्थित परिमल के समान रसिक भ्रमरों का आन्तरिक और प्राकृतिक वशीकरण धर्म है, वह सुचरिता के अपने हिस्से पड़ा था। शोभा और कान्ति उसके प्रत्येक अंग से निखर रही थी और प्रत्येक पद-विक्षेप में औदार्य बिखर रहा था। मुझे तनिक भी सन्देह नहीं रहा कि वर्ण और प्रभा में कंजूसी करने पर भी अन्यान्य शोभा-विधायी धर्मों में विधाता का पक्षपात इस नारीरत्न के ऊपर ही रहा है। इधर की स्त्रियों में प्रक्षेप्य और आवेध्य अलंकारों का बड़ा प्रचलन है। परन्तु सुचरिता के कानों में एक चक्राकृति कुण्डल के सिवा और कोई भी आवेध्य अलंकार नहीं था और प्रक्षेप्य अलंकार तो उसने पहने ही नहीं थे—मंजीर, नूपुर या कनकमेखला, कुछ भी नहीं। आरोप्य अलंकारों पर उसकी विशेष रुचि जान पड़ती थी; परन्तु उनमें भी एक सुवर्ण-हार और एक मालती-माला के सिवा कुछ नहीं दिखते थे। मालती-माला के लिए सम्भवतः सुचरिता का रंग ही उचित अलंकार था। मैंने कभी मालती-माला को इतना मनोहर नहीं देखा। मुझे बार-बार वराहमिहिर की बात याद आती रही

और मैं उनकी सहृदयता पर मुग्ध हुए बिना नहीं रहा। उन्होंने ठीक ही कहा है, स्त्रियाँ ही रत्नों को भूषित करती हैं, रत्न स्त्रियों को क्या भूषित करेंगे ! स्त्रियाँ तो रत्न के बिना भी मनोहारिणी होती हैं; परन्तु स्त्री का अंग-संग पाये बिना रत्न किसी का मन हरण नहीं करते।[1] आज यदि आचार्य वराहमिहिर यहाँ उपस्थित होते, तो और भी आगे बढ़कर कहते—धर्म-कर्म, भक्ति-ज्ञान, शान्ति-सौमनस्य कुछ भी नारी का संस्पर्श पाये बिना मनोहर नहीं होते—नारी-देह वह स्पर्श-मणि है, जो प्रत्येक ईंट-पत्थर को सोना बना देती है।

मरकत-शलाका की भाँति तन्वंगी सुचरिता दीप-दान के बाद हाथ जोड़कर गुरु के सामने बैठ गयी। फिर विविध उपचारों के साथ नारायण की पूजा शुरू हुई। पूजा समाप्त होने पर वेंकटेश भट्ट आनन्द-गद्गद स्वर में नारायण की स्तुति गाने लगे। देखते-देखते संयवक वाद्य गम-गम करने लगा; कांस्य, कोशी और करताल झनझना उठे। नारायण की स्तुति सहस्र-सहस्र नर-नारियों के कण्ठों से उमड़ पड़ी। मुझे ऐसा लगा कि मैं किसी दूसरे लोक में पहुँच गया हूँ। संगीत और वाद्य का ऐसा मधुर मिश्रण मैंने पहले कभी नहीं देखा था। यह एकदम नयी वस्तु थी। धर्म-चर्चा का यह अभिनव आयोजन था। वायुमण्डल के प्रत्येक स्तर से नारायण की स्तुति मुखरित होती जान पड़ती थी और दिक्‌चक्रवाल का प्रत्येक कोना संयवक की गम्भीर ध्वनि से गमगमा रहा था। देर तक ऐसा ही चलता रहा। फिर एकाएक सब चुप हो गये। गुरु की आज्ञा से सुचरिता ने शंख बजाया। मैं एक बार फिर आश्चर्य-चकित रह गया। हमने इधर कहीं भी स्त्रियों को शंख बजाते नहीं देखा था। परन्तु यह भजन-साधन सब प्रकार से विचित्र था। अब वेंकटेश भट्ट का नाम-कीर्तन आरम्भ हुआ। वे खड़े हो गये। लम्बा भरा हुआ सुगठित शरीर, कपाट की भाँति विपुल वक्षःस्थल, आजानुलम्बित बाहु, मृदंग-मन्द्र स्वर। बिना भूमिका के ही उन्होंने कहा, "नारायण के चरणारविन्द दो-तीन पापियों का उद्धार कर सके हैं; पर उनके नाम ने समस्त जन के निःशेष क्लेश के शमन का व्रत लिया है।" मेरे लिए यह विचित्र उपदेश था। मैं इस बात को समझने का प्रयत्न कर ही रहा था कि वे गद्गद कण्ठ से गा उठे :

> द्वित्रान् समुद्धर्तुमलं बभूव पदारविन्दाश्रयणं मुरारेः।
> अशेषसंक्लेशशमं जनानां नित्यं विधत्ते वसुधाम नाम ॥[2]

और फिर भावाविष्ट-से होकर 'नारायण, नारायण' को एक विशेष सुर में गाते-गाते नाच उठे। एक बार फिर संयवक गमगमा उठा; कांस्य और करताल झनझना

1. तु. वराहमिहिर ('बृहत्संहिता' 74-2),—
रत्नानि विभूषयन्ति योषा भूषयन्ते वनिता न रत्नकान्त्या।
चेतो वनिता हरन्त्यरत्ना नो रत्नानि विनांगनांगसंगात् ॥

2. तु. (भागवत, 2-7-14)—
अशेषसंक्लेशशमं विधत्ते गुणानुवादश्रवणं मुरारेः।
कुतःपुनस्तच्चरणारविन्दपरागसेवारतिरात्मलब्धा ॥

उठे। सहस्र-सहस्र कण्ठ उसी सुर में नारायण का नाम जपने लगे। गुरु की वह अद्भुत भाव-विह्वल अवस्था थी। वस्तुतः ही वे एकाध बार बेहोश होकर गिर गये। सुचरिता शुरू से अन्त तक निवात-निष्कम्प दीपशिखा की भाँति हाथ जोड़े बैठी रही। बड़ी देर तक यह भजन चलता रहा। अन्तिम कार्य सुचरिता का गान था। आहा, संगीत की ऐसी शीतल मन्दाकिनी भी इस मर्त्यलोक में है! समस्त जनमण्डली जड़ की भाँति, स्तब्ध की भाँति चुपचाप उस मधुर धारा में स्नान कर रही थी। जब गान समाप्त हुआ, तो मानो सबकी संज्ञा लौट आयी। धीरे-धीरे भीड़ कम होने लगी। शिष्यों में गुरु को यथास्थान पहुँचा देने की व्यस्तता दिखायी पड़ी। सुचरिता अन्त तक सभा-मण्डप में ही रही। जब सब लोग विदा हो गये, तो कुछ सेवकों को उस मण्डप की वस्तुओं को सम्हालने का भार देकर वह भी निकल पड़ी। अवसर देखकर मैं उसके पास गया।

सुचरिता जब अपने घर के दरवाजे तक पहुँच गयी, तो मैंने साहसपूर्वक पुकारा, "शुभे, अनुचित न मानें, तो मैं कुछ निवेदन करूँ!" वह तुरत लौट पड़ी। मेरे पास आकर बोली, "कुछ सेवा कर सकूँ, तो मैं धन्य हूँगी, आर्य! क्या आज्ञा है?" सुचरिता का सारा शरीर ही छन्दों से बना था। उसके वस्त्र, उसके पद-विक्षेप, उसका कण्ठस्वर, उसकी दृष्टि—सब-कुछ छन्दोमय थे। उसके इस वाक्य में भी वीणा का-सा झंकार था। मैं मन्त्रमुग्ध की भाँति सुनता रहा। थोड़ी देर बाद उसने ही फिर कहा, "क्या काम है आर्य, अवहित हूँ।" फिर वही झंकार। मेरा रोम-रोम पुलकित कदम्ब-केसर की भाँति उत्कर्ण हो उठा। मैंने देर करना अनुचित समझकर कहा, "परदेशी हूँ, शुभे! अनुचित कहूँ, तो क्षमा करें। क्या निपुणिका नाम की छोटे अन्तःपुर की परिचारिका को आप जानती हैं?"

सुचरिता की बड़ी-बड़ी काली आँखें क्षण-भर में धूसर हो गयीं। उसने मुझे सिर से पैर तक देखा और शंका और अविश्वास के साथ पूछा, "आप कहाँ से आ रहे हैं? किसे खोज रहे हैं? मैं सुचरिता हूँ। यही मेरा घर है। इससे अधिक मैं कोई बात आपको नहीं बता सकती। मुझे आप क्षमा करें।" शंका का कारण मैं समझ गया। मैंने नम्रतापूर्वक उत्तर दिया, "शुभे, इतना ही परिचय मेरे लिए पर्याप्त है। आप सुचरिता देवी हैं और आपके पास ही मैं यह समाचार लेकर आया हूँ कि आपकी सखी निपुणिका जीवित है। उसने अपने ऊपर जो कार्य-भार लिया था, उसे करने में वह सफल रही है। मुझे इतना ही भर कहना था। इसके बाद अत्रभवती ही प्रमाण हैं, मैं अपना सन्देश दे चुका। अब विदा होता हूँ।"—इतना कहकर मैं नम्रतापूर्वक सिर झुकाकर मुड़ा। सुचरिता थोड़ी देर तक चित्र-लिखित-सी खड़ी रही। फिर धीरे-से मुझे पुकारा, "भद्र, अप्रसन्न हो गये क्या? सुनो!" मैंने उसी विनम्रता के साथ कहा, "कौन पाप तुम्हारे ऊपर अप्रसन्न हो सकता है, देवि! तुम्हारे अविश्वास और आशंका का कारण मैं समझ सकता हूँ।" सुचरिता ने इधर-उधर देखकर कहा, "आर्य का नाम जान सकती हूँ?" मैंने तुरत जवाब दिया, "मैं बाणभट्ट नाम से प्रसिद्ध हूँ, देवि, पर मेरा असली नाम

दक्षभट्ट है। मैं मगध से आ रहा हूँ।" नाम सुनते ही सुचरिता ने गले में आँचल लपेटकर हाथ जोड़कर प्रणाम किया। कातर भाव से बोली, "अपराध मन में न लावें, आर्य ! अज्ञजन का अपराध साधुजन मन में नहीं लाते। मैंने आपका नाम सुना है। यदि आज्ञा हो, तो भीतर ही चलकर इस विषय में आर्य से पूछूँ।" मैंने स्वीकार किया।

सुचरिता का छोटा-सा घर काफी सुरुचिपूर्ण था। फाटक से राजमार्ग तक गोमय से उपलिप्त भूमि खटिकचूर्ण की अभिराम मण्डलिकाओं से सुशोभित थी। चौखट के ऊपर क्षीर-सागरशायी नारायण की मूर्त्ति उत्कीर्ण थी और उसे घेरकर एक मनोहर मालतीमाला सुन्दर ढंग से टँगी हुई थी। पार्श्वों में छोटी-छोटी वेदिकाओं पर मंगल-कलश सुसज्जित थे और मकान के ऊपर सौभाग्यपताका लहरा रही थी। उसने बड़े आग्रह और प्रेम के साथ मुझे अपना आतिथ्य स्वीकार करने का अनुरोध किया। उसके किसी व्यवहार में संकोच या झिझक नहीं थी; फिर भी एक सहज सौकुमार्य के कारण सब-कुछ बहुत कमनीय मालूम हो रहा था। घर के भीतर सामग्री बहुत कम थी; परन्तु उसको इस प्रकार सजाकर रखा गया था कि शोभा निखर पड़ी थी। एक छोटे-से गृह में दो तृणास्तरण बिछे हुए थे। पूर्वप्रान्त में गोपाल वासुदेव की मनोहारी मूर्त्ति थी और उसके एक पार्श्व में धूपवर्त्तिका जल रही थी ! घर में एक दासी थी, जिसने प्रदीप आदि जला रखे थे। सुचरिता ने स्वाभाविक सरल स्मित के साथ मुझे एक तृणास्तरण पर बैठने का अनुरोध किया और स्वयं दूसरे आस्तरण पर बैठ गयी।

थोड़ी देर चुपचाप बैठी रहने के बाद उसने दीर्घ निःश्वास लिया और धीरे-से बोली, "तो वह अभागी अभी जीती है !" सुचरिता के प्रत्येक आचरण में एक सहज आभिजात्य का गौरव था, उसके बैठने में, बोलने में, यहाँ तक कि निःश्वास लेने में भी एक प्रकार की महत्तीयता थी। मैं ध्यान से उसे देखता रहा था; परन्तु वह अपने-आपमें ही खोयी थी। थोड़ी देर बाद उसने फिर शुरू किया—"आर्य, आज मेरा अहोभाग्य है जो आपके दर्शन हुए। निपुणिका से आपके बारे में बहुत सुन चुकी हूँ। वह आपका नाम लिये बिना मामूली-से-मामूली बातचीत भी नहीं चला सकती थी। बहुत दिनों से मन में साध थी कि आपके दर्शन करूँ; पर हम लोगों का ऐसा भाग्य कहाँ है ! आज नारायण प्रसन्न हैं, उन्होंने स्वयं आपको मेरे पास भेज दिया है। मेरे अविनयपूर्ण आचरण से आपको क्लेश पहुँचा है। यहाँ राजाज्ञा बड़ी सतर्क है, आर्य ! राज्य की ओर से निपुणिका के प्राण-दण्ड का निदेश है। हाय अभागी !" यह कहकर उसने फिर दीर्घ निःश्वास लिया। क्षण-भर बाद उसने फिर पूछा, "आपने उसे कहाँ देखा है, आर्य ?" और अपने दीर्घ-दीर्घायित काले-काले नयनों से मुझे देखने लगी। मैंने संक्षेप में शुरू से अन्त तक सारी कथा सुना दी। वह कभी आश्चर्य से और कभी आनन्द से उद्भासित होती रही। पूरी कथा सुन लेने के बाद उसने वासुदेव की ओर कृतज्ञता के साथ देखा। फिर मेरी ओर भी उसने अश्रु-भरे नयनों से देखकर कहा, "मेरा आज अहोभाग्य

है, जो आपका दर्शन पा सकी हूँ।" फिर बड़े संकोच के साथ पूछा, "नारायण का का प्रसाद ग्रहण करने में आर्य को कोई आपत्ति तो नहीं होगी ?" मैंने उल्लास-पूर्वक उत्तर दिया, "कुछ भी आपत्ति नहीं होगी, देवि ! ब्राह्मण प्रस्तुत है।" क्षण-भर में सुचरिता का खिन्न-गम्भीर मुख सरल हास्य से दमक उठा। वह प्रसाद के आयोजन के लिए उठ गयी। मैं घर में अकेला रह गया।

मैंने ध्यान से वासुदेव की मूर्त्ति को देखा। जिस शिल्पी ने इस मनोहारिणी मूर्त्ति को बनाया था, वह निश्चय ही बड़ा निपुण कलाकार था। विद्युल्लतिका के आधार पर त्रिभंगी मूर्त्ति एक ही पत्थर को काटकर बनायी गयी थी। विष्णु-मूर्त्ति का यह बिल्कुल नवीन विधान था; क्योंकि त्रिभंगीरूप शृंगार-रस का व्यंजक है। अब तक मैंने इस प्रकार बनी विष्णु-मूर्त्ति नहीं देखी थी। वासुदेव के गले में कोई माला-सी दिख रही थी। सामने एक अष्टदल पद्म के भीतर उसी प्रकार ऊर्ध्वमुख और अधोमुख त्रिकोण अंकित थे, जिस प्रकार सायंकाल की उपासना के समय कलश-स्थापन के लिए अंकित यन्त्र में मैंने देखा था। पद्म के भीतर वज्र था और बाहर चतुर्द्वार। अंकन की भंगी बड़ी ही मनोहर थी। मैंने जरा और भी निकट जाकर देखा, तो आश्चर्य से स्तम्भित रह गया। इस यन्त्र के भीतर नाना रूपबीजों के विन्यास के बाद काम-गायत्री लिखी हुई थी। एक बार मैं उस वासुदेव की ओर देखता था और एक बार इस गायत्री की ओर। यह कैसा विचित्र मिश्रण है ! क्या यह काम-मूर्त्ति है ?—यह तो हो नहीं सकता। मैं क्या देख रहा हूँ—विष्णु-मूर्त्ति और काम-गायत्री—ओं कामदेवाय विद्महे पुष्प-बाणाय धीमहि तन्नोऽनंगः प्रचोदयात् ![1] मैं कुछ समझ नहीं सका। ध्यान से वासुदेव की मूर्त्ति को देखने लगा। मैं जिस समय इसी प्रकार आश्चर्य और विस्मय से उन्मथित बैठा था, ठीक उसी समय सुचरिता ने गृह में प्रवेश किया। वह स्नान करके लौटी थी। प्रत्यग्रस्नान ने उसकी कान्ति निखार दी थी। उसके घनमेचक केशपाश कपोलदेश को घेरकर सुशोभित हो रहे थे। पीत कौशेय वस्त्र से लिपटी हुई उसकी अंगयष्टि सुवर्ण शलाका के समान मनोहर दिख रही थी। उसके हाथ में वासुदेव को निवेदित करने के लिए कुछ उपायन थे। चाँदी की थाली में उस उपायन को सजाया गया था। गोल उज्ज्वल थाल हाथ में लिये हुए वह इस प्रकार सुशोभित हो रही थी, मानो सपुष्पा चन्द्रमल्लिका हो। उसके दाहिने हाथ में एक ताँबे का भृंगार था—वह मूर्त्तिमती भक्ति की भाँति, विग्रहवती शोभा की भाँति, प्रत्यक्ष आविर्भूत लक्ष्मी की भाँति और अनुरागवती सन्ध्या की भाँति हृदय को एक अपूर्व रस से सिक्त कर रही थी। मुझे उस अवस्था में बैठा देख वह कुछ झेंप गयी। मैं भी थोड़ा लज्जित हुआ। फिर मैं धीरे-से अपने आसन पर बैठ गया। सुचरिता ने भक्तिपूर्वक उपायनों को वासुदेव के चरणों में रख दिया, गले में आँचल लपेटकर जानुपातपूर्वक प्रणाम किया और थोड़ी देर तक ध्यान-गद्गद

1. परवर्त्ती वैष्णवों के कई सम्प्रदाय आज भी काम-गायत्री से श्रीकृष्ण की पूजा करते हैं।—इ.

होकर उसी प्रकार बनी रही। वह निर्निमेष भाव से वासुदेव की ओर देखती रही। ऐसा मालूम हुआ कि वासुदेव उस नील कमल-माला की-सी दृष्टि से बँधकर प्रसन्न हुए। सुचरिता का भक्ति-समुज्ज्वल मुख-मण्डल आनन्दाश्रु से सिक्त हो गया। न कोई मन्त्र पढ़ा गया, न कोई स्तुति गायी गयी और न कोई अन्य विधि ही की गयी, केवल मानस-निवेदन के साथ यह पूजा समाप्त हुई। आदि से अन्त तक उसमें एक विचित्र गरिमा भरी रही।

सुचरिता ने जब पाद्य अर्घ्य देकर मुझे आसन पर बैठाया, तो मैंने विनीत भाव से पूछा, "शुभे, मन में कुछ अन्यथा न समझो, तो एक बात जानना चाहूँगा।" सुचरिता ने प्रीति और उत्साह के साथ कहा, "मैं अज्ञ हूँ आर्य, पर कुछ सेवा करने योग्य हो तो उठा नहीं रखूँगी। क्या आज्ञा है?" सुचरिता की बड़ी-बड़ी काली आँखें उत्सुकता से भर गयीं। मैंने विनीत भाव से पूछा, "इस वासुदेव की मूर्त्ति के पूजन-आराधन के विषय में जानना चाहता हूँ। मैं आज सन्ध्या से ही इस रहस्य को समझना चाहता हूँ देवि, पर मेरे मन में सन्देह-पर-सन्देह जमा होते जा रहे हैं, समाधान कुछ नहीं सूझता।" सुचरिता की आँखें एक विचित्र आनन्द-ज्योति से प्रदीप्त हो उठीं। बोली, "मैं भी नहीं समझती आर्य, परन्तु इतना जानती हूँ कि आज से तीन महीने पूर्व तक मैं अपने को पापलिप्त समझती थी। अब मेरे चित्त का वह विकल्प दूर हो गया है। आप मेरे गुरुदेव से इसका अर्थ पूछें, वे ठीक-ठीक बता सकेंगे।" सुचरिता की बात का मैंने कोई उत्तर नहीं दिया, केवल आश्चर्य से उसकी ओर देखता रहा। थोड़ी देर तक वह अभिभूत-सी बैठी रही। फिर धीरे-धीरे बोली, "मानव-देह केवल दण्ड भोगने के लिए नहीं बनी है, आर्य! यह विधाता की सर्वोत्तम सृष्टि है। यह नारायण का पवित्र मन्दिर है। पहले इस बात को समझ गयी होती, तो इतना परिताप नहीं भोगना पड़ता। गुरु ने मुझे अब यह रहस्य समझा दिया है। मैं जिसे अपने जीवन का सबसे बड़ा कलुष समझती थी, वही मेरा सबसे बड़ा सत्य है। क्यों नहीं मनुष्य अपने सत्य को अपना देवता समझ लेता, आर्य?"

सुचरिता की आँखें नीचे झुकी हुई थीं। वह मेरे लिए आसन और आचमनीय आदि सजा रही थी। उसकी झुकी हुई आँखें और भी मनोरम मालूम हो रही थीं। सिर्फ एक बार उसने मेरी ओर आँख उठाकर देखा। मैं और भी सुनने को उत्सुक था। उसकी बातें मेरी समझ में एकदम नहीं आ रही थीं; परन्तु उसके प्रत्येक शब्द में एक ऐसी गुरुता थी कि मैं उसे गहन शास्त्रवाक्य की मर्यादा के साथ सुन रहा था। अपने प्रश्न का उत्तर वह नहीं चाहती थी। उत्तर उसे मिल चुका था। "यह प्रमाद है आर्य, कि यह शरीर नरक का साधन है। यही वैकुण्ठ है। इसी को आश्रय करके नारायण अपनी आनन्दलीला प्रकट कर रहे हैं। आनन्द से ही यह भुवन-मण्डल उद्भासित है। आनन्द से ही विधाता ने सृष्टि उत्पन्न की है। आनन्द ही उसका उद्‌गम है, आनन्द ही उसका लक्ष्य है। लीला के सिवा इस सृष्टि का और क्या प्रयोजन हो सकता है, आर्य? हाय गुरो, पहले यह बात मुझे

क्यों नहीं मालूम हुई !"—सुचरिता का प्रदीप्त मुख और भी उज्ज्वल हो गया। उसे कहने में आनन्द मिल रहा था; परन्तु उसका प्रत्येक शब्द मेरे लिए दुर्बोध्य था। मुझे ऐसा लग रहा था कि उसके शब्दों के अन्तराल में कुछ और है जो उसे गद्‌गद बनाये हुए है। आसन सजा लेने के बाद उसने मुझे उस पर बैठने को कहा। मैंने चुपचाप आदेश पालन किया।

प्रसाद में कुछ फल और मिष्टान्न थे। सुचरिता के परिवेषण में भी एक अपना सौकुमार्य था। कल्प-लता के किसलयों से अभिलषित फल जब च्यवित होता होगा, तो कुछ ऐसा ही मनोहर होता होगा। प्रसाद देकर वह हाथ जोड़कर बैठ रही। उसकी आँखों में आनन्दाश्रु डबडबा आये थे। उसे अलौकिक तृप्ति हो रही थी। मैंने स्मितपूर्वक कहा, "नारायण का प्रसाद पाकर आज कृतार्थ हूँ, देवि ! नारायण भी इस उपायन को पाकर निश्चय ही कृतार्थ हुए होंगे।" सुचरिता का कण्ठ वाष्परुद्ध था, उसे बोलने में थोड़ा आयास करना पड़ा; परन्तु उसके प्रदीप्त मुख-मण्डल से आनन्द उल्लसित हो रहा था। आर्द्र-स्मित के साथ उसने कहा, "आर्य, नारायण मनुष्य के बाहर तो नहीं रहते हैं न ? तुम प्रसन्न हो, तो निश्चय ही नारायण प्रसन्न हैं। तुम नारायण के ही तो रूप हो, आर्य !" फिर वह अकारण उन्मना हो गयी। सिक्त आँखों से वासुदेव की ओर देखकर अपने-आपसे ही कहने लगी, "मन बड़ा पापी है, गुरुदेव, कब वह मनुष्य को नारायण के रूप में देखेगा ?" क्षणभर तक खोई-सी रहकर उसने मेरी ओर मुँह किया—अधरों पर सरल स्मित-रेखा खेल रही थी, कपोल-पालि स्फुरित हो रही थी और आँखें अश्रुपूर्ण थीं। मेरी ओर देखकर उसने पूछा, "भट्टिनी का क्या करोगे, आर्य ?" मैं क्या उत्तर दूँ, कुछ सूझा नहीं। वातावरण भक्ति और श्रद्धा से इस प्रकार प्रव्याप्त था कि मुँह से अनायास निकल गया—"नारायण करेंगे, देवि, हम तो निमित्त-मात्र हैं।" सुचरिता ने आश्वस्त होकर कहा, "हाँ आर्य, नारायण ही इस नाव के कर्णधार हैं। हम तो तूफान देखकर बेकार ही हाय-हाय करनेवाले जीव हैं। मन क्यों नहीं समझ पाता आर्य, कि वह किसी कार्य का उत्तरदायी नहीं है ? वासुदेव के रहते इतना वृथा सोच क्यों करता है वह ?" फिर वह देर तक चुपचाप बैठी रही। रात अधिक बीत चुकी थी। मैंने चलने की अनुमति माँगी। सुचरिता को अनुमति देने में व्यथा हुई; पर कुछ बोली नहीं। बाहरी फाटक तक आयी और अन्तिम नमस्कार के बाद कातर स्वर में बोली, "कल सूर्यास्त के पूर्व आर्य के दर्शन पा सकूँगी न ?" मैंने उत्साह के साथ कहा, "अवश्य देवि !" और कुमार कृष्णवर्द्धन की अतिथिशाला की ओर चल पड़ा। रास्ते में मेरा मन बराबर सुचरिता के विषय में ही सोचता रहा। मैं अभी तक उसका पूरा परिचय नहीं पा सका हूँ; पर जितना पा सका हूँ, उतने से सहज ही समझ सका हूँ कि वह श्रद्धास्पद महिला है। परन्तु उस काशीवासी वृद्ध ने क्या कहना चाहा था ? क्या सुचरिता के विषय में स्थाण्वीश्वर में भ्रान्त धारणाएँ फैली हुई हैं ? कुछ समझ नहीं सका। थोड़ी देर बाद अपने विश्राम-स्थान पर पहुँचा, तो मालूम हुआ कि

अत्यन्त आवश्यक पत्र लेकर कुमार का दूत दीर्घकाल से मेरी प्रतीक्षा कर रहा है।

तीन पत्र एक क्षौम वस्त्र की सुन्दर प्रतोलिका में लिपटे हुए थे। मैंने सावधानी से प्रतोलिका को खोला। भीतर कर्पूरकाष्ठ की मनोहर पाटी थी, जिसके चारों ओर लाक्षा-रस से कल्पवल्ली अंकित की गयी थी। मध्यभाग में महाराजाधिराज श्रीहर्षदेव की मुद्रा थी। मैं आश्चर्य और औत्सुक्य से अभिभूत हो गया। पाटी के नीचे भूर्जपत्र की पंजभंजी (पाँच तहों में लपेटी हुई) पत्रिका थी। पाँच तह देखकर ही मैं समझ गया कि पत्रिका मित्रता स्थापित करने के उद्देश्य से लिखी गयी है। बड़े आग्रह से मैंने उसे खोला। यह महाराजाधिराज का आदेश-पत्र था। मैं उनका सभापण्डित नियुक्त हुआ हूँ और मुझे सम्राट् के हाथ से ताम्बूलवीटक (पान का बीड़ा) पाने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है। मुझे कल प्रातःकाल राजपण्डित के वेश में उपस्थित होने का आदेश है। यह पढ़कर मेरे आश्चर्य का ठिकाना नहीं रहा कि मैं सम्राट् का विश्वस्त प्रतिनिधि बनने का सम्मान पा सका हूँ! आज जिस व्यक्ति को सम्राट् ने 'लम्पट' कहकर तिरस्कृत किया है, वही कल से सम्राट् का विश्वासपात्र प्रतिनिधि हो सकेगा। मैंने आश्चर्य और कुतूहल के साथ दूसरा पत्र खोला। इसमें चार भाँज थे। मैं पहले जरा सकपकाया, चार भाँज का पत्र तो अधीनस्थ सामन्त का पद-गौरव बढ़ाने के लिए लिखा जाता है। मैं कब महाराजाधिराज का सामन्त था! परन्तु पत्र पढ़ने पर मालूम हुआ, यह भद्रेश्वर-दुर्ग के सामन्त लोरिकदेव के नाम पर है। सम्राट् ने उन्हें चरणाद्रि के पूर्व और गंगा के उत्तरतटस्थ प्रदेशों का प्रधान सामन्त बनाकर अपना प्रसाद प्रकट किया है और सम्राट् के विश्वसनीय प्रतिनिधि वात्स्यायनवंशीय बाणभट्ट को यथोचित सम्मान और साहाय्य देने का आदेश दिया है! यह दूसरी प्रहेलिका थी। मैंने तीसरा पत्र खोला। इस पर कुमार की मुद्रा थी। उन्होंने महासान्धिविग्रहिक पद से सम्राट् के विश्वस्त सभासद वात्स्यायनवंशीय पण्डित बाणभट्ट को आवश्यक कार्य से कल प्रातःकाल मिलने का अनुरोध किया है। मुझे इतना समझने में देर नहीं लगी कि कुमार ने कोई बड़ा-सा कूटनीतिक दाँव चलने का संकल्प किया है और मैं उसमें निमित्त बनने जा रहा हूँ। परन्तु मुझे शंका बिल्कुल नहीं हुई, प्रसन्नता भी नहीं हुई। मैं पहली बार अनुभव कर सका कि बाणभट्ट चाहे जैसा भी आवारा क्यों न हो, भट्टिनी की सेवा का अवसर पाने के कारण वह राजनीति की दृष्टि में महत्त्वपूर्ण हो गया है। यह हर्ष की बात नहीं है, विषाद की भी नहीं है। मैं निश्चिन्त होकर शयनीय पर लेटा और बहुत शीघ्र निद्रित हो गया।

प्रातःकाल स्नानादि से निवृत्त होकर कुमार के आवास पर पहुँचा। वे पहले से ही मेरी प्रतीक्षा कर रहे थे। बड़े आदर और सम्मान के साथ उन्होंने मुझे आसन दिया। ज़रा मुस्कराते हुए बोले, "महाराजाधिराज का आदेश तो तुम्हें मिल गया है न, भट्ट?" मैंने विनीत भाव से सिर हिलाकर स्वीकार किया। कुमार बोले, "मुझे इस कार्य को सिद्ध करने के लिए बहुत-सी मिथ्या बातों की

रचना करनी पड़ी है; परन्तु तुम इसे अन्यथा न समझना। मैंने जो कुछ किया है, वह आर्यावर्त्त की विनाश के गर्त्त से रक्षा करेगा। भेड़ियों के समान निर्घृण और चींटियों से भी अधिक संघबद्ध प्रत्यन्त-दस्यु सीमान्त पर फिर एकत्र हो रहे हैं। फिर आर्यावर्त्त के देवमन्दिर और विहार, वृद्ध और बालक, साधु और स्त्रियाँ, ब्राह्मण और श्रमण सत्यानाश के बवण्डर के शिकार होनेवाले हैं। आज गुप्तों का प्रताप अस्तमित है, दुर्मद यौधेय उत्पाटितदन्त व्याघ्र की भाँति हीनदर्प हो गये हैं, मौखरियों का विक्रमानल निर्वापित हो गया है, केवल कान्यकुब्ज का साम्राज्य ही आज इस विनाश से आर्यावर्त्त को बचा सकता है। परन्तु देखो भट्ट, एक बार यदि दस्युओं ने गिरिवर्त्म लाँघकर मैदान में प्रवेश किया, तो उन्हें रोकना कठिन हो जायेगा। इस विषम संकट से मुक्ति पाने के एकमात्र आशास्थान भट्टिनी के पिता हैं। वे इस समय खिन्न और हतोत्साह हैं, स्थाण्वीश्वर के बौद्ध नरपति से असन्तुष्ट हैं और मौखरियों के गुरु भर्वुशर्मा के प्रभाव में हैं। मैं देखता हूँ कि तुम्हारे ही हाथ में उनको प्रसन्न करने का अस्त्र है। भट्टिनी को कान्यकुब्ज में उसी सम्मान के साथ रखा जायेगा, जो सम्राट् की भगिनी के उपयुक्त है। परन्तु उनकी प्रतिज्ञा है कि इस राजवंश के किसी भी गृह में वे आश्रय नहीं लेंगी। बोलो भट्ट, क्या उपाय है?" मैं थोड़ी देर तक अभिभूत की भाँति ताकता रहा। कुमार ने उत्तर की प्रतीक्षा किये बिना ही फिर आरम्भ किया, "तुम मौखरि-कुल-राज-लक्ष्मी महारानी राज्यश्री को जानते हो न?" मैंने फिर सिर झुकाकर स्वीकार किया। कुमार बोले, "भट्टिनी उन्हीं की अतिथि रहेंगी। यह लो निमन्त्रणपत्र।" इतना कहकर कुमार ने चाँदी की पटोलिका में चीनांशुक से समावृत पत्र मेरे हाथों में रख दिया। मेरे उत्तर की प्रतीक्षा किये बिना बोले, "इसके बाद तुम जैसे बने, भट्टिनी को यहाँ ले आओ। वे जो भी चाहें, उसे तुम सम्राट् के प्रति-निधि के रूप में स्वीकार कर सकते हो। तुम कल ही जा सकते हो। लौटकर तुम्हें ही पुरुषपुर जाना होगा। सब-कुछ सावधानी से और शीघ्रता के साथ करना होगा। भट्ट, तुम्हें महानाश से आर्यावर्त्त की रक्षा करनी है। तुम्हारी कोई भी असावधानी लाख-लाख निरीह जनों के सत्यानाश का कारण हो सकती है। आज तुम महाराजाधिराज से मिल लो।" कुमार ने मुझे बोलने का अवसर ही नहीं दिया, उनकी बातें ऐसी नपी-तुली, भावुकताहीन और साफ थीं कि मैं कुछ सोचने-विचारने का अवसर ही न पा सका। केवल विनीत भाव से सिर झुकाकर स्वीकार करता गया। कुमार ने उपसंहार करते हुए कहा, "तो उठो, भट्ट, देर करने से अनर्थ हो सकता है!"

चतुर्दश उच्छ्वास

प्रथम दिन का ताम्बूल-वीटक (पान का वीड़ा) काफी महँगा पड़ा। महाराजाधिराज के सिंहासनासीन होने के पहले ही मैं राजसभा में पहुँच गया था। उस समय राजसभा में असंयम और चापल्य का राज्य था। कोई सामन्त पाशा खेलने के लिए कोठे खींच रहे थे, कोई द्यूतक्रीड़ा में उलझ चुके थे, कोई वीणा बजा रहे थे, कोई चित्रफलक पर राजा की प्रतिमूर्त्ति अंकित कर रहे थे और कोई-कोई अन्त्याक्षरी, मानसी, प्रहेलिका, अक्षरच्युतक आदि काव्य-विनोदों में व्यापृत थे। कुछ लोग राजा के बनाये पदों की व्याख्या कर रहे थे। कोई-कोई विदग्ध रसिक चामरधारिणी और अन्य वार-वनिताओं से बातचीत में पगे हुए थे। कुछ तो ऐसे भी ढीठ थे, जो भरी सभा में रमणियों के कपोल-देश पर तिलक-रचना कर रहे थे।[1] राजसभा में प्रथम बार सभ्य होकर पहुँचनेवाले मनुष्य के चित्त पर इसका क्या प्रभाव पड़ा, यह केवल अनुमान किया जा सकता है। सारी सभा उच्छृंखलता का मूर्त्त विग्रह बनी हुई थी। परन्तु सभ्य लोग फिर भी इतने सावधान अवश्य थे कि उनके प्रत्येक कार्य से यह सूचित हो कि केवल वे ही महाराजाधिराज के अनुगत और भक्त हैं। अपने असावधान रूप में भी सभा में चाटुकारिता पूरी मात्रा में वर्त्तमान थी।

ज्यों ही महाराजाधिराज प्रधान अधिकरणिक (जज) और कुमार कृष्णवर्द्धन के साथ सभामण्डप में पधारे, त्यों ही सभा संयत और नियमानुसार शृंखलायुक्त हो गयी। घनपटह-निनाद और तुमुल शंखनाद के बीच बार-बार उद्घुष्ट वन्दियों के जय-निनाद से वायुमण्डल कम्पित हो उठा। लाक्षारस से रंजित और सुगन्धित कालागुरु से धूपित चामर-व्यजन-धारिणियों की हलकी साड़ियाँ फरफरा उठीं। उनके मृणाल-तन्तु के समान कोमल भुजाओं में स्थित कंकण-वलय झनझना उठे। सामन्तों के केयूर और अंगद, शीघ्रता में उठने के कारण, एक-दूसरे से टकराकर कटकटा उठे। मांगल्य मन्त्रों के उच्चारण करनेवाले पुरोहितों में कुछ ऐसी चंचलता आयी कि एक तो अपने ही उत्तरीय में उलझकर गिरते-गिरते बचा। मंगल-द्रव्यधारिणी विलासिनियों के मेखलादाम के घुँघुरुओं की मधुर ध्वनि सुनकर भवन-दीर्घिका के सारस ऐसे उत्कण्ठित हुए कि उनके क्रेंकार से सभा में कोलाहल की मात्रा और भी बढ़ गयी। महाराजाधिराज के आसनासीन होते ही जय-निनाद रुक गया, मांगल्य शंख ने मौन धारण किया, वन्दियों की विरुदावली शान्त हुई, पुरोहितों का आशीर्वाद अक्षत-वर्षा के साथ-साथ उपरत हुआ और सभा में अद्भुत शान्ति छा गयी—केवल रह-रहकर चामरधारिणियों के वाचाल कंकण अपनी रुनझुन से इस शान्ति को बीच-बीच में तोड़कर उपभोग्य बनाते

1, 'कादम्बरी', पूर्वभाग, राजसभा-वर्णन से तुलनीय।

रहे। मुझे केवल एक बार महाराजाधिराज की कृपादृष्टि का प्रसाद मिला। ताम्बूल-वीटक पाने की क्रिया बड़ी अटपटी थी। मेरा अनुमान है कि मैं ठीक-ठीक अभिनय न कर सकने के कारण सभ्यजनों का उपहासास्पद बना था।

सभा का कार्य आरम्भ हुआ। प्रधान अधिकरणिक ने विशेष-विशेष व्यवहारों (मुकदमों) में किये हुए अपने निर्णय को महाराजाधिराज से स्वीकार करवाया। बहुत कम अवसरों पर मतभेद हुआ। दो-तीन बार धर्मशास्त्र के अधिकारी पण्डितों की राय माँगी गयी। एक-आध व्यवहार ऐसे भी थे, जिनके सम्बन्ध में कुमार कृष्णवर्द्धन से दीर्घकाल तक आलोचना चली। बातचीत बहुत धीरे-धीरे हो रही थी। मैं कुछ भी नहीं समझ सका। परन्तु इतना समझने में देर नहीं लगी कि कुमार कृष्ण कुछ परेशान-से थे और प्रधान अधिकरणिक के वलीकुंचित मुख-मण्डल पर कठोरता के भाव दिखायी दे रहे थे। महाराजाधिराज शुरू से अन्त तक एक ही मुद्रा में थे—न हँसी, न क्रोध, न परेशानी! व्यवहार का प्रकरण समाप्त होने के बाद थोड़ी देर तक कुमार के साथ महाराज की मन्त्रणा और भी चलती रही। पर प्रधान अधिकरणिक के साथ जब धर्मशास्त्री विद्वान् उठकर चले गये, तो यह मन्त्रणा भी रुक गयी। अब गायकों, विद्वानों, विदूषकों, भाटों और स्तुति-गायकों की बारी आयी। कवियों ने भी अपने नये श्लोक सुनाये। महाराज ने सबको सन्तुष्ट किया। किसी को मीठी-मीठी बातें करके, किसी को ताम्बूल-वीटक देकर, किसी को पुरस्कार देकर और किसी को अपना कोई आभूषण देकर उन्होंने सबका आशीर्वाद पाया। इस समय सभा में खुशामद और स्तोकवाक्यों का बोलबाला था। कुमार कृष्णवर्द्धन के इशारे पर मैं भी आशीर्वाद देने के लिए उठा। बड़ी कठिनाई से मैंने एक आर्या सुनायी। मुझे वह वातावरण बड़ा क्लान्ति-जनक मालूम हो रहा था। मैंने उस आर्या में चाटुकारिता की हद कर दी थी। आर्या समाप्त करके मैं जब महाराजाधिराज को आशीर्वाद देने के लिए करतल उठा रहा था, उसी समय मेरा हृदय धक्-से धड़क गया। निपुणिका को मैंने वचन दिया था कि किसी जीवित व्यक्ति की स्तुति में कविता नहीं लिखूँगा। यह क्या हो गया! तो क्या मैं इस लोक में सिर्फ सहस्र दिन-मात्र जीवित रहूँगा? मैं कुछ इस प्रकार हतप्रतिभ हुआ कि क्षण-भर के लिए भूल ही गया कि उत्तरापथ के प्रबल प्रतापान्वित सम्राट् श्रीहर्षदेव के सामने खड़ा हूँ। परन्तु कुमार ने मुझे बचाया। उन्होंने मेरी आर्या के एक अंश की अनुवृत्ति करते हुए परिहासपूर्वक कहा, "व्रत की याद से विह्वल होना उचित नहीं, भट्ट!" सारी सभा हँस पड़ी। महाराजा-धिराज देर तक खिलखिलाकर हँसते रहे। सभासदों में जिन्होंने कुछ भी नहीं समझा था, वे भी महाराज का हँसना देख लोट-लोटकर हँसने लगे। मैं कुछ झेंपकर लौट आया। इस बार महाराजाधिराज ने बड़े प्रेमपूर्वक मेरी ओर देखकर कहा, "तुम अच्छे कवि जान पड़ते हो।" मैंने सिर झुकाकर प्रसाद स्वीकार किया। कुछ देर तक विटों और विदूषकों की भोंड़ी रसिकता का मनहूस प्रदर्शन चलता

रहा। मेरा दम घुटने लगा।

इसी समय सभा-भंग का शंख बजा। महाराजाधिराज उठे और कंकणों, वलयों, नूपुरों, केयूरों और अंगदों के कलस्वन के साथ वन्दियों का जय-निनाद फिर से मुखरित हो उठा। क्रमशः विलासिनियों के कुंकुम-गौर वदनों की कृत्रिम स्मित-रेखा विलुप्त हो गयी, सभासदों के चाटूक्ति-विलसित हास्य शान्त हो गये, सभासदों के केतक-धूपित उत्तरीय सिमटने लगे और विदूषकों की छिछली रसिकता क्लान्ति की गम्भीरता में डूब गयी। मैं जैसे रुद्धद्वार गृहगर्भ से बाहर आया। राजसभा की एकघृष्ट हवा में मैं घुट गया था। तेजी से मैं बाहर आ रहा था कि एक व्यक्ति ने पीछे से पुकारा—"सुनो भद्र!" पीछे मुड़कर मैंने उसकी प्रसन्न मुखश्री को देखा। वह धावक था। उसने राजसभा में बहुत ही सुन्दर कविता सुनायी थी। उसके पाठ करने की भंगी अपनी ही थी। महाराज का वह प्रीतिपात्र जान पड़ता था। मैंने उसे देखकर प्रसन्नता प्रकट की। धावक ने हँसकर कहा, "जब राजसभा में आ ही गये, तो हम लोगों को अस्पृश्य मानने से कैसे काम चलेगा!" मैंने विनीत भाव से कहा, "आर्य, मुझे अकारण लज्जा दे रहे हैं।" परन्तु धावक मस्त आदमी था। उसने थोड़ी देर में ही जमके दोस्ती कर ली। देर तक वह इधर-उधर की बातें करता रहा। विदा होते समय वह कह गया, तुम महाराज की अन्तरंग सभा के उपयुक्त पात्र हो, तुम्हें निमन्त्रण जरूर मिलेगा।" मैंने मतलब स्पष्ट करने का अनुरोध किया, तो कान्यकुब्जजनोचित प्रौढ़ नर्म की हँसी हँसकर धावक ने मेरा कन्धा हिलाया—"जल्दी ही समझ जाओगे, गुरु!"—और बिना मेरी अनुमति के ही एक ओर चल पड़ा। मैं कुछ हैरान-सा होकर आवास-स्थान की ओर बढ़ा।

दिन बड़ी कठिनाई से कटा। पश्चिमी मरुभूमि की तप्त वायु त्रिलोक की समूची आर्द्रता को सोख-सी रही थी। प्रचण्ड दावाग्नि के समान वह वनभूमि की नीलिमा को निगल-सी रही थी और कान्यकुब्ज के समस्त जलाशयों को सुखाकर प्रलयकाण्ड मचाये हुए थी। ऐसा मालूम होता था कि सूर्यमण्डल से कोई निर्धूम अग्नि-ज्वाला अनवरत भाव से धरती पर बरस रही है। सूर्यास्त होने में एक घटी से अधिक का विलम्ब नहीं था; परन्तु स्थाण्वीश्वर के राजमार्ग तप्त वायु और तिर्यक् सूर्य-किरणों से झनझना रहे थे। अजगर के फूत्कार से भी भयावनी वायु-लहरियाँ विशाल प्रस्तर-हर्म्यों की उत्तप्त दीवारों से टकराकर यात्रियों पर बिखर पड़ती थीं और उस पर विकराल बवण्डरों से उड़ायी हुई धूल से आच्छन्न आकाश ऐसा मनहूस लग रहा था कि मार्ग में निकलना साहस का काम हो गया था। परन्तु फिर भी मैं निकल पड़ा। सुचरिता के निमन्त्रण में एक अद्भुत आकर्षण था, जिसका अतिक्रमण करना असम्भव था। मैं जब उसके घर के पास पहुँचा, तो भगवान् मरीचिमाली अपना किरण-जाल सँभाल चुके थे। पश्चिम समुद्र के तीर पर उनके क्लान्तशीर्ण मुख की लालिमा छा रही थी और वायु की झनझनाहट क्रमशः शिथिल होती जा रही थी। मैं उस उत्कण्ठित चकोर की भाँति

सुचरिता के घर के सामने उपस्थित हुआ, जो दिन-भर सूर्यातप से तप्त होकर सूर्यास्त-काल में इस आशा से पूर्व-दिगन्त की ओर ताकता है कि चन्द्रमा को जी-भरकर देख सकेगा। परन्तु चन्द्रमा के दर्शन नहीं हुए! सुचरिता की गोमयोपलिप्त अंगण-भूमि में धूल भरी हुई थी,—जान पड़ता था, बहुत आदमी यहाँ किसी अज्ञात आशंका से वृथा दौड़ चुके हैं,—क्षीरसागरशायी नारायण को घेरकर लटकनेवाली मालती-माला बासी और शुष्क हो चुकी थी और बलिदेहलियाँ अमंगलजनक सूनेपन से आशंका उत्पन्न कर रही थीं। मैं कुछ समझ नहीं सका। कल की रात और रातों से कुछ विशिष्ट ज़रूर रह चुकी है। मैं लम्पट से राजपुरुष तथा सम्राट् का प्रतिनिधि हो गया हूँ और सुचरिता भक्तिमती देवी से बदलकर न-जाने क्या हो गयी है! मेरा हृदय एक अज्ञात भय से आतंकित हो गया। किससे पूछूँ? इसी समय मुझे स्मरण आया कि कलवाले उस कथा-मण्डप में चलकर क्यों न देख लूँ। मण्डप थोड़ी ही दूर पर था। मैं उधर ही चल पड़ा।

मण्डप में लगभग एक सहस्र व्यक्ति बैठे हुए थे। दो-चार व्यक्ति इधर-उधर चल-फिर रहे थे; परन्तु कोलाहल तो क्या, ज़रा-सा शब्द भी कहीं नहीं हो रहा था। सबके मुखमण्डल गम्भीर थे और उत्तेजना का भाव स्पष्ट ही लक्षित हो रहा था। फिर भी सारी सभा शान्त निस्तब्ध थी। केवल सभापति अत्यन्त संयत भाषा में कुछ समझा रहे थे। उनकी आज्ञा से कोई सभ्य उठता था और संक्षेप में अपना वक्तव्य सुनाकर चुपचाप अपने आसन पर बैठ जाता था। संयम की मात्रा इतनी अधिक थी कि वहाँ के मनुष्य यन्त्र की भाँति लग रहे थे। बाहर खड़े एक भद्र पुरुष ने, पूछने पर, फुसफुसाकर बताया—"आज सूर्योदय के कुछ पूर्व सुचरितादेवी और आर्य विरतिवज्र बन्दी बना लिये गये हैं और नगरप्रतीहार के आदमियों ने आर्य वेंकटेश भट्ट और परमहंस अघोरभैरव को नाव पर बैठाकर न-जाने कहाँ पहुँचा दिया है। यह सब-कुछ बौद्ध नरपति के आदेश से हुआ है। यह स्पष्ट रूप से शान्त और निरीह प्रजा के धर्माचरण में हस्तक्षेप है। समस्त स्थाण्वीश्वर के अधिकारी विद्वान् इस समय इस बात पर विचार कर रहे हैं कि उनका क्या कर्त्तव्य है।" कान्यकुब्जों का संयम प्रसिद्ध है। वे जब आमोद की अवस्था में होते हैं, तो ऐसा लगता है कि उनके समान चपल मनुष्य जगत् में है ही नहीं; परन्तु जब वे संयम का आचरण करते रहते हैं, तो उनका गाम्भीर्य समुद्र के समान दुरधिगम्य हो जाता है। इस सभा में उसी संयम का वातावरण था।

कुछ देर तक शास्त्रार्थ चलता रहा। इसके बाद वृद्ध सभापति ने मेघ-गम्भीर स्वर में घोषणा की—"स्वस्ति, आर्य सभासदो, मैं इस सभा में उपस्थित शास्त्र-पारंगत पण्डितों और शील एवं आचार में प्रसिद्ध आर्य नागरिकों के निर्णय की घोषणा कर रहा हूँ। आर्य सभासदो, बड़ा दुर्घटकाल उपस्थित हुआ है। आचार्य भर्वुपाद के प्रचारित पत्र को स्थाण्वीश्वर का प्रत्येक नागरिक पढ़ चुका है।

दुर्दमनीय म्लेच्छवाहिनी गिरिवर्त्म को पार करने की चेष्टा कर रही है। उत्तरापथ के नगर और ग्राम, देवमन्दिर और विहार, ब्राह्मण और श्रमण, वृद्ध और बालक, वेटियाँ और बहुएँ आज किसी प्रतापी नरपति-शक्ति के आश्रय में ही सुरक्षित रह सकती हैं। ऐसे समय प्रजा में राजशक्ति के प्रति असन्तोष का रहना सत्यानाश का कारण होगा। सभा का निश्चय यह है कि आर्य विरतिवज्र पर उनके पितृऋण को शोध न करने का अभियोग मिथ्या और शास्त्रबहिर्भूत है। सुचरिता और उनका सम्बन्ध शास्त्र के अनुकूल है, और उन दोनों पर गार्हस्थ धर्म में लौट आने का अभियोग निन्दनीय है। सुचरिता ने जो अनुष्ठान आरम्भ किया था, वह चिराचरित भक्ति-मार्ग के अनुकूल है! स्थाण्वीश्वर की विद्वन्मण्डली उसकी असाधारण संयम-निष्ठा और निरतिशय चिन्मुखी समर्पण-वृत्ति के लिए अपनी श्रद्धा निवेदन कर रही है। आर्य वेंकटेशपाद और अवधूत अघोरभैरव जैसे आत्माराम भगवदीयों के निर्वासन से हम क्षुब्ध हैं। परन्तु इस दुर्घटकाल में राजव्यवस्था में किसी प्रकार का शैथिल्य न आवे, इस विचार से हमने निश्चय किया है कि दस विद्वानों का एक समुदाय महाराजाधिराज से इस अन्याय का प्रतिकार कराने का प्रयत्न करे। सभा का विश्वास है कि महाराजाधिराज हमारी प्रार्थना पर अवश्य ध्यान देंगे। आर्य सभासदो, किसी प्रकार की उत्तेजना इस समय विनाश का कारण सिद्ध होगी। मैं इस निर्णय पर आपकी अनुमति चाहता हूँ। आर्य सभासदों का मौन ही सम्मति-लक्षण मान लिया जायेगा।" सभापति चुप हुए। थोड़ी देर तक सन्नाटा रहा। ऐसा जान पड़ा, सभा ने निर्णय को चुपचाप स्वीकार कर लिया।

अचानक सभा के एक कोने में पिंगल प्रकाश का आविर्भाव हुआ, जैसे शरत्कालीन शुभ्र मेघों के भीतर से अचानक सौदामिनी चमक गयी हो। यह महामाया भैरवी थीं। आपाद धूसर गैरिक वस्त्र के भीतर उनका क्रोधताम्र मुख-मण्डल सान्ध्य मेघों के बीच से उदय होते हुए चन्द्रमण्डल की दीप्ति का प्रतिद्वन्द्वी जान पड़ता था। उनका सिन्दूर-विलिप्त त्रिशूल इस प्रकार भयंकर और मनोहर था, मानो गैरिक अधित्यका में गड़ा हुआ क्रुद्ध धूर्जटि का ही त्रिशूल हो। महामाया ने कठोर स्वर में चिल्लाकर कहा, "आर्य सभापति, मैं सभा को सम्बोधन करके दो-चार वाक्य बोलना चाहती हूँ। मैं अवधूत अघोरभैरव की शिष्या महामाया भैरवी हूँ। मुझे अनुमति मिले।" सभापति इतस्ततः कर रहे थे कि अघोरभैरव के तुमुल जय-निनाद के साथ सभा ने भैरवी के प्रस्ताव का अनुमोदन किया। रुख देखकर सभापति ने अनुमति देते हुए कहा, "भवति, दुर्घटकाल उपस्थित है, सभा कालोचित सुनने को उत्सुक है।" महामाया ने तीव्र स्वर में कहा, "आर्य सभासदो, मैं अवधूत अघोरभैरव की शिष्या महामाया हूँ। आप यह न समझें कि मेरे गुरु का अपमान किया गया है, इसलिए मैं क्षुब्ध हूँ। अवधूतपाद मान और अपमान से परे हैं। मान उस व्यक्ति का होगा, जो उनका मान करेगा; अपमान भी उस व्यक्ति का होगा, जो उनका अपमान करेगा। इसलिए आर्य सभासदो, महामाया

जो कुछ कहने जा रही है, वह उनके अपमान से विक्षुब्ध होकर नहीं। अघोरभैरव साक्षात् शिव-रूप हैं। मैं आपकी सभा के इस निर्णय का अभिनन्दन करती हूँ कि आर्य विरतिवज्र और आयुष्मती सुचरिता निर्दोष हैं। परन्तु मैं महाराजाधिराज से प्रार्थना करने के निर्णय का विरोध करती हूँ। मैं संन्यासिनी हूँ। मैंने स्वेच्छा से दुःख और क्लेश का मार्ग स्वीकार किया है। मैं मृत्यु से नहीं डरती। आप मेरी गर्दन उड़ा दे सकते हैं; परन्तु सत्य कहने से मुझे नहीं रोक सकते। आचार्य भर्वुपाद के पत्र के फलितार्थ पर आपने विचार किया होता, तो ऐसा निर्णय नहीं करते! वह पत्र पौरुषहीनता का नग्न प्रचारक है। वह पत्र आर्यावर्त्त की भावी पराजय का अग्रदूत है। आपका निर्णय उसी मनोवृत्ति का पोषक है। आप कहते हैं कि उत्तरापथ के ब्राह्मण और श्रमण, वृद्ध और बालक, बेटियाँ और बहुएँ किसी प्रचण्ड नरपति-शक्ति की छाया पाये बिना नहीं बच सकतीं। आर्य सभासदो, उत्तरापथ के लाख-लाख नौजवानों ने क्या कंकण-वलय धारण किया है? क्या वे वृद्धों और बालकों, बेटियों और बहुओं, देवमन्दिरों और विहारों की रक्षा के लिए अपने प्राण नहीं दे सकते? क्या इस देश के विद्वानों में स्वतन्त्र संघटन-बुद्धि का विलोप हो गया है? आचार्य भर्वुपाद का पत्र पढ़कर मेरा कण्ठ रोष और लज्जा से सूख आता है। इस उत्तरापथ में लाख-लाख निरीह बहुओं और बेटियों के अपहरण और विक्रय का व्यवसाय क्या नहीं चल रहा है? अगर देवपुत्र तुवरमिलिन्द का हृदय थोड़ा भी संवेदनशील होता, तो आज से बहुत पहले उन्हें मूर्च्छित होकर गिर पड़ना था। क्या निरीह प्रजा की बेटियाँ उनकी नयन-तारा नहीं हुआ करतीं? क्या राजा और सेनापति की बेटियों का खो जाना ही संसार की बड़ी दुर्घटनाएँ हैं? और आर्य सभासदो, मेरी ओर देखो। मैं तुम्हारे देश की लाख-लाख अवमानित, लांछित और अकारण दण्डित बेटियों में से एक हूँ। कौन नहीं जानता कि इस घृणित व्यवसाय के प्रधान आश्रय सामन्तों और राजाओं के अन्तःपुर हैं? आपमें से किसे नहीं मालूम कि महाराजाधिराज की चामर-धारिणियाँ और करंकवाहिनियाँ इसी प्रकार भगायी हुई और खरीदी हुई कन्याएँ हैं? आर्य सभासदो, क्या इन अभागिनियों के पिता नहीं थे? क्या वे अपनी माताओं की नयन-ताराएँ नहीं थीं? क्या उनके माँ-बाप के हृदय में अपनी सन्तति के प्रति जो स्नेह-भावना थी, वह किसी सम्राट् की स्नेह-भावना से कम थी? धिक्कार है आर्य सभासदो, जो उत्तरापथ के विद्वान् और शीलवान् नागरिक इन राजाओं का मुँह जोह रहे हैं! मैं पूछती हूँ, यदि महाराजाधिराज ने आपकी प्रार्थना का प्रत्याख्यान कर दिया, तो आप क्या करेंगे? आप लोगों में से कौन नहीं जानता कि महाराजाधिराज स्वयं शुद्ध-शील होकर भी सैकड़ों ऐसे सामन्तों को आश्रय दिये हुए हैं, जिनका एकमात्र प्रताप कन्याहरण में ही प्रकट होता है! आर्य सभासदो, यदि मैं असत्य कहती हूँ, तो मेरे इस त्रिशूल से मेरा खण्ड-खण्ड कर दो।" इतना कहकर महामाया ने क्षण-भर रुककर सभा की ओर देखा। उनकी आँखों से स्फुलिंग झड़ रहे थे। सभा उत्कर्ण होकर सुन रही थी। महामाया ने

फिर सिंहिनी की भाँति गरजकर कहा, "अमृत के पुत्रो, मृत्यु का भय माया है, राजा से भय दुर्बल-चित्त का विकल्प है। प्रजा ने राजा की सृष्टि की है। संघटित होकर म्लेच्छवाहिनी का सामना करो। देवपुत्रों और महाराजाधिराजों की आशा छोड़ो। समस्त उत्तरापथ की लाज तुम्हारे हाथों में है। अमृत के पुत्रो, आर्य विरतिवज्र और आयुष्मती सुचरिता को बन्दी बनाना, लाख-लाख निरीह ब्राह्मणों और श्रमणों की रक्षा के लिए नहीं हुआ है, वह महाराजाधिराज या उनके किसी आश्रित सामन्त की नाक बचाने के लिए हुआ है। यह पहला अन्याय नहीं है, अन्तिम भी नहीं होगा। यह दुर्वह सम्पत्तिमद का चिराचरित रूप है। इसके लिए न्याय की प्रार्थना व्यर्थ है। अमृत के पुत्रो, धर्म की रक्षा अनुनय-विनय से नहीं होती, शास्त्र-वाक्यों की संगति लगाने से नहीं होती; वह होती है अपने को मिटा देने से। न्याय के लिए प्राण देना सीखो, सत्य के लिए प्राण देना सीखो, धर्म के लिए प्राण देना सीखो। अमृत के पुत्रो, मृत्यु का भय माया है!"

एक सहस्र कण्ठों ने दीर्घदीर्घायित स्वर में प्रतिध्वनि की—"मृत्यु का भय माया है!" उस महाध्वनि ने स्थाण्वीश्वर की दुर्भेद्य प्रस्तरभित्तियों को चीरकर पर-प्रान्त तक हलचल मचा दी। भीड़ बढ़ने लगी और रह-रहकर आकाश को विदीर्ण करके एक ही स्वर गूँज उठने लगा—"मृत्यु का भय माया है!" विराट् पट-मण्डप उस स्फीत जन-सम्मर्द को धारण करने में असमर्थ हो गया। महामाया ने त्रिशूल उठाकर जनता को शान्त करना चाहा; परन्तु उनकी आवाज उस गगन-विदारी महाध्वनि के सामने नगण्य थी। भीड़ राजमार्गों, गवाक्षों, वृक्षों और ध्वजदण्डों को आच्छन्न करने लगी। धीरे-धीरे सर्वत्र यह प्रवाद फैल गया कि सभा में साक्षात् त्रिशूलधारिणी पार्वती का आविर्भाव हुआ है। उन्होंने आज्ञा दी है कि अन्यायी राजा का ध्वंस कर दो। नागरिकों ने महामाया के सन्देश को क्या-से-क्या बना दिया! केवल एक स्वर रह-रहकर वायु-मण्डल को कम्पित करता रहा—"अमृत के पुत्रो, मृत्यु का भय माया है!" सहस्र कण्ठों ने इसकी सहस्र प्रकार से व्याख्या की। वृद्ध सभापति ने महामाया की ओर देखकर कातर भाव से प्रार्थना की—"भवति, आर्ये, आपका कथन सत्य है; पर क्षुब्ध प्रजा इस अग्नि-वाणी का अयोग्य पात्र है। आप इन्हें शान्त करें। आचार्य भर्वुपाद का पत्र सामयिक उपचार के लिए है, वह शाश्वत धर्म का सन्देश लेकर नहीं आया है। भवति, आर्ये, क्या यह सत्य नहीं है कि इस समय राजशक्ति के साथ विद्रोह करके जन-संघटन करते-करते इतना समय लग जायेगा कि म्लेच्छों की वाहिनी इस देश को जलाकर कपोतकर्बुर भस्म में परिणत कर देगी? आर्ये, असमय में प्रजा में बुद्धिभेद उत्पन्न करना अनुचित हुआ है।"

महामाया भीड़ को चीरती हुई तेजी से एक ऊँचे स्थान पर आकर खड़ी हो गयीं। विद्युच्छटा की भाँति उनका प्रकाश भीड़ में वक्ररेखा के रूप में उद्भासित हो उठा। उन्हें देखकर भीड़ ने जय-निनाद किया। त्रिशूल उठाकर महामाया ने आज्ञा देने के स्वर में कहा, "अमृत के पुत्रो, शान्त होओ।" सारा जन-सम्मर्द

मन्त्रमुग्ध-सा, अभिभूत-सा, यन्त्रित-सा, शान्त हो गया। महामाया ने फिर कहा, "अमृत के पुत्रो, संयम से काम लो। तुम्हारे विद्वान् नागरिकों ने महाराजाधिराज से न्याय पाने की आशा से प्रार्थी होने का संकल्प किया है। आज उन्हें अवसर दो। परन्तु अमृत के पुत्रो, न्याय पा जाने से समस्या समाहित नहीं हो जाती। दुर्द्धर्ष म्लेच्छवाहिनी का सामना राजपुत्रों की वेतनभोगी सेना नहीं कर सकेगी। क्या ब्राह्मण और क्या चाण्डाल, सबको अपनी बहू-बेटियों की मान-मर्यादा के लिए तैयार होना होगा। मैं भविष्य देख रही हूँ। अमृत के पुत्रो, बड़ा दुर्घट काल उपस्थित है। राजाओं, राजपुत्रों और देवपुत्रों की आशा पर निश्चेष्ट बने रहने का निश्चित परिणाम पराभव है। प्रजा में मृत्यु का भय छा गया है, यह अशुभ लक्षण है। अगर तुम आर्यावर्त्त को बचाना चाहते हो, तो प्राण देने के लिए तत्पर हो जाओ। धर्म के लिए प्राण देना किसी जाति का पेशा नहीं है, वह मनुष्य-मात्र का उत्तम लक्ष्य है। अमृत के पुत्रो, न्याय जहाँ से भी मिले, वहाँ से बलपूर्वक खींच लाओ। यदि तुम नहीं समझते कि न्याय पाना मनुष्य का धर्मसिद्ध अधिकार है और उसे न पाना अधर्म है, तो भारतवर्ष का भविष्य अन्धकार से आच्छन्न है। अमृत के पुत्रो, म्लेच्छवाहिनी पहली बार नहीं आ रही है, अन्तिम बार भी नहीं आ रही है। तुम यदि आज तुवरमिलिन्द और श्रीहर्षदेव की आशा पर बैठे रहोगे, तो सम्भवतः आज यह विपत्ति टल जाय; परन्तु कल नहीं टलेगी। तुवरमिलिन्द और श्रीहर्षदेव सदा नहीं रहेंगे; परन्तु तुम्हें सदा रहना है। अमृत के पुत्रो, मैं भविष्य देख रही हूँ। राजा, महाराजा और सामन्त स्वार्थ के गुलाम बनते जा रहे हैं। प्रजा भीरु और कायर होती जा रही है। विद्वान् और शीलवान् नागरिकों की बुद्धि कुण्ठित होती जा रही है। धर्माचरण में इसीलिए व्याघात उपस्थित हुआ है कि राजा अन्धा है, प्रजा अन्धी है और विद्वान् अन्धे हैं। यह बड़ा अशुभ लक्षण है। अमृत के पुत्रो, मैं ऊर्ध्वबाहु होकर चिल्ला रही हूँ, यह अशुभ लक्षण है। अपने-आपको बचाओ, धर्म पर दृढ़ रहो, न्याय के लिए मरना सीखो, ब्राह्मण से लेकर चाण्डाल तक एक हो जाओ—चट्टान की तरह दुर्भेद्य एक। यही बचने का उपाय है। अमृत के पुत्रो, राजपुत्रों की वेतनभोगी सेना की आशा छोड़ो, मृत्यु का भय माया है।"—भीड़ मन्त्र-मुग्ध की भाँति सुनती रही। एकाएक महामाया वहाँ से हटीं और तेजी से न जाने किस ओर निकल गयीं। दिङ्मूढ़ नागरिकों ने कुछ भी नहीं समझा। सबने केवल इतना ही अनुभव किया कि कुछ अप्रत्याशित घटनेवाला है।

मेरे देखते-देखते घटना-प्रवाह किधर से किधर बह गया। इस बीच पश्चिमी आकाश लाल-पीला होकर कई बार रंग बदल चुका; मध्य-आकाश से अंगों का लेप करता हुआ अन्धकार काले अंजन की भाँति बरसता रहा और अब प्राची दिशा के उदयगिरि के तट पर अन्तरित चन्द्रमा की गूढ़-पाण्डुर किरणें छिटकने को आयीं। मैं इतना तो समझ गया हूँ कि किसी अज्ञात अपराध के कारण आर्य विरतिवज्र और सुचरिता बन्दी हैं; पर उनका अपराध क्या है, यह बात अभी तक

समझ में नहीं आयी। महामाया ने उपस्थित विषय की अवहेला करके अध्याहृत विषय पर इतना बड़ा व्याख्यान क्यों दिया, यह भी मेरी बुद्धि के बाहर था। मैं यह भी नहीं समझ सका कि मेरा कुछ कर्त्तव्य इस व्यापार में हो सकता है या नहीं। अश्वारोही सैनिक जन-सम्मर्द की प्रत्येक गति को सावधानी से देख रहे थे और जिस किसी समय अपने तीक्ष्ण फलक-कुन्तों से विद्रोह को ठण्डा कर देने के लिए तैयार थे। महामाया के अचानक आविर्भाव और अन्तर्धान से भीड़ भौंचक्का रह गयी थी और घटना-चक्र के तीव्र गति-परिवर्त्तन से मैं कर्त्तव्यमूढ़ हो गया था। इसी समय चन्द्रमा की उदयगूढ़ रश्मियों से प्राची दिशा पाण्डुर हो गयी। मैं उस समय भी उस मनोहारिणी शोभा को देखने का लोभ संवरण नहीं कर सका। सारा पूर्वी आकाश प्रिय-समागम-जन्य आनन्द से उद्भासित जान पड़ता था, ऊँचे-ऊँचे वृक्षों की शिखाओं पर पीताभ रश्मियों का सुनहला जाल बुना हुआ था और दिगन्त के पर-प्रान्त तक दीर्घाकार सुवर्ण-शलाकाओं से खचित नील नभोमण्डल निराली शोभा से उद्दीप्त हो उठा था। इसी समय मुझे ऐसा लगा कि कोई मुझे झकझोर रहा है। देखता हूँ, धावक है। धावक चटुल जीवन्त परिहास का रूप बना हुआ था। चन्दन के अंगराग से उपलिप्त वक्षःस्थल पर मालतीदाम सुशोभित हो रहा था, भुजमूलों में बकुल-पुष्पों का मनोहर वलय बड़ी सुकुमार भंगी से सजा हुआ था और सँवारे हुए धूपित केशों के पिछले भाग में दुर्लभ जाती-कुसुमों का गुच्छ बड़ा ही अभिराम दिखायी दे रहा था। पान खाने में उसने बड़ी निर्दयता का परिचय दिया था। न मुँह पर ही उसने दया दिखायी थी और न ताम्बूलपत्रों पर ही। परन्तु पान के इतने पत्ते मिलकर भी उसका वाग्रोध नहीं कर सके थे। वह मुँह को ऊपर उठाकर अधरोष्ठ को आकाश के समानान्तर करके बोल रहा था; परन्तु फिर भी निर्बाध अनर्गल कवित्व-धारा इस प्रकार बरस रही थी, मानो कोई ऊर्ध्वमुख धारायन्त्र (फव्वारा) हो! मेरा कन्धा हिलाकर ताम्बूल रस-सिक्त वाणी में उसने कहा, "चाँद देखते हो क्या, आर्य? किसी की याद आ गयी है क्या?" उसके परिहास से मैं चौंक पड़ा, क्योंकि मुझे सचमुच ही भट्टिनी की याद आ गयी थी। लेकिन धावक रुकना नहीं जानता। वह बोलता ही गया—"सच्ची बात बताऊँ, मित्र! मैं जब प्राची में उदयगिरि-तटान्तरित निशानाथ (चन्द्रमा) को देखता हूँ, तो बरबस किसी ऐसी उदासप्रिया की स्मृति जाग उठती है, जिसका प्रिय उसके हृदय के अन्तराल में बैठा होता है और वियोगव्यथा से उसका मुख पाण्डुर हो गया होता है।[1] तुम्हें कैसा लगता है?" मैंने रस लेते हुए कहा, "अनुभव की बात कह रहे हो या कल्पना की, सखे!" धावक ने मस्ती के साथ जवाब दिया, "अनुभव तुम्हारा, कल्पना हमारी। क्यों सखे, इतना भाग तो मुझे मिलना ही चाहिए! सुनो, मैं तुम्हें वह बात भी

1. तुल. (रत्नावली,1-25)—
   उदयगिरितटान्तरितमियं प्राची सूचयति दिङ्निशानाथम्।
   परिपाण्डुना मुखेन प्रियमिव हृदयस्थितं रमणी॥

सिखा दूँगा, जो तुम भेंट होने पर अपनी उस उदास प्रिया से कहोगे। मैंने बड़ों-बड़ों को सिखाया है गुरु ! महाराजाधिराज तक इस विषय में मेरे चेले हैं !" मैंने रस लेते हुए कहा, "सिखा दो, सखे !" धावक बोला, "तो उतावले क्यों होते हो, कल सीख लेना ! अभी मैं कुमार कृष्ण का सन्देश लेकर तुम्हें खोजने आया हूँ। तुम्हें जितने लोग इस नगर में पहचानते हैं, सब दौड़ाये गये हैं। सुचरिता ने अपने बयान में कहा है कि तुम उसे पहचानते हो और उसकी तुम्हारे ऊपर अगाध श्रद्धा है। कुमार का आदेश है कि तुम शीघ्र राजकीय बन्दीशाला में जाकर उसे राज्य के अनुकूल बनाओ। तुम वहाँ निर्बाध पहुँच सको, इसकी व्यवस्था की जा चुकी है। शीघ्रता करो, नहीं तो अनर्थ हो जायेगा।"

धावक ने मुझे सोचने का अवसर ही नहीं दिया। दूर से दुन्दुभि की आवाज सुनायी दी। उसका मतलब समझाते हुए उसने कहा, "कुमार कृष्णवर्द्धन शान्ति की घोषणा कर रहे हैं। अवधूत अघोरभैरव और आर्य वेंकटेशपाद लौटा लाये गये हैं। आज इसी विकट व्यवहार के विषय में महाराजाधिराज, कुमार कृष्ण और प्रधान अधिकरणिक में दीर्घकाल तक फिसिर-फिसिर चलती रही।" मैंने पूछा, "व्यवहार क्या है, सखे ?" धावक ने मुँह बनाकर कहा, "व्यवहार क्या है, बुद्धि का दिवालियापन है। यह जो विरतिवज्र है, वह किसी समय बौद्ध-भिक्षु था। अब भले आदमी को न जाने क्या सूझी है कि अघोरभैरव और वेंकटेश भट्ट के चंगुल में आ फँसा है। वेंकटेश भट्ट कुछ अजब लफंगा लगता है—या क्या जाने भाई, मैं तो धर्म-साधना का नाम-गन्ध भी नहीं जानता। सो इस भलेमानस ने विरतिवज्र को और सुचरिता को एकसाथ नवीन साधन-मार्ग में दीक्षित किया है। अब इस व्यापार से यहाँ का ढोंगी बौद्ध पण्डित वसुभूति (जिसे महाराजाधिराज ने व्यर्थ ही सिर चढ़ा रखा है) इतना चिढ़ा है कि उसने अपने चेले धनदत्त श्रेष्ठी को उकसाकर एक जाल तैयार किया है। धनदत्त कहता है—कि विरतिवज्र का पिता उससे एक सहस्र दीनार ऋण लेकर मर गया था। जब तक विरतिवज्र संन्यासी था तब तक वह इस ऋण से मुक्त था; परन्तु अब क्योंकि वह सुचरिता के साथ गृहस्थी के बन्धन में बँध गया है इसलिए उसे कुसीदक (सूद) समेत ऋण चुकाना चाहिए। संक्षेप में यही व्यवहार है। इसमें तुम्हें क्या करना है, सो तुम जानो। मैं तो तुम्हें बन्दीशाला तक पहुँचाकर किसी और दिशा को चल दूँगा।" मैं कुछ-कुछ समझ रहा था; परन्तु और जानने की इच्छा से धावक से पूछा, "महामाया भैरवी ने आज यह क्या अनर्थ किया, सखे !" धावक हँसा, बोला, "राजधानी है, मित्र ! बहुत-कुछ देखोगे। महामाया को यहाँ बहुत कम लोग जानते हैं। मैं थोड़ा-थोड़ा जानता हूँ। वह महाराज्ञी राज्यश्री की सौत है !" मैं जैसे सोते से जगा, चौंककर पूछा, "सौत ?" धावक ने डाँटा—"चिल्लाते क्यों हो, इस नगर में रानियों की सौतों का विशाल जंगल है—जंगल !" मैंने फिसफिसाकर कहा, "तो क्या महाराजाधिराज भी···" बात पूरी होते-न-होते धावक ने कानों पर हाथ रखकर कहा, "शान्तं पापम्, शान्तं पापम् ! इस नगर में शुद्धशील

व्यक्ति तीन ही हैं—महाराजाधिराज श्रीहर्षदेव, महाराज्ञी राजश्री और···।" धावक ने रुककर मेरी ओर देखा, मानो कुछ कहते-कहते कह न सका हो। मैंने पूछा, "वह तीसरा बड़भागी कौन है, सखे ?" धावक ने अत्यन्त गम्भीरता के साथ कहा, "महाकवि धावक," और ठठाकर हँस पड़ा। मैं भी हँस पड़ा। धावक और भी जाने क्या-क्या कहता गया; परन्तु मैं महामाया की चिन्ता में ऐसा निमग्न था कि कुछ भी नहीं सुन सका। महामाया क्या राजश्री की सौत हैं। आज उन्होंने अपने को इस देश की लाखों लांछिता और अवमानिता बेटियों में से एक बताया था। क्या रहस्य हो सकता है? हाय, वह कौन-सी दुर्वार मनोवेदना थी, जिसने महामाया को रानी से संन्यासिनी बना दिया। भाग्य का कैसा दुर्ललित परिहास है! महामाया प्रचण्ड प्रतापशाली मौखरिकुल की राजलक्ष्मी थीं। इस ढलती वयस में भी उनके मुख-मण्डल से जो तेज झरता है, वह धावक के कथन का प्रमाण है। तो धावक ठीक ही कह रहा है। आज महामाया ने जो कुछ कहा, वह वर्षों से संचित कटुता का मूर्त्त प्रतीक था। सिंहिनी की आत्मा अभी वैसी ही है, केवल चोला बदल गया है। पर यह धावक अजीब आदमी है। कैसा कवि है यह। इतनी बड़ी बात को इस प्रकार कह गया, मानो महामाया कोई पतित स्त्री रही हों, और, और भी पतित हो गयी हों। परन्तु धावक का मुख कैसा निर्विकार है! आश्चर्य है!

बन्दीशाला के पास पहुँचकर धावक ने कहा, "लो सखे, द्वार खुला हुआ है। तुम कुमार का आदेश पालन करो, मैं चला।" बन्दीशाला पत्थरों का बना हुआ एक सुदृढ़ भवन था, ऊँचाई इतनी कम थी कि कठिनाई से कोई उसके भीतर खड़ा हो सकता था। सारा भवन एक विराट् बिल की भाँति लग रहा था। द्वार पर विशाल अश्वत्थ वृक्ष उसकी भयंकरता को और भी बढ़ा रहा था। प्रहरियों ने एक बार मेरा नाम पूछा और द्वार खोल दिया। भीतर घुसने पर मैं एक बड़े आँगन में उपस्थित हुआ। इस आँगन के चारों ओर कई छोटी गुहाकृति कोठरियाँ थीं। मुझे उन्हीं में से एक के द्वार पर ले जाया गया। द्वार खुलने पर चन्द्रमा की ज्योत्स्ना से वह छोटा-सा घर उद्भासित हो गया। उसमें हवा या प्रकाश के जाने का कोई मार्ग नहीं था। कुट्टिम भूमि पत्थर से पटी हुई थी; परन्तु एक प्रकार की दुर्गन्धि से सारा कक्ष असह्य-सा लग रहा था। उसी में सुचरिता निवात-निष्कम्प दीप-शिखा की भाँति पद्मासन बाँधकर बैठी हुई थी। द्वार खुलने के शब्द से उसका ध्यान भंग हुआ होगा। केवल ग्रीवा को ईषद् वक्र करके उसने हमारी ओर देखा। प्रहरी ने मेरा नाम बताकर परिचय दिया। सुचरिता की आँखें आश्चर्य से विस्फारित हो रहीं! उसने बड़े आयासपूर्वक विश्वास किया कि प्रहरी सचमुच सत्य ही कह रहा है। क्षण-भर में उसका मुख-मण्डल आनन्द की ज्योति से उद्भासित हो गया। एक तरल सौन्दर्य-धारा से सारा कुट्टिम प्लावित-सा हो गया। सुचरिता ने उठने की चेष्टा की; परन्तु उसके हाथ और पैर लोह-शृंखला से बँधे थे, उठ न सकी। उसकी वह कातरता मेरे हृदय को बुरी तरह से

द्रवित करती रही। आहा, कैसा करुण-मनोहर मुख था ! मन्द स्मित-रेखा अधरों पर झलक रही थी। विवशता के कारण भरी आँखें झुकी हुई थीं और अश्रु ढलक न पड़ें, इस भय से वह सीधे मेरी ओर न देखकर कनखियों से ताक रही थी। व्याकुल केशजाल इतस्ततः विक्षिप्त थे और कन्धा झाड़कर वह उनके असंयत रूप को ईषत् संयमित करने का प्रयास कर रही थी। सीमन्त-शोभी अवगुण्ठन पीठ पर आ गिरा था। परन्तु हाथों के बँधे रहने के कारण उसे यथास्थान रख नहीं पा रही थी। उसके उस करुण मनोभाव को प्रहरी का प्रस्तर-कठोर हृदय भी समझ गया। वह तुरत एक वृद्धा को बुला लाया। उसने उसका सीमन्त ढँक दिया। सुचरिता ने बड़े प्रयास के साथ हँसकर कहा, "अस्थान में आर्य को प्रणाम करने में भी लज्जा अनुभव कर रही हूँ। अविनय क्षमा हो, नारायण का दिया हुआ यह भी प्रसाद है।" सिर्फ एक क्षण के लिए उसका मुख विवर्ण हो गया; परन्तु तुरत सँभलकर बोली, "जिससे उसको आनन्द मिले, वही कर्त्तव्य है।" फिर क्षण-भर तक अभिभूत की अवस्था में वह निस्तब्ध हो रही, केवल अधरोष्ठ रह-रहकर स्फुरित होते रहे, मानो किसी अदृश्य शक्ति से अज्ञात भाषा में कुछ बोल रही हो। मेरा हृदय सहस्र-सहस्र धाराओं में बह जाने को आतुर हो उठा। कैसे कहूँ कि देवि, बाणभट्ट तुम्हारे समूचे कष्टों को अपने ऊपर लेने को तैयार है ! हाय, यह भी क्या सम्भव है ? किस कूटनीति ने इस पद्म-पुष्प को लोहे के शृंखलों में बाँधा है, किस पापबुद्धि ने इस नवनीत पिण्ड को मुंज-तन्तुओं से जकड़ा है, किस कलुष जीव ने इस मालती-माला को तप्त अंगार पर पटक दिया है ? कैसे कहूँ कि देवि, तुम्हारे इस कष्ट और वेदना को सम्पूर्ण रूप से अपने ऊपर लिये बिना इस अकिंचन का जीवन भार बन जायेगा ? इस विषय में बाणभट्ट की क्या शक्ति हो सकती है ? परन्तु सुचरिता निर्विकार थी। उसने नारायण का प्रसाद समझकर ही इस सारे क्लेश को आनन्दपूर्वक स्वीकार कर लिया था।

उस समय चन्द्रमा कुछ ऊपर आ गया था। ऐसा मालूम हो रहा था, महा-वराह धरित्री को अपने दाँत पर रखकर क्षीरसागर से एकाएक निर्गत हुए हैं, और समस्त भुवन-मण्डल उस ऊर्ध्वोत्क्षिप्त क्षीर-धारा के प्लावन से क्षीरमय हो गया है। सुचरिता का छोटा-सा वन्दी-गृह इस धवल धारा में ऐसा मालूम हो रहा था, जैसे क्षीरसागर के भीतर कोई जलकुक्कुट तैर रहा हो। सुचरिता उस धवलिमा के भीतर तुषार-शोभी कैलास के शृङ्ग-देश पर बैठी हुई पार्वती के समान मनोहर दिखायी दे रही थी। मैंने कातर-भाव से पूछा, "देवि, अविनय क्षमा हो, मैं सारे व्यापार को आद्योपान्त जानने की इच्छा से उपस्थित हुआ हूँ। मैं कुछ अच्छा करने का निमित्त बन सकता हूँ। यदि प्रसाद हो, तो कृतार्थ हूँगा।" सुचरिता का शीर्ण मनोहर मुख-मण्डल फिर एक बार आनन्द की दीप्ति से दमक उठा, बोली, "आर्य मुझे अकारण लज्जा दे रहे हैं। मैं अकिंचन हूँ। मुझे रानियों का-सा सम्मान देकर सम्बोधित करने की क्या आवश्यकता है ? मेरा कुछ भी छिपा नहीं है। पाप या पुण्य, धर्म या अधर्म, जो कुछ भी मेरे द्वारा हुआ है, उसे

मैंने नारायण को समर्पण कर दिया है। वह निखिल विश्व का अपना हो चुका है। मेरा कुछ भी गोपनीय नहीं है, आर्य ! आज्ञा दीजिये, क्या बताऊँ?" मैंने फिर अनुकम्पित वाणी में कहा, "इस व्यवहार का मूल क्या है और आर्य विरतिवज्र के व्यवहार में आपको क्यों वन्दी बनाया गया है, यही सब जानना चाहता हूँ, देवि !" सुचरिता के अधरोष्ठों पर एक हलकी मुस्कान की रेखा खेल गयी। उनकी आँखें नीचे ही झुकी रहीं; परन्तु भृकुटियों में आकुंचन-प्रसारण की क्रिया बराबर चलती रही। वह मेरी ओर ताकना चाहती थी; पर किसी सरस वीड़ा के दबाव से उसकी पलकें उठ नहीं रही थीं। उसने धीरे-से कहा, "तो आर्य, आद्योपान्त सुनना चाहते हैं?" मैंने विनयपूर्वक उत्तर दिया, "जितना सुनने का मैं अधिकारी हो सकता हूँ, उतना सब सुनना चाहता हूँ।" सुचरिता के झुके हुए नयनदेश में कोई अपूर्व रस-माधुरी तरंगित हो रही थी। कन्धा झाड़कर एक बार अपने केशों को फिर संयत करने के बाद उसने कहा, "सुनिए।"

सुचरिता ने धीरे-धीरे कहना शुरू किया, "मुझे अपनी कहानी बीच में से ही सुनानी पड़ेगी। वस्तुतः मेरा बालकपन मेरी बेसुधी में ही बीत गया। न तो मुझे अपनी माता का स्मरण है, न पिता का ही। अत्यन्त कच्ची उम्र में ही विवाह करके मेरे अभिभावकों ने यथाशीघ्र अपना कर्त्तव्य-भार हलका कर लिया था। श्वसुर-कुल में मैं केवल अपनी सास को ही जानती हूँ। श्वसुर मेरे आने के पहले परलोक सिधार चुके थे, और मेरे आने के थोड़े ही दिन बाद पतिदेवता मोक्ष की चिन्ता में प्रव्रजित हो गये। मैं इतनी अबोध थी कि इन घटनाओं का कोई मतलब ही नहीं समझ सकी। सास ने अपने हृदय का समूचा स्नेह उँड़ेलकर मुझे पाला। क्रमशः एक दिन मैं अकारण अपने-आपके बारे में सचेत हो गयी। जिस प्रकार वसन्तकाल में मधुमास, मधुमास में पल्लवराजि, पल्लवराजि में पुष्पसम्भार, पुष्पसम्भार में भ्रमरावली और भ्रमरावली में मदावस्था बिना बुलाये आ जाती है, उसी प्रकार मेरे शरीर में यौवन का पदार्पण हुआ। मेरी सास तीर्थ-यात्रा के लिए निकल पड़ीं, और मैं नाना स्थानों में भटकती हुई एक अन्तर्निहित अभाव की उदासी में झूलती रही। स्थाण्वीश्वर मेरे श्वसुर का निवास-स्थान था। मेरी सास अन्तिम वयस में यहीं रहने लगी थीं। इसके पूर्व वे तीर्थयात्रा के लिए काशी गयी थीं। एक दिन काशी के पार्श्ववर्त्ती जनपद से हम लोग जा रहे थे कि सास को मालूम हुआ, एक बहुत सुन्दर और प्रभावशाली ब्राह्मण युवा कथा बाँच रहा है। उसकी मोहक शैली, श्रुतिमधुर पद-विन्यास, हृदयहारी उपस्थापना से जनपद में अभूतपूर्व धार्मिक उत्साह का संचार हुआ है। हम लोग भी कथा सुनने गये थे। जब कथा समाप्त हुई, तो मेरी सास ने यथानियम उस तरुण पण्डित को मेरा हाथ दिखाया और प्रश्न किया कि उनका पुत्र कब तक लौट आयेगा? मैं तुमसे सच कहती हूँ, आर्य, उस दिन मेरा अस्तित्व सीमा तोड़कर उफन पड़ा, मेरा सारा शरीर रोमांच-कंटकित हो उठा और लज्जावेग के कारण करतलों में श्वेत-धारा बह चली। मैंने पहली बार अनुभव किया कि मैं अपने-आपमें अपूर्ण

हूँ। कुछ ऐसा अभाव मेरे अन्तस्तल को स्पर्श कर गया, जो जीवन का बड़ा भारी वरदान सिद्ध हुआ। उस ब्राह्मण ने मेरे श्वेदयुक्त करतलों को अधिक नहीं देखा, केवल मन्द स्मित के साथ सहज भाव से कहा, "तू अखण्ड सौभाग्यवती है, देवि," और फिर मेरी सास को आश्वासन देने लगा। उस दिन हृदय में आशा का एक क्षीण अंकुर पैदा हुआ। मानो मेरा नया जन्म हुआ; क्योंकि मैंने उस दिन प्रथम बार समझा कि मैं दुनिया से विच्छिन्न एक स्वतन्त्र पिण्ड नहीं हूँ, बल्कि चारों ओर के दुर्वार आकर्षणों के भीतर जकड़ी हुई हूँ; तुम मेरे ऊपर विश्वास कर रहे हो न, आर्य!"

मैं सुचरिता के इस अनावश्यक प्रश्न का कारण नहीं समझ सका। शायद बहुतों ने उसकी इस कहानी में सन्देह प्रकट किया हो, या उसे स्वयं मुझ पर विश्वास न रहा हो। परन्तु मुझे वाराणसी जनपद की वह वृद्धा हठात् याद आ गयी जिसने बड़े आग्रह से अपनी बहू का हाथ दिखाया था और जानना चाहा था कि उसका लाल कब लौटेगा? क्या सुचरिता ही वह बहू थी? सुचरिता ने क्षण-भर तक मेरी ओर देखकर फिर कहना शुरू किया—"तो आर्य, ब्राह्मण युवा की भविष्यवाणी सत्य सिद्ध हुई। मैं अखण्ड सौभाग्यवती ही निकली। वही कहानी आर्य को सुना रही हूँ। मैं कान्यकुब्ज की ओर अपनी सास के साथ लौट रही थी। उस समय चैत्र का महीना था। सरोवरों में नये पद्म-फूल खिले थे। आम की कोमल कलिकाएँ उत्सुक चित्त को और भी उत्सुक बना रही थीं। मदमत्त कामिनियों के गण्डूष-जल के सेचन से बकुल-वृक्ष पुष्पित होते जा रहे थे। कालेयक-कुसुम के कुड्मलों पर मधुकर-कुल की कालिमा बिछी हुई थी। किशो-रियों के दल में वाम पद की नूपुरमय चरण-ताड़ना से अशोक को पुष्पित करने की अहमहमिका पड़ गयी थी। सहकार-तरुओं पर झंकार-मुखर भ्रमरों की चढ़ाई हो चुकी थी। अविरल-निपतित कुसुम-धूलि की धवलिमा से धरती आच्छादित हो गयी थी। पुष्प-मधु के पान करने से मत्त बनी हुई भ्रमरियाँ लता के हिण्डोले पर झूल रही थीं। उत्फुल्ल लवली के पल्लवों में लीयमान कोकिल अपनी कूक से अनुरागियों का हृदय टूक-टूक करने लगे थे, और शरीरहीन देवता के शस्त्रागार में लाख-लाख नये अस्त्र भर चुके थे। मैं चित्रकूट के एक सरोवर-तट पर स्नान करने के लिए अपनी सास के साथ गयी। प्रसिद्धि है कि उस सरोवर में स्नान करनेवाली स्त्री का सौभाग्य युगान्त तक अचल रहता है। सरोवर एक घनच्छाय वृक्ष-संकुल प्रदेश में था। उसके तट पर जीर्ण पत्रों और पुष्पों की राशि जमी हुई थी। भ्रमर-भार से उत्फुल्ल पुष्पों के पराग वक्र होकर तट-प्रदेश को सुनहरा बनाये हुए थे। सारा सरोवर नाना भाँति के कुमुदों, कमलों, उत्पलों और शतदलों से परिपूर्ण था। सरोवर के एक प्रान्त में एक छोटा-सा आम्र-कानन था जिसकी मंजरीनालों को उन्मत्त कोकिलों ने नखाग्रों से विदीर्ण कर डाला था, और इसीलिए उनसे निरन्तर मधु टपकता रहता था। उसके दूसरे प्रान्त में एक छोटी-सी चन्दन-वीथिका थी, जिसके तरुकाण्डों पर लिपटे हुए सर्प पर्वत-विहारी

मयूरों की केकाध्वनि से सदा सन्त्रस्त बने रहते थे। सरोवर के तीरवर्त्ती वृक्षों के नीचे जो कुसुम-रेणु झड़ा हुआ था, उस पर कलहंस-मिथुनों ने विश्वस्त-भाव से विचरण किया था, और उनके पद-चिह्नों से बहुधा विकीर्ण वह रेणु-पटल चित्र-खचित वासन्ती दुकूल की भाँति वनस्थली-रूपी अरण्यसुन्दरी की शोभा शतगुण विवृद्ध कर रहा था। मेरी सास ने जलस्पर्श करके गद्‌गद कण्ठ से कुछ प्रार्थना की, और फिर ध्यानमग्न हो जप करने में लग गयी! मैं थोड़ी देर तक सरोवर की शोभा देखकर मुग्ध-सी बनी ताकती रही। फिर मेरे मन में आया कि यह आम्र-वन और यह चन्दन-वीथिका कुछ इस प्रकार लगायी जान पड़ती है कि अवश्य ही मनुष्य के कुशल करों से सँवारी हुई होंगी। यह सोचकर मैं धीरे-धीरे उस आम्रवनी की ओर अग्रसर हुई। मेरे मन में एक अकारण कौतूहल का भाव था। यह हत हृदय बड़ा दुर्वार आशावादी है, आर्य! मुझे ऐसा लग रहा था कि कोई बलात् मुझे उधर खींच रहा है, मानो वह वस्तु निश्चित रूप से वहाँ प्राप्त होगी, जिसके अभाव से मैं इस प्रकार भूली-सी, भ्रमी-सी उन्मना हो गयी हूँ। क्या देखती हूँ कि आम्रवनी के भीतर से एक तरुण तापस स्नानार्थ सरोवर की ओर आ रहे हैं। यह क्या देखती हूँ, आर्य! शिव के तृतीय नयन की वह्नि-शिखा में अपने मित्र को भस्म होते देख वसन्त ने ही वैराग्य ग्रहण किया है, या फिर महादेव के शिर-स्थित चन्द्र ने ही अपना मण्डल पूर्ण करने के लिए तपस्या करना शुरू किया है, या स्वयं कामदेवता ने शिव को प्रसन्न करने के उपरान्त अपने पाप के प्रायश्चित्त में यह कठोर चर्या आरम्भ की है? अत्यन्त तेजस्विता के कारण उस मुनिकुमार को देखकर ऐसा लग रहा था, मानो वे चंचल विद्युत्पुंज के भीतर विराजमान हों, या ग्रीष्मकालीन सूर्य-मण्डल के भीतर प्रविष्ट हों, या अग्नि-शिखा के मध्य शोभामान हों। प्रदीप के प्रकाश के समान पिंगल वर्ण की घन-तरल देह-प्रभा द्वारा वे सम्पूर्ण वन को पिंगल वर्ण की छटा से उद्‌भासित कर रहे थे। उनके दीर्घ नयनों को देखकर ऐसा लग रहा था कि वन के सभी हरिणों ने मिलकर उन्हें अपनी नयन-शोभा दान कर दी है। उनके केशविहीन मुण्डित मस्तक के नीचे वैराग्य के विजय-केतन के समान तीन आड़ी रेखाएँ तरल देहच्छटा के भीतर से लहराती-सी दिख रही थीं। उन्होंने लाल कौशेय वस्त्र का एक विचित्र चीवर धारण किया था, जिसे देखकर मुझे ऐसा लगा, मानो नवयौवन का राग हृदय में नहीं अँट सका है, इसीलिए वह वस्त्रों तक फूट आया है, उनके उत्तरोष्ठों पर ईषत् काली मसि-रेखा भीन रही थी, जो मुख-पद्म के मधु के लोभ से बैठी हुई भ्रमरावली की भाँति मन मोह रही थी। उनके एक हाथ में वृन्तसमन्वित बकुल-फल के आकार का कमण्डलु था और दूसरे में लाल-लाल छोटी-सी जपमाला थी, जो मदन-दाह के शोक से व्याकुल रतिदेवी के सिन्दूर से उपलिप्त-सी दिख रही थी। आगुल्फ रक्त चीवर में समाच्छादित उस तरुण तपस्वी को देखकर मैं मन्त्र-मुग्ध-सी खड़ी रह गयी। कौन है यह ब्रह्मचर्य की विजय-पताका, धर्म का यौवन-काल, वाग्देवी का वेश-विन्यास, सर्वविद्याओं का स्वयंवृत पति, समस्त ज्ञान का

मिलनतीर्थ, शोभा का समुद्र, गुणों की आकरभूमि, कीर्ति का कैलास, छवि का स्रोतस्वान्, प्रेम का उद्गमविहार !

"तुम नारायण की मूर्त्ति हो आर्य ! मैं तुमसे सत्य कहती हूँ, उस दिन मेरे हृदय में सौ-सौ युगों के कवि एक साथ रागारुण तान छेड़ बैठे, जैसे शत-शत जन्म मुखरित होकर कहना चाहते हों कि यहीं मेरे जीवन की सार्थकता है। कितना विराट् है विधाता का सौन्दर्य-भाण्डार। सुना था, भगवान् कुसुमसायक की रचना करने के बाद उनका भाण्डार निःशेष हो चुका था, तो फिर इस अपूर्व सौन्दर्य-राशि को बनाने का साधन कहाँ से मिला उन्हें ! निश्चय ही वह भाण्डार अपूर्व है, विराट् है ! उस समय आश्चर्य के मारे मेरा श्वासोच्छ्वास बन्द हो गया था, पलकें ऊर्ध्वगति हो चुकी थीं, निर्निमेष नयनों से मैं साभिलाष होकर उस रूप-माधुरी का पान कर रही थी। उन्होंने मेरी ओर देखा। मेरा जन्म-जन्मान्तर मानो कृतार्थ हो गया। मैं कुछ माँगती हुई-सी, सर्वस्व निछावर करती हुई-सी, सर्वात्मना उनकी रूप-राशि में विलीन होती हुई-सी, शरणागता होती हुई-सी, स्तम्भिता-चित्रलिखिता-उत्कीर्णा-संयता-मूर्च्छिता-विधृता की भाँति, निरुद्धचेष्ट हो गयी। न जाने कौन-सी जड़िमा मेरे सारे शरीर-अवयवों को निष्क्रिय बना गयी, इन्द्रिय-व्यापार को रुद्ध कर गयी, नयन-पक्ष्मों को अचंचलता दे गयी और मेरे मन को अपरिचित अननुभूत मधुर-रस में डुबो गयी। मैं ठीक नहीं बता सकती कि उन्हें इस प्रकार देखने के लिए किस बात ने मुझे प्रेरित किया—उनकी सौन्दर्य-समृद्धि ने, मेरे चंचल चित्त ने, मेरे नवयौवन ने, अनुराग ने या अन्य किसी बात ने ? मैं उस समय उन्हें इतने आग्रह से क्यों देखने लगी, यह बात मैं स्वयं भी नहीं जानती। मुझे आश्चर्य होता है आर्य, कि मैं वहाँ काष्ठ-प्रतिमा की भाँति खड़ी कैसे रह गयी। मेरी आँखें मुझे खींचकर उनके पास पहुँचा देना चाहती थीं, हृदय मानो सामने की ओर से मुझे घसीट रहा था, अनुराग मानो पीछे की ओर से धकेल रहा था और मैं हतभाग्या विविध आकर्षणों के घात-प्रतिघात से स्थिर काष्ठ-प्रतिमा की भाँति स्तब्ध बनी रही। फिर मेरे मन में आशंका हुई कि मैं कोई भयंकर पापभावना का आखेट बनी हूँ। कहाँ वह देदीप्यमान तेज और तपस्या का आधार और कहाँ प्राकृत जन-सुलभ अनुरागान्ध भाव ! यह क्या मनोजन्मा देवता का उत्पात है, या पूर्व-जन्म का कोई दुर्वार योग उपस्थित हुआ है। मैं समझती हुई भी क्यों इस प्रकार रागोत्सुक हो रही हूँ। घटी-भर तक सोचने के बाद मैं अपने को सम्हालने में समर्थ हुई। मैं वहाँ से हट जाने को उद्यत हुई और सहज भाव से प्रणाम करने की चेष्टा करने लगी। उस समय भी मेरी आँखें उनके मुख-मण्डल से हट नहीं सकीं। नयन-पक्ष्म तब भी निःस्पन्द थे, मेरे ईषदुल्लसित कर्ण-पल्लव नाममात्र को कपोल-मण्डल से हटे हुए थे, केशभार स्कन्ध देश पर ज्यों-के-त्यों लम्बित थे और कानों के कुण्डल कन्धे पर तब भी झूल रहे थे।—छिः आर्य, निर्लज्जता की भी एक सीमा होती है !"

सुचरिता अपनी कहानी सहज भाव से कहती जा रही थी; परन्तु यहाँ आकर

उसके कण्ठ में थोड़ी-सी जड़िमा आ गयी। चन्द्रमा की धवल ज्योतिर्धारा सीधे उसके मुख पर पड़ रही थी। उसका मुख उस श्वेत आवरण से जितना ही उद्भासित था, उतना ही आवृत भी। परन्तु इस बार जो लालिमा उसके मनोहर मुख पर अनायास ही खेल गयी, उसे यह श्वेत आवरण भी नहीं छिपा सका। जाह्नवी की धारा में प्रतिफलित रक्तोत्पल की भाँति जल-चादर के भीतर से परिदृश्यमान दीपशिखा की भाँति, शरत्कालीन मेघों में अन्तरित बाल-सूर्य की प्रभा के समान वह लालिमा अधिकतर रमणीय होकर प्रकट हुई। केवल एक क्षण के लिए उसकी दृष्टि नीचे की ओर झुकी और दूसरे ही क्षण वह सजग हो गयी। बोली, "क्यों ऐसा होता है, आर्य? क्या पूर्व-जन्म का बन्धन है यह, या परजन्म का निमित्त है? जिस प्रचण्ड दुर्वार शक्ति के इंगितमात्र से लज्जा का आजन्म-लालित बन्धन इस प्रकार शिथिल हो जाता है, वह क्या पाप है? उसे राक्षसी शक्ति क्यों समझा जाता है, आर्य? मैंने जितने लोगों को यह कहानी सुनायी है, उन सबने ही बुद्धिमान् की भाँति सिर हिलाकर मुझे पापकारिणी बताया है। दीर्घकाल तक मैं स्वयं अपने इस अकारण आरोपित पाप-भावना की चिताग्नि में जलती रही हूँ। वैराग्य क्या इतनी बड़ी चीज है कि प्रेम के देवता को उसकी नयनाग्नि में भस्म कराके कवि गौरव अनुभव करें?" वह देर तक मेरी ओर उत्तर की आशा से देखती रही। मैंने संक्षेप में उत्तर दिया—"प्रश्न विभज्यवचनीय है, देवि! आप दो बातों को एक करके पूछ रही हैं। कालिदास ने प्रेम के देवता को वैराग्य की नयनाग्नि से भस्म नहीं कराया है, बल्कि उसे तपस्या के भीतर से सौन्दर्य के हाथों प्रतिष्ठित कराया है। पार्वती की तपस्या से सच्चे प्रेम के देवता आविर्भूत हुए थे। जो भस्म हुआ, वह आहार-निद्रा के समान जड़ शरीर का विकार्य धर्म-मात्र था। वह दुर्वार था; परन्तु देवता नहीं था। देवता दुर्वार नहीं होता देवि, विभज्यवचनीय है तुम्हारा प्रश्न। मैं पूरी कथा सुनना चाहता हूँ।" सुचरिता चकित मृग-शावक की भाँति आश्चर्य-विस्फारित नयनों से मुझे देखती हुई बोली, "क्या कहा आर्य, पार्वती ने शिव की क्या एकमात्र देवता के रूप में आराधना नहीं की थी? क्या उनका व्रत जड़ शरीर-धर्मों का पाप आकर्षण-मात्र था? व्रज-सुन्दरियों ने निखिलानन्द-सन्दोह मुकुन्द की विग्रहमाधुरी के प्रति जो आकर्षण दिखाया, वह क्या प्रेम नहीं था? फिर क्यों कहा गया है आर्य, कि व्रज-सुन्दरियों का प्रेम ही काम है और काम ही प्रेम है?[1] क्या पार्वती की वह आसक्ति एक बाह्य जड़ धर्म थी?" क्षण-भर में मेरे सामने पार्वती का तपोनिरत वेश विद्युच्छटा की भाँति खेल गया और कालिदास के अपूर्व वर्णनानैपुण्य से प्रतिफलित वह मूर्त्ति याद आ गयी, जो शिला पर शयन करती थी, अनिकेत-वासिनी थी, धूप-वर्षा-आँधी-तूफान में स्थिर खड़ी रहती थी। केवल महारात्रि ही अपनी

1. बहुत परवर्ती ग्रन्थ 'भक्तिरसामृतसिन्धु' के इस वचन से तुलना की जा सकती है—
'प्रेमैव व्रजरामाणां काम इत्यभिधीयते।'

विद्युन्मयी दृष्टि से बीच-बीच में झाँककर उस महातपस्या की साक्षी बनी रही।[1] पार्वती की उस अवस्था से सुचरिता की इस अवस्था में कितना साम्य है और फिर भी कितना वैषम्य है! मैंने स्नेह-तरल स्वर में कहा, "पार्वती ने ठीक ही शिव को अपना सर्वस्व समझा था, देवि! किन्तु दोष शिव की ओर से हुआ था। उन्होंने अपने चित्त-विकार के हेतु को दिशाओं के उपान्त भाग में खोजा था। चित्त जड़ प्रकृति का चेतन के संसर्ग से उत्पन्न विकारमात्र है, शुभे![2] परन्तु मुझे पूरी कथा सुनने का आग्रह है।"

सुचरिता बोली, "चतुर हो आर्य, प्रियभाषी हो आर्य, आधी बात सुनकर निर्णय करना बुद्धिमान्द्य का लक्षण है। सबने मेरी कहानी आधी ही सुनी है, और यह आधी कहानी इस नगर में नाना भाव से विकृत हुई है। पर तुम पूरी सुनना चाहते हो। निपुणिका आधी ही जानती है; परन्तु उसने सन्देह नहीं किया और मेरे आचरण को पाप नहीं बताया। वह सहृदयता थी। मैं तुम्हें पूरी सुना रही हूँ, आर्य! जिस समय मैं इस प्रकार अपने-आपको संयम की रश्मियों से खींचने का प्रयत्न कर रही थी, उसी समय मेरी सास देर तक मुझे लौटती न देख खोजती हुई उधर ही आयीं। उन्होंने उस रक्त चीवरधारी मुनिकुमार को देखते ही कातर चीत्कार किया—'अरे मेरा लाल, मेरा अमितकान्ति!' और अर्द्धमूर्च्छित-सी होकर तपस्वी के पास गिर गयीं। मुनिकुमार के वैराग्यकठोर मुख पर करुण भाव की रेखाएँ दिखायी देने लगीं। उन्होंने कमण्डलु एक तरफ रख दिया और धीर भाव से माता के सिर को गोद में लेकर दबाना शुरू किया। अत्यन्त मृदु-कोमल कण्ठ से बोले, 'आर्ये, संयत होओ, वृथा उद्विग्न क्यों हो रही हो?' माता ने करुण नेत्रों से पुत्र की ओर देखा, बोलीं, 'बेटा, तू मुझ अभागी को रोती-कलपती छोड़ कौन-सा धर्म कमा रहा है? यह देख, यह तेरी ब्याहता बहू है। अभागे, स्वर्ग में ऐसी कौन-सी अप्सराएँ मिलती होंगी, जिनके लिए तू इस मणिकांचन-प्रतिमा को छोड़कर तपस्या कर रहा है? माता की इस बात से मैं जितनी ही हतबुद्धि बन गयी, उतनी ही लज्जित भी। यह भी कोई बात की बात है! तपस्वी किन्तु गम्भीर बने रहे। उनके तेजोमण्डित मुख-मण्डल पर निर्विकार भाव ज्यों-का-त्यों बना रहा। माता ने कातर कण्ठ से अपना दुखड़ा सुनाना शुरू किया। पुत्र ने धीर-भाव से सुनकर कहा, 'संसार दुःख है, आर्ये!' विचित्र दशा थी। समस्त जीवन के नैराश्यों और कष्टों की साक्षात् प्रतिमा माता फफक-फफककर अपनी करुण कहानी सुना रही थी, उसकी आँखों में अश्रु-धारा श्रावण मास की वारि-धारा के समान झड़ रही थी और पुत्र निर्विकार भाव से उपदेश देता जा रहा था,

1. तुल. (कुमारसम्भव, 5-25)—
शिलाशयां तामनिकेतवासिनीं निरन्तरास्वन्तरवाष्पवृष्टिषु।
व्यलोकयन्नुन्मिषितैस्तडिन्मयैर्महातपः साक्ष्य इव स्थिताः क्षपाः॥
2. तुल. (कुमारसम्भव, 3-69)—
हेतुं स्वचेतोविकृतेर्दिदृक्षुर्दिशामुपान्तेषु ससर्ज दृष्टिम्।

मानो वह अपनी माता को पहचानता ही नहीं, मानो उसकी अपनी माता भी सौ-पचास अन्यान्य आर्याओं की भाँति एक सामान्य आर्या हो ! मेरा स्त्रीत्व इस ढोंग को बर्दाश्त नहीं कर सका; परन्तु कुछ बोल न सकी। लज्जा से कण्ठ रुद्ध हो गया। अन्त में माता ने ही दूसरा रूप धारण किया—'अरे ओ मूढ़, रटी हुई बोली बोल रहा है तू ! भण्ड है वह धर्माचार, जो अपनी माता को भी पहचानने में लज्जा अनुभव कराता है। इस दुःखमय संसार को और भी दुःखमय बनाकर ही क्या तेरा सुख का राजमार्ग तैयार होगा ? स्वार्थी है तेरा मार्ग, धिक्कार है तेरे पौरुष को !' तपस्वी का चित्त गला। उन्होंने एक बार मेरी ओर देखा, एक बार अपनी माता की ओर। माता ने मेरी ओर देख डाँटकर कहा, 'ताकती क्या है अभागी, यही तेरा पति है, यही तेरा देवता है। आ, इसके चरणों में अपने को समाप्त कर दे। मरती क्यों नहीं भाग्यहीना, मैं मरकर तुझे सिखा दूँगी कि मरना क्या होता है ? इसने तेरा हाथ पकड़ा था, यही तेरा निबाहनेवाला है। आ, तू इसी की शरण आ। मैं चलती हूँ। बहुत रो चुकी हूँ। आज मैंने अपना खोया धन पा लिया है। मैं इस बार नहीं चूकूँगी। यहीं मेरी समाप्ति है।' इतना कहकर माता ने ज़ोर से वक्षःस्थल पर कराघात किया और कटे रूख की तरह तपस्वी की गोद में लुढ़क गयी। क्षण-भर में मेरे सामने अन्धकार छा गया। 'हाय अम्मा', कहकर मैं भी माता के अवश शरीर पर गिर पड़ी।

"थोड़ी देर बाद मैं जब होश में आयी, तो क्या देखती हूँ कि तपस्वी के तेजोमण्डित मुख-मण्डल में विकार का धूम छा गया है। उनके बड़े-बड़े नयन-कोशों से मुक्ताफल की धारा के समान अश्रु झर रहे हैं। मैं लज्जित, शोकार्त्ता, हतबुद्धि और कर्त्तव्य-ज्ञानविरहिता होकर जड़वत् बनी रही। तपस्वी अपने चीवर से माता के सिर पर हवा कर रहे थे। उनका कण्ठ वाष्पपूर्ण था। मेरी ओर देखकर ईषत् लज्जित-से होकर वे बोले, 'शुभे, धैर्य से काम लो, इस कमण्डलु में थोड़ा-सा जल ले आओ।' मेरा जन्म कृतार्थ-सा मालूम हुआ। बिना कोई उत्तर दिये मैं सरोवर से जल ले आयी। माता के नेत्रों और मस्तिष्क को पानी से आर्द्र करने के बाद उन्होंने फिर चीवर से हवा करना शुरू किया। थोड़ी देर बाद फिर मेरी ओर देखकर आँखें नीची कर लीं और बोले, 'देवि, माता के तलवों को करतल से अच्छी तरह रगड़ो।' मैंने आज्ञा पालन की। थोड़ी देर की शुश्रूषा के बाद माता की आँखें खुल गयीं। तपस्वी का व्रत इस बार भंग हुआ, संयम का बाँध टूट गया, दीर्घकाल की रटी हुई भाषा लुप्त हो गयी। वाष्पगद्गद कण्ठ से बोले, 'माँ, ऐ माँ !' माता का स्नेहोद्वेल हृदय इस बार उफन पड़ा। तपस्वी की गर्दन को अपनी क्षीण भुज-लताओं से बाँध वे फफककर रो पड़ीं। बोलीं, 'हाँ बेटा, माँ कहकर पुकार। मेरा लाल, मेरी खोयी निधि, मेरा अमितकान्ति ! तेरे पिता स्वर्ग में तेरे इस रूक्ष जटिल रूप को देखकर मुझे बुरी तरह डाँटेंगे, मेरे लाल ! मैं अब अधिक नहीं बचूँगी। बोल, एक बार माँ कहकर पुकार। मैं तेरी गोदी में सुख की नींद सो जाना चाहती हूँ, मेरे प्राण !' तपस्वी इस बार सम्हल न सके। फूट-

फूटकर रो पड़े—'ना माँ, मैं तेरी गोदी में लौट चलूँगा, मुझे एक बार गुरु से आज्ञा ले लेने दो।' माता का चेहरा लाल हो गया। एक बार फिर करुणा में वीर रस का अचानक प्रादुर्भाव हुआ। गरजकर बोलीं, 'पाषण्ड है वह ढोंगी, जो माता से बढ़कर अपने को गुरु मानता है। तू मेरा है, मेरे रक्त-मांस का टुकड़ा है, दूसरा कौन तेरा गुरु है?' माता का दुर्बल शरीर इस उत्तेजना को बर्दाश्त नहीं कर सका। वे फिर संज्ञाहीन हो गयीं। अबकी बार मैं अपने को सम्हाल न सकी। चिल्लाकर रो पड़ी—'हा अम्मा, अब मेरा सहारा कौन होगा?' तपस्वी ने वाष्प-रुद्ध कण्ठ से फिर कहा, 'घबराओ मत भद्रे, माता को जिलाना मेरे हाथ में है।' वे कुछ सन्नद्ध-से होकर सेवा करने लगे। मुझे भी नाना भाव से सेवा करने का आदेश करने लगे। थोड़ी देर बाद माता जब सचेत हुईं, तो उन्होंने अकम्पित स्वर में कहा, 'माँ, तू जो कहेगी, वही करूँगा।' माता ने स्नेह-गद्गद हो उनका सिर चूम लिया। उनके वक्षःस्थल से दूध की धारा बह निकली। वे तपस्वी को दो वर्ष के शिशु के समान गोदी में लेकर दुलराने लगीं। फिर बोलीं, 'तू सत्य कहता है, मेरा लाल! मैं जो कहूँगी, वही करेगा?' तपस्वी ने सहज स्वर में कहा, 'निश्चय करूँगा, माँ!' माता ने कहा, 'तो पकड़ इसका हाथ! एक बार झूठा बन चुका है, दूसरी बार फिर झूठा न बन।' तपस्वी ने एक बार आकाश की ओर देखा, एक बार पृथ्वी की ओर। फिर मेरी ओर देखकर बोले, 'शुभे, माता की आज्ञा तुमने सुनी है न!' मैंने सिर हिलाकर स्वीकृति बतायी। तपस्वी ने कहा, 'मैं माता की आज्ञा से तुम्हारा हाथ पकड़ना चाहता हूँ। क्या तुम जीवन में मेरे लक्ष्य की ओर बढ़ने में मुझे सहायता पहुँचाने को तैयार हो?' मैंने कुछ उत्तर नहीं दिया। लज्जा के भार से मेरी ग्रीवा जो झुकी, सो मानो टूट ही गयी, उठने का नाम ही नहीं। माता ने स्नेहपूर्वक कहा, 'हाथ बढ़ा दे, बेटी!' और मेरा पाणिग्रहण हो गया! माता ने प्रसन्न होकर आशीर्वाद दिया और पुत्र से कहा, 'अब चल बेटा, मेरे साथ।' पुत्र ने माता के चरणों पर सिर रख दिया और गिड़गिड़ाकर कहा, 'एक बार गुरु की अनुमति लेने की आज्ञा दे दो, माता।' आज्ञा मिल गयी। वे चले गये। फिर क्या हुआ, सो मुझे नहीं मालूम। पर फागुन की पूनों को वे मेरे यहाँ लौट आये और मुझे अवधूत अघोरभैरव के पास ले गये। अवधूतपाद के आदेश से ही हम दोनों ने अपने वर्त्तमान गुरु से दीक्षा ली है। परन्तु आर्य, मेरे पति जब लौटकर आये, तो माता को नहीं देख सके। माता पहले ही स्वर्ग-यात्रा कर चुकी थीं। मैं दुनिया को आधी कहानी ही बता सकी हूँ। माता के अभाव में आधी बाकी रह गयी थी। कल अचानक इस आधी कहानी की सचाई का प्रमाण मिल गया है। श्रेष्ठी धनदत्त ने मेरे पति को पहिचान लिया है। यह व्यवहार सिद्ध करता है कि आधी कहानी भी गोपन नहीं रहेगी।"

सुचरिता अपनी कहानी कहकर मेरी ओर एक दीर्घ-स्थायी दृष्टि से देखती रही, मानो कुछ सुनने की प्रतीक्षा में हो। परन्तु मैं दूसरी ही चिन्ता में था। मैं अवधूत अघोरभैरव के पास प्रथम समागत विरतिवज्र को स्मरण कर रहा था।

आज मैं समझ सका कि उस शान्त-स्निग्ध मुख-श्री के भीतर कितनी व्यथा थी। समस्त वेदना, अनुताप और अनुशय को पीकर जो निर्धूम अग्नि-ज्योति के समान अविकृत तेज उस मनोरम मुख से प्रकाशित हो रहा था, वह निस्सन्देह समुद्र-गम्भीर हृदय का निदर्शक था। मैं सुचरिता के विषय में भी सोचता रहा। कितना सहज भाव है, कैसा अकृत्रिम व्यवहार है! आहा, कांचन-पद्मर्धामि शरीर में ही मृदुता और ससारता रह सकती हैं! क्षण-भर रुककर मैंने पूछा, 'अविनय मन में न लाओ देवि, तो मैं पूछना चाहूँगा कि आधी कहानी गोपन रखकर तुमने उसे क्यों विकृत होने दिया?' सुचरिता ने बिना हिचक के छूटते ही जवाब दिया, "आधी कहानी ही मेरा अपना सत्य है, आर्य! अगर परवर्ती आधी कहानी न भी घटी होती, तो उतने की सचाई में मुझे कोई सन्देह नहीं रहता। बाकी आधी माता की गवाही की अपेक्षा रखती थी। तुमने जितने सरल भाव से इस उत्तरार्द्ध पर विश्वास कर लिया है, उतने सरल भाव से और कोई विश्वास नहीं करता।"

मैंने ज़रा संकोच के साथ ही प्रश्न किया, "उत्तरार्द्ध का तुम्हें आधा ही मालूम है, देवि! आधा मुझे मालूम है! तुमने क्या इसमें कुछ छिपाया नहीं है?" सुचरिता की सहज-मनोहर आँखों में हँसी का भाव तरंगित हो गया, बोली, "मैंने सुन रखा है आर्य, कि तुम नर्म (सरस हास्य) कुशल हो। क्या छिपाया होगा भला मैंने!" मैंने सुचरिता की उत्सुक आँखों में अपनी आँखें बैठा दीं। हँसकर बोला, "सुनो शुभे, आर्य विरतिवज्र ने अवधूत अघोरभैरव को बताया था कि एक दिन अचानक गुरु ने उन्हें बुलाकर कहा कि तुम कौल-सिद्ध अवधूत अघोरभैरव के पास चले जाओ। मैं इसका साक्षी हूँ। मैं उस दिन इसका अर्थ नहीं समझ सका था। आज समझ रहा हूँ। आर्य विरतिवज्र ने गुरु से सारी कथा कही होगी, गुरु ने शिष्य को व्रत-भंग से बचाने का प्रयत्न किया होगा। शिष्य व्याकुल हो गया होगा। पर सहज गम्भीरता के कारण गुरु के बताये नियमों का पालन करने लगा होगा। परन्तु···" मैं क्षणभर रुककर सुचरिता की ओर देखने लगा। उसकी नर्म-चटुल मुद्रा बदल गयी थी। वह गम्भीर हो गयी थी। बोली, "हाँ, कहो आर्य, मैं नया सुन रही हूँ।" मैंने हँसकर कहा, "हाँ, देवि, तो आर्य विरतिवज्र को किसी सरोवर के निकट गुरु ने देखा होगा, जहाँ वसन्तकाल की जन्मभूमि के समान सहकार-लताओं का एक अविरल कुंज होगा, जो मानो पुष्पों से पुष्पमय, मधुकरों से भ्रमरमय, कोकिलों से परभृतमय और मयूरों से मयूरमय की भाँति लग रहा होगा। वहाँ गुरु का सारा उपदेश भूलकर वे लिखित की भाँति, उत्कीर्ण की भाँति, स्तम्भित की नाईं, उपरत के समान, प्रसुप्त की तरह, योग-समाधिस्थ की भाँति निश्चल होकर भी व्रत से चलित हो गये होंगे। गुरु ने आश्चर्य के साथ नैरात्म्य उपदेश की यह परिणति देखी होगी। शून्य समाधि की यह अवस्था उनके मस्तिष्क में कभी आयी ही न होगी। कैसी रही होगी वह शून्य समाधि! हृदय-निवासिनी प्रिया को देखने के लिए उनकी समस्त इन्द्रियाँ इस प्रकार अन्तःप्रविष्ट हुई होंगी, मानो असह्य विरह-सन्ताप से बचने का उद्योग कर रही हों। इस प्रकार

उनका समूचा शरीर विराट् शून्य का आकार धारण कर चुका होगा; निस्पन्द-निमीलित नयनों में हृदयदाही प्रेमाग्नि का धुआँ भीतर लग रहा होगा और उससे अजस्र वारि-धारा झड़ रही होगी; दीर्घ निःश्वास-वायु से लता, कुसुम काँप उठे होंगे और उनके कुसुम-रेणु दिङ्मण्डल में विकीर्ण हो रहे होंगे। इसी अवस्था में गुरु ने उन्हें अचानक पुकारा होगा। जब आर्य विरतिवज्र गुरु की वाणी सुन धड़-फड़ाकर उठे होंगे, तो वृक्षों ने कुसुम-रेणु छिड़ककर मनोभव देवता के वशीकरण चूर्ण का प्रभाव विस्तार किया होगा, अशोक-पल्लवों ने मृदुस्पर्श से अपना राग संचारित कर दिया होगा, वनलक्ष्मी ने नवीन राज्य में प्रवेश करनेवाले युवराज की भाँति उस अपूर्व मनोहर किशोर तापस के भालपट्ट पर मधु-विन्दुओं का अभिषेक किया होगा और वसन्तकाल ने कोकिलों के संगीत से, भ्रमरों के गुंजार से, चंपक-कलिका के प्रसाद से और सहकार-मंजरी के मांगल्य से उनका अभिनन्दन किया होगा! तुमने क्या उस दिन इस बात का कोई चिह्न नहीं देखा था, देवि! तुम मुझसे छिपा रही हो न?" सुचरिता ने आँखें झुका लीं और हँसी की तरल धारा में तरंगित-सी होती हुई बोली, "तुम तो परिहास कर रहे हो, आर्य!" थोड़ी देर तक सुचरिता चुपचाप अपने-आपमें बहती-उतराती रही। फिर अवसर देखकर मैंने पूछा, "इस व्यवहार में धनदत्त ने जो ऋण का प्रश्न उठाया है, वह क्या सत्य है, देवि!" सुचरिता ने ज़रा उत्तेजित होकर कहा, "एकदम असत्य है, आर्य! मेरी सास ने इसकी कोई चर्चा नहीं की, और मेरे पति यदि प्रव्रजित हुए थे, तो मैं तो बराबर ही यहाँ थी, क्यों नहीं धनदत्त ने कभी इस ऋण की चर्चा की? और आर्य, यह अत्यन्त मिथ्या कथन है कि आर्य विरतिवज्र गृहस्थ हो गये हैं। वे जो कुछ कर रहे हैं, वह सम्पूर्णतया अपने गुरु की अनुमति से! दुनिया इसे जो समझे; परन्तु वे पहले जो थे वही अब भी हैं। गुरु के निर्देश से उन्होंने साधन-मार्ग बदल दिया है। अब भी वे धर्म के वैसे ही शृंगार हैं, जैसे पहले थे।"

मैंने बीच में छेड़कर पूछा, "तो तुम, देवि, क्या इस व्यवहार के कारण महाराजाधिराज से अप्रसन्न हो?" सुचरिता हँसी, बोली, "फेन-बुद्‌बुद के समान निरन्तर उद्‌भूयमान और विलीयमान होते रहनेवाले इन नश्वर जीवों में महाराजा ही क्या और सेठ ही क्या! मैं महाराजाधिराज पर न प्रसन्न हूँ, न अप्रसन्न हूँ। आर्य, इनसे कहीं बड़े महाराजा की शरण पाने का प्रयास कर रही हूँ। मैं अप्रसन्न क्यों हूँगी, आर्य! उन्होंने अन्याय किया है, तो उसका लेखा-जोखा वे जानें। मुझे तो जो भी दुःख या सुख मिलेगा, उसी से अपने नारायण की पूजा करूँगी। यह हथकड़ी भी उन्हीं को अर्घ्यरूप में उपहृत है, आर्य!" मैंने विनीत भाव से कहा, "देवि, तुम्हारे इस व्यवहार से नगर में बड़ी हलचल है। रक्तपात की भयंकर सम्भावना से राज्य के अधिकारी चिन्तित हो गये हैं। मैं जानना चाहता हूँ कि तुम महाराजाधिराज की सहायता कर सकती हो या नहीं। सहायता शान्ति-स्थापन के लिए और प्रजा में विश्वास-आनयन के लिए अपेक्षित है। देवि, दुर्दमनीय दस्युओं की सेना गिरि-वर्त्म के उस पार एकत्र हो रही है। इस समय

प्रजा में असन्तोष रहने से महान् अनर्थ की सम्भावना है।" सुचरिता ने आश्चर्य से मेरी ओर देखकर कहा, "यह तो नयी बात सुन रही हूँ, आर्य! प्रजा ने इसके पूर्व तो कभी मेरे लिए कोई परवा नहीं की। इस नगर में मैं बराबर निन्दा-भाजन रही हूँ। मैं नगर के विडम्ब-रसिकों का छन्दानुरोध नहीं कर सकी हूँ, इसलिए उन लोगों ने मेरे विषय में बहुत-सा अपवाद फैला रखा है। अचानक प्रजा में यह विद्रोह कहाँ से जाग उठा?" मुझे स्वयं भी आश्चर्य हुआ। मैंने आज की कहानी ज्यों की त्यों सुना दी। सुचरिता ने प्रसन्न होकर कहा, "समझ गयी हूँ, आर्य! मेरे और मेरे पति के निर्दोष-निरीह आचरण से जिस प्रकार राजकार्य में बाधा पड़ी है, उसी प्रकार प्रजा की शान्ति में भी बाधा पड़ी है। यह दो प्रतिद्वन्द्वी स्वार्थों का संघात है, आर्य, हम लोग तो निमित्त बने हैं। धनदत्त के गुरु भदन्त वसुभूति बौद्ध धर्म को जिताकर ही छोड़ेंगे और वसुभूति के प्रतिभट परमस्मार्त्त आचार्य मेधातिथि जो आज की सभा के गुप्त सूत्रधार थे—सनातन धर्म को पुनः प्रतिष्ठित करके ही दम लेंगे। मनुष्य जाय चूल्हे-भाड़ में, इन्हें अपने धर्ममत का डिंडिम पीटना है। एक की पीठ पर राज्य-शक्ति है और दूसरे की हथेली में प्रजा का विद्रोह! विरतिवज्र का बौद्ध से वैष्णव होना ही मानो संसार की सबसे बड़ी घटना है! इस जय-पराजय की प्रतिद्वन्द्विता में मनुष्य का चाहे सत्यानाश ही क्यों न हो जाय। परन्तु मैं पूछती हूँ आर्य, इसमें किसका पक्ष ग्रहणीय है? महाराजाधिराज की ओर से ही क्या इस वह्नि-शिखा में ईंधन डालने का कार्य पहले नहीं हुआ है? आप नहीं जानते आर्य, इसका सूत्रपात बहुत पहले से हो चुका है। अब आर्य विरतिवज्र ने नये धर्म-मत में दीक्षा ली, तो सहसा स्थाण्वीश्वर में धार्मिक उत्तेजना प्रबल हो गयी। विद्वानों के अनुरोध से और नगर-सेठों के प्रसाद से विशाल पटवास बनाया गया और वहाँ मेरे गुरु को निमन्त्रित किया गया। गुरु का सिद्धान्त है कि वे पापी से पापी को भी अपनी बात सुनाने में नहीं हिचकते। वे सहज ही मान गये। परन्तु आर्य विरतिवज्र ने बाहर आना पसन्द नहीं किया। गुरु के अनुरोध पर उन्होंने सिर्फ मुझे वहाँ रहने की अनुमति दी। यह बराबर चेष्टा की गयी कि बौद्ध आचार्य वसुभूति से मेरे गुरु का संघर्ष करा दिया जाय; परन्तु वे महादेव के अवतार हैं, आर्य! उनको अपने भजन-पूजन से मतलब था। अपना काम समाप्त करने के पश्चात् वे एक क्षण भी नहीं रुकते थे और भजन आरम्भ होने के एक क्षण पूर्व वहाँ पधारते थे। यह सब थोड़े-से पण्डितमानी व्यक्तियों की ईर्ष्याग्नि है, जिसमें राजा जल रहा है, प्रजा जल रही है और वह समय भी आ गया है, जब समूचा आर्यावर्त्त अपने तरुणों, बालकों, अनाथों और वृद्धों के साथ जलकर भस्म हो जायेगा। जिस प्रजा ने विद्रोह किया है, वह अज्ञ है, अन्ध है, अभाजन है!"

सुचरिता ने दीर्घ निःश्वास लिया। क्षण-भर मौन रहने के बाद उसने फिर कहा, "दीर्घ साधना भी आर्या महामाया के भीतर के कल्मष को नहीं जला सकी। वस्तुतः कल्मष भी मनुष्य का अपना सत्य है। उसे स्वीकार करके ही वह सार्थक

हो सकता है। दबाने से वह मनुष्य को नष्ट कर देता है। समस्त गुण और अवगुण जब तक निर्विकार चित्त से नारायण को नहीं सौंप दिये जाते, तब तक वे भार-मात्र हैं।" मैंने सुचरिता के इस वाक्य को आधा ही समझा; परन्तु देर होने से अनर्थ हो सकता था इसलिए बीच में ही टोककर पूछा, "तो उपाय क्या है, देवि ?" सुचरिता ने सहज-भाव से कहा, "महाराजाधिराज के हाथों में ही उपाय है। वे हमें फिर से भजन-पूजन का हमारा जन्मजात अधिकार लौटा दें। यह मैं महाराज की दृष्टि से कह रही हूँ। मेरे लिए तो जैसी वह पूजा थी, वैसी यह भी है। मेरा अधिकार मुझसे कौन छीन सकता है।"

मैंने अवसर जानकर पूछा, "तो आप इस शर्त पर मेरे साथ चलेंगी न, देवि ?" सुचरिता ने उत्साह के साथ कहा, "अवश्य, आर्य !"

मैंने श्रद्धावनत ग्रीवा को और भी झुकाकर उस महीयसी देवबाला को प्रणाम किया। हाय महाकवि, तुमने चतुरस्रशोभी शरीर को नवयौवन के द्वारा इस प्रकार विभक्त होते देखा था, मानो तूलिका द्वारा उन्मीलित चित्र हो या सूर्य-किरणों से उद्भिन्न अरविन्द हो ?[1] परन्तु उस सर्वतोविसारि मन को कहाँ देखा, जो नवयौवन के प्रथम उद्रेक के साथ अखण्डानन्द सन्दोह परम ज्योति की दीप्ति से इतना भास्वर हो गया हो ? कौन कहता है, यौवन अन्ध और दुर्ललित है ? उसमें अपूर्व उन्नायक गुण भी तो हैं ! सुचरिता ने मुझे प्रणाम करते देखा, तो व्यस्त हो गयी, बोली, "आर्य, मुझे अपराधी बना रहे हैं !" और उस निगडबद्ध अवस्था में भी साष्टांग प्रणिपात करके उसने अपने अपराध का मार्जन किया ! उलाहने के स्वर में बोली, "मुझे लज्जित करने का आपने क्या कारण देखा, आर्य ! अभ्यास-दोष से कुछ अधिक बोलकर अपने को ज्ञानी दिखाने का प्रयत्न किया है, यही न ? क्षुद्रता का बन्धन बड़ा कठोर है आर्य, जल्दी छूटता नहीं। मेरे पतिदेव ने एक बार जो रटी बोलियों का बोलना बन्द किया, सो अभी तक बन्द ही किये हुए हैं, और मैं भाग्यहीना अब भी रटी बोली बोलती जा रही हूँ ! पर अनुताप भी क्या करूँ, मैं ऐसी ही हूँ, अच्छी या बुरी, निन्दिता या अवमानिता। मैं नारायण पर उत्सृष्ट पुष्पवृन्त के समान गन्धहीन होकर भी सार्थक ही हूँ। मेरा मानापराध मन में न लाना, आर्य !" मैंने नम्रतापूर्वक उत्तर दिया, "तुम सार्थक हो, देवि ! तुम्हारा शरीर और मन सार्थक है, तुम्हारा ज्ञान और वाणी सार्थक है, सबसे बढ़कर तुम्हारा प्रेम सार्थक है। तुमको प्रणाम करके भवसागर में निर्लक्ष्य बहनेवाले अकर्मा जीव भी सार्थक होंगे। तुम सतीत्व की मर्यादा हो, पातिव्रत्य की काष्ठा हो, स्त्री-धर्म का अलंकार हो।" सुचरिता ने बीच में ही टोककर हँसते हुए कहा, "तुम तो कविता करने लगे, आर्य !"

1. कालिदास के निम्नलिखित श्लोक से तुलनीय—
उन्मीलितं तूलिकयेव चित्रं सूर्यांशुभिर्भिन्नमिवारविन्दम् ।
बभूव तस्याश्चतुरस्रशोभि वपुर्विभक्तं नवयौवनेन ॥
—कुमारसम्भव, 1-32

मैंने इसका व्यंग्यार्थ समझा। विरतिवज्र की काल्पनिक मूर्त्ति रचकर मैंने सुचरिता के स्नेह-मृदुल हृदय में जो आनन्द उल्लसित कर दिया था, उसकी स्मृति उसके मन से हटी नहीं थी। उसे आशंका हुई कि मैं फिर कहीं काल्पनिक सौन्दर्य-मूर्त्ति गढ़ना न शुरू कर दूँ। जिसे वह मनोजन्मा देवता कहती रही, उसे मैं बराबर जड़ शरीर-धर्म समझता रहा। मेरा भ्रम उसके इस वक्तव्य से टूट गया कि विरतिवज्र जैसे पहले थे, वैसे अब भी हैं। मैं कितने निचले स्तर में बैठकर उसकी बात सुनता रहा। और अब जब उसके सतीत्व का गुणगान करने जा रहा हूँ, तब भी क्या उस अपूर्व शक्तिशाली मनोजन्मा देवता को पहचान सका हूँ, जिसने क्षण-भर में दो हृदयों को एकत्र बाँध दिया था। मैंने झेंप मिटाने के लिए हँसते हुए कहा, "ना देवि, मैं अपनी पहुँच के भीतर की सचाई की ही बात कर रहा हूँ। पर एक बात मैं बताऊँ, तो तुम्हें आश्चर्य हुए बिना नहीं रहेगा।" सुचरिता ने उत्सुकतापूर्वक कहा, "क्या, आर्य?" सुचरिता के सहज-मनोहर मुख के औत्सुक्य को देर तक बढ़ाते हुए मैंने धीरे-से कहा, "मैं अच्छा भविष्यवक्ता हूँ। काशी जनपद का वह ब्राह्मण युवा जिसने तुम्हारे चित्त में अकारण औत्सुक्य भर दिया था, मैं ही हूँ।" सुचरिता के नयनपक्ष्म आश्चर्य के मारे जैसे आकाश में उड़ गये—उसकी टकटकी जो लगी, सो लगी ही रह गयी। देर तक वह इसी अवस्था में रही। फिर सम्हलकर उसने मूर्धा-निषक्त निगड़बद्ध करतलों को भूमि पर रखकर भक्तिपूर्वक प्रणाम किया।

पंचदश उच्छ्वास

भद्रेश्वर दुर्ग का समीपवर्त्ती दुर्गम शरकान्तार दिखायी पड़ा। रजत-पट्ट के समान दूर तक चमकते हुए बालुका-प्रान्तर को आच्छादित करके वह सूना शरकान्तार इस प्रकार झूम रहा था मानो ज्वलन्त धरित्री की सहस्र-सहस्र जिह्वाएँ आकाश तक फैल जाने की तैयारी कर रही हों। रह-रहकर वात्यालुंठित बालुका-राशि उद्धूम अग्नि-कुण्ड की भाँति चित्त को भयभ्रान्त कर रही थी—नीचे से ऊपर तक कहीं भी शीतलता का नाम नहीं था। मैं निरन्तर कई दिनों से घोड़े की पीठ पर सवार भागा आ रहा हूँ। एक बार भट्टिनी का चिन्ताकातर मुख मन में उदय होता है, दूसरी बार सुचरिता का प्रसन्न रूप। एक भद्रेश्वर की ओर खींच रहा है, दूसरा स्थाण्वीश्वर की ओर। मुझे स्थाण्वीश्वर की घटनाएँ दर्पण में प्रतिभात छाया की भाँति सर्वत्र स्पष्ट दिखायी दे रही हैं। सुचरिता को

कारागार से छुड़ाकर जब मैं वेंकटेश भट्ट के पास ले आया तो वहाँ अवधूतपाद पहले से ही विराजमान थे और महामाया भी उपस्थित थीं। वह अपूर्व दृश्य था। सुचरिता चुपचाप प्रणाम करके एक कोने में बैठ गयी, मैंने भी अनुकरण किया। देर तक वहाँ निस्तब्धता का राज्य रहा। अवधूतपाद ने महामाया को लक्ष्य करके कुछ थोड़े-से शब्द कहे थे। मैं जब-जब उन शब्दों को स्मरण करता हूँ तब-तब सारा शरीर रोमांचित हो उठता है। न जाने क्या घटनेवाला है! बाहर सब-कुछ जल रहा है, काल देवता की विकट भृकुटियाँ किसी को छोड़ना नहीं चाहतीं। भद्रेश्वर के सौध-शिखरों को देखकर भट्टिनी की चिन्ता ही मेरे चित्त में प्रधान हो उठी। आज दीर्घ काल के बाद भट्टिनी को देख सकूँगा। परन्तु मुझे राजकार्य भी करना है। यद्यपि हृदय भट्टिनी की ओर ही पहले जाने को उतावला हो रहा था तथापि मैंने पहले लोरिकदेव से निवृत्त हो लेना ही उचित समझा। भद्रेश्वर के सौध-शिखर दिखायी दिये लेकिन मेरे लिए वे किसी अदृश्य देवता की अंगुलियों के ही समान थे। वे सब भट्टिनी को ही दिखा रहे थे। इस चिलकती धूप में, झनझनाते हुए शरकान्तार में वात्यालोल तप्त वायु में भी भट्टिनी का स्मरण आते ही हृदय में एक प्रकार की शीतलता अनुभूत हुए बिना न रही, जैसे वहाँ कोई कल्पलता उग आयी हो, चन्द्रमरीचियाँ अंकुरित हो गयी हों, चन्दनलता पल्लवित हो उठी हो। मेरा सम्पूर्ण शरीर उद्भिन्न-केसर कदम्ब-पुष्प की भाँति रोमांचित हो आया। सामने क्षीणधारा महासरयू दिखायी पड़ी।

महासरयू में स्नान करके मैं सीधे लोरिकदेव के पास गया। मुझे देखकर उस सहृदय आभीर सामन्त की आँखों में आँसू आ गये। बड़े आदर के साथ उन्होंने मुझे प्रणाम किया और कुशल पूछा। भट्टिनी का कुशल-संवाद भी उन्होंने उसी प्रेम और आदर के साथ सुनाया। उनकी वाणी गद्गद हो गयी थी। बोले, "भट्टिनी इस वन्ध्य भव-कानन की कल्पलता है, आर्य! ऐसा देव-दुर्लभ स्वभाव न जाने किस तपस्या का फल है। प्रीत हूँ, कृतज्ञ हूँ, कनावड़ा हूँ, जो तुमने उन्हें यहाँ रहने दिया था। जाओ, वे तुम्हें देखकर बहुत प्रसन्न होंगी। उनकी आँखें दीर्घकाल से उपोषित हैं, उन्हें दर्शन दो।" मैंने विनीत भाव से आभीर सामन्त के प्रति कृतज्ञता प्रकट की और उनकी अनुमति पाकर महाराजाधिराज का पत्र उन्हें दिया। क्षण-भर तक वे आश्चर्य के साथ मेरी ओर देखते रहे। फिर धीरे-से बोले, "अभी जाओ!" इस प्रकार लोरिकदेव के पास पत्र पहुँचा देने के बाद मैं तुरन्त भट्टिनी के पास गया। लोरिकदेव स्वयं पढ़ना नहीं जानते थे। उन्होंने पत्र रख लिया और तत्काल अपने मन्त्री को बुलवाया। मैंने छुट्टी ली।

इधर भट्टिनी ने महारानी राज्यश्री का पत्र पढ़कर केवल एक बार मेरी ओर करुणदृष्टि से देखा और फिर सिर झुका लिया। उनके बन्धुजीव पुष्प के समान लाल-लाल अधर क्षण-भर में आतप-म्लान केतक-पुष्प के समान फीके पड़ गये और बड़ी-बड़ी मनोहर आँखें भीगे हुए खंजन-शावक की भाँति हतचेष्ट हो गयीं। बहुत दिनों के बाद मुझे देखकर जो सहज आनन्दधारा उनकी समूची अंगयष्टि

को घेरकर लहरा उठी थी, वह एकाएक शान्त हो गयी। मानो उत्तरंगित आनन्द सिन्धु अचानक हिम-झंझा के हिलोर में पड़कर हिम हो गया हो। उनका उत्तरोष्ठ स्फुरित होकर रह गया, भाल-पट्ट ईषत् कुंचित होकर शान्त हो गया और चिबुक-देश ईषत्-स्पन्दित होकर सारे घर को एक प्रकार की करुण-मनोहर शोभा से आर्द्र कर गया। मुझे यह समझने में बिल्कुल देर नहीं लगी कि कोई बड़ा अपराध मुझसे जरूर हो गया है। मेरा सारा शरीर साध्वसजन्य पसीने से तर हो गया; मैं अपराधी की भाँति, हेय की भाँति, विवृत की भाँति उनके सामने कर्त्तव्यमूढ़ होकर ठिठक रहा। भट्टिनी को मेरे ऊपर दया आयी, वे अपने-आपको सँभालने का प्रयत्न करने लगीं। इसी समय निपुणिका आ गयी। निपुणिका अब भी दुर्बल थी, उसका शरीर पीला पड़ गया था। मेरे आने के समाचार से उस पाण्डु-दुर्बल शरीर में आनन्द का संचार हुआ था। स्पष्ट ही वह बहुत-कुछ सुनने की आशा लेकर आयी थी। परन्तु भट्टिनी की और मेरी अवस्था देखकर वह भी ठिठक गयी। धीरे-धीरे वह भट्टिनी की ओर अग्रसर हुई। मुझे उसने चुपचाप प्रणाम निवेदन किया और भट्टिनी के पास पड़ी हुई रजत-पटोलिका का पत्र देखने लगी। उसकी जिज्ञासा शान्त करने के लिए मैंने संक्षेप में पत्र का इतिहास कह सुनाया। निपुणिका के मुख पर नाना भाव आये और चले गये। मेरी बात समाप्त होते-न-होते वह क्रुद्ध नागिनी की भाँति फुफकार उठी। उसकी आँखों से मानो अग्नि-स्फुलिंग की धारा ही उमड़ पड़ी। वह एक ही साँस में न जाने क्या-क्या कह गयी। अन्त में पादाहत सिंहिनी की भाँति गरजकर अपना कन्धा झाड़ते हुए उसने कहा, "धिक्कार है भट्ट, तुम कैसे भट्टिनी का अपमान करने पर राजी हो गये! कान्य-कुब्ज का लम्पट शरण्य राजा क्या भट्टिनी के सेवक को अपना सभासद बनाने की स्पर्धा रखता है? किस बुद्धि ने तुम्हें मौखरियों की रानी का निमन्त्रण ढोने को उत्साहित किया? धिक्कार है भट्ट, तुम अत्यन्त सहज बात भी नहीं समझ सके? क्या इस पत्र को चिथड़े कर फेंक देने लायक शक्ति भी तुम्हें नहीं थी?"—कहते-कहते भावावेश में वह सचमुच ही उस पत्र को चिथड़ने लगी। उसकी अंगुलियाँ इतनी तेजी से चल रही थीं मानो जल्दी-से-जल्दी वे मौखरियों के प्रत्येक वंशधर को रगड़ देना चाहती हों। भट्टिनी ने निपुणिका को धीरे-धीरे अपनी ओर खींच लिया। वे बड़े प्रेम से उसके ललाट पर हाथ फेरती हुई बोलीं, "ना बहन, ऐसा भी कहते हैं! भट्ट हमारे अभिभावक हैं। उनको सब करने का अधिकार है। हमारे मंगल के लिए और सारे देश के मंगल के लिए उन्होंने जो कुछ भी किया है वह हमें मान्य होना चाहिए। तू अपनी भट्टिनी को इतना क्या समझती है बहन! छिः, इतना उत्तेजित हुआ जाता है!" निपुणिका भट्टिनी की गोद में अवसन्न होकर गिर पड़ी, उसकी आँखों से अविरल अश्रुधारा झड़कर गण्डस्थल को धोने लगी।

अब भट्टिनी मेरी ओर फिरीं। उन्होंने पहले से भी अधिक करुणाभरी दृष्टि से मुझे देखा। बोलीं, "निपुणिका का अपराध क्षमा करना भट्ट, यह बहुत दुर्बल

हो गयी है, सहज ही उत्तेजित हो जाती है, इसका स्नायुमण्डल बहुत कमजोर हो गया है।" कुछ देर तक वे निपुणिका के ललाट पर हाथ फेरती रहीं, ऐसा जान पड़ता था कि राहु-ग्रास से निकले हुए चन्द्र-मण्डल पर कल्पलता किसलय-सुधा का लेप कर रही हो। निपुणिका धीरे-धीरे अवसन्न ही होती गयी, उसकी आँखें बन्द हो गयीं, ऐसा जान पड़ा कि वह एकदम सो गयी। भट्टिनी उसके ललाट पर हाथ फेरते-फेरते कहने लगीं—"आजकल ऐसा ही हो रहा है। उत्तेजित होती है और अवसन्न होकर गिर जाती है। अच्छा भट्ट, महामाया माता से तुमने इसकी अवस्था बतायी थी?" मैं अब तक लज्जा के समुद्र में डूबता-उतराता अपने को हतबुद्धि पा रहा था। भट्टिनी ने चतुरतापूर्वक मेरा ध्यान दूसरी ओर खींचा। मुझे वह औषधि याद आयी जिसे अपराजितापुष्प के रस में मिलाकर निपुणिका को देने के लिए अवधूतपाद ने दिया था। मैंने औषध भट्टिनी को दे दिया, परन्तु साहस-पूर्वक आँख उठाकर उनकी ओर देख नहीं सका। भट्टिनी मेरी अवस्था देखकर बहुत कष्ट पा रही थीं। मेरा चित्त अन्यत्र नियोजित करने के उद्देश्य से ही वे नाना भाव से निपुणिका की सेवा करने का आदेश देने लगीं। शय्या ठीक की गयी, व्यजन किया गया, शीतल जल से उपचार किया गया और अन्त में निपुणिका को चुपचाप वहीं छोड़कर आँगन में चलने का निश्चय किया गया। मैं चुपचाप भट्टिनी का आदेश पालन करता गया परन्तु एक क्षण के लिए भी निपुणिका के कड़े धिक्कार-वाक्यों की चोट को नहीं भुला सका। मुझे अपना प्रमाद स्पष्ट समझ में आ रहा था। मैंने यह क्या किया! क्यों मेरी बुद्धि इतनी भोथी हो गयी थी! हाय अभागे बण्ड, तुमने भट्टिनी का सम्मान बचाने के लिए अपने को विपत्ति में क्यों नहीं झोंक दिया? जिस समय मदगर्वित कान्यकुब्जेश्वर ने तुम्हें लम्पट कहा था, उस समय तुमने भट्टिनी के उपयुक्त उत्तर क्यों नहीं दिया? धिक् भाग्यहीन, धिक्! मौखरियों की रानी का निमन्त्रण तुम्हें कान्यकुब्जेश्वर के सामने ही पैरों से कुचल देना था। परन्तु मेरा सारा स्वाभिमान उस समय कहाँ चला गया था? हाय, मैंने भट्टिनी को अपमानित होने दिया है, मेरे पाप का कोई प्रायश्चित्त नहीं है! तुषाग्नि में जलने से भी यह पाप प्रशमित नहीं होगा।

आँगन में आकर भट्टिनी ने हँसने का प्रयत्न किया। वे दिखाना चाहती थीं कि उनके मन में कोई दुःख नहीं है, ग्लानि नहीं है, लज्जा नहीं है। उनके प्रफुल्ल कमल के समान मुख पर यह प्रयत्न-साधित हँसी बहुत मनोहर लगती थी। मेरा हृदय इस हँसी से और भी फटने लगा। आहा, इस देवदुर्लभ महिमा को मैंने लांछित होने दिया है! मैंने इस कमल-कोमल हृदय पर आघात पहुँचने दिया है! मेरा हृदय गलकर इस देवी के चरणों पर ढरक जाने को व्याकुल हो गया। मेरा गला रुँध गया, वाक्-शक्ति लोप हो गयी, अविरल अश्रु-धारा से दृष्टि आच्छादित हो गयी, लज्जा और अनुताप से सारा शरीर दग्ध होने लगा। मुझे दिशाएँ शून्य-सी लगने लगीं। मैं स्थिर खड़ा नहीं रह सका, सिर घूम गया और मैं बैठ गया। भट्टिनी मेरे निकट आयीं; बड़े स्नेह से उन्होंने मेरे ललाट पर हाथ दिया, फिर

आवेगभरी भाषा में बोल उठीं—"तुम भी उत्तेजित होते हो, भट्ट? निपुणिका की बात से तुम इतने विचलित हो गये? उठो, देखो, तुम इस अपनी अभागी भट्टिनी की ओर देखो। तुमने कोई अपराध नहीं किया है। अगर तुम कान्यकुब्जेश्वर के सभासद हो गये तो इसमें मेरा अपमान कहाँ हुआ? क्यों व्यर्थ विचलित होते हो?" मेरी संज्ञा धीरे-धीरे लौट आयी। घुटनों के बल बैठकर मैं केवल इतना ही कह सका—"देवि, तुम सब क्षमा कर सकती हो, तुम सब भुला सकती हो, पर अभागा बाण कैसे शान्ति पा सकेगा?"

भट्टिनी के चेहरे पर एक विचित्र कातरता दिखायी दी। उनका वचन रुद्ध हो गया था, किन्तु आँखें बहुत कुछ कह रही थीं। उनका मुँह पीला पड़ गया था और फिर भी रह-रहकर उसमें इस प्रकार रोमांच हो आता था मानो भीगा हुआ कदम्ब-कोरक सूर्यातप में उभरता जा रहा हो। मैंने फिर व्याकुल होकर कहा, "देवि, मैं अनुताप के समुद्र में डूब रहा हूँ, लज्जा के महापंक में निमग्न हूँ, कर्त्तव्य मुझे नहीं सूझ रहा है। निपुणिका ठीक कहती है। मौखरियों का निमन्त्रण मुझे उसी समय पैर से कुचल देना चाहिए था। जिसे भट्टिनी का सेवक होने का गौरव प्राप्त हो उसे सम्राटों का सभासदपद नहीं शोभता। परन्तु देवि, मैं न जाने किस शक्ति के दुर्वार आक्रमण से हतबुद्धि हो गया था। मैं किस मुँह से अपना अपराध क्षमा कराऊँ?"

भट्टिनी अब अपने को रोक नहीं सकीं। उनका मुखमण्डल उदयगिरि के तटान्त-लग्न चन्द्र-मण्डल के समान लाल हो गया। बोलीं, "मैं ऐसा नहीं समझती, तुम कुमार कृष्ण के कृतज्ञता-पाश में बद्ध थे। तुमने जो कुछ किया है कुमार के अनुरोध से किया है। निपुणिका नहीं समझती, मैं समझती हूँ। क्यों तुम कुमार के कृतज्ञ हुए? मेरे ही लिए न? भट्ट, तुमको अपराधी समझने के पूर्व मेरा खण्ड-खण्ड उड़ जाना अच्छा है। तुमने मेरा अपमान कहीं भी नहीं होने दिया है। निपुणिका स्नायु-दुर्बलतावश अनाप-शनाप बक गयी है। तुम जो करोगे वही मेरे लिए विधि है। भट्ट, मुझे मुखरा बनने के दोष से बचाओ। विश्वास करो, तुम जो चाहोगे वही मेरे लिए धर्म होगा। उठो भट्ट, मुझे सम्हालो, मैं इतनी लज्जा का भार नहीं ढो सकूँगी।" क्षण-भर में मेरी जड़िमा दूर हो गयी। कुज्झटिका के हट जाने पर जिस प्रकार दिङ्मण्डल प्रसन्न हो जाता है, अन्धकार के दूर होने पर जिस प्रकार पूर्व दिगञ्चल निर्मल हो जाता है और मेघ-पटल के कट जाने पर जिस प्रकार शारदीय नभोमण्डल अकल्मष हो जाता है, उसी प्रकार मेरा मन प्रसन्न हो गया। भट्टिनी की आँखों में मैंने एक अपूर्व माधुरी देखी। मुझे ऐसा लगा कि मेरे अनेक जन्मान्तर कृतार्थ हो गये हैं। वह दृष्टि मुझे अभिनव रस से सींचती हुई-सी, स्नेह-धारा से प्लावित करती हुई-सी, एक अननुभूत जगत् में खींच ले आई। मैं ससाध्वस उठ खड़ा हुआ और केवल इतना ही कह सका—"देवि, भट्टिनी!" और मेरा कण्ठ बाष्प-गद्गद हो गया। सजल नयनों से मैंने साहसपूर्वक उनकी ओर देखा। वे कुछ बोलीं नहीं; सिर्फ एक करुण-मनोहर अपांग से मेरी ओर देखकर आँखें

झुका लीं।

उस समय भगवान् मरीचिमाली पश्चिम-सरोवर की ओर झुक गये थे, धरित्री से आकाश तक लाल किरणों का जाल बिछ गया था, भवन-दीर्घिकाओं के सारस झंकार-पूर्वक अपने-अपने नियत स्थान पर लौट रहे थे, क्रीड़ा मयूर वासयष्टियों की ओर उत्सुकतापूर्वक देखने लगे थे, जलहारिणी सुन्दरियों के नूपुर-विराव में मन्थरता की ध्वनि स्पष्ट होने लगी थी और नभोमण्डल से एक प्रकार की थकान धीरे-धीरे उतरकर सारे जगत् में व्याप्त होने लगी थी। भट्टिनी का मुख लज्जा से आरक्त हो उठा था, उनकी कपोल-पालि में एक विचित्र प्रकार का विकास दृष्टि-गोचर हो रहा था, उनके वक्रिम नयनपात में एक अद्भुत लचीलापन आ गया था। दीर्घकाल की संचित मनोवेदना दूर हो जाने से जो निर्मल आनन्द-धारा उस मनोरम मुख पर दौड़ना चाहती थी उसे सहज अनुभाव की तरंगों से बराबर टक-राना पड़ता था। आहा, भट्टिनी की वह शोभा देखते ही बनती थी। प्रफुल्ल दमनक-यष्टि के समान अंगलता अनुभाव और लज्जा के आघात-प्रत्याघात से इस प्रकार हिल रही थी मानो आकाश-गंगा के आवर्त्त में पड़ी हुई पारिजातलता हो। देर तक वे मेरी ओर ताक नहीं सकीं। फिर धीरे-धीरे जाकर एक स्थण्डिल-पीठिका पर बैठ गयीं। एक बार उन्होंने अपने सीमन्त को वासन्ती उत्तरीय के आँचल से ढकने का प्रयत्न किया और धीरे-धीरे मेरी ओर दृष्टि उठायी। वह दृष्टि बड़ी मर्म-भेदिनी थी। भट्टिनी ने एक बार फिर मुस्कराने की कोशिश की, किन्तु सफल नहीं हो सकीं। ऐसा जान पड़ा जैसे शारदीय नभोमण्डल में एकाएक विद्युच्छटा आविर्भूत होकर विलीन हो गयी, शोभा के समुद्र में केवल एक तरंग उठकर शान्त हो गयी। मैंने हाथ बाँधकर प्रश्न किया—"देवि, सेवक इस क्षमादान से कृतार्थ है, पर मन में फिर भी लज्जा की गाँठ अभी खुली नहीं है। यदि प्रसाद हो तो जानना चाहता हूँ कि महारानी राज्यश्री का पत्र पढ़कर आप उदास क्यों हो गयीं? सेवक पर कृपा-कोप सर्वदा उचित है। यदि मुझसे कोई अपराध नहीं हुआ है तो आपका मुख म्लान क्यों हो गया था?" भट्टिनी ने देर तक अर्थहीन दृष्टि से मुझे देखा, मानो उनका मन कहीं खो गया हो, मानो हृदय में ग्राहिका संवेदना अवशिष्ट ही न रही हो, मानो स्नेह का स्रोत सूख ही गया हो, मानो अन्तःस्पन्दन एकदम रुक गया हो। उनका लाल मुख क्षण-भर में पारिभद्र के गर्भ-पटल की भाँति पाण्डुर हो गया। मैं नयी आशंका से फिर सिहर उठा। किन्तु भट्टिनी ने फिर अपने को सम्हाल लिया। आँखें झुक गयीं, अधरोष्ठ स्पन्दित होकर रह गये, नासाग्र में ईषत् संकोच हुआ और अत्यन्त आर्द्र कण्ठस्वर से बोलीं, "मुझे अवधूतपाद की शरण में ले चलना। वे न हों तो मैं सुचरिता के घर रहूँगी।"

मुझे भट्टिनी के दोनों प्रस्तावों में से एक भी पसन्द नहीं आया। परन्तु इस समय प्रतिवाद करना उचित न समझकर मौन ही रह गया। भट्टिनी मेरे मनो-भाव को समझ गयीं। उन्होंने उठते हुए कहा, "अथवा जहाँ कहीं भी तुम्हें उचित जान पड़े। परन्तु मैं मौखरियों का या कान्यकुब्जेश्वर के राजवंश का आतिथ्य नहीं

स्वीकार कर सकती।"—इतना कहकर वे जल्दी से निपुणिका के पास चली गयीं। मैं वहीं खड़ा रह गया। उस समय दो घटी रात्रि बीत गयी होगी। घने अन्धकार से दिङ्मण्डल इस प्रकार अवलिप्त था जैसे किसी ने काले अञ्जन का प्रलेप लगा दिया हो। मेरे मन में अनेक चिन्ताएँ आ-आकर चली गयीं। मैं कर्त्तव्य निर्णय नहीं कर पा रहा था। इसी समय बाहर सहस्र-सहस्र कण्ठों का जय-निनाद सुनायी पड़ा। मैं ठीक समझ नहीं सका कि किस उत्सव का आयोजन हो रहा है। थोड़ा बाहर निकलकर समझ लूँ, यही सोचकर मैं चला कि भट्टिनी ने पुकारा। निपुणिका की संज्ञा लौट आयी थी। भट्टिनी उसे धीरे-धीरे प्यार से कुछ समझा रही थीं। वह रो रही थी। मुझे देखकर वह उठने लगी; पर भट्टिनी ने उसे उठने नहीं दिया। उसकी आँखें सहस्रधार होकर अपनी मनोव्यथा बहाने लगीं। मैंने निकट जाकर धीरे-से पूछा, "कैसा लग रहा है, निउनिया!" उत्तर में उसकी बड़ी-बड़ी आँखें और भी वेगपूर्वक झरने लगीं। भट्टिनी ने दुलार के साथ उसके ललाट पर हाथ फेरते हुए कहा, "प्रसन्न हो निउनिया, भट्ट सुचरिता का संवाद सुनायेंगे।" निपुणिका का चेहरा क्षण-भर में खिल गया। एकाएक उसमें विचित्र शक्ति आ गयी। बोली, "मिली थी, भट्ट, कैसी है वह भाग्यहीना?" मैंने कहा, "भाग्यहीना नहीं निउनिया, वह अखण्ड सौभाग्यवती है। उसका पति लौट आया है।" निपुणिका की आँखें आश्चर्य और आनन्द से विस्फारित हो गयीं। बोली, "सच!" मैंने रस लेते हुए कहा, "सच!"

इस समय जय-निनाद एकदम भट्टिनी के वास-गृह के द्वार पर आ गया। हमने ध्यान से सुना तो मालूम हुआ कि सैकड़ों स्त्री-पुरुष अत्यन्त उल्लास के साथ देवपुत्र तुवरमिलिन्द की जय-घोषणा कर रहे हैं। भट्टिनी ने कुछ आश्चर्य और जिज्ञासा से मेरी ओर देखा। इसी समय एक दासी ने आकर सूचना दी कि महासामन्त लोरिकदेव अपनी रानी और अनुचरों के साथ द्वार पर खड़े हैं, उनके हाथ में पूजा के उपकरण हैं, वे अविलम्ब भट्टिनी के दर्शन का प्रसाद पाना चाहते हैं। भट्टिनी एक क्षण के लिए गम्भीर हो गयीं। फिर उन्होंने स्वाभाविक स्वर में मुझे आदेश दिया—"देखो भट्ट, क्या बात है। मैं कुछ समझ नहीं रही हूँ!" मैंने तुरत आदेश पालन किया। द्वार पर आकर देखा तो आश्चर्य से स्तब्ध रह गया।

शत-शत उल्काओं के प्रकाश में एक विशाल जनसमूह नृत्य-गान और वाद्य से दिङ्मण्डल को मुखरित कर रहा था। सबके आगे घोड़े पर लोरिकदेव थे, उनके पीछे उसी प्रकार के घोड़ों पर मन्त्री और राज-पुरोहित थे। उनके पीछे पालकी पर लोरिकदेव की रानी थीं। और भी पीछे मल्लों का एक विशाल यूथ था। वे नाना भाव से व्यायाम-कौशल प्रदर्शन कर रहे थे। यह कौशल एक ओर जितना ही उद्दाम था, दूसरी ओर उतना ही संयत। एक ही साथ सैकड़ों मल्ल नाना शस्त्रों से सुसज्जित होकर विकट भंगिमाओं से अंग-त्रोटन, नाटन, उन्मोटन, विकुंचन और सन्तोलन की क्रिया दिखा रहे थे; उनके अविरल तालोट्टंकन से रह-रहकर दिगन्तर चटचटा उठते थे, धनुष्कांस्य और यष्टिकोशियों की झनझनाहट

से शून्य प्रकम्पित हो उठता था, उद्दाम अंग-विकुंचन से दर्शकों की आँखें चौंधिया जाती थीं, बार-बार ऐसा मालूम होता था कि एक का अंगमोटन दूसरे के विकुंचन से उलझ जायेगा; पर आश्चर्य तब होता था, जब यह सारा छन्दोहीन विश्रृंखल व्यायाम-व्यापार एक ही साथ बन्द हो जाता था, समस्त मल्ल युगपत् उत्तम्भित होकर एक अद्भुत विरति-निनाद करते थे और क्षणभर में जन-समूह के इस सिरे से उस सिरे तक देवपुत्र तुवरमिलिन्द का जयनिर्घोष मेदिनी को प्रकम्पित कर देता था। भट्टिनी के गृह-द्वार पर मल्लों का दल अपने व्यायाम में ज्यों-का-त्यों लगा रहने पर भी विचित्र संयम के साथ वर्त्तुलाकार खड़ा हो गया और बीच में स्त्री-पुरुषों के पचासों जोड़े उसी के समानान्तर वर्त्तुलाकार फैल गये। उनके हाथ में छोटे-छोटे काष्ठखण्ड थे। लोरिकदेव घोड़े से उतर गये। साथ ही मन्त्री और पुरोहित भी उतर गये। लोरिकदेव के इंगित पर सारा व्यापार रुक गया। उन्होंने मुझसे अत्यन्त विनयपूर्वक भट्टिनी को यहाँ ले आने का अनुरोध किया। बोले, "आर्य, देवपुत्र-नन्दिनी को जब तक हम नहीं जानते थे तब तक हमसे चाहे जितने भी अपराध हुए हों, क्षम्य हैं। अब हम जान गये हैं तो उनकी पूजा में एक क्षण का विलम्ब भी असह्य है। तुमने कान्यकुब्जेश्वर का पत्र मुझे दिया था। उस पत्र से सारी बातें मालूम हुईं। तुमसे हमें बहुत-कुछ कहना है; पर इस विधि में देर होना एकदम वाञ्छनीय नहीं है।" मैंने उनका सन्देशा भट्टिनी को कह सुनाया। वे कुछ क्षणों तक स्तब्ध-गम्भीर होकर सोचती रहीं। फिर बोलीं, "तुम क्या कहते हो, चलूँ?" बिना कुछ सोचे ही मेरे मुख से निकल गया—"अवश्य, देवि!"

भट्टिनी के आते ही लोरिकदेव ने तलवार खींचकर अभिवादन किया। साथ ही पुरोहित ने शंख-ध्वनि की। देखते-देखते देवपुत्र-नन्दिनी के जय-निनाद से दिशाएँ काँपने लगीं, भद्रेश्वर दुर्ग के सौध-कुहरों से प्रत्यावर्त्तित होकर वह ध्वनि और भी दीर्घायित हो गयी। इसी समय लोरिकदेव ने अपनी बत्तीस अंगुलों की विकराल असि को ऊपर उठाया, देखते-देखते मल्लों की लाठियाँ खड़खड़ा उठीं। वह एक विकट व्यापार था। उल्काएँ उस यष्टि-संघट्ट से काँप उठीं। ऐसा जान पड़ा कि प्रत्येक व्यक्ति उस विचित्र संघट्ट का आखेट हो गया है, परन्तु आश्चर्य यह था कि यद्यपि लाठियाँ अनवरत वेग के साथ घूम रही थीं; पर किसी को कोई आघात नहीं लगा, कोई भी विचलित नहीं हुआ, कोई भी स्थान-भ्रष्ट नहीं हुआ। यष्टिका-वर्तुल सिमटता गया, एक बार तो वह इतना छोटा हो गया कि लाठियों के सिवा और कुछ दिखायी ही नहीं देता था। एक क्षण में लाठियाँ तड़तड़ा उठीं और सारा जन-समूह भट्टिनी की जय-ध्वनि से मुखरित हो गया। मैंने आश्चर्य के साथ देखा कि लाठियों के दो मंच बन गये हैं। मुहूर्त्त-भर में कुमारियों ने शृंगार-रस से सराबोर द्विपदी-खण्ड का गान गाया, छोटे-छोटे काष्ठ-खण्ड खटखटा उठे, उस कर्कशता की पृष्ठभूमि में कुमारी-कण्ठ की सुरीली तान बहुत मीठी लग रही थी। कब मल्ल लोग फिर वर्त्तुलाकार खड़े हो गये और

कब मध्यवर्त्ती वर्त्तुल की कुमारियाँ सिमटकर एक हो गयीं, यह निपुण भाव से निरीक्षण करनेवालों की भी समझ में नहीं आया। यह नृत्यकौशल विचित्र था। जितना ही उत्ताल उतना ही तालानुग। कुमारियों ने विचित्र सुकुमार भंगिमा से भट्टिनी को घेर लिया, अत्यन्त लघु आयास से उन्हें उठाया और आगेवाले यष्टि-मंच पर बैठा दिया। फिर विकट रासक-नृत्य चलने लगा। ऐसा जान पड़ता था कि भूतों के उत्सव में पार्वती बैठी हुई हैं। भट्टिनी का मुख सहज गम्भीर बना रहा। एक क्षण के लिए भी उसमें कोई विकार नहीं आया। कण्टकी वृक्षों में खिली हुई चन्द्रमल्लिका की भाँति वह प्रफुल्ल-मनोहर वदन अपने में आप ही परिपूर्ण था। वह उद्दाम-मनोहर नृत्य चलता रहा, कांस्य-कोशी झनझनाते रहे और मुखर नूपुर-विराव के साथ काष्ठ-खण्डों की टंकार विचित्र ध्वनि से दिगन्तराल को मुखरित करती रही।

भट्टिनी के पीछेवाले मंच पर लोरिकदेव और उनकी रानी समासीन हुईं। एक बार फिर वह नृत्य रुका। पुरोहित ने शंख-ध्वनि की और मन्त्री ने धूप-दीप-नैवेद्य के साथ भट्टिनी को अर्घ्य दिया। लोरिकदेव ने रजत के मनोरम थाल में नारिकेल, पूगीफल और ताम्बूल-पत्र भट्टिनी को निवेदन किये। अत्यन्त गद्गद कण्ठ से उन्होंने कहा, "अनजान में जो उपेक्षा हुई है उसे क्षमा करना देवि, हमारा अहोभाग्य है कि अज्ञातप्रतिस्पर्द्धिविकट, प्रत्यन्तबाड़व, आर्यमानरक्षक तत्रभवान् देवपुत्र तुवरमिलिन्द की नयनतारा अत्रभवति ने मेरे इस गृह को पवित्र किया है। मेरे दश सहस्र मल्ल आपके ही सेवक हैं। लोरिकदेव गुण का दास है, सम्राटों की भृकुटियों की उसने बराबर उपेक्षा की है। या तो वह समुद्रगुप्त के वंशजों का आनुगत्य स्वीकार करेगा या स्वतन्त्र रहेगा। परन्तु देवि, आज गुप्तों का प्रतापानल निर्वापित है, मौखरियों का भुजबल अस्त हो गया है, धर्माचारहीन बौद्ध नरपति के निर्वीर्य शासन ने समूचे आर्यावर्त को विनाश की ओर धकेल दिया है। इस समय लोरिकदेव कहीं भी आशा की किरण नहीं देख रहा। देवि, घृणित म्लेच्छवाहिनी फिर से गिरिसंकट के उस पार एकत्र हो रही है। कौन है जो इस दुर्मद म्लेच्छवाहिनी को इस पवित्र भूमि में आने से रोक सके? कौन है जिसकी विशाल भुजाएँ इस समय गिरिसंकट के कपाट का कार्य करेंगी? कौन है जिसके प्रतापवह्नि की शिखा में दुर्दान्त म्लेच्छ शलभायमान होंगे? देवपुत्र ही ऐसे वीर हैं। आपके वियोग में वे कातर हो गये हैं, लोरिकदेव की मल्लवाहिनी की उल्लसित आनन्दध्वनि आज देवपुत्र को उद्बुद्ध करेगी। मुझे अत्रभवती की सेवा का अवसर प्राप्त हुआ है, इससे समूचे आर्यावर्त की सेवा का अवसर अनायास मिल गया है। देवि, मुझे इस अवसर का प्रसाद प्राप्त हो।" भट्टिनी की आँखें सजल हो आयीं। उन्होंने कातर दृष्टि से लोरिकदेव की ओर देखा। बोलीं, "आर्य मुझे लज्जा दे रहे हैं।" लोरिकदेव ने उन्हें विशेष बोलने का अवसर ही नहीं दिया। अंगुलि-संकेत के साथ-ही-साथ नाना वाद्यों के तुमुल निनाद के भीतर देवपुत्रनन्दिनी की जय-ध्वनि गूँज उठी। भट्टिनी ने प्रवाल-किसलय के समान

कोमल अंगुलियों से ताम्बूल-पत्र छू दिये। पुरोहित ने दीर्घदीर्घायित शंखध्वनि से दिगन्तर कँपा दिये। नृत्य-गीत-वाद्य की गगनविदारी ध्वनि के बीच यह अर्घ्यदान समाप्त हुआ। मल्ल लोग संयत गति से तितर-बितर हो गये। कुमारियों ने अभिराम भंगी से भट्टिनी को उठाया और देर तक नृत्य-गति से उस छोटे घर को प्रदीप्त कर रखा। जिस समय यह उत्सव समाप्त हुआ उस समय रात प्रायः आधी बीत चुकी थी।

लोरिकदेव के वक्तव्य का एक अंश निश्चय ही मुझे सुनाने के उद्देश्य से कहा गया था। उससे इतना तो बिल्कुल स्पष्ट था कि उन्होंने कान्यकुब्जेश्वर के सामन्तपद को अस्वीकार कर दिया है और स्वयं ही भट्टिनी की सेवा करने का संकल्प किया है। यह एक नयी समस्या है। आज मेरे ग्रह अप्रसन्न हैं। मैंने कुमार कृष्णवर्द्धन की कृतज्ञतावश अपने लिए और अपनी भट्टिनी के लिए अनेक उलझनें पैदा कर ली हैं, मुझे कोई मार्ग नहीं सूझ रहा है। राजनीति की कुटिल भुजंगी ने मुझे डँस लिया है, मेरा बचना अब असम्भव है। पर भट्टिनी क्या सामन्तों और महाराजाधिराजों की महत्त्वाकांक्षा की पूर्त्ति का साधन बनेंगी? यह असम्भव है। मुझे कुछ-न-कुछ रास्ता सोचना ही पड़ेगा। मैं द्वार के बाहर ही इस सोच में पड़ा बैठा रह गया। ऊपर वृश्चिक राशि पश्चिम आकाश में ढलने जा रही थी। उसके पार्श्व में मंगल-ग्रह की लाल तारिका दिखायी दे रही थी। वृश्चिक की पीठ पर मंगल-ग्रह एक विचित्र भय का भाव पैदा कर रहा था। कैसा विचित्र योग है! तो क्या संहिताओं में जो कहा है कि वृश्चिक राशि पर मंगल के संक्रमण से धरित्री रक्तकर्दम से पिच्छिल हो उठेगी, वह सत्य है? क्या फिर आर्यावर्त्त की पवित्र भूमि पर वृकों का विकराल ताण्डव शुरू होनेवाला है? मैंने मन-ही-मन नृसिंह भगवान् के उन विकराल नयनों का स्मरण किया, जिनके अवलोकनमात्र से असुर-राज का वक्षःस्थल फटकर पाटल-वर्ण हो गया था[1]! वृश्चिकस्थ मंगल उन्हीं भीषण नेत्रों की छाया है। शायद मेदिनी मानव-रक्त से पिच्छिल हो जायेगी, शस्यक्षेत्र कर्बुर भस्म में रूपान्तरित हो जायेंगे, जानपद-जन दस्युओं द्वारा आरोपित वह्नि-शिखा में होम हो जायेंगे, नर-कंकालों की राशियों से मार्ग दुर्लंघ्य हो उठेंगे—विकराल काल का ताण्डव आर्यावर्त्त को घृणित हाहाकार में पटक देगा।

हे भगवान्, क्या यह रक्तस्नान रोका नहीं जा सकता? क्या राजाओं और सामन्तों की हठधर्मिता की चक्की में इसका रहा-सहा उपाय भी पिस जायेगा? अवधूत अघोरभैरव ने महामाया को डाँटते हुए कहा था,—"तुम त्रिपुरभैरवी की लीला नहीं रोक सकतीं, तुम महाकाल का कुण्ठनृत्त नहीं थमा सकतीं, तुम

1. तुल.—

जयत्युपेन्द्रः स चकार दूरतो विभित्सया यः क्षणलब्धलक्ष्यया।
दृशैव कोपारुणया रिपोरुरःस्वयं भयाद्भिन्नमिवास्रपाटलम्॥

— कादम्बरी 13

शूलपाणि की मुण्डमाल की रचना में बाधा नही दे सकतीं, क्योंकि तुमने अपने को सम्पूर्ण रूप में त्रिपुरभैरवी के साथ एक नहीं कर दिया। जिस दिन तुम स्वयं उनसे अभिन्न हो जाओगी उसी दिन इस लीला को चाहे जिधर मोड़ सकती हो। भोली, त्रिपुरसुन्दरी को जितना दे दोगी उतना ही तुम्हारा अपना सत्य होगा। क्या सचमुच जनता के दुःख को तुमने अपना दुःख समझ लिया है ? मैं कहता हूँ महामाया, सत्यवादिनी बनो, प्रपंच छोड़ो। तुमने अमृत के पुत्रों को सम्बोधन किया है, क्या तुम स्वयं अमृत की पुत्री बन सकी हो ! तुमने जो कहा है वह करके तभी दिखा सकती हो जब तुम अपने-आपको निःशेष भाव से उनके चरणों में समर्पण कर दोगी। वाग्वीर होना अपना ही अपमान करना है। यदि त्रिपुरभैरवी की लीला को दूसरे रूप में देखना चाहती हो तो स्वयं त्रिपुरभैरवी बने बिना उपाय नहीं है। दुर्घटकाल आ रहा है !" महामाया ने अविकृत रहकर उत्तर दिया था—"आशीर्वाद लेने आयी हूँ।" अवधूत ने इस पर डपटकर कहा था—"मिथ्या है, पाखण्ड है यह ! तुम्हारे आशीर्वाद के लिए सारा जगत् व्याकुल है। तुम महाशक्ति की प्रतीक हो, मैं तुम्हें त्रिपुरभैरवी के रूप में देखकर कृतार्थ हूँगा। मैं सारे जीवन नारी की उपासना करता रहा हूँ। मेरी साधना अपूर्ण रह गयी है। तुम विशुद्ध नारी बनकर मेरा उद्धार करो – विशुद्ध नारी—त्रिपुरभैरवी !" महामाया ने गले में आँचल बाँधकर गुरु को प्रणाम किया और त्रिशूल उठाकर खड़ी हो गयीं। बोलीं, "आदेश शिरोधार्य है, गुरुदेव।" उनकी आँखों से विचित्र ज्योति झड़ने लगी, उनका मुखमण्डल मध्याह्न-सूर्य के समान जल उठा। गुरु ने मेरुदण्ड सीधा किया, भृकुटियाँ ऊपर उठायीं और देर तक उस तेजोमण्डित मुख में आँखें गड़ा रखीं। महामाया प्रतिमा की भाँति निश्चल खड़ी रहीं। गुरु ने जब आँखें हटायीं तो वे तेजी से एक ओर निकल गयीं। मैं अब भी जब उस दृश्य को स्मरण करता हूँ तो मेरे रोएँ खड़े हो जाते हैं। पर अब तक यह नहीं समझ सका कि अवधूतपाद के वाक्यों का अर्थ क्या है ? क्या धरित्री रक्तस्नान से बच जायेगी या और भी डूब जायेगी ? और क्या महामाया सचमुच त्रिपुरभैरवी बन जायेंगी ? क्या सचमुच महाकाल का कुण्ठनृत्त रुक जायेगा ? कहाँ हो त्रिपुर-सुन्दरी, इस घृणा और जुगुप्सा के जगत् को सुन्दर क्यों नहीं बना देतीं, क्या तुम विकराल ताण्डव से धरित्री पर महानाश का खेल ही खेलती रहोगी ? कहाँ है रुद्राणी, वह तुम्हारा दक्षिण मुख, वह सुकुमार भाव, वह शामक हास्य, वह मनोरम-भंगिमा, जो कातर जगत् को शान्ति दे सके, जो व्याकुल विश्व को सान्त्वना दे सके, जो धरती को रक्तस्नान से बचा सके। मैं इन्हीं विचारों में उलझा हुआ था कि सामने भट्टिनी आकर खड़ी हो गयीं। उनकी बड़ी-बड़ी आँखों में आँसू भरे हुए थे, कण्ठ वाष्प-गद्गद था और मुखमण्डल लाल आभा से आभासित था। तो क्या यही त्रिपुरसुन्दरी का दक्षिण मुख है ! दक्षिण मुख — जिसमें करुणा की धारा प्रवाहित हो रही है, अनुराग की आभा उल्लसित हो रही है, स्नेह की स्निग्धता चमक रही है ! आहा, भुवनमोहिनी का यही क्या वह रूप है जिसकी पूजा करने के

लिए अवधूत गुरु ने मुझे इतना सिखाया था। यह कुरंग के समान भीत-चपल नेत्र, शरच्चन्द्र के समान आह्लादकारक मुख, बिम्बफलों के समान आताम्र अधरोष्ठ, चन्दन-गन्ध से आमोद-मुदिर अंग, करुणा के अश्रु से सिक्त मनोहर दृष्टि जो अन्तःकरण को मोहित कर डालती है—यही तो भुवनमोहिनी का रूप है। गुरु ने ही मुझे वह ध्यान-मन्त्र सिखा दिया था—

कुरंगनेत्रां शरदिन्दुवक्त्रां विम्बाधरां चन्दनगन्धलिप्ताम्।
दृशा गलत्कारुणिकास्रयान्तः सम्मोहयन्तीं त्रिजगन्मनोज्ञाम्॥

हाय, इससे बढ़कर 'त्रिजगन्मनोज्ञा' शोभा क्या हो सकती है? कितनी अन्तःशामक दृष्टि है, कितनी अमृत-स्रावी वाग्धारा है, कैसा उदार चारित्र्य है, कैसी निर्मल आभा है! भुवनमोहिनी के इस रूप को जिसने देखा है उसके लिए कुछ भी देखना बाकी नहीं रह गया। मैं गद्गद भाव से भट्टिनी की ओर देखता ही रह गया। भट्टिनी ने अनुयोग के स्वर में कहा; "थके-माँदे आये, कुछ प्रसाद भी नहीं लिया। चलो भीतर चलें।" मैं चुपचाप मन्त्र-मुग्ध की भाँति भट्टिनी के पीछे-पीछे चल पड़ा। कहाँ खिंचा जा रहा हूँ!

षोडश उच्छ्वास

प्रातःकाल जब उठा तो दिन चढ़ आया था। प्रथम दर्शन निपुणिका का ही हुआ। वह सद्यःस्नान से निवृत्त होकर आयी थी—उसके केश तब भी आर्द्र थे। वे आपाण्डु-दुर्बल मुख के ऊपर इस प्रकार सुशोभित हो रहे थे, मानो प्रभातकालीन चन्द्रमण्डल के पीछे सजल जलधर लटके हों। श्वेत साड़ी से आवेष्टित उसकी तन्वी अंगलता प्रफुल्ल कामिनी-गुल्म के समान अभिराम दिखायी दे रही थी। यद्यपि उसका मुख पीला पड़ गया था, तथापि उसकी खञ्जनचटुल आँखें बड़ी मनोहर लग रही थीं। आज उसके अधरों पर स्वाभाविक हँसी खेल रही थी। मुझे उठते देख उसने बड़े आदर के साथ प्रणाम किया। मुझे कुछ भी बोलने का अवसर न देकर वह स्वयं ही बोल उठी—"तुमने मुझे क्षमा कर दिया है न, भट्ट? तुम महान् हो, मैं तुच्छ हूँ, तुमने अवश्य क्षमा कर दिया होगा। पर मैंने तुम्हें अब भी क्षमा नहीं किया। तुमने मौखरियों की रानी का निमन्त्रण ढोकर अपने को भी हीन किया है और भट्टिनी को भी। मुझसे एक का भी अपमान नहीं सहा जायेगा। परन्तु मुझे बड़ी ग्लानि इसलिए हो रही है कि मैंने तुम्हें आते ही कठोर वाक्य कहे। मैं होश में नहीं थी, आर्य! मेरा हृदय कमजोर हो गया है,

मैं कुछ भी सह नहीं सकती। परन्तु मैंने कल जो बातें कही थीं वह ठीक हैं।" निपुणिका की आँखों से आज अग्नि-स्फुलिंग के स्थान पर स्मितधारा झड़ रही थी, उसके चेहरे पर तेज के स्थान पर चपलता का वास था, वह प्रसन्न और अग्लान दिखायी दे रही थी। मैंने स्नेहपूर्वक कहा, "मुझसे प्रमाद हो गया है निउनिया, मैं रास्ता नहीं पा रहा हूँ। तू मुझे कर्त्तव्य बता। अब मेरी गलतियों के हिसाब से क्या लाभ है?" निपुणिका के मुख पर स्वाभाविक मधुरिमा फिर खेलने लगी। उसने मन्दस्मित के साथ कहा, "भूल तुम करो, रास्ता मैं बताऊँ?" मैंने रस लेते हुए कहा, "कोई नयी बात तो नहीं है निउनिया।" निपुणिका की आँखों में उल्लास का भाव दिखायी दिया, उसने हँसते हुए कहा, "जटिल वटु की याद है न!" और आँचल से मुँह ढककर देर तक रुद्ध हँसी से लोट-पोट होती रही। उसके आँचल पर वे मनोहर छरहरी अंगुलियाँ देर तक काँपती रहीं, जिनकी उपयोगिता देखकर ही मैंने निपुणिका को मण्डली में लिया था।

क्षणभर में मुझे विदिशा के जटिल वटु की याद आ गयी। वह नित्य मुझे तंग किया करता कि मैं उसे अपनी नाटक-मण्डली में ले लूँ। उसका ललाट प्रशस्त और मोटा था, आँखें दाड़िम फल-सी फटी हुई और लाल-लाल थीं, कण्ठ-स्वर कर्कश और तीव्र था। मुझे कोई भी चरित्र ऐसा नहीं मिल रहा था, जिसका अभिनय उससे कराऊँ। वह डटा ही रहा। मण्डली के सभी लोग उससे ऊब गये थे, केवल मेरे संकोच के कारण ही वे उसको सहते जा रहे थे। एक निपुणिका ही थी, जो उसे चिढ़ाती नहीं थी। केवल मेरी ओर देखकर ही वह अपना लोभ संवरण कर लेती। जटिल इस उदासीनता को अनुराग समझता। उसकी दाढ़ी सम्मार्जनी-शलाका के गुच्छ-सी लगती थी, मुख पर मूँछ इस प्रकार अस्त-व्यस्त होकर उगी थीं, मानो किसी चट्टान पर शर-गुल्म निकल आये हों। वह सदा रंगमंच पर उतरने के लिए कातर प्रार्थना जताया करता। एक दिन मेरी मण्डली अभिज्ञानशाकुन्तल का अभिनय करनेवाली थी। उस दिन नगरी के सभी प्रतिष्ठित नगरवासी आनेवाले थे। स्वयं युवराज भट्टारक के भी पधारने की बात थी। उस दिन मारीच की भूमिका में उतरनेवाला देवरात एकाएक बीमार पड़ गया। मैंने सोचा कि जटिल वटु को इस भूमिका में उतार दूँ। विशेष कुछ करना नहीं था, उसे दिनभर आँख मूँदकर चुपचाप बैठने का अभ्यास कराया। सायं सन्ध्या के बाद अभिनय आरम्भ हुआ। युवराज भट्टारक आ चुके थे। अभिनय बहुत सुन्दर हो रहा था। निपुणिका सानुमती की भूमिका में उतरी थी। उसकी मनोहर अंग-लता उस दिन मालती-कुसुम की अभिराम माला से बड़ी कमनीय लग रही थी। उसकी कवरी में लम्बित अशोक-पल्लव और कानों में झूलनेवाला आगण्ड-विलम्बित-केशर शिरीष-पुष्प उसकी शोभा को सौ-गुना बढ़ा रहे थे। वह उसी वेश में मत्तवारणी के ठीक पीछे खड़ी होकर अभिनय देख रही थी। अन्तिम अंक का अभिनय शुरू हुआ। मैं भी संयोगवश निपुणिका के पास ही खड़ा होकर अभिनय देखने लगा। जटिल वटु मारीच की भूमिका में मंच पर आया।

उसने अद्भुत् चेष्टाएँ शुरू कीं। रह-रहकर वह दर्शकों की ओर ताक लेता था, वह जान लेना चाहता था कि लोग उसका अभिनय पसन्द कर रहे हैं या नहीं। फिर वह पीछे फिरकर नेपथ्य की ओर भी ताक लेता। एक मुहूर्त्त भी वह स्थिर नहीं बैठ सका। मेरा सारा किया-कराया चौपट हुआ जा रहा था। सामाजिकों के चेहरों पर विनोद की हँसी मँडराने लगी! मैंने व्याकुल भाव से कहा, "सब चौपट हुआ निउनिया!" निपुणिका ने मुझे देखा तो एक क्षण के लिए चिन्तित हो गयी, फिर बोली, "कुछ नहीं बिगड़ा है, भट्ट, तुम मारीच की भूमिका में उतरने की तैयारी करो। मैं इसे सँभालती हूँ।" इतना कहकर वह तितली की तरह नाचती हुई रंग-मंच पर पहुँच गयी। उसने अपना बायाँ हाथ कटि-देश पर रखा और चंचल चारी के साथ उद्वर्त-नर्त्तन से रंगमंच को झंकृत कर दिया। मूर्ख जटिल उठकर खड़ा हो गया। निउनिया ने दाहिने हाथ से उसकी दाढ़ी पकड़ी और सप्रश्रय कण्ठ से कहा, "नागर मेरे नाचोगे नहीं?" क्षणभर में सारा वातावरण हास्यमय हो गया। जटिल वटु ने उचकना शुरू किया; पर निउनिया ने उसकी दाढ़ी छोड़ी नहीं। प्रत्येक उछल-कूद के साथ वह रहस्य-भरे भाव के वाक्य कहती और मनोहर भंगिमा से ताल देती। यह विचित्र प्रहसन देर तक चलता रहा। नाना कौशल से निपुणिका ने जटिल वटु को अपने पैरों पर गिराया, कटि पकड़कर नचाया, सिर के केशों को मंच पर रगड़वाया और इस प्रकार बिगड़े हुए दृश्य को मनोरम प्रहसन का रूप देकर जटिल को खींचती हुई रंगभूमि से निकल गयी। शत-शत नागरिक कण्ठ के उच्च अट्टहास्य और दीर्घदीर्घायित साधुवाद से रंगभूमि हिलने लगी। युवराज भट्टारक सहृदय थे। उन्हें सारी परिस्थिति समझ में आ गयी थी। उन्होंने अपने बहुमूल्य उत्तरीय के प्रसाद से निपुणिका को सम्मानित किया। बाद में इस अट्टहास्य की पृष्ठभूमि में मारीचाश्रम का शान्त सुखद दृश्य और भी चमक उठा। उस दिन निपुणिका ने मेरी लाज बचायी थी। उसी मनोरम दृश्य को याद करके आज निपुणिका की हँसी बाँध तोड़ देना चाहती थी। मुझसे भी हँसी रुकी नहीं। हँसी से लोट-पोट होता हुआ बोला, "हाँ निउनिया, भूल करता हूँ मैं और रास्ता निकालती है तू!" देर तक वह अपने ही विचारों के तरंगावर्त्त में डोलती रही। फिर एकाएक गम्भीर होकर बोली, "हँसी नहीं कर रही हूँ, भट्ट, मैं सचमुच रास्ता निकालने आयी हूँ। सुनो, मेरी बात मानो।"

निपुणिका यद्यपि गम्भीर हो गयी थी, पर अब भी उसकी कपोलपालि विकच पुण्डरीक की शोभा धारण किये हुई थी, अब भी उसके चंचल नयनों में सरसता छलक रही थी, अब भी उसका आँचल मुख पर छाया हुआ था, अब भी उसके उत्तरोष्ठ थोड़ा-थोड़ा काँप रहे थे। उसकी मधुर मूर्त्ति बड़ी मोहक जान पड़ती थी, मानो शरच्चन्द्रिका का जमा हुआ रूप हो, दुग्ध-समुद्र की सिमटी हुई आभा हो, सुधाभाण्ड का संयमित वैशद्य हो। उसने आँखें झुका लीं और इस प्रकार धीरे-धीरे बोलने लगी मानो अपने प्रत्येक शब्द को तौल-तौलकर देख लेती जा

रही हो। मेरी ओर उसने देर तक नहीं देखा। बोली, "भट्टिनी स्थाण्वीश्वर जायेंगी; परन्तु वे वहाँ किसी की अतिथि नहीं होंगी। उनका अपना स्वाधीन राज्य उनके साथ-साथ रहेगा। लोरिकदेव को तुम इस बात पर राजी कर लो कि उनकी कम-से-कम एक सहस्र मल्ल-सेना भट्टिनी की सेवा में नियुक्त रहे। स्थाण्वीश्वर में भट्टिनी उसी प्रकार रहेंगी जिस प्रकार स्वतन्त्र देश की रानी अपने राज्य में रहती है। यह भाग्यहीना भी साथ रहेगी। स्थाण्वीश्वर के महाराजाधिराज को भी यह अधिकार नहीं होगा कि भट्टिनी की सेविका की छाया भी छू सकें। अगर निउनिया को स्थाण्वीश्वर के व्यवहार में घसीटा गया तो वहाँ रक्त की नदी बह जायेगी। पहली बलि कान्यकुब्जेश्वर के सभापण्डित बाणभट्ट की ही होगी। तुम तैयार हो भट्ट, एक सामान्य दासी के लिए अपने प्राणों की बाजी लगा देने का साहस तुममें है?" इस बार उसने मेरी ओर आँख उठायी। स्वर कुछ और ऊँचा करके बोली, "भट्ट, किस अपराध पर कान्यकुब्ज का लम्पट-शरण्य राजा मुझे फाँसी देना चाहता है? मेरे उसी अपराध के बल पर वह देवपुत्र तुवर-मिलिन्द से मित्रता करना चाहता है? मेरी-जैसी असहाय अबलाओं को दण्ड देनेवाला उसका कठोर भुजदण्ड क्या म्लेच्छवाहिनी से अपनी प्रजाओं को नहीं बचा सकता? सचमुच तुम विश्वास करते हो, आर्य, कि इस निर्वीर्य शासन-तन्त्र से देवपुत्र की सेना का मिलाप होते ही आर्यावर्त्त रक्त-स्नान से बच जायेगा? आर्यावर्त के समाज के मूल में घुन लग गया है, उसे महानाश से कोई नहीं बचा सकता। मैं पूछती हूँ, आर्य, क्या छोटा सत्य बड़े सत्य का विरोधी होता है?" निपुणिका ने उत्तर पाने की आशा से मेरी ओर देखा। मैं इस प्रश्न का कोई प्रयोजन नहीं समझ सका, सहज भाव से उत्तर दिया—"सत्य अविरोधी होता है, ऐसा ही तो सुना है।" निपुणिका ने आश्वस्त होकर कहा, "आर्य, तुम्हीं मेरे देवता हो, तुम्हीं मेरे सत्य हो। तुम्हारे साथ दीर्घ काल तक रहने का सौभाग्य मुझे मिला है, मेरी ही शपथ करके तुम सत्य-सत्य कहो, मेरा कौन-सा ऐसा पाप-चरित्र है जिसके कारण मैं निदारुण दुःख की भट्ठी में आजीवन जलती रही? क्या स्त्री होना ही मेरे सारे अनर्थों की जड़ नहीं है? तुम इस छोटे-से सत्य के साथ राष्ट्र-जीवन के बड़े सत्य को अविरोधी पा रहे हो? क्या बृहत्तर सत्य के नाम पर मिथ्या का ताण्डव नहीं चल रहा है? कैसे आशा करते हो, आर्य, कि देवपुत्र का प्रबल भुज-दण्ड इस समाज को नाश के गर्त्त बचा लेगा? महाकालिका खुलकर इस देवभूमि पर नृत्य करेंगी, और करेंगी; महानाश के बवण्डर में यह सब-कुछ तूलखण्ड की भाँति उड़ जायेगा, विच्छिन्न अदृश्य खण्ड-पापों का प्रायश्चित्त असम्भव है। निपुणिका सामान्य अपमानिता नारी है। समाज की कुत्सित रुचि पर तिल-तिल करके उसने अपने को होमा है, उसकी यह वाणी हृदयाग्नि के अतल गह्वर से निकल रही है। तुम लोग आँधी को रोकने का व्यर्थ प्रयत्न कर रहे हो। पर आर्य, मेरी इच्छा है कि एक बार तुम सम्राटों की भृकुटियों की उपेक्षा करके इस महासत्य को ऊँचे सिंहासनों तक पहुँचा दो। यदि थोड़ा भी

वह स्वर वहाँ तक पहुँच जायेगा तो सम्भव है महाकाल की क्रोधाग्नि प्रशमित हो जाये। बड़ा दुःख है आर्य, इसी विराट् दैन्य के अन्तःस्पन्दनहीन ढूह पर यह साम्राज्य की नयनहारी रथयात्रा चली जा रही है। मैं इस ढूह की एक नगण्य कणिकामात्र हूँ। मुझे इस योग्य बना दो कि आप अपनी अग्नि से धधककर समूचे जंजाल को भस्म कर दूँ। मैं तुम्हारा करावलम्ब चाहती हूँ। नारी का जन्म पाकर केवल लांछना पाना ही सार नहीं है। तुमने ही मुझे आनन्द की ज्योतिष्कणिका दी थी। तुम्हीं मुझे तेज की चिनगारी दो, आर्य !"

मैं आश्चर्य से स्तब्ध होकर यह व्याख्यान सुन रहा था। यह क्या प्रलाप है? क्या फिर यह हतभागी स्नायु-दुर्बलतावश बकवास करने लगी है? अगर यह प्रलाप है तो ऐसा सत्यपूर्ण प्रलाप पहली बार सुन रहा हूँ। मेरे मर्मस्थल को बेधकर एक प्रश्न अन्तस्तल के असीम गाम्भीर्य में गूँजता रहा—क्या छोटा सत्य बड़े सत्य का विरोधी होता है? ऐसा ही तो देख रहा हूँ। सामान्य मनुष्य जिस कार्य के लिए लांछित होता है, उसी कार्य के लिए बड़े लोग सम्मानित होते हैं! कैसा घोर परिवर्तन हुआ है निपुणिका में! वह आज परिताप की ज्वलन्त उल्का बनी हुई है। क्या करेगी यह? अकेला चना क्या भाड़ फोड़ सकता है? समाज की अग्नि-शिखा तो नित्य ही व्यक्तियों की आहुति ले रही है; पर रास्ता क्या है? नारी से बढ़कर अनमोल रत्न और क्या हो सकता है; पर उससे अधिक दुर्दशा किसकी हो रही है? मुझसे निपुणिका क्या आशा रखती है? अवधूतपाद की साधना इसलिए अधूरी है कि उन्हें विशुद्ध नारी का सहयोग नहीं मिला और निपुणिका की बलिदानाकांक्षा इसलिए अपूर्ण है कि उसे पुरुष का करावलम्ब नहीं मिला! सत्य क्या है? मैंने स्पष्ट ही देखा कि निपुणिका की आँखों से अग्नि-स्फुलिंग झड़ने लगे हैं। क्या यह फिर मूर्च्छित होने जा रही है? मैं क्या उत्तर दूँ, यह सोच ही रहा था कि निपुणिका पर-कटे पक्षी की भाँति मेरे चरणों पर लोट गयी। मैं हाहाकार कर उठा। आवाज सुनकर भट्टिनी दौड़ आयीं। पूजा-वेदी से वह सीधे उठकर आयी थीं।

निपुणिका अपनी संज्ञाहीन अवस्था में भी कसकर मेरा पैर पकड़े रही। बड़ा कठोर बन्धन था वह। मैं भट्टिनी को देखकर साध्वसवश उठने लगा; पर उस बन्धन ने मेरी चेष्टा में बाधा दी। भट्टिनी ने करुण स्वर में कहा, "मत छुड़ाओ, भट्ट, उसे शान्ति मिल रही होगी!" मैं अर्द्धोत्थित अवस्था में ही रुक गया। भट्टिनी नीचे बैठ गयीं और उसके भीगे केशों में अपनी अंगुलियाँ डाल दीं। बड़े आयास से मैं भी नीचे बैठा। निउनिया के हाथ मेरे पैरों से उसी प्रकार कसे रहे। मैंने संक्षेप में भट्टिनी को निपुणिका के उत्तेजित वाक्यों का सार मर्म बताया। वे कुछ बोलीं नहीं। उसके अधोलम्बित ललाट को अपने किसलय-कोमल करतलों से दबाने लगीं। उनकी बड़ी-बड़ी आँखों में अश्रु-बिन्दु ढरक आये! भट्टिनी के नयनाम्बु से मेरा हृदय गलने लगा। क्या करूँ कि इन आँखों में कभी अश्रु दिखायी ही न दे। कैसे क्या कहूँ कि भट्टिनी का कोमल हृदय व्यथा-व्याकुल न हो सके। भट्टिनी ने

अपने आँचल से औषधि निकाली और बड़े सुकुमार भाव से उसकी आँखों और ललाट में प्रलेप करने लगीं। थोड़े उपचार के बाद निपुणिका की आँखें खुलीं। भट्टिनी को देखकर उसने धीरे-धीरे कातर भाव से कहा, "मुझे छोड़ तो नहीं दोगी, भट्टिनी? मैं कान्यकुब्ज के लम्पट-शरण्य राजा से नहीं डरती।" भट्टिनी ने स्नेहपूर्वक डाँटा—"छिः बहन, तुझे छोड़कर मैं जी सकती हूँ?" निपुणिका का पाण्डुर गण्ड-मण्डल दरविगलित अश्रुधारा से प्लावित हो गया।

निपुणिका फिर उठकर बैठ गयी। वह फिर बोलना चाहती थी; पर भट्टिनी ने बोलने नहीं दिया। देर तक वह सिर झुकाये भट्टिनी के पार्श्व में बैठी रही, देर तक उसके आर्द्र केशों में भट्टिनी की अंगुलियाँ उलझी रहीं, देर तक मैं अपने ही विचारों के ताने-बाने में जकड़ा रहा, देर तक वह स्तब्ध नीरवता उस घर में व्याप्त रही।

फिर निपुणिका ने ही भट्टिनी से कहा, "भीतर से बाहर तक जल रहा है, आर्ये! मुझे एक बात भट्ट से और कह लेने दो, मेरा अन्तस्तल धधक रहा है, मैं जल जाना चाहती हूँ, मेरा धूमायित होना समाप्त हो आया है।" भट्टिनी ने उसके मुख पर अंगुलि रखकर चुप कराते हुए कहा, "केवल एक वाक्य में तुम्हें अपना वक्तव्य समाप्त करना होगा।" निपुणिका ने निराश होकर कहा, "तो अभी नहीं कहूँगी।" भट्टिनी ने कहा, "यही ठीक है।" और उसे खींचकर भीतर ले गयीं। मैं चिन्ता-कातर होकर वहीं बैठा रह गया।

एक वृद्धा दासी ने आकर संवाद दिया कि भट्टिनी ने स्नान करने का निदेश दिया है, क्योंकि शीघ्र ही आभीरराज लोरिकदेव ने मुझसे मिलने की इच्छा प्रकट की है। मैं तुरत उठ खड़ा हुआ। उस पूर्वमध्याह्नकाल में ही धरित्री पर अंशुमाली की तीक्ष्ण किरणें उत्तप्त रजतशलाकाओं की भाँति बिछ गयी थीं, महासरयू के तट-प्रदेश को घेरकर दूर तक फैले हुए सैकत-पुलिन में दारुण ताप संचरित हो गया था, दूरस्थित अश्वत्थ वृक्ष पर सुनायी देनेवाले वन्य पारावतों के घूत्कार के सिवा कहीं से भी कोई शब्द नहीं आ रहा था, तृषार्त्त कृकलास (गिरगिट) शरमूल छोड़कर जल के सन्धान में व्यर्थ ही झुलस रहे थे, अत्यन्त क्षीणधारा महासरयू पारद-रेखा की भाँति दिखायी दे रही थी, धूसर आकाश-मण्डल ताण्डव-क्लान्त धूर्जटि की भस्माच्छादित जटा की भाँति दिगन्त तक फैला हुआ था और वायुमण्डल के प्रत्येक स्तर में झंझा का पूर्वाभास स्तब्ध रहकर विचित्र आशंका उत्पन्न कर रहा था। स्नानादि से निवृत्त होकर जब मैं लोरिकदेव की सभा में पहुँचा तो मध्याह्न का शंख बज चुका था। मुझे बताया गया कि लोरिकदेव ने भोजनोपरान्त अपराह्नकाल में अपने विश्राम-कक्ष में ही मुझसे मिलने का प्रसाद प्रकट किया है।

अपराह्नकाल में जब लोरिकदेव के विश्राम-कक्ष में पहुँचा तो मुझे बड़ा आश्चर्य हुआ। मैंने मन-ही-मन सोचा था—लोरिकदेव के प्रासाद के विशाल बहिःप्रकोष्ठ में शुक-सारिका, लाव-तित्तिर, कुक्कुट-मयूर आदि पक्षियों का कलरव

गूँज रहा होगा, गोमयोपलिप्त अजिरभूमि के सामनेवाले द्वार पर मालती-माला लटक रही होगी, पार्श्ववर्त्ती बलिवेदिकाओं के ऊपर अभिराम शालभंजिकाएँ न्यस्त या उत्कीर्ण होंगी, शयनकक्ष में स्यन्दन, देवदारु या हरिचन्दन की शय्या और असित की प्रतिशय्यिका होंगी जिनमें मांगलिक दन्तपत्र सुशोभित होंगे, शय्या के सिरहाने कूर्चस्थान पर उनके इष्टदेव की मनोहर मूर्त्ति सजी होगी, पास ही किसी वेदिका पर माल्यचन्दन और उपलेपन रखे होंगे, यदि वे कुछ अधिक शिल्प-विनोदी होंगे तो गजदन्त पर वीणा जरूर रखी होगी और उसे वलयाकार घेरकर कुरण्टक पुष्पों की माला भी लटक रही होगी। शय्या से जरा दूर हटकर कोई गन्धार देश का आस्तरण बिछा होगा और सहृदय बिट-विदूषकों के मनोरंजन के लिए ताम्बूल और सौगन्धिक पुटिका (इत्रदान), मातुलुंगत्वक् और सिक्थ-करण्डक (मोम की पिटारी) भी होंगे। वात्स्यायन ने सैकड़ों वर्ष पहले पाटलिपुत्र के नागरिकों की जीवन-चर्या को देखकर जो व्यवस्था सुझायी थी, वह आज समूचे भरतखण्ड के अभिजात-जनों का आदर्श बन गयी है। आर्यावर्त्त के रईसों की रुचि इसी आदर्श पर ढलती है। परन्तु लोरिकदेव का विश्राम-कक्ष एकदम भिन्न था। प्रस्तर-भित्तियों में गजदन्त के नाम पर कुछ लौह-कीलक थे जिन पर धनुष्कांस्य और मुद्गर रखे हुए थे। वीणा का तो वहाँ नाम-गन्ध भी नहीं था। लोरिकदेव की काष्ठशय्या पर ऊर्णास्तरण (कम्बल) बिछे हुए थे; न कहीं ताम्बूल था, न सौगन्धिक पुटिका और द्यूत-फलक। समूचा कक्ष उनकी विशाल बलिष्ठ देह के छन्द के साथ पूर्ण सामञ्जस्यमय था। चारों कोनों में धूपवर्त्तिकाएँ जल रही थीं और कूर्च-स्थान पर बाल-वासुदेव की गोवर्धनधारी मूर्त्ति के पाद-देश में कर्पूर दीपक दीप्त हो रहा था। सुरुचि उस घर में पूर्ण मात्रा में थी; पर सुकुमारता को जान-बूझकर दूर रखा गया था। मुझे देखकर लोरिकदेव बड़े प्रेम से उठे, आसन देकर सम्मानित किया और दुर्लभ गन्धराज पुष्पों का सुन्दर स्तवक उपहार में दिया। फिर स्वयं अपनी काष्ठ-शय्या पर आसीन हुए।

बिना किसी भूमिका के ही उन्होंने पूछा, "भट्ट, तुमने देवपुत्रनन्दिनी का परिचय मुझे न देकर कान्यकुब्जेश्वर को क्यों दिया?" मैंने भी बिना भूमिका के ही उत्तर दिया—"मैं भट्टिनी का विनीत सेवक हूँ। उनकी आज्ञा थी कि मैं किसी को उनका यथार्थ परिचय न बताऊँ। मैंने कान्यकुब्ज-नरेश को भी उनका कोई परिचय नहीं दिया। उन्हें कुमार कृष्णवर्द्धन से मालूम हुआ। कुमार को भट्टिनी का परिचय मालूम था। क्यों और कैसे उन्हें मालूम हुआ, यह मैं अभी नहीं बता सकता।"

लोरिकदेव की कुंचित भृकुटियों में सहज भाव आया, ललाट-देश की धनुषायित वलियाँ सरल हो आयीं, आकृष्ट गण्ड-कुञ्चिकाएँ तिरोहित हो गयीं, उनकी आँखों में सहज विश्वास का भाव लौट आया। थोड़ा रुक करके धीर-संयत भाषा में बोले, "देखो भट्ट, मेरी शिराओं में गुप्तों के अन्न से बना हुआ रक्त है, मैं अट्ठारह वर्ष की अवस्था से गुप्त-सेना का सैनिक रहा हूँ। मैंने सिन्धु और कुभा

के उस पार तक समुद्रगुप्त के गरुड़ध्वज को फहराया है ! मेरी अवस्था इस समय साठ से ऊपर हो गयी है। तुम क्या आशा रखते हो कि इस प्रौढ़ अवस्था में अपने अन्नदाताओं को दुर्बल देखकर कल के बनियों को राजाधिराज मान लूँ ? यह असम्भव है। अगर मुझे अधीनता माननी है तो वह गुप्तों की ही मान्य होगी। कान्यकुब्ज के राजा को मैं चरणाद्रि दुर्ग के पूर्व किसी प्रकार नहीं आने दूँगा।" उनकी आँखों में रोष का भाव प्रकट हुआ; किन्तु उन्होंने फिर अपने को सँभालकर कहना शुरू किया—"बड़ा विकट संवाद गिरिवर्त्म के उस पार से आया है। भट्ट, कान्यकुब्ज का नपुंसक शासन उस संकट को दूर नहीं कर सकता। देवपुत्र तुवरमिलिन्द से मित्रता स्थापित करनेमात्र से यह धर्माचारहीन शासन बलवान् नहीं हो जायेगा। हाय, इस समय गुप्तकुल में कोई शक्तिशाली बच्चा भी नहीं बच रहा। स्कन्दगुप्त के साथ ही गुप्तों का प्रतापानल शान्त हो गया है। योग्य से ही योग्य के मिलन से शक्ति उत्पन्न हो सकती है; भट्ट, तुम स्वप्न में भी यह विश्वास मन में न जमने दो कि अयोग्य राजा से मित्रता होने पर देवपुत्र तुवरमिलिन्द शक्तिशाली हो जायेंगे। देखो, मैं कूटनीति नहीं जानता, तुम लोगों ने नाना शास्त्रों के अभ्यास से जिस प्रकार अपनी बुद्धि शाणित की है वैसा करने का अवसर मुझे कभी मिला ही नहीं, मैंने घोड़े की पीठ पर ही विश्राम पाया है और जुझाऊ बाजों की गड़गड़ाहट में रात्रि-यापन किया है, मुझे नीतिपटु होने का गर्व एकदम नहीं है। मैं सहज बात को सहज ढंग से ही समझ पाता हूँ। सत्य और असत्य का मेल नहीं हो सकता। आर्यावर्त्त के समाज में अनेक स्तर हो गये हैं। यह भगवान् का बनाया विधान नहीं है। यह असत्य है। गिरिवर्त्म के उस पार से जो म्लेच्छ-वाहिनी आ रही है, उसने इस मिथ्या को कभी प्रश्रय नहीं दिया है। मैं अपनी आँखोंदेखी बात ही तुमसे कह रहा हूँ। प्रबल प्रतापी गुप्त-नरपतियों ने इस मिथ्या समाज-भेद के साथ उदात्त भावनाओं का समन्वय करना चाहा था। यह गलती थी। गोविन्दगुप्त ने इस रहस्य को समझा था, तुवरमिलिन्द ने भी समझा है; पर गुप्त सम्राट्गण इसे नहीं समझ सके। वे उच्छिन्न हो गये। यही होना था। आर्य गोविन्दगुप्त के परामर्श से ही मैंने अपनी इस आभीर-वाहिनी में स्तर-भेद नहीं होने दिया। मेरे दस सहस्र मल्ल भीतर से बाहर तक एक हैं। जब कभी गुप्त नरपतियों को म्लेच्छसेना से भिड़ना पड़ा है तभी यह आभीर-सेना उनके काम आयी है। मैं दीर्घ अनुभव के बाद कह रहा हूँ, भट्ट, देवपुत्र की सेना के साथ यदि किसी की मित्रता हो सकती है तो गुप्तों की इस आभीरसेना की ही हो सकती है। कान्यकुब्ज की सेना देवपुत्र के लिए बोझ ही सिद्ध होगी। तुम मेरी बात समझ रहे हो न, भट्ट ?"

मैंने विनीत भाव से सिर हिलाया। लोरिकदेव ने फिर कहा, "समूचा आर्यावर्त्त रक्तकर्दम से पिच्छिल होने जा रहा है, कान्यकुब्ज की कुटिल नीति इस समय इस देवभूमि को महानाश से नहीं बचा सकती। मैं किसी अभिमानवश कुछ नहीं कह रहा हूँ, समूचे देश के कल्याण के लिए तुम्हें सावधान कर देता हूँ। भट्टिनी

को कान्यकुब्ज-नरेश के हाथों कभी मत पड़ने देना।" इतना कहकर उन्होंने मेरी ओर प्रश्नभरी दृष्टि से देखा। मैंने नम्रतापूर्वक किन्तु दृढ़ता से उत्तर दिया—"आभीरराज, आपके स्पष्ट और उदार परामर्श के लिए अत्यन्त कृतज्ञ हूँ। मैंने सारा जीवन उच्छृंखल अनड्वान् की भाँति मस्ती में ही बिताया है। मुझे न कूटनीति से ही कोई परिचय है, न युद्ध-विग्रह से ही। मैं प्रमाद और परिस्थितिवश राजनीतिक दाँव-पेंच में फँस गया हूँ। परन्तु इतना आप विश्वास मानें कि मेरे हाथों से अब भट्टिनी को काल भी नहीं खींच सकता। भट्टिनी जहाँ भी रहेंगी, रानी होकर रहेंगी। आप अगर अपराध मन में न लावें तो आपके अन्तःपुर में भी मैं उन्हें स्वतन्त्र रानी ही मानता हूँ।" लोकरिदेव हँसे। उस हँसी का स्पष्ट तात्पर्य था कि तुम बहुत भोले हो। पर कुछ बोले नहीं। थोड़ी देर बाद मौन रहकर उन्होंने कहा, "मैंने अपने दस सहस्र मल्ल भट्टिनी की सेवा के लिए दे दिये हैं। वे उन्हें चाहे जिस प्रकार सेवा में नियुक्त कर सकती हैं। मैं चाहता हूँ कि वे ही पुरुषपुर तक देवपुत्रनन्दिनी को साथ लेकर जायें। इस प्रस्ताव में मेरा कोई निजी स्वार्थ नहीं है। अगर है तो सिर्फ इतना ही कि मैं गुप्तों के शत्रुओं के कन्धे पर इस पवित्र भूमि की रक्षा का भार नहीं देना चाहता। मैं उनके और किसी भी कार्य में हस्तक्षेप नहीं करना चाहता। गुप्त सम्राट् उनसे वचन हार चुके हैं। सोचकर देखो, भट्ट, सारे देश का कल्याण इसी में है या नहीं।"

मैं सचमुच सोच में पड़ गया। कुमार कृष्ण को मैं क्या उत्तर दूँगा? क्या यह सम्भव है कि कान्यकुब्ज की छाती चीरती हुई इतनी बड़ी सेना निकल जाये और संघर्ष न हो? और संघर्ष से क्या महानाश का मार्ग और भी प्रशस्त नहीं हो जाता? भट्टिनी का भविष्य भी क्या अनिश्चित नहीं हो जाता? लोरिकदेव सरल हैं; पर महाराजाधिराज के विषय में उन्हें बहुत भ्रान्त बातें बतायी गयी हैं। फिर साठ वर्षों का बद्ध वैर आसानी से शिथिल भी तो नहीं हो सकता। क्या उपाय है?

मैंने विनीत भाव से उत्तर दिया कि मुझे भट्टिनी की आज्ञा लेने का अवसर दिया जाये। लोरिकदेव ने प्रसन्नतापूर्वक अनुमति दे दी।

लोरिकदेव के विश्राम-कक्ष से जब बाहर निकला तो मेरा मस्तिष्क नाना चिन्ताओं से व्याकुल हो रहा था। मुझे स्पष्ट ही दिख रहा था कि आर्यावर्त्त की पवित्र देवभूमि नर-कंकालों से भरकर श्मशान होने जा रही है। इस महानाश को रोकने का जो अस्त्र विधाता ने संयोग और सौभाग्यवश मेरे हाथ में दे दिया है उसकी उपयोग-विधि से मैं एकदम अनभिज्ञ सिद्ध हो रहा हूँ। मुझे एक-एक करके बीती हुई घटनाएँ याद आने लगीं, निपुणिका का अचानक मिल जाना, छोटे महाराज के अन्तःपुर में स्त्री-वेश में भट्टिनी का उद्धार, भदन्त और अवधूत का संयोगवश मिलन और कुमार कृष्णवर्द्धन से परिचय। यह क्या सब पूर्वचिन्तित विधि-विधान है? इतने संयोग कैसे एकत्र हो गये? कितनी विचित्र बात है यह?

ऐसा जान पड़ता है कि यह किसी निपुण कवि की निबद्ध आख्यायिका हो। अवधूतपाद ने पहले ही दिन मेरे समूचे अस्तित्व को झकझोरकर कहा था कि भट्टिनी ही मेरी देवता हैं। आज घटना-चक्र ने मेरी सिद्धि को ही साधन बना दिया है। मुझे कहीं से कोई प्रकाश-रेखा नहीं दिखायी दे रही; पर सिद्धि को साधन समझना कच्चे चित्त की कच्ची कल्पना है। इसे रूप ग्रहण करने देना प्रमाद होगा। इससे चाहे सारे संसार का कल्याण हो जाये, मेरा सत्यानाश निश्चित है। एक ओर आर्यावर्त्त का कल्याण है, दूसरी ओर मेरा सत्यानाश। कौन-सा चुनूँ? मुझे अवधूत अघोरभैरव के वाक्य याद आये, उन्होंने विरतिवज्र से कहा था--"देखो विरति, सत्य अविभाज्य है। तुम्हारे बौद्ध दार्शनिकों ने संवृति-सत्य (व्यावहारिक सत्य) और परमार्थ-सत्य कहकर उसे विभक्त करने का दम्भ फैलाया है। मानो ये दोनों परस्पर विरुद्ध हों। जो मेरा सत्य है वह यदि वस्तुतः सत्य है तो वह सारे जगत् का सत्य है, व्यवहार का सत्य है, परमार्थ का सत्य है, त्रिकाल का सत्य है!" अवधूतपाद के इस कथन का क्या तात्पर्य हो सकता है? एक बात मुझे हस्तामलक की भाँति स्पष्ट दिखायी दे रही है। मैं अपने सत्य को ही आचरण में उतार सकता हूँ, सारे जगत् के कल्याण को मैं चाहूँ भी तो अपने भीतर उतार नहीं सकता। भट्टिनी को मैं राजनीति का खिलौना नहीं बनने दूँगा। भट्टिनी मेरी राजराजेश्वरी हैं, उनके सामने महाराजाधिराज श्रीहर्ष ही क्या और आभीर-राज लोरिकदेव ही क्या। मेरा कर्त्तव्य बस एक है। राजराजेश्वरी की अकुण्ठ सेवा। प्राण रहते मैं किसी को इस कर्त्तव्य में बाधक नहीं होने दूँगा। आज आभीरराज ने जो कहा है उससे मेरे कर्त्तव्य का क्या कहीं विरोध है? ऐसा तो नहीं दिखता। और कुमार कृष्णवर्द्धन ने जो कुछ कहा था उससे क्या मेरे कर्त्तव्य से कोई विरोध है? ऐसा भी तो नहीं दिखता। कुमार ने कहा था—"चाहे जैसे हो, भट्टिनी को यहाँ ले आओ।" मैं भट्टिनी को राजराजेश्वरी बनाकर ले चलूँगा, एक सहस्र आभीर-मल्ल उनकी सेवा में नियुक्त होंगे, जो उनके इंगित पर अपने प्राणों की आहुति दे देंगे—इसमें विरोध कहाँ है? भट्टिनी की सेना कान्यकुब्ज की छाती चीरती हुई निकल जायेगी, इसमें बाधा देनेवाला या तो मुझे मार डालेगा या मैं उसे मार डालूँगा। मेरे मर जाने पर भट्टिनी का क्या होगा? धिक् भण्ड बाण! फिर तू अपने को भट्टिनी का रक्षक समझने लगा! भट्टिनी तेरी सिद्धि है, तुझे उनकी सेवा के लिए प्राण उत्सर्ग करने का ही अधिकार है। मैं इसी प्रकार शत-शत चिन्ताओं में उलझा चला जा रहा था कि पीछे से गम्भीर कण्ठ से किसी ने सम्बोधन किया—"आर्य, हमें भूल ही गये!"

पीछे मुड़कर देखता हूँ तो मौखरि-वीर विग्रहवर्मा है। श्रद्धातिरेकवश उसने झुककर भूमि में मस्तक टिकाकर प्रणाम किया। मैंने आशीर्वाद देकर उसका और उसके सैनिकों का कुशल-संवाद पूछा—उसने यथोचित उत्तर देने के बाद कहा, "आर्य, आभीर-सेना के दस सहस्र मल्लों की ओर देखकर मौखरियों के दस सैनिकों की उपेक्षा नहीं होनी चाहिए। हम महारानी राज्यश्री के अकिंचन सेवक

हैं; पर यदि किसी ने आँख दिखायी तो हम उसका उचित उपचार जानते हैं। बड़ी कठिनता से हमारे सैनिक आपके निर्देश की प्रतीक्षा में अपने को रोके हुए हैं. नहीं तो जिस समय हमें यह समाचार मिला कि आभीरराज ने कान्यकुब्जेश्वर को अपशब्द कहे हैं, उसी समय यहाँ रक्त की नदी बह जाती। आर्य, हम मन्त्र और औषध से रुद्धवीर्य काल-सर्प की भाँति समय बिता रहे हैं। आदेश मिले और इन सर्पों की दस लोल जिह्वाएँ भद्रेश्वर के मदगर्वित सैन्यों को चाट जायें।" इतना कहकर विग्रहवर्मा ने कोश से अपनी विशाल तलवार खींच ली।

और बना! मेरे मस्तक पर श्रम-बिन्दु झलक आये। मैंने विग्रहवर्मा को शान्त करने के उद्देश्य से कहा, "हे नरव्याघ्र! इस समय छोटी-छोटी बातों में शक्ति अपचय करना उचित नहीं है। तुमने मौखरिगुरु आचार्य भर्वुपाद का शपथ-शप्त पत्र पढ़ा है न? दुरन्त म्लेच्छवाहिनी गिरिसंकट के उस पार एकत्र हो रही है, मौखरियों के वीर्य की परीक्षा वहीं होगी। तुम इस समय कान्यकुब्जेश्वर के निदेश से निखिल राज-राजेश्वरी देवपुत्र-नन्दिनी की सेवा में नियुक्त हो। जब तक तुम्हें फिर से अन्यत्र नियुक्त नहीं किया जाता तब तक तुम्हारा उनकी रक्षा के अतिरिक्त और कोई कर्त्तव्य नहीं है। आभीर-सेना इस कार्य में तुम्हारी सहायता ही तो करेगी। देखो नरवीर, आर्यावर्त्त को महानाश से बचाना है। बड़े उद्देश्य के लिए अपने को बलि दो; बलि देने का ऐसा अवसर नहीं मिलेगा।" विग्रहवर्मा ने झुककर प्रणाम किया। अपनी तलवार को कोश-बद्ध करते वह कहने लगे—"सबसे बड़ा उद्देश्य अन्नदाता की मान रक्षा है, आर्य! परन्तु तुम्हारा आदेश ही हमारा कर्त्तव्य है। केवल इतना भूल न जाना कि भट्टिनी की रक्षा का मुख्य भार हमारे ऊपर है।" विग्रहवर्मा प्रणाम करके चला गया।

उस समय आकाश का पश्चिमी दिगन्त लाल हो आया था, एकाध विच्छिन्न मेघ-पटल उस गाढ़ लालिमा से सर्वांग-लिप्त हो गये थे मानो महाकाल ने अपने अकुण्ठ इंगित से यह बताना चाहा हो कि आर्यावर्त्त के विच्छिन्न प्रयत्न इसी प्रकार रक्त-धारा में आमस्तक डूब जायेंगे। मज्जमान जरठ भास्कर की दो-चार किरणें दिगन्त के छोर तक फैल गयी थीं जो रक्तस्नान से सद्योविनिर्गता महाकालिका की नृत्यविकीर्ण पिंगल जटाओं का भ्रम उत्पन्न कर रही थीं; सारा आकाश उद्धूम अग्नि-कुण्ड की भाँति जल रहा था, वृक्षों की उच्च शिखाओं पर चिपकी हुई लाल आभा भयंकर आशंका उत्पन्न कर रही थी मानो ज्वाला के भय से भागनेवाली वनदेवियों के चरणालक्तक की ही लालिमा हो। धरती से आकाश तक फैली हुई यह लाल शोभा न जाने किस विकट भविष्य की सूचना दे रही है, त्रिपुरभैरवी की इस वाम लीला का साक्षी क्या मैं ही होने जा रहा हूँ? क्या होनेवाला है!

सप्तदश उच्छ्वास

निपुणिका के स्वास्थ्य की अवस्था देखकर मैं बहुत चिन्तित हो गया। मुझे उसके साथ बिताये हुए एक-एक दिन याद आने लगे। पहली बार जब वह मेरे पास आयी थी उस समय उसकी अवस्था कठिनाई से सोलह वर्ष की होगी। वह बहुत डरी हुई मालूम हो रही थी। मेरे सामने आने पर वह इस प्रकार भीत और लज्जित हुई कि न ताक ही सकी, न बोल ही सकी। मैंने उस दिन उससे कुछ बात नहीं की। उसे आश्रय देने में भय की आशंका थी; फिर भी मैंने उसे आश्रय दिया। वह बहुत रोती रही। मुझे उस पर इतनी दया आयी कि उस दिन रात-भर सो भी नहीं सका। वह वसन्त का मादक काल था, दिगन्त सहकार-मंजरी के केसर से मूर्च्छमान हो रहा था, मधुपान से छके हुए भ्रमर गली-गली घूम रहे थे, पुष्पों और पल्लवों के भार से वृक्ष और लताएँ लदी हुई थीं, मलयानिल के मन्द-मन्द झोंकों से लतागुल्मों के पुष्पस्तवक लहरा रहे थे, मदमत्त कोकिल अकारण ही लोकचित्त को औत्सुक्य से हिल्लोलित कर देते थे, वनभूमि लताओं के उन्मद-नर्त्तन से उल्लसित हो उठी थी, शोभा और सौहार्द की इसी पृष्ठभूमि में निपुणिका का कातर मुख दिखायी दिया। मेरा चित्त दिन-भर हाय-हाय करता रहा। क्या उमर थी उसकी! इसी सुकुमार अवस्था में न जाने वह कौन-सा मर्मन्तुद दुःख था जिसने इस कच्ची बालिका को ऐसा साहसिक कार्य करने को उद्बुद्ध किया। उस दिन मैंने पहली बार अनुभव किया कि मनुष्य के सामाजिक सम्बन्धों की जड़ में ही कहीं बहुत बड़ा दोष रह गया है। वह दोष क्या है? मैं बहुत सोचकर भी उसे नहीं समझ सका। निपुणिका ने बाद में भी बहुत कम बातें बतायीं। मैंने भी उतना जानकर ही सन्तोष करना उचित समझा जितना वह अनायास कह जाती। तबसे उसके साथ मेरा वैसा ही व्यवहार है। जब प्रसन्न होकर कुछ कहती है तो सुन लेता हूँ। अधिक पूछने का प्रयोजन भी नहीं होता, सार्थकता भी नहीं रहती। बड़े करुणाजनक संयोगों के बीच से मैंने यह अनुभव किया है कि स्त्री के दुःख इतने गम्भीर होते हैं कि उसके शब्द उसका दशमांश भी नहीं बता सकते। सहानुभूति के द्वारा ही उस मर्मवेदना का किंचित् आभास पाया जा सकता है। निपुणिका ने कल कहा था कि मेरी ही शपथ करके तुम सत्य-सत्य कहो आर्य, मेरा कौन-सा ऐसा पाप-चरित्र है जिसके कारण मैं आजीवन दुःख की निदारुण भट्ठी में जलती रही; क्या स्त्री होना ही मेरे सारे अनर्थों की जड़ नहीं है? इन शब्दों में कितना मर्मान्तिक दुःख है, वह मैं ही जानता हूँ। निपुणिका में इतने गुण हैं कि वह समाज और परिवार की पूजा का पात्र हो सकती थी, पर हुई नहीं। इतने दिनों से साथ हूँ, उसके चरित्र में मैंने कहीं कोई कलुष नहीं देखा। वह हँसमुख है, कृतज्ञ है, मोहिनी है, लीलावती है—ये क्या दोष हैं? मेरा चित्त कहता है कि दोष किसी और वस्तु में है, जो इन सारे सद्गुणों को दुर्गुण कहकर

व्याख्या करा देती है। वह वस्तु क्या है? निश्चय ही कोई बड़ा असत्य समाज में सत्य के नाम पर घर बना बैठा है। निपुणिका में सेवा-भाव इतना अधिक है कि मुझे आश्चर्य होता है। उसने मेरी सेवा इतने प्रकार से और इतनी मात्रा में की है कि मैं उसका प्रतिदान जन्म-जन्मान्तर में भी नहीं कर सकूँगा। निपुणिका ने स्वयं मुझे बताया था कि मेरे प्रति उसका मोह था, जो मेरे एक अविचारित हास से बुरी तरह आहत हुआ था। निपुणिका-जैसी सेवा-परायणा, चारुस्मिता, लीलावती ललना के प्रति जिस पुरुष की श्रद्धा और प्रीति उच्छ्वसित न हो उठे वह जड़ पाषाण-पिण्ड से अधिक मूल्य नहीं रखता। निपुणिका ने मुझे जिस दिन जड़ कहा था उस दिन उसका मोह क्या सचमुच कट चुका था? उसने पहले कभी भी अपना राग मेरी ओर प्रकट नहीं किया था; परन्तु उसकी प्रत्येक भाव-भंगी में, प्रत्येक सेवा में एक मौन उल्लास बराबर बताया करता कि इस क्रिया-कलाप की अत्यन्त गहराई में कोई और वस्तु है। आज भी वह वस्तु जहाँ-की-तहाँ है। केवल उसके ऊपरी सतह का फेन हट गया है। आज भी उसके हृदय-मन्दिर के अत्यन्त निभृत कक्ष में कोई देवता स्तब्ध बैठा है जो निश्चय ही मेरी मौन पूजा से ही सन्तुष्ट रहता है। मेरे मानस को निपुणिका के दर्शन ने एकदम उत्तरंग बनाया ही नहीं—ऐसा कहना असत्य होगा। मैंने उसकी-सी मानसी मूर्त्ति की कितनी आराधना की है, वह मेरा अन्तर्यामी ही जानता है; पर मैं अपनी सीमा को जानता हूँ, भगवान् ने मुझे रुक सकने की शक्ति दी है। हाय, निपुणिका का जीवन दुःख की भट्ठी में ही जलते कटा है। मैं उसकी क्या सेवा कर सका हूँ! आज मेरी ही प्राण-रक्षा के लिए उसने सम्मोहन के प्रतिप्रसव की बलि-वेदी पर अपने को होम दिया है। ऐसा लगता है कि भट्टिनी से उसने अपने पूर्व आकर्षण की बात कह दी है, नहीं तो भट्टिनी क्यों कहतीं कि अपना पैर मत छुड़ाओ, उसे शान्ति मिल रही होगी। छिः, कैसी लज्जा की बात है! मेरा मन कह रहा है कि निपुणिका का मोह अभी कटा नहीं है। कहीं कोई चिनगारी अब भी सुलगी हुई रह गयी है। हाय, मुग्धा ही है यह अबतक! और मैं? मैं जब अपना ही विश्लेषण करके देखता हूँ तो करतलगत आमलक-फल के समान स्पष्ट प्रतिभात होता है कि मेरी आराधना वन्ध्य रही है, इसमें कहीं फल-फूल का कोई चिह्न भी नहीं है। प्रत्येक कर्त्तव्य का कोई-न-कोई मानस उत्स होता है। कोई यश की लिप्सा से, कोई अर्थ की इच्छा से, कोई भक्ति की कामना से अपना कर्त्तव्य निर्धारित करता है। मैंने अपनी नाटक-मण्डली क्यों तोड़ दी? क्यों मैं छः वर्षों तक आवारा की तरह घूमता रहा? क्या मेरे इस कर्त्तव्य का कोई मानस उत्स है? निपुणिका के प्रति कोई मोह मेरे मन में रह गया था क्या? हाय, निपुणिका ने जब कहा था कि मेरा धूमायित होना बन्द हो गया है, मैं अब धधक उठूंगी, उस समय उसका चित्त कितना उत्क्षिप्त था! भट्टिनी तभी से किसी व्याकुल आशंका से बेचैन हैं, उनकी वाष्पप्लुत आँखें मेरी समूची सत्ता को गला डालती हैं। यहाँ मुझे आये तीन दिन हो गये। इतने ही में मैं क्या-क्या देख रहा हूँ! भट्टिनी ने आज बड़े

कातर स्वर में कहा कि सौरभ-ह्रद के निकटवर्त्ती किसी शिवसिद्धायतन में प्रणिपात करने से सम्मोहन की सभी बाधाएँ दूर हो जाती हैं, ऐसा उन्होंने सुना है। मैंने उनसे जब कहा कि अवधूतपाद की दी हुई औषधि पर विश्वास करना ही शुभ है तो उनकी बड़ी-बड़ी आँखों में आँसू ढरक आये। मैंने अधिक कुछ न कहकर सौरभ-ह्रद में निपुणिका को ले जाने का ही आश्वासन दिया। भट्टिनी की आँखों में आँसू देखता हूँ तो मेरा अन्तस्तल विदीर्ण होने लगता है, अधरोष्ठ सूखने लगता है, मस्तक स्वेदार्द्र हो जाता है और श्वास-प्रक्रिया विक्षुब्ध हो आती है। मैं कितना अवश हूँ।

भट्टिनी में एक परिवर्त्तन देख रहा हूँ। ऐसा लगता है कि कुछ अघटित घटने की आशंका ने उनके भीतर को झकझोर डाला है। ऊपर से वह हृदयन्तुद आलोड़न बिलकुल नहीं दिखायी देता। पर उनके प्रत्येक कार्य में एक प्रकार की अन्यमनस्कता आ गयी है; चित्त में कहीं उत्कण्ठा की झंझा जरूर बह रही है, जो उनकी सहज व्यवस्थित बुद्धिता में व्यतिक्रम पैदा कर रही है। मुझसे निपुणिका के बारे में जब यह बात कहने आयी तो ऐसा लगा कि अपना वक्तव्य ही भूल गयी हैं। कुछ देर तक निर्निमेष मेरी ओर देखती रहीं। भट्टिनी को इतनी देर तक निर्निमेष भाव से देखते मैंने नहीं देखा था। जब मैंने उनका वक्तव्य जानने का आग्रह किया तो वे इस प्रकार अकचका गयीं जैसे कच्ची नींद से किसी ने जगा दिया हो। उस समय उनकी शोभा देखते ही बनती थी—अयत्न-विस्रस्त चिकुर-राजि के भीतर वह आर्द्रार्द्र मुख-मण्डल शैवाल-जाल से घिरे हुए सीकर-सिक्त प्रफुल्ल शतदल के समान मनोहर लगता था, किन्तु कातरता के कारण शिथिल बनी हुई भ्रू-लताएँ मनोजन्मा देवता के भग्नचाप की भाँति भीषण-मनोहर शोभा-विस्तार कर रही थीं। उनके पाटल-शोण अधर सूख आये थे और मेरे मन में अद्भुत आशंका का भाव उत्पन्न कर रहे थे। भट्टिनी की कपोल-पालि में न उल्लास था, न विकार था, न कोई स्फूर्त्ति थी। मानो समस्त बाह्य विकार भीतर चले गये हों, मानो समस्त अन्तःस्फुरण किसी और गहरे केन्द्र में निमग्न हो गये हों। उस शोभा के सरोवर में कहीं तरंग नहीं थी, चांचल्य नहीं था, धरातल पर केवल एक गाम्भीर्य की स्थिरता दिखायी दे रही थी। हाय, वह कौन-सा दुःख है जो भट्टिनी के भीतर आलोड़न पैदा किये हुए है?

सौरभ-ह्रद[1] भद्रेश्वर से बहुत दूर नहीं था। भट्टिनी की इच्छा जानकर आभीर सामन्त ने निपुणिका के लिए एक शिविका और मेरे लिए घोड़े की व्यवस्था कर दी। हमारे साथ कुछ विश्वस्त अनुचर भी दिये।

पहर दिन चढ़ने पर हम वहाँ पहुँचे। निपुणिका को इस मनोहर ह्रद के देखने से बड़ा उल्लास हुआ। मुझे भी देखकर बड़ी शान्ति मिली। ऐसा जान पड़ता था जैसे प्रलय-काल में जब समस्त दिशाओं का सन्धि-बन्धन स्खलित हो गया था उस समय आकाश-मण्डल ही पृथ्वी पर उलटकर इस ह्रद के रूप में

1. सम्भवतः वर्त्तमान सुरहा झील; जिला बलिया, उत्तरप्रदेश।

रूपान्तरित हो गया था, या फिर आदि-वराह के दन्त द्वारा उद्धारित धरित्री का रन्ध्र ही वारिपूरित होकर यह विशाल सर बन गया था। पूर्व से पश्चिम तक प्रसारित सौरभ-ह्रद अपनी शोभा का उपमान आप ही है। इस भीषण ज्वाला-वर्षी ग्रीष्मातप के समय भी उत्फुल्ल कुमुद, कुवलय और कह्लार हृदय-शामक शोभा बिखेर रहे थे, विकसित पुण्डरीक के मधुविन्दु जल पर फैलकर मयूर-पुच्छस्थ चन्द्राकृति के चिह्न से हृदयतल को रंगीन बना रहे थे, अलिकुल पटल से सौगन्धिक पद्म आच्छादित हो रहे थे, पद्म-मधुपानमत्त कलहंसवधुओं के कोलाहल से सारा सरोवर मुखरित हो रहा था, उन्मद सारसों के कल क्रेंकार से वायु-मण्डल विद्ध हो रहा था, अनेक जलचरों के चटुल संचार से उसकी तरंग-वीचियाँ भी वाचाल हो रही थीं, वायु-लहरियों से आलोड़ित सरोवर की तरंगें ऊपर उठ-उठकर टूट जाती थीं, और दूर तक उनसे विकीर्ण सीकर-विन्दुओं से वर्षाकाल का दृश्य उपस्थित हो जाता था; सारा ह्रद इतना सुगन्धित था कि रह-रहकर भ्रम होता था कि कहीं स्नानावतीर्ण वनदेवियों के केश-लग्न पुष्पों की सुगन्धि से ही तो इतना आमोद नहीं फैल गया है। श्वेत कुमुदों में श्वेत कलहंस इस प्रकार मिल गये थे कि जब तक वे अपनी प्रियतमाओं को निकट बुलाने के लिए चिल्ला न पड़ते थे तब तक उनकी उपस्थिति की सम्भावना भी नहीं मालूम पड़ती थी। आपाण्डुर किंजल्क समूचे सरोवर को आच्छादित करके ऐसी कमनीय शोभा विस्तार कर रहे थे कि छायारूप में अवतीर्ण चन्द्र-मण्डल की तरंगधौत अमृत-धवलिमा का भ्रम उत्पन्न हो जाता था, तट के उपान्त भाग में अवस्थित वृक्षों के पल्लव-पुट की वायु से वीजित होकर सरोवर की तरंगें इस प्रकार खेल रही थीं मानो जलदेवियों के अदृश्य शिशु शीला-पूर्वक तैर रहे हों।[1] इस मनोरम सरोवर को देखकर उत्कण्ठित का चित्त भी विश्राम पा सकता है, विरही का हृदय भी शान्त हो सकता है, उन्मत्त का मस्तिष्क भी निर्मल बन सकता है, उकताये हुए मनुष्य को भी शान्ति मिल सकती है। दूर तक फैले हुए वन-पनस के झुरमुट, वन्य वदरियों के गुल्म, खदिर वृक्षों की झाड़ियाँ और तिन्तड़ी के तरुषण्ड सरोवर की शोभा को और भी बढ़ा रहे थे। जबकि पश्चिम ओर से चली हुई उष्णोष्ण वायु आग बरसाती हुई त्रिलोक की समूची आर्द्रता सोख लेने पर उतारू थी और दावाग्नि से भी अधिक भयंकर बनकर वनराजि की नीलिमा को भस्म कर रही थी, जबकि विकराल बवण्डरों से उड़ायी हुई धूल से सारा आसमान धूसर हो रहा था और जबकि प्रचण्ड मार्त्तण्ड की खरतर किरणें धरती पर से हरीतिमा को दूर करने को बद्धपरिकर थीं, उसी भयंकर काल में सौरभ-ह्रद अपने आसपास के वन-वृक्षों को नील मसृण बनाये हुए था। यहाँ आकाश शरत्कालीन निर्मेघ नभो-मण्डल की याद दिला रहा था, उत्तप्त पश्चिमी वायु सिखाये हुए शार्दूल की भाँति अपना स्वभाव भूल गयी थी। निपुणिका को यह शोभा बहुत मनोहर मालूम हुई। उसने छककर इस मदिर माधुरी का पान किया।

1. तुलनीय—कादम्बरी-कथामुख की पम्पासरोवर-वर्णना।

स्नान करने के बाद जब हम शिव-सिद्धायतन की ओर चले तो ह्रद-सीकर-सिक्त वायु ने मन और प्राण को शीतल कर दिया। एक क्षण के लिए भ्रम हुआ कि हम कैलास पर तो नहीं आ गये हैं। आहा, यहीं क्या वह वायु है जिसने कैलास के निर्झरों का सीकर आत्मसात् किया है, भूर्जपत्रों को स्खलित किया है, नान्दी के रोमन्थफेन के स्पर्श से अपने को धन्य बनाया है, हरजटाविहारिणी भगवती मन्दाकिनी का जलपान किया है, पार्वती के कर्णपल्लवों को आन्दोलित किया है, रुद्राक्ष के पुष्परेणु से अपने को सुगन्धित बनाया है, नमेरु पल्लवों के बीजन से महादेव की क्लान्ति को दूर किया है। इस शिव-सिद्धायतन में लोक-समागम क्वचित्-कदाचित् ही होता होगा। दूर तक यह जो मरकत-हरित वनराजि फैली हुई है, जो मनोहर हारीत पक्षियों के सुन्दर शब्दों से रमणीय हो गयी है, जिसके कुड्मल भ्रमन्त भ्रमरों के नखराघात से जर्जरित हैं, जहाँ आज भी उन्मत्त कोकिल वन्य सहकार के पल्लवों को कुतर रहे हैं, जो उन्मद षट्चरण-चक्रवाल के मधुर गुंजार से वाचाल बनी हुई है, जहाँ अतर्कित चकोर-तरुण मरीचांकुर का स्वाद ले रहे हैं, जिसके चम्पों के पिंजर पराग से कपिञ्जल (तित्तिर पक्षी) पिंगल वर्ण के बन गये हैं, जिसमें फल-भार से निपीड़ित दाड़िमी वृक्षों के नीड़ में कलविङ्क (गौरैया) दम्पति केलिकलह में व्यस्त हैं, जहाँ एक-दूसरे से उलझे हुए वन्य कपोत-पोत अपने छोटे पक्षकों से कुसुम-धूलि झाड़ रहे हैं, जहाँ शुक-सारिकाओं के कुतरे हुए फलों के वल्कल वन-भूमि को आमोद-मग्न कर रहे हैं, जिसमें रहने-वाले तरुण मदमत्त पारावत अपने पक्ष-क्षेप से पुष्पस्तवकों को चारों ओर विस्रस्त कर रहे हैं—यह मधुर मनोहर शोभा की खानि वनराजि मनुष्य-जाति से बहुत कम परिचित जान पड़ती है। भगवान् शूलपाणि ने अपने निवास के लिए क्या ही सुन्दर वन निर्वाचित किया है! निपुणिका आज बहुत प्रसन्न है, वह उड़ती-सी चल रही है। ऐसा लग रहा है कि वह जीवन का फल पा गयी है। ह्रद-तट से सिद्धायतन तक हरित तृण-शाद्वलों का ऐसा मनोरम आस्तरण देखकर बैठ पड़ने की वासना स्वाभाविक है। बड़े आयास से हमने अपने को रोका। पहले भगवान् शूलपाणि को प्रणिपात, फिर प्रदक्षिणा और फिर अन्य कार्य। हम सीधे मन्दिर में गये। चार स्तम्भों के ऊपर स्फटिक का एक छोटा-सा मण्डप था। उसी के नीचे त्रिलोक-गुरु महादेव का चतुर्मुखी लिंग था जो मुक्ताधवल प्रस्तर से बना था। निपुणिका ने भक्ति-गद्गद होकर उस दिव्य मूर्त्ति के चरण-तल में तत्काल उद्धृत ग्यारह आर्द्र पद्म चढ़ाकर प्रणिपात किया। ऐसा जान पड़ता था कि मदन-विरह-विधुरा रति देवि ही त्रिनयन का कोप शमन करने के लिए प्रणत हुई हैं। निपुणिका के रोम-रोम से कृतज्ञता की ज्योति निर्गत हो रही थी। महादेव पर चढ़ाये हुए उन जलविन्दु-स्रावी कमलों को देखकर मेरा मन विगलित हो गया। वे ऊर्ध्वविपाटित चन्द्रदलों की भाँति ताण्डव-विहारी मत्त धूर्जटि के विकट अट्टहास के छोटे-छोटे अवयवों की भाँति, ताण्डव-विध्वस्त वासुकि नाग के फण-शकलों की भाँति, पाञ्चजन्य शंख के सहोदरों की भाँति, क्षीरोद सागर के हृदय-पद्मों की

भाँति, ऐरावत-समर्पित मुक्तामय मुकुटों की भाँति महादेव की मूर्त्ति की शोभा बढ़ा रहे थे। उनके सामने जानुपातपूर्वक झुकी हुई निपुणिका स्वर्मन्दाकिनी धारा की तरह मन में शत-शत पवित्र उर्मियों को संचालित कर रही थी। महादेव को प्रणाम करते समय मेरा मन इस पवित्रता की मूर्त्ति को, भक्ति की स्रोतस्विनी को, श्रद्धा की निर्झरिणी को, अनुराग की खनि को, सेवा की उत्सधारा को चुपचाप प्रणाम किये बिना न रह सका। प्रदक्षिणा करने के बाद बहिर्द्वार पर एक बार फिर निपुणिका थकित की भाँति, स्तब्ध की भाँति, खोई हुई की भाँति, रुक गयी। उसका कण्ठ रुद्ध था, आँखें वाष्पप्लुत थीं, मुख-मण्डल रोमांचित था, देर तक वह चतुर्मुखी शिव-मूर्त्ति को कृतज्ञ नेत्रों से देखती रही। फिर धीरे-धीरे मेरे पास आयी। मैंने भी अपना अन्तिम प्रणाम निवेदन किया और ह्रद-तट की ओर अग्रसर हुआ। सिद्धायतन से थोड़ी दूर पर ही एक विशाल बकुल वृक्ष था। हम दोनों थोड़ी देर वहीं बैठे रहे।

देर तक मौन रहने के बाद निपुणिका ने ही मौन भंग किया। बोली, "आर्य, आज मेरे जन्म-जन्मान्तर कृतार्थ जान पड़ते हैं। मेरे हृदय की ज्वाला आज शान्त मालूम हो रही है। तुमने बार-बार कहा है कि मेरा जन्म निरर्थक नहीं है, आज इस बात को जितना स्पष्ट समझ रही हूँ उतना पहले कभी नहीं समझा था। वह दूर कमलिनी-पत्रों में सोयी हुई निश्चल-निष्पन्द बलाका को देख रहे हो न आर्य, ऐसा लग रहा है मानो मरकत-पात्र में रखी हुई शंख-शुक्ति हो! मेरा मन आज उसी प्रकार निश्चल हो गया है, उतना ही निर्मल निर्विकार।" मैंने प्रसन्न होकर कहा, "बहुत प्रीत हुआ हूँ निउनिया, तेरी शान्ति से आश्वस्त हुआ हूँ।" निपुणिका की आँखों में क्षण-भर में लीला की रेखा चमक गयी, बोली, "तुम्हें अप्रसन्न होना चाहिए था, भट्ट! तुम अगर यह सुनकर उदास हो जाते तो मेरा चित्त और भी विगत-कल्मष हो जाता!" निपुणिका का लीलावती रूप क्षण-भर में निखर आया, उसकी अनुपम आँखें स्मितधारा में स्नान करने लगीं। मैंने उसके इस कथन का रहस्य समझते हुए कहा, "दीर्घकाल की मेरी उदासी क्या तेरे विकारों को दबा सकी है, निउनिया! फिर आज की उदासी से क्या बन या बिगड़ जायेगा!" निपुणिका के पाण्डुर कपोल अनुराग की लालिमा से दमक उठे, उसकी चुहल-भरी आँखों में प्रेम-विकार लहरा उठे, ललाटपट्ट सात्त्विक भाव से स्विन्न हो उठा, उसने एक क्षण मेरी ओर देखकर आँखें झुका लीं। थोड़ी देर बाद उसने गद्गद कण्ठ से कहा, "हाँ, आर्य, तुम्हारी उदासी मेरे लिए बड़ी निधि रही है। मैं जब तुमको उदास देखती थी तो यही समझती थी कि मेरा जन्म सार्थक है, तुमने इस गन्धहीन पुष्प को चरणों तक पहुँचने देने के अयोग्य नहीं समझा। उस रात को तुम्हारी हँसी ने मेरा हृदय दीर्ण-विदीर्ण कर डाला था। परन्तु वह मेरी भूल थी। तुमने नाटक-मण्डली तोड़कर मेरे विकारों को सत्य बना दिया था। हाय, मैंने कितनी दुर्लभ वस्तु का लोभ किया था! मैं उसके अयोग्य थी। छः वर्षों के प्रायश्चित्त से मैं अपना मोह काट सकी। भगवान् ने

पुरस्कार में मुझे फिर तुम्हारा आश्रय दिया। पर जो विकार सत्य हैं वे कहाँ जायेंगे भला? तुमने उस दिन अभियोग के स्वर में कहा था कि आर्य वेंकटेशपाद से दीक्षा लेने की बात मैंने तुमसे क्यों नहीं कही। वह दीक्षा असत्य थी, आर्य! मैंने जिस दिन तुमको देखा, उसी दिन मैंने उसे भुला दिया। मैं विकारों को नारायण को अर्पण करने की साधना में असफल रही। सुचरिता सफल हुई है, वह धन्य है। परन्तु तुम्हें पाकर मैंने अपने विकारों को ही सिद्धि-सोपान मान लिया है; पर एक बात पूछने का लोभ होता है, भट्ट!" निपुणिका की आँखों में लज्जा और आग्रह एक ही साथ उदय हो आये। मैंने स्नेहभरे कण्ठ से कहा, "क्या जानना चाहती है, निउनिया?" उसकी आँखें झुक गयीं, पतली-छरहरी अंगुलियाँ एक दूर्वादल को नोचने में उलझ गयीं, आँचल को उसने अकारण ही सीमन्त के ऊपर सरका लिया और गद्‌गद भाव से बोली, "तुम्हारी उदासी का कुछ श्रेय क्या इस अभागिनी को प्राप्य था, भट्ट!" मैंने प्रेमपूर्वक उत्तर दिया, "अवश्य था निउनिया, मैं क्या सचमुच जड़ पाषाण-पिण्ड हूँ!" निपुणिका का मुख-मण्डल रागदीप्त हो गया। उसकी स्वर-जड़िमा जाती रही। मेरी ओर सजल नयनों से देखती हुई बोली, "कृतार्थ हूँ आर्य, मेरे वन्ध्य जीवन की यही परम सार्थकता है। अधिक के लिए मेरा लोभ भी नहीं है, योग्यता भी नहीं है। मैं बड़ी पापिनी हूँ आर्य, क्यों मुझे दूसरे के सुख से ईर्ष्या हो जाती है! मैं सेवा-धर्म में भी असफल हूँ और सखि-धर्म में भी। हाय, तुम अगर मेरी पाप-ज्वाला देख सकते! सौरभेश्वर के दर्शन से यदि यह पाप-ज्वाला शान्त हो जाय तो मेरा जीवन बन जाय। परन्तु तुम मुझे क्षमा करना, आर्य! मेरा मन आज हल्का मालूम हो रहा है!"

निपुणिका यह सब क्या कह रही है!

एक प्रहर दिन रहते हम वहाँ से प्रस्थित हुए और जब तक भगवान् मरीचि-माली अपनी लाल किरणों को समेटने में कृतकार्य हुए तब तक हम फिर भद्रेश्वर दुर्ग आ पहुँचे। भट्टिनी व्याकुल भाव से हमारी प्रतीक्षा कर रही थीं। उन्होंने बड़े स्नेह से हमारा स्वागत किया। हम जब कुछ सुस्ता लिये तो भट्टिनी ने मुझे बुला-कर एक पत्र दिया। पत्र कुमार कृष्णवर्द्धन का था। बड़े संक्षेप में उन्होंने अपनी बहिन कुमारी चन्द्रदीधिति को स्नेह-सम्भाषण कहा है और महाराजाधिराज का यह सन्देशा लिख भेजा है कि वे अपनी अपरिचिता भगिनी का स्वागत करके धन्य होंगे। उन्होंने मुझे लिखा है कि जिस शर्त्त पर भी भट्टिनी आना चाहें उसी शर्त्त पर उन्हें ले आओ। यह पढ़कर मुझे आश्चर्य हुआ कि कुमार ने आभीरराज को भी हर प्रकार से प्रसन्न करके अनुकूल करने का आदेश दिया है और साथ ही यह भी लिख दिया है कि गिरिसंकट के उस पार जो म्लेच्छवाहिनी जमी हुई है वह वर्षा-काल बीतते ही टिड्डियों के दल की भाँति उतरने लगेगी, उसकी गति केवल आभीर-सेना ही रोक सकती है। अपनी प्यारी बहिन कुमारी चन्द्रदीधिति से उन्होंने अनुरोध किया है कि वे आभीर-राज से उनकी सेना को इस पवित्र कार्य में नियोग करने को कहें। मुझे तो स्पष्ट लिखा है कि यदि आभीर-राज सामन्त

बनने को प्रस्तुत न हों तो उन्हें मित्र राजा के रूप में भी निमन्त्रित किया जा सकता है। सबके अन्त में उन्होंने अत्यन्त आवश्यक कहकर यह भी लिख दिया है कि मैं अपने बड़े भाई उडुपतिभट्ट को, जो इन दिनों काशी के मीमांसकों में श्रेष्ठ माने जाते हैं, अवश्य साथ लेता जाऊँ। अन्त में यह लिखना वे नहीं भूले हैं कि कुमारी के मिलने का समाचार देवपुत्र के पास पहुँचा दिया गया है। स्वयं आचार्य भर्वुपाद ही कुमारी को देखने के लिए दो-चार दिनों के भीतर ही उपस्थित हो सकते हैं, इसलिए भद्रेश्वर से प्रस्थान करने में विलम्ब नहीं होना चाहिए। अन्त में उन्होंने अपनी बहिन कुमारी चन्द्रदीधिति के स्नेह पाने की तीव्र लालसा व्यक्त की है। सारा पत्र कूटनीति का विचित्र जाल है। किसी को भी छोड़ा नहीं गया है, प्रत्येक को फँसाने का प्रयत्न है और फिर भी नपी-तुली भाषा में। कहीं उच्छ्वास नहीं है। अधिकन्तु लिखनेवाले की सहृदयता और उदाराशयता प्रत्येक शब्द से प्रकट हो रही है। मैं पत्र पढ़कर कुछ चिन्ता में पड़ गया। ऐसा न हो कि फिर किसी जाल में फँस जाऊँ। अब मैं कुछ सावधान हो गया था।

भट्टिनी ने कुछ देर प्रतीक्षा करने के बाद कहा, "क्या सोच रहे हो, भट्ट?" मैंने उनकी ओर देखा। बोला, "देवि, भट्टिनी, आपका आदेश ही मेरा कर्तव्य है। मैं केवल यही सोच रहा हूँ कि फिर किसी जाल में न जा फसूँ।" निपुणिका मुझे तिरस्कार-सी करती हुई बोली, "कैसा जाल, भट्ट! स्पष्ट बात को तुम फिर अस्पष्ट बना रहे हो। आभीर-राज्य की सेना के साथ भट्टिनी स्वतन्त्र राज्य की रानी की भाँति चलेंगी। महाराजाधिराज को गरज होगी, सौ बार भट्टिनी के दर्शन का प्रसाद जाँचने आयेंगे। भट्टिनी की मर्यादा के विरुद्ध पत्ता भी खड़का तो रक्त की नदी बह जायेगी। और कोई नहीं मरेगा तो तुम और मैं तो निश्चय ही इस कार्य में बलि हो जायेंगे। इसमें डर कहाँ है? मैं भट्टिनी की मर्यादा की कसौटी होकर चलूँगी। तुम प्राण देने में क्यों हिचकते हो?" मैंने शान्तिपूर्वक कहा, "मरना जब जरूरी हो जायगा तो बाणभट्ट अवश्य मरेगा, पर उसके पहले ही वह क्यों मरे?" भट्टिनी ने मानो कुछ सुना ही नहीं। बोलीं, "यदि स्थाण्वीश्वर चलना ही है तो चलो। विलम्ब की क्या जरूरत है? यदि आचार्य भर्वुपाद वहाँ आ गये होंगे तो अवश्य वे इधर चल पड़ेंगे। वे अशीतिपर वृद्ध हैं, उन्हें बहुत कष्ट होगा। आभीर-राज के एक सहस्र सेवक इस समय पर्याप्त हैं। कुमार मेरे भाई हैं। उनका स्नेह मेरी अमूल्य निधि है, पर उनके राजकीय आदेश मेरे लिए मान्य नहीं हैं। मैं आभीर-राज से कुछ भी कहने को प्रस्तुत नहीं हूँ। उन्होंने मेरे ऊपर जो कृपा की है वह केवल वे ही कर सकते हैं। वे अपना कर्त्तव्य स्वयं निर्णय कर लेंगे।" भट्टिनी के इस द्विधाहीन, संकोचहीन स्पष्ट आदेश से मेरे नसों में जान आ गयी। आज तक भट्टिनी ने इतना स्पष्ट आदेश इतनी अस्खलित भाषा में कभी नहीं दिया है। उन्होंने निश्चय ही अपना कर्त्तव्य निश्चय कर लिया है। पर इस कर्त्तव्य का उत्स क्या है? भट्टिनी ने मुझे दुविधा और असमंजस से बचाने के लिए यह निश्चय किया है, या उनके दुःखदग्ध हृदय में पितृदर्शन की उत्कण्ठा

प्रबल हो गयी है ? अब तक भट्टिनी के आदेश 'आदेश' की मर्यादा पाने योग्य होते ही नहीं थे, उनमें एक प्रकार की दीनता का भाव होता था। इस बार उसमें प्रभुता है, मर्यादा-ज्ञान है और निश्चय की भावना है। कितना गम्भीर है यह कुसुम-कोमल हृदय ! कहाँ हो महाकवि, तुमने अपनी कल्पना के नेत्रों से तपोनिरता पार्वती का जो शुभ्रवेश देखा था उसका प्रत्यक्ष विग्रह आज धरती पर विराज रहा है। सुकुमारता और गाम्भीर्य का ऐसा मणिकाञ्चन योग कहाँ मिलेगा ? आज नारायण की कल्याण भावना ने, महादेव की तपोनिष्ठा ने, देवराज की ईश्वरता ने, सुरगुरु की निर्मल मनीषा ने, मदन देवता की जय-लालसा ने, पार्वती की दृढ़मानिता ने और सरस्वती की सम्पूर्ण शुचिता ने रूप-परिग्रह किया है। भट्टिनी आज आर्यावर्त्त का त्राण करने का संकल्प कर चुकी हैं। लाख-लाख निरीह प्राणियों की ममता ने उनके नवनीत-कोमल हृदय को निश्चय ही गला डाला है। ऊपर से थोड़ा भी धुँआ नहीं दिखायी दे रहा है, पर इस अतल-गम्भीर हृदय में निश्चय ही हाहाकार की ज्वाला धधक रही है। भट्टिनी स्थाण्वीश्वर जाने को प्रस्तुत हैं।

स्थाण्वीश्वर ! यही वह भण्ड राजकुल है जहाँ भट्टिनी-जैसी सैकड़ों ललनाएँ मनुष्य की पशुता को भेंट चढ़ायी गयी हैं। भट्टिनी फिर वहीं जा रही हैं, क्या उनके रोम-रोम से उस लम्पट राजकुल को भस्म कर देने की ज्वाला नहीं निकल रही ? कहीं-न-कहीं उस ज्वाला का अस्तित्व है अवश्य। भट्टिनी बहुत गम्भीर हैं, शायद वे मुझे अधिक उलझनों में डालना भी नहीं चाहतीं, पर वे क्या इस विषय में कुछ भी नहीं सोच रही हैं ? निपुणिका बार-बार जो मरने को ललकारती है वह किसलिए ? क्या उसका यही रहस्य है ? बाणभट्ट इस छोटे राजकुल को कभी क्षमा नहीं करेगा। कूटनीति की कुटिल भुजंगी भी उसे अपने स्पष्ट कर्त्तव्य के मार्ग से दूर नहीं हटा सकती। मदमत्त छोटा राजकुल अपने किये का प्रतिफल अवश्य पायेगा। स्थाण्वीश्वर की यात्रा का यह एक मंगलमय परिणाम होगा। भट्टिनी कल वहाँ अवश्य चलेंगी।

अब कुछ सोचना नहीं है। वर्षाकाल आने ही वाला है। जब तक आकाश मेघ-माला से, धरित्री नवीन जल-धारा से, दिग्वलय विद्युल्लताओं से, वायुमण्डल वारि-सीकरों से भर नहीं जाते, तभी तक यात्रा निरापद है। शीघ्र ही मालती पुष्पित होगी, कदम्ब केसरित होगा, कुमुद कुड्मलायित होंगे, मयूर नाचने लगेंगे, मेघ और विद्युत् आँखमिचौनी शुरू कर देंगे। उस समय भट्टिनी को शिविकाओं और गो-शकटों पर दौड़ाना उचित नहीं होगा। यह शुभ अवसर है, अभी चलने को तैयार हो जाना चाहिए। निपुणिका के स्वास्थ्य ने हमें चार-पाँच दिन और रुकने को बाध्य किया। निपुणिका जब कुछ स्वस्थ हो आयी तो गंगा-दशहरा के दिन एक सहस्र आभीर मल्लों ने देवपुत्र-नन्दिनी के जय-निनाद से धरती कँपा दी। भट्टिनी की शिविका को घेरके दस मौखरि-वीरों की कराल तलवारें चमक उठीं। निपुणिका के लिए अलग पालकी सजायी गयी। विग्रहवर्मा ने देवपुत्र-

नन्दिनी के सबसे निकट रहने के आग्रह में विजय पायी। भट्टिनी की विशाल वाहिनी स्थाण्वीश्वर को प्रस्थित हुई।

अष्टादश उच्छ्वास

स्थाण्वीश्वर से लगभग कोस-भर की दूरी पर भट्टिनी का स्कन्धावार सज्जित हुआ। कुमार कृष्णवर्द्धन स्वयं उपस्थित थे। उन्होंने बड़े प्रेम और आग्रह के साथ अनुरोध किया कि महाराजाधिराज द्वारा आयोजित उत्सव में वे सम्मिलित हों; पर भट्टिनी ने दृढ़-शान्त कण्ठ से अस्वीकार कर दिया। केवल अन्यथा शंका दूर कर देने के उद्देश्य से मुझे उत्सव-सभाओं में उपस्थित रहने की अनुमति दे दी। भट्टिनी प्रसन्न थीं। कुमार से बातचीत हो जाने से उनके मन के अनेक विकार साफ हो गये थे। भट्टिनी को यह जानकर बड़ी प्रसन्नता हुई कि बाभ्रव्य कुशल-पूर्वक है और महारानी राज्यश्री की सेवा में नियुक्त हो गया है। ऐसा लगता था कि भट्टिनी के चित से एक दीर्घ शल्य निकल गया है। कुमार ने उन्हें यह भी बताया कि छोटे महाराज की सम्पत्ति राज-कोष में ले ली गयी है और वह लम्पट सामन्त भट्टिनी की जैसी इच्छा होगी वैसा ही दण्ड पायेगा। कुमार ने दग्ध कण्ठ से कहा, "महाराजाधिराज श्री हर्षवर्द्धन की भगिनी के प्रति अशिष्ट आचरण का उचित दण्ड इस दुर्मद सामन्त को अवश्य दिया जायगा।" कुमार के आ जाने से भट्टिनी ही नहीं, निपुणिका भी आश्वस्त हुई। उन्होंने उसके साथ वैसा ही व्यवहार किया जो देवपुत्र-नन्दिनी की सखी के उपयुक्त था। सब मिलाकर कुमार कृष्ण विजयी हुए। सद्व्यवहार और मधुर भाषण ही उनके अमोघ अस्त्र सिद्ध हुए। भट्टिनी ने कृतज्ञता-भरी दृष्टि से कुमार को देखा और मौन रह गयीं। उनके सहज अनुभाव से कुमार भी प्रभावित हुए। भाई-बहन का यह मिलन अपूर्व था।

भट्टिनी का मन प्रसन्न था। उनकी दुग्ध-मुग्ध मधुरच्छवि इस सहज आनन्द की आभा से उत्फुल्ल मालती-लता की भाँति अभिराम हो गयी थी। मानसिक आनन्द भी कैसा अद्भुत रसायन है! भट्टिनी की शोभा आज सौगुनी बढ़ गयी है—अधरों की बन्धूक-बन्धुता और भी निखर आयी है, आँखों की वह स्निग्ध शोभा जो तरुण केतक-पत्रों को भी लज्जित करती थी, कई गुना बढ़ गयी है। कपोलों की मधूक पुष्प की कली के समान मोहक-कान्ति और भी मधुर हो उठी है, ग्रीवा का कम्बु-विडम्बन उल्लास और भी उत्तरंग हो उठा है। आहा, वातुल कवि व्यर्थ ही कल्पना के जाल में उलझकर छटपटाया करते हैं। उन्होंने रामणीयक

निधि की अधिदेवता को, सौन्दर्य के मुग्ध निकेतन को, शोभा के उद्वेल समुद्र को देखा ही कहाँ ! भट्टिनी को प्रसन्न देखकर मेरा रोम-रोम उच्छ्वसित हो उठा। उन्हें भी शायद मेरी प्रसन्नता का आनन्द मिला था। उस समय बाहर कोई गान कर रहा था। भट्टिनी ने मुझे बुलाया और निर्व्याज-मनोहर स्मित के साथ कहा, "आज बहुत प्रसन्न दिख रहे हो, भट्ट !" प्रसन्न ही तो हूँ ! यदि शक्ति होती तो भट्टिनी की इस शोभा की प्रतिमूर्त्ति अपना हृदय गलाकर गढ़ लेता। अंगुली से संकेत करते हुए उन्होंने कहा, "देखो तो बाहर कौन गा रहा है !" आनन्द के तरंग में डूबता-उतराता मैं बाहर आया। देखता हूँ तो दो गैरिकधारिणी भैरवियाँ मधुर उदात्त कण्ठ से गान गा रही हैं और आभीर सैनिक मन्त्रमुग्ध से बने सुन रहे हैं। गान अपभ्रंश भाषा में था। भैरवियों ने गाया—

"अमृत के पुत्रो, नगाधिराज हिमालय की शीतल छाती में आज हलचल दिखायी दे रही है। कोई जानता है कि पार्वती-गुरु के हृदय में आज इतनी व्याकुलता क्यों है ? जवानो, प्रत्यन्त-दस्यु आ रहे हैं !

"समुद्रगुप्त के प्रताप ने क्या किया, चन्द्रगुप्त के रण-हुंकार ने क्या किया, मौखरियों की दुर्दान्त वाहिनी ने क्या किया ? म्लेच्छ अब भी जीवित हैं ! अमृत के पुत्रो, प्रत्यन्त-दस्यु आ रहे हैं !

"आर्यावर्त्त के तरुणो, जीना सीखो, मरना सीखो, इतिहास से सीखना सीखो। अर्यावर्त्त नाश के कगार पर खड़ा है। जवानो, प्रत्यन्त-दस्यु आ रहे हैं !

"राजाओं का भरोसा करना प्रमाद है, राजपुत्रों की सेना का मुँह ताकना कायरता है। आत्म-रक्षा का भार किसी एक जाति पर छोड़ना मूर्खता है। जवानो, प्रत्यन्त-दस्यु आ रहे हैं !

"समस्त आर्यावर्त्त एक है—एक समाज, एक प्राण, एक धर्म। देश-रक्षा सबका समान धर्म है। जवानो, प्रत्यन्त-दस्यु आ रहे हैं !

"उन देवपुत्रों की आशा छोड़ो जो सामान्य शोक के आघात से छुई-मुई की भाँति मुरझा जाते हैं। जिस आधार पर खड़े होने आ रहे हो, वह दुर्बल है। सम्हल जाओ जवानो, प्रत्यन्त-दस्यु आ रहे हैं !

"अरे ओ अमृत के पुत्रो, इन राजाओं में लम्पटता बढ़ गयी है, इनके अन्तःपुर निर्यातित वधुओं के क्रन्दन से भरे हुए हैं। राजशक्ति के मूल में घुन लग गया है। जवानो, प्रत्यन्त-दस्यु आ रहे हैं !

"अमृत के पुत्रो, आँधी की भाँति बहो, तिनके की भाँति म्लेच्छ-वाहिनी को उड़ा ले जाओ। संकट के भय से कातर होना तरुणाई का अपमान है। जवानो, प्रत्यन्त-दस्यु आ रहे हैं !

"वह देखो, कुल-वधुएँ आँखों में आँसू भरकर तुम्हारी ओर देख रही हैं। उनका सुहाग तुम्हारे हाथों है। जवानो, प्रत्यन्त-दस्यु आ रहे हैं !

"वह देखो, माताएँ तुम्हारी ओर ताक रही हैं; अरे वह देखो, दुधमुँहे बच्चे तुम्हारी ओर ताक रहे हैं। रुको मत, जवानो, प्रत्यन्त-दस्यु आ रहे हैं !

"तुम्हें माता के दूध की शपथ है, कुल-वधुओं के सुहाग की शपथ है, दुध-मुँहे बच्चों के दुलार की शपथ है। उठो, भेद-भाव भूल जाओ, प्रत्यन्त-दस्यु आ रहे हैं!

"कौन है जो आर्यावर्त्त को हाहाकार के बवण्डर से बचायेगा?—कोई देव-पुत्र नहीं, कोई राजाधिराज नहीं, कोई महासामन्त नहीं। जवानो, प्रत्यन्त-दस्यु आ रहे हैं!

"तो फिर कौन है जो आर्यावर्त्त को हाहाकार के बवण्डर से बचायेगा?—आर्यावर्त्त के जवान, आर्यावर्त्त के जवान! जवानो, प्रत्यन्त-दस्यु आ रहे हैं!

"अमृत के पुत्रो, मरण-यज्ञ की आहुति बनो। माताओं के लिए, बहिनों के लिए, कुल-ललनाओं के लिए प्राण देना सीखो। उठो जवानो, प्रत्यन्त-दस्यु आ रहे हैं!

"अमृत के पुत्रो, मृत्यु का भय मिथ्या है, जीने के लिए मरो, मरने के लिए जिओ; नगाधिराज तुम्हारी ओर ताक रहे हैं! जवानो, प्रत्यन्त-दस्यु आ रहे हैं!

"महामाया तुम्हें पुकार रही है। महामाया तुम्हारी माता है, माता की लाज रखो। अमृत के पुत्रो, प्रत्यन्त-दस्यु आ रहे हैं!

"वीरो, महामाया के त्रिशूल की शपथ है, म्लेच्छ-वाहिनी की छाया भी इस देश पर न पड़ने पावे। जवानो, प्रत्यन्त-दस्यु आ रहे हैं!

"अमृत के पुत्रो, मृत्यु का भय मिथ्या है, कर्त्तव्य में प्रमाद करना पाप है, संकोच और दुविधा अभिशाप है। जवानो, प्रत्यन्त-दस्यु आ रहे हैं!"

गान समाप्त हुआ। भैरवियों ने उल्लास के साथ अपने त्रिशूलों को शून्य में उछालते हुए कहा, "जय! आर्यावर्त्त के तरुणों की जय! महामाया माता की जय!" एक सहस्र गम्भीर कण्ठों से आभीर-सेना ने प्रतिध्वनि की—"महामाया माता की जय!" भैरवियों ने फिर गाया—

"वह सहस्रफण अजगर के फूत्कार के समान कौन गरज रहा है?—यह उत्ताल समुद्र नहीं है, विद्युद्‌गर्भ मेघ नहीं है—यह है आर्यावर्त्त के तरुणों की दुरंगम वाहिनी!

"कौन है जो इसकी गति रोक सके, कौन है जो इसके तरंगावर्त्त में न डूब जाय, कौन है जो इसके भीमवेग में न बह जाय—यह है आर्यावर्त्त के तरुणों की दुरंगम वाहिनी।

"अमृत के पुत्रो, कुल-वधुओं का सुहाग तुम्हारे हाथ में है, बालिकाओं की लाज तुम्हारे हाथ में है, वृद्धों का मान तुम्हारे हाथ में है—यह है आर्यावर्त्त के तरुणों की दुरंगम वाहिनी!"

एक बार फिर महामाया माता की जयध्वनि हुई और भैरवियाँ चुपचाप चली गयीं। आभीर-सेना ने अपने-आप जय-ध्वनि करते हुए कहा, "म्लेच्छवाहिनी इस देश की छाया भी न छू सकेगी।"

मेरे रक्त में एक विचित्र आलोड़न हुआ। आर्यावर्त्त के नौजवानों के ऊपर

एक अपूर्व विश्वास से वक्षःस्थल स्फीत हो उठा। रणचण्डिका विकट नृत्य करने-वाली हैं; पर आर्यावर्त्त का कुछ भी नहीं बिगड़ेगा। महामाया की इन शिष्याओं ने आर्यावर्त्त को महानाश से उद्धार करने का रास्ता दिखा दिया है। नारी के कोमल कण्ठ में कैसी अद्भुत शक्ति है, यह ओजपूर्ण संगीत भी इस कोमल कण्ठ से निकलकर सौ गुना प्रभावोत्पादक हो गया है। जब उनका कोमल कण्ठ ईषत्कम्पित होकर पुकारता था—'जवानो, प्रत्यन्त-दस्यु आ रहे हैं,' तो ऐसा लगता था जैसे वायु-मण्डल का प्रत्येक स्तर काँप उठा है, आकाश का कोना-कोना गुंजरित हो उठा है, दिगन्तराल का प्रत्येक बिन्दु उच्छलित हो गया है और फिर भी कहीं भय का लेश नहीं है। आर्यावर्त्त का नौजवान आज कृतार्थ है, देवमन्दिर और शस्यक्षेत्र निरापद हैं, स्त्रियाँ और बालक आश्वस्त हैं—आज जगत् का अशेष तारुण्य आलोड़ित हो गया है।

भट्टिनी ने आग्रहपूर्वक भैरवियों के गान का सार-मर्म सुना। वे थोड़ी देर तक कुछ भूली हुई-सी बात में उलझी दिखीं। मुझे ऐसा लगा कि उन्हें महामाया के गान के उस अंश से कुछ कष्ट हुआ है जिसमें देवपुत्र की चर्चा है। मैंने भट्टिनी की चिन्ता दूर करने के उद्देश्य से कहा, "महामाया माता ने आधा सत्य ही पाया है देवि, आधा और भी पा सकतीं तो समझतीं कि छुई-मुई की भाँति मुरझा सकना कितनी बड़ी शक्ति का सुप्त रूप है।"

भट्टिनी के मुख पर स्मिति-रेखा खेल गयी! एक अपूर्व रस-माधुरी उनके अधरों पर अचानक उदय हो आयी, नयन-कोरकों में एक प्रकार का लीला-लोल-विलास चमक गया, बोलीं, "तुम भी तो उस आधे सत्य से वंचित हो, भट्ट!" भट्टिनी के इस परिहास का अर्थ मेरी समझ में आया; लेकिन क्या उत्तर दूँ, यह ठीक नहीं समझ सका। सचमुच ही तो मैं उस आधे सत्य से वंचित हूँ। पिता के हृदय में अपनी सन्तति के प्रति जो ममता है वह कितनी बड़ी शक्ति है, यह मैं केवल अनुमान के बल पर ही तो जानता हूँ। मुझे क्या महामाया की आलोचना करने का अधिकार है? भट्टिनी ने मेरी कमजोरी ठीक पहिचान ली है। मेरी झेंप से भट्टिनी का मुख और भी प्रसन्न हो गया। उन्होंने फिर कहा, "मैं दूसरी बात सोच रही थी, भट्ट! महामाया ने ठीक कहा है कि राजाओं और राजपुत्रों की ओर ताकते रहने से आर्यावर्त्त का उद्धार नहीं होगा। परन्तु यह भी आधा ही सत्य है।" भट्टिनी फिर चुप हो गयीं, वे कुछ कहना चाहती थीं; पर उनके वाक्य सहज-कौलीन्य के भार से दब गये। मैं उनके मुख की ओर उत्सुकतापूर्वक देख रहा था। उनकी आँखें झुकी हुई थीं, ग्रीवा अवनमित थी, और अनवधानतावश उत्तरीय-प्रान्त सीमन्त देश से हट गया था। घन-मेचक केशपाश के बीचोंबीच उज्ज्वल सीमन्त-रेखा ऐसी मनोहर दिख रही थी मानो मन्दाकिनी की धवल-धारा क्षण-भर के लिए पार्वती की चिकुरराजि के मध्य में आयी हो और आकर रास्ता ही भूल गयी हो। वह दिन कितना शुभ होगा जब इस सीमन्त-रेखा पर सिन्दूर की अरुणिमा दिखेगी, जिस दिन इस प्रबल कबरी-भार की तिमिरकान्ति

बालसूर्य को बन्दी बनायेगी, जिस दिन चन्द्रमण्डल के मध्य उष:रेखा स्फुरित होगी, जिस दिन घन-मसृण मेघ-माला में अचंचल विद्युल्लता निरन्तर चमकती रहेगी। आहा, वह दिन कितना मंगलमय होगा ! भट्टिनी ने तिर्यक् अपांग से देखा, बोलीं, "क्या सोच रहे हो, भट्ट !"

क्या सोच रहा हूँ !

भट्टिनी ने किसलय के समान लाल अंगुलियों से अपने उत्तरीय प्रान्त को सीमन्त-रेखा पर खींच लिया और धीरे-धीरे कहने लगीं, "एक बात बताऊँ भट्ट, मेरा जन्म रोमकपत्तन के उत्तरवर्ती अस्त्रीय वर्ष में हुआ था, मैं वहाँ से पुरुषपुर तक पिता की गोद में बड़ी हुई हूँ। मैंने अनेक देश देखे हैं, अनेक समाज देखे हैं, अनेक जातियाँ देखी हैं, बाल्यभाव के कारण सबका रहस्य नहीं समझ सकी हूँ; परन्तु आर्यावर्त्त-जैसी विचित्र समाज-व्यवस्था मैंने कहीं नहीं देखी है। यहाँ इतना स्तर-भेद है कि मुझे आश्चर्य होता है कि यहाँ के लोग कैसे जीते हैं। फिर यहाँ एक से बढ़कर एक ऐसे सत्पुरुष और सती स्त्रियाँ देखी हैं कि मुझे कभी-कभी यह भी आश्चर्य होता है कि ये देवता-समान लोग क्यों मर जाते हैं ! यहाँ का जीवन और मृत्यु दोनों ही मेरे लिए पहेली हैं !" भट्टिनी ने अपने चेहरे पर निर्विकार भाव बनाये रखने का थोड़ा-सा प्रयत्न किया और फिर बोलीं, "यही देखो, तुम यदि किसी यवन-कन्या से विवाह करो तो इस देश में यह एक भयंकर सामाजिक विद्रोह माना जायगा। परन्तु यह क्या सत्य नहीं है कि यवन-कन्या भी मनुष्य है और ब्राह्मण युवा भी मनुष्य है ! महामाया जिन्हें म्लेच्छ कह रही हैं वे भी मनुष्य हैं। भेद इतना ही है कि उनमें सामाजिक ऊँच-नीच का ऐसा भेद नहीं है। जहाँ भारतवर्ष के समाज में एक सहस्र स्तर हैं वहाँ उनके समाज में कठिनाई से दो-तीन होंगे। बहुत कुछ इन आभीरों के समान समझो। भारतवर्ष में जो ऊँचे हैं वे बहुत ऊँचे हैं, जो नीचे हैं उनकी निचाई का कोई आर-पार नहीं; परन्तु उनमें सब समान हैं। उनकी स्त्रियों में रानी से लेकर परिचारिका तक के और गणिका से लेकर वार-विलासिनी तक के सैकड़ों भेद नहीं हैं। वे सब रानी हैं, सब परिचारिका हैं। तुम उनके दुर्धर्ष रूप को ही जानते हो, उनके कोमल हृदय को एकदम नहीं जानते। क्यों भट्ट, ऐसा क्या नहीं हो सकता कि ऊँची भारतीय साधना उन तक पहुँचायी जा सके और निकृष्ट सामाजिक जटिलता यहाँ से हटायी जा सके ? जब तक ये दोनों बातें साथ-साथ नहीं हो जातीं तब तक शाश्वत शान्ति असम्भव है। महामाया आधा ही देख रही हैं। बौद्ध-संन्यासियों ने भी आधा ही देखा था। भट्ट, तुम यदि इस पूर्ण सत्य का प्रचार करो तो कैसा हो !"

मैंने विनीत भाव से उत्तर दिया, "मैं नया सुन रहा हूँ, देवि ! तुम जो भी आदेश दोगी, वह मेरे सिर-माथे होगा।"

भट्टिनी के वंकिम अपांग विकसित हो गये, चेहरा मध्याह्नकालीन तरुमल्लिका कुसुम के समान खिल गया। बोलीं, "मुझे भागवत धर्म में यह पूर्णता दिखायी देती है, भट्ट, !" मेरी उत्सुकता और बढ़ गयी। मैंने अधिक सुनने की आशा से पूछा,

"मैं किस काम आ सकता हूँ, देवि ?" भट्टिनी ने दीप्त कण्ठ से कहा, "तुम ? तुम इस आर्यावर्त्त के द्वितीय कालिदास हो, तुम्हारे मुख से निर्मल वाग्धारा झरती रहती है, तुम्हारा अन्तःकरण पर-कल्याण कामना से परिशुद्ध है, तुम्हारी प्रतिभा हिम-निर्झरिणी की भाँति शीतल और धवल है, तुम्हारे मुख में सरस्वती का निवास है। तुम इस म्लेच्छ कही जानेवाली निर्दय जाति के चित्त में समवेदना का संचार कर सकते हो, उन्हें स्त्रियों का सम्मान करना सिखा सकते हो, बालकों को प्यार करना सिखा सकते हो। भट्ट, तुम इस भव-कानन से पारिजात हो, तुम इस मरुभूमि के निर्झर हो। तुम्हारी वाणी मेरी जैसी अबलाओं में भी आत्मशक्ति का संचार करती है। तुम्हारी छाया पाकर अबलाएँ भी इस देश की सामाजिक जटिलता को कुछ शिथिल कर सकती हैं।"

भट्टिनी की वाग्धारा आज बाँध तोड़ देना चाहती है। यहाँ आकर उन्होंने अपने को रोकना चाहा; परन्तु मुँहजोर घोड़ा जिस प्रकार वल्गा की बाधा पाकर भी कुछ दूर चला ही जाता है उसी प्रकार उनकी वाग्धारा संयत होने पर भी थोड़ा और बढ़ ही गयी—"एक जाति दूसरी को म्लेच्छ समझती है, एक मनुष्य दूसरे को नीच समझता है, इससे बढ़कर अशान्ति का कारण और क्या हो सकता है, भट्ट ! तुम्हीं ऐसे हो जो नर-लोक से लेकर किन्नर-लोक तक व्याप्त एक ही रागात्मक हृदय, एक ही करुणायित चित्त को हृदयंगम करा सकते हो। मनुष्य लोभ-वश, मोह-वश, द्वेष-वश पशुता की ओर बढ़ता जा रहा है, तुम इसके हृदय को संवेदनशील और कोमल बना सकते हो। देखो भट्ट, इस शुष्क कान्तार में अन्तःस्रोता सरिता भी बह रही है, इस भोग-पूजा के वल्कल के नीचे निर्मोह वैराग्य का देवता स्तब्ध है, यह संवाद तुम्हारे सिवा दूसरा कौन दे सकता है ! भट्ट, मैं तुम्हारी काव्य-सम्पद् पाकर शक्ति पा जाऊँगी। तुम मेरी बिनती स्वीकार करो।"

भट्टिनी के स्वर में यह कैसी जड़िमा है ? प्रथम परिचय के समय भी भट्टिनी ने मुझे भारतवर्ष का द्वितीय कालिदास कहा था और आज भी कह रही हैं। परन्तु उस दिन वाणी में ऐसी जड़िमा नहीं थी, उस दिन उनके अपांग इतने शिथिल नहीं थे, उनका मुख इतना दीप्त नहीं था, वाग्धारा इतनी खर-प्रवाह नहीं थी। मैं नया सुन रहा हूँ। मेरे रोम-रोम से भट्टिनी की वाणी झंकृत होना चाहती है—इस नर-लोक से लेकर किन्नर-लोक तक एक ही रागात्मक हृदय व्याप्त है ! क्या इस सत्य के प्रचार से मनुष्य की दुर्मद वासनाएँ, अनियन्त्रित कामनाएँ, अविचारित धारणाएँ कुछ कम भीषण हो जायेंगी ? क्या यह सम्भव है कि काव्य से मनुष्य की दयाहीन-विवेकहीन-धर्महीन वृत्तियाँ उच्चतर कार्य में नियोजित हो जायें ? कालिदास के काव्य से यह उद्देश्य क्या सिद्ध हुआ है ? भट्टिनी क्या चाहती हैं ? कैसे म्लेच्छ समझे जानेवाले मनुष्यों का चित्त कोमल होगा, संवेदनशील बनेगा, स्त्री-शक्ति का सम्मान करना सीखेगा ? हाय महाकवि, क्यों नहीं तुम मेरे चित्त में सचमुच अवतार ग्रहण करते ? कम-से-कम भट्टिनी का आदेश पालन करने की बुद्धि मुझे दो ! ऐसा हो कि मेरी प्रतिभा का अकुण्ठ विलास नर-लोक

से किन्नर-लोक तक फैले हुए एक ही रागात्मक हृदय का परिचय पा सके ! भट्टिनी मेरी काव्य-सम्पद् पाकर शक्तिमती होंगी ? हाय, मेरे पास क्या है जो मैं भट्टिनी को न दे सकूँ ! मैंने व्याकुल गद्‌गद कण्ठ से कहा, "देवि, मेरे पास जो कुछ भी है वह तुम्हारा है। अगर कोई काव्य-शक्ति मेरे पास हो तो वह निश्चय ही तुम्हें समर्पित होकर धन्य होगी।" मेरी बात से भट्टिनी का मुख-मण्डल खिल उठा। उस शोभा और श्री की निर्झरिणी आयताक्षी के स्मयमान मुख को देखकर अर्द्धोद्भिन्न-केसर पद्म-पुष्प की याद बरबस आ गयी। उस मन्द स्मित ने मेरा मन धवलित कर दिया, चित्त उत्फुल्ल बना डाला और हृदय को अननुभूत राग से रँग दिया। मेरी वाणी कृतार्थ मालूम हुई, मेरी प्रत्येक चेष्टा सफल जान पड़ी, मैं मानो देह-धारण का फल पा गया। मैंने विनय-गद्‌गद स्वर में कहा, "देवि, आपके अनुग्रह ने मुझे कुछ अविनीत बना दिया है, मेरी मानव-सुलभ लघिमा मुझे कुछ पूछने को बाध्य कर रही है, प्रभुओं के प्रसाद का लेशमात्र पाकर भी अधीर-प्रकृति मनुष्य चंचल हो उठता है, एक स्थान पर थोड़ी भी अवस्थिति होने से चपल व्यक्ति प्रगल्भ हो जाता है, सद्व्यवहार का कण-मात्र भी मनुष्य को प्रणय-जड़ बना देता है; सो देवि, यदि प्रसाद हो तो मैं जानना चाहता हूँ कि आपके सारे वक्तव्य का फलितार्थ क्या है ? यह कुसुम-कोमल शरीर, यह नवनीत-मृदुल हृदय, यह वज्रसार दृढ़ व्रत, यह अपूर्व भक्ति-भाव, ये देवलोक में भी दुर्लभ हैं। एक क्षण के लिए भी मैंने इसे गलत नहीं समझा है। मैं भली-भाँति जानता हूँ कि जाह्नवी की निर्मल धारा का उत्स कितना मनोरम होगा, पार्वती की उत्पत्ति-भूमि कितनी पवित्र होगी, पद्मा की जन्मदात्री कितनी गम्भीर होगी। जिस कुल ने इस देव-दुर्लभ सौन्दर्य को, इस ऋषि-दुर्गम सत्य व्रत को, इस कुसुम-कमनीय चारुता को उत्पन्न किया है—वह धन्य है, वह कुल पवित्र है, वह जननी कृतार्थ है, वह पिता सफलकाम है। देवि, तुममें निश्चय ही वह शक्ति है जिससे म्लेच्छ जाति का हृदय संवेदनशील बनेगा, उनमें उच्चतर साधना का संचार होगा, वे सम्मानित-भूमि का सम्मान सीखेंगे। परन्तु मैं चाहूँ भी तो अपनी काव्य-शक्ति कैसे तुम्हारे भीतर संचारित कर सकूँगा ? फिर भी इस आर्यावर्त्त के जटिल स्तर-भेद को दूर करने के लिए तो मेरे पास कोई शक्ति है ही नहीं। मैं स्पष्ट सुनना चाहता हूँ देवि, यह सम्भव कैसे होगा !"

भट्टिनी के अधरों पर मन्द स्मित दिखायी दिया, बोलीं, "अद्‌भुत है भट्ट, आश्चर्य है, अपूर्व है यह तुम्हारी निर्मल वाग्धारा। मेरा जन्म सार्थक है, मेरा भाग्यहीन जीवन भी आज कृतार्थ है, तुम्हारी इन स्तुतियों ने मेरे अन्तर में अपूर्व आत्मगरिमा संचरित की है। तुम क्या समझते हो कि मैं रानी की मर्यादा पाने से सन्तुष्ट हो गयी हूँ ? ना भट्ट, तुम्हारी इस पवित्र वाक्-स्रोतस्विनी में स्नान करके ही मैं पवित्र हुई हूँ। इसी से मुझमें आत्मबल आया है। तुम्हारे निष्कलुष हृदय को देखकर ही मुझे सेवा का प्रशस्त पथ दिखा है। तुम जो कहते हो वह कठिन क्या है भला !"

भट्टिनी ने मुझे बहुत सोचने का अवसर नहीं दिया। बोलीं, "लेकिन छोड़ो अभी इस बात को। आचार्य भर्वुपाद एक सप्ताह के भीतर ही आ जायेंगे। कौन जाने, मेरे भाग्य में कहाँ जाना बदा है; इस बीच कुमार कृष्णवर्द्धन महाराजाधिराज को यहाँ ले आनेवाले हैं। मेरे मन में आज किसी के प्रति कोई कल्मष नहीं है। मेरे पास ऐसा क्या है जो उन लोगों के अनुग्रह के प्रतिपादन में दे सकूँ। मेरे एक तुम हो, सब प्रकार से तुम्हारे ऊपर ही मुझे निर्भर रहना है। कुछ ऐसा करना कि महाराजाधिराज के अनुकूल उनका स्वागत हो सके। सुना है, आज हमारे स्वागत के लिए नगर के श्रेष्ठ कलाविद् जुटाये गये हैं, हमारे तो सर्वस्व तुम्हीं हो।" इतना कहकर भट्टिनी ने मेरी ओर विश्वास के साथ देखा। उनकी आँखों में कृतज्ञता के आँसू थे।

इसी समय द्वारी ने आकर समाचार दिया कि कोई सज्जन मुझसे मिलने आये हैं। बाहर आकर देखता हूँ तो धावक है। धावक का वही मस्त चोला, वही सदा-प्रफुल्ल मुख, वही फक्कड़ाना अलबेली छवि। इस भरे आषाढ़ में मालती और जाती कुसुमों का क्या अभाव है? धावक ने बाहुमूल, कण्ठदेश और चूड़ा में जमकर मालती-दाम का व्यवहार किया है। कस्तूरिका-धूपित उत्तरीय के साथ जाती कुसुमों के मिलित आमोद से धावक ने अपने इर्द-गिर्द एक अद्भुत सुगन्धित वातावरण तैयार कर लिया था। एक मालती-दाम मेरे लिए भी वह लेता आया था। ताम्बूल का तो धावक को रोग है। आज भी उसने निर्दयतापूर्वक ताम्बूल-पत्र चबाये थे। मुझे देखकर वह धवाकर मिला। देर तक हम दोनों गाढ़ आलिंगन-पाश में बँधे रहे। कुशल-क्षेम के बाद धावक ने मेरी पीठ थपथपाते हुए कहा, "लो गुरु, पौ बारह हैं तुम्हारे। आज चारुस्मिता का मयूरनृत्य है तो कल विद्युदपांगा का मनोहर संगीत। देवपुत्र-नन्दिनी ने तो तुम्हें निर्बाध राज्य दे दिया है। हो भाग्यवान्, बन्धु! सुनो, मुझे भी अपने पार्श्व में बैठने देना; देखो भाई, मित्र को ऐसे समय में भूलने का परिणाम बुरा होता है।" धावक की आँखों में रहस्य-चपलता देखकर मैंने छेड़ा—"क्या परिणाम होता होगा, मित्र!" धावक ने ताम्बूल-जड़िम वाणी में कहा, "बड़ा कठिन, मित्र! किसी मृणाल-कोमल वस्तु में बँधना पड़ता है और खेद यह है कि न वह बन्धन छूटता ही है, न छुड़ाने की इच्छा ही होती है।" मैंने फिर बढ़ावा दिया—"कै बार बँध चुके हो, बन्धु!" धावक ने लापरवाही के साथ उत्तर दिया, "अरे गुरु, धावक की बात छोड़ो! पद्म-पत्र पानी में रहकर भी निर्विकार रहता है। लेकिन तुमसे सच-सच कहूँ न मित्र, वह नृत्योत्सव मुझे अच्छा नहीं लगता। किसी वातुल कवि ने एक बार वर्षा-काल के साथ नर्त्तकी के नृत्योल्लास का अनुप्रास सुना था; पर एक क्षण के बाद ही वह इतना कल्पना-दरिद्र बना कि कुछ मत पूछो। कविराज ने अम्बर में मेघ का आडम्बर देखा, नर्त्तमान विद्युल्लता देखी और घन-गर्जन सुना तो बोल उठे कि इस नाट्याडम्बर के समय विद्युत-नर्त्तकी के नृत्यारम्भ का मंगल-मृदंग बज उठा है! और फिर? फिर जानते हो क्या हुआ! दिल-जले बटोही

केलि-मन्दिर में घुस गये जिसमें आँगन के फुल्ल तरु की शाखा पर बैठे हुए कौए की आवाज सुनकर उत्सुक प्रियतमा पहले से ही जा बैठी थी ![1] छिः, यह भी कोई तुक है ?" मैंने छेड़ने के उद्देश्य से कहा, "तुम्हें किसमें तुक मिलता दिखता है, मित्र !" धावक की जीभ ज़रा भी उलझी नहीं, झम-से बोल उठा, "तुक तो, मित्र, प्रेंखा विलास (झूला) में है। मेघनिःस्वन और धारा की रिमझिम के साथ तो बस प्रेंखा का ही तुक मिलता है। अमन्द सुवर्ण-किंकणियों का मन्द-मन्द क्वणन, क्षणज्झणित मेखला की तरल झंकार और वाचाल कंकणों की मधुर रुनझुन के साथ झूलती हुई विद्युद्गौर किशोरियाँ ही इस वर्षा-काल में द्युलोक के साथ भूलोक का अनुप्रास मिला सकती हैं।" मैंने फिर छेड़ा —"कुछ वर्णन करके सुनाओ न बन्धु, सूखी बातों में क्या धरा है।" धावक अपनी मस्ती में शिखान्त तक मग्न था। बोला, "गुरु, इस शोभा को एक ही कवि वर्णन कर सकता है, सो भी यदि कमल-नयनाओं का प्रसाद पा सका हो तब। जानते हो वह कौन है? अंगहीन देवता कोई !"[2]—धावक ने इस प्रकार आँखें नचायीं मानो एकमात्र वही उस देवता का पता जानता है ! मैंने रस लेते हुए पूछा, "फिर कान्यकुब्जेश्वर को यह बुद्धि तुमने क्यों नहीं दी ?" धावक ने उल्लसित भाव से कहा, "हे भगवान्, मिला है मगध देश का भकुआ ! अरे गुरु, यह उत्सव क्या तुम्हारी भट्टिनी के लिए हो रहा है ? यह तो कान्यकुब्ज की विद्रोही जनता को राजशक्ति की ओर से मदिरा पिलायी जा रही है। भट्टिनी का स्वागत तो उपलक्ष्य है। यहाँ की भोंड़ी जनता को अनुप्रास से क्या मतलब। चारुस्मिता और विद्युदपांगा का नृत्य जो भी हो और जैसा भी हो, यहाँ धूम मच जायेगी। मेधातिथि और वसुभूति सिर पटकके मर जायेंगे, कान्यकुब्ज की जनता महाराजाधिराज का यश गायेगी। गुरु, तुम इतना भी नहीं समझते और देवपुत्र-नन्दिनी के मन्त्री बने हो !" धावक ने बिल्कुल परवा न की कि उसके इस कथन का मेरे ऊपर क्या प्रभाव पड़ा। वह अनर्गल बकता ही गया—"लेकिन चारुस्मिता है उत्तम नर्त्तकी। हाव-भाव-हेला में वह अद्वितीय है; सात्त्विक अभिनय तो वैसा नहीं कर सकती, किन्तु विचित्र माधुर्य है उसकी चारियों में। जितना सुन्दर वंशी बजाती है, उतना सुन्दर मृदंग भी; आलस्य तो उसे छू नहीं गया, नाचती है तो देखते ही बनता है और भरतमुनि ने नर्त्तकी के गुण तो मानो उसे देखकर ही लिखे थे ! अर्थ में, रूप में, गुण में,

1. एक अज्ञात कवि के निम्नलिखित श्लोक से तुलना की जा सकती है—
दृष्ट्वाडम्बरे घनकृतं सौदामिनी नर्तकी—
नृत्यारम्भमृदङ्गमङ्गलरवं श्रुत्वा च तद्गर्जितम्।
पुष्यत्पुष्पभरानताङ्गणतरुस्कन्धावसद्वायस—
क्वणाकर्णनसोत्सप्रियतमं पान्था ययुर्मन्दिरम्।

2. तुलनीय—
सौकर्यमिन्दीवरलोचनानां दोलासु लीलासु यदुल्ललास।
यदि प्रसादाल्लभते कवित्वं जानाति तद् वर्णयितुं मनोभूः॥

औदार्य में, सौभाग्य में, धैर्य में, वीर्य में वह अपना प्रतिद्वन्द्वी नहीं जानती। जितनी ही मृदुल है उतनी ही मधुर है; जितनी ही स्निग्ध, उतनी ही लीलावती है।[1] इस नगर का तो वह शृंगार है। वस्तुतः उसके नाच को उसकी शोभा ही चमका देती है।"

मैं धावक की मस्ती का रस ले रहा था। और भी जानने की इच्छा से पूछा, "भला विद्युदपांगा में क्या गुण हैं, बन्धु !" "विद्युदपांगा की बात और है। वह गाती अच्छा है और रूप तो बस, नाम से ही समझ सकते हो। कहते हैं लोलकटाक्ष भी तब तक हृदय-बेधक नहीं होते जब तक सौ-पचास हृदयों को बेध नहीं डालते। विद्युदपांगा के पास वैसे ही कटाक्ष हैं।" मैंने फिर टोका—"बिंध चुके हो क्या, कवि ?" इस बार धावक ठठाकर हँसा। बोला,—"कवि बिंधता नहीं मित्र, बेधा करता है। अपांग-बाण से नहीं, व्यंग्य-बाण से।"

देर तक धावक इसी प्रकार हँसाता-हँसता रहा। मुझे यह कवि कुछ विचित्र लगता है, उसकी दुनिया निर्लिप्त मस्ती की दुनिया है। जिस बात से अन्य कवि द्रवित हो जाते हैं उससे भी वह अपनी मस्ती का खाद्य निकाल लेता है। चलते-चलते धावक ने कहा, "एक बात से सावधान रहना मित्र, कान्यकुब्ज में किसी पर विश्वास न करना, सब तुम्हें कतरना ही चाहेंगे और वह जो काशीवाले मीमांसक को ले आ रहे हो उसे भी समझा देना कि बेकार जहाँ-तहाँ न भिड़ता फिरे। कान्यकुब्ज विचित्र देश है, यहाँ एक बार यदि ताली बज गयी तो बस बज ही गयी। विरोधी विद्वानों को तो यहाँ के लोग यों चुटकी पर उड़ा देते हैं।" धावक जाते समय बड़े गाढ़ आलिंगन में मुझे बाँधकर तब बिदा हुआ। मैं दूर तक उसे पहुँचाने गया। एक क्षण के लिए भी उसने अपनी रसना को विश्राम नहीं दिया। उससे बहुत-सी बातें मालूम हुईं। अवधूत अघोर-भैरव यहीं चण्डीमण्डप में हैं। सुचरिता और विरतिवज्र की तीन लोक से न्यारी साधना अब शान्ति से चल रही है। उड्डियानपीठ का भण्ड वैष्णव न जाने कहाँ लोप हो गया है। महाराजाधिराज ने रत्नावली नाम से एक सुन्दर नाटिका लिखी है। इसमें उन्होंने मार-वधुओं के शरण्य बोधि-स्थित मुनीन्द्र (बुद्ध) की प्रार्थना नहीं की है,[2]— बल्कि

1. तुल.—अर्थरूपगुणौदार्य-सौभाग्य-धैर्य-वीर्य-सम्पन्ना।
पेशलमधुरा स्निग्धा न च विकला चित्रकर्मकुला च ॥ —नाट्यशास्त्र, 34 । 46

2. नागानन्द के इन श्लोकों से तुलनीय—
ध्यानव्याजमुपेत्य चिन्तयसि कामुन्मील्य चक्षुः क्षणं
पश्यानङ्गशरातुरं जनमिमं त्रातापि नो रक्षसि।
मिथ्याकारुणिकोऽसि निर्घृणतरस्त्वत्तः कुतोऽन्यः पुमान्
इत्थं मारवधूभिरित्यभिहतो बोधौ जिनः पातु वः ॥ 1 ॥
कामेनाकृष्य चापं हतपटुपटहावल्गिभिर्मारवीरै—
र्भ्रूभंङ्गोत्कम्पजृम्भास्मितललितदृशा दिव्यनारीजनेन।
सिद्धैः प्रह्वोत्तमांगैः पुलकितवपुषा विस्मयाद्वासवेन
ध्यायम् बोधेरवाप्तावचालित इति वः पातु दृष्टो मुनीन्द्रः ॥ 2 ॥

पार्वती और लक्ष्मी के नाम लेकर शिव और हरि की प्रार्थना की है, धावक के कुछ श्लोक भी उसमें जोड़ दिये गये हैं। ऐसी ही और भी बहुत-सी बातें इस मस्तराम से अनायास ही मालूम हो गयीं। जब मैं धावक को पहुँचाकर लौटा तो मन में उसकी बतायी बातें चक्कर काट रही थीं। कितनी सहज आनन्द-धारा इस कवि के सर्वांग को घेरकर उच्छ्वसित हो रही है! वह कौन-सा रस-निर्झर है जिससे इतनी उमंग, इतना उल्लास, इतनी निःसंगता झरती रहती है। न कहीं विरोधी पक्ष की सम्भावना से आशंका है, न किसी पर भले-बुरे प्रभाव से प्रयोजन। मानो वह इस दुनिया से उमंग का रस खींचने के लिए ही पैदा हुआ है। दूसरे को उससे सुख पहुँचे या दुःख, वह अपना रस उसी प्रकार निकाल लेगा जिस प्रकार दलित इक्षुदण्ड से किसान निकाल लेता है।

धावक ने कहा कि चारुस्मिता का नृत्य कान्यकुब्ज की विद्रोही जनता को वश में ले आने का अस्त्र है। यह क्या सत्य है? यह कितना मर्मन्तुद संवाद है; पर धावक कितने सहज भाव से यह संवाद कह गया? चारुस्मिता का यश मैंने सुना है, उसके गुण आज धावक ने बताये हैं; हाय, कितनी गुण-सम्पत्ति है और कितने नीच उद्देश्य से उसका उपयोग हो रहा है। गणिका नगर का शृंगार होती है या नगर का अंगार? वह क्या एक ही साथ अमृत और विष का मिश्रण है? शूद्रक ने वसन्तसेना को पद्महीन लक्ष्मी, अनंग देवता का ललित अस्त्र, कुलवधुओं का शोक और मदन वृक्ष का पुष्प कहा था।[1] भाग्य का कैसा दुर्ललित परिहास है! जो लक्ष्मी है वही शोक भी है, जो फल है वही मारणास्त्र भी। भट्टिनी कहती हैं कि जिन्हें तुम म्लेच्छ समझते हो उनकी स्त्रियों में रानी से लेकर परिचारिका तक के और गणिका से लेकर वार-वनिता तक के सैकड़ों स्तर नहीं हैं। यह मेरे लिए एकदम विचित्र संवाद है। मेरा मन कहता है कि स्वर्ग उसी समाज में होगा। यह जो दुःख-ताप है, निर्यातन है, धर्षण है, परदाराभिमर्श है, यह विकृत समाज-व्यवस्था के विकृत परिणाम हैं। भट्टिनी इस बात को समझ गयी हैं। उनके रक्त की ज्वाला में जलकर यह पवित्र ज्योति प्रकट हुई है। म्लेच्छों में शायद शास्त्र-चर्चा का अभाव है, धर्म-साधना की कमी है, दरिद्रता का वास है। ये बातें अगर सुधार दी जायें तो वहाँ स्वर्ग बना ही हुआ है। यहाँ स्वर्ग बनना कठिन है। यहाँ स्वार्थों का संघात है, लोभ-मोह का प्राबल्य है। महाकवि ने जिस यक्ष-लोक की कल्पना की थी उसमें सामाजिक मर्यादा समान थी, आँसू अगर थे तो सिर्फ आनन्द के, पीड़ा अगर थी तो प्रेम की, वियोग अगर था तो प्रणय-कलह का और

1. तुल.—

अपद्मा श्रीरेषा प्रहरणमनङ्गस्य ललितं
कुलस्त्रीणां शोको मदनवरवृक्षस्य कुसुमम्।
सलीलं गच्छन्ती रतिसमयलज्जाप्रणयिनी
रतिक्षेत्रे रंगे प्रियपथिकसार्थैरनुगता ॥

—मृच्छकटिक 5 । 12

जरा-मृत्यु का तो वहाँ कोई चिह्न भी न था।[1]—भट्टिनी जो कुछ कह रही हैं उससे गिरिसंकट के उस पार इस कल्पलोक का साक्षात्कार पाया जा सकता है। परन्तु मुझमें क्या वह शक्ति है ?

मैंने सुना है कि गिरिसंकट के उस पार अत्यन्त घृणित म्लेच्छ जातियाँ बसती हैं। लूट-मार ही उनका व्यवसाय है, देवायतनों को भ्रष्ट करना ही उनका धर्म है, ब्राह्मणों और श्रमणों का वध करना ही उनका आमोद है, कुल-वधुओं और बालिकाओं का धर्षण ही उनका विलास है, हत्या और आग लगाना ही उनका पावन कर्त्तव्य है। पुरुषपुर से साकेत तक विशाल जनपद को उन्होंने रौंद डाला था। परम्परा क्रम से हम सुनते आ रहे हैं कि महाकवि ने रघुवंश में विध्वस्त अयोध्या का वर्णन करने के बहाने इन्हीं निर्घृण लुटेरों के कुकृत्यों का वर्णन किया है। इस दारुण विध्वंस-लीला को स्मरण करता हूँ तो रोएँ खड़े हो जाते हैं—दिनान्तकालीन प्रचण्ड आँधी से छिन्न-भिन्न मेघ-पटल की भाँति नगरियाँ श्रीहीन हो गयी थीं; जिन राजपथों पर घनी रात में भी निर्भय विचरण करनेवाली अभिसारिकाओं के नूपुरों की रुनझुन सुनायी देती थी उन पर शृगालों के विकट रव सुनायी देने लगे थे; जिन पुष्करिणियों में जल-क्रीड़ाकालीन मृदंगों की मधुर ध्वनि गमगमाया करती थी, उनका निर्मल जल जंगली भैंसों के लोटने से गँदला हो गया था; मृदंग के ताल पर नाचने के अभ्यस्त और सुवर्णयष्टियों पर विश्राम करनेवाले क्रीड़ामयूर जंगली बन गये थे और उनके मृदुल बर्हभार दावाग्नि से झुलस गये थे; अट्टालिकाओं की जिन सीढ़ियों पर रमणियों के सराग पद संचरण किया करते थे उन पर व्याघ्रों के लहूलुहान पैर दौड़ा करते थे; बड़े-बड़े राजकीय मदमत्त गजराज जो पद्मवन में अवतीर्ण होकर मृणाल-नालों द्वारा करेणुकाओं की संवर्धना किया करते थे, सिंहों से आक्रान्त हो रहे थे; सौधस्तम्भों पर लकड़ी की बनी स्त्री-मूर्त्तियों का रंग धूसर हो गया था और उन पर साँपों की लटकती हुई केंचुलें ही उत्तरीय का कार्य करने लगी थीं; राजमहलों के अमल-धवल प्राचीर काले पड़ गये थे, दीवार के दरारों से तृणावली निकल पड़ी थी। चन्द्रकिरणें भी उन्हें पूर्ववत् उद्भासित नहीं कर सकती थीं; जिन उद्यानलताओं से विलासिनियाँ बड़े सदय भाव से पुष्प-चयन किया करती थीं उन्हीं को वानरों ने बुरी तरह से छिन्न-भिन्न कर डाला था; अट्टालिकाओं के गवाक्ष न तो रात में मांगल्य-प्रदीप से ही और न दिन में गृह-लक्ष्मियों की मुखकान्ति से ही उद्भासित हो रहे थे, मानो उनकी लज्जा ढकने के लिए ही मकड़ियों ने उन पर जाला तान दिया था, नदियों के सैकतों पर पूजन की सामग्री नहीं पड़ती थी, स्नान की चहल-पहल जाती रही थी

1. कालिदास के बताये जानेवाले निम्नलिखित श्लोक से तुल.—
आनन्दोत्थं नयनसलिलं यत्र नान्यैर्निमित्तै-
र्नान्यस्तापः कुसुमशरजादिष्टसंयोगसाध्यात्
नाप्यन्यस्मात् प्रणयकलहाद्विप्रयोगोपपत्ति-
र्वित्तेशानां न च खलु वयो यौवनादन्यदस्ति। —मेघ. 2।4

और उपान्त देश के वेतसलताकुञ्ज सूने पड़ गये थे।[1] इस प्रकार के महानाश का खेल खेलनेवाले म्लेच्छों में भी मनुष्य का हृदय है। भट्टिनी यह क्या कह रही हैं ? यह क्या सम्भव है कि मनुष्य इतना निर्दय हो, इतना बीभत्स हो, इतना क्रूर हो ! पर भट्टिनी कह रही हैं कि उनमें भी एक ही रागात्मक हृदय है !

मैं इसी प्रकार चिन्ता-जाल में उलझा हुआ बैठा था कि निपुणिका ने पुकारा। उस समय आकाश नील मेघों से मेदुर हो गया था, वृक्षों की काली रेखाओं के ऊपर मेघों की छाया पड़ने के कारण दूर की वनभूमि और भी काली हो आयी थी, ऐसा जान पड़ता था कि आकाश सूर्य-बिम्ब को एकदम पी ही गया है। यद्यपि उस समय भी दिन अभी कुछ शेष था तथापि प्रकाश का लोप हो चुका था। इस कालिमा की पृष्ठभूमि में निपुणिका निकष-ग्रीवा पर अंकित सुवर्णरेखा के समान कमनीय लग रही थी। उसके पाण्डुर कपोल इन दिनों आनन्द के रसायन से अपूर्व सुन्दर हो गये हैं, उसकी वाणी में और भी मिठास आ गया है, नयन-कोरकों में और भी मेदुरता निखर आयी है। निपुणिका को देखकर मुझे बड़ी प्रसन्नता हुई। उसके अधरों पर स्मिति-रेखा थी, लोचनों में लीला-विलास था और वाणी में उन्मद भाव था ! मैंने प्रसन्न होकर कहा, "क्या कहती है, निउनिया !" निपुणिका मेरी ओर देखे बिना ही बोली, "भट्टिनी ने जो कहा है उसका अर्थ तुमने समझा है ?" मैंने कहा, "भट्टिनी ने बहुत-सी बातें कही हैं, कुछ का अर्थ मैंने समझा है, कुछ का अर्थ नहीं समझा है, कुछ का समझने का प्रयत्न कर रहा हूँ।" निपुणिका ने फिर हँसते हुए कहा, "नहीं-नहीं, मैं सबका अर्थ नहीं पूछ रही हूँ। महाराजाधिराज के योग्य कुछ करने का उन्होंने जो आदेश दिया है उसका अर्थ पूछती हूँ।" मुझे नाना चिन्ताओं में वह बात भूल ही गयी थी। मैंने उस विषय में कुछ सोचा भी नहीं था। निपुणिका के प्रश्न का क्या उत्तर दूँ, कुछ समझ नहीं सका। मुझे चिन्तित देखकर निपुणिता फिर बोली, "घबराने की बात नहीं, मैं बताये देती हूँ। तुम्हें फिर से अभिनय का अभ्यास करना पड़ेगा और मुझे भी। मेरे मुँह से भट्टिनी ने तुम्हारे अभिनय-कौशल की अनेक बातें सुनी हैं। उनकी प्रच्छन्न अभिलाषा है कि तुम्हारा मनोहर अभिनय देखें। तुम्हारा यह कविमित्र कहता था कि महाराजाधिराज ने कोई नयी नाटिका लिखी है। उसी को उस दिन क्यों नहीं रंगभूमि पर उतार देते ?" निपुणिका ने मुझे एकदम नयी उलझन में डाल दिया। मैंने तो यह अभिनय का व्यापार बहुत दिनों से छोड़ दिया है। भट्टिनी के सामने अभिनय करना तो एकदम असम्भव-सा ही लग रहा है। पर उनकी अभिलाषा है तो असाध्य में भी कूदना ही पड़ेगा। मैंने अधिक जानने के उद्देश्य से पूछा, "तुझे रंगभूमि पर अब भी उतरने का साहस है, निउनिया !" निपुणिका ने आँखें नीची कर लीं। उसकी हँसी क्षण-भर में लुप्त हो गयी, एक दीर्घ निःश्वास ने उसके पाण्डुर मुख-मण्डल को धूमिल बना डाला, बोली, "अभिनय ही तो कर रही हूँ। जो वास्तव है उसको दबाना और जो अवास्तव है उसका आचरण करना—यही तो अभिनय

1. तुल.—रघुवंश 16-11-21

है। सारे जीवन यही अभिनय किया है। एक दिन रंगमंच पर उतर जाने से क्या बन या बिगड़ जायेगा।" निपुणिका की बातों ने मेरा हृदय कुरेद डाला। सचमुच ही क्या यह जीवन अभिनय है? यह पग-पग का बन्धन, श्वास-श्वास का दमन अभिनय ही तो है! निपुणिका इसके लिए दुखी है, परन्तु यह छूटेगा कैसे! एक क्षण में मेरा मन जीवन की इस बन्धन-जड़िमा की ओर चला गया। परन्तु दूसरे ही क्षण मुझे इसकी उत्तम कोटि भी समझ में आ गयी। यह बन्धन ही चारुता है, संयम है। निपुणिका व्यर्थ परेशान हो रही है। इस बाधा के कगारों से बँधी हुई जीवन-सरिता ही गतिशील होती है, सरस होती है, मधुर होती है। "न निउनिया, बन्धन ही सौन्दर्य है, आत्म-दमन ही सुरुचि है, बाधाएँ ही माधुर्य हैं। नहीं तो यह जीवन व्यर्थ का बोझ हो जाता। वास्तविकताएँ नग्न रूप में प्रकट होकर कुत्सित बन जाती हैं।" उद्दीपित दीपशिखा जिस प्रकार अन्धकार को दूर कर देती है उसी प्रकार इस छोटी-सी बात ने मेरे हृदय को प्रकाशित कर दिया। म्लेच्छ जाति में इसी संयम का अभाव है, आत्म-नियन्त्रण की कमी है। उन्हें यही चाहिए। भारतीय समाज ने बन्धन को सत्य मानकर संसार को बहुत बड़ी चीज दी है। हम दोनों देर तक मौन बैठे रहे। बाहर घनघोर वर्षा हो रही थी और भीतर विचार-प्रवाह तीव्र वेग से बह रहे थे। ऐसे ही समय मधुर-कोमल कण्ठ से समस्त शून्यता को भरती हुई भट्टिनी ने महावराह की स्तुति पढ़ी—

जलौघमग्ना सचराचरा धरा, विषाणकोट्याऽखिलविश्वमूर्तिना।
समुद्धृता येन वराहरूपिणा स मे स्वयंभूर्भगवान् प्रसीदतु॥

हमारा ध्यान भंग हुआ। भट्टिनी की पूजा समाप्त हो गयी है। निपुणिका जैसे नींद से उठी। बोली, "हाँ भट्ट, बन्धन ही माधुर्य है!" और भट्टिनी के पास चली गयी!

उन्नीसवाँ उच्छ्वास

महाराजाधिराज श्रीहर्षवर्द्धन और महारानी राज्यश्री से मिलकर भट्टिनी बहुत प्रसन्न हुईं। महाराज के सौजन्य और स्नेह ने उनका हृदय जीत लिया। वे सचमुच ही उनकी सगी बहिन बन गयीं। महारानी राज्यश्री की आज्ञा से मैं वृद्ध बाभ्रव्य को भट्टिनी के पास ले आया। उन्होंने उससे मिलने की इच्छा प्रकट की थी। वृद्ध को अभी तक यह मालूम नहीं था कि जिस देवपुत्र-नन्दिनी के स्वागत के लिए सारा साम्राज्य उबल पड़ा है वह किसी समय उसी के शासन में आबद्ध अपहृता

राजकुमारी थीं। रास्ते में उसने कई बार पूछा कि—"भद्र, देवपुत्रनन्दिनी मुझे क्यों बुला रही हैं ?" वृद्ध की सरलता बड़ी मनमोहक थी। मैंने भी आश्चर्य का भाव दिखाते हुए कहा, "हाँ आर्य, मुझे भी आश्चर्य हो रहा है कि देवपुत्र-नन्दिनी आपको क्यों बुला रही हैं !" अन्त में उसने स्वयं समाधान कर लिया। बोला, "दुर्भाग्य का परिहास है, भद्र ! बीस वर्ष से मौखरिराजकुल के अन्तःपुर में कञ्चुकी का कार्य कर रहा हूँ। भाग्य ने मौखरि-वंश का अन्न अन्त तक छीन लेने का ही निश्चय किया है। अब मेरे ऊपर कौन विश्वास करेगा ? मैं अन्तःपुर की रक्षा में अपनी अयोग्यता का परिचय दे चुका हूँ। जान पड़ता है, महारानी का विश्वास भी मुझ पर से उठ गया। कौन जाने इस वृद्ध वयस में पुरुषपुर जाना पड़ेगा या गिरिसंकट के भी उस पार जाना होगा !" वृद्ध की आँखें सजल हो आयीं। मौखरि-वंश के अन्न का मोह कितना द्रावक था !

स्कन्धावार के बाहरी अलिन्द में वृद्ध को बैठाकर मैं भट्टिनी को संवाद भिजवाना ही चाहता था कि निपुणिका आ गयी। उसने गले में आँचल बाँधकर जानुपातपूर्वक वृद्ध को प्रणाम किया। वृद्ध की शिथिल दृष्टि ने पहले तो उसे नहीं पहचाना; परन्तु जब वह प्रणाम करके उठी तो पहचान लिया। क्षणभर में उसका मुखमण्डल विवर्ण हो गया। उसने भीत-भीत भाव से कहा, "निउनिया, तू है !" निपुणिका ने वृद्ध की मनोदशा देखकर उसे आश्वस्त करते हुए कहा, "मैं ही हूँ, आर्य, पर तुम इतने विवर्ण क्यों हो गये ? चलो, तुम्हें भट्टिनी के पास ले चलूँ।" वृद्ध को जैसे बिच्छू ने काट लिया हो। चकित भाव से पूछा, "भट्टिनी ?" निपुणिका ने कहा, "हाँ आर्य, भट्टिनी ने ही तो तुम्हें बुलवाया है।" वृद्ध के शरीर से पसीना बह चला। वह कुछ समझने का प्रयत्न करने लगा; पर उसकी आँखों की जड़िमा से स्पष्ट मालूम हो रहा था कि वह कुछ समझ नहीं रहा है। उसने हैरान होकर फिर पूछा, "क्या कहती है निउनिया, कौन भट्टिनी ?" निउनिया ने धीर-भाव से कहा, "घबराओ मत आर्य, देवपुत्र-नन्दिनी के पास तुम्हें ले जा रही हूँ।" वृद्ध ने सन्देह की दृष्टि से मुझे देखा और अनिच्छापूर्वक निपुणिका के साथ भीतर चल पड़ा।

वृद्ध को देखकर भट्टिनी के बड़े-बड़े नयनों में आँसू भर आये। उन्होंने प्रेम-पूर्वक उसे प्रणाम किया। वृद्ध कुछ ऐसा अकचकाया कि वह प्रणाम का उत्तर भी न दे सका। अत्यन्त आश्चर्य और साध्वस से वह चिल्ला उठा—"जय हो, भावी महादेवी की जय हो !" भट्टिनी की कपोल-पालि पर दरविगलित अश्रुधारा बह चली। वृद्ध ने कुछ समझते हुए कहा, "अपराध मार्जित हो, देवि, मैं अभ्यासवश कुछ अनुचित कह जाऊँ तो क्षम्य ही हूँ। क्या छोटे राजकुल की भावी महादेवी को पहचानने में भूल कर रहा हूँ ? देवि, मौखरियों के कञ्चुकी की सारे जीवन की कमायी मैं नष्ट कर चुका हूँ, आज महादेवी को देखकर मुझे यह समझ में नहीं आ रहा है कि मैं प्रसन्न होऊँ या विषण्ण। देवि, शिथिलांग वृद्ध दया का पात्र है। मैं कुछ विशेष जानने का प्रसाद पाना चाहता हूँ।" भट्टिनी ने कुछ उत्तर नहीं दिया।

वे पथरायी आँखों से देर तक वृद्ध को देखती रहीं। निपुणिका भी नाना स्मृतियों के आकस्मिक उद्रेक से हतचेष्ट हो गयी थी। वृद्ध बारी-बारी सबकी ओर देखता रहा और कुछ समझने का प्रयत्न करता रहा। अन्त में मैंने ही कहा, "आर्य वाभ्रव्य, क्यों चकित की भाँति देख रहे हो? तुम्हारे सामने देवपुत्र-नन्दिनी ही विराजमान हैं। इन्हीं को मौखरियों के छोटे महाराज ने अपने अन्तःपुर में बलात् बन्द कर रखा था। भावी महादेवी कहकर तुम व्यर्थ ही अत्रभवती के पुराने घावों को ताजा कर रहे हो। निउनिया को साधुवाद दो, उसी के साहस का प्रभाव है कि आज आर्यावर्त्त नाश के गह्वर में पतित होने से बचने की आशा रखता है।" इतना सुनने के बाद वृद्ध की विस्मय-विमूढ़ता कुछ कम हुई। वह अपने को सम्हालने में कृतकार्य हुआ। उसने गद्गद कण्ठ से आशीर्वाद देते हुए भट्टिनी के सिर पर हाथ फेरा। बोला, "प्रीत हूँ बेटी, आज मेरा परिताप धुल गया है। मौखरियों के अन्तःपुर की मान-रक्षा न कर सकने का क्षोभ आज मेरे मन से दूर हो गया है। बीस वर्ष से मैंने कञ्चुक धारण किया है। इस लम्बी अवधि में केवल दो बार मुझे कर्त्तव्य से च्युत होने का अपराध स्वीकार करना पड़ा है, पर त्रिपुर-भैरवी की कुछ ऐसी विचित्र माया रही है कि दोनों ही बार मेरे अपराधों से बृहत्तर जगत् को लाभ हुए हैं। बड़े अनुताप के साथ मैंने पिछले कई महीने बिताये हैं। मैं बराबर ऐसा ही समझता रहा हूँ कि मैंने अन्तिम जीवन में कलंक लगा लिया है; लेकिन तुम्हारा परिचय पाकर मैं आश्वस्त हो गया हूँ। त्रिपुरसुन्दरी की माया को कौन जान सकता है!"

भट्टिनी ने वृद्ध को आसन ग्रहण करने का संकेत किया। उनका गला तब भी भरा हुआ था। वृद्ध के आसन ग्रहण करने के बाद हम सबने आसन ग्रहण किया। उसकी आँखों में स्नेह का जल उमड़ पड़ा था। वह देर तक किसी भूली घटना को याद करता रहा। भट्टिनी की ओर वह देर तक देखता रहा। इस बीच निपुणिका प्रकृतिस्थ हो गयी थी। उसने भी गद्गद कण्ठ से कहा, "विश्वासघातिनी निपुणिका क्षमा याचने योग्य भी नहीं है, आर्य! परन्तु मेरी अन्तरात्मा ने आज तक मुझे इस विश्वासघात के लिए दोषी नहीं बताया। आर्य को संकट में छोड़ देने का दुःख मुझे बहुत था और मुझसे भी अधिक भट्टिनी को था। प्रथम सुयोग मिलते ही भट्टिनी ने तुम्हें बचाने का प्रयत्न किया था। पर तुम्हें कष्ट ही तो हुआ, आर्य!" वृद्ध की आँखों में आँसू आ गये। बोला, "अगर मुझे जीवित जला दिया गया होता तो भी मुझे उतना दुःख नहीं होता बेटी, जितना तिल-तिल करके पश्चात्ताप की अग्नि में जलने से हुआ है। हाय, जब मैं कुमार कृष्ण के घर अचानक बुला लिया गया उसी समय किसी ने देवपुत्र-नन्दिनी का यथार्थ परिचय बता दिया होता तो मैं परिताप की अग्नि में इस प्रकार न जलता।" इस बार भट्टिनी ने टोका, "आर्य को कोई दण्ड दिया गया था क्या!" वृद्ध ने उत्तर दिया, "दण्ड कहाँ दिया गया बेटी, मैं कुछ समझ नहीं सका कि इतने बड़े अपराध के लिए मैं शूल-विद्ध क्यों नहीं किया गया!"

वृद्ध थोड़ी देर तक आँखें बन्द करके कुछ सोचता रहा। फिर भट्टिनी की ओर देखकर बोला, "बेटी, तुम्हारे चले जाने के बाद मैं बहुत दुःखी रहा हूँ। मुझे बराबर ऐसा लगता रहा है कि मैंने अपने अन्नदाता की सेवा में प्रमाद किया है, तुषानल में जलने पर भी पाप का प्रायश्चित्त नहीं होगा, परन्तु देवि, बेटी, आज मुझे ऐसा लगता है कि मेरा विश्वास हिल गया है। तान्त्रिक योगी ने आज से पन्द्रह वर्ष पूर्व जो भविष्यवाणी की थी वह अक्षरशः सत्य सिद्ध हो रही है। आज मैं सम्भवतः जीवन का सबसे बड़ा सत्य देख रहा हूँ। मेरा रोम-रोम सिहर रहा है।"

भट्टिनी ने आश्चर्यपूर्वक पूछा, "तान्त्रिक योगी ने क्या कहा था, आर्य !"

वृद्ध के अंग अवश हो आये। भट्टिनी ने निपुणिका की ओर देखा। निपुणिका जल्दी-जल्दी चली गयी और थोड़ा दूध लेकर लौटी। दूध पी लेने के बाद वृद्ध में कुछ चेतना आयी। निपुणिका धीरे-धीरे पंखा झलने लगी। वृद्ध ने कहना शुरू किया—

"मैंने बीस वर्ष पहले कञ्चुक धारण किया था। आरम्भ में मैं मौखरिनरेश के अन्तःपुर में कञ्चुकी-पद पर नियुक्त हुआ। उस समय यद्यपि मैं सत्तर वर्ष का वृद्ध था तो भी इन नाड़ियों में शक्ति थी। क्या बताऊँ बेटी, राजा के अवरोधगृह में वेत्रयष्टि धारण करने का नियम है। मैंने उन दिनों इस बेंत की लाठी को आचार समझकर ही धारण किया था। अब शरीर में प्राणशक्ति जब क्षीण हो आयी है, तब यही वेत्रयष्टि टेकने की लाठी बन गयी है ! अब मेरे लिए अस्खलित गति से चलना भी दूभर हो गया है। छोटे राजकुल में तो मैं केवल पाँच ही वर्ष से हूँ। इन बीस वर्षों में इस अवरोध-गृह में न जाने कितनी बालाएँ लायी गयीं। मैंने सबका उसी सम्मान के साथ स्वागत किया जो मौखरियों की कुल-वधू के योग्य है। यही मेरे पितृ-पितामहों की शिक्षा रही है। मैंने किसी बाला का परिचय जानने का प्रयत्न नहीं किया। मेरे लिए उनका एक ही परिचय था—वे मौखरि-वंश की कुलवधुएँ थीं। केवल जीवन में दो ऐसे अवसर आये जब मुझे अनिच्छा-पूर्वक इन कुलवधुओं के पूर्व-जीवन की बातें जाननी पड़ीं। एक तो आज ही और एक आज से पन्द्रह वर्ष पूर्व।"

वृद्ध की आँखों में कुछ नयी ज्योति दिखायी दी। उसने खाँसकर गला साफ किया और फिर कहने लगा—

"आज से पन्द्रह वर्ष पूर्व ग्रहवर्मा के अन्तःपुर में एक ऐसी घटना घटी जो साधारणतः राजकीय अवरोध-गृहों में अपरिचित है। मौखरिनरेश ने कुलूतराज की कन्या से विवाह किया या। यह विवाह मेरी नियुक्ति के पहले ही हो चुका था। कभी-कभी मुखरा दासियाँ मुझे बता जाती थीं कि राजा और रानी में बनती नहीं। परन्तु मैंने रानी में कोई कठोरता या दुःख का भाव नहीं देखा। वे दिन-रात पूजा-पाठ में लगी रहतीं। महाराज उनके पास कदाचित् ही आते थे; परन्तु जब आते तो रानी उनका पर्याप्त सम्मान करतीं, फिर भी कहीं कुछ-न-कुछ गड़बड़

ज़रूर थी क्योंकि राजा एक मुहूर्त्त से अधिक कभी उनके पास नहीं रुकते थे। मैंने इस रहस्य को समझने का कभी प्रयत्न नहीं किया। अन्तःपुरिकाओं के रहस्य के प्रति जिज्ञासा का भाव कञ्चुकि-धर्म के विरुद्ध है। मेरे पितृ-पितामहों ने मुझे केवल एक ही शिक्षा दी है। प्राण देकर भी कुलवधुओं की मान-रक्षा करना। मेरे लिए सभी नमस्य हैं, सभी समान हैं। अन्तःपुर की मर्यादा लंघन करनेवाले का सिर उतार लेना मेरा धर्म है, चाहे वह राजा ही क्यों न हो। मेरे पितृ-पितामहों ने यह शिक्षा दी है कि राजा सारे संसार का राजा हो सकता है, पर अन्तःपुर में वह स्वतन्त्र नहीं है। कञ्चुकी राजा का नहीं, रानी का अन्न खाता है। सो, मैंने कुलूतराज-दुहिता का रहस्य जानने का कभी प्रयत्न नहीं किया।

"एक दिन रानी ने मुझे स्वयं बुलवाया और आज्ञा दी कि महाराज से कह दो कि महामाया ने संन्यास ग्रहण किया है। मैंने आश्चर्य, दुःख और जिज्ञासा के भाव से उनकी ओर देखा। उन्होंने गैरिक वस्त्र धारण किया था और एक सिन्दूर-लिप्त त्रिशूल का अवलम्ब लेकर खड़ी हुई थीं। लोध्र-पुष्पों के वन में खिली हुई चन्द्रमल्लिका के समान उनका मुख चकित और व्याकुल बना रहा था। पति-शोकातुरा रतिदेवी के समान वे उस वैराग्यवेश में भी कमनीय दिख रही थीं। उनका वह रूप देखकर मेरी छाती फट रही थी, पर वे शान्त थीं। बड़े स्नेह और आदर के साथ उन्होंने मुझे फिर महाराज के पास जाने को कहा। बोलीं, 'आर्य वाभ्रव्य, मैंने संसार त्याग दिया है। मेरा मन अन्तःपुर के बाहर चला गया है, शरीर भीतर रहा भी तो क्या, न रहा भी तो क्या। महाराज यदि मुझे अनुमति देंगे तो मैं अन्तःपुर छोड़ दूँगी, नहीं अनुमति देंगे तो यहीं पड़ी रहूँगी, पर अब मैं गृहस्थ होकर नहीं रह सकती। पुकार आ गयी है। दीर्घकाल से मैं इसकी प्रतीक्षा में थी। तुम महाराज को यह समाचार दे दो।'

"मैंने हाथ जोड़कर निवेदन किया कि—'देवि, तुम्हारा यह वेश देखकर मेरी छाती फटी जा रही है। संसार तुम्हें कहाँ बाधा दे रहा है कि तुमने उसे छोड़ने का निश्चय कर लिया है? मैं निश्चय महाराज को आपका समाचार दे दूँगा, परन्तु वृद्ध का अपराध क्षमा करें, देवि, मैं जानना चाहता हूँ कि इस कठोर निश्चय का कारण क्या है? क्या महाराज ने अत्रभवती की मर्यादा के विरुद्ध कुछ अनुचित आचरण किया है?'

"रानी के शान्त मुखमण्डल पर सहज स्मिति-रेखा खेल गयी। बोलीं, 'नहीं, आर्य! महाराज ने कोई अनुचित आचरण नहीं किया है। उन्होंने यथासाध्य मुझे सन्तुष्ट रखने का ही प्रयत्न किया है; परन्तु फिर भी मुझे संसार छोड़ना ही पड़ेगा। त्रिपुरसुन्दरी की यही इच्छा है। आज रात को मैंने स्वप्न में जो पुकार सुनी है उसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। ध्यान से देखो, आर्य, त्रिपुरसुन्दरी की मूर्त्ति हँस रही है। यह बड़े अमंगल का सूचक है। मैं अगर इसी समय महाराज से सम्बन्ध नहीं तोड़ देती तो उनका अमंगल निश्चित है।' रानी की बात सुनकर मैंने बड़े ध्यान से मूर्त्ति को देखा; पर मुझे उसमें कहीं हँसी का भाव नहीं दिखायी

दिया। एक क्षण के लिए मेरे मन में ऐसा आभासित हुआ कि रानी का चित्त-विक्षेप तो नहीं हो गया है! रानी ने मेरा भाव समझ लिया। बोलीं, 'तुमने नहीं देखा, आर्य! ध्यान से देखो!'

"क्या देखूँ! मूर्त्ति जैसी नित्य दिखती थी वैसी ही थी, पर रानी का मन रखने के लिए मैंने कह दिया कि सचमुच ही मूर्त्ति हँस रही है। रानी प्रसन्न हुईं। उन्होंने आदरपूर्वक फिर कहा, 'आर्य वाभ्रव्य, महाराज से विवाह होने के पहले मेरा वाग्दान हो चुका था। मेरे पिता कुलूतराज नहीं हैं। अपहृता बालिका हूँ! छलपूर्वक मेरा विवाह धूर्त्तों ने महाराज से करा दिया था। इस अन्तःपुर में मैं बहुत रो चुकी हूँ। महाराज से मैंने स्पष्ट कह दिया था कि मैं तुम्हारी पत्नी नहीं हूँ। जिस पुरुष को मेरे पिता ने वाग्दान किया था मैं उसी की पत्नी हूँ। महाराज ने मेरे भाव का आदर किया। उन्होंने बड़े सौजन्य और स्नेह से मुझे रखा है। परन्तु आज तक वे मुझे पत्नी-रूप में पाने का मोह छोड़ नहीं सके हैं। जिस युवक को मेरे पिता ने मेरा वर चुना था वह निराश होकर संन्यासी हो गया। वह विन्ध्य-मेखला के धूम्रगिरि में न जाने क्या तप कर रहा है। आर्य, मुझे बराबर उसकी पुकार सुनायी देती है। लेकिन कल रात को मैंने जो कुछ सुना है वह रोमाञ्चकर है। मुझे संसार त्याग करना ही पड़ेगा। तुम महाराज को समाचार दो। देर होने से अनर्थ हो जायेगा।' मैंने सिर झुकाकर अनिच्छापूर्वक उनकी आज्ञा का पालन किया।"

भट्टिनी ने बीच में टोककर पूछा, "रानी का नाम महामाया था, आर्य!" वाभ्रव्य के स्वीकार करने पर वे विस्मित होकर मेरी ओर देखने लगीं। निपुणिका ने आँखें फैलाकर कहा, "आश्चर्य है!" वृद्ध आगे बढ़ा—

"महाराज ने जब यह समाचार सुना तो अत्यन्त उद्विग्न हो उठे। उन्होंने उसी समय रानी के पास जाने की उत्कण्ठा प्रकट की। उनके आदेश से मैं ही उन्हें लेकर रानी के पास आया। महाराज ने रानी के संन्यास-वेश को देखा तो रो पड़े। बोले, 'देवि, अन्तःपुर के विरुद्ध वेश धारण करने का क्या कारण आज उपस्थित हो गया? मुझसे अनजान में कोई अपराध हुआ है क्या?"

"महामाया के चेहरे पर कोई विकार नहीं दिखा। वे शान्त भाव से बोलीं, 'महाराज, आज तक मैंने अपने भीतर जो संघर्ष चलने दिया है वह आज समाप्त हो गया है। त्रिपुरसुन्दरी का आदेश आज मिल गया है। यदि इसके बाद भी मैं आपके अवरोध-गृह में बँधी रहती हूँ तो अमंगल निश्चित है। देखिए महाराज, ध्यान से देखिए, आज देवी की मूर्त्ति हँस रही है। ऐसा दुर्निमित्त मैंने कभी नहीं देखा था। महाराज, मैंने रात में देवी का दर्शन पाया है। विन्ध्य-मेखला के धूम्रगिरि से मुझे खींचने के लिए बड़ी जबरदस्त आकर्षणवाणी सुनायी पड़ी है। देवी ने मुझे निश्चित रूप से बताया कि मैं आज ही यदि महाराज से अपना सम्बन्ध-विच्छेद नहीं कर देती तो दुर्निमित्त महाराज का सत्यानाश कर देगा। महाराज, मैंने देखा है कि सहस्रफण अजगर सारे मौखरि-वंश को चाट रहा है।'

कहते-कहते रानी का गला भर आया। आँसू से आँखें डबडबा आयीं और सारा शरीर रोमांचित हो उठा। घुटनों के बल बैठकर उन्होंने कहा, 'अपराध क्षमा करें महाराज, संन्यासिनी बने बिना मैं आपसे सम्बन्ध नहीं त्याग सकती ! लोक और शास्त्र की मर्यादा को अक्षुण्ण रखने का दूसरा रास्ता नहीं है।'

"महाराज थोड़ी देर तक मर्माहत होकर बैठे रहे। फिर बोले, 'आज तक मैंने तुम्हारी किसी इच्छा का विरोध नहीं किया। केवल एक बार तुम मेरी इच्छा में बाधा देने से विरत हो जाओ।' रानी ने कृतज्ञतापूर्वक कहा, 'क्या इच्छा है, महाराज !'

" 'देवि, मुझे सन्देह हो रहा है कि कोई वशीकरण का अभिचार कहीं किया जा रहा है। यह मेरे पाप-चित्त की कलुष चिन्ता भी हो सकती है, परन्तु मैंने निष्कपट भाव से अपने विचार प्रकट किये हैं ! यदि अनुज्ञा हो तो मैं एक बार धूम्रगिरि जाकर सब-कुछ देख आऊँ। तब तक अन्तःपुर में रहने का प्रसाद हो। मेरे साथ अपने किसी विश्वस्त अनुचर को भेज सकती हो।'

"संन्यासिनी रानी के अधरों पर निर्मम हँसी दिखायी दी। बोलीं, 'देख आओ महाराज, मुझे तुम पर विश्वास है।'

" 'परन्तु मुझे स्वयं अपने पर विश्वास नहीं है, देवि ! क्योंकि मैं प्राण देकर भी तुम्हें अन्तःपुर में रखना चाहता हूँ।'

" 'तुम्हारे ऊपर मुझे पूरी आस्था है, महाराज।'

" 'नहीं, तुम अपना एक अनुचर मेरे साथ अवश्य कर दो।'

" 'तो यह वृद्ध बाभ्रव्य आपके साथ जायेगा।'

"महारानी की आज्ञा से मैं महाराज के साथ धूम्रगिरि को रवाना हुआ। रथ की सहायता बहुत थोड़ी दूर तक ही मिली। विन्ध्य-मेखला में धँसने के लिए पैदल चलने के सिवा कोई उपाय नहीं था।

"एक विशाल गिरिखण्ड नीचे से ऊपर तक तृण-गुल्महीन कपिश पत्थरों से बना हुआ था, केवल दूर से ऊपरी भाग में काली वनराजि दिखायी दे रही थी। ऐसा जान पड़ता था जैसे किसी विशाल अग्निपिण्ड के सिर पर थोड़ा-सा काला धुआँ छाया हुआ हो। सम्भवतः धूम्रगिरि नाम पड़ने का यही कारण था। पर्वत पर चढ़ने का सिर्फ एक ही मार्ग था जो काटकर परिश्रमपूर्वक तैयार किया गया था। मार्ग में योगिनियों की मूर्त्तियाँ उत्कीर्ण थीं और विचित्र तान्त्रिक यन्त्र भी खोदे गये थे। पर्वत के ऊपर स्वच्छ जल का कुण्ड था जिस पर बड़े-बड़े पत्थरों से पाटकर एक पुल जैसा बना लिया गया था। कुण्ड के इस पार कुछ गुफाएँ थीं और उस पार धूम्रेश्वरी का मन्दिर था। मन्दिर तो वह नाममात्र का ही था; वस्तुतः एक गुहा के भीतर एक अन्तर्गुहा थी जिसमें दशभुजा मूर्त्ति स्थापित की गयी थी। इसी को मन्दिर नाम दे दिया गया था। बड़ी कठिनाई से हम लोग उस मन्दिर तक पहुँच सके। मन्दिर के द्वार पर एक योगी के दर्शन हुए। योगी पीले वस्त्रों की बनी हुई कन्था धारण किये हुए था और हाथ में एक टेढ़ी लकड़ी लिये हुए था।

उसके कण्ठ, बाहुमूल और कानों में बड़े-बड़े रुद्राक्ष झूल रहे थे, विकट जटामण्डल को घेरकर एक वराटक-माला लटक रही थी और सामने एक लोहे का कपाल-पात्र रखा था। उसने हम दोनों के देखते ही विकट हास्य किया। राजा को लक्ष्य करके उसने अपनी लकड़ी चलायी; परन्तु मैं जल्दी से बीच में आ गया और वह लकड़ी राजा को न लगकर मुझे लगी। योगी ने और भी विकट अट्टहास्य किया। राजा को सम्बोधन करके बोला, 'ग्रहवर्मा, तू भाग्यहीन है। धूम्रेश्वरी का दर्शन कर ले, तेरे सिर पर अमंगल मँडरा रहा है।'

"राजा का मुखमण्डल विवर्ण हो गया। यद्यपि वे वीर थे और उनके नाम से समूचा उत्तरापथ काँपा करता था तथापि योगी के इस कथन से वे डर गये। योगी ने मेरी ओर देखकर कहा, 'तू भाग्यवान् है। जिस दिन तुझे मालूम हो जायेगा कि जिसे तू धर्म समझ रहा है वह अधर्म है और जिसे अधर्म समझ रहा है वह धर्म है, उस दिन तू त्रिपुरसुन्दरी का साक्षात्कार पा सकेगा। जा, दर्शन कर ले।'

"महाराज ने हाथ जोड़कर पूछा, 'योगिराज, मुझे त्रिपुरसुन्दरी का साक्षात्कार कब मिलेगा?'

" 'तू भण्ड है। यह कञ्चुकी मूर्ख है। यह धर्म और अधर्म की बँधी लकीरों पर चल रहा है। इसे किसी दिन सत्य का साक्षात्कार हो सकता है, पर तू अपने को बुद्धिमान समझता है। तू धर्म का दिखावा करता है। ढोंगी कहीं का, लबार। जा, दर्शन कर ले।'

"महाराज कुछ ऐसे अभिभूत हुए कि योगी के पैरों पर गिर पड़े। बोले, 'योगिराज, मेरी भण्डता कैसे कम होगी?'

"योगी का मुखमण्डल विकसित हो उठा। बोला, 'देखो, महाराज, तुमने अपने को बराबर धोखा दिया है। रानी को तुमने कभी छोड़ना नहीं चाहा; पर तुमने कभी उसे अपनाने का भी प्रयत्न नहीं किया। वशीकरण देखने आये हो? वशीकरण अपने-आपको सम्पूर्ण रूप से उत्सर्ग करने को कहते हैं। तुमने न तो अपने को निःशेष भाव से दे ही दिया है, न दूसरे को निःशेष भाव से पाने का ही प्रयत्न किया है। जाओ, भीतर जाओ। तुम वशीकरण देख सकोगे। जाओ—शीघ्र जाओ।'

"अन्तर्गुहा में दशभुजा मूर्त्ति थी। मूर्त्ति के सामने एक कंकाल-शेष मनुष्य निवात-निष्कम्प प्रदीप की भाँति ध्यानमग्न बैठा था। उसने शायद वर्षों से स्नान नहीं किया था। भोजन भी उसे कभी मिला था या नहीं, कौन जाने! योगी ने कहा, 'देखो, वशीकरण चल रहा है। भीतर जाओ, और भीतर।'

"जैसे-जैसे हम भीतर प्रवेश करते गये वैसे-वैसे दशभुजा मूर्त्ति में परिवर्त्तन दिखायी देने लगा। अन्त में जब हम लोग उस युवक तपस्वी के पास पहुँचे तो मूर्त्ति एकदम परिवर्त्तित होकर महामाया रानी बन गयी! आश्चर्य और भय के मारे मैं चिल्ला उठा। महाराज भी आश्चर्य से हतबुद्धि हो रहे, योगी ने फिर से ललकारा—'क्या देखते हो महाराज, देवी को प्रणाम करो, तुम्हारे सभी अमंगल

दूर होंगे।' महाराज के सारे शरीर से स्वेद-धारा बह चली। वे कातर चीत्कार करके बैठ गये और धीरे-धीरे धरती पर लोट गये। मैं त्राहि-त्राहि करके चिल्ला उठा। मेरी आवाज से युवा तपस्वी का ध्यान भंग हुआ। योगी ने मुझे आश्वस्त करते हुए कहा, 'डरो मत, देवी को प्रणाम करो।' मैंने साष्टांग प्रणिपात किया। योगिराज ने युवक का कुछ नाम लेकर पुकारा। वह नाम मैं भूल रहा हूँ। कुछ विकट-सा नाम था। उस शीर्ण युवक तपस्वी ने आश्चर्य के साथ हम दोनों को देखा। योगिराज ने कहा, 'वत्स, ये ग्रहवर्मा हैं और ये उनके कञ्चुकी हैं।' युवक की आँखों में विचित्र प्रेमभाव उद्दीप्त हो उठा। बोला, 'ग्रहवर्मा हैं ! अहा !!' और धीरे-धीरे महाराज के कपाल पर हाथ फेरने लगा। महाराज को वहाँ से उठाकर हम लोग कुण्ड पर ले आये। कुछ उपचार के बाद वे जब होश में आये तो योगिराज ने कहा, 'चूक गये महाराज, तुम देवी को प्रसन्न नहीं कर सके। घर लौट जाओ। मौखरियों का भविष्य अच्छा नहीं है। यदि किसी दिन भी तुम त्रिपुर-सुन्दरी का रूप देख सकते ! महामाया को तुम देवी रूप में नहीं पा सके; पर देवी को तुमने महामाया के रूप में देख लिया। प्रयत्न करो, भाग्य प्रसन्न होगा तो देवी को भी किसी दिन देख सकोगे; परन्तु मौखरि-राजलक्ष्मी का अब भरोसा नहीं है। तुम बहुत दिन जी नहीं सकते, परन्तु तुम दूसरा विवाह अवश्य करना। देवी ने कल रात में कहा है कि समूचा आर्यावर्त्त भस्म होने जा रहा है। महामाया ही इसका उद्धार करेंगी। तुम उसे रोको मत !'

"मेरी ओर देखकर उस योगी ने कहा, 'मौखरियों का अमंगल दूर करने के लिए मैंने जो लाठी फेंकी थी उसे तूने अपने ऊपर ले लिया ! मूर्ख कञ्चुकी, प्रमादवश तूने कैसा अनर्थ कर दिया ! लेकिन तेरे प्रमाद से किसी दिन आर्यावर्त्त का कल्याण हो सकता है। जा, घर लौट जा।'

"महाराज चुपचाप सुनते रहे। युवा तपस्वी एकटक महाराज की ओर देखता रहा। उसकी आँखें गोल-गोल कौड़ी जैसी थीं और उसकी पुतलियों से ज्योति-रेखा-सी प्रकट हो रही थी। वह न हिला, न बोला, न विचलित हुआ। महाराज जब उठे तो उस युवा तापस की आँखों में कृतज्ञता के अश्रु भर आये। महाराज पर उसका प्रभाव पड़ा। पर वे भी मौन ही रहे।

"लौटते समय महाराज बराबर मौन रहे। वे न जाने क्या-क्या सोचते रहे। नगर में प्रवेश करते ही उन्होंने मुझसे पूछा, 'बाभ्रव्य, क्या देखा तुमने !' मैंने सम्भ्रम के साथ उत्तर दिया, 'देव, महादेवी ही धूम्रेश्वरी हैं !' महाराज ने डाँटकर कहा, 'मूर्ख !'

"मैं चुप हो रहा। महाराज ने फिर पूछा, 'बाभ्रव्य, क्या वह वशीकरण का अभिचार नहीं था ?'

" 'अभिचार !'

" 'हाँ, अभिचार ! मैं इन भण्ड तान्त्रिकों की माया में नहीं फँस सकता। महामाया को मैं नहीं छोड़ सकता। वह मौखरिवंश की लक्ष्मी है !'

"घर लौटकर महाराज ने रानी को न जाने क्या-क्या समझाया। सान्ध्य गोधूलि के समय महामाया रानी ने मुझे बुलाया। उनके पूछने पर मैंने सारी बातें ज्यों-की-त्यों सुना दीं। महामाया ने चिन्तित होकर पूछा, 'क्या योगिराज ने मुझे नहीं रोकने को कहा है?' मैंने कहा, 'हाँ, देवि, योगिराज ने महाराज से स्पष्ट कहा है कि रानी को मत रोको।' महामाया थोड़ी देर तक चिन्तित होकर खड़ी रहीं। फिर एकाएक बोलीं, 'वाभ्रव्य, मुझे धूम्रगिरि जाने दो। महाराज मोह-ग्रस्त हैं। वे सत्य को नहीं देख रहे। तुम लोग प्रयत्न करके उनका दूसरा विवाह करा देना। मैं अगर रुकती हूँ तो आज ही मौखरि-लक्ष्मी रूठ जायेगी। जल्दी करो!'

"मैंने रानी को अन्तःपुर के बाहर निकल जाने दिया!

"दूसरे दिन महाराज ने जब बुलाया तो मैंने सारी बातें ज्यों-की-त्यों कह दीं। महाराज ने सिर थाम लिया। मुझसे केवल इतना ही कहा कि जाओ, अपना काम देखो।"

इतना कह लेने के बाद वृद्ध वाभ्रव्य ने दीर्घ निःश्वास लिया। भट्टिनी की ओर देखकर बोला, "बेटी, यद्यपि मैंने महाराज के सामने अपना अपराध स्वीकार कर लिया तथापि मेरे भीतर से बराबर यही ध्वनि निकलती रही कि मैंने उचित ही किया है। आज मालूम हो रहा है कि मेरा दूसरा प्रमाद भी अच्छा ही हुआ था।" इतना कहकर वृद्ध चुप हो गया। बड़े स्नेह के साथ वह भट्टिनी के ललाट पर हाथ फेरने लगा। बड़ी देर तक वहाँ सभी निस्तब्ध बैठे रहे। अन्त में उस वृद्ध ने ही उपसंहार किया। बोला, "आर्यावर्त्त नाश से बच जायेगा। देवपुत्र-नन्दिनी और महामाया भैरवी उसे बचा लेंगी। योगी की भविष्यवाणी व्यर्थ नहीं जायेगी। सिद्धवाक् पुरुषों की वाणी मृषा नहीं होती।" फिर निपुणिका की ओर देखकर वह बोला, "बेटी, तू धन्य है! मैंने तुझे अनेक अभिशाप दिये हैं। आज मैं अपने सभी अभिशापों को वरदान समझ रहा हूँ। मैं आज स्पष्ट देख रहा हूँ कि जितने बँधे-बँधाये नियम और आचार हैं उनमें धर्म अँटता नहीं। वह नियमों से बड़ा है, आचारों से बड़ा है। मैं जिनको धर्म समझता रहा वे सब समय और सभी अवस्था में धर्म ही नहीं थे, जिन्हें अधर्म समझता रहा वे सभी सब समय और सभी अवस्था में अधर्म ही नहीं कहे जा सकते। योगी ने मुझे बताया था कि जिस दिन तू धर्म को अधर्म और अधर्म को धर्म समझ लेगा उसी दिन त्रिपुरसुन्दरी का साक्षात्कार पा सकेगा। आश्चर्य है!"

निपुणिका ने कृतज्ञतापूर्वक वृद्ध को देखा, बोली, "एक बात पूछने की इच्छा होती है, आर्य, मौखरि-नरेश को योगी ने दूसरा विवाह करने को क्यों कहा था, उससे क्या आर्या राज्यश्री जैसी साध्वी का जीवन व्यर्थ नहीं हो गया? वैधव्य से बड़ी व्यर्थता स्त्री के लिए और क्या हो सकती है, आर्य?" वृद्ध ने डाँटा—"छिः निउनिया, ऐसा भी कहते हैं! राज्यश्री का जीवन व्यर्थ हुआ है? भोली लड़की, सार्थकता क्या है? योगी ने ठीक ही कहा था, अपने को निःशेष भाव से दे देने को ही वशीकरण कहते हैं। अन्तिम जीवन में मौखरि-नरेश को यह सिद्धि मिल गयी

थी। देख बिटिया, मनुष्य जितना देता है उतना ही पाता है। प्राण देने से प्राण मिलता है, मन देने से मन मिलता है। आत्मदान ऐसी वस्तु है जो दाता और गृहीता दोनों को सार्थक करती है। राज्यश्री ने वह दान दिया भी था और पाया भी था। लौकिक मानदण्ड से आनन्द नामक वस्तु को नहीं मापा जा सकता। दुःख तो केवल मन का विकल्प ही है, मनुष्य तो नीचे से ऊपर तक केवल परमानन्दस्वरूप है। अपने को निःशेष भाव से देने से ही दुःख जाता रहता है, परमानन्द प्राप्त होता है। मुझे उस योगी की बात भावपूर्ण लगी थी। मैं एक बार और उसके पास गया था, परन्तु उस भलेमानस ने मुझे डाँटकर भगा दिया था। केवल एक वाक्य उसने कहा था—'मूर्ख—तू यदि दुःख को सुख मान सकता!' कहाँ मान सका हूँ, बिटिया!"

थोड़ी देर तक फिर सन्नाटा रहा। मैंने पूछा, "आर्य, युवा तापस का नाम क्या अघोरभैरव था?"

वृद्ध ने आश्चर्ययुक्त आनन्द के साथ कहा, "हाँ भट्ट! विकट नाम है।"

निपुणिका ने भट्टिनी की ओर देखा। भट्टिनी के हरिणी के समान नेत्र फैलकर कान तक पहुँच गये। बोलीं, "आश्चर्य है, अद्भुत है!" और मेरी ओर देर तक आविष्ट भाव से देखती रहीं। निपुणिका खोयी-सी खड़ी रही। थोड़ी देर तक उसमें स्पन्दन का लेश भी अनुभूत नहीं हुआ। फिर जैसे स्वप्नोत्थिता की भाँति बोल उठी—"अपने को निःशेष भाव से दे देना ही वशीकरण है!"

बीसवाँ उच्छ्वास

मैंने प्रतिज्ञा की थी कि अपने दुर्भाग्य का अधिक रोना नहीं रोऊँगा। परन्तु मनुष्य का जीवन अदृश्य शक्तियों द्वारा गढ़ा जाता है। यदि नियति-नटी का अभिनय अपने वश की बात होती तो मनुष्य की प्रतिज्ञा भी टिकती। कैसे कहूँ कि बीसवाँ उच्छ्वास मेरे दुर्भाग्य का रोना नहीं है? और फिर यह भी कैसे कहूँ कि इसमें मेरा चरम सौभाग्य नहीं प्रकट हुआ? वस्तुतः यह मेरा परम लाभ ही है, इसे बढ़ाकर क्या लिखूँ?

महाराजाधिराज ने अपनी नवीन नाटिका भट्टिनी के पास भिजवा दी थी। इस नाटिका का नाम रत्नावली है। धावक ने इसी नाटिका की चर्चा की थी। भट्टिनी ने और निपुणिका ने नाटिका को बड़े चाव से पढ़ा। उन्हें वह अच्छी ही लगी होगी क्योंकि एक दिन उन्होंने इच्छा प्रकट की कि यदि महाराज की अनुमति

हो और मुझे प्रसन्नता हो तो इसी नाटिका का अभिनय करके महाराजाधिराज को दिखाया जाये। मैं इधर कई दिनों से नाना उत्सवों में उलझा हुआ था। चारुस्मिता और विद्युदपांगा के नृत्य-गीत से नगर में अपूर्व मादकता का संचार हो गया था। इसी बीच समाचार आया कि आचार्य भर्वुपाद आ रहे हैं। मौखरियों के ब्राह्मण गुरु की अवाई के समाचार ने जनता को उन्मत्त बना दिया। बौद्ध-संन्यासी वसुभूति को इस संवाद से बड़ा कष्ट हुआ। नगर में यह समाचार फैल गया कि सद्धर्मियों ने भर्वुशर्मा का वध करने का निश्चय कर लिया है। स्थाण्वीश्वर में समाचार इस वेग से फैलते हैं जैसे अरण्यानी में दावानल। बड़े विकट समय में जनता में बुद्धिभेद उत्पन्न हो गया। संयोगवश मेरे अग्रज उडुपतिभट्ट उसी समय काशी से आ पहुँचे। कुमार कृष्णवर्द्धन इन दिनों बड़े परेशान थे। वे जानते थे कि भर्वुशर्मा को अप्रसन्न करने में इस समय कितने बड़े अनर्थ की सम्भावना है। वे बार-बार महाराजाधिराज से मिलते थे, परन्तु कोई युक्ति नहीं सोच पा रहे थे। एकाएक एक दिन उन्होंने मुझे और मेरे अग्रज उडुपतिभट्ट को बुलवा भेजा। हम लोग जब उनके घर पहुँचे तो उन्होंने बड़े सम्मान से हमारा स्वागत किया। उडुपतिभट्ट को सम्बोधन करके बोले, "आर्य, महाराजाधिराज ने निश्चय किया है कि बौद्ध पण्डित वसुभूति के साथ ब्राह्मणों द्वारा वृत किसी श्रेष्ठ पण्डित से शास्त्रार्थ कराया जाये। यहाँ के कान्यकुब्ज पण्डित आपको इस वाद-सभा के प्रतिपक्षी के रूप में वरण करना चाहते हैं। आप क्या वसुभूति को शास्त्रार्थ विचार में पराजित कर सकते हैं? आपकी विजय पर यहाँ के ब्राह्मणों की मान-प्रतिष्ठा सब निर्भर है और सारे आर्यावर्त्त का भविष्य भी निर्भर है।" उडुपतिभट्ट ने बिना किसी झिझक के या संकोच के उत्तर दिया कि वे राजी हैं। कुमार उन्हें लेकर महाराजाधिराज के पास चले गये। मैं भट्टिनी के पास लौट आया। वहाँ उडुपतिभट्ट और वसुभूति का शास्त्र-विचार देर तक चला। दूसरे दिन नगर में डौंड़ी पिटवा दी गयी कि शास्त्रार्थ-विचार में उडुपतिभट्ट विजयी हुए हैं और महाराजाधिराज को ब्राह्मण धर्म में फिर से आस्था हो गयी है। अब से ब्राह्मण पण्डितों का ठीक उसी प्रकार राजसभा में सम्मान होगा जिस प्रकार महाराज ग्रहवर्मा के समय में था। महाराजाधिराज ने लगभग सौ सामाध्यायियों को नवीन रूप में भूमि-दान किया है। यद्यपि चतुर्वेद, त्रिवेद और द्विवेद कहकर ब्राह्मणों की भिन्न-भिन्न स्तर सीमा निर्धारित कर दी गयी है तथापि व्यवहार में सबके साथ समान व्यवहार किया जायेगा। भर्वुशर्मा के वंशधर अभी बालक हैं। उन्होंने अभी तक दो वेदों का ही अभ्यास किया है। फिर भी इन द्विवेदों का सम्मान उसी प्रकार किया जायेगा जिस प्रकार चतुर्वेद और त्रिवेद ब्राह्मणों का। बौद्ध मठों को जो दान दिया गया था वह भी ज्यों-का-त्यों रहने दिया जायेगा। महाराजाधिराज ने सबका समान भाव से सम्मान करने का निश्चय किया है। अब तक राजा लोग अपने तेज और प्रताप का परिचय देने के लिए विक्रमादित्य का विरुद धारण करते थे। आज से महाराजाधिराज सबके क्लेश-शामक होने

के कारण 'नरेन्द्र-चन्द्र' का विरुद धारण करेंगे। उनके प्रताप से शान्ति बरसेगी। इस घोषणा ने जनता में अपूर्व विजयोन्माद का संचार किया। नगर की वीथियाँ 'नरेन्द्र-चन्द्र' के जय-जयकार से मुखरित हो उठीं। उल्लास का ऐसा बवण्डर उठा कि सारा नगर उन्मत्त की भाँति झूम उठा। इसी पृष्ठभूमि में आचार्य भर्वुपाद का आगमन हुआ। भट्टिनी का आनन्द आज बाँध तोड़ देना चाहता था। सहज-गम्भीर भट्टिनी आज नन्ही बालिका बनी हुई थीं।

महाराज और भर्वुशर्मा के आगमन के उपलक्ष में रत्नावली नाटिका के अभिनय का भार मेरे ऊपर पड़ा। महाराज ने केवल अभिनय की अनुमति ही नहीं दी, उसमें यथेच्छ परिवर्तन का अधिकार भी मुझे और धावक को दे दिया। मैंने इधर-उधर थोड़े-से परिवर्त्तन कर भी दिये। एक श्लोक में मैंने बड़ी चतुरता से अपना नाम भी जोड़ दिया। नाटक के आरम्भ में ही वह श्लोक था। मैंने अपना नाम 'दक्ष' उसमें कौशलपूर्वक भिड़ा दिया था।[1] महाराज को यह श्लोक बहुत पसन्द आया। उसे उन्होंने अपने अन्य नाटकों में भी जोड़ दिया। सबसे महत्त्वपूर्ण बात उसमें महाराजाधिराज की घोषणा का जोड़ा जाना था। उसका प्रभाव जनता पर भी अच्छा पड़ा और आचार्य भर्वुपाद पर भी। अभिनय के दिन सूत्रधार ने जब गद्गद कण्ठ से पढ़ा—

जितमुडुपतिना नमः सुरेभ्यो द्विजवृषभा निरुपद्रवा भवन्तु।
भवतु च पृथिवी समृद्धशस्या प्रतपतु चन्द्रवपुर्नरेन्द्रचन्द्रः।[2]

तो आचार्यदेव ने साधु-साधु कहकर वर्धापनिका (बधाई) दी। आचार्यदेव के साधुवाद से सामाजिक लोग बहुत प्रीत हुए।

परन्तु नाटिका के लिए पात्र बड़ी कठिनाई से मिले। चारुस्मिता मेरे अनुरोध पर रत्नावली की भूमिका में उतरने को राजी हो गयी। वह वर्णिका-भंग में अद्भुत कुशला थी। उसे तैयार करने में एकदम परिश्रम नहीं पड़ा। निपुणिका ने स्वयं 'वासवदत्ता' की भूमिका में उतरने की उत्कण्ठा प्रकट की। राजा मैं स्वयं बना। धावक तो बना-बनाया विदूषक था। कुछ और पात्र इधर-उधर से जुट गये। भट्टिनी को इस अभिनय में अपूर्व उत्साह अनुभूत हो रहा था। अभिनय के दिन वे केवल घूम-फिरकर इसी प्रसंग पर आ जाती थीं। मैंने एक बार पूछा, "देवि, इस नाटिका में ऐसा क्या है जो तुम्हें इतना मुग्ध किये है!" तो उन्होंने केवल हँस दिया था। परन्तु निपुणिका इतना गम्भीर नहीं रह सकी। उसने अत्यन्त उत्साह के साथ कहा, "भट्ट, तुम नहीं देखते कि वासवदत्ता ने किस प्रकार दो विरोधी दिशाओं में जानेवाले प्रेम को एकसूत्र कर दिया है। प्रेम एक, और, अविभाज्य है। उसे केवल ईर्ष्या और असूया ही विभाजित करके छोटा कर देते

1. तुल. रत्नावली, प्रस्तावना—
श्रीहर्षो निपुणः कविः परिषदप्येषा गुणग्राहिणी
लोके हारि च वत्सराजचरितं नाट्ये च दक्षा वयम्।
2. रत्नावली, प्रस्तावना।

हैं !" उस समय भी मैं यदि निपुणिका के वाक्यों की गहराई में जा सकता तो वह अनर्थ शायद रुक जाता जिसने मेरे जीवन को उजाड़ बना दिया है। परन्तु ठीक समय पर मुझे ठीक कर्त्तव्य सूझता ही नहीं और अब तो क्या सूझेगा !

जो होना था वह होकर ही रहा। अभिनय बहुत सुन्दर हुआ। वासवदत्ता की भूमिका में निपुणिका ने तो उन्माद बरसा दिया। उसके हर्ष, शोक और प्रेम के अभिनय में वास्तविकता थी। मैं हतभाग्य बराबर उसे अभिनय ही समझता रहा; पर वह अभिनय से कहीं अधिक था, भिन्न था वह। वास्तव में निपुणिका ने अपने को ही खोलकर रख दिया। अन्तिम दृश्य में जब वह रत्ना-वली का हाथ मेरे हाथ में देने लगी तो सचमुच विचलित हो गयी। वह सिर से पैर तक सिहर गयी। उसके शरीर की एक-एक शिरा शिथिल हो गयी। भरत-वाक्य समाप्त होते-होते वह धरती पर लोट गयी। नागरजन जब साधु-साधु की आनन्द-ध्वनि से दिगन्तर कँपा रहे थे उस समय जवनिका (पर्दे) के अन्तराल में निपुणिका के प्राण निकल रहे थे। भट्टिनी ने दौड़कर उसका सिर अपनी गोद में ले लिया और कुररी की भाँति कातर चीत्कार के साथ चिल्ला उठीं, "हाय, भट्ट, अभागिनी का अभिनय आज समाप्त हो गया। उसने प्रेम की दो दिशाओं को एकसूत्र कर दिया !" और पछाड़ खाकर निपुणिका के मृत शरीर पर लोट पड़ीं। अभिनय करके जिसे पाया था, अभिनय करके ही उसे खो दिया !

धावक उस बात को एक क्षण में समझ गया था जिसे मैं जीवन-भर नहीं समझ सका। उसने जवनिका-पातन की क्रिया में बड़ी फुर्ती का परिचय दिया। महा-राजाधिराज और आचार्य भर्वुपाद को इस दुर्घटना का उस दिन एकदम पता न चला। पौरजनों के आन्दोल्लास में रंचमात्र भी व्यत्यय नहीं होने पाया। धावक ने भट्टिनी को वहाँ से बड़े कौशल से हटाया और बड़ी फुर्ती से निपुणिका के शव को श्मशान तक पहुँचा दिया। मुखाग्नि की क्रिया मैंने ही की। धावक भी अन्त तक स्थिर नहीं रह सका। अभिभूत होकर उसने भी चिता को साष्टांग प्रणाम किया। जिस मुख-मण्डल से केवल मस्ती और आनन्द उच्छ्वसित होते रहते थे उस पर प्रथम बार विषाद का धूम छा गया। जिस जिह्वा से श्रावण के मेघ के समान निरन्तर वाग्धारा झरती रहती थी उसे जैसे काठ मार गया। धावक की दशा विचित्र हो रही थी। हम लोग जब चलने को हुए तो क्या देखते हैं कि चारुस्मिता एक श्वेत साड़ी पहने हाथ में पुष्पस्तवक लिये उपस्थित है ! उस सादे वेश में उसका सौन्दर्य और भी निखर गया था। मेघमाला जल से भरी हुई भी मनोहर लगती है और जल से रिक्त भी। चारुस्मिता की आँखों में श्रद्धा चमक रही थी। उसने जानुपातपूर्वक चिता को प्रणाम किया और मूर्द्धा-निषक्त अञ्जुलि-पुट से सुकुमार भाव से पुष्पस्तवक अदृश्य स्वर्गगामिनी को लक्ष्य करके चढ़ा दिये। धावक की आँखों के रुद्ध अश्रु अब बह चले। मेरी अवस्था क्या थी यह मैं कैसे बताऊँ। मुझे दिशाएँ शून्य मालूम हो रही थीं, व्योम-मण्डल कुलात-चक्र की भाँति घूमता जान पड़ रहा था। चारुस्मिता ने मुझे आश्वस्त करने के लिए कहा,

"चलो आर्ये, इस नश्वर जगत् में यही एक शाश्वत सत्य है। निपुणिका स्त्री-जाति का श्रृंगार थी, सतीत्व की मर्यादा थी, हमारी जैसी उन्मार्गगामिनी नारियों की मार्गदर्शिका थी।" चारुस्मिता की आँखों में एक करुणकोमल भाव दिखायी दिया। धावक ने दीर्घ मौन भंग करके कहा, "हाँ भद्रे, चलो।" मैं धीरे-धीरे धावक और चारुस्मिता के पीछे-पीछे चला। रास्ते में केवल एक बार चारुस्मिता ने दीर्घ निःश्वास लेकर कहा, "दुनिया केवल प्रस्तर-प्रतिमाओं पर जान देती है!" केवल उसके अन्तर्यामी ही जानते हैं कि उसका आशय क्या था।

भट्टिनी के स्कन्धावार में उस समय शान्ति थी। मैं मन-ही-मन डर रहा था कि शोकतप्त भट्टिनी को एकाकी छोड़ने से कहीं कोई और अनर्थ न हो जाये, परन्तु उस शान्ति से मेरा चित्त कुछ आश्वस्त हुआ। भीतर जाकर देखता हूँ तो भट्टिनी का सिर गोद में लेकर सुचरिता बैठी है। इधर सुचरिता नित्य ही पहर रात बीतने पर आया करती थी। सायंकाल की पूजा तथा पति और गुरु की परिचर्या यथा-विधि समाप्त कर लेने के बाद ही उसे समय मिलता था। आज आते ही उसने निपुणिका की मृत्यु का संवाद सुना। वह चिता पर फूल चढ़ाने के उद्देश्य से जाना चाहती थी; परन्तु भट्टिनी की शोक-व्याकुल अवस्था देखकर रुक गयी थी। यह अच्छा ही हुआ, नहीं तो भट्टिनी की उस समय जो अवस्था थी उससे अनर्थ हो जाने की आशंका थी। सुचरिता शान्त-निस्पन्द प्रतिमा की भाँति बैठी थी और भट्टिनी अर्द्धशायित भाव से उसकी गोद में लेटी हुई स्थिर दृष्टि से आकाश की ओर देख रही थीं। मुझे उन्होंने नहीं देखा। सुचरिता ने संकेत से चुपचाप बैठ जाने को कहा। दीर्घकाल तक वहाँ उसी प्रकार की शान्ति रही। भट्टिनी की आँखों में अश्रु नहीं थे, अन्तर्वर्त्ती शोकाग्नि ने उन्हें एकदम सुखा दिया था। उनकी आँखें न जाने किस अनन्त की ओर उड़ जाने को व्याकुल थीं। अवश भुजलताएँ सुचरिता की गोद में झूल पड़ी थीं और शिथिल धम्मिल्ल उसके वाम स्कन्ध पर विलुलित हो रहा था। भट्टिनी की इस दारुण अवस्था से मेरा हृदय फटा जा रहा था। निपुणिका, तूने यह क्या किया! सारे जीवन को तूने तिल-तिल देकर जिस पाषाण को प्रसन्न करना चाहा था वह अन्त तक पाषाण-पिण्ड ही बना रहा, पर जिस नवनीत-पुत्तलिका को तूने वल्कल की भाँति आच्छादित कर रखा था वह कैसी हो गयी है! हाय, अभागे बाणभट्ट को यह दिन भी देखने थे! आर्य बाभ्रव्य ने जबसे कहा था कि अपने को निःशेष भाव से दे देना ही वशीकरण है उसी दिन से निपुणिका में परिवर्त्तन शुरू हो गया था। रत्नावली की वासवदत्ता में उसने वही वैशिष्ट्य देखा था। छिः सरले, वशीकरण के लिए यह कैसा आत्मदान है! मैंने आँख मूँदकर स्पष्ट ही देखा कि निपुणिका स्वर्ग में प्रसन्न भाव से विचरण कर रही है। वह मुस्कराकर कह रही है—'मैंने कुछ भी नहीं रखा; अपना सब-कुछ तुम्हें दे दिया और भट्टिनी को भी दे दिया। दोनों दानों में कोई विरोध नहीं है। प्रेम की दो परस्पर विरुद्ध दिशाएँ एकसूत्र हो गयी हैं!" हाय, क्या सचमुच वे एकसूत्र हो गयी हैं।

भट्टिनी ने क्षीण कण्ठ से सुचरिता को पुकारा—"भद्रे, सुचरिते !"

"हाँ आर्ये।"

"भट्ट आ गये हैं ?"

"आ गये हैं, देवि।"

"बुला दो।"

"यहीं हैं।"

भट्टिनी ने अकचकाकर उठने का प्रयत्न किया। सुचरिता ने संयत किया—"धीरे देवि !" परन्तु भट्टिनी रुकी नहीं, उठकर बैठ गयीं। मेरी ओर देर तक देखती रहीं। भट्टिनी की उस दृष्टि ने मेरे मर्मस्थल को भेद दिया। मेरी आँखों में जो अश्रुधारा अब तक रुद्ध थी वह अब बाँध तोड़कर बह चली। सुचरिता भी रोने लगी। लेकिन भट्टिनी उसी प्रकार भूली-सी, भ्रमी-सी, ताकती रहीं। कुछ देर इसी प्रकार बीता। फिर बोलीं, "भट्ट, वह चली गयी। तुम रह गये, मैं रह गयी। हाय, भट्ट !"—कहकर वे शय्या पर अवश भाव से पड़ गयीं। सुचरिता धीरे-धीरे उनका सिर दबाने लगी और संकेत से मुझे पंखा झलने को कहा। धीरे-धीरे भट्टिनी सो गयीं।

सुचरिता ने मुझे स्कन्धावार से बाहर उठ चलने का संकेत किया। बाहर धावक और चारुस्मिता तब भी शान्त भाव से बैठे थे। सुचरिता ने उन्हें देखा ही नहीं। उसने मुझे कुछ आश्वस्त करने का प्रयत्न भी किया। उसके स्वर में अत्यन्त स्पष्ट मधुर ध्वनि तब भी ज्यों-की-त्यों थी। यद्यपि उसके भीतर अपनी प्रिय सखी से न मिलने का क्षोभ बहुत अधिक था; पर वह शोक संविग्न बिल्कुल नहीं थी। बड़े प्रेम से उसने कहा, "निपुणिका धन्य हो गयी आर्य, उसकी चिन्ता छोड़ो। परन्तु उसका बलिदान तभी सार्थक होगा जब तुम उसके दान का सम्मान करो। भट्ट, नारायण की माया बड़ी विचित्र है। कौन जानता था कि निपुणिका अपने दुःखी जीवन से स्त्रीत्व की मर्यादा स्थापित कर जायेगी। शोक मत करो, आर्य, भट्टिनी की सेवा करो, जो अनर्थ हो गया उसे नारायण का प्रसाद मानो। कुछ कल्याण ही होनेवाला है। भट्टिनी कह रही थीं कि नरलोक से लेकर किन्नर लोक तक एक ही रागात्मक हृदय के सन्धान का काम बीच में ही रुक गया ! क्यों रुकेगा, आर्य ? निपुणिका के जीवन का बलिदान तभी सार्थक होगा जब यह सन्धान सफल हो। उषःकाल हो गया है, मुझे आवश्यक कर्त्तव्य से जाना पड़ेगा। मैं शीघ्र ही लौट आऊँगी। तुम सावधान रहना। चलती हूँ।"

चलने को जब वह मुड़ी तो चारुस्मिता दिख गयी। उसने अञ्जलि बाँधकर सुचरिता को प्रणाम किया। सुचरिता ने मेरी ओर देखा। वह इस अपूर्व-सुन्दरी का परिचय जानना चाहती थी। मैंने संक्षेप में परिचय दिया—"कान्यकुब्ज की नगर-श्री चारुस्मिता हैं !" सुचरिता आश्चर्य से स्तब्ध रह गयी। अविश्वास के स्वर में बोल उठी, "चारुस्मिता !"

चारुस्मिता ने कुछ लज्जित-सी होकर कहा, "हाँ देवि, मैं ही चारुस्मिता हूँ।

यदि अनुमति हो तो मैं आज भट्टिनी की सेवा करूँ।" सुचरिता की बड़ी-बड़ी आँखें आश्चर्य से फैल गयीं। बोली, "आज नहीं बहिन, आज भट्टिनी के पास इन्हें ही रहने दो।" चारुस्मिता का चेहरा कुछ उतर गया। धावक ने समझा। धीर कण्ठ से बोला, "हाँ भद्रे, हम लोगों को भट्टिनी की सेवा के और अवसर मिलेंगे। आज अपरिचितों का वहाँ जाना ठीक नहीं है।" फिर सुचरिता की ओर देखकर धावक ने विनय-मिश्रित स्वर में कहा, "देवि, चारुस्मिता आर्य वेंकटेशभट्ट का दर्शन पाना चाहती हैं। क्या आप इनकी सहायता कर सकती हैं?" सुचरिता को और भी विस्मय हुआ, उसने चारुस्मिता को ध्यान से देखकर कहा, "कल सायं-काल मेरी कुटिया में आ सकोगी बहिन?" चारुस्मिता को जैसे मनचाहा वरदान मिल गया हो। गद्गद भाव से बोली, "हाँ, देवि।" और श्रद्धा से सिर झुकाकर खड़ी हो रही।

सुचरिता के चले जाने के बाद धावक और चारुस्मिता भी विदा हुईं। मैं अकेला भट्टिनी के पास रह गया। आज मेरा हृदय टूक-टूक हो जाना चाहता था। निपुणिका-विहीन भट्टिनी की कल्पना मैंने कभी नहीं की थी। भट्टिनी तब भी सोयी हुई थीं; परन्तु उनके अंग-अंग में अवसन्न चैतन्य काँप रहा था। वस्तुतः वह निद्रा की कम और समाधि की अवस्था में अधिक थीं, केवल उनकी चित्तवृत्तियाँ अपनी अदृश्य सहचरी में विलीन हो गयी थीं। धीरे-धीरे प्रातःकाल हो आया। भट्टिनी उठीं, उनकी खिन्न आँखें कोने-कोने में घूम गयीं; मानो जो खो गयी है उसके खोने से कितनी रिक्तता आ गयी है इसका हिसाब कर रही हों। शय्या से उठीं तो ऐसा लगा कि किसी का करावलम्ब खोज रही हों। मैंने निकट जाकर कहा, "क्या आज्ञा है, देवि!" भट्टिनी ने मेरे हाथों का सहारा लिया और स्नान करने की इच्छा प्रकट की। मैंने उन्हें स्नान-गृह तक पहुँचा दिया। मैं चुपचाप शय्या के पास आकर बैठ गया। थोड़ी देर बाद भट्टिनी का पदसंचार सुनायी दिया। वे महावराह की मूर्त्ति की ओर चली गयीं। एक क्षण बाद उन्होंने पुकारा। उनका गला भरा हुआ था। बोलीं, "आज महावराह की स्तुति तुम्हीं पढ़ दो भट्ट, मैं नहीं पढ़ सकती।"

गला तो मेरा भी रुँधा हुआ था; पर भट्टिनी की आज्ञा पालन करना ही चाहिए, यही सोचकर मैंने व्याकुल कण्ठ से वह स्तुति पढ़ी। हे जलौघमग्ना सचराचरा धरा के समुद्धर्त्ता, यह कैसा परिहास है तुम्हारा! दीनानाथ, इसमें कौन-सी कल्याण-कामना छिपी है तुम्हारी? निपुणिका चली गयी, भट्टिनी परकटी कोकिला की भाँति अवसन्न हैं। तुम्हारी स्तुति कौन गावे? जैसे-तैसे मैंने पढ़ा—

> जलौघमग्ना सचराचरा धरा विषाणकोट्याऽखिलविश्वमूर्त्तिना।
> समुद्धृता येन वराहरूपिणा स मे स्वयंभूर्भगवान् प्रसीदतु॥

भट्टिनी अवसन्न होकर महावराह के पाद-प्रान्त में लुढ़क गयीं; हाय, यह क्या दूसरा अनर्थ हुआ? उनका मुख-मण्डल प्रभातकालीन चन्द्र-मण्डल के समान निष्प्रभ हो गया। मैंने भट्टिनी का सिर गोद में ले लिया। महावराह के लिए

निवेदित पवित्र जल के दो-चार बूंद मुख में दिये और कातर भाव से प्रार्थना की—"हे भगवान्, मेरे पापों का प्रायश्चित्त क्या अभी नहीं हुआ है? अखिल ब्रह्माण्ड-गुरो, यहाँ तक घसीटकर तुम मुझे नरक द्वार पर छोड़ना चाहते हो? हे त्रिभुवन-मोहिनी, भट्टिनी को बचाओ।" मेरी प्रार्थना व्यर्थ नहीं गयी, भट्टिनी की आँखें खुल गयीं। वे अवश भाव से शून्य दृष्टि से ताक रही थीं। मैंने उत्साह देने के लिए कहा, "देवि, उठो, तुम्हें कातर होना नहीं शोभता। नर-लोक से किन्नर-लोक तक व्याप्त एक ही रागात्मक हृदय का सन्धान पाना बाकी है। अपने सेवक को उचित मार्ग-प्रदर्शन करो। निपुणिका शोच्य नहीं है। शोच्य मैं हूँ। मुझे और भी अनाथ मत बनने दो। उठो देवि, आर्यावर्त्त को बचाना है, म्लेच्छ देश को बचाना है, मनुष्य जाति को बचाना है। देवपुत्र-नन्दिनी की यह अवशता उचित नहीं है।" भट्टिनी की शिराओं में चैतन्य-धारा प्रवाहित हुई। उन्होंने गोद में से सिर उठाने का प्रयत्न नहीं किया। क्षीण कण्ठ से बोलीं, "नीचे से ऊपर तक एक ही रागात्मक हृदय व्याप्त है। निपुणिका ने उसे स्पष्ट कर दिया है। क्या कहते हो भट्ट, तुम मेरी सहायता करने का वचन देते हो?" मैंने अविचलित कण्ठ से कहा, "हाँ देवि, सेवक प्रत्येक आज्ञा के लिए तैयार है।"

भट्टिनी उठकर बैठ गयीं। धीरे-धीरे बोलीं, "आर्यावर्त्त की विपत्ति इस बार कट गयी है, भट्ट। आचार्य भर्वुपाद ने बताया है कि इस अल्पकाल में ही महामाया के लाखों शिष्य पुरुषपुर के आगे एकत्र हो गये हैं। इनमें अधिकांश अशिक्षित और असंघटित थे। मेरे पिता ने उनको संघटित करने का काम आरम्भ कर दिया है। कुभा के उस पार दस्युओं का कोई सन्धान नहीं पाया गया है। सम्भवतः वे लौट गये हैं। परन्तु म्लेच्छ कहे जानेवालों का हृदय अभी परिवर्त्तित नहीं हुआ है। तुम मेरे साथ चलकर उनमें काम करने को तैयार हो जाओ। हाय भट्ट, निपुणिका को मेरी बात कभी जँची ही नहीं। मैं उसे कभी इस सत्य की ओर उन्मुख नहीं कर सकी, वह अपने रास्ते चली गयी।"

मैंने भट्टिनी के साथ चलने का वचन दे दिया। उल्लसित होकर भट्टिनी ने और उनकी आज्ञा से मैंने साथ-ही-साथ महावराह को प्रणाम किया। महावराह ने गोपन हास्य से हमारे उल्लास का तिरस्कार किया होगा, क्योंकि निपुणिका का श्राद्ध समाप्त होते ही आचार्य भर्वुपाद ने मुझे पुरुषपुर जाने की आज्ञा दी। उन्होंने स्पष्ट रूप में आदेश दिया कि भट्टिनी तब तक स्थाण्वीश्वर में ही रहेंगी। भट्टिनी ने सुना तो उनका मुख विवर्ण हो गया। झुकी हुई आँखों को और भी झुकाकर बोलीं, "जल्दी ही लौटना।"

मैंने कातर कण्ठ के वाष्प-रुद्ध वाक्य को प्रयत्नपूर्वक दबा लिया। लेकिन अन्तरात्मा के अतल गह्वर से कोई चिल्ला उठा—'फिर क्या मिलना होगा?'

उपसंहार

'बाणभट्ट की आत्मकथा' का इतना ही अंश मिला था। स्पष्ट ही यह कथा अपूर्ण है। मेरा विचार था कि कथा की जाँच केवल 'बाणभट्ट' की उपलब्ध पुस्तकों से सादृश्य रखनेवाले अंशों के साथ तुलना करने तक ही सीमित न रखी जाये बल्कि उसकी भीतरी साहित्यिक जाँच भी की जाये। कादम्बरी शैली के साथ कथा की शैली में ऊपर-ऊपर से बहुत साम्य दिखता है, आँखों का प्राधान्य इसमें भी अन्य इन्द्रियों की अपेक्षा अधिक है—रूप का, रंग का, शोभा का, सौन्दर्य का, इसमें भी जमकर वर्णन किया गया है; पर इतने ही से साहित्यिक जाँच समाप्त नहीं हो जाती। कथा को ध्यान से पढ़नेवाला प्रत्येक सहृदय अनुभव करेगा कि कथा-लेखक जिस समय कथा लिखना शुरू करता है उस समय उसे समूची घटना ज्ञात नहीं है। कथा बहुत-कुछ आजकल की 'डायरी' शैली पर लिखी गयी है। ऐसा जान पड़ता है कि जैसे-जैसे घटनाएँ अग्रसर होती जाती हैं वैसे-वैसे लेखक उन्हें लिपिबद्ध करता जा रहा है। जहाँ उसके भावावेग की गति तीव्र होती है वहाँ वह जमकर लिखता है; परन्तु जहाँ दुःख का आवेग बढ़ जाता है वहाँ उसकी लेखनी शिथिल हो जाती है। अन्तिम उच्छ्वासों में तो वह जैसे अपने ही में धीरे-धीरे डूब रहा है। मुझे यह बात विचित्र लगी। संस्कृत-साहित्य में यह शैली एकदम अपरिचित है। मुझे यह बात सन्देहजनक भी मालूम हुई। एक बात और है। कादम्बरी में प्रेम की अभिव्यक्ति में एक प्रकार की दृप्त भावना है; परन्तु इस कथा में सर्वत्र प्रेम की व्यंजना गूढ़ और अदृप्त भाव से प्रकट हुई है। ऐसा जान पड़ता है कि एक स्त्री-जनोचित लज्जा सर्वत्र उस अभिव्यक्ति में बाधा दे रही है। सारी कथा में स्त्री-महिमा का बड़ा तर्कपूर्ण और जोरदार समर्थन है। कथा का जिस ढंग से आरम्भ हुआ है उसकी स्वाभाविक परिणति गूढ़ और अदृप्त प्रेम ही हो सकती है। मुझे कथा के स्वाभाविक विकास की दृष्टि से इसमें कोई विरोध या दोष नहीं दिखता; पर बाणभट्ट की लेखनी से सम्भवतः अधिक स्पष्ट और अधिक दृप्त अभिव्यक्ति की आशा की जा सकती है। फिर कादम्बरी में प्रेम के जिन शारीरिक विकारों का—अनुभावों का, हावों का, अयत्नज अलंकारों का—प्राचुर्य है उनके स्थान में कथा में मानसविकारों का—लज्जा का, अवहित्था का, जड़िमा का—अधिक प्राचुर्य है। यह बात भी मुझे खटकनेवाली लगी। मैं उदाहरण देकर बातों को समझाने का संकल्प कर रहा था।

ऐतिहासिक दृष्टि से तुवरमिलिन्द एक समस्या है। बाणभट्ट ने कादम्बरी के आरम्भ में भर्वुशर्मा की स्तुति की है। ये बाणभट्ट के गुरु थे। इस कथा में अवधूत अघोरभैरव के प्रति बाणभट्ट की आस्था अधिक प्रकट हुई है, भर्वुशर्मा के प्रति कम। 'धावक' के शब्दार्थ को देखकर कुछ यूरोपियन पण्डितों ने अनुमान भिड़ाया है कि यह कवि जाति का धोबी था। कथा से यह बात समर्थित नहीं होती। इतिहास की दृष्टि से छोटी-मोटी कुछ असंगतियाँ चाहे निकल आवें पर अधिकांश में उपलब्ध ऐतिहासिक सामग्री से कथा की सामग्री का कोई विरोध नहीं है। विशेष लक्ष्य करने की बात है इस कथा के भौगोलिक स्थान। स्थाण्वीश्वर और चरणाद्रि दुर्ग (चुनार) का नाममात्र का उल्लेख है, परन्तु भद्रेश्वर दुर्ग और उसके समीपवर्त्ती स्थानों का कुछ अधिक वर्णन है, जो काफी संकेतपूर्ण है।

कथा से 'रत्नावली' की 'जितमुडुपतिना' श्लोकवाली समस्या का पूर्ण समाधान हो जाता है। यह श्लोक बहुत दिनों से पण्डितों के वाग्विलास का विषय बना हुआ है। अभी तक इसकी कोई अच्छी व्याख्या नहीं की जा सकी है। तरह-तरह के अटकल लगाये गये हैं। कथा अगर प्रामाणिक है तो इस समस्या का सुन्दर समाधान हो जाता है। मैंने सोचा था कि इन महत्त्वपूर्ण सूचनाओं को देनेवाली कथा की परीक्षा सावधानी से की जानी चाहिए। इसी समय दीदी का यह पत्र मिला है। कथा का रहस्य इस पत्र से कितना खुलता है, यह सहृदयों के विचार के लिए ही छोड़ देता हूँ। अपना मत संक्षेप में ही कहकर समाप्त कर दूँगा।

'प्रिय व्योम,

छः वर्षों से आस्ट्रिया के दक्षिणी भाग में निराशा और पस्तहिम्मती की जिन्दगी बिता रही हूँ। तुमने युद्ध के घिनौने समाचार पढ़े होंगे, लेकिन उसके असली निर्घृण क्रूर रूप को तुम लोगों ने नहीं देखा। देखते तो मेरी ही तरह तुम लोग भी मनुष्य-जाति की जययात्रा के प्रति शंकालु हो जाते। यह अच्छा ही हुआ कि तुमने यह घृणित नर-संहार नहीं देखा। यह मनुष्य का नहीं, मनुष्यता के वध का दृश्य था। मैं छः वर्षों तक साँस रोककर इस वृद्धावस्था में यह बीभत्स दृश्य देखती रही। लाखों युवक और युवतियाँ, बच्चे और बच्चियाँ मर गयीं और दुर्भाग्य ने न जाने मुझ वृद्धा को क्यों बचा लिया। तूने 'बाणभट्ट की आत्मकथा' छपवा दी, यह अच्छा ही किया। पुस्तक रूप में न सही, पत्रिका रूप में छपी कथा को देख सकी हूँ, यही क्या कम है। अब मेरे दिन गिने-चुने ही रह गये हैं। इसके पहले 'कथा' के बारे में जो पत्र लिखा था उसे मत छपाना। मैं अब फिर तुम लोगों के बीच नहीं आ सकूँगी। मैं सचमुच संन्यास ले रही हूँ। मैंने अपने निर्जन वास का स्थान चुन लिया है। यह मेरा अन्तिम पत्र है। 'आत्मकथा' के बारे में तूने एक बड़ी गलती की है। तूने उसे अपने 'कथामुख' में इस प्रकार प्रदर्शित किया है मानो वह 'आटो-बॉयोग्राफी' हो। ले भला! तूने संस्कृत पढ़ी है ऐसी ही मेरी धारणा थी, पर यह क्या अनर्थ कर दिया तूने। बाणभट्ट की आत्मा शोण

नद के प्रत्येक बालुका-कण में वर्तमान है। छिः, कैसा निर्बोध है तू, उस आत्मा की आवाज तुझे नहीं सुनायी देती ? देख रे, तू पुरुष है, तू युवक है, तुझे इतना प्रमाद नहीं शोभता।

'उस भाग्यहीन बिल्ली ने बच्चों की एक पल्टन खड़ी कर दी है। युद्ध में इतने बम गिरे लेकिन इन शैतानों में से एक भी नहीं मरा। मैं कहाँ तक सम्हालूँ। जीवन में एक बार जो चूक हो जाती है वह हो ही जाती है। इस बिल्ली का पोसना भी एक भूल ही थी। तुमसे मेरी एक शिकायत बराबर रही है। तू बात नहीं समझता। भोले, 'बाणभट्ट' केवल भारत में ही नहीं होते। इस नर-लोक से किन्नर-लोक तक एक ही रागात्मक हृदय व्याप्त है। तूने अपनी दीदी को कभी समझने की चेष्टा भी की ! प्रमाद, आलस्य और क्षिप्रकारिता—तीन दोषों से बच। अब रोज-रोज तेरी दीदी इन बातों को समझाने नहीं आयेगी। जीवन की एक भूल—एक प्रमाद—एक असमंजस न जाने कब तक दग्ध करता रहता है। मेरा आशीर्वाद है कि तू इन बातों से बचा रहे। दीदी का स्नेह।—कै.'

तो 'आत्मकथा' का अर्थ 'आटो-बायोग्राफी' समझकर दीदी की दृष्टि में मैंने अनर्थ कर दिया है ! जहाँ तक मेरे प्रमाद, आलस्य और अज्ञान का प्रश्न है वहाँ तक तो मेरा अपना ही अधिकार है। परन्तु इस पत्र में सिर्फ इतना ही नहीं है। कुछ सहृदयों का भी प्राप्य है। मुझे याद आया कि दीदी उस दिन बहुत भाव-विह्वल थीं। उन्होंने एक शृगाल की कथा सुनानी चाही थी। उनका विश्वास था कि शृगाल बुद्धदेव का समसामयिक था। क्या बाणभट्ट का कोई समसामयिक जन्तु भी उन्हें मिल गया था ? शोण नद के अनन्त बालुका-कणों में से न जाने किस कण ने बाणभट्ट की आत्मा की यह मर्मभेदी पुकार दीदी को सुना दी थी ! हाय, उस वृद्ध हृदय में कितना परिताप संचित है ! अस्त्रियवर्ष की यवनकुमारी देवपुत्र-नन्दिनी क्या आस्ट्रिया-देशवासिनी दीदी ही हैं ! उनके इस वाक्य का क्या अर्थ है कि 'बाणभट्ट केवल भारत में ही नहीं होते'। आस्ट्रिया में जिस नवीन 'बाणभट्ट' का आविर्भाव हुआ था वह कौन था। हाय, दीदी ने क्या हम लोगों के अज्ञात अपने उसी कवि प्रेमी की आँखों से अपने को देखने का प्रयत्न किया था ! यह कैसा रहस्य है ! दीदी के सिवा और कौन है जो इस रहस्य को समझा दे ? मेरा मन उस 'बाणभट्ट' का सन्धान पाने को व्याकुल है। मैंने क्यों नहीं दीदी से पहले ही पूछ लिया। मुझे कुछ तो समझना चाहिए था। लेकिन 'जीवन में जो भूल एक बार हो जाती है वह हो ही जाती है !'

पत्र पढ़ने के बाद मेरे चित्त में यही प्रतिक्रिया हुई है। यदि मेरा अनुमान ठीक है तो साहित्य में यह अभिनव प्रयोग है। मध्ययुग के किसी कवि ने राधिका की इस उत्कट अभिलाषा का वर्णन किया है कि वे समझ सकतीं कि कृष्ण उनमें क्या रस पाते हैं। श्रीकृष्ण ने भी, कहते हैं कि, राधिका की दृष्टि से अपने को देखना चाहा था और इसीलिए नवद्वीप में चैतन्य महाप्रभु के रूप में

प्रकट हुए थे। काव्य की ग्रौर धर्म-साधना की दुनिया में जो कल्पना थी उसे दीदी ने ग्रपने जीवन में सत्य करके दिखा दिया। मुझे इस बात से एक ग्रपूर्व ग्रानन्द ग्रनुभूत हो रहा है। परन्तु सहृदयों के मार्ग में इस व्याख्या को मैं बाधक नहीं बनाना चाहता। इसीलिए मैं साहित्यिक समीक्षा के संकल्प से विरत हो रहा हूँ। कथा जैसी है वैसी सहृदयों के सामने है।—व्यो.

○ ○

चारु चन्द्रलेख

कथामुख

अवाच्यमुच्येत कथं पदन्तत्,
अचिन्त्यमप्यस्ति कथं विचिन्तये।
अतो यदस्त्येव तदस्तु तस्मै,
नमोऽस्तु कस्मै वत नाथतेजसे ॥

गोरखनाथी सम्प्रदाय में दो जैन योगियों के सम्प्रदाय अब भी अन्तर्भुक्त हैं। एक को नीमनाथी (नेमिनाथी) कहते हैं और दूसरे को पारसनाथी (पार्श्वनाथी)। साधना-साहित्य के विद्यार्थियों के लिए यह बड़े कुतूहल का विषय रहा है कि जैन तीर्थंकरों के नाम पर अपना परिचय देनेवाले सम्प्रदाय नाथ-परम्परा में कैसे अन्तर्भुक्त हो गये। जैन अनुश्रुतियों से इस बात का समर्थन तो हो जाता है कि पारसनाथ के सामने विमर्दित रस (पारा) अमोघ हो जाता है, पर बहुत-सी गुत्थियाँ इस अनुश्रुति से सुलझने के स्थान पर और भी अधिक उलझ जाती हैं। बहुत दिनों से योगियों के बीच यह विश्वास फैला हुआ है कि चन्द्रलेखा नामक सिद्ध योगिनी अब भी नित्य ही द्वारका से कामरूप आया करती हैं। जिस समय वे कामरूप में उपस्थित होती हैं, उस समय अचानक पश्चिम की मन्द वायु काम-रूप के प्रत्येक गवाक्ष को आन्दोलित कर जाती है, और यदि पुरातन पुण्य के बल से किसी को उनका दर्शन हो जाता है, तो उसे निश्चित रूप से सिद्धि मिल जाती है। इस चन्द्रलेखा के विषय में प्राचीन साहित्य प्रायः मौन ही है। केवल मेरुतुंग के जैन-प्रबन्ध (प्रबन्ध चिन्तामणि) में एक अधभूली-सी कहानी दी हुई है। 'प्रबन्ध चिन्तामणि' का सम्पादन मुनिश्री जिनविजयजी ने किया है और अब उन्हीं के सम्पादन में हजारीप्रसाद द्विवेदी का हिन्दी भाषान्तर भी बम्बई से प्रकाशित हो गया है। 'प्रबन्ध चिन्तामणि' की कहानी इस प्रकार है :

"टंक नामक पर्वत पर रणसिंह नामक एक राजपूत रहा करता था। उसकी पुत्री का नाम भूपलदेवी था। उसने अपने सौन्दर्य से नागलोक की बालाओं को भी जीत लिया था। इस अनिन्द्य-रूपा राजपुत्र-बाला को देखकर वासुकि नाग का उस

पर अनुराग हो गया। इस प्रेम के फलस्वरूप भूपलदेवी के गर्भ से नागार्जुन का जन्म हुआ। पाताल-पाल वासुकि नाग ने पुत्र-स्नेह से मोहित होकर उसे समस्त औषधियों के फल-मूल और पत्तों का भक्षण कराया। इन औषधियों के प्रभाव से नागार्जुन को अनायास ही महासिद्धि प्राप्त हो गयी। सिद्ध पुरुष होने के कारण वह पृथ्वी-पर्यटन करता हुआ सातवाहन राजा के पास पहुँचा और राजा को प्रभावित करने में समर्थ हुआ। वहाँ उसे राजा के कलागुरु होने की भारी प्रतिष्ठा प्राप्त हुई। नागार्जुन को अपने भीतर एक कमी बराबर खटकती रही। वह गगनगामी विद्या नहीं जानता था। इस विद्या को सीखने के लिए वह महासिद्ध जैन आचार्य पादलिप्तक (पालित्तिय) के पास गया और निरभिमान होकर उनकी सेवा करने लगा।

"पादलिप्ताचार्य अपने पैरों में एक सौ आठ औषधियों का लेप करके उड़ जाया करते थे और अष्टापद आदि समस्त तीर्थों में देवता-दर्शन कर भोजन के समय तक लौट आया करते थे। नागार्जुन बड़े प्रेम से उनके चरण धोता और भक्तिपूर्वक चरणोदक पी जाता। स्वाद से वह एक सौ सात औषधियों को पहचान गया। इन एक सौ सात औषधियों को पीसकर अपने पैर में लेपा और मोर और मुर्गों की भाँति थोड़ा-थोड़ा उड़ने लगा। उड़ने का प्रयत्न करता हुआ वह एक खड्ड में गिर पड़ा। चोट लगने से उसका शरीर लहू-लुहान हो गया। गुरु ने उसकी दशा देखकर पूछा तो उसने सारा वृत्तान्त सच-सच बता दिया। उसकी चतुरता से प्रसन्न होकर गुरु ने उसके सिर पर अपना कर-कमल रखते हुए कहा, 'प्रीत हूँ वत्स, तुमसे केवल एक भूल हुई है। इन एक सौ सात औषधियों को साठी चावल के पानी में पीसकर पैर में लेप करो तो तुम्हें आकाश-गमन की विद्या सिद्ध हो जायेगी।' इस प्रकार पादलिप्ताचार्य के अनुग्रह से उसे यह विद्या सिद्ध हो गयी। एक बार नागार्जुन ने अपने गुरु के मुख से सुना कि यदि कोई समस्त स्त्री-लक्षणों से युक्त युवती पार्श्वनाथ की रत्नमूर्त्ति के सामने अपने हाथों से पारद का मर्दन दीर्घ काल तक करे तो कोटिबेधी रस सिद्ध होता है।

"गुरु-मुख से यह संवाद सुनकर नागार्जुन कोटिबेधी रस सिद्ध करने के लिए व्याकुल हो उठा। पता लगाने पर उसे मालूम हुआ कि पार्श्वनाथ का वह बिम्ब समुद्रविजय नामक दाशार्ह ने द्वारावती पुरी में स्थापित कराया था, परन्तु द्वारका जब समुद्र में डूब गयी तो वह मूर्त्ति भी उसी के साथ जाती रही। बाद में देवता के प्रभाव से धनपति नामक एक व्यापारी का जहाज़ उस मूर्त्ति से टकराया। उस समय आकाशवाणी हुई कि यहाँ पार्श्वनाथ का सिद्ध-बिम्ब है। धनपति के नाविकों ने सात कच्चे धागों के सहारे इस महिमामय रत्नबिम्ब का उद्धार किया और अपने नगर को ले आये। नागार्जुन ने उस बिम्ब को चुरा लिया और सेढ़ी नदी के किनारे उसे स्थापित किया।

"सातवाहन की एकमात्र रानी चन्द्रलेखा समस्त स्त्री-गुणों से विभूषित थी। नागार्जुन नित्य उसे सिद्ध-व्यन्तर (एक प्रकार के प्रेत) द्वारा उड़वाकर वहाँ

ले जाता और रस-मर्दन कराता। चन्द्रलेखा भी बड़ी तत्परता से यह कार्य करती। दीर्घ काल तक यह प्रक्रिया चलती रही। दोनों में गाढ़ बन्धुता हो गयी। पूछने पर एक दिन नागार्जुन ने रस-मर्दन का रहस्य उसे बता दिया। उसने अपने पुत्रों से कह दिया और वे दोनों भी गुप्त भाव से वहीं रहने लगे। नागार्जुन हर प्रकार से उसे प्रसन्न रखता। चन्द्रलेखा के दोनों पुत्र घात लगाये रहे कि जब रस सिद्ध हो जाये तो उसे चुरा लें। परम्परा से उन्हें यह ज्ञात हो गया था कि नागार्जुन वासुकि का पुत्र है, जिसने उसकी मृत्यु कुशास्त्र से बतायी है।

"नागार्जुन के लिए एक स्त्री भोजन बना दिया करती थी। उस स्त्री को दोनों भाइयों ने बहुत सारा धन देकर अपने पक्ष में कर लिया। नागार्जुन चुपचाप भोजन करने बैठता और चुपचाप उठ जाता। उस स्त्री ने भोजन में ज़्यादा नमक डालना शुरू किया। जब तक रस-सिद्धि में विघ्न पड़ने की आशंका थी, मन में विकार न आने देने की इच्छा से नागार्जुन चुप रहा। छः महीने बाद नागार्जुन ने नमक अधिक होने की चर्चा की। इससे उस स्त्री को मालूम हो गया कि अब रस-सिद्ध हो गया है। उसने चन्द्रलेखा के दोनों पुत्रों को इशारा किया। उन दोनों ने कुश के अस्त्र से नागार्जुन को मार डाला। पर उन्हें हत्या ही हाथ लगी। वह रस देवताधिष्ठित होने के कारण तत्काल तिरोहित हो गया। जहाँ पर वह रस स्तम्भित हुआ था, वहीं पर स्तम्भनक नामक पार्श्वनाथ तीर्थ प्रसिद्ध हुआ।"[1]

इसकी कहानी में यह नहीं बताया गया कि चन्द्रलेखा या उसके पुत्रों पर क्या बीती। हाल ही में अघोरनाथ नामक औघड़ साधु को विचित्र रूप से इस कथा का बाकी हिस्सा मिल गया है। अघोरनाथ गंगासागर-स्नान के बाद कामरूप गये थे। जिस दिन वे पहुँचे, उसी रात को प्रत्यूष काल में पश्चिमी हवा के मृदुल झकोरे से जाग पड़े। उन्हें सामने एक अत्यन्त उदास स्त्री-मूर्त्ति दिखायी दी। उसके अंग-अंग से लावण्य की छटा छिटक रही थी तथा वस्त्र और अलंकार की आभा से उसका गौर मुखमण्डल सूर्य-बिम्ब के समान दमक रहा था। उसके हाथ में एक त्रिशूल था। इसके सिवा उसमें योगिनी का कोई लक्षण नहीं दीखा। उस विचित्र स्त्री को देखकर अघोरनाथ का हृदय भक्ति से भर उठा। उसकी उदासी का कारण जानने के लिए वे व्याकुल हो उठे। उस स्त्री ने उन्हें ब्रह्मपुत्र के उतार पर चन्द्रद्वीप नामक उपत्यका में जाने का अनुरोध किया और बताया कि वे चन्द्रगुहा के पिछले हिस्से में उट्टंकित वृत्त पढ़ लें और इस प्रकार अपनी जिज्ञासा तृप्त कर लें। प्रातःकाल जब अघोरनाथ ने अन्य साधुओं को यह कहानी सुनायी तो सबने उन्हें सावधान किया कि कामरूप में योगिनियाँ नानाभाव से नवागन्तुकों को भरमाया करती हैं, वे इनके चक्कर में न पड़ें। पर अघोरनाथ कुछ फक्कड़ तबीयत के हैं। उन्होंने सुन रखा था कि कश्मीर के प्रसिद्ध सिद्ध वसुगुप्त ने इसी प्रकार स्वप्न में आदेश पाकर महादेवगिरि की शिला पर उट्टंकित शिव-सूत्रों का

1. 'प्रबन्ध चिन्तामणि,' हिन्दी भाषान्तर, पृष्ठ 147-48 के आधार पर।

उद्धार किया था। वे कुछ अप्रत्याशित पाने की उमंग में ब्रह्मपुत्र की उस उपत्यका में पहुँचे। इसके बाद की कथा उन्हीं के शब्दों में इस प्रकार है :

"चन्द्रद्वीप हिमालय की एक उपत्यका में है जो दोनों ओर ब्रह्मपुत्र की धाराओं से घिरा हुआ है। द्वीप में पुष्पों की इतनी अधिकता है कि पहले-पहल उनकी सुगन्धि से दिमाग अवसन्न-सा हो जाता है। दीप के पार्श्व में एक छोटी-सी गुहा है। मैंने अनुमान से समझा कि यही चन्द्रगुहा होगी। वस्तुतः वहाँ यही एक गुहा है। इसके पिछले हिस्से में जाना बहुत कठिन है, क्योंकि नीचे खरस्रोता नदी की धारा बड़ी भयंकर गति से दौड़ती रहती है और गुहा का पिछला हिस्सा औंधी हुई कड़ाही की तरह है, जहाँ पैर टिकाना बड़े साहस का काम है। मैं जब उस विकट गुहा-पृष्ठ को देखकर हिम्मत हार रहा था उसी समय मैंने बड़े आश्चर्य से देखा कि एक गाय गुहा-पृष्ठ पर बड़े मजे में घूम रही है। मेरा साहस बढ़ गया। मैंने कागज-पेंसिल झोले में डाला और धीरे-धीरे गुहा के पिछले हिस्से की ओर बढ़ा। असल में वह दूर से जितना चिकना दीखता था, उतना चिकना था नहीं। पुष्पों का तो वहाँ भी साम्राज्य था। पैर टिकाना जितना कठिन पहले जान पड़ता था, उतना नहीं था; फिर भी कठिनाई तो थी ही। गुहा के पिछले हिस्से पर कुछ चिह्न थे। और समय होता तो मैं उसे गाय के खुर का चिह्न ही मानता, पर उस दिन मुझे कुछ दिव्यदृष्टि-सी मिल गयी थी। मैं एक-एक चिह्न को पढ़ता गया और कुछ देर तो आविष्ट-सा बना लिखता गया। मैंने कुल सवा सौ पृष्ठ लिख डाले। अचानक मुझे ऐसा मालूम हुआ कि मेरा हाथ रुक रहा है। चारों तरफ पुष्पों की मादक महक थी, नीचे खर-धार ब्रह्मपुत्र का कल-कल सुनायी दे रहा था और सामने गुहा-पृष्ठ के विचित्र लेख मुझे अभिभूत-से कर रहे थे। मैं सिर थामकर बैठ गया और न जाने कब लुढ़क गया। होश आने पर मैंने अपने को ब्रह्मपुत्र के किनारे पाया। परन्तु न कहीं मुझे चोट मालूम पड़ी, न क्लान्ति। मैंने दूसरी बार फिर बाकी हिस्से को पढ़ आने का प्रयत्न किया, पर फिर वही दशा हुई। एक बार और प्रयत्न व्यर्थ होने से मैंने समझ लिया कि उसके बाद कोई ऐसी बात है जिसके ज्ञान के लिए अधिक साधना की आवश्यकता है। मैं उस कहानी को अधूरी लेकर लौट आया।"

अघोरनाथ चाहते हैं कि उनकी कथा का व्यापक प्रचार हो। उनका दृढ़ विश्वास है कि चन्द्रलेखा योगिनी के प्रसाद से ही यह कथा उन्हें मिली है, परन्तु वे यह भी जानते हैं कि आजकल के लोग इन बातों पर विश्वास नहीं करते और उनकी कथा श्रद्धा की दृष्टि से नहीं देखी जायेगी। इसीलिए वे चाहते हैं कि कथा पर मैं अपनी सम्मति देकर उसे जनता के सामने उपस्थित करने में उनकी सहायता करूँ। मैंने नीमनाथी और पारसनाथी नाथपन्थियों की समस्या की ओर जनता का ध्यान आकृष्ट किया था, इसलिए उनके मत से यह मेरा कर्त्तव्य भी हो जाता है।

मुझे स्वीकार करना चाहिए कि कथा के प्रति आरम्भ में मेरी विशेष श्रद्धा

नहीं थी, पर पढ़ते-पढ़ते मुझे ऐसा लगा कि इसे एकदम अवज्ञा योग्य नहीं समझा जा सकता। कथा में प्राचीनता के चिह्न हैं, कम-से-कम प्राचीन साहित्य से वह असमर्थित नहीं कही जा सकती। प्राचीन साहित्य में जहाँ कहीं भी इस कथा से मिलते-जुलते अंश मुझे मिल सके हैं, उन्हें मैंने टिप्पणियों के रूप में संग्रह कर दिया है। अपना मत तो मैं अभी नहीं प्रकाशित कर रहा हूँ, क्योंकि उससे पाठकों को स्वतन्त्र निर्णय करने के मार्ग में शायद बाधा पड़ेगी। परन्तु सम्पूर्ण कथा प्रकाशित हो जाने के बाद उसे ज़रूर प्रकट कर दूँगा। तब तक कथा जैसी है वैसी ही पाठकों के सामने उपस्थित की जा रही है। साधु अघोरनाथ के अनुरोध से मेरी टिप्पणियाँ भी कथा के साथ हैं।

—व्यो. शा.

1

भारतवर्ष के उत्तरी भाग पर पूर्ण रूप से तुर्कों का राज्य स्थापित हो गया था। दक्षिण में गोपाद्रि दुर्ग तक वे बढ़ आये थे, और, और भी आगे बढ़कर पैर जमाने की कोशिश में थे। परन्तु पूर्वी प्रदेश अभी तक उनके आक्रमणों से बचा हुआ था। मेरे गुप्तचरों ने पूर्वी प्रदेश के सम्बन्ध में जो सूचनाएँ दी थीं, वे बहुत उत्साहजनक नहीं थीं। लोगों को बाहुबल की अपेक्षा तन्त्रमन्त्र पर अधिक विश्वास था। नालन्दा के बौद्ध-विहार में अनेक प्रकार की वाम-मार्गी साधनाओं का अबाध प्रवेश हो गया था। मैंने सुना था कि वहाँ ऐसे-ऐसे सिद्ध विद्यमान हैं जो आसमान में उड़ सकते हैं, खड़ाऊँ पहनकर नदी पार कर सकते हैं, पेड़ की डाल पर त्रैलोक्य का भ्रमण कर सकते हैं, आकाश से आग की वर्षा कर सकते हैं, और हुंकार-मात्र से समस्त जगत् में प्रलय की बाढ़ ला सकते हैं। मैं ठीक नहीं कह सकता कि ये बातें कहाँ तक सत्य हैं, परन्तु सोमेश्वर तीर्थ के कन्थड़ीनाथ और उनके गुरुभाई सिद्ध घोड़ाचूली से इस सम्बन्ध में बात करके मैंने जो कुछ समझा था, उससे मेरे मन में इन सिद्धियों के प्रति बहुत अधिक श्रद्धा नहीं हुई थी। मैं ऐसा अनुभव करता था कि आपत्काल में इन सिद्धों से बहुत अधिक आशा नहीं की जा सकती। परन्तु मेरा मन इसलिए उद्विग्न हो गया था कि मैंने सुना था, साधारण जनता और राजा के सैनिकों तक में यह विश्वास घर कर गया है कि यदि कभी आक्रमण हुआ तो शस्त्र-बल की अपेक्षा सिद्धों का मन्त्र-बल उनकी अधिक सहायता करेगा। सर्वत्र एक प्रकार की शिथिलता और लापरवाही का बोलबाला था। इसके दुष्परिणाम की सम्भावना से मैं बहुत व्याकुल था। मुझे पता चला कि उज्जयिनी से कोई पचास मील दक्षिण की ओर एक गाँव है, जिसमें कोई सिद्ध पुरुष आये हैं, ये हिन्दू-मुसलमान में कोई भेद नहीं मानते और मौज में आकर नमाज़ भी पढ़ लेते हैं और मन्दिर में पूजा भी कर लेते हैं; बड़े ही फक्कड़ सिद्ध हैं और जरूरत पड़ने पर आसमान में भी उड़ जाया करते हैं तथा धरती में भी प्रवेश कर जाते हैं; यदि किसी कारणवश नाराज़ हुए तो जो सामने

आया उसी पर गाली की बौछार शुरू कर देते हैं, नमाज़ पढ़नेवालों को भी फटकार देते हैं और सन्ध्या-पूजा करनेवालों को भी दुत्कार देते हैं; पूरे अवधूत हैं; धर्म-सम्बन्धी किसी भी नियम के पाबन्द नहीं हैं और न किसी वेप-भूषा के प्रति ही आस्था या अनास्था रखते हैं; उनकी मौज का सवाल है—कभी दरवेशों का-सा वेश बना लेते हैं, कभी योगियों का-सा। परन्तु दिल्ली के अमीरों में इनका बड़ा मान है। सिद्ध होने के कारण वे सिद्ध हैं और मस्तमौला होने के कारण मौला हैं। मुसलमान लोग इनको सीदी मौला कहते हैं—सीदी अर्थात् सिद्ध। इनका एक बड़ा भारी गुण यह बताया जाता है कि प्रसन्न होने पर ताँबे को विशुद्ध सोने में परिवर्त्तित कर देते हैं। दिल्ली के अनेक अमीर सीदी मौला के कृपा-कटाक्ष के लोलुप हैं। सुनने में आया है कि सैकड़ों व्यक्ति उनकी कृपा से रंक से राव बन गये हैं। ये सीदी मौला कभी-कभी ही दिल्ली पहुँच पाते हैं, परन्तु जब पहुँचते हैं तो अमीरों की भीड़ लग जाती है। ये सीस्तान, कन्दहार, बुख़ारा और तुर्किस्तान का भ्रमण कर आये हैं और हाल ही में नालन्दा, लक्ष्मणावती और कामरूप की यात्रा करके लौटे हैं। मेरी बड़ी इच्छा थी, इनके दर्शन करूँ और दुनिया का कुछ हाल-चाल मालूम करूँ।

रास्ते में मुझे एक विचित्र वेश-धारी साधु मिला, जो अपने को दरवेश कहता था। मैंने उससे पूछा कि बाबा, तुम किस देश के रहनेवाले हो, कहाँ से आ रहे हो? इस देश की भाषा वह बहुत कम बोल पाता था। आधी से अधिक बात तो वह इशारे से ही करता था। उसने अपने को सीस्तान का निवासी बताया। उसने यह भी बताया कि वह पूर्व में कामरूद तक गया है—कामरूद अर्थात् कामरूप। फिर उसने गौड़ देश और उसके राजा लखमनिया के बारे में भी बहुत-सी बातें बतायीं। लखमनिया लक्ष्मणसेन का अपभ्रंश रूप था। उसने बताया कि राय लखमनिया की राजधानी नोदिया है। मैंने आशय समझ लिया; नोदिया अर्थात् नवद्वीप। दरवेश ने बताया कि लखमनिया माता के गर्भ में था, तभी उसके पिता की मृत्यु हो गयी। राजमुकुट उसकी माता के पेट पर रख दिया गया। सब लोग उसकी माता की आज्ञा को राजाज्ञा समझकर सम्मान करते थे। जब प्रसव-काल निकट आया तो ज्योतिषियों ने बताया कि यदि इस समय इसका जन्म होगा तो बड़ा अशुभ होगा, यदि दो घड़ी बाद होगा तो शुभ होगा; उस समय यह बालक अस्सी बरस तक अखण्ड राज्य का अधिकारी होकर उत्पन्न होगा। माता ने जब यह बात सुनी तो उसने आज्ञा दी कि शुभ मुहूर्त्त आने तक दोनों पैर बाँधकर उसे उल्टा लटका दिया जाये। ऐसा ही किया गया। ज्योतिषी लोग बैठकर ग्रह-गणना करते रहे। शुभ मुहूर्त्त में माता को सीधा लिटाया गया। उसी समय राय लखमनिया का जन्म हुआ। दरवेश ने कहा, "लखमनिया बहुत अच्छा राजा है, उसने कभी किसी पर कोई अत्याचार नहीं किया। उसकी प्रजा उसके शुभ जन्म पर विश्वास करती है। उसके सैनिक लापरवाह रहते हैं; उनका दृढ़ विश्वास है कि अस्सी वर्ष तक कुछ भी दुर्घटना

नहीं घटेगी।" लेकिन दरवेश ने ज़रा-सी व्यंग की हँसी हँसकर कहा, "ग्रस्सी प्राय: पूज ग्राया है।"

मैं थोड़ी चिन्ता में पड़ गया। ग्रहों पर क्या इतना विश्वास करना ठीक है? क्या इससे देश की पुरुषार्थ-भावना दब नहीं रही है? इतिहास-विधाता की क्या इच्छा है? जो हो, मुझे सीदी मौला से मिलना था; मुझे जल्दी थी। इसलिए घोड़े की पीठ पर निरन्तर भागता हुग्रा मैं उस गाँव तक पहुँचा। गाँव के दक्षिण में एक छोटी-सी नदी बहती है। उसी के किनारे एक छोटा-सा शिवमन्दिर था। सीदी मौला वहीं ठहरे थे। परन्तु मेरे जाने के पहले ही वे कहीं ग्रौर चले गये। कब उठकर चले गये, किसी को नहीं मालूम। लेकिन गाँव के लोगों ने बताया कि वे कदाचित् ग्रौर दक्षिण की ग्रोर गये होंगे। मैं निराश होकर उस शिव-मन्दिर के पास एक बरगद के पेड़ के नीचे ग्रासन बिछाकर बैठ गया। सोचने लगा, ग्रौर दक्षिण की ग्रोर जाना चाहिए कि नहीं। एक घड़ी तक मैं इसी प्रकार ग्रागा-पीछा करता रहा; फिर मुझे थोड़ी-सी नींद ग्रा गयी। मैंने स्वप्न देखा कि कोई रूक्ष-वेश तापस मुझे जगा रहा है। नींद खुली तो सामने सचमुच ही एक तपस्वी खड़े थे। ऐसा जान पड़ा कि उन्होंने मुझे पहचान लिया। बोले, "राजन्, देर हो रही है। निद्रा में समय न गँवाग्रो, सीधे पश्चिम की ग्रोर घोड़ा दौड़ाग्रो। सीदी मौला नहीं मिलेगा, सीदी देवी मिलेगी।" फिर हँसकर इस श्लेष का ग्रर्थ समझाते हुए बोले, "सीदी से भेंट नहीं होगी; परन्तु सिद्धि तुम्हारी प्रतीक्षा कर रही है। उठो, देर न करो। एक क्षण के विलम्ब से सारा काम नष्ट हो जायेगा।" मैंने चकित होकर पूछा, "महाराज, मैं ग्रापकी बात नहीं समझ सका; कौन-सी सिद्धि मेरी प्रतीक्षा कर रही है? कहाँ पर कर रही है? ग्राप कौन हैं; मेरा चित्त ग्राज बहुत उद्विग्न है। मेरी ग्राँखों के सामने समूचा देश विदेशियों द्वारा ग्राक्रान्त है। मुझे कुछ उपाय नहीं सूझ रहा है।" तापस ने कहा, "कोई परवा नहीं, सब मालूम हो जायेगा। ग्रपने ऊपर विश्वास रखो। सबको ग्रपने किये का फल भोगना पड़ता है—व्यक्ति को भी, जाति को भी, देश को भी। कोई नहीं जानता कि विधाता का कर्म-फल-विधान कौन-सा रूप लेने जा रहा है। सारी दुनिया की चिन्ता छोड़ो, ग्रपनी चिन्ता करो। भारतवर्ष की धर्म-व्यवस्था में बहुत छिद्र हो गये हैं। ग्रपने ही रक्त, मांस ग्रौर चर्म से जितना ढक सको, ढको। ग्रपनी ही ग्रँतड़ियों के तागे से जितना सी सको, सीग्रो। जाग्रो, बज्र की तरह दृढ़ बनकर इतिहास-विधाता के क्रूर प्रहारों को सहो।" मैं चकित होकर तपस्वी की बात सुन रहा था। उसका एक-एक शब्द मेरे ग्रन्तर को बेध रहा था। मैं कुछ समझ रहा था ग्रौर कुछ समझने की कोशिश कर रहा था। तपस्वी मुड़े ग्रौर एक ग्रोर चलने को उद्यत हुए। मैंने चिल्लाकर कहा, "बाबा, यह तो बताते जाग्रो कि मेरी सिद्धि क्या है?" तपस्वी ने कहा, "ग्रात्मदान। जहाँ तुम्हारा ग्रन्तरतर ग्रकारण सहस्र धाराग्रों में क्षरित होकर गल जाना चाहे वहीं तुम्हारी सिद्धि है। जाग्रो, देर न करो।" तब भी मैं ग्रर्धचेतन ग्रवस्था में ही था।

मैं उनकी ओर एकटक ताकता रहा और जब तक वह आँखों से ओझल नहीं हो गये उसी प्रकार अवश भाव से पड़ा रहा। जब मेरी संज्ञा पूरी-पूरी लौट आयी तो मैं सोचने लगा कि यह स्वप्न था या सत्य। यदि स्वप्न था तो कितना विचित्र स्वप्न था। जो भी हो, मुझे सीधे पश्चिम की ओर घोड़ा दौड़ाना है। क्या कोई सिद्धि मिलनेवाली है? वह भी आत्मदान की सिद्धि! विचित्र बात है। मैं कूद-कर घोड़े पर सवार हुआ और बिना आगे-पीछे देखे पश्चिम की ओर घोड़ा दौड़ा दिया। थोड़ी दूर तक अमराइयों की घनी छाया में से मार्ग तय करना पड़ा। परन्तु उसके बाद ही घना जंगल मिला जिसमें एक मामूली पगडण्डी के सिवा पश्चिम की ओर जानेवाला कोई और मार्ग दिखायी नहीं दिया। मैं उसी पगडण्डी पर धीरे-धीरे आगे बढ़ने लगा। एक क्षण के लिए मेरा मन विचलित भी हुआ। यह कैसा पागलपन है! स्वप्न की बात पर विश्वास करके क्या इस प्रकार भटकना उचित है? एक स्थान पर मैं थोड़ा ठिठका और सोचा, लौट चलूँ और जिधर अच्छा रास्ता मिले उधर बढ़ूँ। परन्तु दूसरे ही क्षण फिर आगे बढ़ गया। दूर तक केवल खदिर की वृक्षावली और वन-पनस की झाड़ियाँ दिखायी दे रही थीं। कहीं-कहीं तो मार्ग इतना सँकरा था कि केवल कपड़े ही नहीं, शरीर भी काँटों से छिद जाता था। धूप काफ़ी तेज़ हो आयी थी और रह-रहकर आशंका होती थी कि आगे पीने के लिए पानी भी मिलेगा कि नहीं। आश्चर्य की बात यह थी कि घोड़ा मुझसे अधिक उत्साहित था, मानो आगे कुछ ऐसी प्रलोभनीय वस्तु देख रहा हो, जिसे पाये बिना उसे चैन न मिल रहा हो। वह मेरे आदेशों की प्रतीक्षा किये बिना तेज़ी से आगे बढ़ता जाता था। लगभग दो कोस की दूरी पार करने पर पगडण्डी अपेक्षाकृत कम घने जंगलों में से होकर गुजरने लगी। मुझे सामने एक हिरन दिखायी दे गया। हिरन को देखकर मेरी शिकारी प्रवृत्ति जाग पड़ी और मैंने उसके पीछे घोड़ा दौड़ा दिया। हिरन अभी बच्चा ही जान पड़ता था—बड़ा ही सुन्दर, बड़ा ही कोमल। मैं सोचता था कि किसी प्रकार पकड़ लूँ तो बड़ा अच्छा हो। उस पर तीर फेंकने की मेरी बिलकुल इच्छा नहीं थी। लेकिन अभ्यास-दोष से मैंने अपना धनुष और तीर सँभाल लिया, और घोड़े को कसकर ऐड़ लगायी। बेचारा हिरन प्राणों के भय से आँधी की तरह भागा। ऐसा जान पड़ता था कि मारे भय के वह विक्षिप्त-सा हो गया है। मेरे घोड़े को भी जैसे आनन्द आ रहा था। वह भी विद्युद्वेग से दौड़ रहा था। मैं आशा कर रहा था कि कुछ दूर जाने पर हिरन ज़रूर थककर गिर जायेगा और उसी अवस्था में मैं उसे उठा लूँगा। घोड़ा भी मेरे मन की बात समझ गया था। वह भी हिरन को परेशान कर रहा था; पास पहुँचकर भी उसे आगे बढ़ने का अवसर दे देता था। उस छोटे-से मृगछौने की परेशानी से मुझे दया आ गयी। घोड़े की पीठ ठोंककर मैंने कहा, "वज्र, ज़रा धीरे-धीरे।" वज्र मेरे घोड़े का नाम है। एक क्षण के लिए घोड़ा रुका, हिरन को कुछ और आगे बढ़ जाने दिया और फिर बिजली की तरह टूट पड़ा। हिरन सचमुच भहराकर गिर पड़ा। दूर से मैंने देखा कि

लाल पल्लवोंवाली किसी लता में उलझकर वह बेहोश हो गया है। घोड़े की पीठ ठोंककर मैंने कहा, "वज्र, पकड़ लेना।" घोड़ा बात समझ गया और तेज़ी से हिरन की ओर बढ़ा। जहाँ हिरन गिरा था उस स्थान पर आकर खड़ा हो गया। उस समय प्रायः मध्याह्न का समय हो रहा था। सूर्य की प्रखर किरणें चारों ओर व्याप्त हो गयी थीं। मेरी आँखें कुछ चौंधिया गयीं। मैं घोड़े से उतरने ही जा रहा था कि किसी ने बहुत ही कोमलदृप्त कण्ठ से डाँटा। शब्द तो मुझे याद नहीं हैं पर उनका भाव कुछ इस प्रकार था—'धिक्कार है ऐ सातवाहन ! तुम्हारे विषदग्ध बाण क्या ऐसे कोमल मृगछौनों के लिए ही हैं ? यही क्या वीरता है ?' एक क्षण के लिए मेरा रोम-रोम सिहर गया। इस घोर जंगल में यह क्या देख रहा हूँ ! जिसे मैंने लाल पल्लवोंवाली लता समझा था, वस्तुतः वह एक अपूर्व सुन्दरी देव-बाला थी। उसके कौसुम्भी वस्त्रों को देखकर मुझे लाल-लाल किसलयों का भ्रम हो गया था। उसके एक हाथ में थाली थी, दूसरे में भृंगार। मृगछौना उसकी साड़ी में मुँह छिपाकर इस प्रकार सो गया था जैसे भय-त्रस्त बालक माँ की गोद में सो जाता है। मुझे कुछ भी समझ में नहीं आया कि मैं क्या देख रहा हूँ। ध्यान से देखा तो उसकी साड़ी फटी हुई थी; उसके पैरों में जाने कितने काँटे लगे हुए थे और वह व्याकुल भाव से मेरी ओर देख रही थी। क्या देख रहा हूँ। क्या कोई दूसरा स्वप्न है ? इस घने जंगल में, भरी दोपहरी में, जहाँ मनुष्य तो क्या, जंगली जानवर भी नहीं दिखायी दे रहे हैं, वहाँ यह अपूर्व सुन्दरी कहाँ से आ गयी ! मुझे रंचमात्र भी सन्देह नहीं रहा कि यह कोई वन-देवी है। मैंने हाथ जोड़कर अपराधी भाव से कहा, "देवि, अपराध मार्जित हो। मैं इस मृगशिशु को जीवित पकड़ना चाहता था, इस पर बाण फेंकने की इच्छा नहीं थी। परन्तु देवि, क्या मैं यह जानने का प्रसाद पा सकता हूँ कि आप कौन हैं ?" ऐसा जान पड़ा कि उस युवती के मन में मेरे प्रति जो विरूप भाव था, वह कम हो गया। उसकी तनी हुई भृकुटियों में सरलता आ गयी; वह कुछ आश्वस्त हुई। मैंने उसे ध्यान से देखा। क्या देखा ?

कस्तूरी के समान काले केश, अंगुलियों के प्रयत्न के अभाव में कुछ अस्त-व्यस्त-से एक-दूसरे से उलझे हुए थे और उन पर सफ़ेद जंगली फूल आ गये थे। इन फूलों को झाड़कर हटा देने का प्रयास नहीं था। ऐसा जान पड़ता था कि दूध का कोई कटोरा रखा हुआ है, जिसे पीने के लिए सैकड़ों विषधर नाग परस्पर एक-दूसरे को दबाकर आगे बढ़ जाने के प्रयास में लगे हुए हैं। इन केशों में एक विचित्र प्रकार की लहरदार गति थी, जो विषधर भुजंगों की ज़हरीली लहर के समान दिखायी दे रही थी। एक क्षण के लिए मन में आया कि मेरा मन क्या इसी विष के प्रभाव से लहरा उठा है ? उन केशों के भीतर से सफ़ेद माँग की लकीर साफ़-साफ़ दिखायी दे रही थी। ऐसा लगता था कि किसी ने अँधेरी रात में राजमार्ग पर दीया जलाकर उसे उद्भासित कर रखा है। अभी भी उसे सिन्दूर का स्पर्श प्राप्त नहीं हुआ था। काले केशों के भीतर वह कुछ इस प्रकार जगमगा

रहा था, मानो कसौटी पर कंचन की रेखा हो। घने काले मेघों के बीच बिजली की तरह प्रकाशित होकर यह मार्ग-दर्शक को कुछ नया देखने का अवसर देता था। क्या इस बारहबानी सोने के लिए किसी सुहाग की अपेक्षा है? द्वितीया के चन्द्रमा के समान चमकते हुए ललाट पर यह मनोहर सीमन्त-रेखा ऐसी सजी हुई थी मानो किसी अदृश्य देवता ने फूलों के धनुष पर बाण चढ़ा रखा हो। किसके लिए? वह भाग्यवान् कौन है जिसके लिए इस अदृश्य देवता ने इस प्रकार लक्ष्य बनाने की योजना बनायी है। नीचे भौंहें ऐसी लग रही थीं मानो दो प्रति-भटों के काले धनुष हों। यह क्या कोई दो प्रतिद्वन्द्वियों का युद्ध है? क्या इनसे फेंके हुए बाण दर्शक पर ही गिरेंगे? मैं अभिभूत की भाँति देख रहा था कि ये तने हुए धनुष, जिन्हें अदृश्य देवताओं की प्रतिद्वन्द्विता का साधन बनना पड़ा, क्या दर्शकों को क्षत-विक्षत करने के ही उपाय हैं या ये उन बड़ी-बड़ी आँखों की रक्षा के लिए बने हैं जो भाव के समुद्र की भाँति उथल रहे हैं। ये आँखें मुँहज़ोर घोड़ों की तरह बाग नहीं मानतीं और उछलकर आकाश की ओर जाना चाहती हैं। मैंने सुना है कि विधाता ने आँखों की रचना बाह्य वस्तुओं के देखने के लिए की है। परन्तु यहाँ क्या देख रहा हूँ? ऐसा जान पड़ता है कि इन आँखों का उद्देश्य कुछ और भी है। इनके कोनों से एक अद्भुत द्रावक प्रभा क्षरित हो रही है, जिसके किंचित् स्पर्शमात्र से ही मेरा सारा हृदय गलकर और ढरककर उनके पास बिछ जाना चाहता है। आँखें मैंने बहुत देखी हैं, पर इस प्रकार का आकर्षण मैंने नहीं देखा। इसके प्रत्येक कटाक्ष से दिशाएँ विद्ध होती हैं और चराचर जगत् खिंचकर सिमट आता है। इन आँखों के घूमने से सारा दिक्-चक्रवाल घूम जाता है। यह क्या मेरे मन का विकार है, या सचमुच ऐसा हो रहा है? आँखें मेरे पास भी हैं, लेकिन वे तो जैसे इन बरौनियों से बँध गयी हैं और उनकी क्रियाशक्ति लुप्त हो गयी है। वे और कुछ देखना ही नहीं चाहतीं; और देखना चाहें भी तो अन्यत्र जाने की उनकी शक्ति नष्ट हो गयी है। मैं देर तक उन आँखों में उलझा रहा। मेरी वाणी रुद्ध हो गयी थी और सोचने-विचारने की शक्ति क्षीण हो गयी थी। मैं केवल देखता रहा, देखता रहा, देखता रहा। मुझे ऐसा अनुभव हो रहा था कि आज मैंने अपनी समूची चरितार्थता पा ली है। यह क्या महामाया का कोई अर्थ-पूर्ण इंगित है? क्या मेरे समस्त पुण्य-फल आज ही उदित हुए हैं? क्या मैंने अब तक जो कुछ किया है वह किसी चरम बिन्दु तक पहुँचने का प्रयास-मात्र था। क्षण-भर के लिए ऐसा जान पड़ा कि मेरा सारा अस्तित्व मूक की भाँति, स्तब्ध की भाँति, मेघ की भाँति इस अपूर्व रूप-माधुरी में विलीन हो गया है। ज़रा सँभलकर मैंने अपने को स्वस्थ बनाने का प्रयत्न किया। बड़े प्रयत्न से मैंने अपनी आँखें उन आँखों पर से हटायीं। वे भी झुकीं और ऐसा जान पड़ा कि एकदम धरती में गड़ गयीं; और मेरी आँखें मुँहज़ोर घोड़े की तरह लोक-लाज की लगाम को तोड़कर फिर उसी रूप-माधुरी पर आ गयीं।

मैंने देखा, दुपहरिया के फूल की तरह उसके लाल-लाल अधरों पर क्लान्ति

की मलिनता ग्रा गयी है ग्रौर नारंगी के समान मनोहर कपोलों पर स्वेद-धारा बह रही है। उसके एक हाथ में चाँदी की थाली ग्रौर दूसरे में चमकता हुग्रा भृंगार ज्यों-का-त्यों पड़ा हुग्रा था, जैसे किसी निपुण शिल्पी की बनायी हुई सुवर्ण मूर्त्ति में ये वस्तुएँ थमा दी गयी हों। उसकी कुसुम्भी रंग की साड़ी के निचले प्रान्त में मुँह छिपाकर वह मृगछौना तब भी शान्त, निस्पन्द सो रहा था। मुझे ग्रपनी क्रूरता पर सचमुच उस दिन दुःख हुग्रा। दया ग्रौर सहानुभूति के भाव मेरे मन में पहले भी ग्राये थे, परन्तु ग्राज मैंने जैसा ग्रनुभव किया वैसा जीवन में कभी नहीं कर सका था। ग्राज दया ग्रौर सहानुभूति मेरे रक्त में प्रवेश करके प्रत्येक शिरा में एक विचित्र झनझनाहट उत्पन्न कर रही थी। ऐसा जान पड़ता था कि युग-युग का संचित ढोंग झाड़-पोंछकर फेंक दिया गया हो। मैं नहीं जानता कि किस दुर्वार शक्ति ने मुझमें ग्राकस्मिक बल दिया। मैं झुककर उस मृगछौने को गोदी में उठाने का प्रयास करने लगा। वह उठना नहीं चाहता था। उसे मेरे ऊपर विश्वास नहीं था। मैं जितना ही प्रयत्न करता था, वह उतना ही साड़ी में मुँह छिपा लेने का प्रयास करता था। एक क्षण के लिए मुझे चरणों का स्पर्श प्राप्त हो गया। ऐसा लगा जैसे सहस्र-सहस्र विद्युत् एक ही साथ मेरे हृदय में प्रवेश कर गयी हों। ऐसे कोमल चरण मुझे जीवन में प्रथम बार दिखायी पड़े थे। परन्तु ग्राज वे कण्टकों से बिंधे हुए थे ग्रौर उनसे रक्त की धारा निकल रही थी। ग्रनेक प्रकार के ग्रावेग-संवेगों के ग्राघात से मैं प्रायः मूर्च्छित होने जा रहा था कि फिर मुझे वही वाणी सुनायी पड़ी, "सातवाहन, छोड़ दो, यह मृग-शिशु डरा हुग्रा है।" एक क्षण के लिए मुझे ऐसा जान पड़ा कि मेरे जन्म-जन्मान्तर के पाप धुल गये। मैंने ग्राँखें ऊपर उठायीं। मृग के नेत्रों के समान नेत्रों की चर्चा मैंने सुनी थी, इस बार प्रत्यक्ष देखा। कैसी शामक स्निग्ध ज्योति उनसे निकल रही थी! कितने सहज ग्रनुभाव उनसे तरंगित हो रहे थे!

मैंने विनीत भाव से कहा, "देवि, मेरा नाम सातवाहन नहीं है।"

उसने सहज भाव से उत्तर दिया, "हमारे गाँव में सब घुड़सवार सातवाहन कहे जाते हैं। 'सात' हम लोग घोड़े को कहते हैं। तुम सातवाहन नहीं तो ग्रौर क्या हो?"

यह ग्रद्भुत उत्तर सुनकर मैं स्तब्ध रह गया। दिगन्त विजयी सातवाहन क्या घुड़सवार होने के कारण 'सातवाहन' कहलाते थे? क्या मैं भी सातवाहन के समान इस देश में जातीय गौरव की पुनः प्रतिष्ठा करा सकता हूँ? मुझे ऐसा मालूम हुग्रा कि समस्त जगत् में व्याप्त त्रिजगन्मनोज्ञा कामकला ही मुझे सातवाहन होने का ग्राशीर्वाद दे रही है। विनीत भाव से बोला, "देवि, मेरा सातवाहन होना ग्राज सार्थक है, परन्तु ग्राप क्या हाथ में लिये हुए इन पात्रों को एक जगह रखकर थोड़ा विश्राम नहीं कर सकतीं? कमल के फूल के समान ये चरण क्षत-विक्षत होकर रक्तारक्त हो गये हैं। मृणालनाल के समान ग्रापके ये दोनों कोमल बाहु थक गये हैं। धृष्टता क्षमा हो तो मैं कुछ सेवा करने का

अवसर चाहता हूँ। देवि, मैं नारी जाति का सम्मान करना जानता हूँ। उसकी महिमा और मर्यादा का जानकार हूँ। मुझे यह भी मालूम है कि मेरे कुल का कोई भी बालक नारी-लम्पट नहीं होता है। परन्तु मैं स्पष्ट देख रहा हूँ कि आपको सेवा की आवश्यकता है। किस प्रकार सेवा करूँ, यह मुझे मालूम नहीं है, परन्तु यदि आज्ञा हो तो मैं किसी प्रकार की सेवा करने के लिए सदैव प्रस्तुत हूँ।"

उस युवती ने कहा, "सातवाहन, मैं तरुण-तापस की खोज में निकली हूँ जिसके लिए मैंने शक्ति-भर परिश्रम करके भोजन बनाया था, परन्तु उसे खिला नहीं सकी। गाँववालों ने उसका अपमान करके मार-पीटकर भगा दिया। वह बेचारा बिल्कुल ही निर्दोष था। उसे लोक-व्यवहार का कुछ भी पता नहीं था। मैंने उसे भोजन करने के लिए उत्साहित किया था और उसने वचन दिया था कि वह मेरे हाथ का बनाया भोजन खायेगा। तुम्हारे पास घोड़ा है, तुम उसे ढूँढ़ने में मेरी मदद करो। यह अन्न और जल पृथ्वी पर रखकर मैं अपवित्र नहीं होने दूँगी। पता नहीं, वह कहाँ चला गया। तुम यदि उसे खोज सको, तो तुम मेरी सबसे बड़ी सेवा करोगे। मुझे और इस मृगछौने को घोड़े पर बैठा लो और उस तापस को खोजो। मैं तुम्हारे इस ऋण से जन्म-जन्मान्तर में भी उऋण नहीं होऊँगी।"

मैं कुछ सोच में पड़ गया। सोचने लगा कि यह भी क्या सम्भव है ? मैं इस अपूर्व सुन्दरी को घोड़े पर बैठाकर घूमता फिरूँ तो दुनिया क्या कहेगी ? हाथ जोड़कर बोला, "देवि, तुम यह थाली और भृंगार मेरे हाथों में दे दो और घोड़े पर इस मृग-शिशु के साथ बैठ जाओ। मैं तुम्हारे तरुण-तापस को खोज दूँगा। समय अवश्य लगेगा, पर खोज भी दूँगा। मैं प्रतिज्ञा करता हूँ कि तुम जो चाहोगी वह सब करूँगा। परन्तु मेरे साथ तुम घोड़े पर नहीं बैठ सकतीं। लोग क्या कहेंगे ? इस पर तो मेरे साथ मेरी रानी ही बैठ सकती है।"

सहज भाव से उस युवती ने कहा, "तुम मुझे रानी बना लो, पर उस तापस को खोज अवश्य दो।"

मैं जैसे आसमान से गिरा, "क्या कह रही हो, देवि ! रानी बनाना क्या ऐसी सीधी-सी बात है ?"

उसने सहज भाव से कहा, "हाँ।"

इस संक्षिप्त उत्तर से मैं काँप उठा। मैंने एक बार उद्दीप्त सूर्य-मण्डल की ओर देखा—'हे कुल-गुरो ! तुम्हीं साक्षी हो; मैं प्रतिज्ञा-पालन कर रहा हूँ।' मैंने कहा, "देवि, अपना हाथ मेरे हाथों में दे दो।"

हाथ सहज भाव से थाली समेत मेरे हाथों में आ गया। मैंने थाली ले लेनी चाही। उसने निषेध किया, "नहीं, मेरे ही हाथों में रहने दो।"

मैंने कहा, "यदि तुम्हारे हाथ खाली नहीं होंगे तो तुम घोड़े पर कैसे बैठोगी ?"

सहज उत्तर मिला, "तुम बैठा दो।" मैंने अपने घोड़े की ओर देखा। वज्र मानो सब-कुछ समझ रहा था। मेरी आँखें ज्यों ही उसकी ओर गयीं, उसने तीन बार हिनहिनाकर इस अद्भुत पाणि-ग्रहण का समर्थन किया। निकट आकर उसने अपनी पीठ झुका दी। उसके रोम-रोम से यह ध्वनि निकल रही थी कि आज मैं कृतार्थ हो गया। मैंने रानी को गोद में उठाकर घोड़े पर बिठा दिया। मृगछौने ने कातर भाव से ऊपर की ओर देखा और दाँत से साड़ी का पल्ला पकड़ लिया। मैंने उसे भी उठाकर रानी की गोद में डाला।

स्वयं घोड़े पर सवार होने के पहले मैंने पूछा, "रानी, तुम्हारा नाम जान सकता हूँ ?"

संक्षिप्त उत्तर मिला, "चन्द्रलेखा।"

चन्द्रलेखा ! मेरे कानों में अमृत उँडेल देनेवाला यह नाम क्या नया है ? क्या मैं पहली बार सुन रहा हूँ ? ऐसा तो नहीं लगता। मैं क्या संज्ञा-शून्य हो गया हूँ, स्वप्न देख रहा हूँ, उन्मत्त हो रहा हूँ ? चन्द्रलेखा ! दीर्घकाल से मेरे कान इसी नाम को सुनने को व्याकुल थे क्या ? मैं क्या अभिभूत हूँ, सम्मोहित हूँ, वशीकृत हूँ ? यह सब क्या हो रहा है ? ऐसा जान पड़ा कि मेरे सहस्र-सहस्र जन्मान्तर कृतार्थ हो गये। मैं पहचान गया हूँ। हे निरुपमे, तुम जन्म-जन्मान्तर की मेरी लीला-संगिनी हो। आज लता और वृक्ष चिल्लाकर कह रहे हैं, तुम क्या पहचान नहीं रहे हो, युग-युग से यही लीला चलती रही है; यह वीणा-निनाद से अधिक मधुर स्वर युग-युग का परिचित है, यह वही है जिसे तुम सहस्रों बार सुन चुके हो। सातवाहन, यह नया नहीं है, पुरातन भी नहीं है। चिरनवीन है, चिरपुरातन !

क्यों ऐसा हो रहा है ? क्या अन्तरतर में युग-युग से उपेक्षित कोई स्मृति बाँध तोड़कर निकल पड़ी है ? कहाँ छिपी थी यह स्मृति ? मेरा सारा अस्तित्व आज उद्वेलित हो उठा है। मैं जड़ता से स्तब्ध नहीं हूँ, चैतन्य की दुर्वार धारा की तरंगों से व्याकुल हूँ, पहचानता हूँ, पहचानता हूँ। नाभिकुहर से उद्दाम लहरें उठ रही हैं और मस्तिष्क पर छाती जा रही हैं। यह आकस्मिक नहीं है। आज युग-युग के सुप्त देवता पुजारी को देखकर अधीर भाव से जाग पड़े हैं। मैं अपने को कैसे सँभालूँ ?

लेकिन सँभालना पड़ा। रानी ! चन्द्रलेखा ! क्षण-भर के लिए मेरे मन में कुतूहल हुआ कि यह तरुण-तापस कौन है ? परन्तु अवसर कुछ ऐसा था कि मैं पूछ नहीं सका। बाद में स्वयं चन्द्रलेखा ने अपनी और तापस की कहानी सुनायी थी। चन्द्रलेखा एक साधारण किसान की बेटी थी। वह गंगा-स्नान करने जाती और वहाँ एक कृच्छ्र तपस्वी को देखकर मन-ही-मन तरस खाया करती। तपस्वी की अवस्था बहुत अधिक नहीं थी। माघ की कठोर रात्रि में वह नग्न तापस भीगा कपड़ा ओढ़कर गंगा की धारा में बाँस के बँधे हुए मचान पर सो जाता। प्रातःकाल उसका शरीर ठिठुरकर काठ हो जाता। प्रायः ही वह बेहोश पाया जाता।

गाँव के भक्तजन उसे उसी की धूनी का भस्म मलते और बड़ी कड़ी मेहनत के बाद तपस्वी की संज्ञा लौटती। चन्द्रलेखा उसकी यह अवस्था देखकर रो पड़ती। कभी-कभी वह उसकी मूर्खता पर झुँझलाया करती। ग्रीष्मकाल में तपस्वी गंगा की चिलचिलाती रेत पर चारों ओर अग्नि जलाकर बैठ जाता। ऊपर से सूर्य आग बरसाता। लोग इस तप को पंचाग्नि तापना कहते। परन्तु चन्द्रलेखा को सबसे कठिन कष्ट उस समय होता जब तपस्वी उलटा लटककर झूलता रहता और उसके सिर के नीचे उद्धूम अग्नि-शिखा जलती रहती। उस समय उसकी शिराएँ उखड़ आतीं और नीली हो जातीं। चन्द्रलेखा का हृदय फटने को हो आता। उन दिनों चन्द्रलेखा किशोरी थी। उसमें दया और स्नेह का पारावार उमड़ता रहता। उसने कई बार सोचा कि उस तापस से कृच्छ्राचार छोड़ देने का अनुरोध करे, पर संकोचवश बोल नहीं सकती थी। एक दिन वह गंगा-स्नान को आयी तो तापस शान्त भाव से अपनी धूनी पर बैठा था। चन्द्रलेखा ने चारों ओर देखा, कहीं कोई नहीं था। वह तापस के पास चली गयी। परन्तु उसके गले की सब नाड़ियों ने विद्रोह कर दिया। वह कुछ भी नहीं बोल सकी। जो कहना था, वह सब भूल गयी। तापस के प्रसन्न मुख से अद्भुत माधुरी झड़ रही थी। वह अपने में ही मग्न था। चन्द्रलेखा देर तक खड़ी रही। न उससे आगे ही बढ़ा जाता था, न पीछे ही हटा जाता था। इसी समय तापस ने ऊपर सिर उठाया। चन्द्रलेखा को देखकर उसे आश्चर्य हुआ। वह एकाएक अचकचाकर उठ पड़ा। ऐसा लगा, जैसे कोई अपूर्व वस्तु देखकर वह विस्मय-विमूढ़ बन गया है। उसकी बड़ी-बड़ी आँखें जो खुलीं, सो खुली ही रह गयीं, जैसे अपनी सिद्धि मिल गयी हो और उसे विश्वास ही नहीं हो रहा हो।

उस तापस की यह अवस्था देखकर चन्द्रलेखा का रोम-रोम पुलकित हो गया। यद्यपि वह समझ नहीं सकी कि तपस्वी क्या चाहता है, परन्तु उसे यह समझने में देर नहीं लगी कि तपस्वी के मानस में जो आलोड़न चल रहा है, उसका कारण चन्द्रलेखा ही है।

तपस्वी ने सहज भाव से किन्तु गद्गद भाषा में कहा, "देवि, अपूर्व देख रहा हूँ तुम्हारी शोभा। मेरी नस-नस आज उल्लास से चंचल है, बहत्तर सहस्र नाड़ियों में अपूर्व शक्ति-धारा प्रवाहित हो गयी है, दसों प्राण आज उच्छ्वसित हो उठे हैं, रक्त में एक विचित्र आँधी बह रही है। देवि, आज मेरे ग्रह-गण प्रसन्न हैं, आज सविता का उदय सार्थक है, आज गंगा की धारा सफलकाम है, आज मेरी सिद्धि मिल गयी है। गुरु ने मुझे बताया था कि तुम्हारी सिद्धि का प्रथम सोपान सुलक्षणा किशोरी का दर्शन होगा। आज मुझे सिद्धि पाना सुगम जान पड़ रहा है।" इतना कहकर तापस अंजलि बाँधकर चन्द्रलेखा के सामने इस प्रकार बैठ गया, जैसे भक्त अपनी आराध्य देवी के सामने बैठ गया हो। चन्द्रलेखा में विचित्र भाव उदित और अस्तमित हो रहे थे। उसे रह-रहकर लज्जा अभिभूत कर देती थी, अज्ञात आनन्द से उसके मनप्राण सिहर उठते थे। चन्द्र-

लेखा को ऐसा मालूम हुआ, जैसे उसके भीतर के स्तब्ध-प्रसुप्त देवता को किसी ने प्रथम बार जगाया है। वह अपने भीतर एक प्रकार का देवत्व अनुभव करने लगी। उसने विनय-प्रकाश की भंगिमा से, परन्तु गौरव-बोध के साथ ही कहा, "तपस्वी, यह अनुचित कर रहे हो। मैं सामान्य किसान की लड़की हूँ। मुझे देवी कहकर इस प्रकार गद्‌गद होना क्या तुम्हें शोभा देता है?"

तपस्वी के ललाट पर विस्मय की दीर्घ रेखा खिंच गयी। बोला, "कौन कहता है देवि, तुम सामान्य कृषिवल-किशोरिका हो? यह उन्नत ललाट, यह कुंचित केश-राशि, यह दक्षिणावर्त्त रोम-राजि और यह तिलपुष्प के समान नासिका और घनी भृकुटियों के नीचे सघन अराल रेखा—ये तुम्हें सामान्य नारी नहीं रहने देंगी। तुममें रानी के सब लक्षण हैं। यह गंगा-प्रवाह के समान सीमन्त रेखा और किसी को भले ही धोखा दे ले, मुझे नहीं दे सकती। लेकिन तुम रानी से भी बड़ी होने के लिए पैदा हुई हो। शुभे, सिद्धयोगिनी के सभी लक्षण तुममें प्रकट हैं। एक बार हाथ तो दिखाना, देवि!"

चन्द्रलेखा ने हाथ बढ़ा दिया। तपस्वी ने उसका हाथ अपने करतल पर रख लिया और ध्यान से देखने लगा। उस समय चन्द्रलेखा किस प्रकार अपने को सँभाले रही, यह उसके अन्तर्यामी के सिवा और किसी को मालूम नहीं। उसकी हथेली इस प्रकार द्रवित हो उठी, जिस प्रकार चन्द्रमा के दर्शन-मात्र से चन्द्र-कान्त मणि पसीज जाती है। उसके भीतर से मानो हजार-हजार जन्मान्तर अपनी सफलता की घोषणा करने के लिए उमड़ पड़े। तपस्वी उल्लास के साथ चिल्ला उठा, "स्वस्तिका और मत्स्य का यह युगपत् सम्मिलन अपूर्व योग है। शंख कमल और व्यजन के चिह्न केवल भगवती विमला के हाथ में प्रकट हुए थे। आश्चर्य है देवि, यदि तुम राज्ञी पद पर आसीन नहीं होती हो तो शास्त्र मिथ्या सिद्ध होंगे।" फिर उसने चन्द्रलेखा की कलाइयों को हाथ में लेकर कहा, "पद्मगर्भ के समान मणिबन्ध दुर्लभ लक्षण हैं। भविष्य में कौन जाने क्या घटनेवाला है? पर लक्षण तुम्हें रानी ही नहीं, रानी से बड़ी बनायेंगे। तुम्हारे हाथ में अपूर्व योग है।"

चन्द्रलेखा ने चकित भाव से कहा, "तपस्वी, तुम कृच्छ्राचार छोड़ दो।"

तापस की आँखें स्नेह-गद्‌गद थीं। उनमें पानी भरा हुआ था। बोला, "देवि, तुम्हारी आज्ञा अवश्य पालनीय है। मुझे आज अपने हाथ का प्रसाद खिला दो। मैं अब कृच्छ्राचार छोड़ दूँगा।" चन्द्रलेखा प्रसन्नता से खिल गयी। घर आकर उसने सुन्दर व्यंजन बनाया। अपनी शक्ति-भर उसने कुछ भी उठा नहीं रखा। वह केवल यही सोचती रही कि किस प्रकार एकान्त में वह तापस के पास पहुँच सकेगी। उसे ऐसा लग रहा था कि अब तापस पर किसी का अधिकार नहीं है। केवल एकमात्र चन्द्रलेखा ही उसके साथ बात करने का अधिकार रखती है। चन्द्रलेखा इस प्रकार सोच ही रही थी कि तापस उसे घर में घुसता दिखायी दिया। उसमें कोई संकोच नहीं था, कोई लज्जा नहीं थी,

कोई दुविधा नहीं थी। वह एकदम आँगन में आ गया। चन्द्रलेखा के पिता ने बाधा दी, पूछा, "कहाँ जा रहे हो ?" तापस ने सहज भाव से कहा, "चन्द्रलेखा के पास।" पिता को इस व्यवहार से बड़ा क्रोध आया। दो-चार बातें हुईं, इसके बाद गाँव में हल्ला हो गया कि गंगा-तट का तापस भण्ड है, वह दिन-दहाड़े भले आदमियों के घर में घुसा है। लोगों ने तापस को मार-पीटकर न जाने कहाँ खदेड़ दिया। चन्द्रलेखा सब देखती रही। वह मूर्च्छित तो नहीं हुई, पर उसमें कहीं भी कोई संवेदना बची नहीं रही। रात को उसकी माता ने खाने को कहा, लेकिन चन्द्रलेखा के मुँह में अन्न नहीं गया। उसने इतने प्रेम और यत्न से जो व्यंजन बनाये थे, वे जहाँ-के-तहाँ धरे रह गये। हाय, चन्द्रलेखा को क्या अन्न ग्रहण करना चाहिए ?

आधी रात को वह नहीं रुक सकी। उसने बड़े यत्न से एक थाल में सब व्यंजन सजाये और चुपचाप घर से बाहर निकल पड़ी। कहाँ जा रही थी वह ? पता नहीं। परन्तु वह निश्चित जानती थी कि भूखा तपस्वी कहीं उसकी प्रतीक्षा कर रहा है। वह चलती गयी, चलती गयी, चलती ही गयी। सवेरे वह उस घने जंगल में पहुँची। परन्तु तपस्वी का कहीं पता नहीं। चन्द्रलेखा रुकी नहीं। उसके पैर लहू-लुहान थे, शरीर क्लान्त था, चित्त अवसन्न था, पर आशा सजीव थी। वह तापस कहीं-न-कहीं जरूर मिलेगा। कहाँ मिलेगा, पता नहीं, पर मिलेगा अवश्य। चन्द्रलेखा का चित्त उदास था, पर उसकी आत्मा सक्रिय थी। दूर तक केवल वन-पनस के झाड़, खदिर और बबूल के पेड़ तथा वन्य-वदरों की काँटेदार झाड़ियाँ दीख रही थीं। रास्ते का कहीं अन्त नहीं था, जंगल का कोई किनारा नहीं मिल रहा था; पर चन्द्रलेखा रुकी नहीं, वह चलती ही गयी।

आज भी जब वह उस क्लान्तिहीन, आशाहीन, अनुभवहीन यात्रा को याद करती है तो उसके अंग-अंग में रोमांच और चित्त में सिहरन हो जाती है। मनुष्य क्यों इस प्रकार की दुराशा का आखेट हो जाता है ? वह कौन-सी वस्तु है जो समस्त युक्ति-तर्कों का निरसन कर देती है, बुद्धि-विद्या को दबा देती है और ज्ञान-कर्म को चूरमार कर देती है ? चन्द्रलेखा को उस दिन नहीं मालूम था। आज भी मालूम है कि नहीं, कौन जानता है !

चन्द्रलेखा घने जंगल को चीरती हुई आगे बढ़ी। सामने से एक हरिण-शावक भागता हुआ आया। वह बहुत सुन्दर था। चन्द्रलेखा उस समय नहीं समझ सकी कि क्यों वह बहुत डरा हुआ था। उसकी बड़ी-बड़ी मनोहर आँखों में अपूर्व विवशता थी। वह चन्द्रलेखा की साड़ी में मुँह छिपाकर खड़ा हो गया, जैसे माता की गोद में आकर निश्चिन्त हो गया हो। चन्द्रलेखा को दया आयी। उसने उस सुन्दर मृगपोत को गोद में उठा लिया। धीरे-धीरे उसके बदन पर हाथ फेरने लगी। वह इतना थक गया था कि एक क्षण में सो गया। चन्द्रलेखा का हृदय गल गया। आह, क्यों इतना डरा है ! इसके बाद ही मैं आ गया। यह कहानी भी विचित्र ही है !

अस्तु, रानी राजधानी में पहुँचीं, पर उनके हाथ की झारी और थाली ज्यों-की-त्यों हाथ में बनी रहीं। घोड़े पर से उतारने में मुझे लज्जा अनुभव हुई, परन्तु उतारना पड़ा। वन में जिस समय उन्हें घोड़े पर बैठाया था, उस समय कोई देखनेवाला नहीं था, किन्तु नगर में भारी भीड़ इकट्ठी हो गयी थी। रानी अविचलित रहीं। घोड़े से उतरकर उन्होंने मुझे 'महाराज' कहकर सम्बोधित किया। शायद उन्हें पूरा विश्वास हो गया कि मैं किसी राज्य का अधिपति हूँ। वे आदेश के स्वर में बोलीं, "महाराज, उस बाल-तपस्वी को ढूँढ़ो।" जो लोग मेरे स्वागत के लिए इकट्ठे थे उनमें वृद्ध मन्त्री विद्याधर भी थे और पुरोहित धीर शर्मा भी। किसी ने मुझसे एक बार भी नहीं पूछा कि यह स्त्री कौन है। सबने चुपचाप स्वीकार कर लिया कि यह मेरी रानी हैं। सहस्रों नर-नारियों के कण्ठ से बार-बार महारानी का जयघोष होता रहा। रानी अविचलित सहज भाव से सबका अभिनन्दन स्वीकार करती रहीं। मेरा चित्त इस जय-निनाद से त्रस्त, कम्पित और व्याकुल होता रहा। मैं मन-ही-मन ऐसा सोचने लगा कि जनता राज-भय से जयघोष कर रही है। उसके चित्त में मेरे प्रति श्रद्धा का अभाव ही होगा। कम-से-कम विद्याधर उपाध्याय और धीर शर्मा की पैनी दृष्टियों ने मुझे नीचे से ऊपर तक बेध डाला। मैं उनकी आँखों में प्रश्न का भाव खोज रहा था, पर मैं आश्चर्य के साथ देख रहा था कि दोनों वृद्ध मेरी ओर बिल्कुल ही नहीं देख रहे थे। वे हाथ जोड़कर एकटक रानी की ओर देख रहे थे, मानो स्वप्न में उन्होंने किसी देवी को प्रत्यक्ष देख लिया हो। मैं चाहता था कि वे मुझसे पूछें कि 'तुम इस स्त्री को कहाँ से उठा लाये?' किन्तु दोनों किसी दूसरी दुनिया में पहुँच गये थे। ऐसा जान पड़ता था कि उन्हें मेरे अस्तित्व का ध्यान ही नहीं है। अन्त में मैंने बिना प्रसंग के ही इस प्रसंग की सफाई देने का प्रयत्न किया। मैंने विद्याधर भट्ट उपाध्याय को सम्बोधित करके कहा, "आर्य, मार्ग में विचित्र रूप से इनका साक्षात्कार हुआ।" विद्याधर भट्ट ने बीच में ही टोककर कहा, "राजन्, बाद में तुम्हारी कहानी सुनूँगा। मैं इस समय ग्रहों की स्थिति पर विचार कर रहा हूँ। पता नहीं, आज की इस तिथि को जो कुछ घटित हो रहा है उसका क्या परिणाम होगा। परन्तु स्पष्ट दीख रहा है कि आज ग्रह-गण प्रसन्न हैं, सवितृ देवता प्रसन्नोदय हैं, योगिनियाँ ठीक स्थान पर हैं, किन्तु एक खतरा है। चलो, रानी को भीतर ले चलो। कुछ शान्ति-स्वस्त्ययन की आवश्यकता होगी। देर मत करो, मुहूर्त्त निकल जायेगा।" मैं जरा चिन्तित हुआ। पुरोहित धीर शर्मा ने मेरे सिर पर हाथ रखा, "बेटा! अस्सी वर्ष के जीवन में प्रथम बार बत्तीस शुभ लक्षणों से समन्वित सौभाग्यवती नारी का दर्शन पा रहा हूँ। तुम्हारी कुल-कुण्डलिनी जाग्रत है, परन्तु इतने मंगल का बोझ बड़ा दुर्वह होगा। पहली बार तुममें संकोच और लज्जा का भाव देख रहा हूँ, जो रानी के सहज भाव की तुलना में हल्का लग रहा है।"

धीर शर्मा बड़े गम्भीर प्रकृति के विद्वान् थे, परन्तु उनका बड़ा भारी दोष

यह था कि हर बात के बाद एक श्लोक बोला करते थे। इन श्लोकों के जंगल में उनकी मूल बात प्रायः खो जाती थी। बोले, "पुत्र, तुम्हें मनोहरा की प्राप्ति हुई—

तुरंग-नेत्रां शरदिन्दु-वक्त्रां
बिम्बाधरां चन्दन-गन्ध-युक्तां;
चेलांशुकां पीनकुचां मनोज्ञां—
श्यामां सदा कामदुघां विचित्राम् ॥

"परन्तु इसमें थोड़ा जोखिम भी है। तुम्हें सावधानी से रहना होगा। चलो, विद्याधर की बतायी विधियों का पालन करो। आज बड़ा शुभ मुहूर्त्त है, क्षण-मात्र के विलम्ब से अनर्थ हो सकता है।"

2

शान्ति-स्वस्त्ययन के साथ-ही-साथ संक्षिप्त विवाह की विधि भी घटाटोप के साथ सम्पन्न हुई। धीर शर्मा बड़े उत्साह से याज्ञिक-क्रियाओं का अनुष्ठान करते रहे। विधि के अन्त में रानी को बुलाया गया और मेरी बायीं ओर बैठा दिया गया। अनुष्ठान के अन्त का यज्ञ समाप्त हुआ और धीर शर्मा ने रानी को अन्तःपुर में ले जाने की आज्ञा दी। दासियों के बीच चलती हुई रानी को देखकर ऐसा लगा मानो प्रफुल्ल उद्यान अपने मध्यभाग में सूर्यमुखी को लेकर चल रहा हो। अन्तःपुर में प्रवेश करते समय रानी ने मेरी ओर देखा, और क्षीण कण्ठ से कहा, "राजन्, साधु को खोजो। जब तक मैं उसे खिला नहीं लेती, अन्न-ग्रहण नहीं करूँगी।" मैंने इसके पूर्व ही सभी दिशाओं में घुड़सवार भेज दिये थे। आश्वस्त करते हुए मैंने कहा, "कुछ चिन्ता न करो देवि, तुम्हारा तापस खोज दिया जायेगा।" रानी अन्तःपुर में पधारीं। दास-दासियों के हट जाने के बाद मैंने एकान्त में उन्हें जी भरकर देखा। वन में उनकी आँखों को ही विशेष रूप से देखा था, परन्तु उस देखने में भी केवल उनकी चंचल गतियों की ओर ही विशेष दृष्टि दी थी। इस बार मैंने उनकी स्निग्धता, विशालता, नीलता, शान्त भाव की लालिमा और बरौनियों की निविड़ता को अच्छी तरह देखा। वराहमिहिर ने जो नीलकमल की द्युति के हरण करनेवाली आँखों को प्रशस्त कहा है उसे मैंने रोम-रोम से अनुभव किया। सचमुच वे आँखें प्रशस्त थीं। कमल के समान आँखों की महिमा कवियों के मुख से मैंने बहुत सुनी थी। परन्तु क्या कमल के

समान कहने से ही आँखें कमल के समान हो जाती हैं ? उत्फुल्ल पद्म-पलाश में जो स्निग्धता, प्रफुल्लता और दीर्घकोरकता होती है, वह केवल अनुभव की वस्तु है। शुकतुण्ड के समान नाक कहने से कविजन क्या कहना चाहते हैं, वह मुझे आज मालूम हुआ। मैंने ध्यान से देखा, रानी की नासिका अग्रभाग में सचमुच किंचित् धनुषायित हो गयी है और उसके नीचे ईषत्-स्फीत नासा-पुटों के भीतर से एक विचित्र प्रकार की सुषिरता दृष्टिगोचर हो रही है। जबसे मैंने रानी को घोड़े की पीठ पर बैठाया था, तभी से मुझे एक प्रकार की आमोद-सुरभित गन्ध अनुभूत हो रही थी। रानी के मुख के पास जब मैंने अपना मुख निकट से रखा तो मुझे अनुभव हुआ कि श्वासों से एक प्रकार की सुगन्धि निकल रही है। मैंने पहली बार अनुभव किया कि शास्त्रकार जिस वस्तु को पद्मगन्धा कहा करते हैं वह यही वस्तु है। मुझे वृद्ध धीर शर्मा की समझदारी पर आश्चर्य हुआ। उन्होंने रानी को देखते ही कहा था, "बेटा ! अस्सी वर्ष के जीवन में प्रथम बार सौभाग्यवती पद्मिनी नारी को देख रहा हूँ।" अनुष्ठान के समय भी उन्होंने मेरी पीठ पर हाथ फेरते हुए कहा, "बेटा, तुम्हारे ग्रहगण प्रसन्न हैं; तुम्हें साक्षात् पद्मिनी नारी को प्राप्त करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है," और इसके बाद झमाझम पाँच-सात श्लोक बोल गये। उनके तुतले मुँह से श्लोकों की झड़ी झड़ती रहती है जो मुझे बिल्कुल पसन्द नहीं। परन्तु उस समय उनका श्लोक पढ़ना अच्छा ही लगा। एक श्लोक तो उन्होंने कई बार कहा। श्लोक पढ़ते समय वे अपने-आपमें ही झूम उठते थे। जैसे सम्पूर्ण जीवन की सार्थकता उन्हें मिल गयी हो। उन्होंने अपने तुतले मुँह से जिस श्लोक को कई बार कहा था, वह मुझे अब तक याद है—

> "भवति कमल-नेत्रा नासिका शुभ्र-दन्ता,
> अविरल कुच-युग्मा दीर्घ-केशी कृशांगी।
> मृदु-वचन-सुशीला नृत्य-गीतानुरक्ता,
> सकलतनुसुवेशा पद्मिनी पद्मगन्धा ॥"

मैंने ध्यान से विद्याधर शर्मा के चेहरे की ओर देखा। वृद्ध पुरोहित की वाचालता उन्हें अच्छी नहीं लग रही थी। अन्तिम बार जब उन्होंने मेरे सौभाग्य की सराहना की और पीठ पर हाथ फेरने लगे, तब विद्याधर शर्मा से नहीं रहा गया था। बोले, "थोड़ा रुकिए पण्डितजी, प्रसन्नता की मात्रा कुछ कम कीजिए !"

मेरा हृदय सनाका खा गया, परन्तु धीर शर्मा अविचलित रहे। बोले, "जोखिम की बात तो मैं ही कह चुका हूँ, लेकिन हमारा लड़का वीर है। इसकी कुण्डलिनी जाग्रत है, उसमें संशय पर आरोहण करने की सामर्थ्य है।" और फिर श्लोक बोलने लगे :

> "न संशयमनारुह्य नरो भद्राणि पश्यति।
> संशयं पुनरारुह्य यदि जीवति पश्यति ॥"

उस समय थोड़ी देर के लिए मैं विचलित हो गया था। क्या चन्द्रलेखा को रानी के रूप में स्वीकार करके कोई बहुत बड़ा जोखिम उठा लिया? दोनों पण्डित कहना क्या चाहते हैं? क्या शान्ति-पाठ और स्वस्त्ययन से बाधा टल गयी? उनकी बातों से तो ऐसा नहीं लगता था। रानी के मनोहर मुख को देखकर मैं जितना ही आनन्द-गद्‌गद होता था, उतना ही रह-रहकर मेरे चित्त में यह संशय या जोखिमवाली बात तेजी से बिजली की तरह कौंध जाती थी; रानी को घर में लाकर मैंने बहुत बड़ा जोखिम सिर पर उठा लिया था। रानी की ठुड्डी हाथ में पकड़कर मैं सोचने लगा, सुन्दर रूप क्या जोखिम है? आकृति-वर्ण, रेखा और मृदुता का यह सामंजस्य क्या केवल बाह्य वस्तु है? क्यों महाकवि कालिदास ने कहा था कि बाह्यरूप आन्तरिक पाप-कर्म को कभी प्रेरणा नहीं देता है। यह निश्चित रूप से ऐसा वचन है जो कभी व्यभिचारित नहीं हुआ, सदा खरा उतरा—

यदुच्यते पार्वति पापवृत्तये,
न रूपमित्यव्यभिचारि तद्वचः।

तो क्या उन्होंने यह नहीं बताना चाहा था कि आन्तरिक प्रवृत्तियों का मंगलमय सामञ्जस्य बाहर मनोहर सौन्दर्य के रूप में प्रकट होता है। क्या यह महामाया का अकारण उद्‌भावित, संयोगवश घटित बाह्य विधान-मात्र है या अन्तःकरण की केवल ज्ञान-रूपा, केवल चित्-स्वरूपा भगवती परा-संवित् का यह लीला-विलास है? क्यों शास्त्रकारों ने बत्तीस लक्षणों से सम्पन्न मनोहर रूप को इतना प्रशस्त बताया है? मेरा मन कहता है कि बाह्य सौन्दर्य केवल आकस्मिक घटना नहीं है। वह परा-संवित्-स्वरूपा महामाया का चिन्मय विलास है, केवल जड़ प्रकृति का आकस्मिक संघटन-मात्र नहीं है। इसमें अमंगल की आशंका क्या हो सकती है? अमंगल कहीं अन्यत्र होना चाहिए। महनीय वस्तु का महनीय से सामंजस्य न होना अमंगल का द्योतक है। महनीय वस्तु यदि अपने-आपमें अमंगल का हेतु होगी तो मानना पड़ेगा कि यह दृश्यमान चराचर सृष्टि केवल जड़ तत्त्वों का आकस्मिक संघटन-मात्र है; उसके भीतर किसी प्रकार की चित् शक्ति की सामंजस्य-योजना नहीं है। मेरा अन्तरतर जो नवनीत की भाँति गलकर रानी के अस्तित्व में समा जाना चाहता है, वह क्या केवल भोगेच्छा-मात्र है? मेरे अन्तर्यामी इसकी कल्पना-मात्र से विद्रोह कर उठते हैं। निश्चय ही मेरे अन्तर में कहीं कोई एक बड़ा सम्बन्ध-सूत्र है जो रानी के दर्शन-मात्र से ही चंचल हो उठा है।

रानी चुपचाप मेरी ओर देखती रहीं। जरा मन्द-स्मित के साथ बोलीं, "इस तरह क्या देख रहे हो, महाराज! यह भी कोई देखने का ढंग है?"

अब मुझे अपने आचरण के अनौचित्य का ज्ञान हुआ। मैंने कहा, "देवि, मैं कुछ सोचने लगा था।"

रानी ने हँसकर पूछा, "क्या सोच रहे हो?"

मैंने उत्तर दिया, "देवि, मुझे अपना जन्म-जन्मान्तर कृतार्थ जान पड़ता है। तुम्हारे सान्निध्य से मुझे इतनी तृप्ति मिल रही है जैसे कोई भीतर और बाहर सर्वत्र अमृत-रस का लेप कर रहा हो। मेरे वृद्ध पुरोहित, जो समस्त शास्त्रों के अविसंवादित पण्डित हैं, आनन्द-गद्गद होकर आज कह रहे थे कि उन्होंने अस्सी वर्ष के जीवन में प्रथम बार बत्तीस लक्षणों से युक्त सौभाग्यवती पद्मिनी नारी को देखा है। वे मेरे भाग्य की सराहना कर रहे थे; परन्तु साथ ही मेरे वृद्ध मन्त्री विद्याधर के साथ वह सहमत थे कि, मैंने कोई जोखिम उठाया है, संशय पर आरोहण कर रहा हूँ। मुझे ठीक समझ में नहीं आ रहा है कि तुम्हारी-जैसी देवि को पाकर मैंने जोखिम कौन-सा उठाया।"

रानी ने सहज भाव से कहा, "मैं गाँव की अबोध बालिका हूँ, मुझे शास्त्र का कुछ भी ज्ञान नहीं है; परन्तु इतना तो मैं भी समझ सकती हूँ कि तुमने जोखिम उठाया है।"

मुझे आश्चर्य हुआ—"तुम भी ऐसा समझती हो, देवि! परन्तु कारण क्या है?"

रानी का चेहरा आनन्द की दीप्ति से उद्भासित हो उठा। वे खिल-खिलाकर हँस पड़ीं। बोलीं, "जोखिम तो है ही! मैं तो अपनी इच्छा से तुम्हारी रानी बनी हूँ। तुमने तो कभी मुझे रानी बनाने की इच्छा प्रकट नहीं की। फिर बिना विचारे तुमने यह स्वीकार कर लिया कि मैं जो चाहूँगी वह सब करोगे। यह क्या हो सकता है, महाराज? तुमने अगर मुझे रानी-रूप में स्वीकार किया होता तो तुम्हें मुझसे कहना चाहिए था कि मैं जो चाहूँगा वह सब तुम करोगी। मैं तो तुम्हारी रानी हो गयी हूँ, परन्तु तुम मेरे सेवक बन गये। यह बिल्कुल उल्टी बात है। मेरे गाँव में यदि कोई सुनेगा तो हँसके लहालोट हो जायेगा। आज तक ऐसा कहीं हुआ है? मैंने कहा, 'मुझे अपनी रानी बना लो।' तुमने कहा, 'ठीक है।' मैंने कहा, 'मेरी सब इच्छाएँ पूरी होनी चाहिए।' तुमने कहा 'जरूर होंगी।' यह अजीब विवाह है! और फिर भी कहते हो कि जोखिम नहीं है?"

ऐसा कहते-कहते रानी मेरी गोद में लेट गयीं। मैं एक क्षण के लिए स्तम्भित रह गया। रानी की विदग्धता, परिहास-चातुरी और तीक्ष्ण बुद्धि ने मुझे अभिभूत कर लिया। रानी जब हँसती थीं तब ऐसा लगता था कि पुष्पों की वृष्टि हो रही है। मैं निर्निमेष उनकी ओर आँखें फाड़कर देखता रहा। रानी ने भी देर तक मेरे मुँह की ओर देखा। रानी की कपोल-पालि अभी तक ज्यों-की-त्यों हर्षातिरेक में विस्फारित थीं। उनकी बड़ी-बड़ी आँखों में अकृत्रिम उल्लास थिरक रहा था। मेरे अवाक् और विस्मय-विमूढ़ मुँह की ओर देखकर उन्हें फिर हँसी आ गयी। बोलीं, "बिल्कुल ठीक तुम्हारे समान मेरे गाँव में जब मालिक हँसता है तब सेवक लोग चुपचाप इसी तरह उसकी ओर देखा करते हैं।"

मैं इस परिहास को समझ गया। मुझे लगा, रानी ने मेरी गलती ठीक स्थान पर पकड़ी है। मैंने रानी की हँसी में योग देते हुए कहा, "इधर नगर

के नौकर-चाकर ज़रा ढीठ होते हैं।" मैंने कसके रानी को आलिंगन-पाश में बाँध लिया; और उनके बन्धूक-समान अधरों को चूम लिया।

रानी ने हँसकर कहा, "यह पहला जोखिम है," और फिर थोड़ी सँभलकर बैठ गयीं। मेरा हाथ अपने कोमल करतलों में लेकर ज़रा गम्भीर होकर बोलीं, "धीर शर्मा ठीक कह रहे थे। मगर ये विद्याधर कौन हैं ? यह क्या काशी के प्रसिद्ध विद्याधर ज्योतिषी हैं ?"

मैंने संक्षेप में उत्तर दिया, "हैं तो काशी के ही, लेकिन स्वर्गीय गाहड़वार नरेश जयित्रचन्द्र के मन्त्री थे। जब से काशी-कान्यकुब्ज पर तुर्क लोगों का अधिकार हो गया है तबसे यहीं रहने लगे हैं। ज्योतिष-शास्त्र के निश्चित रूप से बहुत बड़े विद्वान् हैं। पर तुम जिस विद्याधर ज्योतिषी की बातें कह रही हो, ये वही हैं कि नहीं, कह नहीं सकता। परन्तु बात क्या है ?"

रानी ने ज़रा सावधान होकर कहा, "बात कुछ नहीं है। मेरी माँ ने मेरे बचपन की एक कहानी बतायी थी। मेरी अवस्था इस समय उन्नीस वर्ष की है। मेरे गाँव में इस अवस्था की कोई लड़की नहीं है जिसका विवाह न हो गया हो। सिर्फ़ मेरा ही विवाह अब तक नहीं हुआ था। मेरी कई समवयस्का सखियाँ तो दो-दो बच्चों की माँ बन चुकी हैं। आपको, महाराज, आश्चर्य होगा कि मैं अविवाहित क्यों रही ! गाँव में मेरी सहेलियाँ मेरे अविवाहित रहने पर दुःख और आश्चर्य प्रकट किया करती थीं। कभी-कभी गाँव की वावदूक स्त्रियों के मुख से मैंने ऐसा भी सुना कि मेरी जाति-पाँति का कोई ठिकाना नहीं है, इसीलिए वर नहीं मिल रहा है। एक दिन मैंने अपनी माँ से पूछा कि, 'यह क्या सच है कि मेरी जाति-पाँत का कोई ठिकाना नहीं है ?' उनका चेहरा क्रोध से तमतमा उठा और बोलीं कि 'तुमसे यह बात किसने कही ?' मैंने वृद्धाओं की बातचीत का हवाला दिया। माँ ने मेरी बात का कोई जवाब नहीं दिया और घर से निकलकर गाँव-भर की औरतों से लड़ आयीं। बड़ी देर बाद जब घर लौटीं तो गाँवभर के सात पुरखों को गाली देती रहीं। उस समय मेरे मन में दो बातें अंकुरित हुईं। पहली तो यह कि कदाचित् मेरी जाति-पाँति का प्रश्न सन्दिग्ध है, दूसरी यह कि लड़की को अविवाहित नहीं रहना चाहिए। सायंकाल जब पिताजी और उनके छोटे भाई कक्का खेत से लौटकर आये तब भी माँ का क्रोध ज्यों-का-त्यों बना हुआ था। माँ उनसे रो-रोकर गाँववालों की निन्दा करने लगीं और दूसरे दिन तड़के ही वे दोनों भाई लाठी लेकर घर से निकल पड़े। बाहर क्या हुआ यह तो मुझे नहीं मालूम; पर सारे गाँव में उस दिन कुहराम मच गया। नदी के किनारे बसा मेरा गाँव बहुत ही छोटा है; मुश्किल से उसमें पाँच-सात घर होंगे। इस दिन दोपहर तक गाँववालों का वाक्-युद्ध चलता रहा। जब पिताजी और कक्का लौटकर आये तो माँ शान्त हो चुकी थीं। फिर तीनों में देर तक बातचीत होती रही। मुझे एकदम अलग कर दिया गया। परन्तु उनकी जो फुसफुसाहट मेरे कानों में पड़ी, उससे मालूम हुआ कि ये लोग मेरे विवाह के बारे में बहुत चिन्तित

हैं। उस दिन मुझे नींद नहीं आयी। प्रातः पिताजी ने मुझे बुलाकर बड़े प्यार से कहा, 'तू किसी के घर मत जाया कर!' कक्का ने रोष के साथ भाष्य किया, 'घर से एक कदम भी बाहर निकली तो पैर तोड़ दूँगा। जानती नहीं, सब-के-सब चोर, नालायक और बदमाश हैं?' कक्का के पास ऐसी बहुत-सी शब्दावली थी। पिताजी ने बीच ही में डाँट दिया, 'चुप रहो!' उन्होंने शान्त भाव से बड़े भाई की आज्ञा का पालन किया। लेकिन मैं देख रही थी कि उनके अधर और कुछ कहने के लिए फड़क रहे हैं। मुझे यह मालूम है कि कक्का मुझे पिताजी से भी अधिक मानते हैं। गाँव में उस दिन लड़ाई करके एकाध का सिर तोड़ दिया होता तो उन्हें कोई चिन्ता नहीं थी। पर पिताजी के स्वभाव के कारण ऐसा कुछ नहीं हुआ। मैं एक तरह से घर में वन्दिनी बन गयी। यह आज से करीब एक वर्ष पहले की बात है।"

रानी ने मेरे मुँह की ओर चुहल-भरी दृष्टि से देखा। मैंने पूछा, "इससे विद्याधर का क्या सम्बन्ध है?"

रानी हँसने लगीं। बोलीं, "तुमने तो मेरी जाति-पाँति के बारे में सन्देह नहीं किया, महाराज? मैंने कहा, 'तुम मुझे अपनी रानी बना लो' और तुमने बना लिया। नगर में आयी तो न वृद्ध पुरोहित ने ही कुछ कहा, न मन्त्री ने ही आपत्ति की। मैं शान से अन्तःपुर में चली आयी और तुम नौकर की तरह पीछे-पीछे हो लिये। क्या यह आश्चर्य की बात नहीं है?"

"है तो आश्चर्य की बात। तुम्हें घोड़े पर बैठाने के समय मन में कई प्रकार के विचार आये। मुझे अधिक आश्चर्य तब हुआ जब लगा कि राजधानी के लोग पहले से इसके लिए तैयार थे। सबने मायाभिभूत की भाँति मेरा स्वागत किया।"

रानी फिर हँसने लगीं और बोलीं, "जहाँ सन्देह करना चाहिए वहाँ लोगों का सन्देह न करना सचमुच आश्चर्य की बात है। परन्तु मुझे बिल्कुल आश्चर्य नहीं है। मैं जानती थी कि अब तक मेरे जितने जन्म हुए सबमें मैं तुम्हारी रानी थी। परन्तु मैं यह भी जानती हूँ कि अगले जन्म में तुम मुझे रानी के रूप में नहीं पा सकोगे। यह क्या अद्भुत बात नहीं है, महाराज?"

आश्चर्य से मेरी आँखें टँग गयीं। यह तो मेरा रोम-रोम कह रहा है कि चन्द्रलेखा जन्म-जन्मान्तर की मेरी हृदयेश्वरी है। ऐसा न होता तो मैं परवश की भाँति इस प्रकार का आचरण न कर बैठता। परन्तु रानी को यह सब मालूम कैसे था? मुझे कुतूहल हुआ। मैंने जरा झुककर पूछा, "तुम कैसे जानती थीं, देवि?" रानी ने सहज भाव से कहा, "सब जानती थी।" "लेकिन कैसे?" मैंने पूछा। रानी ने कहा, "बताती हूँ। मैं एक दिन बहुत उदास थी। मैं यह नहीं जानती थी कि मेरी उदासी का ठीक कारण क्या था। जैसे कोई करुण रागिनी सुनकर मन मसोस उठता है और सुननेवाले को यह पता नहीं चलता कि वह क्यों उदास है, क्यों उसके चित्त में अहेतुक करुणा उमड़ आयी है, ठीक उसी प्रकार

मुझे ज्ञात नहीं हुआ कि मैं क्यों इतनी उदास हो गयी। मेरी माँ ने मेरा उदास मुंह देखा तो खींचकर गोद में ले लिया। मेरी उदासी का कारण उन्होंने क्या समझा, यह तो मैं नहीं कह सकती। केवल दुलार से मेरा मुँह चूमकर कहा, 'बेटी, तू राजरानी होगी। तू उदास मत हो।' मैंने पूछा, 'यह तुम क्या कह रही हो, माँ! मुझे राजरानी होने की इच्छा बिल्कुल नहीं है।' माँ ने कहा, 'नहीं बेटी, तुझमें इच्छा क्यों होगी, तू सब इच्छाओं से बड़ी है, तुम्हारी भाग्य-रेखा तुझे राजरानी के पद पर अभिषिक्त करेगी। मुझे बहुत बड़े ज्योतिषी ने बताया है। उसने तो यह भी बताया है कि तू राजरानी से भी बड़ी होगी, परन्तु यह बात तो ज्योतिषी भी नहीं बता सका कि राजरानी से बड़ी चीज़ क्या होती है।' माता की सरलता पर मुझे हँसी आयी। मैंने कहा, 'माँ, ज्योतिषी तो ऐसी पहेलियाँ बुझाया ही करते हैं।' माँ ने अंगुली से मेरा मुँह बन्द करते हुए कहा, 'नहीं बेटा, किसी ऐसे-वैसे ज्योतिषी ने मुझे यह बात नहीं बतायी है। सभी जानते हैं कि काशी के उस ज्योतिषी की कोई भी बात आज तक असत्य नहीं हुई। तेरे पिताजी और तेरे कक्का तेरे विवाह के विषय में बहुत चिन्तित हैं, परन्तु मैंने ज्योतिषी की बात गाँठ बाँध ली है। बहुत बड़ा प्रतापी राजा तुझे स्वयं वरेगा। ज्योतिषी ने रेखा खींचकर यह बात कह दी थी। दिशाएँ इधर-से-उधर हो जायें तो हो जायें, विद्याधर की बात नहीं टल सकती।' मैंने कहा, 'माँ! काशी तो यहाँ से बहुत दूर है न! क्या विद्याधर ज्योतिषी कभी इधर आये थे?' अबकी बार माँ जरा असमंजस में पड़ीं। बोलीं, 'नहीं बेटा, मैं ही काशी गयी थी।' मुझे बड़ा आश्चर्य हुआ। मैंने कहा, 'मेरे देखते तो तुम कभी काशी नहीं गयीं।' 'तू कैसे जानेगी? उस समय तू बहुत छोटी थी...' और फिर चुप हो गयीं। उनके चेहरे से स्पष्ट लगा कि वे कुछ छिपा रही हैं। मैंने बार-बार पूछना शुरू किया, 'विद्याधर ज्योतिषी ने क्या कहा था, माँ? क्यों तुम मुझे उनके पास ले गयीं?' माँ ने थोड़ी देर तक इतस्ततः किया; फिर बोलीं, 'बेटी, तू अब सयानी हो गयी है। तुझे पूरी बात बता देती हूँ।'

"माँ ने मेरे हठ पर पूरी कहानी सुना दी—'बेटी, मेरा विश्वास है कि तू शीघ्र ही राजरानी होगी। विद्याधर ज्योतिषी की बात असत्य नहीं हो सकती। तेरे जन्म से पहले इस गाँव में मैं बाँझ समझी जाती थी। उस समय तेरे कक्का दो वर्ष के छोटे बालक थे। मेरे सास-ससुर उन्हें छोड़कर चल बसे। हम दोनों को उन्हें पालना पड़ा। तेरे पिताजी को इस बात का पूर्ण सन्तोष था कि उनका अपना पुत्र न सही, छोटा भाई पुत्र की साध पुजा रहा है। मुझे भी सन्तोष था। परन्तु गाँव की ये मुखरा झगड़ालू स्त्रियाँ कभी-कभी व्यंग्य कस दिया करती थीं। उससे मुझे बड़ा कष्ट होता था। चार-पाँच वर्ष तक मैंने सहा, परन्तु अन्त में सहा नहीं गया। बाँझ होना स्त्री का सबसे बड़ा अभिशाप है। जब तेरे कक्का सात वर्ष के हुए तो उन्हें मैंने ननिहाल भेज दिया। मुझे किसी ने बताया था कि काशी में कोई महादेवजी हैं जिनकी आराधना करने से सन्तान की प्राप्ति होती है।

मैंने तेरे पिताजी को रो-धोकर काशी जाने के लिए राजी कर लिया और हम दोनों दुर्गम मार्गों को पार करते हुए काशी जा पहुँचे। जहाँ हम स्नान कर रहे थे, वहीं संयोग से विद्याधर ज्योतिषी भी स्नान करने आये। वे बड़े दयालु प्रकृति के साधु पुरुष थे। उनके ज्ञान-दीप्त चेहरे से एक प्रकार की दीप्ति निकल रही थी, परन्तु उनके वस्त्रों को देखकर मुझे लगा कि उनके घर की स्थिति अच्छी नहीं है। मैंने ज़रा धृष्टता करके उनसे कहा, 'महाराज, बहुत कष्ट सहन करके बड़ी-बड़ी आशाओं के साथ हम लोग काशी आये हैं। यहाँ की रीति-नीति से अनभिज्ञ हैं। आप पण्डित और साधु पुरुष हैं। हमें बताइए कि हमारी इच्छा कैसे पूरी होगी।' ज्योतिषी ने नीचे से ऊपर तक हमारे चेहरे की ओर देखा और कहा, 'माता, तुझे सन्तान-सुख तो है, लेकिन सन्तान नहीं है।' मुझे आश्चर्य हुआ। मैंने कहा, 'पण्डित, यह तुम क्या कह रहे हो ? सन्तान नहीं है और सन्तान-सुख है, ऐसा भी क्या सम्भव है ?' विद्याधर ने कहा, 'हाँ, माता, कर्म-फल को कौन अन्यथा कर सकता है ! आज महाशिवरात्रि का दिन है। तू विश्वेश्वर के मन्दिर में अर्द्धरात्रि तक भक्ति-भाव से प्रतीक्षा कर ! निस्सन्देह तुझे सन्तति-सुख की प्राप्ति होगी। मैं स्वयं नहीं जानता, इस भाग्य-रेखा का क्या अर्थ है। कर्म की रेखा तो विश्वनाथ भी नहीं टाल सकते। पर तुझे सन्तान-प्राप्ति का सुख अवश्य मिलेगा।' इतना कहकर पण्डित ने एक बार फिर ध्यान से मेरी ओर देखा और कहा, 'माता, मेरा घर नगर के उत्तर की ओर है, तेरा मनोरथ सिद्ध हो तो एक बार फिर मुझसे मिलना। इस समय इससे कुछ अधिक मैं नहीं कह सकता।'

" 'इसके बाद विद्याधर पण्डित चले गये। उनकी बातें तेरे पिताजी ने भी सुनीं। हम दोनों एक-दूसरे का मुँह देखने लगे। कुछ समझ में नहीं आया कि इसका क्या अर्थ है। हमने पण्डित के बताये अनुसार विश्वेश्वर मन्दिर में आराधना की। उस दिन महाशिवरात्रि थी, दर्शनार्थ लाखों नर-नारी उपस्थित थे। हम लोग भी एक कोने में खड़े होकर ज्योतिर्लिंग को निर्निमेष दृष्टि से देखते रहे। अर्द्ध-रात्रि की प्रदक्षिणा करके साथ ही प्रणाम किया और गंगा-तट की ओर चले गये। गंगा-तट के सिवाय और कोई स्थान हमारा जाना नहीं था। काशी के मनोहर गंगा-तट को देखकर मेरा मन इतना प्रसन्न हुआ कि मानो उसे सब-कुछ प्राप्त हो गया हो। नगर से थोड़ी दूर हटकर, जहाँ वरुणा और गंगा का संगम है, वहीं हम दोनों चुपचाप लेट गये। थोड़ी देर तक हम लोग ज्योतिषी की बतायी पहेली का अपने ढंग से अर्थ समझने का प्रयास करते रहे और फिर गंगा और वरुणा की तरंगों में घुली हुई शीतल वायु ने हमें सुला दिया। कह नहीं सकती बेटी, कि उस दिन कैसी नींद आ गयी। हम दोनों बुरी तरह थके हुए थे और दिन-भर के उपवास के कारण शिथिल-श्रान्त भी हो गये थे। हमारे पास ऐसी कोई सम्पत्ति भी नहीं थी जिसके लिए हमें रात-भर जागने की चिन्ता करनी पड़े। पोटली में थोड़े-से भुने हुए चने और चावल-दाल तथा नमक के सिवा हमारे पास कुछ भी नहीं था। हम बिल्कुल निश्चिन्त थे। हमें यह भी नहीं

मालूम था कि लौटते समय रास्ते में क्या खायेंगे। कम्बल बिछाकर हम दोनों पास-ही-पास सो रहे।

"'प्रातःकाल सूर्योदय होने पर भी हम दोनों सोते ही रहे। उसी समय एक साधु ने तेरे पिताजी को चिल्लाकर जगाया और डाँटते हुए कहा, 'कैसे सो रहे हो? नन्हा-सा बच्चा इतना रो रहा है, इसका भी ध्यान नहीं है?' हम दोनों अकचकाकर उठे। ठीक हमारी गोद के पास हम दोनों के बीच में छोटी नन्ही-सी बालिका रो रही थी। आश्चर्य से मैंने तेरे पिताजी की ओर देखा और उन्होंने मेरी ओर। एक क्षण में मेरे सूखे स्तनों से दूध की धारा बहने लगी। नन्ही-सी बच्ची काफ़ी रो चुकी थी, उसके होंठ सूख चुके थे। मैंने झट से उठाकर अपना स्तन उसके मुँह में डाल दिया। वह निश्चिन्त होकर पीती रही। तेरे पिताजी तब भी आश्चर्य से स्तब्ध बैठे रहे। साधु डाँटते हुए चले गये। बोले, 'इस तरह अपनी सन्तान को अरक्षित छोड़कर सोया जाता है? गँवार कहीं के!' मैंने ध्यान से देखा कि उस छोटी बच्ची को बहुत ही सुन्दर क्षौम वस्त्र पर सुलाया गया था। एक छोटी-सी पुड़िया में पाँच स्वर्ण-मुद्राएँ थीं और काँपते हाथों से लिखी हुई एक छोटी-सी चिट्ठी थी। तेरे पिताजी ने बड़े प्रयास से वह पत्र पढ़ा। मोटे-मोटे अक्षरों में अनभ्यस्त कम्पमान हाथों ने सिर्फ़ इतना ही लिखा था, 'सौभाग्यवती माता को अपराधिनी माता की भेंट।' क्षण-भर में बात मेरी समझ में आ गयी। बेटी, तू वही दान है,' कहकर माता ने प्यार से मुझे चूम लिया। उनकी आँखों से अविरल अश्रुधारा बह चली। रुँधे कण्ठ से उन्होंने कहा, 'आज वह अभागिनी कहाँ है? होती तो देख सकती कि मैंने उसके दान को कितना अपनाया है। बेटी, वे पाँच स्वर्ण-मुद्राएँ अब भी रखी हैं। मैं उन्हें विश्वनाथ का प्रसाद मानकर पूजती हूँ।'

"एक क्षण में मेरा मन म्लान हो उठा। मैंने माँ की गरदन कसकर पकड़ ली और ज़ोर-ज़ोर से चिल्लाकर कहा, 'ग़लत बात है, तू ही मेरी माँ है।' परन्तु आँसू मेरे भी नहीं रुके। उस दिन हम माँ-बेटी दोनों देर तक रोती रहीं। मेरे मन में अपनी अभागिनी जननी के विषय में सौ-सौ कल्पनाएँ उठीं और विलीन हुईं। उस दिन मैंने माँ से और कुछ नहीं कहा। रोते-रोते उनकी गोद में सो गयी। मेरी माँ ने मुझे उस दिन प्यार से कसकर छाती से चिपका लिया। वे बैठी रहीं और मैं उनकी गोद में सोती रही।

"सोये-सोये मैंने स्वप्न में देखा कि मैं एक छोटी-सी चिड़िया हूँ जो एक सोने के पिंजरे में बन्द है। न जाने कितने लोग पिंजरा तोड़कर मुझे ले जाने आये। परन्तु पिंजरा टूटा नहीं। अन्त में एक घुड़सवार आया और पिंजरा ही उठाकर चलता बना। मैंने घुड़सवार से कहा कि 'तुम पिंजरा क्यों ले जाते हो? इसे तोड़कर तुम मुझे निकालो, मैं तुम्हारे साथ चलूँगी।' परन्तु घुड़सवार ने कहा कि 'मुझे पिंजरा भी चाहिए और चिड़िया भी चाहिए।' मैंने कहा, 'तुम पिंजरे के सोने को अपने काम में लाओ और मुझे स्वतन्त्र विचरण करने के लिए छोड़

दो। जब चाहोगे मैं तुम्हारे पास आ जाऊँगी।' घुड़सवार ने कहा, 'मैं तुम्हें पहचानता हूँ, तुम और चिड़ियों से भिन्न हो। तुम पिंजरा छोड़कर नहीं उड़ सकतीं। उड़ोगी तो पिंजरा भी साथ-साथ उड़ेगा। मैं तुम्हें उड़ने दे सकता हूँ, लेकिन तुम्हें मैं पिंजरे से मुक्त नहीं कर सकता। उड़कर देखो कि पिंजरा तुम्हारे साथ-साथ उड़ रहा है कि नहीं।' मैंने उड़ने का प्रयत्न किया और सचमुच पिंजरा साथ-साथ उड़ने लगा। मैंने कहा, 'घुड़सवार, तुम क्या पिंजरे से मुझे नहीं छुड़ा सकते ?' उसने कहा, 'मेरे वश की बात नहीं। तुम्हारा पिंजरा टूटने लायक है ही नहीं।' मैंने कहा, 'घुड़सवार, दया करो, मैं भी तुम्हारी, पिंजरा भी तुम्हारा।' घुड़सवार ने ताली बजाकर कहा, 'बेकार बात है। मैं तुम्हारा भी, और पिंजरे का भी। तुम उड़ती रहोगी, जितना चाहोगी उड़ोगी, पिंजरा भी साथ-साथ उड़ेगा। परन्तु तुम्हें मैं ले ज़रूर जाऊँगा।' एकाएक मेरी आँखें खुल गयीं। मैं चकित भाव से सोचने लगी, इस स्वप्न का क्या अर्थ है ?" इतना कहकर रानी ने मेरी ओर ध्यान से देखा। बोलीं, "विश्वास करोगे, महाराज ! वह घुड़सवार बिल्कुल तुम्हारे जैसा था।"

मुझे फिर आश्चर्य हुआ। रानी मेरी ओर देखती ही रहीं। देर तक उनकी दृष्टि मेरी ही ओर निबद्ध रही। फिर ज़रा सावधान होकर बोलीं, "ठीक तुम्हारे ही जैसा।"

थोड़ा सँभलकर रानी ने फिर आगे कहा, "माता की बतायी गयी कहानी तुम्हें आधी ही सुनायी है; बाकी आधी भी सुना रही हूँ। माता ने बताया कि वे लोग मुझे लेकर विद्याधर ज्योतिषी के पास पहुँचे और सारी घटना ज्यों-की-त्यों उन्हें सुना दी। विद्याधर ज्योतिषी ने निपुण भाव से मेरे हाथ, पैर, नाभि, ललाट आदि की परीक्षा की और गद्‌गद भाव से बोले, 'आज मैं धन्य हूँ जो बत्तीस लक्षणों से सम्पन्न कुमारिका का दर्शन पा रहा हूँ ! देवि, इस कन्या के विवाह के बारे में कुछ चिन्ता मत करना; यह राजरानी होगी और इसका वर इसे स्वयं वरेगा। आज तक ऐसा लक्षण-समवाय मैंने एकत्र नहीं देखा था। अद्‌भुत है ! प्रथम बार मैंने बत्तीस लक्षणों का एकत्र संयोग देखा है। यह अक्षय योग में रानी होगी और इसके प्रताप से इसका पति समस्त उत्तरापथ का उद्धारक होगा। केवल एक बात मेरी समझ में नहीं आ रही है। इसकी रेखाओं में कुछ ऐसा योग है जो कदाचित् आज तक इतिहास में नहीं देखा गया। इसके पुण्य प्रताप से इसका पति अक्षय कीर्ति का अधिकारी होकर सूर्य-मण्डल का भेद करेगा। लेकिन यह उनको फिर किसी जन्म में नहीं पा सकेगी। इस योग का क्या अर्थ है, यह मेरी समझ में नहीं आ रहा है। लेकिन इस बात में मुझे कोई भी सन्देह नहीं कि तुम्हें बहुत दुर्लभ कन्या-रत्न की प्राप्ति हुई है। इसके विवाह के बारे में तुम्हें चिन्ता करने की आवश्यकता नहीं।'"

रानी ने मेरी ओर एक बार देखा—"महाराज, क्या ज्योतिषी की बात सच-सच नहीं उतरी ? मैंने तुम्हें जिस दिन देखा उसी दिन पहचान लिया कि तुम मेरे

जन्म-जन्मान्तर के साथी हो। मुझे रंच-मात्र भी इस बात में अविश्वास नहीं है, परन्तु एक बात ज्योतिषी ने और बतायी, वही खतरा है। और इसीलिए महाराज, तुमसे अनुरोध करती हूँ कि मुझे बहुत छूट मत देना।" फिर सँभलकर उन्होंने कहा, "मैं सावधान हूँ, तुम्हें कोई भी ऐसा अवसर नहीं दूँगी कि तुम्हें मुझे छूट देनी पड़े। देखो, यह तुम्हारी रानी तुम्हारी चेरी होकर ही धन्य हो सकती है। मैं तुम्हें पति-रूप में वरण कर रही हूँ, इस बात को तुम कभी भूल मत जाना।"

इतना कहकर रानी ने मुझे दृढ़ आलिंगन-पाश में बाँध लिया। क्षण-भर में मेरा सारा अस्तित्व जैसे विलुप्त हो गया। ऐसा जान पड़ा कि मुझमें और कुछ नहीं, केवल एक अखण्ड अनुभूति-मात्र है। मैं नहीं, मेरा शरीर नहीं, मेरी रानी नहीं, एक अखण्ड अविचल अनुभूति। नाभि-कुहर से एक बिजली की धारा-सी उत्थित हुई और मस्तिष्क के उपरले स्तर तक उसने अभिभूत कर डाला। जब मेरी संज्ञा लौटकर आयी तो मुझे अनुभव हुआ कि मेरी कोई पृथक् सत्ता है; मैं अलग हूँ, रानी अलग। परन्तु मेरा सारा शरीर तब भी रोमांच-कण्टकित था। आनन्द की स्रोतस्विनी ज्यों-की-त्यों प्रवाहित हो रही थी। अन्तर सिर्फ़ इतना ही था कि मैं अपने को प्रवाह से अलग खड़ा अनुभव कर रहा था और लगता था कि यह प्रवाह अपने उद्दाम वेग पर है।

रानी तब भी खोयी-सी थीं; उनका कण्ठ रुद्ध था। आँखों की पलकों में प्रेम की आर्द्रता ने भारीपन ला दिया था और वे बुरी तरह झुक गये थे। उस अवस्था में वे आँखें और भी मनोहर मालूम हो रही थीं। मैंने दीर्घकाल तक छककर उस रूप-माधुरी का पान किया। धीरे-धीरे उनकी आँखें ऊपर को उठीं। स्पष्ट ही उनको मुझसे भी अधिक आनन्दोल्लास अनुभूत हो रहा था। एक क्षण मेरी ओर देखकर उन्होंने फिर आँखें झुका लीं और मन्दस्मिति के साथ बोलीं, "चिड़िया भी तुम्हारी, पिंजरा भी तुम्हारा!"

मैंने आनन्दातिरेक में उत्तर दिया, "मैं चिड़िया का भी, पिंजरे का भी।"

उस समय मैं ऐसा खो गया कि यह पूछना ही भूल गया कि ज्योतिषी ने जोखिम की कौन-सी बात बतायी थी। शायद रानी भी भूल गयीं या शायद उन्होंने बताने की आवश्यकता ही नहीं समझी।

दूसरे दिन प्रातःकाल राजसभा में मन्त्री विद्याधर भट्ट का दर्शन हुआ। वे स्वभावतः गम्भीर थे, परन्तु आज की गम्भीरता विशेष प्रकार की थी। ऐसा जान पड़ता था कि उन्हें रात-भर नींद नहीं आयी है और किसी चिन्ता से सम्प्रति भी आक्रान्त हैं। उनके वली-कुंचित मुख-मण्डल पर चिन्ता की रेखाओं ने और भी वलियाँ उभार दी थीं। जान पड़ता था कि अन्तःकरण में निरन्तर तरंगित होनेवाली चिन्ता-धारा मुख-मण्डल पर अपनी निशानी छोड़ गयी है। मेरे मन में उनके प्रति बड़ा सम्मान का भाव था। आवश्यकता से अधिक वे एक शब्द भी नहीं बोलते थे। एक-एक शब्द का उच्चारण वे इस प्रकार करते थे मानो तौल-

तौलकर देख रहे हों। धीर शर्मा की भाँति श्लोकों की झड़ी लगा देना वे बिल्कुल पसन्द नहीं करते थे। यदि आवश्यकता न हो, वे मौन रहना ही पसन्द करते थे। उनके मुख से एक शब्द भी तभी निकलता था, जब उसके बिना काम नहीं चल पाता था। स्पष्ट ही उनकी गम्भीरता और दिनों से भिन्न थी।

मैंने पूछा, "आचार्य आज कुछ चिन्तित जान पड़ते हैं।"

उन्होंने मेरी ओर देखे बिना ही सिर हिलाकर कहा, "हाँ।"

मैंने विनीत भाव से पूछा, "कारण जान सकता हूँ?"

विद्याधर भट्ट ने कहा, "महाराज, जब मैं राजप्रसाद नहीं प्राप्त कर सका था तब साधारण दीन ब्राह्मण था। एक दिन मैं गंगा से स्नान करके लौट रहा था, उस समय एक अनिन्द्य सुन्दरी युवती ने आकर प्रणाम किया और हाथ जोड़कर पूछा, 'महाराज, मैंने मार्ग में एक विचित्र दृश्य देखा है। मैं जानना चाहती हूँ कि क्या कोई शकुन है और इसका क्या फल होता है?' मेरे पूछने पर उस युवती ने बताया कि वह एक विधवा थी और पतिगृह की यातनाओं से तंग आकर भागकर पिता के घर जा रही थी। उसका नाम सूहवदेवी था; कुछ लोग सोहाग-देवी भी कहते थे। मुझे उसके नाम और रूप में विचित्र विरोध दिखायी दिया। उसने आगे बताया, 'तो एक जगह मैंने देखा कि गोबर के ढेर पर एक विशाल सर्प फण निकालकर बैठा है और उसके फण पर एक खंजन पक्षी नाच रहा है। मैं जानना चाहती हूँ कि इस असाधारण शकुन के देखने का कोई फल होता है या नहीं।' मैंने ध्यान से उसकी ओर देखा। उसकी शोभा वर्णनातीत थी। यद्यपि वह साधारण वस्त्रों को धारण किये थी, परन्तु उसके अंग-अंग से प्रभा निकलकर उसे एक अपूर्व प्रभामण्डल से आच्छादित किये हुए थी। उसके शरीर से पद्म की भीनी-भीनी सुगन्धि आ रही थी। कान तक फैले हुए उसके नेत्र पद्म-पलाश की भाँति मनोहर दिखायी दे रहे थे। उसके कपोल यद्यपि दरिद्रता के कारण अधिक उभरे हुए नहीं थे, तथापि वे बड़े ही मनोहर और सुडौल जान पड़ते थे। जो शकुन उसने देखा था उसका निश्चित फल राज-राजेश्वरी होना था। मैंने उसमें स्त्री को सौभाग्य देनेवाले सभी लक्षणों को देखा और विनयपूर्वक कहा, 'देवि, यदि शास्त्र सत्य हैं तो तुम्हें सात दिन के भीतर राजराजेश्वरी बनना चाहिए।' उस स्त्री ने चकित होकर पूछा, 'पण्डित, तुम क्या परिहास कर रहे हो, या आशीर्वाद दे रहे हो? मैं दीन-हीन अधम नारी क्या राजराजेश्वरी हो सकती हूँ?' मैंने केवल हाथ जोड़कर निवेदन किया, 'देवि, मैं कुछ नहीं कह सकता; परन्तु यदि शास्त्र सत्य हैं तो सात दिन के भीतर तुम्हें इसका फल मिलना चाहिए। उस समय वाराणसी के उत्तर में जो द्विज-पाटन है उसमें देवधर शर्मा के घर रहनेवाले और उनके भागिनेय विद्याधर को मत भूलना।' इसके बाद वह अपने पिता के घर चली गयी। सात दिन बाद सचमुच ही वह काशी कान्यकुब्जेश्वर महाराजाधिराज गाहड़वार-नरेश जयच्चन्द्र की राजरानी हुई। नगर में इसकी बड़ी चर्चा थी। कुछ लोग कहते थे कि धोबी की गलती से उसका कपड़ा

राजघराने के साथ मिल गया और उसमें पद्म की सुगन्धि देखकर राजा ने उसे बुलवाया और अपनी रानी बना लिया। कुछ लोग कहते थे कि महाराज ने प्रातःकाल प्रतोली द्वार पर उसे स्वयं देखा और उसके रूप पर मुग्ध होकर उसे रानी बना लिया। एक प्रवाद यह भी था कि महाराज का कोई पद्माकर नाम का प्रधान पुरुष अणहिल्ल पत्तन गया था। वहाँ किसी धोबी के धोये वस्त्रों में भ्रमरों को गुंजार करते देखा। उसने पूछ-ताछ की और इस प्रकार सूहवदेवी का पता लगाकर उसे राजा के अन्तःपुर में प्रवेश कराया। जितने मुँह उतनी बातें थीं। मैं ठीक नहीं जानता कि कौन-सी बात सच थी। कभी जानने का प्रयत्न भी नहीं किया। इतना सत्य है कि महाराज जयित्रचन्द्र उस पर रीझ गये थे। सात दिन बाद सचमुच ही मुझे राजभवन में बुलाया गया और मुझे सर्वमुद्राधिकारी के पद पर नियुक्त किया गया। महाराजाधिराज ने मुझे बहुत आदर दिया। मैं उनका मन्त्री, सभाकवि और सभा-पण्डित हो गया। मुझे देश-भाषा की कविता करने में बड़ा आनन्द आता था और महाराज को ये कविताएँ बहुत पसन्द थीं। वे मुझे चतुर्दश विद्याधर कहा करते थे। महाराजा जयित्रचन्द्र बड़े ही प्रतापी नरेश थे। उनके भय से आस-पास के राजा काँपते रहते थे और उन्हें कर दिया करते थे। एक बार जब वे अपनी विजय-यात्रा से लौटे तो मैंने उनकी प्रशस्ति में लोकभाषा की एक कविता पढ़ी। कविता इस प्रकार थी—

> भअ भंजिअ बंगा भग्गु कलिंगा,
> तेलंगा रण-मुक्कि चले।
> मरहट्ठा दिट्ठा लग्गिअ कट्ठा,
> सोरट्ठा भअ पाअ पले।
> चम्पारण कम्पा पब्बय झम्पा,
> ओत्था-ओत्थी जीव हरे।
> काशीसर राणा किअउ पआणा,
> विज्जाहर भण मन्ति वरे॥

"उस समय महाराज ने प्रसन्न होकर 'सर्व भार धुरन्धर' के विरुद से अपना प्रसाद दिया। परन्तु महाराज, वह मेरा अन्तिम प्रसाद था। राज-राजेश्वर जयित्रचन्द्र सूहवदेवी के प्रेम में कुछ ऐसे आसक्त हुए कि मैं चिन्तित हो उठा। उनको देखकर अपने-आप जो उल्लसित काव्यधारा उद्वेल उठती थी वह धीरे-धीरे सूख गयी। सूहवदेवी कला-मर्मज्ञ थीं। महाराज उन्हें आदरपूर्वक कला-भारती कहा करते थे। उन दिनों नैषधकार महाकवि हर्ष का बड़ा सम्मान था। वे थे भी सम्मान के योग्य। महाराज उनकी बड़ी प्रशंसा किया करते थे, परन्तु रानी को उनसे ईर्ष्या हो गयी। एक दिन उसने कविवर श्रीहर्ष को बुलाकर पूछा, 'तुम कौन हो?' श्रीहर्ष उन पण्डितों में से थे जिन्हें अपनी विद्या का उचित गर्व हुआ करता है। वे कभी किसी के सामने झुके नहीं। महाराज जयित्रचन्द्र-जैसा उदार राजा ही उनका सम्मान कर सकता था। रानी के प्रश्न से उन्होंने अपने

को अपमानित समझा और गर्वपूर्वक उत्तर दिया, 'मैं कला-सर्वज्ञ हूँ।' रानी ने उद्धत भाव से कहा, 'सब कला जानते हो?' उत्तर मिला, 'हाँ'। रानी ने निष्ठुरता-पूर्वक पूछा, 'मुझे जूता पहना सकते हो?' विद्यागर्वोद्धत ब्राह्मण तमतमा उठा। लेकिन सब कला के जाननेवाले को तो जूता पहनाना आना ही चाहिए! रानी ने कहा, 'पहनाकर दिखाओ।' पण्डित ने कहा, 'कल पहनाऊँगा।' दूसरे दिन उन्होंने ब्राह्मण-वेश त्याग दिया, शिखा और सूत्र उतार दिया और चर्मकार के वेष में रानी को जूता पहनाया एवं गंगातीर पर जाकर संन्यास ले लिया।[2] कान्यकुब्जेश्वर के गृह से अपमानित होकर सरस्वती निकली। मैं निश्चित जानता हूँ महाराज, जहाँ से सरस्वती निकल जाती है वहाँ लक्ष्मी टिक नहीं सकती। यद्यपि मैं सूहवदेवी की कृपा से ही राजकीय कृपा-पद का अधिकारी बना था, तथापि मुझे इतना कष्ट हुआ कि मानो सैकड़ों बिच्छुओं ने एक ही साथ डंक मार दिया हो। उस दिन मुझे लगा कि सचमुच ही मैं 'सर्व भार धुरन्धर' हूँ, सब भार को ढोनेवाला गर्दभ-मात्र हूँ। रानी सूहवदेवी मुझे अपना आदमी समझती थीं और आशा करती थीं कि मैं उनके सब भले-बुरे कामों का समर्थन करूँगा। परन्तु उस दिन मैंने रानी का समर्थन नहीं किया। पहली बार मुझे अनुभव हुआ कि भविष्यवक्ता होने का मेरा दम्भ झूठा था, गलत था और मुझे पतन के गर्त्त में ले जानेवाला था। सूहवदेवी चाहती थी कि उसी का पुत्र राजगद्दी का अधिकारी माना जाये। मैंने स्पष्ट शब्दों में इसका विरोध किया और महाराज जयित्रचन्द्र से कहा कि 'यदि ऐसा हुआ तो मैं समस्त अधिकारों पर लात मारकर चला जाऊँगा।' मेरे विरोधों का परिणाम यह हुआ कि राजा ने सूहवदेवी के पुत्र को युवराज बनाने से साफ इनकार कर दिया। परन्तु उसका दुष्परिणाम महाराज जयित्रचन्द्र को ही नहीं भुगतना पड़ा, पूरे देश को भोगना पड़ा। सूहवदेवी के षड्यन्त्र से ही मुहम्मद गोरी आसानी से काशी-कान्यकुब्ज के राज्य को अपने कब्जे में ला सका। दोष कुछ महाराज जयित्रचन्द्र का भी था। जब मुहम्मद गोरी ने योगिनीपुर के और शाकम्भरी क्षेत्र के प्रतापी चाहमाण नरेश पर अन्तिम बार आक्रमण किया तो जयित्रचन्द्र ने उनकी कोई सहायता नहीं की। योगिनीपुर के पतन के बाद उन्होंने बड़े भारी उत्सव का आयोजन किया और मुझे काव्य लिखकर उत्साहित करने की प्रेरणा दी। मैंने सिर्फ एक वाक्य कहा, 'महाराज, आर्यावर्त्त का वज्र-कपाट टूट गया।' महाराज ने पहली बार मुझे अपशब्द कहा, 'तुम मूर्ख हो!' मैं राजा और रानी दोनों के कोप का भाजन बना और अन्त में मुझे अधिकार त्याग करने के लिए विवश होना पड़ा। साम्राज्य ध्वस्त हो गया और मैं तुम्हारी शरण में आया। राजाओं के आकस्मिक प्रेमोदय से अब मैं बहुत घबराता हूँ। कौन जाने महाराज, मुझे तुम्हारी शरण भी छोड़नी पड़े!"

इतना कहकर विद्याधर ने सिर झुका लिया। मैं भी लज्जा और संकोच-वश चुप हो रहा।

3

एक दिन मैं सीदी मौला को ढूँढ़ लेने में समर्थ हो ही गया।

सीदी मौला सचमुच विचित्र मनुष्य था। उसने दुनिया देखी थी। कई भाषाओं का वह जानकार था। साधारण जनता में यह विश्वास था कि उसकी अवस्था सौ से ऊपर हो चुकी है, परन्तु देखने में वह साठ-सत्तर के बीच का मालूम पड़ता था। उसका न तो किसी जाति या धर्म पर पक्षपात था, न देश पर। उसकी बोली में मिठास भी थी और दूरदर्शिता भी झलकती थी। जब कुछ कहने लगता तो उसकी वाग्धारा वेगवती नदी की भाँति रुकना नहीं जानती थी। वह साधुओं के बीच रह चुका था, सैनिकों के साथ लड़ाई के मैदान में जा चुका था, शत्रु द्वारा कैद किये बन्दियों के साथ रह चुका था, तिब्बत के वाम-मार्गियों के साथ साधना कर चुका था और मंगोलों के पुरोहित उइगुर नामक बौद्ध जाति में उनका अंग होकर विचर चुका था। साधु नाममात्र का ही था। उसके चेहरे पर केशों की दो लटें, कौड़ी-सी दो छोटी-छोटी आँखें और ज़रा-सी चपटी नाक के नीचे मूँछ के दस-पन्द्रह बाल थे। मुँह पर वह भस्म पोतता था, लेकिन लाल रेशम के सुन्दर चोगे से भी उसे परहेज नहीं था। उसके एक हाथ में एक टेढ़ी लकड़ी थी जो खुरासान के किसी फकीर की दी बतायी जाती थी और दूसरे हाथ में एक लम्बा चिमटा रहता था, जिससे वह अनेक प्रकार का काम लेता था। वह भाँग भी पीता था और गाँजा भी। लेकिन दोनों में अभिमन्त्रित सौंफ के दाने अवश्य डाल लेता था। लोगों में उसकी सिद्धियों के बारे में अनेक प्रकार के विश्वास प्रचलित थे। ऐसा सुना जाता था कि वह आग और पानी पर अनायास चल सकता है और आवश्यकता पड़ने पर एकाएक अदृश्य हो जाता है। शत्रु की बन्दीशाला से उसके इसी प्रकार भाग निकलने की कहानियाँ प्रचलित थीं।

मैं जब उससे मिला तो उसने बड़ी प्रसन्नता प्रकट की। बातों-बातों में वह मंगोलों के विषय में मनोरंजक बातें कहने लगा। उसने बिल्कुल परवा नहीं की कि सुननेवाले को इसमें रस मिलता है कि नहीं। वह अनर्गल कहता ही गया, "मंगोलों का देश भी कोई देश है! नगर भी नहीं, कस्बा भी नहीं, गाँव भी नहीं। दूर तक वृक्षों की हरियाली से सूना रेगिस्तान केवल खाँय-खाँय करता रहता है। चूल्हा जलाने के लिए वहाँ लकड़ी भी नहीं मिलती। बादशाह हो या गरीब, सभी घोड़े की लीद और चँवरी गाय के कण्डों से रसोई बनाते हैं। गरमी आयी तो ऐसा तूफान आया कि अनजान बटोही के ऊपर गरम बालू के ढूह छा जाते हैं और वे जीवित समाधि ग्रहण कर जाते हैं। सरदी आयी तो ऐसी बर्फ गिरती है कि जो जहाँ होता है वहीं जम जाता है। ओले पड़ने लगते हैं तो दो-दो

दिन तक पड़ते ही रहते हैं।

"मंगोलों का चेहरा बीभत्स और घृणोत्पादक होता है—दाढ़ी नहीं, मूँछ नहीं, गोल-गोल सफाचट चेहरे। हर किस्म के पशुओं का वे मांस खाते हैं और घोड़े का मांस मिल जाये तब तो उनके लिए महोत्सव हो जाता है। नमक की वहाँ बड़ी कमी है। बड़े-बड़े उत्सवों के अवसर पर ही नमक का व्यवहार किया जाता है। उस समय नमकीन पानी खौलाया जाता है और हर आदमी अपना मांस का टुकड़ा उसमें डुबो लेता है। बैठकर खाना तो ये भले आदमी जानते ही नहीं। खाने के बाद राजा-रंक सभी मिलकर एक प्रकार की शराब पीते हैं, जो घोड़ी के दूध से बनती है। हर सरदार अपने प्याले में इस 'कूमीस' नामक विचित्र मद्य को डालता है और आसमान की ओर तथा चारों दिशाओं में थोड़ा-थोड़ा फेंक देता है। फिर वह अपने नौकरों के होंठ से उसे सटाता है और गटगट करके पी जाता है। शादी चाहे जितनी करो, पर परस्त्री की ओर नहीं ताकना। कुदृष्टि डालनेवालों की आँखें फोड़ दी जाती हैं और व्यभिचारी को तुरन्त मृत्यु का दण्ड दिया जाता है। सीदी मौला के किसी साथी साधु को स्त्रियों पर कुदृष्टि डालते देखा गया तो तुरन्त उसकी आँखें फोड़ दी गयीं और जीवित दफ़ना दिया गया। परन्तु सीदी मौला पर किसी ने सन्देह नहीं किया। वह ऊर्ध्वरेता ब्रह्मचारी है और विषम परिस्थितियों में भी अपने को सँभाल सकता है। वहाँ मरने के बाद कई दिन तक लाश रखने के बाद उसे जला दिया जाता है। अगर वह सरदार हुआ तो उसके घोड़े के साथ धरती में गाड़ देते हैं और उसके प्रिय दास-दासियों को भी जीवित समाधि लेनी पड़ती है।"

मेरे चेहरे पर आश्चर्य का भाव देखकर सीदी मौला ने कहा, "तुम नहीं समझ सकोगे। इन दास-दासियों को मैंने कभी रोते-चीखते नहीं सुना। उनका विश्वास है कि वे स्वर्ग में अनन्त काल तक अक्षय सुख के अधिकारी होंगे। इस जीवन में उनकी जो अभिलाषाएँ और आकांक्षाएँ अतृप्त रह गयी हैं उनकी तृप्ति अनन्त काल तक होती रहेगी। अपनी आँखों से मैंने उन्हें हँसते-हँसते समाधि लेते देखा है।"

एक क्षण के लिए मैंने टोका, "बाबा, उइगुर तो बौद्ध होते हैं, वे इस घोर हिंसा में कैसे सहयोग देते हैं?"

सीदी मौला ने रुककर कहा, "हाँ, बौद्ध भी होते हैं और ईसाई भी होते हैं। उनको यह अच्छा भी नहीं लगता। परन्तु उन्हें पूछता ही कौन है? मंगोल लोग ऐसे पवित्र अवसरों पर किसी की सलाह नहीं लेते। बेचारे पढ़े-लिखे नहीं हैं, इसलिए उइगुरों से पढ़ने-लिखने का काम लेते हैं, कुछ से वे बख्शी का काम लेते हैं और कुछ से पुरोहितों का। 'बख्शी' असल में बौद्धों के भिक्षु शब्द का मंगोल रूपान्तर है। 'उइगुर' भी सम्भवतः भारतीय 'गुरु' का रूपान्तर है। ये लोग गृहस्थ होते हैं, पढ़े-लिखे और अच्छे विचारक होते हैं, पर डरपोक होते हैं। कहने को तो वे पुरोहित हैं, लेकिन शायद ईश्वर पर भी विश्वास नहीं रखते।

लेकिन राजन्, मंगोलों की इस प्रथा को क्रूर मत समझना। उत्तर चीन से तुर्किस्तान और ग़ोर तक की भूमि को मंगोलों ने एकछत्र शासन के नीचे संघटित किया है। वह इन्हीं समाधि-प्राप्त पुरुषों के बल पर। सुनोगे ? मैं उनकी कहानी सुनाता हूँ :

"चंगिस् (चंगेज़) का नाम तो तुमने सुना होगा। तुमने यह भी सुना होगा कि जिन तुर्कों ने इस समय समूचे उत्तर भारत को ग्रास बना लिया है उनकी विशाल सेना को चंगिस् खाँ ने लोहे के चने चबवा दिये थे। जब उसने तुर्किस्तान पर धावा बोला था, तो उसके पास सिर्फ़ एक लाख घुड़सवार थे, जिसमें मंगोल तो सिर्फ़ पाँच हज़ार ही थे। बाकी सब रास्ते में पकड़े हुए खुरासानी, तातारी तथा और-और जातियों के लोग थे। मैं भी था। बातें तो मैंने बहुत सुनी हैं परन्तु एक घटना मेरी आँखों-देखी है, उसे सुनाता हूँ।

"उसी समय मैं पकड़ा भी गया। मैंने सुना था कि मंगोलों के राज्य में तिब्बत के उत्तरी हिस्से में जहाँ से रेगिस्तान शुरू होता है वहाँ ज्वालादेवी का मन्दिर है। वहाँ दिन-रात एक ज्वाला जलती रहती है, जिसकी ऊँचाई मनुष्य के बराबर होती है। वह ज्वाला कभी-कभी सचमुच मनुष्य की आकृति धारण करती है और तब माना जाता है कि देवी प्रसन्न हुई हैं। उस समय वहाँ जप करने का बड़ा माहात्म्य है। देवी के दर्शन करने के लिए मुझे बड़े बीहड़ मार्गों से यात्रा करनी पड़ी। तीन-तीन दिन तक ऐसे भयंकर रेगिस्तान से गुज़रा कि वहाँ मनुष्य तो क्या पशु-पक्षी भी मुश्किल से मिलते थे। पीने के लिए पानी मिलना भी दुर्लभ था। कन्दाहार में ही मैंने चमड़े की एक छोटी मशक ले ली थी और उसी में पानी भरकर रेगिस्तान की यात्रा करता रहा। ज्वालामुखी के पास पहुँचा तो एक अजीब-सी गन्ध से मेरा मस्तिष्क चक्कर खाने लगा। मैंने सुना था कि जो लोग ज्वालामुखी के दर्शन के अधिकारी नहीं होते वे इस गन्ध से अभिभूत होकर बेहोश हो जाते हैं; आगे नहीं बढ़ पाते। पर मेरा मनोबल अविचलित था।

"मेरा यह दृढ़ संकल्प था कि चाहे जो हो, दर्शन करके ही लौटूँगा। मैं उस विकट गन्ध की उपेक्षा करके आगे बढ़ा। रास्ते में मुझे कुछ बेहोश साधुओं को देखने का मौका मिला। उनका उपचार करना आवश्यक कर्त्तव्य था, लेकिन मैंने उनकी ओर दृष्टि ही नहीं दी; सीधा अपने लक्ष्य की ओर बढ़ता गया। कुछ और आगे जाने पर वह गन्ध समाप्त हो गयी और मुझे भीनी सुगन्धियों से भरी ठण्डी हवा के झोंके मिले।

"जिस समय मैं ज्वालामुखी के मन्दिर के पास पहुँचा, उस समय सूर्य प्राय: अस्त हो चुका था। वह अद्भुत ज्वाला दूर तक प्रकाश बिखेर रही थी। मुझे मन्दिर तक पहुँचने में कोई कठिनाई नहीं हुई। मन्दिर वह नाम-मात्र का ही था। ज्वालामुखी के पास कुछ भक्तों ने पत्थर का चबूतरा बना दिया था और बहुत ऊँचे पर पतले काले पत्थरों की एक छत बना दी थी। चबूतरा चारों ओर से खुला हुआ था। चबूतरे के किनारे लकड़ी के बड़े-बड़े खम्भे थे और छत उन्हीं के

सहारे टिकी हुई थीं। जिस समय मैं पहुँचा उस समय ज्वाला की ऊँचाई डेढ़ हाथ से अधिक नहीं थी, लेकिन रह-रहकर भभक पड़ती थी और तीन-साढ़े तीन हाथ की ऊँचाई तक उठ जाया करती थी। जब-जब ज्वाला भभकती थी तब-तब अनेक देश के आये हुए अनेक भाषाएँ बोलनेवाले भक्त अपनी-अपनी भाषा में जय-जयकार करते थे और मन्त्रोच्चार करते थे। ये लोग चबूतरे के नीचे चारों ओर बैठे हुए थे और अपने-अपने ढंग से मन्त्रों का जाप किया करते थे।

"एक तिब्वती लामा थे जो भभक के समय मनुष्य की हड्डी से बनी हुई एक वंशी जैसे यन्त्र को जोर से फूँकते थे और खड़े-खड़े वहीं प्रदक्षिणा करके 'ओं मणि पद्मे हुँ' मन्त्र का ज़ोर-ज़ोर से उच्चारण करते थे। उनके मन्त्रोच्चार के समय अन्य साधु हाथ जोड़कर देवी को प्रणाम करते थे। वह एक विचित्र साधु-सम्मेलन था। यथासम्भव लोग आपस में बातचीत नहीं करते थे; कभी-कभी कुछ इंगित से कह लेते थे।

"मुझे नया आया देखकर एक मंगोल साधु ने इशारे से पूछा, 'कहाँ से आ रहे हो?' मैंने हाथ से दक्षिण दिशा दिखाकर इंगित से कहा, 'बहुत दूर से आ रहा हूँ।' उन्होंने मुझसे पूछा, 'हिन्द से?' मैंने सिर हिलाकर समर्थन किया। इशारे से उन्होंने फिर पूछा, 'कुछ खाया-पिया है?' मैंने तीन उँगलियाँ उठाकर अपने चमड़े की मशक को दिखाया और इशारे से उन्हें बतलाना चाहा कि तीन दिन से केवल पानी पर निर्वाह कर रहा हूँ। उन्होंने इशारे से कहा, 'प्रदक्षिणा कर लो और यहाँ आ जाओ।' मैंने प्रदक्षिणा की और उनके पास आ गया। हम दोनों ने देवी को प्रणाम किया और मैं उनके इशारे से उनके पीछे हो लिया। लगभग एक कोस जाने पर उनकी कुटिया मिली। कुटिया तो क्या, वह एक बिल-जैसी चीज थी। मुझे द्वार पर बैठाकर वे भीतर गये और चीनी-मिट्टी के बर्तन में कुछ लेकर निकले। वह कुछ खाद्य पदार्थ था। उन्होंने इंगित से कहा, 'खाओ।' मुझे बड़ी तेज़ भूख लगी थी, चुपचाप खा गया।

"उनके साथ रहते-रहते मैं थोड़ी मंगोल भाषा सीख गया। एक दिन मंगोल साधुओं में से एक ने कहा कि यहाँ से लगभग दस कोस की दूरी पर रेगिस्तान में मंगोलों के पुरखे इल्मिश खान की समाधि है। वहाँ आज बड़ा भारी उत्सव होनेवाला है। मंगोलों के प्रतापी सरदार चिल्मिश खान वहाँ स्वयं उपस्थित होनेवाले हैं। वहाँ अनेक मंगोल सिद्ध आज उपस्थित होंगे। चिल्मिश खान शक्तिशाली तुर्कों पर आक्रमण करनेवाले हैं; उसके पूर्व अपने पूर्व-पुरुष महान् सिद्धि-दाता इल्मिश खान का आशीर्वाद प्राप्त करना चाहते हैं। अब तक उन्होंने जितने राज्य जीते हैं सब उन्हीं के आशीर्वाद से जीते हैं। इस बार उनका संकल्प सुप्रसिद्ध खारेज़ियों को जीतने का है। अब तक जो खारेज़ी बचे हुए हैं, इसका कारण यह है कि चिल्मिश खान उनकी प्रचण्ड शक्ति से डरे हुए थे। परन्तु अब जान पड़ता है कि उन्होंने खारेज़ियों को जीतने का दृढ़ संकल्प कर लिया है। यह लड़ाई भारी भयंकर होगी। सुना है कि दोनों ओर से कठिन संघर्ष की तैयारियाँ हो रही हैं।

तुम जानते ही हो कि मंगोल पहले तो संकल्प नहीं करता और यदि संकल्प कर लेता है तो उसके सामने दो ही रास्ते रह जाते हैं—लड़ते-लड़ते मर जाना या विजय प्राप्त कर लेना। चिल्मिश खान की भृकुटियाँ जब तन गयी हैं तो संसार में एक बार प्रलय का दृश्य अवश्य आ जायेगा। परन्तु मैं यह भी जानता हूँ कि जब तक कुलगुरु इल्मिश खान का आशीर्वाद नहीं प्राप्त होता, तब तक चिल्मिश खान इस महान् संकल्प को कार्यान्वित नहीं करेंगे। मैंने कुतूहलवश पूछा कि क्या इल्मिश खान साक्षात् दर्शन देकर आशीर्वाद देंगे। उन्होंने कहा, 'हाँ, परन्तु चलकर देखो।' उस साधु ने मुझे यह भी बताया कि उत्सव देखने की इच्छा हो तो मंगोल साधु का वेश धारण करना होगा और मेरा शिष्यत्व स्वीकार करना पड़ेगा। कुतूहलवश मैंने सारी बातें स्वीकार कर लीं। साधु अपनी गुफा के भीतर ले गये, मुझे मकई के दाने की एक माला दी और उत्तराभिमुख बैठाकर कान में एक मन्त्र दिया। मन्त्र और कुछ नहीं था, 'ओं मणि पद्मे हुँ'। मैंने गुरु के सम्मुख बैठकर उस अट्ठाईस मनकोंवाली माला पर उसका जप किया और मेरी दीक्षा सम्पन्न हो गयी। गुरु ने मुझे बताया, 'गुरु के सामने उत्तराभिमुख होकर जप करने से एक मन्त्रोच्चार का फल, दस लक्ष मन्त्र जपने के तुल्य होता है और ज्वालामुखी के सामने जपने से एक मन्त्र, कोटि के बराबर होता है। अब तुम साधु-वेश धारण करो और उत्सव देखने के लिए चलो।' गुरु की आज्ञा मैंने शिरोधार्य की और उत्सव देखने के लिए उनके पीछे हो लिया। जिस समय हम लोग पहुँचे उस समय सूर्यास्त हो चुका था, और वहाँ सैकड़ों सैनिक और साधु एकत्र हो चुके थे। मेरे गुरु को देखकर साधुओं ने विचित्र प्रकार की जय-जयकार की। उसके बाद मैंने अनुभव किया कि मेरे गुरु मंगोल देश के बहुत ही प्रभावशाली सिद्ध थे। ज्यों-ज्यों अन्धकार घना होता गया त्यों-त्यों साधुओं का मन्त्रोच्चार भी तेज होता गया। अर्धरात्रि के कुछ पूर्व हड्डियों की बनी तुरही अत्यन्त प्रबल वेग से बज उठी। मेरे गुरु ने तथा अन्य साधुओं ने भी अपनी-अपनी वंशियाँ बजायीं। गुरु ने इंगित से कहा, 'महाप्रतापी मंगोल देशाधिपति चिल्मिश खान पधार रहे हैं।'

"थोड़ी देर में उड़गुरों से घिरे हुए मंगोल देशाधिपति पधारे। मुझे यह देखकर आश्चर्य हुआ कि वे बिल्कुल साधारण मंगोल वेश में थे। उनकी चिपटी नाक के नीचे मूँछ के बहुत थोड़े बाल अस्त-व्यस्त झूल रहे थे और ऊपर दो गोल कौड़ी जैसी आँखें चमक रही थीं। उन आँखों में एक विचित्र प्रकार की मर्मोद्घाटिनी दृष्टि थी; चेहरे पर क्रूरता का कोई चिह्न नहीं था, बल्कि आस्था और भक्ति की रेखाएँ स्पष्ट दृष्टिगोचर हो रही थीं। वह किसी सवारी पर भी नहीं थे, यद्यपि उनके पीछे घोड़ों की पूरी कतार चल रही थी। वह चुपचाप आगे बढ़ रहे थे। साधु-मण्डली ने सिर झुकाकर हाथों को घुटनों पर लगाकर उन्हें आशीर्वाद दिया। जब वह आगे निकल गये तो अत्यन्त संयत भाव से भीड़ उनके पीछे-पीछे चली।

"ठीक अर्धरात्रि को हम लोग मंगोल कुलगुरु इल्मिश खान की समाधि पर पहुँचे। मुझे बताया गया कि इल्मिश खान किसी युद्ध में यहीं मारे गये थे, परन्तु उनका घोड़ा जीवित रहा था। उसी घोड़े पर बैठाकर उन्हें समाधि दी गयी और आसपास के अत्यन्त प्रिय सामन्तों और रानियों को भी जीवन्त समाधि दी गयी। वे लोग आज भी जीवित हैं और प्रति चतुर्दशी को उनका दरबार लगता है। उस दिन यदि कोई जीवित मनुष्य वहाँ पहुँच जाये तो उसे भी जीवन्त समाधि लेनी पड़ती है। सारी भीड़ समाधि के पास पहुँची और सब लोगों ने इल्मिश खान मंगोल कुलगुरु की जय-जयकार की। चिल्मिश खान ने दोनों हाथ घुटनों पर रखकर धरती में सिर रगड़कर उनको प्रणाम किया। समस्त जनता ने वैसा ही किया। उइगुर लोगों ने प्रणाम का मन्त्रोच्चार किया और पूजा की विधि आरम्भ हुई। समाधि को एक विशेष प्रकार के लाल-लाल मोम से बनी हुई मशालों से आलोकित किया गया और कुछ साधु ज़ोर-ज़ोर से मन्त्र पढ़ते हुए उसकी प्रदक्षिणा करने लगे। थोड़ी देर बाद एक प्रकार के मंगोल सेवक नंगे होकर विकट नृत्य करने लगे और हाथ में फावड़ा लेकर धरती फोड़ने लगे। मैं इसका कुछ रहस्य नहीं समझ सका। वहाँ कुछ बोलने का साहस भी नहीं हो रहा था। मेरे गुरु बिल्कुल ध्यानावस्थ थे, इसलिए उस समय उनसे भी पूछने का कोई उपाय नहीं था। मगर मुझे वह भूतों का अद्भुत नाच-सा लग रहा था। मेरी उत्सुकता बढ़ती ही जा रही थी।

"एकाएक गुरु का ध्यान भंग हुआ और उन्होंने मेरी ओर देखा। बोले, 'मैं जिस तरह ध्यान कर रहा हूँ उसी तरह ध्यान करो।' मैंने विनयपूर्वक पूछा, 'किस बात का ध्यान करूँ?' उन्होंने संक्षेप में उत्तर दिया, 'जिस समय महाप्रतापी कुलगुरु को समाधि दी जा रही थी उस समय एकाएक धरती से विकराल ज्वालाएँ निकली थीं। उस समय मिट्टी डालकर उन ज्वालाओं को बुझाया गया था। उसी समय आकाशवाणी हुई कि घबराओ नहीं, ये ज्वालाएँ तुम्हारी रक्षा करेंगी। तब से उत्सव की तिथि को उन ज्वालाओं की खोज की जाती है। जब इल्मिश खान प्रसन्न होते हैं तो ज्वालाएँ प्रकट हो जाती हैं। और यदि प्रसन्न नहीं होते तो ज्वालाएँ भी नहीं निकलतीं। केवल उनके साक्षात् वंशधर ही उन ज्वालाओं को प्रकट कर सकते हैं। जो लोग इस समय फावड़ा चला रहे हैं वे इल्मिश खान के निकट सम्बन्धी हैं। यदि चिल्मिश खान के संकल्प की सिद्धि होना है तो ज्वालाएँ आज अवश्य प्रकट होंगी। हम उन्हीं ज्वालाओं का ध्यान कर रहे हैं। ध्यान में बड़ी शक्ति है।' इतना कहकर गुरु चुप हो गये और फिर ध्यान में मग्न हो गये। प्रयत्न करने पर भी मैं आँखें मूँदकर ध्यान नहीं कर सका। रह-रहकर आँखें खुली जा रही थीं। रह-रहकर अस्थि-झंझियों की अनवरत ध्वनि की पृष्ठभूमि में फावड़ों का विकट नृत्य चलता रहा।

"थोड़ी देर बाद लगभग सौ मल्ल मशाल लेकर खोदी हुई भूमि में विकट चीत्कार करते हुए नाचने लगे। वे कोई हुङ्कार जैसा शब्द करके मशालों को

भूमि से स्पर्श कराते थे और सारी खोदी हुई भूमि में बार-बार नृत्य कर रहे थे। जान पड़ता था कि उन्हें इस नृत्य का अभ्यास दीर्घकाल से कराया गया था। कितनी ही बार ऐसा लगता था कि फावड़ा चलानेवाले मशाल की लपटों में जल जायेंगे, परन्तु ऐसा हुआ कुछ नहीं। एक ही साथ सौ मल्ल अलग-अलग स्थानों पर ज्वाला-नृत्य करते हुए भूमि-स्पर्श का अभिनय करते थे और नाचते-नाचते आगे बढ़ जाते थे। नियमित रूप से वे एक ही साथ हुड्डुत्कार करते थे और उसी समय एक ही साथ भूमि-स्पर्श भी। अब मुझे फावड़ेवालों के नग्न रहने का रहस्य समझ में आया। ज़रा भी असावधानी से कपड़ों में आग लग सकती थी। परन्तु यह नृत्य विकटतर उद्दाम गति से चलता रहा और कहीं किसी के शरीर में आँच नहीं आयी। एकाएक सभी उल्काएँ ऊपर उठ गयीं; फावड़ेवालों ने फावड़े छोड़ दिये। एक क्षण तक ऐसा मालूम हुआ कि कुछ अघटित घट गया हो; और सब लोग उत्सुकतापूर्वक उसकी प्रतीक्षा करने लगे। फिर एक क्षण के मौन के बाद विकट जय-जयकार की ध्वनि हुई। नगाड़े बज उठे। मशालें समाधि के निकट चारों ओर सजा दी गयीं और एक विचित्र-सी गन्ध फैल गयी। एक अपेक्षाकृत निचले स्थान के गड्ढे में सचमुच ही ज्वाला धधकने लगी और मंगोल कुलगुरु इल्मिश की जय-ध्वनि से आसमान काँपने लगा। मेरे गुरु ने फुस-फुसाकर कहा, 'सावधान, ज्वाला प्रकट हो गयी।' मैंने आश्चर्य के साथ देखा, ज्वाला सचमुच प्रकट हुई। पहले तो वह क्षीण-सी थी, परन्तु बाद में काफ़ी भयंकर और उग्र हो उठी।

"चिल्मिश खान ज्वाला की ओर मुँह करके खड़े हो गये। श्रद्धा और भक्ति के अतिरेक से उनकी आँखों से आँसू निकल आये। वे घुटने टेककर खड़े हो गये और दोनों हाथ पीठ पर रखकर धरती पर नाक रगड़कर उन्होंने अभिवादन किया। उनके साथी सहस्रों सैनिकों, उइगुरों और साधुओं का दल पीठ-पीछे हाथ बाँधकर नाक रगड़ने लगा। मैंने भी वैसा ही किया। दो-तीन बार नाक रगड़ने के बाद सिर उठाया, लेकिन मैंने अनुभव किया कि यह मेरी गलती थी, क्योंकि तब तक किसी ने सिर नहीं उठाया था। यह एक विचित्र भावावेश की अवस्था थी, जिसमें सहस्रों व्यक्ति तेजी से धरती पर नाक रगड़ रहे थे। मैं फिर वैसा ही करने लगा, लेकिन रह-रहकर मैं देख लिया करता था। मैं नाक रगड़ते समय कभी ज्वाला की ओर तो कभी चिल्मिश खान की ओर देख लेता था।

"कोई आधी घड़ी तक ऐसा ही होता रहा। एकाएक अस्थि-वंशियों की ध्वनि सुनायी पड़ी, और सब लोग धीरे-धीरे सिर उठाने लगे। ऐसा जान पड़ता था कि उन्हें सिर उठाने में काफी प्रयास करना पड़ रहा है। मेरे गुरु ने कहा कि ज्वाला के पास खड़े हुए सज्जन महापण्डित बख्शी उइगुर हैं। वे ज्वाला को ढक देने का आदेश दे रहे हैं। ज्वाला ढकने का आरम्भ स्वयं चिल्मिश खान ने मिट्टी डालकर किया। उइगुर पुरोहित द्वारा अभिमन्त्रित मिट्टी के बड़े ढोंके को ज्वाला में फेंक दिया गया। फेंकते ही एक विचित्र घटना हुई। चिल्मिश

खान के सामने सटासट अग्नि-बाण निकलने लगे, जो आसमान में दूर तक फैलते हुए लगभग दो-तीन कोस की दूरी पर जाकर जलते हुए गिरते थे। स्वयं चिल्मिश खान की आँखें भी चौंधिया रही थीं। एक दूसरा अभिमन्त्रित ढोंका फेंका गया। उससे भी आग के गोले सामने की ओर छटकने लगे। उइगुर पुरोहितों ने चिल्लाकर कहा, 'मिल गया, मिल गया।' मैंने अपने गुरु से पूछा, 'क्या मिल गया ?' उन्होंने कहा, 'चुप, देखते रहो।' इसके बाद पुरोहितों ने स्वयं एक ढेला फेंका। इस बार ठीक उनके सामने की ओर फिर अग्नि-बाण छूटे। सहस्र-सहस्र कण्ठों ने फिर मंगोल-कुलगुरु इलिमश का जय-निनाद किया और हाथ उठाकर तुमुल-ध्वनि की—'मिल गया।'[3] फिर उस स्थान पर मिट्टी किसी ने नहीं छोड़ी। दूसरे स्थान से मिट्टी लाकर ज्वाला को शान्त किया गया। अब समाधि के पास आकर चिल्मिश खान ने पहले की भाँति ही कुलगुरु को प्रणाम किया और धीरे-धीरे उस स्थान से हटने लगे।

"रास्ते में मेरे गुरु ने बताया, 'मंगोल कुलगुरु इल्मिश ने तुर्कों को जीतने का अस्त्र दे दिया। बहुत दिनों से इस अग्निबाण की खोज हो रही थी। आज वह मिट्टी मिल गयी, जिससे आग के गोले तैयार होते हैं। अब चिल्मिश खान अवश्य विजयी होंगे, क्योंकि कुल-देवता ने प्रसन्न होकर उन्हें अभिलषित शस्त्र दे दिया।' सावधानी से सुनो महाराज, मैंने स्वयं चिल्मिश खान की सेना में रह-कर इन अग्नि-बाणों की लीला देखी है। इन्हीं अग्नि-बाणों की कृपा थी कि केवल पचास हज़ार सैनिक लेकर चिल्मिश खान ने अन्तर्वेद से लेकर कुस्तुन्तुनियाँ तक अखण्ड राज्य स्थापित किया। इन मंगोलों के पास तीन बड़ी शक्तियाँ हैं—प्राण-दान के लिए सदा तत्पर मंगोल-सैनिक, तीर से भी अधिक तेज दौड़नेवाले घोड़े और यह भयंकर अग्नि-बाण। इन तीन शक्तियों के बल पर ही चिल्मिश खान ने खारेज़ियों के विशाल साम्राज्य को खाक में मिला दिया।

"वाह्लीक (बलख) से लौटते समय मैं फिर एक बार ज्वालामुखी के दर्शन करने गया। वहाँ मेरे गुरु ने मुझे एक रहस्य की बात बतायी। चिल्मिश खान ने अपने विजयावेश में स्त्रियों और निरपराध व्यक्तियों की हत्या की; देवमन्दिर और साधुओं के पवित्र स्थानों को ध्वस्त किया। इसीलिए इल्मिश खान असन्तुष्ट हो गये। बहुत प्रयत्न करने पर भी इस बार अग्नि-ज्वाला नहीं जली। अब मंगोल-लक्ष्मी का भविष्य अनिश्चित हो गया। मैं नहीं जानता कि उनकी निराशा में कितनी सचाई है। परन्तु जो-कुछ मैंने अपनी आँखों से देखा, वह अद्भुत है और तुम्हें सावधान करता हूँ कि शत्रु को छोटा मत समझो।"

थोड़ा रुककर सीदी मौला ने फिर कहना शुरू किया, "ज्वालामुखी से लौटते समय मैं मंगोल साधु के वेश में मंगोल सैनिकों द्वारा पकड़ा गया। गलती मेरी ही थी। यद्यपि मेरा वेश मंगोल साधुओं का-सा था तथापि मैं मंगोल भाषा बोल नहीं पाता था। सैनिकों को मेरे ऊपर सन्देह हो गया और मैं पकड़ लिया गया। उन्हें सन्देह हो गया कि मैं शत्रु का गुप्तचर हूँ। वे मेरा सिर भी उतार सकते थे।

किन्तु मंगोल राजनीति के अनुसार शत्रु के चर को मारना वर्जित है। अनुभव से उन्होंने जाना है कि गुप्तचर युद्ध और शान्ति के समय कभी-कभी बहुमूल्य सहायता पहुँचाता है, इसलिए उन्होंने मुझे मारा नहीं। केवल हाथ-पैर बाँधकर अपने सेनापति के पास पहुँचा दिया। सेनापति के पास तक पहुँचने में मुझे तीन दिन लगे। जैसे मरे ढोर को चमार ले जाते हैं उसी प्रकार वे लोग मुझे एक स्थान से दूसरे स्थान तक ले जाते रहे।"

मैंने टोककर पूछा, "बाबा, तुम्हें तो बड़ा कष्ट हुआ होगा !"

बाबा ने कहा, "कष्ट ! कष्ट मुझे क्या होगा भला ! मैंने तो प्राणायाम के द्वारा अपना शरीर साध लिया है। मुझे जिस भी स्थिति में रख दो, मेरे शरीर को कष्ट नहीं पहुँचेगा। मुझे जीवित गाड़कर देख लो, वर्षों तक जैसा-का-तैसा बना रह सकता हूँ। मुझे ढोते-ढोते मंगोल सैनिक तो कभी-कभी मुर्दा ही समझ लेते थे और जहाँ-तहाँ पटक दिया करते थे। उन्हें इस बात की चिन्ता थी कि सेनापति के पास पहुँचने पर मैं जीवित पाया जाऊँ। गुप्तचर को मारनेवाला सिपाही मंगोल राजनीति में कठोर दण्ड का भागी होता है। यही कारण है कि जब-तब वे मुझे खोलकर देख लिया करते थे, सीधा कर लेते थे, नाड़ी की परीक्षा करते थे, श्वास की गति देख लेते थे और जब उनको विश्वास हो जाता था कि यह अभी जीवित है तभी आगे बढ़ते थे। जब मैं सेनापति के पास ले जाया गया तो एक प्रकार की समाधि की अवस्था में ही था। उस समय मेरी नाड़ियों में रक्त का चलाचल तो था, पर ऊपरी स्तर पर कोई संवेदन नहीं था। मैं बेहोश भी नहीं था, क्योंकि उनकी बातें सुन रहा था और जब कभी परिचित शब्द आ जाते थे तो उनका भाव भी समझ जाता था। मुझे धरती पर लिटा दिया गया और बन्धन खोल दिये गये। सेनापति को यह बताया गया कि यह शत्रु का गुप्तचर जान पड़ता है।

"कुछ देर तक सिपाहियों ने मेरे हाथ-पैरों को रगड़ा, लेकिन उसकी ज़रूरत नहीं थी। धीरे-धीरे मैं प्राण-वायु को अंग-प्रत्यंग में संचारित करने लगा। थोड़ी देर बाद मैं उठकर बैठ गया। मुझमें क्लान्ति का भाव नहीं था, जड़िमा भी नहीं थी। बिल्कुल स्वस्थ भाव से मैं खड़ा हो गया। सेनापति को आश्चर्य हुआ। उसने कड़ककर पूछा, 'तुम गुप्तचर हो ?' मैंने स्वीकार किया। उसने पूछा, 'किसके चर ?' निर्भीक भाव से मैंने सिर ऊपर उठाया और बताना चाहा कि मैं परमात्मा का चर हूँ। सेनापति ने कहा, 'तुम बातें बना रहे हो ! जानते हो, मैं तुम्हारी सब चमड़ी उधेड़ दूँगा।' मुझे जितनी मंगोल भाषा आती थी उतने का सहारा लेकर कहा, 'जानता हूँ।' सेनापति ने कहा, 'तुम्हें भय नहीं है ?' मैंने सहज भाव से कहा, 'नहीं।' सेनापति ने पूछा, 'कहाँ के रहनेवाले हो ?' मैंने संक्षेप में उत्तर दिया, 'हिन्द का।' उसने फिर पूछा, 'हिन्द की कुछ बातें बता सकते हो ?' मैंने इशारे से प्राणायाम और समाधि की बात बताकर कहा, 'तुम्हें यह सिखा सकता हूँ।' सेनापति ने समझा कि मैं झूठ-मूठ अपने को साधु

सिद्ध करना चाह रहा हूँ। सेनापति ने कहा, 'इसे बाँधकर क़ैदखाने में डाल दो।'

"सेनापति के पड़ाव में सैकड़ों बन्दी थे। उनसे बड़ी कड़ी मेहनत ली जाती थी और ज़रूरत पड़ने पर लड़ाई के मैदान में भेज दिया जाता था। सभी के हाथ-पैर बँधे नहीं थे। जिनके विषय में कुछ जान लिया गया था, उनको कड़े पहरे में छोड़ दिया जाता था। लेकिन जो नये थे या जिन पर सन्देह था, उन्हें बाँध दिया गया था। मुझे बाँधकर ढोया नहीं गया, घसीटकर ले जाया गया। लेकिन बन्दीगृह का अनुभव बड़ा विचित्र हुआ। सुना था…"

सीदी मौला थोड़ी देर तक मौन रहे, मानो कुछ याद कर रहे हों। फिर बोले, "लेकिन आज देर हो गयी। तुम थोड़ा विश्राम कर लो, फिर बात करेंगे।" और मेरे उत्तर की प्रतीक्षा किये बिना ही उठकर खड़े हो गये।

मुझे इस आदमी के प्रति उत्सुकता बढ़ गयी थी और उसकी मनोरंजक बातों में जानने योग्य तथ्यों के मिलने से रस भी आ रहा था। लेकिन उसने एक ही झटके में सब तोड़ दिया। लगता है इसमें कहीं माया, मोह या आसक्ति है ही नहीं। बोलने लगता है तो ऐसा लगता है कि चुप ही नहीं होगा। चुप होता है तो ऐसा लगता है, अब बोलेगा ही नहीं। लेकिन है बड़ा मस्तमौला। बाध्य होकर मुझे विश्राम के लिए उठना पड़ा।

4

दूसरे दिन प्रातःकाल फिर सीदी मौला से बात हुई। मैंने पूछा, "महाराज, क्या आप विश्वास करते हैं कि दैविक शक्ति की आराधना से भौतिक साधन प्राप्त होते हैं? क्या चिल्मिश खान ने अपने कुल-देवताओं की उपासना की है, वह दैविक सिद्धि के द्वारा आराधना की हुई भौतिक सिद्धि नहीं है?"

सीदी मौला मेरा प्रश्न सुनकर ठठाकर हँस पड़े। बोले, "राजन्, मैंने क्या कभी कहा है कि दैवी शक्ति और भौतिक शक्ति भिन्न-भिन्न हैं? तुम तो अपने मन से कल्पना करते हो और चाहते हो कि तुम्हारी कल्पना के आधार पर कोई और भी वैसा ही घरौंदा बनाकर खड़ा करे और फिर तुम्हारे स्तर पर बात करे। ब्रह्माण्ड में ऐसा कुछ भी नहीं है महाराज, जो पिण्ड में न हो। शक्ति चाहे दैवी हो, भौतिक हो, आध्यात्मिक हो, एक है; और पिण्ड के भीतर विद्यमान है। अगर कहीं भी उसे पकड़ सको और उसे खींच सको तो निखिल ब्रह्माण्ड में जो कुछ भी दिखायी दे रहा है उसे खींच सकते हो और अपने वश में कर सकते हो। ये जो

अनेक रूप-भेद देख रहे हो, वह एक ही शक्ति के प्रस्पन्द-विष्पन्द का परिणाम है। चाहे जिस वस्तु को जिस रूप में बदला जा सकता है। मैं थोड़ा-बहुत रसायन-विद्या का जानकार हूँ। मैं ताँबे को सोने में बदल सकता हूँ और सोने को ताँबे में भी बदल सकता हूँ। मूर्ख धनिक ताँबे और सोने में भेद समझते हैं। भेद कुछ भी नहीं है महाराज। ताँबा भी कुछ परमाणुओं से बनता है और सोना भी कुछ परमाणुओं से बना है। मूर्ख यह नहीं जानता कि शक्ति किस प्रक्रिया से इन परमाणुओं का संघटन करती है। कुछ विशेष वस्तुओं के योग से ताँबे के परमाणुओं का संघटन बदल जाता है और उस प्रकार का हो जाता है जैसा कि सोने के परमाणुओं का हुआ करता है। मात्रा का ठीक-ठीक होना बहुत आवश्यक है। एक ही प्रकार की प्रक्रिया से, एक प्रकार के योग से सुवर्ण कभी सिद्ध भी हो जाता है, कभी नहीं भी होता। केवल अन्तर्यामी देवता ही जानते हैं कि कब मात्रा ठीक होगी और कब नहीं होगी। वे जानते अवश्य हैं और किसी-न-किसी दिन जब मनुष्य अधिक साधना करेगा तो जो अन्तर्यामी देवता बुद्धि-रूप में अभिव्यक्त हो रहे हैं, वे उसे उचित मात्रा का भी ज्ञान करा देंगे। उन्होंने अभी अपने-आपको पूर्णतया अभिव्यक्त नहीं किया है। जिस दिन वे अणु-परमाणु में व्याप्त आद्या-शक्ति के संघटन-विधान को जाननेवाले के रूप में प्रकट होंगे, उस दिन तुम देखोगे महाराज कि आज के सिद्ध लोग जिन सिद्धियों को बहुत महत्त्वपूर्ण मानते हैं उन्हें बच्चों का खेल माना जाने लगेगा। मैं उसका कुछ भी रहस्य नहीं समझता। परन्तु संयोग से जितना हस्तगत हुआ है उसके आधार पर कह सकता हूँ कि किसी-न-किसी दिन इस रहस्य का उद्घाटन अवश्य होगा। मैं जो कह रहा हूँ महाराज कि विश्व-ब्रह्माण्ड में जो कुछ घटित हो रहा है वह छोटे-से-छोटे पिण्ड में भी है, यह ध्रुव सत्य है। विविध संयोगों के भीतर से निखिल ब्रह्माण्ड-बिहारी देवता जब मनुष्य को इस रहस्य का किंचित् आभास देते हैं तो उसका केवल यही अर्थ है कि तुम्हारे भीतर 'मैं' पूर्ण रूप से विराज रहा हूँ; तुम्हारी अहमिका की क्षुद्रता के आवरण के भीतर से कभी-कभी जो प्रकाश की किरण पहुँचा देता हूँ, वह केवल इसलिए कि तुम जान लो कि तुम्हारा अहंभाव जो पृथक्त्व बुद्धि उत्पन्न कर रहा है, वह गलत है। समय आयेगा महाराज, जब कलिका विकसित होगी और प्रफुल्ल पुष्प के रूप में अपना सौरभ इस जगत् में बिखेरेगी। घबराने या व्याकुल होने की बात नहीं है, महाराज ! काल-देवता धीरे-धीरे एक-एक दल को प्रस्फुटित करते जा रहे हैं; उसे वर्ण, गन्ध और रूप से नित्य नवीन सज्जा से सज्जित करते जा रहे हैं। काल-देवता यथासमय बता देंगे कि निखिल ब्रह्माण्ड के अणु-परमाणु में व्याप्त शक्ति का जो रहस्य मन और बुद्धि के रूप में घटित होता है वह पिण्डस्थ देवता की शक्ति से भिन्न नहीं है। चिरमिश खान को उस दिन पृथ्वी में जलने और विस्फोटित होने की शक्ति का जो पता चला वह कोई नयी बात नहीं थी। किन्तु मानव-पिण्ड में बुद्धि-रूप में स्थित शक्ति के साथ उसका सामंजस्य नहीं हो पाया। जिस दिन सामंजस्य हो जायेगा, उस दिन आविष्कार भी हो जायेगा। किसी भी

नयी खोज का अर्थ है अन्तःकरण में स्थित और बाह्य जगत् में व्याप्त शक्ति का सामंजस्य। जो कुछ हम जानते हैं, जो कुछ हम देखते हैं, जो कुछ हम अनुभव करते हैं वह वस्तुतः हमारे अन्तःकरण में स्फुरित होनेवाली महाशक्ति का ही रूप है। हम देवता के लिए उपासना करते हैं, जप करते हैं, तपस्या करते हैं, वह अन्तःकरण में स्थित उस शक्ति का उद्बोधन-मात्र है। क्या कहोगे महाराज, इस रहस्यमय तथ्य पर कि वह आध्यात्मिक है, आधिदैविक है या आधिभौतिक है? सीदी मौला इसका रहस्य जानता है, इसलिए वह बेबुनियाद बातों के चक्कर में नहीं पड़ता। तुम्हारा प्रश्न मूढ़ चित्त का वितर्क है।

"चिलिमश खान और उसके अनुयायियों के चित्त में भी यह मूढ़ विकल्प बना हुआ है। इसलिए जब उन्हें शक्ति प्राप्त हुई तो उन्होंने देवता का प्रसाद समझा। जब हाथ से जाती रही, तो उसे देवता का कोप समझा। उन्होंने कभी यह सोचने की जरूरत नहीं समझी कि क्यों उस मिट्टी में विस्फोटक शक्ति है और कैसे वह दूसरी मिट्टी में आ सकती है। वे भूल ही गये कि अन्तर्यामी देवता ने मनुष्य-बुद्धि को एक इंगित दिया है। वे मूढ़ हैं जो भौतिक और दैवी शक्तियों का सामंजस्य नहीं कर सकते।"

मैं सीदी मौला की बात समझने की कोशिश कर रहा था। ऐसा लगता था कि चित्त में कहीं एक चिनगारी क्षण-भर के लिए जल उठी है और फिर बुझ गयी है। चिनगारी की हल्की-सी ज्योति में केवल इतना ही मालूम पड़ा कि अन्तर्जगत् और बहिर्जगत् में कोई अटूट सम्बन्ध अवश्य है। कैसा है, कितना है, क्यों है, यह समझने के पहले ही चिनगारी बुझ गयी। मेरे अन्तर से व्याकुल आवाज उठी कि मुझे और भी प्रकाश चाहिए, और भी, और भी···।

सीदी मौला की बात की धारा खुल चुकी थी। अब वह रुकने को बिल्कुल तैयार नहीं। । उत्तेजित स्वर में उन्होंने कहा, "खुरासान के बाजार में विजय-मदमत्त मंगोल सेना प्रविष्ट हुई तो बड़ा भयंकर और डरावना दृश्य देखने को मिला। उन्मत्त सैनिक मासूम बच्चों को भालों की नोक से छेद देते थे और उसका विजय-ध्वज बनाकर किलकारियाँ मारते हुए घोड़े दौड़ाते थे। स्त्रियों पर निष्ठुरतापूर्वक भयंकर अत्याचार किये गये। न किसी की प्रतिष्ठा का ध्यान रखा गया, न किसी की अस्मत का खयाल। बाजार-के-बाजार फूँक दिये गये और लूट लिये गये। देवता के प्रसाद से प्राप्त अस्त्र ने उनकी सबसे निकृष्ट राक्षसी वृत्ति को उत्तेजित कर दिया। क्या नहीं किया इन सैनिकों ने! महाकाल देवता का क्रूर अट्टहास उन्हें सुनायी नहीं दिया। निश्चित था महाराज, कि उनमें देवता के प्रसाद को समझने का विवेक नहीं रह गया था। इसी को तमोगुण कहते हैं, जो सब ओर से विवेक-बुद्धि को आच्छादित कर लेता है। मिट्टी में जिस शक्ति का इंगित प्राप्त हुआ, वह मनुष्य के अन्तःकरण के सामंजस्य से उपलब्ध हुई थी। यह बात किसी को याद ही नहीं रही।"

इतना कहने के बाद सीदी मौला पागलों की भाँति ठहाका मारकर हँसे

ग्रौर बोले, "आगे भी होगा। जब-जब मनुष्य अपने अन्तर्यामी देवता के इंगित पर शक्ति के नवीन स्रोतों के रहस्य को ढूँढ़ निकालेगा, तब-तब तमोगुण ज़ोर मारकर उसकी विवेक-बुद्धि पर आक्रमण करेगा। एक व्यक्ति के तमोगुण के उद्रेक से उतना अनर्थ नहीं होता, जितना सहस्र व्यक्तियों के मिलित तमोगुण से होता है। संघ का तमोगुण और भी भयानक होता है। तुम क्या समझते हो कि भौतिक शक्तियों के अविष्कार से ही विध्वंसक तमोगुण की प्रतिक्रिया होती है? नहीं महाराज, जो आध्यात्मिक, आधिदैविक शक्ति प्राप्त करता है वह भी भूल जाता है कि उसके अन्तःकरण में विद्यमान देवता उसे उद्‌बुद्ध कर रहे हैं, तब तमोगुण की प्रतिक्रिया प्रकट होकर उन्हें तंग करती है। खुरासान की गलियों में रक्त, मांस और मज्जा से पिच्छिल बने हुए मार्गों से जब मैं अचिन्तनीय कष्ट का शिकार हुआ तो सीधे पूरब की ओर भागा। कैसी बीभत्स यातना थी, कैसा मर्मन्तुद दुःख था, मैं कह नहीं सकता! मेरे मस्तिष्क की नसें फट रही थीं, एक-एक दृश्य को जब याद करता हूँ तो आज भी मेरे हृदय में भयंकर कम्पन उत्पन्न होता है। मगर उस समय न हृदय में कम्पन उत्पन्न हुआ था और न आँसू ही आये थे। मैं पूरब की ओर भागा और भागता ही गया। मेरा चित्त अवसन्न था, कहीं किसी प्रकार का संवेदन नहीं रह गया था। यदि मैं कहूँ कि मैं बेहोश था तो अत्युक्ति नहीं होगी। अत्याचार से मरी माताओं के स्तनों से चिपटे शिशुओं को मैंने देखा जिन पर झपटने के लिए सियार और गिद्ध कटिबद्ध थे। अधजले वृद्धों, खण्ड-खण्ड युवकों, क्षत-विक्षत पशुओं के दुर्गन्धित शवों को रौंदता हुआ मैं उन्मत्त भाव से भागता रहा। योजनों तक जले हुए डरावने गाँवों की चुप्पी के भीतर मैं उन्मत्त पिशाच की भाँति अकेला दौड़ता रहा। पता नहीं, मैंने क्या खाया और क्या पिया। जब तक मैं लद्दाख की पहाड़ियों तक पहुँच नहीं गया और बर्फीली चोटियों से निरन्तर झरनेवाले झरनों का शीतल पानी नहीं पी सका, तब तक भागता ही रहा। सामने गिरि-शृंखला देखकर मैंने उस पर चढ़ना शुरू किया। तब भी मुझमें सोचने-विचारने की शक्ति नहीं थी। जो कुछ भी पत्ता, फल, खाने लायक दीख जाता था, खा लेता था। मुझमें इतनी भी सोचने की ताकत नहीं थी कि इनको खाकर मैं जियूँगा या मरूँगा। अग-जग में व्याप्त महाशक्ति की उस प्रकृति के आधार पर ही मैं सब-कुछ करता जा रहा था जिसमें चेतन-शक्ति सुप्त-भाव में विराजमान रहती है। क्षीण धारा होकर क्षरित होने-वाली छोटी-छोटी स्रोतस्विनियों के किनारे मनुष्य-पद-लांच्छित पगडण्डियाँ दिखायी दीं और मैं उन्हीं को पकड़े निरुद्देश्य आगे बढ़ता गया; और एक दिन उस भोट-देश में पहुँच गया जिसकी बहुत-सी बातें अपने मंगोल गुरु से सुन रखी थीं। भोट-देश में अनेक मठ हैं। उसमें अनेक प्रकार की तान्त्रिक साधनाओं के अड्डे हैं। मैं एक मठ में उपस्थित हुआ जिसमें स्त्री और पुरुष दोनों ही साधु-वेश में साधना करते थे। वहाँ कुछ दिन रहकर विचित्र साधना का सन्धान पाया। सुनोगे महाराज? सुनकर तुम समझ सकोगे कि आध्यात्मिक शक्ति का सन्धान

पाकर भी यदि मनुष्य अन्तःकरण और बाह्य जगत् का सामंजस्य नहीं खोज सका, तो भयंकर तमोगुण का शिकार हो जाता है।"

सीदी मौला कुछ आविष्ट-से दिखायी पड़े। ऐसा जान पड़ता था कि उनके अन्तःकरण में थोड़ा संघर्ष है जो भाषा के माध्यम से प्रकट होने के लिए मार्ग खोज रहा है। सिर्फ दो-तीन मुहूर्त्त वे आविष्ट रहे, और मौन हो गये। परन्तु तुरन्त ही उन्होंने अपने को सँभाल लिया। वे एकाएक सीधे होकर बैठ गये, जैसे कोई भारी बोझ उतारकर फेंक दिया हो और अपने को हल्का समझ रहे हों। बोले, "सब सुनने के तुम अधिकारी नहीं। ऊपरली सतह से देखनेवाला मनुष्य उसमें केवल भ्रष्टाचार ही देखेगा। मैंने भी आरम्भ में ऐसा ही समझा था। परन्तु मैं कुछ ऐसी बातें भी देख चुका हूँ जो सहज विश्वास के योग्य नहीं लगेंगी। इस मठ में जौ और चावल के शराब की अबाध गति थी। मठ में उसके बनाने की भी व्यवस्था थी और खपत भी वहीं होती थी। साधना प्रायः रात्रि में होती थी। मनुष्य की हड्डियों से बनी हुई वंशियाँ और पशुओं के सींग से बने हुए बड़े-बड़े शृंगीवाद्य के साथ डमरू प्रायः गड़गड़ा उठता था। शुरू-शुरू में मुझे अलग ही रखा जाता था, परन्तु बाद में मठ के प्रधान लामा-साधु की आज्ञा से मुझे उसमें स्थान मिलने लगा। जो मद्य उस साधना-भूमि में व्यवहृत होता था, उसकी दुर्गन्ध भयंकर होती थी। आरम्भ में तो मैं उस उत्कट गन्ध के कारण मूर्च्छित-सा हो जाता था। परन्तु मैं भागा कभी नहीं। इस विचित्र घटना को मैं स्वयं देखना चाहता था और समझना चाहता था। पुरुषों और स्त्रियों में इस उत्कट मधु-पान की होड़-सी लगी रहती थी। प्रातःकाल वे सूर्योदय के बाद तक संज्ञा-शून्य पाये जाते थे।

"एक दिन अमावस्या की रात का दृश्य मुझे स्मरण है। उस दिन मैंने भी मधु-पान किया था। बीच में आग जला दी गयी थी और उसके चारों ओर साधक-साधिकाओं का दल अस्थि-वंशी, शृंगीवाद्य और डमरू से सुसज्जित होकर आसन मारकर बैठा हुआ था। जप चल रहा था। अग्नि से एक विशेष प्रकार का पीला धुआँ निकल रहा था जो किसी हवनीय द्रव्य के सम्पर्क से ऐसा हो गया था। हवनीय द्रव्य में मांस और चरबी भी थी, देवदारु की लकड़ी भी थी और गुग्गुल और सिक्थक भी थे। अग्नि में आहुति केवल एक ही व्यक्ति दे रहा था, बाकी लोग जप में निमग्न थे। मैं भी जप कर रहा था और जिस प्रकार अन्यान्य साधक और साधिकाएँ आसन बाँधकर बैठे हुए थे, उसी प्रकार मैं भी बैठा हुआ था। हवन की विधि जब समाप्त हुई तो होता-साधक ने हड्डियों की वंशी उठायी और एक विचित्र स्वर से उसे बजाया। एकाएक डमरू गड़गड़ा उठे। शृंगीवाद्यों से आकाश फटने लगा और उनकी पृष्ठभूमि में पादास्थि-वंशियों की सुरीली आवाज़ व्याप्त हो गयी। सब लोग अग्नि की परिक्रमा करने लगे। उनके साथ-साथ मैं भी परिक्रमा करने लगा। थोड़ी देर तक यह परिक्रमा शान्त, संयत भाव से चलती रही। परन्तु एकाएक वह पूरी मण्डली विक्षुब्ध भ्रमर-राजि के समान विशृंखल

हो गयी और फिर एक प्रकार का उद्दाम नृत्य शुरू हुआ। मैं कुछ समझ नहीं सका; चकित भाव से इस विचित्र नृत्य-साधना को देखता रहा। कदाचित् मद्य-पान के कारण मेरी नाड़ियाँ शिथिल हो आयी थीं, और कदाचित् हवनीय द्रव्यों की उत्कट गन्ध से उनमें और भी विकार उत्पन्न हो गया था। अन्यान्य साधकों की भाँति मैं उस उत्कट नृत्य में योग नहीं दे सका। केवल श्रान्त-शिथिल भाव से अग्नि की परिक्रमा करता रहा।

"एकाएक मुझे ऐसा लगा कि वहाँ विचित्र रूप दैत्याकार भूतों और पिशाचों का आविर्भाव हुआ। उनका ताण्डव और भी भयंकर था। वे साधारण मनुष्यों से दुगुने-तिगुने विशाल थे। क्षण-भर में ऐसा जान पड़ा कि उन्होंने आग को रौंदकर बुझा दिया है और सारा साधना-स्थल घोर अन्धकार से आच्छन्न हो गया है। उन्होंने भी मद्यपान शुरू किया। देखते-देखते उनकी आकृतियाँ और भी विशाल होती गयीं। मैं चकित, भीत और कर्त्तव्य-मूढ़ बना इस भयंकर दृश्य को देखता रहा। थोड़ी देर बाद ही साधकों पर शिथिलता दिखायी देने लगी। उस घने अन्धकार में कुछ भी स्पष्ट दिखायी नहीं देता था, परन्तु कभी-कभी विकटाकार दैत्यों का अट्टहास अवश्य सुनायी दे जाता था और उनकी आँखों से एक ज्योति निकलकर साधना-स्थल को आलोकित कर देती थी। मेरे मन में घृणा और जुगुप्सा के भाव भी आने लगे थे। ऐसे समय एकाएक आरात्रिक प्रदीप जल उठा और मैंने आश्चर्य के साथ देखा कि मणि-जटित विचित्र सिंहासन पर भगवान् बुद्ध का आविर्भाव हुआ। उनके दोनों पार्श्व में दो परम सुन्दरी युवतियाँ हाथ में मद्य-पात्र लिये हुए शान्त भाव से समासीन थीं और सामने हाथ जोड़कर एक चीवरधारी भिक्षु जिज्ञासा की मुद्रा में खड़ा था। बुद्धदेव की शोभा देखने ही योग्य थी। उनके मुखमण्डल से प्रभारश्मियाँ विकीर्ण हो रही थीं। उनका दाहिना हाथ भूमि-स्पर्श-मुद्रा में था और बायें हाथ में आशीर्वाद की मुद्रा थी। मैं कुछ भी नहीं समझ सका। साधक-साधिकाओं का दल हाथ जोड़कर घुटनों के बल खड़ा हो गया। सबकी दृष्टि भगवान् बुद्ध के शान्त-मनोरम मुखमण्डल की ओर आबद्ध हो गयी। ऐसा जान पड़ा कि वे भगवान् बुद्ध से कुछ उपदेश सुनने के लिए व्याकुल हैं, परन्तु बुद्ध भगवान् उसी मुद्रा में धीरे-धीरे ऊपर उठने लगे और बहुत दूर आकाश में जाकर विलीन हो गये। उनके साथ-ही-साथ दोनों युवतियाँ और चीवर-धारी भिक्षु भी ऊपर उठे और विलीन हो गये। साधक-साधिकाओं ने साष्टांग प्रणिपात किया और मैं भी उन्हीं के समान गद्‌गद भाव से पृथ्वी पर लुण्ठित हो पड़ा। थोड़ी देर बाद सबको सम्बोधित करते हुए मुख्य होता-भिक्षु ने उठने का आदेश दिया। ऐसा जान पड़ता था कि सबके हाथ से कोई बहुत बड़ी निधि निकल गयी है। होता-भिक्षु ने भोट-भाषा में शान्ति-पाठ किया और सब अपनी-अपनी कुटियों में लौट गये। मैं भी अपनी कुटिया में आ गया। यद्यपि मेरी नसों में शिथिलता आ गयी थी, फिर भी उस रात नींद नहीं आयी। मैं सोचता रहा: 'इसका मर्म क्या है? साथ-ही-साथ भगवान् बुद्ध के दर्शन का जो सौभाग्य प्राप्त

हुआ था उसको मैं अपने जीवन की परम सफलता मानकर रोमांचित होता रहा। उष:काल में मुझे थोड़ी नींद आ गयी और स्वप्न में भी वही दृश्य देखता रहा।"

एकाएक सीदी मौला ने मेरी ओर देखा, बोले, "तुम्हें मेरी बातों पर विश्वास हो रहा है, महाराज? मैं जो कुछ कह रहा हूँ सोलह आने सत्य है, लेकिन मैं जानता हूँ कि तुम्हें विश्वास नहीं होगा। केवल मूर्ख ही ऐसी बातों पर तुरन्त विश्वास कर लेते हैं; जो समझदार होते हैं वे शंका करते हैं। तुम्हारी आँखों में मैं शंका का भाव देख रहा हूँ।"

मैंने टोककर कहा, "शंका नहीं, जिज्ञासा।"

सीदी मौला ने हँसकर कहा, "जिज्ञासा भी शंका ही है।"

फिर वे अपनी कहने लगे, "दूसरे दिन मैं मठ के प्रधान भिक्षु की सेवा में उपस्थित हुआ। वे मानो मेरी प्रतीक्षा ही कर रहे थे। बोले, 'कहो सिद्ध, कल रात को तुमने भगवान् का दर्शन किया?' मैंने हाथ जोड़कर कहा, 'किया था महाराज, लेकिन सारी बातें समझ में नहीं आयीं।' प्रधान भिक्षु ने कहा, 'समझ जाओगे। कल जिस चीवरधारी भिक्षु को भगवान् के सामने हाथ जोड़े जिज्ञासा की मुद्रा में देखा है वे वशिष्ठ थे। कुशीनगर में जब भगवान् का वैशाखी पूर्णिमा को परिनिर्वाण हुआ, तो जम्बूद्वीप के सभी भिक्षुओं ने समझा कि भगवान् ने पृथ्वी का त्याग किया। परन्तु उनकी लीला अपरम्पार है। तुषित-लोक से वे फिर इस लोक में लौट आये और यहाँ उन्होंने चीनाचार की साधना का प्रवर्त्तन किया। यहाँ बोत् धर्म का बोलबाला था। लोग तन्त्र-मन्त्र, जप के द्वारा भूत, बैताल, डाकिनी, शाकिनी आदि की साधना करते थे और बुद्ध-प्रज्ञा के आलोक से वंचित थे। भगवान् ने उनके ऊपर अनुग्रह किया और प्रज्ञा के आलोक से उन्हें सत्य-ज्ञान की ओर उन्मुख किया। भगवान् ने जम्बूद्वीप को सहस्र आलोक से आलोकित किया, किन्तु इस भूमि को सहस्रोत्तर आलोक का दान दिया। जम्बूद्वीप में उन्होंने दुःख-निवृत्ति का उपदेश दिया, किन्तु इस भोट-भूमि में आकर उन्होंने महासुख का प्रतिष्ठापन किया। जिन दिनों जम्बूद्वीप के महान् शिष्य और आराधक शोकाभिभूत थे, उन्हीं दिनों वशिष्ठ के चित्त में भगवान् ने सहस्रोत्तर आलोक से प्रेरणा उत्पन्न की और वे ज्येष्ठ की पूर्णिमा को इस भोट-भूमि में उपस्थित हुए। यहाँ भगवान् को श्री-सुन्दरी-समावृत देखकर उनके चित्त में शंका उत्पन्न हुई और उन्होंने गद्‌गद भाव से प्रश्न किया, 'प्रभो, यह रूप तो पहले नहीं दिखायी दिया था।' भगवान् ने उन्हें आश्वस्त किया और महासुख का उपदेश दिया और उनके साथ ही सहस्र-सहस्र तुषित-लोकों का भ्रमण कराया और अन्त में 'प्रज्ञापारमिता' के दिव्य मन्त्र से उन्हें आलोकित किया। 'तुम वशिष्ठ-तन्त्र' में इस महाज्ञान का सन्धान पा सकते हो।' मैंने हाथ जोड़कर प्रश्न किया कि यह श्री-सुन्दरी-साधन क्या वस्तु है? भिक्षु ने उत्तर दिया, 'धीरे-धीरे समझ जाओगे। बुद्ध-प्रज्ञा ही श्री और सुन्दरी रूप में द्विधा विभाजित है। वे बुद्ध की शक्ति हैं, परन्तु बुद्ध से भिन्न नहीं। जैसे चन्द्रमा और उसकी चन्द्रिका में अन्तर नहीं होता,

जैसे सरोवर और सरोवर-तरंग में भेद नहीं होता, उसी प्रकार बुद्ध और बुद्ध-प्रज्ञा में कोई अन्तर नहीं। परिनिर्माण के बाद भगवान् बुद्ध ने इस रहस्य को मर्त्यभूमि में प्रकट करने का निश्चय किया था। देखो सिद्ध, यह जो मनुष्य का साढ़े तीन हाथ का शरीर है वह सम्पूर्ण शक्तियों का भण्डार है। संसार में ऐसा कुछ भी नहीं जो इसमें घटित न हो रहा हो। परन्तु यह स्थूल शरीर एक आवरण-मात्र है। इसके भीतर एक भाव-शरीर है जिसमें भाव-लहरियाँ प्रत्येक क्षण उद्वेलित हो रही हैं। भाव स्थूल रूप ले सकते हैं। यह जो मनुष्य शरीर के भीतर कल्पना करने की अपार शक्ति है, अन्तःकरण में लाख-लाख वृत्तियों का जो उद्वेलन हो रहा है, वह मिथ्या नहीं। भाव-जगत् में जो कुछ अनुभूत होता है वह सब स्थूल जगत् में प्रत्यक्ष हो सकता है। भाव-जगत् में यदि तुम रोग-मुक्ति सोचो, तो स्थूल जगत् में भी रोग-मुक्ति हो सकती है, होती है। भाव-जगत् में जो मारण, मोहन और उच्चाटन की प्रक्रियाएँ चल रही हैं, वे स्थूल-जगत् में देखी जा सकती हैं। इस देश में वोत्-धर्म के अनुयायियों ने इस मर्म को पा लिया था। साधारण जनता के दुःख-विमोचन के लिए और उनके चित्त में प्रतीति-उत्पादन के लिए उन्होंने भूत, प्रेत, बैताल, डाकिनी, शाकिनी आदि की कल्पना की थी और साधारण-जन के प्रतीति-उत्पादन के लिए उन्हें स्थूल-जगत् में प्रत्यक्ष भी करा दिया था। परन्तु वे भूल ही गये थे कि सूक्ष्म का स्थूल में रूपान्तरीकरण बुद्ध-प्रज्ञा के अनन्त विलासों में से केवल कुछ ही है। बुद्ध-प्रज्ञा और भी गहराई में स्थित होकर अग-जग को चालित कर रही है। भगवान् ने और भी गहराई में जाने की प्रेरणा दी, जहाँ शब्द और अर्थ, भाव और क्रिया एक-दूसरे से इस प्रकार अनुबद्ध हैं जिनका अलग होना असम्भव है। परन्तु और भी गहराई में जाने पर यह शब्द और अर्थ, भाव और क्रिया का अनुबद्ध-भाव भी मिट जाता है। वहाँ बुद्ध और बुद्ध-प्रज्ञा एक-दूसरे से ऐसे बद्ध हैं कि उनमें कोई स्पन्द या गति ही नहीं है। यही युगनद्ध रूप वास्तविक काम्य है। उसको पा लेने के बाद मनुष्य समस्त प्रपंचों से मुक्त होकर स्वात्माराम हो उठता है। स्थूल-जगत् में स्त्री-पुरुष का आकर्षण उस शक्ति की क्षणिक आभा-मात्र दिखा देता है। उनके सहारे हम क्रमशः गहराई में प्रवेश कर सकते हैं। जिन्हें सिद्धि कहा जाता है वे केवल भाव-जगत् की उपलब्धि-मात्र हैं। उनमें पद और पदार्थ का भेद स्पष्ट रहता है। बहुत-से साधक भाव-जगत् की सिद्धि या उसका कण-मात्र पाकर विचलित हो जाते हैं; वे और गहराई में नहीं जा पाते। लेकिन जिन पर भगवान् का परम अनुग्रह होता है वे सिद्धियों की माया काट जाते हैं और क्रमशः गहराई में जाकर बुद्ध और बुद्ध-प्रज्ञा के स्पन्द-हीन, क्रियाहीन, भावहीन महासुखस्वरूप 'कहियत भिन्न न भिन्न' युगनद्ध रूप का सन्धान पा जाते हैं और अपने में ही परिपूर्ण हो जाते हैं। वे स्वयं बुद्ध-रूप हो जाते हैं। कल की साधना में जितना तुमने देखा है वह केवल भाव-जगत् की गहराई तक का सत्य है। कल तुमने बुद्ध और बुद्ध-प्रज्ञा को जिस रूप में देखा है वह क्षणिक सत्य है। इस मठ के अधिकांश साधक उस सत्य से अधिक नहीं जान सके हैं।' मैंने

बीच में टोककर पूछा, 'भगवन्, बुद्ध-प्रज्ञा द्विधा विभाजित क्यों दिखायी पड़ी ?' भिक्षु ने हँसकर उत्तर दिया, 'बुद्ध-प्रज्ञा वामा-शक्ति और दक्षिणा-शक्ति के रूप में भाव-जगत् में द्विधा विभाजित है। वे सृष्टि और प्रलय की हेतु-भूता हैं और धैर्य के साथ यदि तुम साधना करो तो एक रूप में दिखायी देंगी और धीरे-धीरे शून्य रूप में। शून्य रूप इसलिए कि वे बुद्ध से भिन्न नहीं हैं और चूँकि वे बुद्ध से भिन्न नहीं हैं इसलिए बुद्ध केवल शून्य हैं। परन्तु मैं जो भाषा प्रयोग कर रहा हूँ वह इस समय उस परम रूप की बात समझाने में असमर्थ है। जो शब्द और अर्थ के अतीत है, वह केवल अनुभवगम्य है।' मैंने हाथ जोड़कर प्रश्न किया, 'भगवन्, आपने उस अनुभवगम्य स्वरूप की उपलब्धि की है ?' भिक्षु फिर हँसे और बोले, 'क्षण-भर के लिए। जिस प्रकार तुमने भाव-जगत् में उत्पादित बुद्ध को क्षण-भर के लिए देखा है उसी प्रकार मैंने भी अनुत्पादित बुद्ध को क्षण-भर के लिए देखा है।' मुझे शंका हुई, 'उत्पादित बुद्ध क्या ?' भिक्षु ने हँसकर कहा, 'मन्त्र के जप से जो दिखायी दिया, वह शब्द और अर्थ की सीमा के अतीत नहीं है। वह उत्पादित देवता है। परन्तु तुम इसका रहस्य केवल साधना से ही समझ सकते हो। बात-में-बात निकालकर उसे और उलझाया जा सकता है, सुलझाना तो सम्भव ही नहीं।' "

क्षण-भर के लिए सीदी मौला फिर ध्यानस्थ हो गये। ऐसा जान पड़ा कि वे किसी ऐसे लोक में पहुँच गये हैं जो हमारी जानी हुई दुनिया से एकदम भिन्न है। फिर आँख खोलकर मेरी ओर देखते हुए बोले, "क्या कहोगे, महाराज ! मंगोलों और तुर्कों की उस बीभत्स जिघांसा-वृत्ति के साथ इस विचित्र साधना का कोई सामंजस्य है ? मगर सत्य यह है कि एक ही परा-शक्ति इन दो रूपों में विलसित हो रही है; और भी सैकड़ों रूप हैं।"

इतना कहकर सीदी मौला फिर चुप हो गये और एकाएक समाधि की अवस्था में आ गये। उनका सारा शरीर निस्पन्द, निवात-निष्कम्प दीपशिखा की भाँति स्थिर हो गया। मैं आश्चर्य और कुतूहल के साथ देर तक इस प्रतीक्षा में बैठा रहा कि समाधि के बाद वे कुछ और कहेंगे। एक प्रहर बीता, दो प्रहर बीते, तीन प्रहर बीते ''। वे वैसे ही शान्त-निस्पन्द पड़े रहे। कहीं कोई चांचल्य नहीं, कहीं किसी प्रकार का भाव-विकार नहीं। केवल शान्त, केवल स्थिर। मैंने समझा कि वे प्रज्ञापारमिता के साथ एकमेक हो गये हैं !

5

राजधानी पहुँचने पर पता चला कि नागनाथ—रानी का तरुण-तापस—मिल गया है; बहुत अनुनय-विनय के बाद उसने राजधानी में पदार्पण करने का अनुरोध स्वीकार कर लिया है। रानी बहुत प्रसन्न दीखीं। तीन दिन से उन्होंने अन्न-जल भी छोड़ रखा था, तापस को खिलाये बिना खा नहीं सकती थीं। मुझे रानी को प्रसन्न देखकर बड़ा हर्ष हुआ।

तरुण-तापस नागनाथ आये। प्रथम दर्शन मैंने ही किया। जीर्ण-शीर्ण शरीर, जटिल शिरोदेश और श्मश्रु-क्षुब्ध मुखमण्डल के बीच दो चमकती आँखें! यही नागनाथ थे। सारा शरीर स्थिर दीपशिखा की भाँति प्रकाश की क्षीण प्रोज्वल रेखा के समान दमक रहा था। मैंने हाथ जोड़कर प्रणाम किया। कोई उत्तर नहीं मिला। वे बुरी तरह खोये-खोये-से दीख रहे थे। प्रकाश विकीर्ण करनेवाली उनकी आँखें बत्तीस लक्षणों से सम्पन्न किसी किशोरी को खोज रही थीं, जैसे चारों ओर गहन अन्धकार व्याप्त हो और बाकी कुछ नहीं दिखायी दे रहा हो।

मैं स्वयं उन्हें रानी के पास ले गया। सदा जंगलों और पहाड़ों में रहने का अभ्यस्त तापस अन्तःपुर की श्री-समृद्धि को देखकर थोड़ा चकित होगा, ऐसा मैंने अनुमान किया था; पर नागनाथ ने ऐसा कुछ भाव नहीं दिखाया। उन्होंने वस्तुतः कुछ देखा ही नहीं। उनकी व्याकुल आँखें केवल एक ही वस्तु की तलाश कर रही थीं—बत्तीस लक्षणों से सम्पन्न किशोरी, जिसके हाथ की रेखाएँ उसे रानी से भी कुछ बड़ा बनाने का इंगित करती हैं। वे स्पष्ट ही बहुत उत्सुक के समान, व्याकुल के समान, अवहित के समान चल रहे थे, परन्तु उनके मुँह से कोई शब्द नहीं निकला। वे सीधे रानी के गृह-द्वार तक संज्ञा-शून्य की भाँति चलते ही गये। सामने रानी दीखीं। हाथ में भृंगार और भोज्य-सामग्री थी। तापस ने उन्हें देखा। ऐसा जान पड़ा कि उनकी नसों में बिजली दौड़ गयी। एक क्षण के लिए वे रुके और फिर धाराप्रवाह बोलने लगे। रह-रहकर उनके अंग-अंग में रोमांच की धारा नीचे से ऊपर तक दौड़ जाती थी। स्खलित गद्गद कण्ठ से उन्होंने कहा, "आज यह क्या देख रहा हूँ गुरो, मेरा जन्म-जन्मान्तर कृतार्थ है जो व्यष्टिरूपा त्रिपुरसुन्दरी को प्रत्यक्ष देख रहा हूँ। आज सविता देवता उदय-गिरि तटान्त में प्रसन्न भाव से उदित हुए हैं, आज दिशाएँ आनन्द-गद्गद हैं, आज वायु उल्लसित है, आज आकाश सफल-काम है। देवि, आज तुम्हारे इस दिव्य मनोहर रूप में साक्षात् भगवती अन्नपूर्णा विलसित हैं। क्या देख रहा हूँ देवि, आज मेरे ग्रह-गण प्रसन्न हैं जो पद्म-पलाश को लज्जित करनेवाली इन आँखों का प्रसाद पा रहा हूँ। अहा, शास्त्रों में जिस महिमामयी पराशक्ति का इतना बखान सुना है, वह आज किस प्रकार इन कोमल मनोरम अवयवों के संघात में प्रत्यक्ष हो रही

है ! क्या अद्भुत कारुण्य-धारा तरंगित हो रही है ! कितनी उद्बोधक आनन्द-रश्मि लीलायित हो रही है ! शास्त्र में जिस त्रिजगन्मनोज्ञा त्रिपुरसुन्दरी का ध्यान पढ़ा था, वे आज किस प्रकार प्रत्यक्ष दिखायी दे रही हैं। अन्तःकरण को अपनी सम्मोहनकारिणी दृष्टि से गलाती हुई, कारुण्य-धारा से सेचन करती हुई, सुधा-लेप से स्निग्ध बनाती हुई मधुर मनोहरा मूर्त्ति ! धन्य हूँ देवि, आज मैं कृतार्थ हूँ, आज मेरा जन्म सार्थक है, मेरी साधना फलवती है, मेरा निःशेष अस्तित्व चरितार्थ है। देवि, गंगा-तट पर प्रथम दर्शन के बाद मैं बहुत व्याकुल रहा, मेरे ग्रह-गण अप्रसन्न हो गये थे, समस्त-साधना धूमिल हो गयी थी। मैं दुःखी, वंचित, अनादृत, अवमानित होकर भटकता फिरा। आज मुझे खोयी निधि मिल गयी है। अनुगृहीत हूँ, कृतार्थ हूँ, समाप्तसिद्धि हूँ भगवति, प्रसन्न होकर मुझे प्रसाद दो !"

रानी की आँखों में आँसू उमड़ आये। उनका कण्ठ रुद्ध था, वाक्शक्ति लुप्त हो गयी थी; अंग-अंग रोमांच-कण्टकित हो रहा था। बड़े आयास से बोलीं, "तापस, अब तुम कहीं मत जाओ, यहीं रहो। लो, जो तुम्हारे लिए अन्न प्रस्तुत किया था, वह अब बासी हो गया है, परन्तु उसे जब तक तुम स्वीकार नहीं करते तब तक मेरा मन शान्ति नहीं पायेगा।"

विनीत शिशु की भाँति तापस ने आज्ञा पालन किया। उन्होंने खड़े-खड़े ही प्रसाद ग्रहण किया और बड़ी तृप्ति से उसे खाया। रानी ने भृंगार से पानी पिलाया। तापस का रोम-रोम प्रसाद पाने के उल्लास से पुलकित हो रहा था। उनकी आँखें छककर रूप-सुधा का पान कर रही थीं। वे देर तक एकटक रानी की ओर देखते रहे। अन्त में रानी ने कहा, "तापस, ये मेरे पति हैं। तुम्हारी भविष्यवाणी सत्य सिद्ध हुई। मैं रानी हो गयी हूँ।"

अबकी बार तापस ने मेरी ओर देखा; आनन्द से उनकी आँखें जो फैलीं सो फैली ही रह गयीं। केवल एक वाक्य में उन्होंने मेरा अभिनन्दन किया, "साधु महाराज, साधु, तुम चक्रवर्त्ती होगे।"

नागनाथ कुछ दिनों तक राजधानी में रहे, फिर रानी की अनुमति से बाहर चले गये। जाते समय उन्होंने मुझसे कहा, "राजन्, रानी चन्द्रलेखा को सामान्य नारी मत समझना। भगवती ने संसार का कुछ हित साधने के निमित्त उन्हें इतने लक्षणों से लांछित करके भेजा है। तुम्हारे चित्त में कभी कोई कल्मष आया तो उस हित-साधन में विघ्न पड़ेगा। त्रिपुरसुन्दरी ने तुम्हें रानी के रूप में महती सिद्धि दी है। तुम स्वस्थ चित्त से उनको सन्तोष देने का प्रयत्न करो। पुरुष-चित्त का लेश-मात्र विकार भी नारी-शक्ति को कुण्ठित कर देता है। यह दुःख और यातना का भावसागर सूख गया होता यदि पुरुष ने नारी को ठीक-ठीक पहचाना होता और अपने चित्त के कल्मष से इस महिमामयी शक्ति को कलुषावृत न किया होता। ठीक से समझ लो महाराज, पुरुष-चित्त के कल्मष की सृष्टि ही इसलिए हुई है कि वह मायाप्रपंच को क्रियाशील बनाये रखे।"

मैंने उनकी बात समझने का प्रयत्न किया; पर हाथ कुछ नहीं आया। चक्रवर्त्ती ! सारा आर्यवर्त्त विदेशियों से पदाक्रान्त है। एक-एक करके भारतीय राज्य पराक्रान्त तुर्कों से ध्वस्त और पददलित होते जा रहे हैं। निराशा और साहस-हीनता की काली छाया से सब-कुछ म्लान और धूमिल हो उठा है और नागनाथ आशीर्वाद देते हैं कि तुम चक्रवर्त्ती होगे ! यह क्या सम्भव है ? तुर्कों में कहाँ से अपराजेय शक्ति आ गयी है ? सीदी मौला कह रहे थे कि मंगोलों ने तुर्कों को उन्हीं के घर में बुरी तरह बरबाद किया और वे हारे हुए तुर्क सारे आर्यावर्त्त को ध्वस्त करने में समर्थ हुए हैं। सीदी मौला ने मंगोलों के बारे में जो कुछ कहा था उससे तो वे महाबर्बर ही जान पड़ते हैं। एकता और विश्वास उनमें अवश्य है। वे शत्रु के सामने दुर्भेद्य चट्टान की भाँति कठोर हैं। नर-रक्त से पिच्छिल मार्गों पर चलना उनका विलास है, शत्रु-देश को छार-छार कर देना उनका व्यसन है। घोड़े की पीठ पर सोना ही उनका विश्राम है। उन्हें मनुष्य की महिमा का ज्ञान भी नहीं है। त्रिपुरसुन्दरी के त्रिजगन्मनोज्ञ रूप की उन्हें कल्पना भी नहीं है; परन्तु वे तुर्कों की विशाल सैन्य-शक्ति को रुद्ध-वीर्य भुजंग के समान वश में करने में समर्थ हुए थे। कहीं कोई प्रचण्ड शक्ति प्रच्छन्न रूप से उनके भीतर एकता और अनुशासन का वज्रलेप तैयार कर रही है। वह क्या है, कैसी है ? क्या आर्यावर्त्त को वह शक्ति नहीं मिल सकती ? मेरी आँखों के सामने देश छिन्न-विच्छिन्न हो रहा है। एक-एक करके अभिमानी राजवंश काल-कवलित होते जा रहे हैं। मंगोलों की मार खाकर भागे हुए तुर्क उन्हें सहजभोज्य ग्रास के रूप में खाते चले जा रहे हैं। क्या मंगोलों की सहायता से इन शत्रुओं को नष्ट नहीं किया जा सकता ? ऐ मेरे चित्त, उठो, जलो, अपनी ही ज्वाला से भस्म हो जाओ ! परन्तु ऐसा हो कि इसकी क्षीण ज्योति मुझे मार्ग दिखा सके। कहते हैं, बड़ी सिद्धि के लिए बड़ा त्याग चाहिए; जो जितना दे सकता है, उतना ही पा सकता है। क्या है, जिसे देकर मैं अपने देश के खोये गौरव को प्राप्त कर सकता हूँ ? विक्रमादित्य के समान अपार सत्व और साहस मुझे मिल जाता तो मैं देश को अपनी राष्ट्रीय महिमा तक ले जाने में समर्थ होता। पर क्या वह मिलेगा ? कैसे मिलेगा ? कहाँ मिलेगा ?

कुछ दिन आनन्दपूर्वक बीते। रानी इस बीच अपने को राजकुलोचित गरिमा के योग्य बनाने का प्रयास करती रहीं। उनकी ग्राहिका-शक्ति देखकर मैं चकित हो जाता। अक्षरारम्भ से उन्होंने शुरू किया; पर शीघ्रता से पढ़ने और मनन करने की शक्ति प्राप्त होने लगी। रानी की बुद्धि कुशाग्र थी। वे अनायास शास्त्रीय विचारों को अपना सकती थीं। उनकी इस ग्राहिका-शक्ति ने मुझे और भी उनके निकट ला दिया। मैं अधिकतर उनके पास रहने लगा।

एक दिन मैं अन्तःपुर में ही था कि विद्याधर भट्ट का सन्देश लेकर कंचुकी उपस्थित हुआ। उन्होंने अत्यन्त संक्षेप में लिखा था कि तत्काल अन्तःपुर में ही रानी के समक्ष उपस्थित होने का प्रसाद प्रदान करें। विद्याधर भट्ट मेरे लिए

और मेरे सारे पुरजन-परिजन के लिए पिता के समान पूज्य और गुरु के समान आदेष्टा थे। उनका अन्तःपुर में आना कभी भी वर्जित नहीं था। परन्तु एकाएक अन्तःपुर में आने की प्रार्थना, वह भी रानी के सामने, कुछ विचित्र-सी लगी। मेरे चित्त में पहली प्रतिक्रिया यही हुई कि निस्सन्देह कोई अत्यन्त विषम संकट आ पहुँचा है। नहीं तो वे प्रतीक्षा कर सकते थे, मुझे बाहर मिल सकते थे, या मुझे बुला भी सकते थे। मैं ठीक से नहीं समझ सका कि कौन-सा संकट उपस्थित हो सकता है। कंचुकी को मैंने तुरन्त उन्हें ले आने का आदेश दिया।

रानी ने जब सुना तो उनको भी आश्चर्य हुआ, परन्तु उनके सहज प्रफुल्ल मुखमण्डल पर किसी प्रकार के आतंक या आशंका की रेखा नहीं उभरी। उन्होंने सहज स्मित के साथ पूछा कि यदि आज्ञा दें तो मैं विद्याधर भट्ट से पूछूं कि क्या वे ही विद्याधर भट्ट हैं जिन्होंने शिशु-अवस्था में मेरी रेखाओं की परीक्षा की थी।

मैंने शंकित चित्त से उत्तर दिया, "देवि, जो चाहो पूछ सकती हो, लेकिन इस समय तो मेरे मन में बड़ी दुश्चिन्ताएँ हैं और विद्याधर भट्ट भी इस समय दूसरी चिन्ताओं में उलझे होंगे; अवसर देखकर जो चाहो पूछ लो।"

रानी के चेहरे पर नर्म-चटुल मुद्रा खेल गयी। आँखों में एक अद्भुत चपलता भरकर उन्होंने कहा, "शंकित हो रहे हो, महाराज। चन्द्रलेखा का सेवक होने का गौरव प्राप्त करके भी शंकित हो रहे हो ? सभी आशंकाजनक परिस्थितियों में मैं तुम्हारी अजेय शक्ति होकर तुम्हारे पार्श्व में बनी रहूँगी। तुम्हें चिन्तित और शंकित होने की क्या बात है ? सिद्ध तापस नागनाथ ने तुम्हें चक्रवर्ती होने का आशीर्वाद दिया। तुम्हारे कातर होने का अर्थ है लाख-लाख निरीह प्रजाओं का सत्यानाश। अकुतोभय बनो महाराज, चन्द्रलेखा तुम्हारे साथ है।"

रानी के इन वाक्यों ने सचमुच ही मेरे भीतर विचित्र शक्ति संचारित की। मैंने अनुभव किया कि मैं अपराजेय हूँ और सम्पूर्ण आर्यावर्त्त का चक्रवर्ती हूँ। परन्तु दूसरे क्षण मेरे मन में फिर यह प्रश्न उठा कि चक्रवर्ती होना क्या कोई बात-की-बात है। सम्पूर्ण आर्यावर्त्त मेरी आँखों के सामने ध्वस्त हो रहा है। यहाँ के मन्दिर और मठ, वृद्ध और बालक, ब्राह्मण और श्रमण—अनाथ, पंगु और भय-त्रस्त हैं। किसी के जीवन का कोई मूल्य नहीं है; भरोसा नहीं है। एक-एक करके क्षत्रिय राज्य विदेशियों के प्रचण्ड प्रहार से जर्जर और भू-लुण्ठित होते जा रहे हैं। सारा उत्तरापथ व्याकुल है। मन्दिर ध्वस्त हो रहे हैं, शस्यक्षेत्र भस्मीभूत हो रहे हैं, राजप्रासाद शृगालों की ध्वनि के रूप में कातर चीत्कार कर रहे हैं। शिल्प और कला सिसक रही है, विद्वान् और शिल्पी शरण-प्रार्थना के लिए मारे-मारे फिर रहे हैं। कवि और शास्त्रज्ञ भिक्षुक-प्राय हो रहे हैं। जिधर देखो उधर आतंक और भीति का साम्राज्य है। इसी पृष्ठभूमि में तरुणतापस नागनाथ ने आशीर्वाद दिया है, तुम चक्रवर्ती होगे। सरल जनपदवधू की भाँति रानी ने विश्वास किया है कि मैं चक्रवर्ती हूँ और मेरे चिन्तित होने से लाख-लाख प्रजाएँ और भी

त्रस्त और व्याकुल हो जायेंगी। परन्तु रानी ने बड़े ही विश्वास और सरलता के साथ मेरे भीतर शक्ति संचारित की है। चक्रवर्ती होऊँ या न होऊँ, चन्द्रलेखा-जैसी रानी को पाकर मैं साम्राज्य से भी बड़ी वस्तु अवश्य पा गया हूँ।

रानी के मुखमण्डल पर तब भी सहज स्मित और उल्लास की दीप्ति विद्यमान थी। वे मेरे मन के भीतर जो चल रहा है उसे समझने का प्रयत्न कर रही थीं। इसी समय कंचुकी के साथ विद्याधर भट्ट उपस्थित हुए। हम दोनों ने उन्हें प्रणाम निवेदन किया और उन्होंने दोनों हाथ उठाकर स्नेह-भरी मुद्रा में आशीर्वाद दिया।

आसन-ग्रहण के बाद विद्याधर भट्ट ने पहले रानी की ओर ही देखा। बड़े स्नेह से रानी के सिर पर हाथ फेरते हुए कहा, "बेटी, मैं तुमसे ही कुछ कहने आया हूँ।"

रानी ने सहज भाव से कहा, "अवहित हूँ, क्या आज्ञा है?"

विद्याधर भट्ट ने गला साफ किया। ऐसा जान पड़ा कि अन्तस्तल में जो गम्भीर सन्देश-वाक्य हैं उनके निकलने के लिए मार्ग की सफ़ाई कर रहे हैं। फिर थोड़ा रुककर बोले, "बेटी, राज्य की सीमा से बड़े विकट समाचार प्राप्त हो रहे हैं। इस समय मुझे तुम्हारी ही आवश्यकता है।" थोड़ी देर मौन रहने के बाद उन्होंने उस संक्षिप्त सन्देश का भाष्य किया, "बेटी, तुम्हें नहीं मालूम। लेकिन मैं तुम्हें पहचानता हूँ। तुम साक्षात् पार्वती का रूप हो। तुम्हें रानी-रूप में वरण करने के कारण आज अवन्तिका के क्षीण-दुर्बल राज्य का अधिपति परम शक्तिमय हो गया है। तुम्हारी शिराओं में प्रतापी चन्देलों का दुर्धर्ष रक्त प्रवाहित हो रहा है। मेरी आँखें धोखा नहीं दे सकतीं। पहले ही दिन महाप्रतापी चन्देल-नरेश परमर्दिदेव, जिन्हें लोक में परमाल कहा जाता है, की दौहित्री को पहचानने में मुझे क्षण-भर का भी विलम्ब नहीं हुआ। बेटी, तुम्हारा जन्म ही संसार को मुक्ति देने के लिए हुआ है। क्षीण-बल अवन्तिका-नरेश आज धन्य हैं जो उन्हें परमर्दिदेव की दौहित्री का पाणिग्रहण करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है। बेटी, बड़े भयंकर शत्रुओं से पाला पड़ा है। मैं भविष्य की चिन्ता से व्याकुल हो गया हूँ। एक बार सर्वलक्षण-सम्पन्ना-सुन्दरी को राजराजेश्वर दलपंगुर महाराज जयित्रचन्द्र की पटरानी बनने की भविष्यवाणी कर चुका हूँ और प्रत्यक्ष देख भी चुका हूँ; वह भविष्यवाणी बड़ी भयंकर सिद्ध हुई। सम्पूर्ण उत्तरापथ जो आज क्षत्रियशून्य हो गया है, हतवीर्य, पराजित राजपुत्रों की त्यक्त और अभिशप्त भूमि दिखायी दे रहा है, उसके मूल में मेरी भविष्यवाणी का फल था।"

मेरी ओर फिरकर उन्होंने कहा, "बेटा, समय बिल्कुल नहीं है। युद्ध की दुन्दुभी बज गयी है। महाराज जयित्रचन्द्र ने जो गलती की थी उसे तुम्हें नहीं दोहराना है। महाराज जयित्रचन्द्र ने सूहवदेवी की क्षुद्र अहमिकाओं को मान देकर सारे देश को धोखा दिया। उन्होंने उसकी अहमिकाओं को उकसावा देकर अपने को हीन-बल और क्षीण-वीर्य बना दिया। राजा युद्ध-क्षेत्र में लड़ रहे थे

ग्रौर रानी ग्रन्तःपुर से चुपचाप मुहम्मद गोरी को निमन्त्रण दे रही थीं। मुझे बड़ा दुःख हो रहा है बेटा, कि साम्राज्य की ग्रतुल शक्ति पाकर भी वह ग्रपनी क्षुद्रताग्रों के भार से बुरी तरह दब गयी थी। उसके भीतर जो तेजोदृप्त, महिमा-मयी नारी थी, वह सुप्त ही बनी रही। क्षुद्र स्वार्थों ने उसके विराट् रूप को पूरी तरह से दबोच दिया। तुम भाग्यवान हो बेटा, तुम्हारे साथ परमर्दिदेव का तेज जुड़ गया है। तुम ग्रसाध्य-साधन कर सकते हो, तुम ग्रार्यावर्त्त को विनाश से बचा सकते हो। इस खण्डित ग्रार्य-भूमि में तुम्हीं चक्रवर्त्ती हो। मैं छन्दानुरोध नहीं कर रहा हूँ, सत्य कह रहा हूँ। चक्रवर्त्ती वह है जो कोटि-कोटि व्याकुल ग्रौर त्रस्त जनता का रक्षक बनने का उत्तरदायित्व लेता है। भारतवर्ष में यही परम्परा रही है। चक्रवर्त्ती राज्य की सीमाग्रों में बँधा नहीं रहता। वह राज्य-सुख का भोक्ता नहीं, दीन, दरिद्र ग्रौर दलित का रक्षक या गोप्ता होता है। विक्रमादित्य साहसांक ग्रौर सातवाहन इसीलिए चक्रवर्त्ती थे कि उनके चित्त में निःशेष जगत् को दुःख ग्रौर दारिद्र्य से मुक्त करने की स्वतःप्रेरणा होती थी। राज्य का ग्रधीश्वर होना चक्रवर्त्तित्व नहीं है। धर्म-निर्विशेष मानव-मात्र की कल्याण-कामना से जो व्यक्ति शस्त्र ग्रहण करता है उसकी भुजाएँ वज्र-कपाट की भाँति ग्रातंक ग्रौर ग्रत्याचार का ग्रवरोध करती हैं। मेरी ग्राँखों के सामने क्षुद्र राज्य-लिप्सा के कारण बड़े-बड़े राजराजेश्वर ध्वस्त, ग्रवमानित ग्रौर पद-दलित हो गये। सबके मन में राज्यविस्तार करने, कीर्त्ति प्राप्त करने ग्रौर सुख भोगने की क्षुद्र लालसा पिशाचिनी की भाँति विद्यमान थी। पिछले पचास वर्षों के भीतर राज-पुत्रों की बड़ी-बड़ी शक्तियाँ बहुत तुच्छ बातों के लिए नष्ट हो गयीं। बची-खुची भी नष्ट होने को उद्यत हैं। दीर्घ ग्रनुभव के बाद मैं इस रहस्य को जान सका हूँ कि ग्रादमी संकल्प से बड़ा होता है ग्रौर संकल्प से ही छोटा हो जाता है। चाहमाण-नरेश पृथ्वीराज ग्रौर गाहड़वार-नरेश जयित्रचन्द्र के सत्यानाश की कहानी सुनो ग्रौर उस पर विचार करो तो बहुत ही हास्यास्पद जान पड़ेगा। बेटा, बड़ा संकल्प करो। संसार में जहाँ कहीं भी दरिद्रता है, रोग है, शोक है, ग्रभाव है, उसके उन्मूलन के लिए कटिबद्ध हो जाग्रो। मेरी यह पार्वती-कल्पा वधू निस्सन्देह इस महान् संकल्प में तुममें ग्रतुलित बल का संचार करेगी।"

विद्याधर भट्ट फिर कुछ सोचने लगे। उनकी दीप्त-वाग्धारा में मैं मानो स्नान-सा कर रहा था। हृदय के भीतर उत्साह का ग्रंकुर तेजी से पल्लवित-पुष्पित हो रहा था। रह-रहकर केवल एक ही बात मन में प्रत्यक्ष हो उठती थी, मुझे महान् संकल्प करना है, निःशेष जगत् को भय ग्रौर ग्राशंका के वातावरण से मुक्त करना है। रानी चन्द्रलेखा इस महान् संकल्प की उत्तर-साधिका के रूप में मुझे शक्ति देंगी। परन्तु बार-बार ग्रार्य विद्याधर ने रानी को परमर्दिदेव की दौहित्री कहा, यह बात एक विचित्र पहेली की तरह मुझे चकित, व्याकुल बना रही थी।

ग्रवसर देखकर मैंने कहा, "ग्रार्य, ग्रापकी ग्राज्ञा शिरोधार्य है। ग्रापके चरणों की शपथ लेकर मैं प्रतिज्ञा करता हूँ कि मनुष्य-जाति के कल्याण के लिए शस्त्र

ग्रहण करूँगा; किसी भी क्षुद्र स्वार्थ या सुख-लिप्सा को इस पवित्र संकल्प में कलुष-लेप करने का अवसर नहीं दूँगा। परन्तु आर्य, रानी चन्द्रलेखा तो सामान्य किसान की बालिका हैं, इन्हें आपने परमर्दिदेव की दौहित्री कैसे समझा ? आर्य, यदि यह सत्य है कि रानी की शिराओं में परमर्दिदेव का महातेजस्वी रक्त प्रवाहित हो रहा है तो मुझे पूर्ण विश्वास है कि मैं सम्पूर्ण आर्यावर्त्त का निःसन्दिग्ध चक्रवर्ती हो गया हूँ। आशीर्वाद दें आर्य, कि विक्रमादित्य, साहसांक और सातवाहन का पराक्रम मुझे प्राप्त हो सके और मैं संसार के दुःख-दैन्य छिन्न-भिन्न कर सकूँ। यदि सचमुच परमर्दिदेव का रक्त मेरे अन्तःपुर की शोभा बढ़ा रहा है तो मुझसे भाग्यवान आर्यावर्त्त में कोई नहीं। यदि अनुचित न हो और अवसरोपयोगी हो तो मैं इस रहस्य के जानने का प्रसाद पाना चाहूँगा। इस संवाद-मात्र से मेरा साहस सौगुना बढ़ गया है, मेरा संकल्प वज्र की भाँति दृढ़ हो गया है। मैं अपने-आपको कृतकृत्य पा रहा हूँ।"

एक ही साथ विद्याधर भट्ट की दृष्टि मेरी और रानी की ओर घूमी। रानी के चेहरे पर आश्चर्य, कुतूहल और एक विचित्र करुणा का भाव परिलक्षित हो रहा था। रह-रहकर उनका उद्दीप्त मुखमण्डल सिहर उठता था और ऐसा जान पड़ता था कि अन्तःस्थित आवेगों और संवेगों के आघात से उनकी शरीर-यष्टि हिल रही है। वे बोलीं कुछ नहीं, केवल जिज्ञासा-भरी दृष्टि से विद्याधर भट्ट की ओर एकटक देखती रहीं।

विद्याधर भट्ट ने ज़रा गला साफ़ करके कहा, "महाराज, यह कहानी सारे संसार में प्रचलित है कि महाराज जयित्रचन्द्र ने परमर्दिदेव की राजधानी दीर्घकाल तक घेर रखी थी। इस विग्रह का कारण क्या था, यह किसी को मालूम नहीं। लोग केवल इतना ही जानते हैं कि परमर्दिदेव के मन्त्री ने मुझे एक श्लोक सुनाया और मैं उस श्लोक पर रीझकर महाराजा जयित्रचन्द्र को शय्या-समेत रातों-रात कई योजन तक हटा ले गया। और अन्त में महाराज जयित्रचन्द्र की आज्ञा से युद्ध बन्द हुआ और घेरा समाप्त हुआ।[4] परन्तु यह वास्तविक कहानी नहीं है। यह मेरी ही फैलायी हुई अधूरी कहानी है, जिसे मैंने जान-बूझकर गलत ढंग से प्रचारित होने दिया था। कितने ही तुच्छ कारणों से आज के क्षत्रिय राजा भयंकर मार-काट और नर-संहार कर बैठते हैं, यह आपको विदित होगा। मिथ्या कुलाभिमान और झूठे आदर्शों के प्रति एकान्त निष्ठा के कारण आर्यावर्त्त आज शक्तिहीन और दुर्बल हो गया है। भाटों और चारणों के मुँह से निराधार बातें सुनकर और केवल इतना जानकर कि अमुक राजा ने मेरी कुलीनता पर सन्देह प्रकट किया है, बड़ी-बड़ी लड़ाइयाँ छिड़ जाती हैं। शक्तिशाली राज्य आपसी कलह के शिकार होकर छिन्न-भिन्न हो रहे हैं। परन्तु महाराज जयित्रचन्द्र के आक्रमण के मूल में कुलाभिमान से भी बढ़कर कोई वस्तु थी जिसे दुनिया नहीं जानती। सुनोगे महाराज ? इस कहानी से तुम्हारा सम्बन्ध है।"

मैंने विनीत भाव से कहा, "आर्य, जितना सुनने का अधिकारी हूँ, उतना

सुनने को प्रस्तुत हूँ।"

विद्याधर भट्ट ने कहा, "आपको ज्ञात होगा महाराज, कि विदेशियों ने कई बार महाराज पृथ्वीराज को ध्वस्त करने का प्रयत्न किया। किन्तु शाकम्भरी और दिल्ली के महाप्रतापी नरेश पृथ्वीराज वज्र-कपाट की तरह उनका प्रतिरोध करते रहे। पारस्परिक कलह के कारण महाराज जयित्रचन्द्र इस वज्र-कपाट का मतलब नहीं समझ पाये। मैंने उनसे कई बार अनुरोध किया कि देव, काशी और कान्यकुब्ज के विशाल साम्राज्य का अस्तित्व तभी तक है जब तक दिल्ली का वज्र कपाट स्थिर और अविचल है। मद-गर्वित महाराज जयित्रचन्द्र को यह सीधी-सी बात समझ में नहीं आयी। वे अपने पितामह गोविन्दचन्द्र के उस सूत्र को जीवन-भर रटते रहे कि उत्तरापथ के विशाल मैदान का अधिपति वही हो सकता है जो घोड़ों के खुरों से उसे मुद्रित कर सकता है।[5] उन्हें अपनी विशाल अश्ववाहिनी पर गर्व भी था, जो नितान्त अनुचित नहीं कहा जा सकता। वे अपने को अश्वपतियों का सिरमौर समझते थे और ठीक ही समझते थे। परन्तु वे यह भूल गये कि उनकी विशाल अश्ववाहिनी तभी तक सहायक हो सकती थी जब तक दिल्ली का वज्र-कपाट दृढ़ और स्थिर बना रहे। वे पृथ्वीराज से बैर मानते थे और मन-ही-मन पृथ्वीराज की विपत्तियों की बात सुनकर प्रसन्न होते थे। मुझे इससे बड़ा ही क्लेश होता था। मैंने कई बार कहा कि वास्तविक परिस्थिति को ठीक-ठीक समझें। मेरी सबसे बड़ी कमजोरी यह थी कि उनकी रानी सुहवदेवी को पूर्ण विश्वास की दृष्टि से नहीं देखता था। मुझे पूर्ण आशंका थी कि रानी इस विषय में बाधक सिद्ध होंगी। जितना मैंने राजा को समझाने का प्रयत्न किया उसका आधा भी रानी को समझाने का प्रयत्न करता तो वह भयंकर विपत्ति आती ही नहीं जो आज दीख रही है। रानी पर राजा के सभी परामर्शदाताओं का अविश्वास था। केवल मैं ही उसका हितू समझा जाता था। किन्तु मेरे मन में भी अनास्था उत्पन्न होती जा रही थी। मैं शंकित और व्याकुल था।

"एक दिन महाराजा जयित्रचन्द्र प्रसन्न थे। अवसर देखकर उनसे इस बात की अनुमति माँग ली कि प्रच्छन्न वेश में कुछ विश्वस्त अनुचरों के साथ महाराज जयित्रचन्द्र स्वयं दिल्ली और अजमेर की यात्रा करेंगे और विदेशियों के रण-कौशल और प्रकृति का प्रत्यक्ष परिचय प्राप्त करेंगे। मुझे इस बात से बड़ी प्रसन्नता हुई और मैंने बड़ी निपुण योजना बनायी। राजधानी में यह बात बिल्कुल ही गुप्त रखी गयी। महाराज के साथ कुल दस विश्वस्त अनुचर चले। मैं भी उनमें सम्मिलित था। ग्यारह आदमियों की यह टोली बहुत ही साधारण वेश में सीमा की ओर अग्रसर हुई। कुछ अनुचर आगे चले जाते थे और सुरक्षित यात्रा की खबर पहुँचाते रहते थे। कुछ थोड़े-से अनुचर सुसज्जित घोड़ों के साथ हमारी टोली से थोड़ा आगे-पीछे रहकर चला करते थे। हम लोग पूरी सावधानी से इस बात का प्रयत्न करते थे कि कोई जान न सके कि घोड़ा ले आनेवाले हमारे ही साथी हैं। हमने यमुना पार करके नदी के दक्षिणी किनारे से चलने का निश्चय

किया।

"तीन दिन की यात्रा के बाद हमारे अग्रगामी अनुचरों ने सूचना दी कि पृथ्वीराज की कोई बहुत बड़ी सेना महोबे पर आक्रमण करने के लिए प्रस्थान कर चुकी है। मुझे इस संवाद से बड़ा दुःख हुआ। जिस समय दिल्ली और शाकम्भरी क्षेत्र बाहरी आक्रमण से पूर्ण संकटग्रस्त हैं उसी समय पृथ्वीराज को महोबे पर चढ़ाई करने की क्या सूझी है! मैंने विचार किया तो ऐसा लगा कि इस समय हमारी यात्रा स्थगित होनी चाहिए। दो बातें थीं, एक तो यह कि पृथ्वीराज की मदगर्वित सेना कान्यकुब्ज की ओर भी बढ़ सकती है; दूसरी यह कि इस विकट स्थिति का लाभ उठाकर विदेशी सेना दिल्ली को ध्वस्त करके हमारी सीमा में भी प्रवेश कर सकती है। इस विषम परिस्थिति में महाराज जयित्रचन्द्र का राजधानी में नहीं रहना अनिष्ट का कारण हो सकता है। मुझे अपनी योजना रद्द करनी पड़ी और यमुना के दक्षिण का मार्ग छोड़ना पड़ा। विचार यही था कि हम लोग राजधानी लौट चलेंगे। एक विश्वस्त अनुचर को राजधानी में सावधान करने के लिए भेज दिया गया और हम लोग यमुना पार करके अपनी राज्य की सीमा से ही धीरे-धीरे पूर्व की ओर बढ़ने लगे।

"हम लोग कान्यकुब्ज की सीमा में कुछ दूर ही बढ़े होंगे कि एक भयंकर कोलाहल सुनायी पड़ा। महाराज जयित्रचन्द्र वीर पुरुष थे। क्षण-भर रुककर उन्होंने सावधानी से कोलाहल को समझने का प्रयत्न किया। स्पष्ट ही स्त्रियों की बहुत ही करुण-कातर ध्वनि सुनायी दे रही थी। एक क्षण में उनका हाथ तलवार की मूठ पर चला गया। उन्होंने इंगित से घोड़ा मँगवाया और तुरन्त जिधर से कोलाहल आ रहा था उधर बढ़ चले। दुर्भाग्यवश उस समय हमारे पास घोड़ों की संख्या कुल पाँच ही थी। कुछ विश्वस्त अनुचरों को निकटस्थ राजकर्मचारियों को सूचना देने के लिए भेज दिया गया और महाराज के साथ चार अश्वारोही सन्नद्ध होकर चल पड़े। मैं भी उनमें से एक था। हमने महाराज को चारों ओर से घेर लिया। उनके घोड़े को बीच में करके उधर बढ़े जिधर से आवाज़ आ रही थी।

"कोलाहल के निकट पहुँचने पर हमने आश्चर्य से देखा कि कुछ स्त्रियाँ पालकी में कहीं जा रही थीं, जिन पर कुछ अपरिचित वेशधारी विदेशी सैनिकों ने आक्रमण कर दिया था। स्त्रियों के कुछ थोड़े-से रक्षक उनसे जूझ रहे थे और स्त्रियाँ कातर चीत्कार कर रही थीं। महाराज जयित्रचन्द्र ने अप्रत्याशित रूप से बिजली की तरह आक्रामक रूप धारण कर लिया। यद्यपि उनकी संख्या अधिक थी, तथापि महाराज के अद्भुत साहस और अप्रत्याशित आक्रमण से वे बुरी तरह डर गये। आक्रामकों में भगदड़ मच गयी। वे बहुत तेजी से भागे और हम लोगों ने दूर तक उनका पीछा किया। परन्तु यह समझकर कि स्त्रियाँ अब भी अरक्षित पड़ी हुई हैं, महाराज ने लौट आने का आदेश दिया।

"लौटकर जो दृश्य देखा वह अत्यन्त भयावह था। पालकियों के रक्षक

अधिकांश मर चुके थे। उनके शव खण्डित होकर जहाँ-तहाँ पड़े थे। दो-तीन स्त्रियाँ पालकी से बाहर निकल आयी थीं और वीर क्षत्राणी की तरह तलवार खींचकर पालकी का पहरा दे रही थीं। आक्रामकों से युद्ध करने के आवेश में हम लोग इतने अनवहित हो गये थे कि स्त्रियों की ओर देखा ही नहीं। हमारा एकमात्र लक्ष्य आक्रामकों को भगाना था। आक्रामक भाग चुके थे; उनकी संख्या अधिक थी, फिर सन्नद्ध होकर उनके लौट आने की आशंका बनी थी।

"हम लोगों को देखकर स्त्रियों का साहस बढ़ गया था, किन्तु संकट की आशंका उनके मन में भी थी। हम कुल पाँच थे। स्वयं महाराज, मैं और तीन विश्वस्त अनुचर। आते ही मैंने अपना कर्त्तव्य निश्चय कर लिया। दो अनुचरों को महाराज का मुद्रांकित पत्र देकर स्थानीय अधिकारियों के पास आक्रामकों को जीवित पकड़ने का आदेश भिजवा दिया। स्त्रियों के पास केवल तीन ही रह गये। स्वयं महाराजाधिराज जयित्रचन्द्र, उनका सर्वमुद्राधिकारी मैं और एक विश्वस्त अनुचर। उस स्थान से किसी ऐसे स्थान पर हट जाना आवश्यक था जहाँ सुरक्षित रहकर अकेले भी युद्ध किया जा सके। हम निश्चित जानते थे कि राजकीय सेना के उस स्थान पर पहुँच जाने में अधिक देर नहीं होगी। लेकिन इस बीच कोई और अनर्थ न हो जाये इसकी आशंका बनी थी।

"मैंने महाराज को किसी सुरक्षित स्थान में चलने की जब मन्त्रणा दी, तो उन्होंने सहज अकुतोभय भाव से उत्तर दिया, 'भट्ट, जयित्रचन्द्र की तलवार पर विश्वास रखो।' निस्सन्देह उनके अपार शौर्य और पराक्रम पर मेरी पूर्ण आस्था थी। किन्तु मैं इस आस्था के कारण उन्हें विपत्ति में झोंकने को तैयार नहीं था। मैंने अनुचर को आज्ञा दी कि आसपास कोई सुरक्षित स्थान देखकर तुरन्त लौट आये और स्वयं अकेला ही महाराज की रक्षा में तत्पर हो गया।

"महाराज ने आश्वस्त होने के बाद महिलाओं से पूछा, 'आप लोग कौन हैं? कहाँ से आ रही हैं और कहाँ जायेंगी?'

"एक प्रौढ़ महिला ने, जो देर तक हम लोगों की गुपचुप बात सुनने और समझने का प्रयत्न कर रही थी, हाथ जोड़कर कहा कि 'हम अपना परिचय देने के पूर्व यह जानना चाहती हैं कि हमारे अकारण हितू आप कौन हैं?' उसने स्पष्ट ही कहा कि 'यद्यपि आप लोगों के साधारण वेश हैं तथापि आपके मुख-मण्डल से जो सहज तेज उद्गीर्ण हो रहा है वह मुझे निश्चित रूप से बताता है कि आप लोग साधारण पुरुष नहीं हैं। प्राणों का भय छोड़कर इस प्रकार अनाथों की रक्षा का साहस, भयंकर शत्रु-मण्डली में इस प्रकार अकुतोभय-भाव से घुस पड़ने की क्षमता और ऐसा तेजोदृप्त मुख-मण्डल निस्सन्देह आप लोगों को असाधारण पुरुष सिद्ध कर रहे हैं। हम आपका ही प्रथम परिचय पाना चाहती हैं।'

"महाराज जयित्रचन्द्र ने मेरी ओर देखा। मैंने उस प्रौढ़ा महिला को उत्तर दिया, 'देवि, आपका अनुमान सत्य है। हम लोग काशी-कान्यकुब्ज के विशाल राज्य से सम्बद्ध हैं और महाराज जयित्रचन्द्र के विश्वस्त हैं। हमारा इतना

परिचय आपके लिए पर्याप्त होगा। हम लोग आप लोगों का परिचय पाना चाहते हैं, जिससे आप लोगों को आपके घर सुरक्षित पहुँचा सकें।'

"महिला ने उत्तर दिया, 'आर्य, आपने समय पर उपस्थित होकर हम दुःखिनी नारियों की जो सहायता की है, वह महाराज जयित्रचन्द्र के विश्वस्त के अनुरूप ही है। इस पालकी के भीतर बहुत ही महीयसी राजबाला जा रही हैं। विधि-विधान से हमारे ऊपर यह संकट आ गया। हम इस राजबाला के अमंगल दूर करने के निमित्त काशी की यात्रा कर रही हैं, लेकिन अमंगल पग-पग पर हमारा बाधक सिद्ध हो रहा है। इस पालकी में महाराजा परमर्दिदेव की औरस कन्या विराजमान हैं। यह भाग्य की अद्‌भुत विडम्बना कही जानी चाहिए कि हम लोग चोर की भाँति छिपकर अपनी राज्य-सीमा से बाहर आयी हैं। अब हम लोग काशी-कान्यकुब्ज राज्य में आ गयी हैं और आपको महाराज जयित्रचन्द्र का विश्वस्त अनुचर समझकर सूचित कर रही हैं। हम क्यों चन्देल राज्य से बाहर आयीं यह गुप्त रखने की अनुमति मिले। जिन वीरों ने हमारी रक्षा के लिए प्राणों की बाजी लगा दी उनसे कुछ भी छिपाना पाप है, किन्तु इतनी-सी बात सम्प्रति हम गुप्त रखना चाहती हैं। यदि आप लोगों की कृपा से हम महाराज जयित्रचन्द्र के सम्मुख उपस्थित हो सकें तो शेष कहानी उन्हें ही सुनाने की इच्छा है।'

"इतना कहकर प्रौढ़ा ने एक बार अपने मृत अनुचरों की ओर करुण दृष्टि से देखा। उनकी आँखों में आँसू छलक गये। फिर एक बार हमारी ओर देखकर उन्होंने कहा, 'आर्य, हम लोग दुर्भाग्य का प्रभंजन बाँधकर चली हैं। इन अनुचरों ने हमारे लिए क्या नहीं किया और अन्तिम समय में हम लोगों की रक्षा के लिए अपनी बलि दे दी। हम अमंगल मिटाने के लिए काशी जा रही हैं, किन्तु काशी पहुँचने के पूर्व ही अमंगल ने हमें ध्वस्त कर दिया। हाय, आज कौन परमर्दिदेव की कन्या को पैदल चलते देखने का साहस करेगा! इतनी बड़ी समृद्धि और शालीनता के बीच पली हुई राजबाला असहाय होकर, मूर्च्छित होकर, निश्चेष्ट अपनी पालकी में पड़ी हैं। हम कैसे उन्हें ले जायें, कहाँ ले जायें? हे भगवान्!'

"महाराज जयित्रचन्द्र की आँखों में आँसू आ गये। मैं तो फूट-फूटकर रोने लगा। उन्होंने प्रौढ़ा महिला को सम्बोधित करते हुए कहा, 'कुछ चिन्ता न करो देवि, और ऐसा मान लो कि हमने तुम्हें जयित्रचन्द्र के सामने ही पहुँचा दिया है। हमें यही आश्चर्य है कि राज्य-सीमा के भीतर विदेशी शत्रु किस प्रकार घुस आये। परन्तु यदि घुस ही गये हैं तो निश्चित मानो कि उसका उचित दण्ड उन्हें मिलेगा। देवि, हमें इस बात का बड़ा दुःख है कि प्रबल प्रतापी महाराज परमर्दिदेव की औरस कन्या महामहिम राजकुमारी काशी कान्यकुब्जेश्वर की विशाल अश्ववाहिनी सेना द्वारा सुरक्षित भूमि में आकर भी संकटग्रस्त हो गयीं। परन्तु विश्वास मानो, गाहड़वारों की प्रबल भुजाएँ रक्षा करने का उपाय जानती हैं। यदि प्रयोजन हुआ तो साम्राज्य की समूची शक्ति राजकुमारी की रक्षा के लिए

अपने-आपको बलि चढ़ा सकती है। कुछ चिन्ता मत करो देवि, जिन्होंने सिंह की सटा को स्पर्श करने का साहस किया है, उन्हें उचित दण्ड मिलेगा। परन्तु इस समय कुछ थोड़ी देर के लिए हमें इस स्थान को छोड़कर किसी सुरक्षित स्थान पर जाना है। आर्ये, विषम संकट उपस्थित है। इस समय राजकुमारी को शिविका सहित ले चलना सम्भव नहीं है। आसपास से शिविका-वाहकों को बुलाने में विलम्ब हो सकता है, इसलिए हमारी ओर से राजकुमारी से अनुरोध करो कि इस विषम संकट में हमारी इतनी प्रार्थना स्वीकार कर लें कि वे इस घोड़े पर बैठकर सुरक्षित स्थान पर चलें। फिर एक बार तुम्हें विश्वास दिलाता हूँ कि राजकुमारी कुछ भी अन्यथा न समझें। हम उनका उचित सम्मान करना जानते हैं, लेकिन कभी-कभी चाहते हुए भी मनुष्य उचित कर्त्तव्य पालन नहीं कर सकता। विलम्ब न करो देवि, भागे हुए शत्रु फिर सन्नद्ध होकर लौट सकते हैं।'

"प्रौढ़ा महिला ने एक बार ध्यान से महाराज जयित्रचन्द्र को नीचे से ऊपर तक देखा। उनकी आँखों से कृतज्ञता के आँसू झरने लगे। वे चुपचाप राजकुमारी की ओर चली गयीं। थोड़ी देर में उन्होंने इंगित से मुझे अलग बुलाया और बहुत ही विनीत भाव से पूछा, 'आर्य, अपराध मार्जित हो तो मैं यह जानने का प्रसाद पाना चाहती हूँ कि जिस महानुभाव व्यक्ति से हमारी बातचीत हो रही थी, वे महाराज जयित्रचन्द्र ही तो नहीं हैं? ऐसा पूछने का कारण यह है कि राजकुमारी बता रही हैं कि महाराज जयित्रचन्द्र का जो चित्र उन्होंने देखा है उससे यह आकृति मिलती-जुलती है।'

"एक क्षण के लिए मैं चकित रह गया। मैंने उत्तर दिया, 'आकृति मिलना असम्भव नहीं है आर्ये, मैं आपको इतना ही बता सकता हूँ कि इन महानुभाव की प्रत्येक बात को उतने ही गौरव के साथ स्वीकार करो जितना महाराज जयित्रचन्द्र की बातों को स्वीकार किया जा सकता है।'

"प्रौढ़ा ने मन्द स्मित के साथ कहा, 'अर्थात् वे ही हैं' और चुपचाप पालकी की ओर चली गयी।

"मैंने महाराज को प्रौढ़ा का पूछा गया प्रश्न ज्यों-का-त्यों सुना दिया। महाराज ने मन्द स्मित के साथ कहा, 'अर्थात् मैं पहचान लिया गया।'

"इसी समय दो दासियों ने राजकुमारी को शिविका से निकालकर महाराज के सामने उपस्थित किया। प्रौढ़ा ने अत्यन्त प्रसन्न कातर भाव से कहा, "महाप्रतापी परमर्दिदेव की हृदय-नन्दिनी राजकुमारी चन्द्रप्रभा कान्यकुब्जेश्वर महाराज जयित्रचन्द्र को अपना विनीत नमस्कार निवेदन करती है।'

"क्षण-भर में हमारे सामने एक परम सुन्दरी किशोरी शिविका से बाहर निकली, जैसे उदयगिरि तटान्त से जलद-पटल को भेदकर चन्द्र-मण्डल उदित हुआ हो। उनका सारा शरीर वस्त्रों से आपाद-मस्तक ढँका हुआ था। जैसे हल्के महीन जलद-जाल के भीतर से चन्द्रमा की प्रभा निकलती रहती है और अन्धकार को दूर करती है, उसी प्रकार उस किशोरी के चारों ओर वस्त्रों के आवरण को

भेदकर भी प्रभा-मण्डल फैल गया था। एक क्षण के लिए राजकुमारी चन्द्रप्रभा ने करुण-कातर नेत्रों से देखकर फिर सिर झुका लिया। केवल कमल-नाल के समान दो कोमल हाथों के ऊपर जलज-सम्पुट की तरह उनके दोनों हाथ वस्त्रों से बाहर निकले और उन्होंने महाराजाधिराज जयित्रचन्द्र को मौन नमस्कार निवेदन किया।

"महाराजा जयित्रचन्द्र शोभा और लावण्य की इस मूर्त्तिमती प्रतिमा को देखकर बिल्कुल स्तब्ध हो गये। उनकी सम्पूर्ण चेतना अन्तस्तल में विलीन हो गयी और वे काष्ठ-प्रतिमा की भाँति ज्यों-के-त्यों खड़े रह गये। मैं स्वयं आश्चर्य और जिज्ञासा से प्रायः हतचेष्ट हो चुका था। सामने क्या देख रहा हूँ, अपूर्व रूप और शोभा की खान राजकुमारी चन्द्रप्रभा खड़ी हैं, जैसे चन्द्रकिरणों की जाली से ही इस अपूर्व सुन्दरी का निर्माण किया गया हो! महाराज को उस अवस्था में देखकर मुझे उन्हें कर्त्तव्य-ज्ञान करा देने की आवश्यकता अनुभव हुई। मैंने महाराज का कन्धा हिलाकर उन्हें सावधान किया और अनावश्यक बल देते हुए लगभग चिल्लाकर कहा, 'राजकुमारी नमस्कार निवेदन कर रही हैं।'

"महाराज की संज्ञा लौट आयी। उनका सारा मुख-मण्डल कदम्ब-कुसुम की भाँति रोमांच-कण्टकित हो गया। मेरी बात सुनकर उन्हें अवस्था का ज्ञान हुआ और उन्होंने भी हाथ जोड़कर मूक की भाँति, स्तब्ध की भाँति, नेय की भाँति अपना नमस्कार राजकुमारी को निवेदन किया।"

विद्याधर भट्ट कुछ देर के लिए मौन रहकर ध्यानमग्न हो गये। स्पष्ट ही जान पड़ा कि वर्षों के व्यवधान को भेदकर वे उसी क्षण में पहुँच गये हैं और प्रत्यक्ष रूप से राजकुमारी चन्द्रप्रभा को देख रहे हैं। थोड़ी देर बाद उन्होंने रानी की ओर देखा और ईषत् स्मित के साथ उनके सिर पर हाथ फेरते हुए बोले, "बेटी, तुझे देखता हूँ तो ऐसा जान पड़ता है कि प्रथम दर्शन में राजकुमारी चन्द्रप्रभा को जैसा देखा था वही मूर्त्ति प्रत्यक्ष देख रहा हूँ। दीपशिखा से ही दीपशिखा प्रज्वलित होती है। रूप में, प्रभा में, दीप्ति में एकदम समान! राजकुमारी चन्द्रप्रभा बहुत दिनों तक जीवित नहीं रहीं। तुम्हारे जन्म के बाद वे इस लोक का परित्याग करके चली गयीं। परन्तु उनकी प्रत्यक्ष तेजोमयी मूर्त्ति आज भी मेरी आँखों के सामने है। बेटी जयित्रचन्द्र के साथ जो परमर्दिदेव का विग्रह हुआ, उसके मूल में राजकुमारी चन्द्रप्रभा के प्रति महाराज जयत्रिचन्द्र का अगाध प्रेम और अनुराग था। चन्देलों के व्यर्थ कुलाभिमान ने न केवल उस प्रेम को पल्लवित-पुष्पित होने में बाधा दी, बल्कि अपूर्व शील और शोभा की मूर्त्तिमती प्रतिमा, पातिव्रत्य और निर्मल प्रेम-निष्ठा की साक्षात् विग्रह-रूपा कुमारी चन्द्रप्रभा का जीवन ही समाप्त कर दिया। न जाने कैसा दुर्घट भविष्य इस देश के लिए विधाता ने तैयार कर रखा है! दो राजकुलों के दरार को पाटने के लिए जो वज्र-लेप विधाता की ओर से हमें अनायास प्राप्त हो गया था, वह भी विधि-विधान से हमारे लिए सत्यानाश का हेतु ही बन गया। अन्त में, मुझे सन्तोष है बेटी, वह

वज्र-लेप निःशेष नहीं हो गया। चन्द्रलेखा के रूप में वह आज भी जीवित है और सौभाग्यवश दो नहीं, तीन राजकुलों के एकीकरण में निमित्त बन रहा है। दुर्भाग्य से आज परमर्दिदेव का बल टूट गया है, केवल उनका नाम शेष है। महाराज जयित्रचन्द्र की वाहिनी भी छिन्न-विच्छिन्न हो गयी है और लोककथाओं में विकृत रूप में प्रचारित हो रही है। परन्तु इतिहास का सत्य सर्वकाल का सत्य होता है। जो नष्ट हो गया है वह केवल भौतिक सत्ता है। भाव-जगत् में आज भी गाहड़-वारों का दुर्दण्ड बल ज्यों-का-त्यों विद्यमान है और प्रतापी परमर्दिदेव की शूरता और स्वाभिमान इस देश की दलित और निष्पिष्ट जनता के मन में प्रेरणा के रूप में विद्यमान है। कहीं कुछ बिगड़ा नहीं है। भाव-जगत् के इन छिन्न सूत्रों को लेकर हमें आज भी इस देश को दीनता, परमुखापेक्षिता, दरिद्रता और असहाय जर्जरता से मुक्त करना है।

"परमर्दिदेव और जयित्रचन्द्र के सम्मिलित प्रताप की मूर्ति-मती प्रतिमा चन्द्र-लेखा मैं तुम्हें इस देश के उद्दीप्त इतिहास की प्रेरणा मानता हूँ। देवि, उठो, इस हतश्री देश को प्रेरणा दो। तुम व्यर्थ कुलाभिमान काश रीरधारी प्रतिवाद हो। तुम राजपुत्रों की आदर्श प्रेम-निष्ठा का मधुर फल हो और इतिहास-विधाता का जो कुछ भी विधान है उसकी ओर इंगित करनेवाली अप्रतिम तर्जनी हो। बेटी, क्या होनेवाला है, कोई नहीं जानता। परन्तु क्या करना है, यह बिल्कुल स्पष्ट है। बिजली की तरह कड़को, सुधा-धारा की भाँति बरसो और असहाय प्रजा में साहस और शक्ति का संचार करो। इस अन्तिम वयस में यदि विद्याधर भट्ट यह देख सका कि इस देश की निरीह प्रजा उद्बुद्ध हो गयी है, उसमें आत्म-बल का संचार हो गया है, वह परास्त होकर भी हत-दर्प नहीं हुई है, वह पीड़ित होकर भी आत्म-बल से हीन नहीं हुई है तो वह निश्चिन्त मर सकेगा। अस्सी वर्ष तक जीवन के अनेकविध अनुभवों के भीतर से केवल एक ही बात समझ सका हूँ—शस्त्र-बल से हारना हारना नहीं है, आत्म-बल से हारना ही वास्तविक पराजय है। बेटी, सारा-का-सारा देश विदेशियों से आक्रान्त हो जाये, मुझे रंचमात्र भी चिन्ता नहीं होगी, यदि प्रजा में आत्मविश्वास बना रहे, अपने गौरवमय इतिहास की प्रेरणा जाग्रत रहे।"

आवेश में रानी उठकर खड़ी हो गयीं। उनके सारे शरीर में अनुभाव की अद्भुत प्रेरणा-तरंगें विलसित होने लगीं। उन्होंने हाथ जोड़कर विद्याधर भट्ट को प्रणाम किया और कहा, "आर्य, ऐसा ही होगा। इस देश में मिथ्या वंश-अभिमानों को चूर्ण करने के लिए चन्द्रलेखा वज्र के हथौड़े का काम करेगी और हत-दर्प, हीन-वीर्य पराजित प्रजा के चित्त में इतिहास की मंगलमयी प्रेरणा देने के लिए वह अमृत की तरह झरेगी। आर्य, आश्वस्त हों। जब तक विषमता का संकट दूर नहीं होता, एक-दूसरे को नीचा दिखाने के लिए आयोजित घिनौने युद्धों का अवसान नहीं होता, पशु-बल की तुलना में आत्म-बल की उच्चता प्रकट नहीं होती, तब तक चन्द्रलेखा को शान्ति नहीं मिलेगी। वह मर भी नहीं सकेगी।"

विद्याधर भट्ट ने स्थिर नेत्रों से रानी की ओर देखा। उन नेत्रों से आलोक की उद्दीप्त शिखा निकलती-सी जान पड़ती थी। रानी के सिर पर हाथ रखकर उन्होंने आशीर्वाद दिया, "बेटी, इस काम के लिए बड़ी घोर तपस्या की आवश्यकता है। इतिहास-विधाता जिसे अपना कठोर कृपाण देते हैं उसमें उसे ग्रहण करने की शक्ति है या नहीं, इसकी कठिन परीक्षा लेते हैं। अविचलित रहो, महान् संकल्प ही बड़ी वस्तु है।"

फिर वे मेरी तरफ मुड़कर बोले, "सौभाग्यशाली हो बेटा! तुम्हें गाहड़वारों और चन्देलों का सम्मिलित तेज अनायास प्राप्त हो गया है। परम तेजस्विनी विद्युत् की भाँति चन्द्रलेखा तुम्हें प्राप्त हो गयी है। उसे अपने अंक में लेकर तुम प्रभंजन की भाँति बहो और मेघ की भाँति बरसो। उठो, विलम्ब करने से अनर्थ हो सकता है।"

मैं भी उठकर खड़ा हो गया और जहाँ रानी खड़ी थीं उसी स्थान पर उन्हीं के साथ हाथ जोड़कर विद्याधर भट्ट के सामने स्थिर, शान्त, अविचल स्थित हुआ। विद्याधर भट्ट ने बारी-बारी से मेरे और रानी के मस्तक का स्पर्श किया। हमने भी झुककर प्रणाम किया। उनकी आँखों से आँसू की धारा बहने लगी। वे निवात-निष्कम्प दीपशिखा की भाँति कुछ काल के लिए स्थिर हो गये। फिर स्वयं खड़े होकर हम दोनों के मस्तक का स्पर्श किया और बोले, "महान् संकल्प ही महान् फल का जनक होता है।"

6

विद्याधर भट्ट के चले जाने के बाद मैंने रानी की ओर देखा। वे अपने में ही खोयी-खोयी जान पड़ती थीं। कदाचित् वे अपनी जननी चन्द्रप्रभा की बात सोच रही थीं, कदाचित् चन्देलों और गाहड़वारों के अद्भुत पराक्रम और विचित्र शौर्य की बातें सोच रही थीं, कदाचित् आर्यावर्त्त की कोटि-कोटि हीन-दरिद्र प्रजा के दुःख विमोचन का स्वप्न देख रही थीं, कदाचित् प्रतापी जयित्रचन्द्र के अपार धैर्य और साहस का ध्यान कर रही थीं, कदाचित् अपने गाँव के जीवन की घटनाएँ स्मरण कर रही थीं। मैं ठीक नहीं कह सकता कि वे क्या सोच रही थीं, लेकिन इतना निश्चित था कि विविध प्रकार के आवेगों और संवेगों के आघात-प्रत्याघात से स्थिर, निश्चल, केसर-प्रतिमा की भाँति निश्चेष्ट हो गयी थीं। उनके मुख-मण्डल पर कातरता की रेखा नहीं थी, किसी प्रकार की दुश्चिन्ता भी नहीं थी; केवल

ऐसा जान पड़ता था कि समस्त प्राण-पुंज अन्तर्निरुद्ध हो गये हैं और कहीं किसी प्रकार की कोई बाह्य चेष्टा परिलक्षित नहीं हो रही है। रह-रहकर उनकी अंग-यष्टि से और कपोल-पालि से रोमांच की ऊर्ध्वगामिनी लहरें ललाट से भी ऊपर जाकर उनके घन-कुंचित मसृण केशों को स्पन्दित कर देती थीं। परन्तु कोई और बाहरी चेष्टा उनमें नहीं दिखायी पड़ रही थी। रोमांच की लहरें बता रही थीं कि वे विचित्र आवेग-तरंगों में स्नान कर रही हैं। वे आविष्ट-सी, समाधिस्थ-सी, अन्तर्लीन-सी, निवात-निष्कम्प दीपशिखा-सी दिखायी दे रही थीं। कह नहीं सकता कि शास्त्रों में जिसे मनोन्मनी अवस्था कहा जाता है, जहाँ समस्त प्राण-वायु अन्तर्विलीन होकर चित्त को अचंचल बना दिया करता है, कुछ उसी प्रकार की अवस्था है या नहीं। परन्तु इसमें कोई सन्देह नहीं कि रानी साधारण मनुष्यों की विचारमग्न अवस्था से कुछ भिन्न अवस्था को प्राप्त हो गयी थीं। इस समय उनकी शोभा और शालीनता सौ गुनी बढ़ गयी थी, जैसे पार्वती ने ही समाधि लगायी हो, विद्युत्-शिखा ने ही चांचल्य छोड़कर आसन बाँध लिया हो, चन्द्रमा की मरीचिमाला ने ही ध्यान-साधना आरम्भ की हो। कालिदास ने कहा है कि 'कौन ऐसी वस्तु है जो मधुर आकृतियों का मण्डन न हो जाये। शैवाल-जाल से अनुविद्ध होकर भी कमल-पुष्प अभिराम दीखता है, चन्द्रमा का मलिन कलंक भी शोभा और सौन्दर्य विकीर्ण करता रहता है। वल्कल-परिधान में शकुन्तला अधिक मनोज्ञ हो उठी थी।' परन्तु उन्होंने क्या कभी यह भी सोचा था कि मधुर आकृतियाँ प्रत्येक अवस्था में रमणीय होती हैं!

रानी इस समाधि की अवस्था में अधिकतर मनोज्ञ दीख रही थीं। ऐसा जान पड़ता था कि मेरी दृष्टि में जितनी दूर तक भी सौन्दर्य-कल्पना की उड़ान हो सकती थी उसी ने पार्थिव विग्रह धारण किया था। वह कल्पना और भी गतिशील हो उठी है। कैसा आश्चर्य है कि अपने-आपमें शान्त और स्थिर रहकर भी रानी का वह मनोज्ञ-शोभन रूप मेरे मन को अधिकतर चंचल और गतिशील बना रहा था। क्यों ऐसा होता है?

मैंने सुना है कि संसार में जो प्रपंच दिखायी दे रहा है, उसके मूल में एक स्थिर और एक चंचल, दो तत्त्वों का प्रस्पन्द-विस्पन्द लीलायित हो रहा है। मैं जो इस समय अनुभव कर रहा हूँ वह क्या इसी तत्त्व का प्रत्यक्ष रूप है। रानी के समाधिस्थ भाव से मेरे चित्त में इतना चांचल्य क्यों उत्पन्न हो रहा है? ऐसा जान पड़ता था, जैसे कोई चुम्बन स्वयं निश्चेष्ट होकर भी लौह-राशि को गति-शील बनाकर वेगपूर्वक अपनी ओर खींच रहा हो। ठीक उसी प्रकार रानी का शोभन रूप मेरी समस्त वृत्तियों को आलोड़ित और आकृष्ट होने की स्थिति उत्पन्न कर रहा था। बाहर से दुर्दान्त शत्रुओं के आक्रमण की खबर आयी है और भीतर सारी सत्ता द्रवित होकर रानी की ओर ढरक जाना चाहती है। यह क्या विरोध है? आपात दृष्टि से तो यह विषम विरोध ही प्रतीत होता है। मुझे तत्काल बाहर जाना चाहिए और अपनी सारी शक्ति प्रजा-वर्ग में संचरित करके

प्रतिरोध की भावना उत्पन्न करनी चाहिए और मैं अपनी सम्पूर्ण सत्ता को रानी में विलीन कर रहा हूँ ! यह विरोध नहीं तो क्या है ?

मैंने अनेक राजाओं के बारे में यह कहानी सुन रखी है कि बाहर जब शत्रुओं का आक्रमण हो रहा होता था तो वे अन्तःपुर में अपने-आपको सौन्दर्यपाश में बाँध लेते थे। कहानियों में इस विरोध का भीषण दुष्परिणाम भी बताया गया है। नीतिपरक सूक्तियों का साहित्य भी इस भावना का विरोधी है, परन्तु सत्य यही है कि मैं उस भावना का शिकार हो गया हूँ। विद्याधर भट्ट ने कदाचित् इसी भावना को दूर करने के उद्देश्य से मुझे नहीं, रानी को सम्बोधित करके उद्बोधक वाक्य कहे हैं। उनके नपे-तुले शब्द अब भी कानों में गूँज रहे हैं। परन्तु मैं स्तब्ध की भाँति, जड़ की भाँति, नेय की भाँति चुपचाप रानी की सौन्दर्य-सुधा का पान कर रहा हूँ।

क्षण-भर में मुझे अवस्था का ज्ञान हुआ और मैंने रानी के कोमल करतलों को हाथ में लेकर दबाया। थोड़ी देर में रानी की संज्ञा लौट आयी। उनके चेहरे पर सहज स्मित का भाव खेल गया। अब उन्होंने मेरी ओर देखा। उस दृष्टि में प्रेम का पारावार उमड़ रहा था। सहज मनोरम वाणी में उन्होंने कहा, "क्या सोच रहे हो, महाराज ?"

'क्या सोच रहा हूँ ? कैसे बताऊँ, देवि, कि मैं क्या सोच रहा हूँ। विचित्र विरोधी भावनाओं का शिकार बना हुआ हूँ। विवेक बारम्बार बाहर जाने को प्रोत्साहित कर रहा है और आसक्ति उससे भी अधिक वेग से रानी की ओर खींच रही है।'

रानी ने ही फिर कहा, "विद्याधर भट्ट की कथा से तुम्हारे चित्त में मेरे प्रति क्या अधिक आदर-भाव आ गया है ? क्या तुम समझ रहे हो, चन्द्रलेखा परमर्दिदेव और जयित्रचन्द्र के प्रतापशाली रक्त की प्रतिनिधि होने से कुछ अधिक गौरव की अधिकारिणी हो गयी है ? यदि ऐसा सोचते हो तो ठीक नहीं सोच रहे हो। चन्द्रलेखा तुम्हारी जैसी रानी दो घड़ी पूर्व थी, वैसी ही अब भी है। विद्याधर भट्ट की वाणी का जो अर्थ समझा है वह यह है कि आर्यावर्त्त के विनाश का हेतु व्यर्थ का कुलाभिमान है, परन्तु थोड़ी देर सोचो महाराज, इस कुलाभिमान ने क्या मेरे और तुम्हारे चित्त को चंचल नहीं बना दिया ? क्या हम दोनों में सचमुच परिवर्त्तन नहीं हुआ ? मैं भी वही हूँ और तुम भी वही हो। परन्तु दो घटी के वार्त्तालाप ने हम दोनों के चैतन्य को बुरी तरह झकझोर दिया है। मेरे चित्त में क्षण-भर के लिए कुलाभिमान ने सचमुच ही आवेगों की अगणित तरंगें उत्पन्न कर दी थीं। मैं अनुभव करने लगी थी कि मैं साधारण से कुछ बड़ी हूँ और कदाचित् तुम भी अनुभव करने लगे थे कि मैं साधारण से कुछ बड़ी हो गयी हूँ। अपने-आपके बारे में रंचमात्र का ज्ञान कितना परिवर्त्तन ला देने में समर्थ हुआ है ! मैं सोच रही हूँ कि अपने बारे में यदि इससे भी बड़ा संवाद मिले तो हमारी क्या दशा होगी ? आत्मज्ञान की यह मामूली-सी चिनगारी बहुत-कुछ को आलोकित करने में समर्थ हुई है। यदि उसका पूरा प्रकाश मिल जाये तो क्या होगा, मैं यही सोच

रही हूँ।"

मुझे झटका लगा। जिस बात ने मेरे चित्त में ग्रासक्ति की ग्राँधी बहा दी है, उसी बात ने रानी के चित्त में विवेक का प्रदीप उद्दीप्त कर दिया है। कितना ग्रन्तर है! मैंने विनीत भाव से कहा, "देवि, विद्याधर भट्ट की बातों से मैंने तुमको जितनी महिमामयी समझा था, ग्रब कहीं उससे बड़ी समझने लगा हूँ। मेरे चित्त में सचमुच ही मोह उत्पन्न हो गया था; ग्रौर यद्यपि तुम्हारे वाक्यों से कुछ बड़ी बात सोचने की प्रवृत्ति उत्पन्न हुई, तथापि ग्रब भी मैं उस मोह को काट नहीं सका हूँ। मैं ग्रनुभव कर रहा हूँ कि तुम्हारी इस मृण्मयी मोहनकाया के भीतर ततोधिक सुन्दर चिन्मय तत्त्व है। परन्तु ग्रपराध मार्जित हो देवि, वह मेरी पहुँच की सीमा के बाहर है। मैं प्रबल प्रतापी परमर्दिदेव ग्रौर महापराक्रमी जयित्रचन्द्र के रक्त की महिमा भूल नहीं सकता हूँ। मैं जानता हूँ कि हमारे भीतर का चिन्मय तत्त्व समस्त मृण्मय तत्त्वों से बड़ा है। वह परमर्दिदेव ग्रौर जयित्रचन्द्र से ग्रनन्त गुण-बलशाली है, परमपुरुष का ग्रौरस ही नहीं, स्वयं मूर्त्तिरूप है। परन्तु ये सब मेरी पढ़ी-सुनी बातें हैं। जो बात मैं ग्रपने रक्त के कण-कण में ग्रनुभव कर रहा हूँ, वह यह है कि परमर्दिदेव ग्रौर जयित्रचन्द्र के रक्तमांस का साक्षात् सजीव रूप चन्द्रलेखा को पा सका हूँ। चन्द्रलेखा शोभा ग्रौर शालीनता की मूर्त्ति, शील ग्रौर कौलीन्य की प्रतिमा, मेरे समस्त मनोविकारों का सर्वोत्तम निखरा हुग्रा ठोस रूप है।

"देवि, मैं ग्राज धन्य हूँ, ग्रपने को कृतार्थ ग्रनुभव कर रहा हूँ। मेरी शिराग्रों में उत्साह की स्रोतस्विनी बह रही है; मैं उल्लसित हूँ, उद्दीप्त हूँ, सफल-काम हूँ। मैं तुम्हारे भीतर के चिन्मय तत्त्व को ग्रादर ग्रौर श्रद्धा की दृष्टि से देखता हूँ ग्रौर तुम्हारे मृण्मय तत्त्व को बिल्कुल ग्रपना समझ रहा हूँ। क्षमा करो देवि, मेरे लिए तुम्हारा यह रूप ग्रौर लावण्य ही सर्वस्व है। उसको पाकर ही ग्रपने को चरितार्थ ग्रनुभव कर रहा हूँ। इसके भीतर जो तेजोमय चिन्मय तत्त्व है उसे पा जाऊँ तो शक्तिशाली हो जाऊँगा, महान् बन सकूँगा। लेकिन उसके प्रति मेरा कोई लोभ नहीं है। वह मेरे लिए ग्रनायास-लब्ध प्रयोजनातीत सम्पत्ति है। देवि, मेरा ग्रन्तः-करण द्रवित होकर तुम्हारी इस रूप-धारा में ढरक जाना चाहता है।"

रानी ने मन्द स्मित के साथ कहा, "मेरे ग्रन्तर्यामी ही जानते हैं कि तुम कितनी सत्य बात कह रहे हो! मैं तो केवल तुम्हारे चित्त के भीतर जो कुलगौरव-जन्य ग्रादर-भाव है, उसी को क्षीण करना चाहती हूँ। कौन कहता है, महाराज, कि तुम्हें जो तृप्ति मिली है वह ग्रसत्य है, धोखा है? ग्रसत्य वह तृप्ति नहीं है, परन्तु इस तृप्ति को ग्रधिक निखारने का दावा करनेवाला कुलाभिमान का भ्रम ग्रसत्य हो सकता है। भूल गये महाराज! पिंजड़ा भी तुम्हारा, चिड़िया भी तुम्हारी!"

मैंने ग्रावेश में रानी के कोमल करतलों को चूम लिया ग्रौर बोला, "मैं पिंजड़े का भी, चिड़िया का भी।" ग्रौर रानी को कठिन ग्रालिंगन-पाश में बाँध

लिया। कुछ देर तक ऐसा जान पड़ा कि मेरी सम्पूर्ण सत्ता रानी में विलीन हो गयी है और रानी की सम्पूर्ण सत्ता मुझमें विलीन हो गयी है। एक अद्भुत सत्ता, जिसका नाम नहीं है, कदाचित् शून्यरूपा है, निरालम्ब स्वभाव है, भावाभाव विनिर्मुक्तावस्था है। देर तक मैं रानी की ओर ताकता रहा और रानी मेरी ओर देखती रहीं। एक अद्भुत आविष्ट-सी अवस्था में हम दोनों स्नान करते रहे।

इसी समय अन्तःपुर के बहिर्द्वार पर दमामा बज उठा। बन्दी जन उल्लास-पूर्वक जय-निनाद करने लगे और चारण-कवि वीरता-व्यंजक और युद्धोन्माद उत्पन्न करनेवाले छन्द पढ़ने लगे। एकाएक कोलाहल शान्त हुआ। नगाड़े पर जोर की चोट पड़ी और मेघ-गर्जन के समान गुरु-गम्भीर स्वर में जगन्नायक भट्ट की वाणी सुनायी पड़ी :

"बज्जै बर कोहं, लग्गै लोहं, छक्कै छोहं तजि मोहं ।।
सूरातन सोहं स्वामिन दोहं, मत्ते दोहं रिन डोहं ।।
बर-बार बिछुट्टै बगतर फुट्टै, पार न षुट्टै धर तुट्टै ।।
तरवारिन तुट्टै धम्मर लुट्टै, अंग अहुट्टै गहि झुट्टै ।।
बीरा-रस-रज्जं सूर सगज्जं सिंधुअ बज्जं मन सज्जं ।।
जम दढ्ढ सुसज्जै हथ्थह मज्जै छिंछन छज्जै रिन रज्जं ।।"

कविता समाप्त होते ही जय-निनाद हुआ। मैं रानी के आलिंगन-पाश को छोड़कर खड़ा हो गया; बोला, "देवि, रणदुन्दुभी बज गयी है, अनुमति चाहता हूँ और शक्ति माँगता हूँ।"

रानी उठकर खड़ी हो गयीं; बोलीं, "ठहरो महाराज, मुझे थोड़ा समझ लेने दो। यह कौन गा रहा है ?"

मैंने कहा, "देवि, प्रतापी महाराजा परमर्दिदेव के राजकवि जगन्नायक भी आजकल मेरे ही यहाँ आ गये हैं। वे वृद्ध हो गये हैं और कालिंजर-दुर्ग के पतन के बाद निराश भी हो गये हैं। उन्होंने परमर्दिदेव के प्रतापी वीर आल्हा-ऊदल की यशोगाथा लिखी थी। उस काव्य में मुर्दों में भी प्राण ढालने की शक्ति थी। परन्तु कालिंजर दुर्ग के पतन के बाद उन्हें कविता से ही वितृष्णा हो गयी। उन्हें ऐसा मालूम हुआ कि उनकी साधना फलवती नहीं हुई। वे भटकते हुए यहाँ आ गये थे; मुझसे बड़े निराश स्वर में कहा था, 'मेरी कविता बन्ध्या सिद्ध हो चुकी है। अब मैं किसी राजवंश की सेवा के योग्य नहीं रह गया हूँ; मैंने कविता करना ही छोड़ दिया है।' परन्तु मैंने उन्हें आश्वासन दिया और वे यहीं रहने लगे। आवश्यकता पड़ने पर दूसरे कवियों की कविता का पाठ करते हैं—स्वयं नहीं लिखते। अभी उन्होंने जो पाठ किया है वह उनकी अपनी रचना नहीं है। जान पड़ता है विद्याधर भट्ट के अनुरोध पर उन्होंने काव्य-पाठ करना स्वीकार कर लिया है। परन्तु यह रचना महाराज पृथ्वीराज के राजकवि चन्दबलद्दिय की जान पड़ती है। जगन्नायक के कण्ठ में इस वृद्धावस्था में भी अद्भुत ओज है। यद्यपि उन्होंने स्वयं काव्य लिखना छोड़ दिया है, परन्तु उनका कण्ठ आज भी मृतकों के

भी चित्त में प्राण संचरित कर देता है। देवि, जान पड़ता है विद्याधर भट्ट के मन में ग्राशंका हुई है कि मैं तुम्हारे प्रेम के मोह में उलझ गया हूँ। यही कारण है कि जगन्नायक भट्ट को प्रतोली-द्वार पर काव्य-पाठ करने के लिए उद्‌बोधित किया है। ग्राज्ञा दो, मैं विद्याधर भट्ट की ग्राशाग्रों को मूर्तरूप दे सकूँ।"

रानी ने कहा, "ग्रवश्य महाराज, परन्तु तुम्हारा चित्त सचमुच ही मोहग्रस्त है। ठहरो, मैं ग्रभी तुम्हारे साथ बाहर चलूँगी। कहीं तुम विचलित न हो जाग्रो। लोग यह न कहने लगें कि चन्द्रलेखा के प्रति ग्रासक्त होने के कारण प्रतापी सात-वाहन कर्त्तव्य की ग्रवहेलना करने लगे। मैं छाया की तरह तुम्हारे साथ रहूँगी ग्रौर प्राणों को हथेली पर लेकर उसे तुम्हारी तलवार की धार पर ढालती रहूँगी। स्त्री का साथ होना तो वर्जित नहीं है न महाराज ?"

मैंने हँसकर उत्तर दिया, "लोग तो यही कहते हैं, देवि, कि स्त्री ग्रौर युद्ध विरोधी तत्त्व हैं।"

रानी ने कहा, "लोग बहुत-सी बेकार बातें करते हैं, चलो।" ग्रौर मेरे पीछे-पीछे बाहर निकल ग्रायीं।

बाहर सुसज्जित वेश में सैनिक खड़े थे। सबसे पहले ग्रागे पैदल सेना की एक टुकड़ी थी। उसके पीछे घुड़सवारों की टुकड़ी थी। द्वार पर विद्याधर भट्ट, धीर शर्मा ग्रौर जगन्नायक मेरी प्रतीक्षा में खड़े थे। मुझे ग्रौर रानी को देखकर सैनिकों में बड़े उल्लास का संचार हुग्रा। वे बार-बार मेरा ग्रौर रानी का नाम ले-लेकर जय-जयकार करने लगे। ऐसा जान पड़ा कि जगन्नायक भट्ट निश्चित रूप से यह जानते थे कि रानी भी मेरे साथ ग्रायेंगी। उन्होंने हाथ से सैनिकों को शान्त रहने का इंगित किया ग्रौर सिंह-गर्जन के साथ गुरु-गम्भीर वाणी में पुनः कवित्त-पाठ किया :

"तूं वै एकह पन रहे रंग कुसुम्भ प्रमान।
हौं नन छंडौ पास तुग्र तीनों पनह समान॥
तूं लज्जी यों सध्य है दान, वग्ग ग्ररु रूप।
मौं चल्लै तीनों चलै संची चवै न भूप॥"

थोड़ी देर के लिए जय-निनाद से ग्राकाश फटता रहा। मैंने पहली बार ग्रनु-भव किया कि नारी-सौन्दर्य सैनिकों में ग्रद्‌भुत उत्साह का संचार करता है। ऐसा जान पड़ता था कि मेरा नेतृत्व पाकर सैनिक जितना उत्साहित होते उससे कहीं ग्रधिक रानी के नेतृत्व से उत्साहित थे। मैं ग्राश्चर्य ग्रौर कुतूहल से देखता रहा कि सैनिकों में किस प्रकार पुलकित भाव बढ़ता जा रहा है। इस बार धीर शर्मा की बारी थी। उन्होंने मांगल्य-उपचार के साथ हम दोनों की मंगलकामना की ग्रौर बड़ी ही गद्‌गद वाणी में पार्वती के चरणों की बन्दना में लिखे श्लोक का पाठ किया :

"दिश्यन्महासुरशिरः सरसीप्सितानि—
प्रेखन्नखावलिमयूख मृणालनालम्।

चण्ड्याश्चलच्चटुलनूपुर चञ्चरीक—
झांकारहारि चरणाम्बुरुहं द्वयं वः ॥"[6]

धीर शर्मा ने श्लोक की व्याख्या करते-करते एक छोटा-सा व्याख्यान ही दे डाला। बोले, "वीरो, पार्वती-कल्पा महारानी चन्द्रलेखा तुम्हें मनोवांछित विजय का निश्चित उपहार देने आयी हैं। मैं चण्डिका के उन दोनों चरण-कमलों की वन्दना करता हूँ जो विकट युद्ध में पराजित भयंकर असुरों के कटे हुए मुण्डों के सरोवर में अपनी ही नख-किरणों के मृणाल पर कमल की भाँति खेल रहे थे और जिन पर देवी के चरणों के चंचल नूपुर इस प्रकार झंकार कर रहे थे मानो भौंरों की टोली गुंजार कर रही है। आज महारानी चन्द्रलेखा के रूप में हमें साक्षात् भगवती दुर्गा का वरदान प्राप्त हुआ है। वीरो, मरण-महोत्सव का ऐसा सुन्दर पर्व फिर नहीं मिलेगा। पवित्र आर्य-भूमि आज विदेशी दस्युओं के आक्रमण से हत-दर्प होकर कराह रही है। मातृभूमि के गौरव की रक्षा का भार तुम्हारे कन्धों पर है। वीरो, जन्म के साथ मृत्यु निरन्तर लगी हुई है, लेकिन वही मृत्यु स्पृहणीय है जो सम्मुख युद्ध में प्राप्त हो, जिससे अनाथ और पददलित मनुष्यता उद्‌बुद्ध हो सके। वीरो, युद्ध छोड़कर मृत्यु से बचा जा सकता तो बचने का प्रयत्न करना उचित होता। लेकिन यदि मृत्यु निश्चित है तो कीर्त्ति को क्यों धूमिल होने दिया जाये! जो शरीर मातृभूमि की सेवा में समाप्त हो जाये वह धन्य है। इससे मनुष्य को वह यश मिलता है जिसकी तुलना में स्वर्ग और अपवर्ग भी उपेक्षणीय हैं। वीरो, इस यश को प्राप्त करने का अवसर नित्य नहीं उपस्थित होता। बड़े सौभाग्य से आज यह अवसर हाथ आया है। डरो मत, हिचको मत, अकुतोभय होकर इस परम यश को प्राप्त करो। मृत्यु का भय मिथ्या है :

"यदि समरमपास्य नास्ति
मृत्योर्भयमिति युक्तमितोऽन्यतः प्रयातुम्।
अथ मरणमवश्यमेव जन्तोः
किमिति मुधा मलिनं यशः क्रियेत् ।[7]

"वीरो, इस पवित्र आर्य-भूमि के लिए प्राणों की आहुति दो। साक्षात् असुर-निकन्दिनी दुर्गा के समान महारानी चन्द्रलेखा तुम्हारी सहायता करने को आयी हैं।" इसके बाद धीर शर्मा महारानी की ओर देखकर भाव-गद्‌गद स्वर में महा-दुर्गा की स्तुति करने लगे।

रानी ने सहज भाव से स्तुति-पाठ सुना। उनमें कहीं उत्तेजना का भाव नहीं था। एक क्षण के लिए वे फिर खोयी-खोयी-सी हो गयीं। फिर धीरे-धीरे विद्याधर भट्ट को सुनाते हुए उन्होंने मुझसे कहा, "महाराज, सैनिकों में उत्साह है, यह शुभ लक्षण है, परन्तु मैं जानना चाहती हूँ कि साधारण प्रजा क्या सोच रही है। मैं ग्राम-बालिका हूँ। जनपद के लोगों को जानती हूँ। उन्हें इन युद्धों से भय होता है; वे इस राजा या उस राजा की जीत भी चाहते हैं, परन्तु समूचे देश को अपना समझकर समयोचित उपचार वे नहीं जानते। उनमें प्रतिरोध की भावना ही नहीं

होती। वे समझते हैं, राज्य राजा का होता है। एक राजा जीतता है, दूसरा हारता है। जो जीत गया उसका राज्य होता है। केवल सैनिक बल ऊपर-ऊपर का बल है। कुछ ऐसा होना चाहिए कि इस जीत या हार को प्रजा अपनी जीत या हार समझे। युद्ध हो, दूसरा उपाय नहीं है; पर युद्ध का उद्देश्य बड़ा होना चाहिए। आप लोग इसके लिए क्या कर रहे हैं?"

विद्याधर भट्ट को जैसे एक झटका लगा। बोले, "नया सुन रहा हूँ, देवि, अब तक तो युद्ध सैनिकों का ही कर्त्तव्य समझा जाता रहा है। निरीह प्रजा इसमें क्या कर सकती है भला!"

रानी ने संकोच के साथ कहा, "कर क्यों नहीं सकती, आर्य!" और चुप हो गयीं।

मुझे रानी की बातों में सार दिखायी दिया, परन्तु तत्काल कुछ कह नहीं सका। परन्तु विद्याधर भट्ट की बात ने रानी के मुखमण्डल में एक विचित्र उद्दीपन का संचार किया। वे क्षण-भर आविष्ट की भाँति ठिठकी रहीं, फिर एकाएक खड़ी हो गयीं और सैनिकों को सम्बोधन करके कहा :

"वीरो, अपनी मातृभूमि की रक्षा किसी जातिविशेष का पेशा नहीं है, वह सबका जन्म-सिद्ध अधिकार और विधि-विहित धर्म है। तुम्हारी आँखों के सामने देखते-देखते सारा देश हत-दर्प, छिन्न-विच्छिन्न और पराजित दिखायी दे रहा है। उसके मूल में यह भावना है। प्रजा समझती है, लड़ाई करना राजा और राजपुत्रों का धर्म है। शेष प्रजा निश्चेष्ट चुपचाप होकर बैठी रहती है। लड़ाई जिनका धर्म माना जाता है वे जब हार जाते हैं, तो प्रजा भी हार मान लेती है। सारा समाज धर्म की झूठी कल्पना के कारण जर्जर हो गया है, शतधा विच्छिन्न हो गया है, आत्मगौरव की भावना से हीन हो गया है। वीरो, प्रतापी सातवाहन और उनकी रानी चन्द्रलेखा तुम्हारा नेतृत्व इसलिए नहीं कर रहे हैं कि वे युद्ध को धर्म माननेवाले कुछ विशिष्ट राजपुत्रों के प्रतिनिधि हैं। वे सारी प्रजा के प्रतीक हैं। मैं तुम्हारे भीतर शुद्ध धर्म-भावना को उद्बोधित करना चाहती हूँ। युद्ध तलवार की लड़ाई को ही नहीं कहते, यह तो उसका एक अंग-मात्र है। युद्ध में सफलता तभी मिल सकती है जब समूची प्रजा में आत्मगौरव और प्रतिरोध की भावना उत्पन्न हो। परन्तु किसलिए? आत्मगौरव और प्रतिरोध की भावना भी किसी बड़े उद्देश्य के लिए होनी चाहिए। जब तक प्रजा निश्चित रूप से नहीं समझ पाती, तब तक जब कभी जो कोई चाहेगा उसे परास्त कर देगा। मेरा उद्देश्य है हमेशा के लिए युद्ध समाप्त कर देना। सीमान्त के उस पार से दस्यु पददलित और पराजित करने का स्वप्न देखते हुए बार-बार आक्रमण कर रहे हैं। उनके मन में यह धारणा बद्धमूल हो गयी है कि इस देश की प्रजा को वे आसानी से निगल जायेंगे और पचा लेंगे, जिससे संसार-भर में युद्ध का घिनौना भाव होता है, सहस्रों अनाथ और पंगु, बालक और वृद्ध, श्रमण और ब्राह्मण, बेटियाँ और बहुएँ मृत्यु और अवमानना की शिकार होती हैं। वीरो, दुर्बल और विभाजित हुए रहना इस

भयंकर पाप के लिए उत्तरदायी है। हमें कुछ ऐसा करना है कि सारी प्रजा दुर्भेद्य चट्टान की तरह एक हो जाये और किसी को उसकी ओर आँख उठाने का साहस ही न रहे। वीरो, पश्चिम द्वार के कपाट-रूप शाकम्भरी-नरेश पृथ्वीराज समाप्त हो गये, उत्तरापथ के एकच्छत्र सम्राट् दल-पंगुर महाराज जयित्रचन्द्र बालू की भीत की तरह ढह गये और प्रबल पराक्रमी चन्देल-नरेश परमर्दिदेव विदेशी आक्रमण की आँधी में कूल-द्रुम की भाँति भहरा गये।

"इतनी बड़ी पराजय के बाद किस बल पर अवन्तिका के क्षीण-बल राजा सातवाहन दुर्गतिग्रस्त प्रजा की रक्षा का साहस कर सकते हैं? चारों ओर केवल अन्धकार-ही-अन्धकार दिखायी दे रहा है। महामन्त्री विद्याधर भट्ट अपनी अगाध विद्या का अभिमान खो चुके हैं। मृतकों में भी प्राण-संचार करनेवाले जगन्नायक भट्ट वीर छन्दों में लिखी ओजस्वी कविता का अभिमान छोड़ चुके हैं। समस्त शास्त्रों को हस्तामलक की भाँति देखनेवाले वीर शर्मा सब ओर से निराश होकर असुर-शिरःसरोवर-विहारिणी चण्डिका के चरणकमलों की ओर उन्मुख हो गये हैं। सर्वत्र निराशा और हत-दर्पिता का भाव छा गया है। ऐसे अवसर पर इस पवित्र भूमि की रक्षा के लिए कौन-सा उपाय सोचा जाय? वीरो, राजाओं का युद्ध समाप्त हो गया। अब कहीं आशा है तो प्रजा की संगठित शक्ति में है। मैं तुम्हें उसी शक्ति को उद्बुद्ध करने के लिए आमन्त्रित करती हूँ। वीरो, रणक्षेत्र के लिए प्रस्थान करो, तुम्हारी संख्या बहुत कम है, तुम्हारे पास युद्ध करने की सामग्री का अभाव है, किन्तु रानी चन्द्रलेखा तुम्हें आश्वासन देती है कि तुम्हें निराश नहीं होना पड़ेगा। मैं तुम्हारे पीछे प्रजावर्ग को संगठित करने के लिए प्रयत्न करने जा रही हूँ। वीरो, सच्चे धर्म के लिए लड़ो। हार और जीत इतिहास-विधाता के इंगित के अनुसार होती है। मनुष्य की सार्थकता और सफलता प्रयत्न करने में है।"

रानी की बात सुनकर सैनिकों में नवीन उत्साह का भाव देखा गया। ऐसा जान पड़ा कि उन्हें नया आलोक मिल रहा है, परन्तु वे इस नये आलोक का अर्थ नहीं समझ रहे हैं। केवल इतना स्पष्ट हुआ कि रानी के प्रति उनकी श्रद्धा की मात्रा और बढ़ गयी है। उन्होंने द्विगुण उत्साह के साथ महारानी चन्द्रलेखा का जय-निनाद किया।

रानी की योजना चरितार्थ हुई। समस्त मालव जनपद में एक अद्भुत नव-जीवन जाग उठा। शत्रु को लौट जाना पड़ा। सुनने में आया कि दिल्ली के सुलतान ने अपने सेनापति को लौट आने का आदेश दिया है। मैं इन दिनों रानी के साथ जनपद का ही चक्कर काट रहा था। ठीक विजय तो इसे नहीं कहा जा सकता, परन्तु तत्काल विपत्ति टल अवश्य गयी। रानी चाहती थी कि मैं अभी विश्राम न लूँ; सम्पूर्ण भारतवर्ष को उद्बुद्ध करने की भावना एक क्षण के लिए भी शिथिल नहीं होनी चाहिए। उन्होंने मुझे भारतवर्ष का चक्रवर्त्ती मान लिया था। इस स्वयंगृहीत महिमा का उत्तरदायित्व मुझे सम्हालना ही चाहिए। रानी की सरलता देखकर मैं चकित रह जाता था। नागनाथ जैसे सिद्धपुरुष ने मुझे चक्रवर्त्ती बनने का आशीर्वाद दिया है, इसमें शंका और सन्देह का स्थान ही कहाँ हो सकता है? फिर भी मैं राजधानी लौटना चाहता था।

बड़ी कठिनाई से मैं रानी को इसके लिए तैयार कर पाया। रानी की उत्सुकता और जिज्ञासा की कोई सीमा नहीं थी। गाँव के एक-एक जीव, पेड़-पौधे, ईंट-पत्थर के बारे में उनकी जानने की इच्छा बलवती हो उठती थी। रोगियों की सेवा, साधुओं का सत्संग, स्त्रियों का शृंगार, बच्चों के खेल—सबमें बुरी तरह उलझती थीं। कोई विचित्र-सा नाम सुनायी पड़ गया तो उसका पूरा इतिहास जानना चाहती थीं, कोई टूटा-सा तालाब दीख गया तो उसकी पूरी छानबीन किये बिना आगे नहीं बढ़ती थीं। उनके इस सहज आकर्षण का जनपद के जन पर बड़ा गहरा प्रभाव पड़ता था। स्त्री, पुरुष, बालक, वृद्ध सभी उन्हें हृदय से श्रद्धा करने लगते थे; फिर उनके दो-एक वाक्य उन पर जादू का-सा प्रभाव डालते थे। लोग उन्हें पार्वती का अवतार ही समझने लगे थे। उन्होंने पूरे जनपद को मन्त्रमुग्ध बना दिया था। किसी घर में जाने में उन्हें झिझक नहीं होती थी, किसी से बात करने में उन्हें संकोच नहीं होता था। वे प्रभावित करती भी थीं और प्रभावित होती भी थीं।

हम लोग उज्जयिनी की ओर आ रहे थे। रास्ते में एक टूटा-सा पुराना तालाब मिला। पता लगाने पर मालूम हुआ कि इसका नाम गधैया-ताल है। जान पड़ता था कई बार लोगों ने इसकी मरम्मत करायी थी, फिर भी इस ताल की अवस्था ठीक नहीं हुई थी। निस्सन्देह यह बहुत पुराना मालूम होता था। रानी की उत्सुकता तो हर छोटी-बड़ी वस्तु के लिए थी ही, इस बार मुझे भी इस नाम ने कुछ चौंकाया। 'गधैया' कुछ विचित्र नाम था। गाँववालों ने बताया कि पहले इस तालाब के बीच में एक बड़ा-सा खम्भा था जो प्रातःकाल ऊपर उठने लगता था और दोपहर तक आकाश के बीचोबीच पहुँच जाता था। सूर्य देवता उस

पर एक क्षण के लिए विश्राम करके आगे बढ़ जाया करते थे और सूर्यास्त तक वह खम्भा भी घटते-घटते पानी के धरातल तक आ जाया करता था। एक बार विक्रमादित्य उस पर बैठ गये। उद्देश्य था सूर्य देवता से मिलना। वे रास्ते में ही जल गये, पर सूर्य देवता प्रसन्न हो गये और उन्हें अक्षय बटुआ दिया जिसका पैसा कभी घटता ही नहीं था। परन्तु जब वे उतरे तो सामने एक गरीब धोबी मिल गया जिसका गधा खो गया था। सारे परिवार की जीविका के एकमात्र साधन गधे के खो जाने से वह बड़ा ही व्याकुल था। दयालु विक्रमादित्य ने वह टुबआ उसे ही दे दिया। धोबी मूर्ख था। विक्रमादित्य को वह पहचान भी नहीं सका और बटुए के महत्त्व पर उसे विश्वास नहीं हुआ। गधा खरीदने-भर का पैसा उसने निकाल लिया और बटुए को तालाब में फेंककर चलता बना। उसे भय था कि उसके हाथ में बटुआ देखकर लोग उसे चोर समझेंगे। बटुए के अपमान से सूर्य देवता कुपित हुए और उन्होंने तालाब के खम्भे को वहाँ से हटा लिया। मगर वह बटुआ अब भी सिक्के उगला करता है। मालवा में जो गधैया-सिक्के चलते हैं वे उसी से निकलते हैं। यह ताल तब से गधैया-ताल कहलाता है और वे सिक्के गधैया-सिक्के।

रानी ने इस कहानी को श्रद्धा के साथ सुना, पर मुझे यह बड़ी ही विचित्र कहानी लगी। मेरा मन कहने लगा, हो-न-हो यह किसी पुराने इतिहास का विकृत रूप है। विक्रमादित्य से इसका कुछ-न-कुछ सम्बन्ध अवश्य है। लोक-मानस में संचित कथाएँ विकृत होने पर भी कुछ-न-कुछ बताती ही हैं। इस कहानी का अर्थ क्या है ? रह-रहकर मेरा मन इतिहास के अवभूले कुज्झटिका-च्छन्न नभोमण्डल में मँडराने लगा। मैं व्याकुल भाव से उस अन्धतिमिरावृत इतिवृत्त को खोजने का प्रयास कर रहा था जिसे पाने का मार्ग नहीं था।

मैंने रानी को सम्बोधित करके कहा, "देवि, इस कहानी में इतिहास का कुछ तथ्य अवश्य छिपा होना चाहिए। क्या प्रबल पराक्रान्त विक्रमादित्य का इस ताल से कोई सम्बन्ध है ? 'गधैया' नाम का रहस्य क्या है ? कहाँ विक्रमादित्य और कहाँ गधैया-ताल !"

रानी ने मन्द स्मित के साथ कहा, "सोचने की बात तो है ही। पर, महाराज, चक्रवर्त्तियों के साथ गधों का क्या सम्बन्ध हो सकता है !"

रानी के इस परिहास का रस मैंने ग्रहण किया पर कुछ प्रत्युत्तर नहीं दिया। इधर रानी कुछ शंकित रहने लगी हैं। लोगों से रानियों के अनुचित आचरण की कहानियाँ सुनकर वे अकारण शंकित हो उठती हैं। उनके परिहास के प्रत्युत्तर से उन्हें कष्ट पहुँच सकता था। मैं चुपचाप हँसकर रह गया।

कुछ और आगे बढ़ने पर एक बहुत विराट् वटवृक्ष मिला। नदी के किनारे पर यह दूर तक फैला हुआ बड़ा ही मनोहर दिखायी दे रहा था। पूछताछ करने पर पता लगा कि कालिदास को इसी वट के नीचे समस्त विद्याओं के स्फुटित होने की सिद्धि मिली थी। अपना 'कुमारसम्भव' काव्य उन्होंने यहीं लिखा था।

सुनकर कुतूहल हुआ। हम लोग उस वटवृक्ष की शीतल छाया में विश्राम करने के लिए बैठे ही थे कि एक जटाधारी साधु वहाँ उपस्थित हुए और वृक्ष के नीचे रखे हुए छोटे-से शिवलिंग पर जल-पुष्प आदि नैवेद्य चढ़ाकर गद्‌गद कण्ठ से स्तुति करने लगे। उनका कण्ठ भारी था, उसमें एक ऐसी श्रद्धा की आर्द्रता थी जो असाधारण-सी लग रही थी। मैंने ध्यान से उनकी स्तुति सुनी। मेरे आश्चर्य का कोई ठिकाना नहीं रहा, जब मैंने सुना कि वह स्तोत्र और कुछ नहीं, 'कुमार-सम्भव' के पाँचवें सर्ग में पार्वती और बटुवेशधारी शिव का संवाद था। जटिल तापस का कण्ठ अन्तिम श्लोक तक आते-आते प्रायः रुद्ध-सा हो आया। बड़ी कठिनाई से उन्होंने पढ़ा :

"अद्य प्रभृत्यवनतांगि तवास्मि दासः
क्रीतस्तपोभिरति वादिनि चन्द्रमौलौ।
अह्लाय सा विरहजं क्लममुत्ससर्ज
क्लेशः फलेन हि पुनर्नवतां विधत्ते।"

वे भाव-विभोर होकर शिवलिंग के सामने साष्टांग लोट पड़े और कुछ देर तक उसी प्रकार पड़े रहे। जब उठे तो आविष्ट-से दिखायी दे रहे थे।

मैंने आगे बढ़कर उन्हें प्रणाम किया। उन्होंने मौन भाव से स्वीकार किया, फिर इंगित से जानना चाहा कि हम लोग कौन हैं और क्या चाहते हैं। संक्षेप में मैंने उत्तर दिया कि यात्री हैं, उज्जयिनी जा रहे हैं; यहाँ थोड़ी देर विश्राम करने रुक गये हैं। साधु ने अनावश्यक रूप से मानो बातचीत समाप्त करने के लिए कहा, "बहुत अच्छा, बहुत अच्छा!"

परन्तु मैं बातचीत समाप्त नहीं करने जा रहा था। विनीत भाव से पूछा, "कुछ अन्यथा न मानें तो हम लोग कुछ पूछना चाहेंगे।"

साधु ने संक्षेप में उत्तर दिया, "क्या?"

मैंने विनीत भाव से कहा, "महाराज, हमने सुना है कि महाकवि कालिदास ने यहीं 'कुमारसम्भव' काव्य लिखा था, क्या यह सत्य है?"

तपस्वी ने कहा, "हाँ, आपको लोगों ने ठीक ही बताया है। यह जो शिवलिंग देख रहे हैं उसे गवैया-ताल से निकालकर यहाँ रखा गया है। प्रसिद्धि है कि कालिदास इसी की पूजा किया करते थे। यहाँ लोग 'कुमारसम्भव' के पाँचवें सर्ग का पाठ भी करते हैं। कहते हैं, कालिदास ने पार्वती की तपश्चर्या के रूप में अपनी प्रिया विद्योत्तमा की तपश्चर्या को ही मूर्त्त रूप दिया है। लोग तो यहाँ तक कहते हैं कि पार्वती ने ही विद्योत्तमा के रूप में अवतार ग्रहण किया था। कालिदास को भी लोग स्वयं शिव का ही रूप मानते हैं। सत्य चाहे कुछ भी हो, यह निश्चित है कि 'कुमारसम्भव' का पाठ करने से यहाँ सिद्धि प्राप्त होती है। इस शिवलिंग पर गवैया-ताल का जल ही चढ़ाया जाता है। कहा जाता है कि यह महादेव गवैया-ताल के जल से ही अभीष्ट दिया करते हैं।"

मुझे आश्चर्य हुआ। रानी की बड़ी-बड़ी आँखें तो कान तक खिंच गयीं।

बिना प्रयोजन के ही उनके मुँह से निकल गया, "गधैया-ताल ! आश्चर्य है !"

अब की बार साधु की दृष्टि रानी की ओर फिरी। अब तक उन्होंने उनकी ओर ताका ही नहीं था। कुछ क्षणों तक वे एकटक उनकी ओर देखते रहे। फिर देर तक पर-स्त्री को देखते रहने के कारण अनौचित्य-सम्भावना से कुछ झेंपते हुए उन्होंने मेरी ओर देखकर पूछा, "ये कौन हैं ?"

मैंने इंगित से बताया कि मेरी पत्नी हैं। ऐसा जान पड़ा कि साधु को अब पता चला कि उन्होंने हमारे साथ यथोचित व्यवहार नहीं किया। वे जरा सावधान होकर बैठे और एक शिला की ओर निर्देश करते हुए बोले, "आप लोग बैठ जायें।"

आदेश के अनुसार हम लोगों ने आसन ग्रहण किया। साधु कुछ असमंजस में पड़े-से दीखे, जैसे कुछ खोज रहे हों। फिर एकाएक खड़े हो गये और बोले, "जनपद पार्वती महारानी चन्द्रलेखा और उनके प्रतापी पति चक्रवर्ती सातवाहन को पहचानने में प्रमाद हुआ है, मुझे क्षमा देने का प्रसाद हो। देव, इस निर्जन में कुछ भी नहीं है जो सम्मानित अतिथियों को निवेदन किया जा सके। आज मेरा अहोभाग्य है जो आप दोनों के दर्शन का सुयोग मिला।"

मैंने उन्हें आश्वस्त करते हुए कहा, "तपस्विन्, व्याकुल न हों। हम दोनों ने साधारण प्रजा के साथ एकमेक हो जाने का व्रत लिया है। आप हमें साधारण जन ही समझें। हमें आपके मुख से कालिदास और गधैया-ताल के बारे में सुनने में जो सुख होगा वह किसी और वस्तु से नहीं मिलेगा। आप हमें यही अमृतपान करायें।"

तपस्वी ने हँसकर कहा, "राजन्, भाषा बड़ी रहस्यमयी देवी है। वह नयी सृष्टि करती रहती है। इतिहास-विधाता के किये-कराये पर वह ऐसा पर्दा डाल देती है कि कभी-कभी दुनिया ही बदल जाती है। महामाया का सबसे परिष्कृत रूप भाषा है, सत्वोन्मुखी होकर वह प्रकाश देती है, किन्तु तमोगुण की ओर उन्मुख होने पर वह केवल मोह की सृष्टि करती है, केवल आवरण उत्पन्न करती है, केवल कुहेलिका का जाल ताना करती है। यह जो 'गधैया' शब्द है उसका गधे या गर्दभ से दूर का ही सम्बन्ध है; किन्तु लोकमानस ने विक्रमादित्य के साथ गधे की कहानी जोड़कर अपना समाधान खोज लिया। वह निश्चिन्त है। प्रकृति के प्रत्येक रहस्य को वह पुराण-गाथा से सुलझा लेता है, लेकिन इतिहास के रहस्य को भी इसी पद्धति से सुलझाने में उसे हिचक नहीं होती। सुनो महाराज, मैं तुम्हें 'गधैया' का रहस्य समझा रहा हूँ।

"शकारि विक्रमादित्य का नाम कौन नहीं जानता ! शकों को परास्त करके उन्होंने अपना संवत् चलाया था। आरम्भ में उन्होंने पूर्वपुरुष 'कृत' नामक वीर के नाम पर संवत् का नाम 'कृत संवत्' ही रखा था, किन्तु बाद में लोग उन्हीं के नाम से इसका स्मरण करने लगे। आजकल जिसे विक्रम-संवत् कहते हैं वह वही 'कृत' संवत् है। कृत नामक वीर के वंश में कई प्रतापी राजा हुए जो 'कृत

वीर' की सन्तान होने के कारण आरम्भ में 'कार्त्तवीर्य' (कृतवीर से उत्पन्न) कहलाते थे। कई राजाओं का रुझान जैन धर्म की ओर हो गया और संस्कृत का 'कार्त्तवीर्य' मालवी अपभ्रंश में कोमलीकरण की प्रवृत्ति के कारण प्राकृत में गर्द-भिज्ज से आगे बढ़ता हुआ 'गर्दभिल्ल' बन गया। फिर यह शब्द संस्कृत में आ गया और हिन्दू-पुराणों तक में 'कार्त्तवीर्य' वंश 'गर्दभिल्ल' वंश के नाम से ख्यात हुआ। एक बार भाषा की रहस्यमयी देवी ने इसको यह रूप दिया नहीं कि इसका सम्बन्ध गधे से जुड़ते देर नहीं लगी। गधैया-ताल और कुछ नहीं, गर्द-भिल्लों का बनवाया हुआ ताल है और गधैया-सिक्के गर्दभिल्लों की चलायी हुई मुद्राएँ हैं। मगर भाषा की कुहकमयी तिरस्करिणी ने और भी चमत्कार किया। सुनोगे? सुनकर कदाचित् कुछ सीख भी सकोगे।

"मालवा के इर्द-गिर्द प्रबल पराक्रमी 'भील' जातियों का निवास है। शकों को देश से निकाल बाहर करने में भीलों ने विक्रमादित्य की बड़ी सहायता की थी। सत्य तो यह है कि यदि भीलों ने सहायता न दी होती तो यह कठिन कार्य सम्पन्न ही नहीं हो पाता। संस्कृत में 'भील' शब्द 'भिल्ल' के रूप में लिखा जाता है। 'गर्दभिल्ल' एक ओर गर्दभ से सम्बद्ध है, तो दूसरी ओर 'भिल्ल' से भी सम्बद्ध है। 'गर्दभिल्ल' भी तो एक 'भिल्ल' ही है। कमकरानी हुई तो क्या हुआ, एक प्रकार की 'रानी' तो वह है ही! परावाक् की माया है।"

इतना कहकर तपस्वी ठठाकर हँसे; बोले, "परिहास नहीं कर रहा हूँ, तुम्हें इतिहास सुना रहा हूँ। तनिक सावधान होकर सुनो :

"विक्रमादित्य के पितामह गर्दभिल्ल राजा का नाम जब था। इसके पुत्र का नाम था पुरु गर्दभिल्ल। भीलों के राजा की कन्या अडोलिया से उसका विवाह हुआ था। 'अडोलिया' रूप और शील में तो अनुपम थी ही, रणक्षेत्र में भी अडोल ही रहती थी। उसकी वीरता को देखकर ही भिल्लराज ने उसका नाम 'अडोलिया' रखा था। अडोलिया के कोई सन्तान नहीं हुई। क्षत्रिय राजाओं में बहु-विवाह की प्रथा तो थी, किन्तु पुरु गर्दभिल्ल ऐसा कुछ करना नहीं चाहते थे। परन्तु विधि-विधान कुछ और ही था। एक बार जब वे शिकार खेलने गये थे, उस समय मुनियों के आश्रम में एक मुग्धा तपस्वी-कन्या 'सरस्वती' से उनका साक्षात्कार हुआ, जो आगे चलकर गान्धर्व विवाह में पर्यवसित हुआ। सरस्वती के भाई कालक ने इस बात को अनुचित समझा, परन्तु और कोई उपाय न देखकर राजा के यहाँ पहुँचा देने का संकल्प किया। राजा ने आश्रम के गुप्त विवाह को अस्वीकार कर दिया। इससे कालकाचार्य को बड़ा कोप हुआ। वे शक देश पारस-कुल गये और शकों को बुला लाये। इन शकों ने गर्दभिल्लराज को पराजित किया और उज्ज-यिनी पर अधिकार कर लिया। कालकाचार्य ने क्रोधावेश में देश ही को बरबाद कर डाला। क्रोध उनका उचित ही था, पर उपचार एकदम अनर्थकारी सिद्ध हुआ। कालकाचार्य ने जैन-मत ग्रहण किया और 'गर्दभिल्ल' के 'भिल्ल' शब्द को पकड़कर जनता में यह प्रचार किया गया कि गर्दभ के समान इस गर्दभिल्ल ने

अडोलिया से विवाह करके वस्तुतः अपने ही कुल में, दूर के सम्बन्ध में बहन से विवाह किया था। सब मिलाकर 'गर्दभिल्ल' राजा को अपने पाप का बड़ा भारी प्रायश्चित करना पड़ा; राज्य विदेशियों के हाथ में चला गया और जनता में जो कुल-गौरव का यश था, उससे भी हाथ धोना पड़ा।[8]

"परन्तु सरस्वती-पुत्र वीर विक्रमादित्य ने अपनी सौतेली माँ अडोलिया के सगे-सम्बन्धी परम पराक्रमी भिल्लगण की सहायता से अपने लुप्त कुल-गौरव का उद्धार किया। उसने शकों को मार भगाया। कालिदास ने 'शकुन्तला' नाटक में कथा-योजना कुछ इस प्रकार की है कि लोक में प्रचलित गर्दभिल्ल राजा का अपवाद दूर हो और मुग्धा तपस्वी कन्या के साथ राजपरिणय की और बाद में उसके प्रत्याख्यान की कथा के प्रति लोक-मानस में सहानुभूति का भाव पैदा हो। नाटक के अन्त में तो स्पष्ट रूप से 'सरस्वती' की महिमा का स्मरण कराया है। भरतवाक्य में उन्होंने कहलवाया है :

"प्रवर्ततां प्रकृतिहिताय पार्थिवः
सरस्वती श्रुति महती महीय्यताम्।
ममापि च क्षपयतु नीललोहितः
पुनर्भवं परिगत शक्तिरात्मभूः।"

इतना कहकर तपस्वी थोड़ा रुके। एक बार उन्होंने शिवलिंग की ओर देखा, फिर बोले, "राजन्, राजा की नितान्त व्यक्तिगत बात भी जनता के दुःख-कष्ट का कारण बन जाती है, इसलिए उसे बहुत सावधान रहना चाहिए।"

तपस्वी ने रानी की ओर देखकर आँखें झुका लीं। उनका उद्देश्य क्या था यह तो उनके अन्तर्यामी देवता ही जानते होंगे, पर एक क्षण में रानी का प्रफुल्ल मुखमण्डल म्लान हो गया। ऐसा जान पड़ा जैसे उनके ऊपर एकाएक बिजली गिर गयी हो। मुझे इस कहानी का यह उपसंहार बहुत ही भयंकर लगा। तपस्वी ने यह क्या किया?

बात बदलने के लिए मैंने कहा, "तपस्विन्, इस महादेव को कालिदास-पूजित मानने का कारण क्या केवल इतना ही है कि इसका गधैया-ताल से उद्धार किया गया है?"

तपस्वी ने हँसकर कहा, "भावना की बात है महाराज! पार्थिव रूप में कोई कालिदास किसी शिवलिंग की पूजा करते थे। अब आज मेरे चित में भाव-रूप में विराजमान कालिदास हैं, वे इन्हीं महादेव की पूजा करते हैं, ऐसा मानने में पूजा की ओर से तो कोई हानि होती नहीं; परन्तु अभी मैंने 'शकुन्तला' नाटक का जो श्लोक सुनाया उसमें नीललोहित (शिव) का नाम है। इस शिवलिंग को ध्यान से देखो। यह सचमुच नीललोहित है। नीले रंग में हल्की-सी लाल-लाल आभा है। कदाचित् इस वैशिष्ट्य के कारण लोगों को इसे कालिदास-पूजित मान लेने का बल मिला है। आसपास की जनता इसे 'नीललोहित महादेव' कहती भी है। कालिदास के श्लोक में नीललोहित का एक अन्य अर्थ भी है। किन्तु शब्द तो

परावाक् का मूर्त्तरूप है महाराज, वह अपनी सृष्टि तो करता ही रहता है !"

रानी का चेहरा और भी धूमिल हो गया। ऐसा जान पड़ा कि तपस्वी को भी इस अप्रत्याशित अवस्था का भान हुआ। उन्होंने रानी की ओर देखा और उन्हें मानो आश्वस्त करने के लिए कहा, "देवि, सारा मालव जनपद तुम्हें पार्वती का साक्षात् पार्थिव-विग्रह समझ रहा है। मुझे पूरा विश्वास है कि तुम्हारा प्रेम राजा को चक्रवर्त्ती-पद पर अभिषिक्त करेगा। देवि, यह जो तुम्हारा तपःपूत सेवाभाव है, सहज-मनोहर शील है, इसी को पाकर आज उज्जयिनी-नरेश धन्य हुए हैं। आज राजपुत्रों की कमी नहीं है, पर भारत-भूमि इसी राजा को पाकर राजवन्ती हुई है :

"कामं नृपाः सन्तु सहस्रशोऽन्ये
राजन्वतीमाहुरनेन भूमिम्
नक्षत्र तारा ग्रहसंकुलापि
ज्योतिष्मती चन्द्रमसैव रात्रिः !

"देवि, तुम्हारा प्रेम धन्य है !"

परन्तु रानी का चेहरा खिला नहीं। सहज उत्फुल्लता लौटी नहीं। वे खोयी-खोयी-सी हाथ जोड़े खड़ी रहीं। मुझे ऐसा लगा कि गवैया-ताल में मेरा सर्वस्व डूब गया। यह ऐसा अनभ्र वज्रपात था जो अचानक लहलहाती लता को सुखा गया। हाय, फिर क्या यह लता लहलहायेगी ? कौन जाने !

रानी के म्लान मुख को देखकर मुझे चिन्ता हुई। जबसे विद्याधर भट्ट ने महाराज जयित्रचन्द्र और सूहवदेवी की कहानी सुनायी थी तभी से रानी के मन में एक प्रकार की आशंका का आविर्भाव हुआ था। कभी-कभी वे स्पष्ट शब्दों में कहतीं, 'राजन्, मेरे सान्निध्य से तुम्हारी कर्त्तव्य-बुद्धि में कहीं दरार तो नहीं पड़ रही है ?' और उद्विग्न हो उठतीं। मैंने कई बार उन्हें समझाने की कोशिश की कि जिन स्त्रियों के सान्निध्य से कर्त्तव्य-बुद्धि में दरार पड़ती है वे और तरह की होती हैं; रानी चन्द्रलेखा उनसे एकदम भिन्न हैं। ऊपर-ऊपर से रानी आश्वस्त दीखतीं पर उनके चित्त में मन्थन चलता ही रहता था। कभी-कभी वह अस्पष्ट रूप में प्रकट होता। कहतीं, 'राजा के लिए युद्ध करना क्या परम आवश्यक है ? क्या कोई उपाय ऐसा नहीं निकल सकता जिससे युद्ध एकदम बन्द हो जाये ? लोगों का अभाव यदि दूर हो जाये तो लोग क्यों लड़ेंगे ? स्त्रियाँ जो अपने पतियों को कर्त्तव्य-भ्रष्ट करती हैं उसके मूल में पति-पुत्रों को मृत्यु-भय से बचाना ही मुख्य कारण होता है। स्त्री का दुर्बल हृदय पति-पुत्र की मंगल-कामना से और भी दुर्बल हो जाता है।' कभी पूछ बैठतीं, 'क्या किसी मन्त्र-बल से सबको सुखी बनाना सम्भव नहीं है ? नागनाथ जिस 'कोटिबेधी' रस की बात करते हैं उनसे क्या यह काम नहीं हो सकता ?' रानी की बातों से मुझे उनके हृदय के भीतर चलनेवाले मन्थन का आभास मिल जाता। मैं हैरान होकर सोचता कि युद्ध का रोकना क्या इतना आसान है ? रानी अपने मन में कैसी दुराशा पोस रही हैं !

मैं यथासाध्य प्रयत्न करता कि कोई रानी के मन में सूहवदेवी-जैसी रानियों की बात न डाले। इससे उनका मन दुखी होता था और एक प्रकार की अकारण आशंका से अभिभूत हो जाया करता था। आज इस तपस्वी ने असावधानी से रानी के चित्त को फिर दुखा दिया। यदि मैं जानता कि मेरे प्रश्न का यह परिणाम होगा तो मैं प्रश्न ही नहीं करता। परन्तु अब जो होना था, वह हो चुका था। जब कभी राजाओं के प्रेम-व्यापार के दुष्परिणाम की कहानी उन्हें सुनायी जाती है तभी उनकी तीक्ष्ण बुद्धि उसके कारण-विश्लेषण में लग जाती है और अपने बारे में सोचने में लग जाती है। हर बार उनके सहज आनन्दी स्वभाव को धक्का लगता है, हर बार अज्ञात काल्पनिक आशंका से वे विचलित होती हैं, हर बार उनके प्रफुल्ल मुख पर विकार का धूम छा जाता है। जान पड़ता है, आज उन्हें सबसे अधिक चोट पहुँची है। मैं सोच नहीं पाया कि किस प्रकार उनके आहत चित्त को सान्त्वना दूँ। लोक-चित्त में इस प्रकार का विश्वास ऐसा बद्धमूल हो गया है कि आगे अवसर आयेगा ही नहीं, ऐसा सोचना ही बेकार है। कुछ उपाय करना चाहिए, पर क्या उपाय हो सकता है, समझ नहीं सका। अन्तःपुर की परिचारिकाएँ तो इस प्रकार की कहानियों का भण्डार सजाये रहती हैं। समय-असमय का विचार किये बिना वे ऐसी कहानियाँ सुनाती रहती हैं। उपाय क्या है ?

रास्ते में मैं अपने ही विचारों में डूबता-उतराता रहा। हाय, हाय, कालिदास ने शकुन्तला के रूप में विक्रमादित्य की माता सरस्वती का चित्रण किया था। मुझे शकुन्तला के अनेक चित्र दीखने लगे। प्रथम दर्शन से ही आत्मसमर्पण के लिए व्याकुल प्रेमाप्लुता भोली शकुन्तला, फिर परिजनों के वियोग की आशंका और प्रियजन से मिलन की आशा से उत्पन्न विरुद्धगामी आवेगों और उद्वेगों पर झूलती हुई उच्चावच भूमि में ठोकर खाती हुई नववधू, फिर प्रियतम द्वारा प्रतिख्यात क्रुद्ध सर्पिणी की भाँति फुफकारती हुई सात्विक-क्रोधना शकुन्तला और अन्त में 'वसने परिधूसरे वसाना' 'नियत क्षाममुखी' 'धृतैकवेणी' तपोलिप्ता शकुन्तला। साधु ने कहा है कि कालिदास ने इस बहाने सरस्वती का ही चित्रण किया है ! धन्य हो कल्प-कवि ! कैसी अपूर्व सृष्टि की है तुमने ! साधु का कहना ठीक हो या न हो, विक्रमादित्य की माता को समझने में इससे बड़ी सहायता मिली है। शकुन्तला का पुत्र ही भरत हो सकता है, सरस्वती का पुत्र ही विक्रमादित्य हो सकता है !

रानी क्या सोच रही थीं, कह नहीं सकता। वे भी खोयी हुई थीं। कदाचित् वे अपनी बात सोच रही थीं। साधु की बात से उनके चित्त में कहीं ठेस लगी अवश्य थी।

8

नागनाथ उज्जयिनी में पहले से विद्यमान थे। उन्हें पार्श्वनाथ के पादमूल में बैठने से कोटिबेधी रस सिद्ध होने की खबर मिली थी। वे इसमें रानी की सहायता चाहते थे। बत्तीस लक्षणों से सम्पन्न युवती के हाथों से मर्दित होकर यह रस सिद्ध हो सकता था। रानी तैयार हो गयीं। भारतवर्ष को उद्‌बुद्ध करने का व्रत अकेले मेरे ऊपर ही पड़ा। रानी के बिना यह काम मैं कर सकूँगा? कदाचित् नहीं। पर रानी को अनुमति देनी पड़ी। कौन जाने इसी से उनकी उदासी दूर हो जाये!

रानी बीच-बीच में राजधानी लौट आती थीं। उनकी कान्ति में चौगुना तेज बढ़ गया था। उनके प्रदीप्त मुखमण्डल में एक विचित्र आभा निखरने लगी थी, जो प्रभामण्डल के समान दीखती थी। ऐसा जान पड़ता था कि कुछ नयी ज्योति उदित हो रही है; उदयमूचढ़ न्द्रमण्डल की तमःप्रतिसारिणी आभा की भाँति वह चित्त को उत्फुल्ल करती थी। पर साथ ही उनमें का खोया-खोया भाव ज्यों-का-त्यों बना हुआ था। सांसारिक विषयों में उनकी रुचि एकदम नहीं रही। सबसे विचित्र बात यह थी कि वे अपने को अन्य पुरुष में सम्बोधित करने लगीं। उनके मुँह से 'मैं' शब्द का प्रयोग विरल हो गया। मेरे प्रति उनका सम्मान पहले-जैसा ही था, पर मैं निरन्तर अनुभव करता रहा कि वे दूर होती जा रही हैं। यह एक विचित्र स्थिति थी। कभी-कभी मुझे सन्देह होता था कि वे आविष्ट तो नहीं हैं। उन्होंने समय-समय पर कोटिबेधी रस की साधना की प्रक्रिया बतायी थी जो विचित्र जान पड़ती थी।

उन्होंने एक दिन कहा, "चन्द्रलेखा हथेली पर रखे हुए आँवले के फल के समान अपने पुरातन जीवन को देख सकती है। उसे बीती हुई घटनाएँ ज्यों-की-त्यों दीख जाती हैं। उसे गुरु के प्रथम साक्षात्कार की स्मृति इतनी प्रबल है कि लगता है कल ही वह घटना घटी है। गुरु का गौर-वर्ण का शरीर पिंगल प्रकाश से इस प्रकार आच्छादित था जैसे हिमधवल गिरिकूट को घेरकर सौदामिनी ने जाल बुन दिया हो। वह सारा शरीर ही ज्वालाओं से बना जान पड़ता था। उनके अष्टमी के चन्द्रमा-जैसे ललाटपट्ट से ज्योति-रेखाएँ उद्‌भासित हो रही थीं। वे सैंही नदी के तट पर एक मनोहर रत्नमूर्त्ति के सामने पद्मासन बाँधकर बैठे थे।

"चन्द्रलेखा ने पहले-पहल देखा तो उसे भ्रम हुआ कि मदन-शोक से व्याकुल वसन्त ने वैराग्य तो नहीं धारण कर लिया? कैसी अपूर्व चारुता उनके अंग-अंग से छलक रही थी! ब्रह्मचर्य का समस्त तेज उनके भीतर पुंजीभूत हो गया था, वैराग्य की समस्त शान्ति उसमें घनीभूत हो गयी थी और ज्ञान की उज्ज्वल आभा से तो उनकी एक-एक शिरा उद्‌भासित थी। वह भस्मावृत तनुलता सजल जलधर

में आबद्ध विद्युल्लता की भाँति दर्शक के हृदय में सम्भ्रम और औत्सुक्य जगा देती थी। उनके दाहिने-बायें, आगे-पीछे सर्वत्र दूर तक फैला हुआ सैकत-पुलिन था, जिसमें नरकंकालों और कपाल-कर्परों के सिवा और कुछ नहीं दिखायी दे रहा था। कुछ दूरी पर पारदरेखा के समान नदी की क्षीण धारा चमक रही थी और उसी के किनारे कहीं-कहीं अधजली चिताओं की डरावनी शिखाएँ दीख जाती थीं। जले हुए मानवदेह की चिरायँध गन्ध से चन्द्रलेखा का ध्यान भंग हुआ। वह नींद की-सी अवस्था में थी। यद्यपि उसकी आँखें खुली हुई थीं, पर वह कुछ भी नहीं समझ सकी कि उस घोर रात्रि में इस महाश्मशान में वह कैसे पहुँच गयी।

"गुरु को देखने के बाद ही वह अजगर के समान सोये हुए निस्तब्ध सैकत-पुलिन को देख सकी। बाद में नीम के तेल में भुने जाते हुए लशुन की उबकावनी महक ने उसके मस्तिष्क को उत्तेजना दी। गृध्र उस विकट रात्रि में भी फड़फड़ा उठते थे और उलूकों के घूत्कार रह-रहकर उस निदारुण शान्ति को चकनाचूर कर देते थे। चन्द्रलेखा सब-कुछ देख रही थी, पर देर तक किसी का कोई मतलब नहीं समझ सकी। वह वहाँ क्यों आयी ? कैसे आयी ? यद्यपि उसके अंग-अंग में स्पन्दन अनुभूत हो रहा था तो भी उसे किसी प्रकार की व्यथा का अनुभव नहीं हो रहा था। क्या वह उड़कर आयी है ? उसे रास्ते की कोई स्मृति नहीं थी। वह हैरान थी कि वहाँ कैसे आ गयी है। उसने जिज्ञासाभरी दृष्टि से गुरुदेव की ओर देखा। उनकी आँखों से कारुण्य-धारा उमड़ पड़ी। ज्वालाओं के उस भाण्डार में कितना रस था ! गुरु ने बड़े स्नेह से चन्द्रलेखा की ओर देखा, फिर धीरे-धीरे बोले, 'देवि, मैं व्याकुल हूँ, मैं तुम्हारी सहायता चाहता हूँ।'

"चन्द्रलेखा का हृदय सहस्र धाराओं में ढरक पड़ने को उत्सुक हो गया। क्या है उसके पास जिसे देकर वह गुरु की व्याकुलता दूर कर सकती है ? महारात्रि के सिवा कौन उस औत्सुक्य का साक्षी था ! चन्द्रलेखा ने विनीत भाव से कहा, 'अवहित हूँ, गुरो, क्या आज्ञा है ?'

"गुरु ने बिना भूमिका के ही उत्तर दिया, 'शुभे, संसार में बड़ा दुःख है, रोग है, शोक है, दरिद्रता है, मोह है। मैं व्याकुल हूँ। अगर समस्त जगत् का दुःख मुझे मिल जाता तो मैं अनन्त काल तक नरक भोगने के लिए तैयार हो जाता। पर मैं जानता हूँ यह असम्भव है। संसार का प्रत्येक जीव अपने ही कर्म के जाल में उलझा हुआ है। जो करता है, वही भोगता है, यही अलंघ्यविधान है। हाय, अज्ञान के कोल्हू में ये हतभाग्य पिसे जा रहे हैं ! फेन-बुद्बुद् से भी अस्थिर विषयों के पीछे भागते हुए अपना इहलोक और परलोक नष्ट कर रहे हैं। सुन्दरि, चारुशीले, इन्हें बचाने के लिए मेरा हृदय रो रहा है। विधाता ने तुम्हें समस्त स्त्री-लक्षणों से मण्डित करके इस धरा-धाम में भेजा है। तुम्हीं मेरी सहायता कर सकती हो। मैं कोटिवेधी रस बनाना चाहता हूँ। परन्तु जब तक समस्त स्त्री-लक्षणों से मण्डित सुन्दरी का हाथ नहीं लगता तब तक यह रस तैयार नहीं हो सकता। देवि, दुःख और शोक से छटपटाते हुए इन विषयासक्त जीवों को देखो।

तुम इनका उद्धार कर सकती हो। मेरी सहायता करो।' "

रानी का स्वर जरा धीमा हुआ, पर वे रुकी नहीं, कहती ही गयीं, "चन्द्रलेखा कुछ विशेष समझ नहीं सकी। उसे ऐसा लगा कि उसका हृदय चन्द्रकान्तमणि की भाँति पसीज गया है। वह क्या सुन रही है? यह भी क्या सम्भव है? क्या ऐसा रस बन सकता है, जो एक ही मात्रा से करोड़-करोड़ मनुष्यों को रोग से, शोक से और मोह से मुक्त कर दे? इस नश्वर काया के भीतर क्या कोई ऐसा रासायनिक परिवर्तन सम्भव है, जिससे इसका क्षण-विध्वंसी धर्म रुक जाये? और यदि सब लोग रोग, जरा और मृत्यु से छूट जायें तो क्या वे अस्थिर विषयों के पीछे भागने से विरत हो जायेंगे? वह देर तक गुरु के करुणाकषायित नयनों की ओर एकटक देखती रह गयी। अचानक समूचा श्मशान फेरुओं (शृगालियों) के प्रचण्ड विराव से मुखर हो उठा। उलूकों ने घूत्कार के साथ इस विकट नाद का स्वागत किया। चन्द्रलेखा भीतर से बाहर तक अश्वत्थ (पीपल) के पत्ते की तरह काँप उठी। न जाने कौन-सा अज्ञात रहस्य उसे भीतर-ही-भीतर मसल रहा था।

"गुरु ने आश्वासन देते हुए कहा, 'देवि, भय की कोई बात नहीं है। कुतर्क तुमको विचलित कर रहा है। तुम धीरे-धीरे इस रहस्य को समझ सकोगी। तुमने साक्षात् शिवावतार गुरु गोरक्षनाथ का नाम सुना है न? उन्होंने वायु के संयमन से शरीर को अजर-अमर बनाने की विधि सिखायी है। उन्होंने ही पारद से अमोघ-रस-सिद्धि होने की विधि बतायी है। देवि, पारद को सामान्य धातु मत समझो; वह भगवान् त्रिनयन के सर्वांग का सारभूत रस है। और अभ्रक? वह भी जगन्माता का सर्वांग विनिर्गत सार-रस है। कुतर्क मत करो देवि, भगवान् ने स्वयं जगन्माता से इस महान् रस की महिमा बतायी है।[9] चित्त स्थिर करो। कोटिवेधी रस बनाओ। मैं अभी सिद्ध नहीं हो सका हूँ, परन्तु मेरे गुरु सदा सहाय हैं। जगत् के दुःख-कातर प्राणियों के उपकार के लिए तुम अपने समस्त संकल्प-विकल्पों का परित्याग करो। शुभ-बुद्धि सदा शुभ फल ही देती है। संकोच और झिझक छोड़ो। भगवान् पार्श्वनाथ के पादमूल में बैठ जाओ। आदेश, आदेश, आदेश!'

"धीरे-धीरे पूर्व गगन-मण्डल से नवमी का क्षीणप्राय चन्द्रमा उदित हुआ। नदी-पुलिन के नरकंकाल और कपाल-कर्पर उसकी शुभ्र ज्योत्स्ना में स्पष्ट दिखायी दे गये। चन्द्रलेखा ने उन्हें मृत्यु के अलंघ्य विधान के चिह्न के समान देखा। मृत्यु कितनी भीषण है! ये कंकाल किसी दिन सुन्दर मनुष्य होंगे। यौवन की लहरें इनमें भी उछलती होंगी, अनुराग का ज्वार इनको भी अभिभूत कर गया होगा। पर आज मृत्यु ने इन्हें कुत्सित बना दिया है। चन्द्रलेखा की भी एक दिन यही गति होगी। मृत्यु उस दिन यह नहीं सोचेगी कि विधाता ने चन्द्रलेखा को सम्पूर्ण स्त्री-लक्षणों से युक्त बनाया है। इसी मृत्यु पर विजय पाना है, यह स्त्री-लक्षण उसके शस्त्र होंगे।

"चन्द्रलेखा का मन एकाएक झूम उठा। स्त्री-लक्षण दुर्जेय अस्त्र हैं। जैसे

नवीन मेखमाला को देखकर मयूरी भाव-विह्वल हो जाती है, उसी प्रकार नये विचारों को पाकर उसका हृदय मदमत्त हो गया। अब कोई स्त्री विधवा न होगी, कोई माता निपूती न होगी, कोई बालिका अनाथ न होगी। चन्द्रलेखा मृत्यु-विजय के दुष्कर कार्य का निमित्त बनेगी ! वह गुरु के आदेश-पालन के लिये तैयार हो गयी। पार्श्वनाथ की रत्नमूर्ति को उसने प्रणाम करके चुपचाप मर्दन-यन्त्र हाथ में ले लिया। गुरु ने आविष्ट भाव से अघोरनाथ की स्तुति की। चन्द्रलेखा एकटक उनकी ओर देखती रही। गुरु ने समाधि लगायी।''

मैं मन्त्रमुग्ध-सा सुनता रहा। रानी बिना रुके सुनाती गयीं। एक बार भी उन्होंने अपने को 'मैं' नहीं कहा। सदा चन्द्रलेखा की बात करती रहीं, जैसे चन्द्रलेखा उनसे भिन्न कोई और स्त्री हो। मैं आश्चर्यचकित सुनता गया। रानी अभिभूत की भाँति कहती गयीं :

''एक क्षण के लिए भी चन्द्रलेखा ने अपनी निमेष-शून्य दृष्टि को गुरु के मुख से नहीं हटाया। उसे ऐसा मालूम हुआ कि गुरु की समाधि टूट रही है। उन्हें अकारण छींक आ गयी। वे अस्वाभाविक हुंकार के साथ जाग पड़े। उनकी आँखें थोड़े ही समय में सिन्दूर-रेखा के समान लाल हो गयी थीं। चन्द्रलेखा की ओर देखते हुए उन्होंने कहा, 'विघ्न-वाहिनी तैयार है। देवि, बिल्कुल विचलित न होना, मेरे ऊपर विश्वास रखना। यदि कोई विघटित घटे तो मेरे गुरुभाई कन्थड़ीनाथ से उपाय पूछना। वे सोमेश्वर तीर्थ में हैं, या सीधे चन्द्रगुहा में गुरु के समीप चली जाना। भय की कोई बात नहीं है।'

''चन्द्रलेखा फिर एक बार काँप गयी। परन्तु उसने आज्ञा शिरोधार्य की। गुरु ने दुबारा समाधि लगायी।

''रसमर्दन के लिए चन्द्रलेखा ने पहली बार हाथ चलाया। खरल में खर-खराहट हुई और उसे ऐसा मालूम हुआ कि समूचा वायुमण्डल खरखरा उठा है। फूटे काँसे के बरतन की कटुक्वणन के समान वह विचित्र ध्वनि सारे श्मशान में व्याप्त हो गयी। चन्द्रलेखा ऊपर से निर्विकार बनी रही, पर भीतर-ही-भीतर वह डर गयी। उसका डर बढ़ता गया। वह तेजी से हाथ चलाने लगी। वह जितनी ही तेजी से हाथ चलाती गयी, मन उतना ही चंचल होता गया। न जाने कब उसकी दृष्टि गुरु के मुख पर से हट गयी। सेंढ़ी की लहरें तेजी से पुलिन-भूमि पर टकराने लगीं। कंकाल एक-एक करके उठने लगे और विकट नृत्य करने लगे। चन्द्रलेखा उस उद्दाम नृत्य को देर तक देख नहीं सकी। भय से उसकी आँखें अपने-आप बन्द हो गयीं, पर वह कान से विकट अट्टहास और कर्णकटु खरखराहट बराबर सुनती रही। रह-रहकर गृध्रों की फड़फड़ाहट और शृगालों का भयंकर नाद सुनायी दे जाता। चन्द्रलेखा ने रसयन्त्र को छोड़ा नहीं, परन्तु भय के मारे उसके हाथों में एक अद्भुत जड़िमा आ गयी। उसने स्थिर होना चाहा। मन को उसने बार-बार आश्वस्त करना चाहा कि यह सब मिथ्या भय है, गुरु के रहते कहीं भय की आशंका नहीं है; पर समझाने से क्या होता है ? वह अवश जड़िमा

का शिकार होकर ही रही।"

रानी अनर्गल धाराप्रवाह बोले जा रही थीं। मैं कुछ समझ नहीं सका कि उनके भीतर परिवर्त्तन क्यों और कैसे हो रहा है; आँखें फाड़कर आश्चर्य से उनकी ओर देखता रहा। कहीं कुछ घट रहा है, पर क्या घट रहा है?

9

मुझे रानी से बहुत-कुछ कहना था। इन छः महीनों में मैं दूर-दूर तक घूम आया। कालिंजर, कान्यकुब्ज, काशी और मगध तक चक्कर मार आया था। रानी ने प्रजा को उद्बुद्ध करने की जो प्रेरणा दी थी, उसे मैंने गुरुमन्त्र का महत्त्व दिया था। भय-त्रस्त, निराश और हतोत्साह जन-समूह में मैंने निश्चित रूप से आशा और उल्लास की लहरें देखी थीं। मैंने छोटी-से-छोटी समझी जानेवाली जाति के लोगों से मैत्री की थी और अत्यन्त पतित समझे जानेवालों में जाकर उनके निदारुण दुःख की ज्वाला का साक्षात् परिचय पाया था। मैं अपने अनुभव उन्हें बताना चाहता था। मैं उनसे अनुरोध करने जा रहा था कि अब योग्य नेतृत्व की आवश्यकता है। रानी के बिना मैं अपने को पंगु पा रहा था। मुझे आशा थी कि छः महीनों में नागनाथ की साधना समाप्त हो चुकी होगी और अब रानी मुझे नया आलोक देने और नवीन प्रेरणा से उद्बुद्ध करने का काम करेंगी। परन्तु रानी अपने में ही खोयी हुई लग रही थीं, जैसे किसी ने भयंकर उच्चाटन-मन्त्र का प्रयोग करके उनके मस्तिष्क का सन्तुलन ही नष्ट कर दिया हो। वे धारा-प्रवाह बोलती जा रही थीं। मुझे कभी-कभी ऐसा लगता था कि उन पर किसी अपदेवता का आवेश है।

अपने को प्रथम पुरुष में कहना कोई सिद्धि है या आवेश? हाय, मैंने क्या अपने ही पैर पर अपने हाथों कुल्हाड़ी मार दी है? यह क्या देख रहा हूँ? सम्पूर्ण जनता को उद्बुद्ध करने का संकल्प क्या बीच ही में कुण्ठित हो जायेगा? एक क्षण के लिए मेरे मन में रानी को टोककर अपनी बात कहने की इच्छा प्रबल हो गयी। फिर परन्तु मैंने सोचा कि उन्हें कह लेने दूँ। आविष्ट अवस्था में वे चन्द्र-लेखा के अनुभवों को बता रही थीं, मानो चन्द्रलेखा उनसे कोई भिन्न व्यक्ति हो। परन्तु प्रयत्न करके भी मैं उनमें कोई विक्षेप का लक्षण नहीं देख पाया। वे कहती गयीं और मैं सुनता गया। उनकी अंग-यष्टि स्थिर सौदामिनी की भाँति चमक रही थी और उससे लावण्य की अजस्र छटा छिटक रही थी। निस्सन्देह वे पहले

की अपेक्षा अधिक मनोहर लग रही थीं। परन्तु दहकती अग्नि को स्पर्श करने में जैसे भय लगता है, उसी प्रकार उनको मैं दूर से ही भयपूर्वक देख रहा था, एक दूरी आ गयी थी। मेरा हृदय भय से व्याकुल हो उठा। पर रानी के चेहरे पर कोई विकार का भाव नहीं उदित हुआ। वे उसी प्रकार आविष्ट अवस्था में कहती गयीं। एक क्षण के लिए भी वे रुकी नहीं। उन्होंने जो पाया था, उसे दोनों हाथों लुटाना चाहती थीं। मैंने जो खोया था, उसका हिसाब समझ में नहीं आ रहा था। कैसे कहूँ कि देवि, तुम मेरे प्रति निर्दय आचरण कर रही हो! कैसे कहूँ कि रानी, तुम्हारे बताये मार्ग पर चलनेवाला 'सातवाहन' आज दिङ्मूढ़ हो गया है! कैसे कहूँ कि भगवति, सन्त्रस्त प्रजा आज तुम्हारा नेतृत्व चाहती है। रानी रुकी नहीं, कहती गयीं :

"धीरे-धीरे चन्द्रलेखा की चेतना लुप्त होने लगी। पूर्वी आकाश में एक छोटा-सा मेघ-खण्ड दिखायी दिया जो देखते-देखते दिगन्त के इस छोर से उस छोर तक व्याप्त हो गया। धूसर बादलों का यह विचित्र जमाव क्रमशः गाढ़ा होता गया। यमराज के भैंसे की भाँति उसके रंग और ढंग दोनों भीतिजनक थे। एकाएक वज्र-निनाद से दिशाएँ काँप उठीं और विद्युत्स्फोट के भयावने पिंगल प्रकाश से दिगन्तराल तड़तड़ा उठे। एक वक्र ज्योति-रेखा पूर्वी दिगन्त को चीरकर निकल गयी। ऐसा मालूम हुआ कि उस ज्योति के भीतर से ही एक जटिल तपस्वी पृथ्वी पर चू पड़े। उनके प्रशस्त ललाट पर श्वेत भस्म की त्रिपुण्ड-रेखा सिद्धि-सोपान के समान दिखायी दे रही थी। उनके बायें हाथ में अक्षमाला और दाहिने में सिन्दूरलिप्त त्रिशूल था। उनके कानों के मध्य-भाग में एक छिद्र था जिसमें हरिण के सींग से बनी हुई काली मुद्रा थी। वे उड़ते-से जान पड़ते थे। उनके गले में झूलती हुई सेली और शृंगी बार-बार वायु-वेग से हिल जाती थी और बाहुमूल की रुद्राक्ष माला के साथ उनके पिंगल जटा-भार का संघर्ष प्रायः हो जाया करता था। चन्द्रलेखा ने स्पष्ट ही देखा कि यद्यपि वे उसी ओर आ रहे थे, परन्तु उनकी दृष्टि कहीं अन्यत्र थी।

"इसी समय उसे पीछे से निकट आती हुई छाया-मूर्त्ति दीखी, जिसके पीछे-पीछे गिद्धों और सियारों की सेना चली आ रही थी और कपालवाहिनी योगिनियों का एक विशाल यूथ उन्मत्त की भाँति झूमता दौड़ा आ रहा था। सबके आगे महाविद्या का सर्वाधिक भीषण रूप छिन्नमस्ता थी। चन्द्रलेखा भय से काँप उठी। उस नग्न भयंकर शरीर के मध्यदेश को घेरकर एक पतली-सी कनकमेखला विराजमान थी। छिन्नमस्ता के एक हाथ में कराल कृपाण था और दूसरे में अपना ही मनोहर मुख उन्हीं के रुण्ड से उच्छलित रक्तधारा का मस्ती से आस्वादन कर रहा था। उनकी दोनों सखियाँ—वर्णिनी और डाकिनी—छककर रक्तपान करती हुई भागी आ रही थीं। वायु की गति तेज मालूम हुई, बिजली की कड़क और तीव्र होकर दिग्दिगन्त को चटकाने लगी, मेघ-पुंज और भी काला हो उठा।

"छिन्नमस्ता रुक गयीं।

"ऐसा जान पड़ा, जैसे समस्त वायुमण्डल स्तब्ध हो गया है। भूचक्र साँस रोककर कुछ अप्रत्याशित घटने की प्रतीक्षा कर रहा है और कालदेवता का अकुण्ठ नर्त्तन बीच में ही ठिठक गया है। छिन्नमस्ता का मुख बोल उठा—'सामने समस्त स्त्री-लक्षणों से युक्त यह चन्द्रलेखा है। इसके सिद्धिदाता मांस से तुम लोग अपनी भूख मिटाओ।' योगिनियों का दल विकट उल्लास से नाच उठा, फेरुओं के चण्ड विराव से दिगन्तराल चटचटा उठे और उलूकों के कर्णकटु घूत्कार से आकाश फटने लगा। चन्द्रलेखा के नख से शिख तक आशंका की भयंकर झंझा बह गयी। इसी समय तपस्वी ने बाधा की। उनका कण्ठ-स्वर स्पष्ट था, प्रत्येक वर्ण स्फुट उच्चारण के कारण सुश्राव्य था और स्वर में एक प्रकार का विश्वास का भाव प्रकट हो रहा था। तपस्वी ने कहा, 'अनुचित हो रहा है देवि! पारद की मर्यादा पर चोट नहीं पहुँचनी चाहिए। चन्द्रलेखा के हाथ में धूर्जटि का तेज है; उसकी मर्यादा तुम नहीं बचाओगी तो कौन बचायेगा? भगवति, केवल विरोध के लिए ही विरोध करना तुम्हें नहीं शोभता।'

"चन्द्रलेखा ने आश्चर्य से देखा कि छिन्नमस्ता का मुख शरीर पर यथास्थान बैठ गया। डाकिनी और वर्णिनी विचित्र भाव से एकरूप मिल गयीं। छिन्नमस्ता त्रिपुरभैरवी बन गयीं। अब भी उनके शरीर में श्यामिका और मुख में चण्डभाव था, परन्तु उनका बीभत्स भाव जाता रहा था। चन्द्रलेखा को याद आया कि किस प्रकार नारद ने पितृ-गृहस्थिता पार्वती को शिव के विरुद्ध उत्तेजित किया था, किस प्रकार पार्वती ने त्रिभुवन-मोहिनी का रूप धारण किया था, किस प्रकार शिव के हृदय में अपनी ही काली छाया देखकर रुष्ट हो गयी थीं और फिर किस प्रकार शिव ने नर्महास्य से उस छाया का नाम त्रिपुरभैरवी दे दिया था। त्रिपुरसुन्दरी की छाया ही त्रिपुरभैरवी है; केवल रंग का भेद है। चन्द्रलेखा को बचपन में सुनी हुई कथा याद आयी। इस रंग-भेद के कारण ही त्रिपुरभैरवी उपासक को जल्दी सिद्धि देती हैं। शिव के हृदय में स्थित होने के कारण और स्वयं महामाया-रूपा भगवती त्रिपुरसुन्दरी को मोहित करने के कारण वे भक्तों में सिद्धिदात्री-रूप में स्मरण की जाती हैं।[10]

"चन्द्रलेखा के ग्रह-गण आज प्रसन्न हैं, उसके जन्म-जन्मान्तर आज कृतार्थ हैं, आज वह साक्षात् त्रिपुरभैरवी को देख रही है। परन्तु यह तपस्वी कौन है? ज्योति-रेखाओं से ही इसका शरीर बना है। मानो अग्नि-शिखा से छानकर, सुवर्ण-शलाकाओं से बाँधकर, विद्युत्-शिखाओं को खरादकर और सूर्यकान्त मणियों को गलाकर ही यह अपूर्व ज्योतिमण्डल तैयार किया गया है। अहा, यह अकारण दयालु तापस कौन है?

"त्रिपुरभैरवी ने क्रोधपूर्वक कहा, 'गोरक्ष, तुम शिव के अंश ही नहीं हो, तुम साक्षात् शिव-रूप भी हो। तुम खूब जानते हो कि मैंने यह विकट रूप क्यों धारण किया है। धूर्जटि का यह तेज निष्फल है, इसने देवी के कोप को ही उभारा है।[11] यह अभिशाप है। संसार में इसकी महिमा प्रतिष्ठित नहीं हो सकेगी। चन्द्रलेखा

में समस्त स्त्री-लक्षण हैं, पर उसकी कुल-शक्ति प्रसुप्त है, पार्श्वनाथ के पाद-मूल में बैठकर तुम्हारे इस शिष्य ने उसका अपमान किया है। मैं तुम्हारे अनुरोध पर इसे छोड़ रही हूँ। परन्तु तुम्हारी तपस्या तब तक वन्ध्या रहेगी, जब तक तुम्हें त्रिपुरसुन्दरी का सहयोग नहीं मिलता। तुम जाकर शिव से कहो कि वे देवी को प्रसन्न करें, नहीं तो यह तप, यह वैराग्य, यह योग, यह हठ-कर्म सब फेन-बुद्बुद् की भाँति विलीन हो जायेंगे। नागनाथ ने तीन अपराध किये हैं। उसने चन्द्रलेखा की कुल-शक्ति के उद्बोधन का प्रयास नहीं किया, उसने स्त्री-गुरु की महिमा नहीं समझी और उसने वैराग्य को सिद्धि का सोपान माना है। यह प्रयत्न वन्ध्य है।'

"चन्द्रलेखा ने उस अपूर्व तेजस्वी तापस को पहचाना। ये महान् गुरु गोरक्षनाथ थे। देवी के वचन से उन्हें थोड़ा कष्ट हुआ। उनके स्मयमान मुखमण्डल में किंचित् आकुंचन हुआ। वे गुरु-गम्भीर स्वर में बोले, 'भगवति, अपराध मार्जित हो। निखिल देवगुरु भगवान् शंकर के समस्त शरीर की सारभूत तेजोवस्तु यह पारद है। इसका अपमान स्वयं त्रिपुरभैरवी भी नहीं कर सकतीं। देवि, तुम अमोघ-वाक् हो। यदि तुम्हारी यही इच्छा है कि पारद की महिमा जगत् में प्रतिष्ठित न हो सके तो स्वयं महाकाल भी उस इच्छा में बाधा नहीं पहुँचा सकते। परन्तु देवि, विचार करके देखो, तुम्हारा रोष क्या उचित है? एक तो शिव का तेज इससे अपमानित होता है, दूसरे समस्त स्त्री-लक्षण वन्ध्य और निष्फल हो जाते हैं, तीसरे उद्बुद्ध कुण्डलिनी की महिमा व्याहत होती है। गोरक्षनाथ मिट जाये, कोई चिन्ता नहीं, गोरक्षनाथ और नागनाथ का इस अनादि-अनन्त जगत्-प्रवाह में क्या मोल है! परन्तु नागनाथ ने जो महान् संकल्प किया है उसकी ओर देखो, गोरक्षनाथ मिट जाये, कोई चिन्ता नहीं, परन्तु समस्त जगत् के प्राणियों का जरा-मृत्यु से उद्धार करने का संकल्प महान् है। उसकी महिमा पर आँच आने से फिर जगत्-प्रवाह का मूल स्रोत ही सूख जायेगा। देवि, फिर से विचार करके देखो, तुम्हारा रोष क्या उचित है? संसार की तुम्हारे दक्षिण मुख की आवश्यकता है। देवि, यह प्रचण्ड रूप छोड़ो।'

"भगवती का मुख विकच पुण्डरीक की भाँति खिल गया। उनकी समस्त अंगयष्टि को घेरकर एक अपूर्व माधुरी लहरा उठी। क्रोध-ताम्र मुख सहज हो गया, सारा शरीर तप्त कांचन की तरह गौर हो गया। उन्होंने सरस स्मित के साथ कहना शुरू किया, 'गोरक्ष, तुम सत्य कहते हो। शिव के इस तेज की महिमा अभ्रक के योग से सिद्ध होगी। स्त्री-लक्षण निष्फल नहीं होंगे और प्रबुद्ध कुण्डलिनी तो मैं ही हूँ। नागनाथ से तुम उसके दोषों को सुधरवा दो। उसे अगर सिद्धि पानी है तो अपने को सम्पूर्ण रूप से शुभ-संकल्प को अर्पित कर देना चाहिए। जितना वह दे सकेगा, उतना ही पा सकेगा। उसमें अहंकार है। उसे पारद को सिद्ध करने का हठ है, उसने चन्द्रलेखा को गुरु नहीं माना है, उसने इसकी कुल-कुण्डलिनी को उद्बुद्ध नहीं किया है। इस अवस्था में चन्द्रलेखा को सिद्धि मिल भी गयी तो वह दुर्वह बोझ बन जायेगी।'

"चन्द्रलेखा ने त्रिपुरसुन्दरी के इस रूप को देखकर अपना भाग्य सराहा। उसे इससे बड़ी सिद्धि और क्या मिल सकती है ? परन्तु हाय, उसी दिन उसे क्यों नहीं विश्वास हो गया कि त्रिपुरसुन्दरी की वाणी अमोघ है, उसे सिद्धि मिलेगी, पर वह बोझ ही सिद्ध होगी !

"भगवती ने फिर एक बार गुरु गोरक्षनाथ की ओर स्नेह-भरी दृष्टि से देखा, बोलीं, 'माया से लड़ाई करना बेकार है। समस्त संसार अपने ही कर्मों से पच-पचकर मर रहा है। देखो गोरक्ष, इससे उद्धार पाने का कोई अगवाह रास्ता नहीं है। तुम अगवाह रास्ते का सन्धान छोड़ दो।'

"गोरक्ष ने हँसकर उत्तर दिया, 'अपराध मार्जित हो, देवि ! कर्म का विधान मिटाया जा सकता है, जन्म-मरण के पचड़े से निकलने का अगवाह रास्ता अवश्य है। माया से लड़ाई बेकार है, किन्तु माया को बेकार करने का मार्ग मुझे ज्ञात है। भगवति, तुम मेरे रास्ते से हट जाओ, नहीं तो भला नहीं होगा।'

"भगवती ने हँसकर कहा, 'देखा जायेगा।' और अन्तर्धान हो गयीं।

"चन्द्रलेखा इस प्रसंग की इस विचित्र परिणति को एकदम नहीं समझ सकी। वह अवाक् होकर तापस के मुख को निर्निमेष नयनों से देखती रह गयी। अहा, कैसा तेज है ! भगवती से भी लोहा लेने का कैसा अपूर्व दर्प है !

"भगवती के अन्तर्धान होते ही आकाश में नील मेघों का विकट गर्जन शुरू हुआ। झमाझम वर्षा होने लगी। गोरक्षनाथ के ऊपर एक ही साथ प्रलय के समस्त मेघ मानो टूट पड़े। धारासार वर्षा के भीतर गोरक्ष अद्भुत ज्योति-रेखा के समान दिखायी दे रहे थे। जान पड़ता था समस्त भूमण्डल ही कर्णिका-केन्द्र बना हुआ है और आकाश फाड़कर धारा-यन्त्र उच्छ्वसित हो रहा है। उस कर्णिका-केन्द्र में गोरक्षनाथ जल-चादर में झिलमिलाते हुए प्रदीप की भाँति दीख रहे थे। वर्षा और भी तेज हुई, और भी ! गोरक्षनाथ अविकृत भाव से खड़े रहे। फिर चन्द्रलेखा के मुख पर भी वर्षा के छींटे पड़ने लगे। उसने अनुभव किया कि वर्षा का वेग तेजी से उसकी ओर ही बढ़ रहा है।

"एकाएक उसकी आँखें खुल गयीं। सामने गुरुदेव कमण्डलु के जल से उसकी आँखों पर छींटे दे रहे थे। उसने आश्चर्य से चारों ओर देखा। उस समय न तो कहीं वर्षा हो रही थी, न आकाश में मेघ ही दीख रहे थे, न गोरक्षनाथ ही कहीं भीग रहे थे। चन्द्रलेखा ने यह सब क्या देखा ? क्या यह स्वप्न था ? उसे रोमांच हो आया। उसे चकित देखकर गुरु ने शान्त भाव से कहा, 'विघ्नों से भीत न हो देवि, शुभ-कर्म में विघ्न होते ही हैं।'

"किन्तु चन्द्रलेखा के मन से भय नहीं गया। वह यह स्थिर नहीं कर सकी कि गुरु को स्वप्न की सारी बातें बता देनी चाहिए या नहीं। इस स्वप्न का सचमुच क्या कोई अर्थ है ? एक बार उसने सोचा कि सब-कुछ साफ़-साफ़ गुरु को बता दे। परन्तु जब वह सोचती कि उस स्वप्न का वह अंश भी बताना पड़ेगा जिसमें स्त्री को गुरु बनाने की बात है, तो लज्जा और साध्वसवश उसके सारे शरीर में

स्वेदधारा बहने लगती। छि:, यह भी कहने की बात है ! हो सकता है कि उसने अपने ही चित्त-विकार को स्वप्न-रूप में देखा हो। ना, चन्द्रलेखा यह बात अपने गुरु से नहीं कह सकती।

"छः महीनें तक वह इसी आगा-पीछा का शिकार बनी रहीं। एक दिन जब गुरु ने ही कहा कि तुम्हारा चित्त उत्क्षिप्त जान पड़ता है, इसलिए सिद्धि नहीं मिल रही है, तो उसने बाध्य होकर स्वप्न की सारी बातें बता दीं। गुरु ने सुना तो सिर पीट लिया। बोले, 'अनर्थ हो गया देवि ! तुमने इतने दिनों तक स्वप्न क्यों नहीं बताया ? मैं व्यर्थ छः महीने से सिद्धि की आशा में भटक रहा हूँ; छः महीने से तीन-तीन महापराध करता आ रहा हूँ; छः महीने से शिव के तेज के साथ देवी के प्रसाद को मिलाये बिना रस सिद्ध करने का हठ करता आ रहा हूँ। हाय देवि, तुमने अब तक यह क्यों नहीं बताया ?'

"चन्द्रलेखा का हृदय सनाका खा गया। उसकी शिराओं में एक विचित्र भाव अनुभूत हुआ, जैसे सब-कुछ फटा जा रहा हो, जैसे सब-कुछ चक्कर खा रहा हो। उसने हाथ जोड़कर कहा, 'अपराधिनी हूँ गुरो, मुझे यह कहने में बड़ा संकोच हो रहा था कि तुम्हें स्त्री को गुरु बनाना पड़ेगा और वह स्त्री भी चन्द्रलेखा ही होगी।'

"नागनाथ हँसे; बोले, 'तुम नहीं जानतीं, देवि, मेरे गुरु गोरखनाथ से भगवती का झगड़ा है। कामरूप और हिंगलाज में दो बार भगवती का दर्प गुरु ने चूर्ण किया था। भगवती मेरे गुरु को परास्त करने का मौका खोज रही हैं। परन्तु गुरु ने कभी उसकी अवज्ञा नहीं की, कभी उनके प्रति किसी प्रकार का अविनय प्रकट नहीं किया, यही उनकी शक्ति है। उन्होंने मुझे स्पष्ट रूप से बतलाया कि भगवती की इच्छा के विरुद्ध कभी कोई कार्य न करना। भगवती को प्रसन्न करके ही सिद्धि मिल सकती है। हाँ देवि, भगवती ने ठीक ही कहा होगा कि स्त्री को गुरु बनाये बिना सिद्धि नहीं मिल सकती। गुरु की कृपा से ही समस्त विघ्न निरस्त होते हैं। समस्त स्त्री-लक्षणों का एकत्र मिलना दुर्लभ है। सो देवि, मुझे शिष्य बनाने की कृपा हो। तुम साक्षात् भवानी रूपा हो, तुम कुल-शक्ति का प्रसुप्त विलास हो, तुम महादेव की शक्ति हो। मैंने अब तक तुम्हारे इस रूप को न पहचानकर महापराध किया है।'

"चन्द्रलेखा का सारा शरीर रुद्धचेष्ट हो गया। उसे कुछ भी समझ में नहीं आया। जिन्दगी-भर जिसे गुरु समझा है, उसे क्या वह शिष्य समझ सकेगी ? समझे भी तो क्या वह सम्बन्ध सत्य होगा ? क्या गुरुत्व और शिष्यत्व भी बदला जा सकता है। क्या स्वप्न के आवेश में उसने अपने मनोविकारों का जो रूप देखा है, वह इतना बड़ा है कि गुरु को शिष्यत्व स्वीकार करना पड़े ? वह बार-बार सुन रही है कि समस्त स्त्री-लक्षणों का सन्निवेश दुर्लभ योग है। ये स्त्री-लक्षण क्या हैं ? कुछ शरीर-चिह्न, कुछ संयोग-प्राप्त वर्ण-समुच्चय, कुछ आकस्मिक आकुंचन-विकुंचन ! यही तो स्त्री-लक्षण हैं ? क्यों इनका समवाय दुर्लभ है ? स्त्री अगर

बड़ी है तो यों ही बड़ी है; चिह्नों को माहात्म्य देना क्या उचित है ? चन्द्रलेखा समझ ही नहीं सकी कि स्त्री-शरीर को इतना महत्त्व क्यों दिया जा रहा है। वह निर्निमेष भाव से गुरु के मुख की ओर ताकती रह गयी।

"परन्तु गुरु अपने में ही भूले हुए थे। वे किसी उलझे विचार की उधेड़-बुन में व्यस्त थे, बड़ी देर तक उसी प्रकार बैठे रहे, फिर एकाएक उठ खड़े हुए और बोले, 'शुभे, संकोच छोड़ो ! अशेष लोक के उपकार के लिए सब करना होगा। भगवती त्रिपुरसुन्दरी का आदेश अवश्य पालन करना चाहिए। तुम्हारे चित्त में कहीं भी कल्मष न रहे, कुछ भी गोपन न रहे। देवि, मुझे शिष्य-रूप में स्वीकार करो।'

"दूसरे दिन गुरु ने बड़ा भारी आयोजन किया। चन्द्रलेखा ने केवल निरासक्त साक्षी की भाँति सब-कुछ देखा। गुरु के शिष्यत्व-वरण को भी वह गुरु की आज्ञा ही समझती रही। कब वह वेदिका पर बिठा दी गयी, कब उसे पुष्प, धूप, दीप आदि नैवेद्य समर्पित किये गये, कब उसकी आरात्रिका उतारी गयी, यह सब उसे कुछ भी नहीं मालूम हो सका। उसके लिए यह सब-कुछ शून्य था, निरर्थक था। वह केवल गुरु का निदेश पालन कर रही थी। उसकी अर्थहीन दृष्टि के सामने ही गुरु गद्‌गद स्वर में पाठ कर रहे थे :

"त्वमेव गुरुरूपेण लोकानां त्राणकारिणी।
गया गंगा काशिका च त्वमेव सकलं जगत् ॥
कावेरी यमुना रेवा करतोया सरस्वती।
गोमती चन्द्रभागा च त्वमेव कुलपालिके ॥
ब्रह्माण्डं सकलं देवि कोटि ब्रह्माण्डमेव च।
नाहि ते वक्तुमर्हामि क्रियाजालं महेश्वरि ॥

"उन्होंने भक्तिभाव से चन्द्रलेखा के चरणों पर पुष्पांजलि बिखेर दी। अब चन्द्रलेखा को होश आया। उसे याद आया कि यह महादेव का पढ़ा हुआ स्तोत्र है। नागनाथ ने ही 'कंकालमालिनी' तन्त्र से पाठ करके यह 'स्त्री-गुरु-गीता' उसे सुनायी थी। छिः, कैसा दुर्भाग्य-विडम्बन है ? चन्द्रलेखा का रोम-रोम सिहर उठा। समस्त जीवन के बद्धमूल संस्कार उसे दबोच बैठे। उसने पैर खींच लिये। उसकी अन्तरात्मा ने विद्रोह किया। वह बिल्ला उठी, 'यह अनुचित है।' परन्तु हाय रे बुद्धिहीना, तूने क्या कभी सोचा था कि तेरे हृदय में नागनाथ के लिए कितना महार्घ सिंहासन सुसज्जित था !

"गुरु ने शान्त भाव में कहा, 'देवि, प्रसन्न होओ।'

"चन्द्रलेखा क्या प्रसन्न हो ? उसका रोम-रोम विद्रोह कर उठा। उसके अतल गम्भीर हृदय से धिक्कार निकला, 'स्त्री-शरीर को इतना महत्त्व देनेवाले को मैं बहुत ऊँचा सिद्ध नहीं समझ सकती। यह विकृत चिन्तन का परिणाम है। केवल जड़-पिण्ड की बनावट को आश्रय करके जो साधना चलेगी वह व्यर्थ होगी। गुरो, तुम भूल रहे हो। जो सिद्धि जड़-मांसपिण्ड को आश्रय करके मिलेगी, वह जड़ता को ही बढ़ावा दे सकती है। मैं स्त्री-पूजा के इस विकृत रूप का प्रत्याख्यान

करती हूँ।' और उसने सचमुच ही हाथ से झटककर पुष्पमाला एक तरफ फेंक दी। वह आयोजन उसकी सहन-सीमा के परे हो गया था।

"नागनाथ अविचलित रहे। शान्त भाव से बोले, 'भगवति, प्रसन्न होओ।'

"चन्द्रलेखा का औद्धत्य परास्त हो गया। वह चुप हो गयी। परन्तु उसे भीतर-ही-भीतर ऐसा अनुभव होने लगा जैसे हृदय को कोई कुरेद रहा हो। उसने पूजा ग्रहण नहीं की, पर नागनाथ सन्तुष्ट हो गये। न जाने किस यवनिका के अन्तराल में कौन-सी क्रूर नियति हँस रही थी!

"चन्द्रलेखा को पुराने दिन याद आ गये। सारा भूतकाल नखदर्पण की छाया के समान उसे प्रत्यक्ष दीख गया। गाँव के किसान की लड़की, सातवाहन का प्रथम साक्षात्कार, रानी का गौरव, सब-कुछ उसके सामने घूम गया।" रानी ने इस बार मेरी ओर देखा। वे आविष्ट की अवस्था में दीख रही थीं। वे इस प्रकार बोलती जा रही थीं जैसे चन्द्रलेखा कोई और हो। प्रसंग कुछ ऐसे स्थान पर आ गया कि उन्हें एक दचका लगा; जैसे वे एकाएक होश में आ गयीं। उन्होंने मेरी ओर देखा और फिर कुछ लज्जावनत भाव से मन्द स्मित के साथ कहा, "तुम तो जानते ही हो!"

रानी को यह क्या हो गया है? वे क्या सचमुच कुछ बदल गयी हैं? क्या रानी से भी कोई बड़ा रूप आरम्भ हो गया है? मेरा चित्त आशंका से व्याकुल हो गया। रानी की ओर देखने की शक्ति भी तिरोहित हो गयी। जिसे पाया था, उसे खोता जा रहा हूँ, खो चुका हूँ। मुझसे सहा नहीं गया। एकाएक चिल्ला उठा, "बस करो रानी, तुम ऐसे ही हँसती रहो। जो अभी तक कह गयी हो वह सपना है। उसमें भ्रम है, उसमें मिथ्या की मिलावट है, वह असत्य है!"

रानी को धक्का लगा। वे निर्निमेष मेरी ओर देखती ही रह गयीं।

10

रानी फिर कोटिवेधी रस सिद्ध करने के कार्य में सहायता करने चली गयीं। रह-रहकर उनमें पुराना भाव आ अवश्य जाता था, परन्तु वह स्थायी नहीं होता था। कोई बड़ा भारी मोह उनके चित्त में घर कर गया था। मेरे प्रति उनके व्यवहार में करुणा और दया का भाव था। वे निःशेष जगत् के दुःख को दूर करने में अत्यधिक प्रयत्नशील थीं; उनका दृढ़ विश्वास था कि कोटिवेधी रस सिद्ध होगा और संसार जरा-मृत्यु के चक्र से त्राण पायेगा। परन्तु जब कभी वे स्वस्थ

भाव से सोचती थीं तभी मुझे प्रजा को संघबद्ध करने की सलाह देती थीं। उनको विदा करने में मुझे बड़ा कष्ट हुआ, पर हृदय पर पत्थर रखकर मुझे विदा करना पड़ा।

मैं एक विचित्र असमंजस में था। क्या रानी को न रोककर मैं पतिधर्म से च्युत नहीं हो रहा हूँ ? क्या रानी को जान-बूझकर मृग-मरीचिका की ओर जाने देना उचित हुआ ? परन्तु फिर मेरे मन में दूसरे प्रश्न भी उठते थे। सचमुच ही उस विचित्र साधना से क्या जरा-मृत्यु का पाश कट जायेगा ? कौन कह सकता है ? मैं अपने चित्त की उलझनों को इस मार्ग में बाधक क्यों होने दूँ ? मैं व्यष्टि-दृष्टि में अभिभूत हूँ, रानी समष्टि-दृष्टि अपनाना चाहती हैं; मेरी ओर से ममता बोल रही है, उनकी ओर समता का बल है। विचित्र उलझन थी ! मेरा रोम-रोम कह रहा था कि रानी की साधना भ्रान्ति मात्र है। महाकाल का अकुण्ठ विलास रुकनेवाला नहीं है, जरा और मृत्यु को अस्वीकार करने का प्रयत्न साहस-मात्र है। परन्तु रानी से मैं यह सब नहीं कह सकता, रानी ने निश्चित रूप से समझा कि मैं उन्हें प्रसन्नतापूर्वक अनुमति दे रहा हूँ। वे चली गयीं। मैं उदास और हतदर्प होकर कालक्षेप करने लगा। परन्तु इस प्रकार का अलस-विलास भी देर तक नहीं टिक सका।

धीर शर्मा ने बहुत ही चिन्ताजनक समाचार दिया। मेरे अग्रज के दो पुत्र थे। बहुत अल्प वयस में इन्हें छोड़कर वे स्वर्ग चले गये। मेरी भाभी शोकावेश को सँभाल नहीं सकीं; इन नन्हे बच्चों को छोड़कर सती हो गयीं। मैंने अपने हृदय के सम्पूर्ण स्नेह से इनका लालन-पालन किया। रानी भी इन्हें इसी प्रकार स्नेह करती थीं। उन्होंने सदा इन्हें अपने पुत्रों के समान माना। धीर शर्मा पर इनकी शिक्षा-दीक्षा का भार था। वे इन्हें बड़े उत्साह से शास्त्र पढ़ाते थे। इनके शील और विनय से वे बहुत प्रभावित थे। परन्तु एकाएक उन्होंने चिन्ताजनक समाचार सुनाया।

धीर शर्मा ने बताया कि गोपाद्रि दुर्ग के पास कोई बड़ा भारी शैव मठ है, वहाँ के मठाधीश नेहनानानन्द दक्षिण से आये हैं। वे बहुत बड़े विद्वान् और तपस्वी हैं। परन्तु उस मठ में कई सम्प्रदाय के साधु रहते हैं जो तपस्या तो करते ही हैं, आवश्यकता पड़ने पर शस्त्र भी ग्रहण करते हैं। इधर दिल्ली के सुलतान की कोई सेना गोपाद्रि के पास गाँव की निरीह प्रजा को कष्ट दे रही थी। प्रजा ने मेरे उद्बोधन के अनुसार कार्य किया और सैनिकों से डटकर लोहा लिया। सैनिक प्रबल थे, उन्होंने गाँव जला दिये। हताश और सन्त्रस्त ग्रामीण भागकर मठ में पहुँचे। नेहनानानन्द ने प्रजा के दुःख से द्रवित होकर अपने शिष्यों को शस्त्र ग्रहण करने का आदेश दे दिया। साधुओं ने जमकर लड़ाई की और सैनिकों को भाग जाने को विवश किया। इसका परिणाम जो होना था वही हुआ। दिल्ली के सुलतान ने मठ की एक-एक ईंट उखाड़ देने का आदेश दिया है। बहुत बड़ी सेना दिल्ली से चल चुकी है।

यहाँ तक तो दुश्चिन्ताजनक संवाद गम्भीर था ही, पर धीर शर्मा ने और भी दुःखद संवाद सुनाया। उन्होंने बताया कि विपत्ति मेरे परिवार में घुस आयी है। मठ मे नेहनानानन्द, जिन्हें प्रजा संक्षेप में नाना गोसाईं कहती है, का एक दुष्ट प्रतिद्वन्द्वी है। वह भी दक्षिण के किसी प्रदेश से आया है, किन्तु अब वह अपने को स्थानीय जन का ही अंग कहता है। उसके अनुयायी 'घुण्डक' साधु हैं। ये लोग तप तो कम करते हैं और मठ में उत्पाद अधिक करते हैं। ये वेदान्त की शिक्षा के विरोधी हैं और शैव-मत की प्रतिष्ठा के लिए राज-शक्ति का सहारा पाने में अधिक विश्वास रखते हैं। इनका नेता ही घुण्डकेश्वर स्वामी कहलाता है। बहुत दिनों से वह नाना गोसाईं के स्थान पर अपने को प्रतिष्ठित करने के प्रयत्न में है। अवसर देखकर उसने दिल्ली के सुल्तान का पक्ष ग्रहण किया है। वह एक-दो बार दिल्ली हो भी आया है। उसने दिल्ली में यह देखा कि वहाँ के सरदार सीदी मौला की रसायन-विद्या से बहुत प्रभावित हैं। उसे यह भी पता लगा है कि नागनाथ कोटिवेधी रस प्रस्तुत कर रहे हैं। दिल्ली में उसकी किसी आभड़ नामक व्यापारी से मित्रता हुई है; उसी की सहायता से उसने रस सिद्ध होने पर नागनाथ की हत्या करके रस हथिया लेने का संकल्प किया है। घुण्डकेश्वर स्वामी का विश्वास है कि यदि यह रस उसके हाथ लग गया तो दिल्ली के तुर्क सरदारों को वह आसानी से वश में कर सकता है। परन्तु इस कहानी का दुःखजनक अंश यह है कि मेरे भतीजों को इस हत्याकार्य में सहायता देने के लिए उभारा गया है। उन्हें यह समझाया गया है कि इसी रास्ते वे अपने पिता का राज्य पा सकते हैं। उन्हें यह भी बताया गया है कि यदि चन्द्रलेखा के कोई सन्तान हुई तो उनके राज्य पाने का अधिकार छिन जायेगा। कल ही वे लोग यहाँ से चुपचाप सेंढ़ी तट की ओर चले गये हैं। धीर शर्मा को यह सारा रहस्य उनके चले जाने के बाद नाना गोसाईं के एक शिष्य से ज्ञात हुआ है।

मेरे सामने यह विषम समस्या ऐसे समय आयी जब मैं मानसिक रूप में अवश-जड़िमा का शिकार हो चुका था। मैंने स्वप्न में भी नहीं सोचा था कि मेरे पुत्रों को कोई इस प्रकार बहका सकता है। क्षण-भर तो मैं हतबुद्धि-सा पड़ा रहा, परन्तु तुरन्त मुझे ऐसा लगा कि सोच-विचार का समय ही नहीं है। मैंने धीर शर्मा को आज्ञा दी कि तुरन्त कुछ सैनिकों के साथ सेंढ़ी नदी के किनारे महा-श्मशान की ओर जायें और यथासाध्य अनर्थ को रोकने का प्रयत्न करें और स्वयं सुलतान की सेना को मार्ग में रोकने का उपाय सोचने के लिए विद्याधर भट्ट के पास गया।

विद्याधर भट्ट पहले ही सोच चुके थे। मुझे देखते ही उन्होंने कहा, "राजन्, अब सोचने-विचारने का समय नहीं है। सुलतान की प्रचण्ड सेना को सम्मुख युद्ध में ललकारना मूर्खता है। उसे चम्बल के दुर्गम डूहों में भटका-भटकाकर कुचल दो। हमारे एक सहस्र संघटित जवान सुलतान की पचास सहस्र सेना को निश्चित रूप से कुचल देंगे। आज तुम्हारी योजना की परीक्षा है। यदि प्रजा ने संघबद्ध

होकर साथ दिया तो चर्मण्वती के ये विस्तीर्ण कान्तार तुर्कों की समाधि-भूमि बनेंगे। समाचार मिल गया है कि तुर्क सेना गोपाद्रि दुर्ग की ओर उसी के पास से आगे बढ़ रही है। राजन्, आज निश्चित हो जायेगा कि यह आर्यभूमि स्वतन्त्र रहेगी या विदेशियों के पदाघात से निरन्तर जर्जर होती रहेगी।"

जर्जर वृद्ध विद्याधर भट्ट का उत्साह देखने योग्य था। उन्होंने स्वयं सेना का नेतृत्व ग्रहण करने की अभिलाषा व्यक्त की। बोले, "राजन्, आज मुझे अवसर मिला है। रोको मत। मैं आज असाध्य-साधन के लिए कृतसंकल्प हूँ। यदि मैं विदेशियों की प्रचण्ड वाहिनी को भटका-भटकाकर निःशेष कर सका तो अपना जीवन धन्य मानूँगा। प्रबल पराक्रान्त जयित्रचन्द्र के अन्न का बना रक्त अभी सूखा नहीं है। मैं सम्मुख युद्ध के लिए तुम्हें छोड़ रहा हूँ। यह विकट युद्ध होगा। राजन्, मैं शीघ्र स्वर्ग जाऊँगा। यदि इन दुर्वृत्तों के दाँत उखाड़े बिना वहाँ गया, तो जयित्रचन्द्र को कैसे मुँह दिखा सकूँगा! विष के सारे दाँत तोड़े बिना मैं स्वर्ग नहीं जा सकूँगा। रोको मत महाराज, आज महामृत्यु का खेल होनेवाला है; विद्याधर जम के खेलेगा। वह आज आर्यभूमि को शत्रुओं के रक्त में स्नान कराने का गौरव पाना चाहता है। उठो महाराज, आज महारक्त के अभिषेक से धरती प्रसन्न होनेवाली है। चर्मण्वती का नाम आज सार्थक होगा, वह वीरों के चर्म से आच्छादित होगी। इस भीम परिधेय का उल्लास मुझे चंचल बना रहा है। आज मेरा सोचना-विचारना समाप्त होने जा रहा है। जय रक्ताम्बरा, जय मुण्डमालिनी, जय महाश्मशान-विहारिणी, जय···जय···!"

विद्याधर भट्ट ने घोड़े नहीं सजाये, जयदुन्दुभी नहीं बजायी, विकट बन्ध काव्य नहीं पढ़े, घटाटोपवाले स्तोत्र नहीं गाये। चुपचाप असिकुन्तधारी एक सहस्र सैन्य लेकर चर्मण्वती के गहन ढूहों में उतर पड़े। मुझे प्रच्छन्न भाव से रहने की सलाह दी।

विकट युद्ध हुआ। विद्याधर भट्ट के सैनिकों की छोटी-छोटी टुकड़ियाँ मैदान में तुर्क सेना को ललकारती थीं और कभी पीछे छापा मारती थीं और कौशलपूर्वक भागकर चर्मण्वती के भीषण कान्तार तक उन्हें घसीट लाती थीं। फिर कुन्तों की मार से उन्हें विचलित कर देती थीं। चर्मण्वती के कान्तार में उन्हें रास्ता नहीं मिलता था। एक मास के विकट युद्ध ने चर्मण्वती की धारा को रक्त से लाल बना दिया। सुलतान की आधी शक्ति नष्ट हो गयी। विद्याधर के सैनिक प्रायः अक्षत रह गये। हारकर तुर्कों की सेना दिल्ली लौट गयी। लौटती बार भी उन्हें विद्याधर के सैनिकों की चोट सहनी पड़ी। प्रजा ने प्राणों का पण लगाकर सहायता की। मैं चकित होकर यह अपूर्व युद्ध देखता रहा। विद्याधर भट्ट प्रसन्न थे। उन्होंने उल्लासपूर्वक कहा, "एक धक्का और, फिर मैं शान्ति के साथ स्वर्ग जा सकूँगा।"

विद्याधर के उल्लास को देखकर मुझे बड़ी प्रसन्नता हुई, परन्तु उनके अन्तिम वाक्य का ठीक-ठीक अर्थ स्पष्ट नहीं हुआ। क्या यह सचमुच इतना सरल युद्ध है

कि केवल एक धक्का और देने से काम बन जायेगा ? मुझे तो ऐसा नहीं लगता। मैं तो महानाश का नृत्य देख रहा था। वर्षाकाल तक कदाचित् शान्ति रहेगी। फिर मदगर्वित तुर्क सैनिकों के घोड़ों की टाप से धरती कसमसा उठेगी; भयंकर प्रलयाग्नि की लपटों से धरित्री की मनोहर मेखला के समान विन्ध्यागिरि की शृंखला जल उठेगी; प्रजा की कातर वाणी से आकाश फटने लगेगा। इस क्षणिक विजय से हम उल्लसित नहीं हो सकते। विद्याधर भट्ट-जैसा राजनीति का पक्का खिलाड़ी आनन्दोल्लास में झूम उठे, यह समझ में आनेवाली बात नहीं थी। मैंने विनीत भाव से संक्षिप्त वाक्य में उत्तर दिया, "आर्य, एक धक्का नहीं, कई धक्के और।"

विद्याधर भट्ट के चेहरे पर गम्भीरता के चिह्न दिखायी पड़े। बोले, "ठीक कहते हो महाराज, मैं यह अनुभव कर रहा हूँ कि मेरे दिन अब समाप्त हो आये हैं। मैं अपनी बात कह रहा था। तुम्हें तो अभी कई धक्के देने पड़ेंगे। परन्तु मैं अधीर हूँ। स्वर्ग जाने से पहले मैं केवल एक धक्का दे जाना चाहता हूँ कि तुम्हारा मार्ग प्रशस्त हो जाये। ऐसा नहीं कर सका तो निश्चिन्त होकर स्वर्ग नहीं जा सकूँगा। मैंने जीवन-भर ग्रह-नक्षत्रों पर विश्वास किया है। केवल इसी बार मैंने अनुभव किया कि विधाता ने मनुष्य के अन्तरतर में ग्रह-नक्षत्रों की शक्ति से भी बड़ी शक्ति दी है। मैंने इस बार ग्रह-नक्षत्रों के विरुद्ध अभियान किया था। मैं अधीर था। मुझे विजय, इस क्षणिक विजय की बिलकुल आशा नहीं थी। मैंने तुर्कों से नहीं, ग्रहों से लोहा लेने का प्रयत्न किया था। मेरे भीतर से कोई कह रहा था—'धरती पर विश्वास करो। आकाश के ग्रह धरती के गुलाम हैं।' एकाएक मुझे चर्मण्वती के ढूह सूझ गये। बेटा, धरती ने इस बार आकाश को पछाड़ दिया है। मैं थका नहीं हूँ। मुझे एक धक्का और मारने दो।"

धरती पर विश्वास ! वृद्ध विद्याधर भट्ट क्या सचमुच भावुकता के आखेट हो गये ! वे क्या कहना चाहते हैं ? ऐसा तो उनके मुँह से कभी नहीं सुना। परन्तु विद्याधर भट्ट सचमुच थके नहीं थे। उनका मुखमण्डल और भी गम्भीर हो गया। बोले, "बेटा, धरती से मतलब केवल इस मिट्टी से नहीं है। तुमने जिन किसानों को और साधारण प्रजावर्ग के लोगों को मेरी सहायता के लिए भेजा था, उनके करतब देखकर मैं चकित हूँ। चम्बल के इन क्रान्तिकर ढूहों का सरल मार्ग उन्होंने ही आविष्कृत किया। बेटा, तुमको पता भी नहीं कि साधारण घरों के छोकरों ने और छोकरियों ने कैसी अद्भुत सहायता की है ! भैंस चरानेवाले बालकों ने, अज्ञात कुलशील पत्थर तोड़नेवाले श्रमिकों ने, हल चलानेवाले खेतिहरों ने, भीख माँगनेवाले निठल्लों ने, परान्न-पुष्ट रुण्ड-मुण्ड साधुओं ने, नाच-गान से जीवन-यापन करनेवाली नर्तकियों ने, रस्सों पर खेल दिखानेवाले नटों और नटनियों ने अद्भुत देश-भक्ति का परिचय दिया है। तुम्हारे ये एक सहस्र जवान जो आज अक्षत शरीर हैं, वे इनकी ही अपूर्व निष्ठा के कवच से सुरक्षित हैं। एक दिन के लिए भी हमें यह नहीं सोचना पड़ा कि अन्न हमें कहाँ से मिलेगा,

पानी कहाँ से आयेगा। बेटा, मैं तो यह देखकर हतबुद्धि हूँ कि किस सहज बुद्धि से, कैसी विचित्र अन्तर्गूढ़ निष्ठा से इन्होंने अपना संघटन स्थिर रखा है। उनके हृदय में तुम्हारे प्रति जो अगाध श्रद्धा है, उसका इससे बड़ा प्रमाण क्या हो सकता है कि उन्होंने सब तुम्हारे लिए ही किया, पर तुम्हें जानने भी नहीं दिया कि कितनी कठिनाइयों के भीतर से उनका संघटन कार्य कर रहा है।

"तुमने उस मैनसिंह बालक को कई बार देखा होगा। मैंने उसके हाथ से दो बार तुम्हें पत्र भेजा है। बहुत कम बोलता है। भरसक बिना बोले ही रह जाने का प्रयत्न करता है। कितना सुन्दर मुख है, जैसे आकाश का चाँद धरती पर उग आया हो! तुम क्या जानते हो बेटा, तुम्हारे एक इंगित पर वह प्राण दे सकता है। मामूली नट का बालक है, किन्तु लगता है किसी अत्यन्त कुलीन का बालक हो। मैंने एक दिन उसका हाथ देखना चाहा, पर वह लजाकर ऐसी चपलता से भागा कि मैं अपनी भूल पर पछताता ही रह गया। फिर कभी वह मेरे निकट आया ही नहीं, पर मुझे मालूम है, वह अद्भुत कौशल से हमारी सहायता करता रहा। एक दिन तुर्क सेनापति ने बड़ी भारी नाकेबन्दी की थी। उसकी योजना थी कि सैनिकों को इन ढूहों में कैद करके बिना अन्न-पानी के मार डाले। हम लोग बुरी तरह घिर गये। किसी ओर से भोज्य-सामग्री पहुँचने की कोई आशा नहीं थी। विस्तीर्ण ऊबड़-खाबड़ ढूहों में हमारे सैनिक बन्दी बन गये। एक ओर चम्बल की सँकरी धारा थी और उसके पार उसी प्रकार योजनों तक फैले हुए ढूह। हम लोग चिन्तित थे। अचानक हमने देखा कि परले किनारे के एक पर्वताकार ऊँचे ढूह पर एक क्षीणकाय नौजवान खड़ा है और देखा लोहे के बड़े-बड़े खम्भे गाड़ रहा है। दो-तीन अर्द्धनग्न ग्रामीण उसकी सहायता कर रहे हैं। मेरे सैनिकों ने उल्लासपूर्वक कहा, 'मैनसिंह पहुँच गया है।'

"मैं सोचने लगा मैनसिंह वहाँ क्या कर सकता है। मैं कुछ सोच नहीं पा रहा था। तब तक मैनसिंह ने खम्भों में कस-कसके मोटा रस्सा बाँधा। फिर वह नीचे उतर आया और नदी के किनारे उसी ढूह के नीचे और खम्भे भी गाड़े। फिर वह एक रस्सा लेकर नदी में कूद पड़ा। नदी की धारा बहुत तेज थी, पर मैनसिंह रस्सा लिये पार कर गया। हमारे सैनिकों ने उल्लासपूर्वक उसका स्वागत किया। परन्तु मैनसिंह ने इंगित से उन्हें चुप रहने को कहा। फिर उसने इधर के ढूह में ठीक बीचों-बीच वैसे ही खम्भे गाड़े और ऊपरवाला रस्सा उसमें बाँध दिया। सैनिकों ने पूछा, 'क्या कर रहे हो मैनसिंह?' वह खिलखिलाकर हँस पड़ा। धीरे-से बोला, 'खेल दिखाऊँगा, मैं नट हूँ।' सैनिक साँस रोककर देखते रहे और मैनसिंह हँसता-मटकता हुआ रस्से पर दौड़ने लगा। उसने कमाल की कला दिखलायी। उस पार जाकर वह लोहे की मोटी-मोटी कड़ियों में बँधे बोरे गिराने लगा। इन बोरों में आटा, दाल, नमक, लकड़ी सब थे। मुझे रोमांच हो आया, पर मैनसिंह वहीं से मटक-मटककर नाच दिखाता रहा; लौटा नहीं। एक सप्ताह तक अन्न पहुँचाने का उसका यही रास्ता था।"

उस बालक के शौर्य और बुद्धि की बात करते-करते विद्याधर भट्ट मुग्ध हो जाते थे। कितनी बार उसने संकट में अपूर्व बुद्धि का परिचय दिया है, कितनी बार उसने प्राणों पर खेलकर हमारी सहायता की है, कितनी बार उसने शत्रुओं का सन्धान बताया है, उसकी कोई इयत्ता नहीं है। वृद्ध के मुखमण्डल पर उल्लास की आभा दमक उठी। वे सिर हिला-हिलाकर मुग्ध भाव से कहते रहे, "आश्चर्य है, अद्‌भुत है!"

भाव-विह्वल वृद्ध का उल्लास देखने योग्य था। उन्हें जैसे कोई महानिधि मिल गयी हो। ऐसा जान पड़ता था कि उनका रोम-रोम अपने को कृतकृत्य अनुभव कर रहा था। वे आवेगों और संवेगों की लहरियों से हिल रहे थे।

मैं उनकी इस विह्वल अवस्था को देखकर एक विचित्र आनन्द और सन्तोष अनुभव कर रहा था। वृद्ध मन्त्री सहज ही उल्लसित नहीं होते। निश्चय ही उन्होंने किसी बड़ी बात का सन्धान पाया है। उनका अंग-अंग इस विचित्र उपलब्धि का साक्ष्य दे रहा था।

मुझे याद आया कि वह बालक जो दो बार वृद्ध मन्त्री का पत्र लेकर मेरे पास आया था, केवल चिट्ठी देने में जितना समय लगता था उतनी ही देर खड़ा रहता था। फिर नमस्कार करके चला जाता था। सत्रह-अट्ठारह वर्ष से अधिक अवस्था उसकी नहीं जान पड़ती थी। मुँह पर कैशोर-व्यंजक कोई श्यामिका तक नहीं थी, बिल्कुल दुधमुँहा लगता था। परन्तु उसकी यह कहानी तो सचमुच चकित कर देनेवाली थी। श्रद्धा तो उसके रोम-रोम से प्रकट होती थी। साध्वसवश उसके मुँह से कोई बात नहीं निकली। वह आता था और प्रणाम करके चल देता था। प्रियदर्शन वह अवश्य था; पर मैंने उसे कभी इतना महत्त्वपूर्ण नहीं समझा था। सब सुनने के बाद उसे फिर देखने की मेरी इच्छा प्रबल हुई। मेरे सैनिकों ने बताया कि वह वृद्ध मन्त्री से बहुत डरता है और कभी उनके सामने नहीं जाना चाहता। सदा दूर-दूर से प्रणाम करके ही भागने का प्रयत्न करता है। वृद्ध मन्त्री ने कई बार उससे मिलना चाहा, परन्तु भरसक वह भागना चाहता है और तभी उनके सामने आता है जब वे बहुत व्यस्त रहते हैं। आज्ञा पाते ही भाग जाता है। मन्त्री उसे बहुत प्यार करते हैं। कहते हैं कि उससे कह दो कि मैं उसका हाथ नहीं देखूँगा, पर उसे विश्वास नहीं होता। कहता है, 'मन्त्री बहुत बड़े ज्योतिषी हैं, क्या जाने क्या कहें! मैं अपने वर्त्तमान से सन्तुष्ट हूँ, भविष्य नहीं जानना चाहता।' मैंने उसे बुलाने का आदेश दिया और फिर भावी कार्यक्रम के बारे में विद्याधर भट्ट से परामर्श करने लगा।

अभी भी हम पूर्ण निश्चिन्त नहीं थे। गोपाद्रि के निकट एक सुरक्षित स्थान में, जो ऊँची-नीची पर्वत शृंखलाओं से घिरा था, हमारे सैनिक विश्राम कर रहे थे। मेरे लिए थोड़ी दूर पटवास लगाया गया था। रात हो आयी थी। चाँदनी आज खुलकर छिटकी थी। एक मास तक मुझे प्रकृति की शोभा देखने का अवकाश ही नहीं मिला था। आज शान्ति की साँस लेने का अवसर मिला था। इतने दिनों

तक मैं रानी की चिन्ता को प्रयत्नपूर्वक मन से निकाल रहा था। आज वह चिन्ता विकट रूप में मेरे मन को वेधने लगी। धीर शर्मा ने अब तक कोई समाचार नहीं भिजवाया था। घुण्डकेश्वर स्वामी और आभड़ के षड्यन्त्रों का क्या परिणाम हुआ ? रानी जीवित हैं या षड्यन्त्र का आखेट बन चुकीं। नागनाथ हैं या चल बसे ? सिद्धरस की मृग-मरीचिका समाप्त हुई या और तीव्र हो गयी ? रह-रहकर मुझे रानी की दयनीय आविष्ट अवस्था कुरेदने लगी। हाय, मैंने जिसे पाया था, उसे क्या इस प्रकार खोने जा रहा हूँ ? रानी, रानी, रानी, तुम कहाँ हो ? मैं मर्माहत हूँ, व्याकुल हूँ, तुम्हारे बताये मार्ग पर चलकर तुम्हें खो चुका हूँ।

मैं व्याकुल भाव से टहलने लगा। ऊपर चाँद मुसकरा रहा था। सारी वन-स्थली मुग्ध भाव से उसकी दुग्ध-धवल स्मित-धारा में स्नान कर रही थी, परन्तु मेरे हृदय में अशान्ति की झंझा बह रही थी। ऐसे ही समय द्वाररक्षक ने आकर विनीत भाव से जुहार किया। बोला, "मैनसिंह एकान्त में कुछ निवेदन करने का प्रसाद चाहता है।"

मुझे विस्मय हुआ। तुरन्त उसे भेजने का आदेश देकर उत्सुकतापूर्वक प्रतीक्षा करने लगा।

मैनसिंह सकुचाता हुआ आकर सामने खड़ा हो गया। मैनसिंह अर्थात् मदनसिंह। माँ-बाप ने क्या सोचकर नाम दिया था ! सचमुच यह रूप में कामदेव है और पराक्रम में साक्षात् सिंह। कोमल मुखमण्डल पर अटूट निश्चय की आभा थी। पहनावे में एक नटों का-सा आजानु-विलम्बित चोल और सिर पर चक्कर-दार पगड़ी। छाती ऊँची और चौड़ी थी, जिस पर कसके लौह-कवच बँधा हुआ था। कमर में छोटी-सी तलवार और पैरों में सामान्य चमरौधा जूता। ऐसा जान पड़ता था जैसे वीर-दर्प का अवतार संकोच से विलयित हो।

उसकी आँखें झुकी थीं, शायद झुकी ही रहना चाहती थीं। देखकर मेरा हृदय एक विचित्र आह्लाद से उद्वेल हो उठा। मैंने उल्लासपूर्वक उस बालक को साधुवाद दिया। उसने कातर संकोच के साथ प्रणाम किया। मैंने आगे बढ़कर उसकी पीठ थपथपायी, बोला, "साधु, मैनसिंह, मन्त्री तुम्हारे साहस और बुद्धि-कौशल से बहुत प्रसन्न हैं। तुमने इस अल्प वय में सम्पूर्ण आर्यभूमि को अपनी सेवा से वशीभूत कर लिया है। तुम्हारे-जैसे वीर बालकों का सहयोग पाकर मैं धन्य हो गया हूँ। तुम्हें अपना असामान्य हितू और मित्र मानता हूँ।"

मैनसिंह की गर्दन जो झुकी सो मानो टूट ही गयी। विचित्र लजीला बालक है ! परन्तु उसके कोमल अदनार मुखमण्डल पर रोमांच की तरंगें उमड़ आयीं ! ऐसा जान पड़ता था वह अपने को कृतकृत्य समझ रहा था। बोला कुछ नहीं ! शायद बोलने का प्रयत्न भी नहीं कर रहा था। देर तक वह सिर झुकाये खड़ा रहा। फिर एकाएक मेरा चरण छूके पगड़ी के नीचे से कागजों की एक पोथी निकाली और मेरे हाथों पर उसे रख दिया। मैंने आश्चर्य से उसकी ओर देखा और फिर पोथी खोली। ये तो रानी चन्द्रलेखा के हस्ताक्षर हैं ! मैं अवाक् होकर

सोचने लगा कि यह कैसा रहस्य है ! मैनसिंह से एक दीपक की व्यवस्था करने के लिए कहकर मैं चाँदनी में ही उसे बाँचने का प्रयत्न करने लगा। थोड़ी देर बाद द्वार-रक्षक एक छोटा-सा दीया लेकर आया। उसी से ज्ञात हुआ कि मैनसिंह चला गया है। कल प्रातःकाल आने को कह गया है। मैं पोथी में उलझ गया; लम्बा-सा लेख था।

11

रानी ने लिखा था—

"चन्द्रलेखा उदास मन से पारद और अभ्रक को घोटने लगी। नागनाथ सामने एक नीची वेदी पर बैठकर जप कर रहे थे। चन्द्रलेखा मन-ही-मन कल की सारी बातों को समझने का प्रयत्न कर रही थी। नागनाथ ने कल उसे स्त्री-शरीर के महत्त्वपूर्ण होने का रहस्य बतलाया था। वहाँ साधना-लब्ध अनुभूति की बात नहीं थी, केवल निचली श्रेणी के बुद्धिजीवियों को फुसलानेवाला तर्क था। नागनाथ ने कहा था, 'देवि, प्रकृति ने जड़ तत्त्वों के अनेक जटिल मिश्रण तैयार किये हैं। ढेले से लेकर पहाड़ तक सब-कुछ जड़ तत्त्वों का संघात है। प्राणि-मात्र का शरीर भी जड़ तत्त्वों का संघात ही है। इस प्रकार के संघात का सबसे उत्तम संग्रन्थन मानव-शरीर में हुआ है। प्रकृति के जड़-पिण्डों का जितना सुन्दर और सामंजस्यपूर्ण संघात मानव-देह है, उतना और कुछ भी नहीं है। मानव-देह में भी किशोरावस्था का शरीर सर्वोत्तम है। उसमें सब-कुछ विकसित हो भी गया होता है और क्षयोन्मुख भी नहीं होता। क्रमवर्द्धमान किशोर मानव-देह प्रकृति के जड़ तत्त्वों का सर्वोत्तम संघात है। इसको आश्रय करनेवाला मन उदार होता है, बुद्धि सार-ग्राहिणी होती है, आत्म चिन्मुख होता है। परन्तु किशोर मानव-देह में भी पुरुष-देह की अपेक्षा स्त्री-देह अधिक रहस्यमय, अधिक शक्तिशाली और अधिक औदार्य-सम्पन्न होती है। देवि, स्त्री-देह प्रकृति का साक्षात् प्रतिनिधि है, वह विधाता की सिसृक्षा का मूर्त्तिमान विग्रह है, वह जगत्-प्रवाह का मूल उत्स है। इसीलिए देवि, भगवती ने स्त्री-शरीर की महिमा पर इतना जोर दिया है।'

"एक क्षण के लिए इस तर्क ने चन्द्रलेखा को अभिभूत कर लिया था। किशोरी का औदार्य-सम्पन्न शरीर इतना महिमाशाली है, यह बात उसे विचित्र लगी; पर वह तर्क के प्रचण्ड वेग से अभिभूत हो गयी। उसने अनिच्छापूर्वक फिर से खरल उठा लिया। वह पारद और अभ्रक को घोट रही थी, परन्तु उसके चित्त में जो

विचारों का मन्थन चल रहा था, वह और भी उग्र था।

"हठात् उसे अनुभव हुआ कि उसके प्रत्येक शिरा में एक विचित्र प्रकार की सनसनी हो रही है। जैसे सारा शरीर दधिभाण्ड की तरह मथा जा रहा हो, जैसे समूचे देह-जगत् में कोई तरल रस झूम-झूमकर बरस रहा हो और जैसे सजल जलधरों के साथ कोई विचित्र झंझा एकाएक उसके रक्त में प्रविष्ट होती जा रही हो। चन्द्रलेखा कुछ समझ नहीं सकी। यह क्या विचित्र परिवर्त्तन हो रहा है उसमें! उसने एक बार खरल की ओर देखा, उसे बड़ा आश्चर्य हुआ। पारद और अभ्रक एकमेक हो गये थे। उनके संयोग से एक विचित्र सुनहली आभा पैदा हो गयी थी। वह उल्लासपूर्वक यह सूचना गुरु को देने जा रही थी कि विघ्न उपस्थित हो गया। उसके दोनों 'पुत्र' आँधी की तरह वहाँ आ उपस्थित हुए, उनके पीछे सेठ आभड़ था और आभड़ के पीछे सशस्त्र सैनिकों की ऐसी बड़ी जमात थी कि चन्द्रलेखा उन्हें देखकर हतबुद्धि हो गयी। उसके पुत्रों ने इधर-उधर देखा भी नहीं। पार्श्वनाथ की मूर्त्ति के पास कुश की लकड़ी पड़ी थी। नागनाथ इसे सदा अपने पास रखते थे। उस दिन संयोग ही कुछ और था। चन्द्रलेखा के पुत्रों ने कुश की लकड़ी उठायी और जोर से नागनाथ के मस्तक पर आघात किया। चन्द्रलेखा के मुँह से 'हाय-हाय' की आवाज़ निकली, उसके पहले ही नागनाथ ढेर हो गये। पापियों ने उनका पैर पकड़कर घसीटना चाहा। चन्द्रलेखा से नहीं देखा गया। वह क्रुद्ध व्याघ्रिणी की भाँति वेदी पर से कूद पड़ी और नागनाथ की मृत देह को कसकर भुजाओं से बाँध लिया। उसने देखा, उसके चारों ओर शत्रुओं का दल है। क्षण-भर में उसके मन में आया कि यदि वह उड़ सकती तो नागनाथ के शरीर को लेकर उड़ जाती। यह विचार उसके मन में आते ही उसका सारा शरीर सुन्न पड़ गया। उसे ऐसा मालूम हुआ कि उसके सारे शरीर में कहीं भी कोई संवेदना नहीं रह गयी है। और नागनाथ का शरीर लेकर वह आकाश में उड़ने लगी। उसने नीचे की ओर दृष्टि फिरायी। आभड़ के सैनिक और उसके पुत्र अवाक् होकर ऊपर देख रहे थे। आभड़ झपटकर पार्श्वनाथ की वेदी के पास गया। उसके सिद्धरस को हथिया लेना चाहा, परन्तु चन्द्रलेखा के आश्चर्य की तब कोई सीमा ही नहीं रही जब उसने देखा कि पार्श्वनाथ की रत्नमूर्त्ति अट्ठारह हाथ नीचे धँस गयी और सिद्ध-रस भी उसके साथ विलुप्त हो गया। यह क्या है! यह कैसा विचित्र रहस्य है!

"चन्द्रलेखा को अब मालूम हुआ कि सिद्ध-रस बन चुका था। उसे पता चला कि उस रस के स्पर्श से उसमें उड़ने की शक्ति आ गयी है। वह सिर धुनकर रह गयी। हाय, एक कण भी यदि नागनाथ के मृत शरीर पर डाल सकती तो यह अनर्थ नहीं होता। हाय अभागिन, सारे संसार की उद्धार-कामना से जो रस बना था उससे तू अपना भी उद्धार न कर सकी! लेकिन प्रत्येक क्षण बहुमूल्य है। चन्द्रलेखा के गुरु ने बताया था कि कोई विघ्न घटे तो मेरे गुरु गोरखनाथ से या गुरु-भाई कन्थड़ीनाथ से सहायता लेना। हाय, गुरु गोरखनाथ इस समय कहाँ हैं?

कन्थड़ीनाथ का पता तो गुरु ने ही बता दिया था। वे सोमेश्वर तीर्थ में हैं। चन्द्रलेखा के मन में जाने क्यों यह भाव उदय हुआ कि कामरूप में गुरु गोरक्षनाथ का सन्धान मिल सकता है। वह वायु-वेग से उड़ी। रास्ते के मेघ-खण्डों को चीरती हुई जब वह चन्द्रगिरि के पास पहुँची तो उसे एक विचित्र हुंकार सुनायी दी। उसे ऐसा लगा कि कोई उसे रुक जाने को कह रहा है। वह चन्द्रगिरि के उच्चतर शिखर पर नागनाथ के शव को लेकर उतर पड़ी।

"चन्द्रलेखा ने देखा कि चन्द्रगिरि की उस ऊँची चोटी पर एक रक्ताम्बर-धारी साधु सुखासन बाँधकर बैठे हैं और एकटक चन्द्रलेखा की ओर देख रहे हैं। चन्द्रलेखा ने हाथ जोड़कर प्रणाम किया। साधु ने कोई प्रत्युत्तर नहीं दिया। उनकी आँखें शुक्र-ग्रह की भाँति चमक रही थीं। उन आँखों में स्पष्ट ही प्रश्न का भाव था। चन्द्रलेखा बहुत उदास थी। उसके सारे शरीर में कहीं क्लेश या क्लान्ति का नाम नहीं था, परन्तु उसका चित्त बुरी तरह म्लान हो गया था। उसने साधु से सारी बातें गिड़गिड़ाकर कहीं और पूछा कि तुम्हें गुरु गोरक्षनाथ का कोई सन्धान मालूम है या नहीं। साधु की जिज्ञासा शान्त हुई। उसने उठकर हाथ जोड़कर चन्द्रलेखा को अपनी प्रणति निवेदित की, फिर गद्गद स्वर में बोला, 'देवि, सिद्धयोगिनी को न पहचानने के कारण मुझसे अविनय हुआ है। क्षमा करो। परन्तु तुम अपने को इतना असहाय क्यों समझ रही हो? जो शव तुम ढोये लिये आ रही हो, वह नयी सिद्धि पाने का बड़ा उत्तम साधन है। इस शव की पीठ पर बैठकर तुम त्रैलोक्य की समस्त सिद्धि को हस्तगत कर सकती हो। इसकी माया छोड़ो। मरा हुआ व्यक्ति कभी जीता नहीं। यह मोह तुम्हारे योग्य नहीं है। मैं तुम्हें साधन-मार्ग बताये देता हूँ। तुम इस शव को ही अपनी साधना का सोपान बनाओ। देवि, ऐसे सुपुरुष का शव सहज ही नहीं प्राप्त होता। यही वीरेश्वर का साक्षात् रूप है, परानन्द निष्क्रिय महाकाल का पार्थिव विग्रह है, इच्छा-द्वेष से परे योगेश्वर अवधूत के समान फलदाता है।'

"चन्द्रलेखा फफककर रो पड़ी : वह सिद्धि नहीं चाहती, वह नागनाथ को जिलाना चाहती है। उसने हाथ जोड़कर कहा, 'हे महात्मन्, मुझे सिद्धि नहीं चाहिए। मेरी पायी हुई सिद्धियों के बदले में कोई नागनाथ का प्राण दे दे तो मैं सब देने को तैयार हूँ। मुझे वह उपाय बताइए जिससे मैं नागनाथ को फिर से पा सकूँ।'

'साधु ने कहा, 'भूल रही हो देवि, मरा मनुष्य कभी जीता नहीं है। गुरु गोरक्षनाथ महान् सिद्ध हैं। वे समझते हैं कि माया से और उसके तामस रूप 'प्रकृति' से लड़ना सम्भव है। उनका विश्वास है कि मृत्यु के बाद आत्मा एक सूक्ष्म शरीर के साथ निकल जाता है। उसमें कुछ प्राकृतिक तत्त्व फिर भी रह जाते हैं। उस सूक्ष्म शरीर को वे लिंग-शरीर कहते हैं। उनका विश्वास है कि इस लिंग-शरीर को फिर से स्थूल शरीर में प्रवेश कराया जा सकता है। परन्तु मैं इन सब बातों को वृथा मानता हूँ। इससे मनुष्य को न तो कोई लाभ ही है, न उसकी कोई

चिरन्तन समस्या सुलझ ही सकती है। देवि, गोरक्षनाथ से यदि तुम्हारी भेंट हो जाये तो सम्भवतः तुम्हें अपना मनोरथ सिद्ध करने का अवसर मिल जाये। मेरी दृष्टि में यह असम्भव भी है और व्यर्थ भी है और अकिंचित्कर तो है ही। देवि, जीवन के प्रवाह में मृत्यु अवश्यम्भावी है, उसे रोका नहीं जा सकता, रोकने से कोई लाभ भी नहीं और रोक भी लिया जाये तो कोई बड़ी सिद्धि नहीं होती। देवि, तुम सिद्धयोगिनी हो, तुम्हें आठों सिद्धियाँ प्राप्त हैं, तुम जरा इस मोह को छोड़कर देखो तो मालूम होगा कि जिन आठ सिद्धियों को संसार बहुत महत्त्व देता है, वे वास्तविक महासिद्धियों के समुद्र में बबूले-जैसी हैं। सिद्धियों के इस विशाल महासागर को देखने का तुम्हें साधन मिल गया है। इस साधन को पाने के लिए बड़े बड़े योगीश्वर पच-पचकर मरा करते हैं। रुको मत देवि, आगे बढ़ो ! परन्तु अपनी मानसिक ग्लानि को धो डालो। तुम इस शव को मेरे पास रख दो। मैं इसे विकृत न होने दूँगा। तब तक तुम नालन्द नगरी के महाविहार में चली जाओ। वहाँ मेरे गुरुभाई अमोघवज्र हैं। वे परम सिद्ध हैं। उन्हें गोरक्षनाथ का सन्धान मालूम होगा। देखो देवि, अमोघवज्र को गलत मत समझना। वे कुल-कन्याओं की साधना कर रहे हैं। नालन्द में इन कुल-कन्याओं का बाहुल्य नहीं है। वे आसपास के गाँवों में मिल सकती हैं। तुम जाओ। मोह छोड़ने का प्रयत्न करो। तुम नागनाथ को पाने में जिस सुख का अनुभव करोगी, वह उस महासिद्धि के सामने एक कण के बराबर भी नहीं है। जाओ देवि, जल्दी करो।'

"चन्द्रलेखा ने साधु को कृतज्ञतापूर्वक प्रणाम किया और पूछा, 'कुल-कन्याओं को मैं कैसे पहचान सकूँगी, प्रभो !'

"साधु ने कहा, 'पहचान जाओगी। लोक में मुग्ध दृष्टि का प्रमाद है। मनुष्य सब समान हैं। लेकिन लोक में उनकी समान मर्यादा स्वीकार नहीं की गयी, क्योंकि लोक-दृष्टि आविल है। वह वस्तु के यथार्थ को नहीं देख सकती। वह प्रकृति के जड़-संघात की सर्वोत्तम परिणति—मन और बुद्धि—को आघात पहुँचाती रहती है। जिस मनुष्य को जितना ही नीच समझा जाता है, उसके मन और बुद्धि को विकसित होने से उतना ही वंचित किया जाता है। इसलिए नीच कही जानेवाली जातियों में मन और बुद्धि का बाहर प्रस्फोट नहीं हो पाता। वह शरीर के भीतर-ही-भीतर जड़-पिण्ड को उत्तेजना देते रहते हैं। इसलिए देवि, नीच समझी जानेवाली जातियों का शरीर साधना का सर्वोत्तम साधन है, उसमें भी स्त्री-शरीर अधिक श्रेष्ठ है, तथापि किशोरावस्था दुर्लभ है। अमोघवज्र ऐसी ही कुल-कन्याओं की सहायता से साधना कर रहे हैं। तुम सिद्धयोगिनी हो, शुभे, तुम्हें प्रसुप्त शक्ति को पहचानने में विलम्ब नहीं होगा। जाओ, जल्दी करो। तुम अमोघवज्र से कहना कि तुम्हारे गुरु-भाई अनंगवज्र के कहने से मैं यहाँ आयी हूँ। वे सब प्रकार की सहायता करेंगे। विचलित मत हो देवि, मोह को मोह के रास्ते ही त्यागा जा सकता है। जाओ !'

"चन्द्रलेखा ने आश्चर्य के साथ सुना। वह शव को साधु के पास रखकर वहाँ

से उड़ी। आकाश-मार्ग की यह यात्रा बड़ी कौतुकवर्द्धक थी, परन्तु चन्द्रलेखा के मन में उथल-पुथल चल रही थी। क्षण-भर जीकर नारी-जन्म को सार्थक बनाना बड़ी सिद्धि है, या अज्ञात सिद्धियों के महासमुद्र की दुराशा ! चन्द्रलेखा क्या सुन रही है ? उसके मन में मोह है। मोह को त्यागना पड़ेगा। किसलिए ? सिद्धियों के महासमुद्र को पाने के लिए ? यह भी क्या सम्भव है ?

"चन्द्रलेखा ने ऊपर से नीचे की ओर देखा। वनपनसों और खदिर तरुओं की लम्बी पाँत और बीच-बीच में वन्य बदरियों की झाड़ियाँ। सारा भू-मण्डल काली मसृण वनराजियों से आच्छन्न जान पड़ता था। एक बार वह इसी प्रकार के घने जंगलों को चीरती हुई निकल पड़ी, जिसका कोई पता-ठिकाना नहीं—उस साधु को खोजने के उद्देश्य से। आज वह आकाश चीरती हुई उसी उद्देश्य से भागी जा रही है। उस दिन उसने साधु के पार्थिव रूप पर ही दृष्टि बाँध रखी थी, आज उसे नयी बात मालूम हुई है। पार्थिव शरीर के भीतर एक लिंग-शरीर होता है। उसी लिंग-शरीर को पाना है। आज की यात्रा क्या सार्थक होगी ?

"ओदन्तपुरी से कोई पन्द्रह योजन दूर एक पार्वत्य गुफा थी। गुफा के चारों ओर वन्य बदरों का घना जंगल था। बीच-बीच में जंगली दमनकों (दवना) के गुल्म दूर तक अपनी विचित्र सुगन्धि फैलाकर दर्शकों को अपना पता बता रहे थे। पर्वत का वह भाग अधिक ऊँचा नहीं था, लेकिन एकदम खड़ा होने के कारण उस पर चढ़ना कठिन जान पड़ता था। इतना निश्चित था कि बहुत कम देहधारियों ने उसके ऊपरी हिस्से को देखने का प्रयत्न किया होगा। चन्द्रलेखा को इसी पर्वत पर चढ़ना था। उसे कोई विशेष आयास नहीं करना पड़ा। वह स्वयं नहीं समझ सकी कि वह कैसे चढ़ गयी। गुहा-द्वार पर एक तपस्वी मिले। उनका सारा शरीर श्वेत भस्म से आच्छन्न था, आँखों में एक विचित्र प्रकार की आभा थी और मुख-मण्डल में एक ऐसा रुक्ष भाव जो स्पष्ट बता रहा था कि उन्होंने आज तक जगत् के किसी प्राणी को स्नेह या मोह की दृष्टि से नहीं देखा है। उनकी बड़ी-बड़ी भौंहों के केश आँखों तक लटक आये थे; गण्ड-देश पर कानों के भीतर से निकले हुए केश झुक आये थे; कान की शष्कुलियों में उनके रुक्ष शिरोरुहों से बराबर टकराते रहने के कारण एक प्रकार की स्थायी सूजन आ गयी थी; मूँछ और दाढ़ी के दीर्घ लम्बित और असंयत केश लौहशलाका की भाँति कठोर और तीखे दीख रहे थे। बरौनियों और भृकुटि-लताओं को छेदकर उनकी दृष्टि सीधे कुछ ऐसी वस्तु को देख रही थी, जो इस जगत् के उस पार है, जहाँ इस जगत् से भिन्न एक अन्य जगत् होगा।

"चन्द्रलेखा को इस विचित्र साधु से कुछ भय लगा। एक क्षण के लिए उसका स्त्री-हृदय हाय-हाय कर उठा। मनुष्य ने किस मोह में पड़कर इस विकट साधना-पद्धति का आविष्कार किया है ? इस प्रकार की शुष्कता क्या किसी बड़ी चीज को उत्पन्न कर सकती है ? यह जो निर्मम-निर्मोह भाव है, जो असीम आयास से मनुष्य पाया करता है, यह अपने-आपमें सचमुच ही क्या कोई महत्त्वपूर्ण वस्तु है ?

संसार से विराग का अर्थ क्या है ? संसार मनुष्य को कहाँ बाधा दे रहा है ? क्षण-भर तक ठिठककर वह उस रूक्ष-जटिल तापस को देखती रही। तापस ने उसकी ओर आँख उठायी। कुछ बोले नहीं। उस राग-विराग से शून्य दृष्टि में उत्सुकता नहीं थी, कोई जिज्ञासा भी नहीं थी। वह विचित्र दृष्टि थी। चन्द्रलेखा की ओर उन्मुख होने पर भी वह उस दृष्टि का विषय नहीं थी, मानो वह नदी के प्रवाह में फेन-बुद्‌बुद्‌ की भाँति आ गयी थी, पानी लेनेवाले के लिए उसका कोई मूल्य नहीं, कोई ज़रूरत नहीं, कोई जिज्ञासा नहीं। यद्यपि चन्द्रलेखा सहम गयी, परन्तु साहस-पूर्वक उसने पूछा, 'भगवन्, मैं तत्रभवान् अमोघवज्र के दर्शनार्थ यहाँ उपस्थित हुई हूँ। मुझे उसका पता बता सकते हैं ?'

"साधु ने जैसे अर्थ समझने का प्रयत्न करते हुए कहा, 'अमोघवज्र ?'

" 'हाँ भगवन्, मैं महाभाग अमोघवज्र का ही दर्शन पाना चाहती हूँ।'

"साधु ने अपने को सँभालकर कहा, 'अमोघवज्र ?'

" 'हाँ आर्य।'

"साधु ने पथरायी आँखों से शून्य की ओर देखते हुए कहा, 'अमोघवज्र ?'

"चन्द्रलेखा निष्प्रभ हो गयी। इस आदमी से क्या पूछे ? इसका मस्तिष्क ठीक है भी या नहीं ? इसी समय आवाज़ सुनकर एक तपस्विनी गुहा के भीतर से निकल आयी। उसकी आँखों में शुष्कता थी ही नहीं, एक अद्‌भुत सरसता तरंगित हो रही थी। उसने शान्त कोमल कण्ठ से कहा, 'क्या चाहिए शुभे ? इधर आइए।'

"चन्द्रलेखा ने उस तपस्विनी को ध्यान से देखा। आहा, कण्टकवन में चन्द्र-मल्लिका विकसित हुई है, पाषाण-खण्ड में चन्द्रकला उलझ गयी है, अंगारपुंज पर कमलिनी का आविर्भाव हुआ है ! यह कैसे सम्भव हुआ ? इस वैराग्य और जड़िमा के वातावरण में यह मोहनरूपा तापसबाला कौन है ? क्या पहाड़ भी फूला करता है, क्या वनदेवियाँ भी प्रत्यक्ष दीख जाती हैं ?

"तापसबाला ने फिर कहा, 'आओ शुभे, इधर आओ !'

"चन्द्रलेखा गुहा के भीतर चली गयी।

"गुहा पहाड़ को काटकर बनायी गयी थी। उसका गर्भांगण विस्तृत नहीं था। गुहा के एक पार्श्व में मिट्टी की एक मूर्त्ति थी जो उसी रूक्ष-जटिल तापस की परिष्कृत मूर्त्ति जान पड़ती थी। मूर्त्ति के पास लाल कपड़ों से ढकी हुई एक टोकरी थी, जिसमें पुष्प रखे थे। तपस्विनी ने चन्द्रलेखा को एक ओर बैठने के लिए एक कुशासन दिया और आग्रहपूर्वक पूछा कि चन्द्रलेखा किस कार्य से इधर आ पड़ी है ? संक्षेप में, चन्द्रलेखा ने अपनी कहानी कह सुनायी और उत्कण्ठा के साथ कहा, 'देवि, मैं तत्रभवान् अमोघवज्र का दर्शन पाने को व्याकुल हूँ। परन्तु मेरा मन तुम्हारा परिचय पाये बिना अग्रसर नहीं होना चाहता। तुम मुझे अपनी सखी समझकर क्या अपना परिचय दे सकती हो ?'

"तापसबाला ने हँसने का प्रयत्न किया। उस हँसी के पीछे निस्सन्देह दुःख की एक दीर्घ परम्परा थी। परन्तु चन्द्रलेखा को लगा कि हँसी बड़ी शीतल है,

उसमें प्रकाश है, पर आँच नहीं। वह मानस-जगत् को अनाविल और पवित्र बनाती है।

"तापसबाला ने स्निग्ध-कण्ठ से कहा, 'तुम्हारी-जैसी सखी पाकर कौन हत्-भाग्य अपने को कृतार्थ नहीं मानेगी ? बहन, पूर्व जन्म के पुण्य से ऐसा संयोग प्राप्त होता है। मैं दुःखिनी हूँ। मेरी कहानी में उलझोगी तो विलम्ब होगा और तुम्हारे कार्य में बाधा पड़ेगी। मैं तुम्हें अमोघवज्र के पास ले चलती हूँ, उनकी कठोर साधना अब समाप्ति के निकट पहुँच चुकी है। इन दिनों वे महालक्ष्मी की साधना में व्यस्त हैं। इसमें कठिन व्रत और संयम की ज़रूरत होती है।'

"चन्द्रलेखा ने बीच में ही टोककर पूछा, 'मैंने सुना था कि वे कुमारी-साधना कर रहे हैं। उनके गुरु-भाई अनंगवज्र ने मुझे ऐसा ही बताया है।'

"तापसबाला ने हँसकर उत्तर दिया, 'हाँ देवि, यह कुमारी-साधना का ही एक स्तर है। महालक्ष्मी तेरह वर्ष की कुमारी की तान्त्रिक संज्ञा है।'

" 'क्या मतलब ?'

" 'मतलब यह है कि पूर्वाचार्यों ने कुमारियों के भिन्न-भिन्न नाम[12] और रूप की संज्ञा दी है। प्रथम वर्ष की कन्या को सन्ध्या कहते हैं, द्वितीय वर्ष की कन्या को सरस्वती कहते हैं। इसी प्रकार षोडश वर्ष तक की कुमारियों के अलग-अलग नाम हैं। इनकी पूजा अगर ठीक ढंग से की जाय तो समस्त सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं। अमोघवज्र ने बारह कुमारियों की साधना कर ली है।'

"चन्द्रलेखा के मन में कोई श्रद्धा का भाव नहीं उदित हुआ। ज़रा विरस भाव से बोली, 'बहन, मुझे तो यह सब व्यर्थ मालूम पड़ता है। स्त्री-पूजा के इस विकृत रूप को मैं एकदम नहीं समझ पाती।'

" 'व्यर्थ है या नहीं, सो तो मुझे नहीं मालूम, किन्तु पूजा करनेवालों की विश्वास-परायण मनोवृत्ति से मेरा थोड़ा-थोड़ा साक्षात् परिचय है। निस्सन्देह वे सच्चे हैं।'

" 'सच्चा होकर भी आदमी गलत आचरण कर सकता है।'

" 'तुममें साहस देख रही हूँ, बहन ! मैं तो इस सिद्धि-मार्ग से पिस गयी हूँ। मेरे भीतर साहस नाम की कोई चीज नहीं रह गयी है। इस कुमारी को नवें वर्ष में कुब्जिका कहते हैं। मैं एक बार कुब्जिका-साधना का शिकार बन गयी थी। शिकार इसलिए कहती हूँ कि उस साधना ने मेरा इहलोक नष्ट कर दिया था, परलोक तो महामाया के हाथ में है।'

"चन्द्रलेखा ने विस्मय के साथ तापसबाला को देखा। बोली, 'यदि तुम्हें आपत्ति न हो तो पूरी कथा सुनना चाहती हूँ। सुनाओगी बहन ?'

" 'सब ?'

" 'जितना मैं सुनने की अधिकारिणी हो सकती हूँ, उतना सब।'

"तापसबाला ने दीर्घ निःश्वास लिया। थोड़ी देर तक वे चुपचाप निस्तब्ध बैठी रहीं। उनके अंग-अंग शिथिल हो आये, मानो बाह्यकरणों की समूची शक्ति

अन्तःकरण में सिमटती जा रही हो, मानो शिखान्त तक व्याप्त वेदना-पुंज हृदय-देश में केन्द्रित होने लगा हो। चन्द्रलेखा एकटक उनकी ओर देखती रही; उसके मन में क्षण-भर विचारों की एक आँधी बह गयी, परन्तु वह स्थिर बैठी रही।

"तापसबाला ने खाँसकर गला साफ किया। बोली, 'बुरा न मानना बहन, आज मैं तुम्हें अपनी आधी ही कहानी सुना सकती हूँ, सो भी बहुत संक्षेप में। तुम्हारा समय बहुमूल्य है, यद्यपि मैं जानती हूँ कि तुम मोती फेंककर सीप के पीछे भाग रही हो। तुम्हारा समस्त प्रयत्न व्यर्थ होगा। एक दिन शायद तुम भी मेरी ही तरह रो-रोकर दिन बिताओगी। परन्तु इस समय तुम्हें रोकना व्यर्थ है। तुम जिस तरह मोह के आकर्षण में खिची जा रही हो, वह स्त्री की सबसे बड़ी विफलता है। परन्तु स्त्री अन्ध-भाव से उधर ही खिचती है।'

"चन्द्रलेखा का हृदय अज्ञात आशंका से काँप उठा। वह इतना समझ गयी कि वह कहीं प्रमाद कर रही है, पर प्रमाद कहाँ है? उसकी शिराएँ झनझना उठीं। वह अपने-आपसे ही डर गयी। भीतर से जैसे कोई कह रहा हो कि इस कहानी को न सुनना ही अच्छा है। न जाने कहाँ से क्या ठेस लगे! परन्तु तापसबाला ने अपनी कहानी शुरू कर दी :

" 'गुहाद्वार पर जिस रूक्ष-जटिल तापस को तुमने देखा है न बहन, वे इस अभागिनी के पति हैं। इनकी शून्य दृष्टि और जटिल वेश को देखकर क्या कोई कह सकता है कि कभी इस हृदय के भीतर प्रेम का पारावार उफना करता था? परन्तु यह सत्य है कि प्रेम का ऐसा उद्वेल रूप समग्र संसार में मैंने कोई दूसरा नहीं देखा। आज वह समुद्र सूख गया है, एक शुष्क मरुकान्तार ही बच रहा है, जिसका ओर-छोर कहीं नहीं है। शुष्क मरुकान्तार!'

"तापसबाला ने फिर दीर्घ निःश्वास लिया। बोली, 'मैं ही इसका कारण हूँ। हाय अभागिन, तू जनमते ही मर क्यों नहीं गयी?' तापसबाला की मनोहर बड़ी-बड़ी आँखों में आँसू की बूँदें भर आयीं। गुहा-गर्भ का एक-एक कण उस करुण आह से भीग-सा गया था। उन्होंने फिर कहा, 'देवि, बहन, मेरे लिए ये प्राण देते थे। एक दिन भी मैंने इनका मन नहीं रखा, एक दिन भी मैंने इनकी परवा नहीं की, एक दिन भी मैंने इस महा उदार सरस व्यक्ति को पहचानने का यत्न नहीं किया। महा उदार इसलिए कह रही हूँ, बहन, कि जहाँ मुझे रोकना इनका कर्तव्य था, वहाँ भी ये मेरा छन्दानुरोध ही करते रहे। हाय! अगर इन्होंने मुझे इतनी स्वतन्त्रता न दी होती तो मेरी दुनिया कुछ और होती।

" 'मेरा जन्म हिमालय के पाद-देश में अवस्थित प्रसिद्ध सिहल देश के कदली-वन में हुआ था। यह देश तन्त्राचार का मुख्य गढ़ है। मेरे कुलगुरु उमाकान्तपाद बड़े सिद्ध तान्त्रिक थे। मैंने सुना है, उन्होंने एक बार नेपाल-राज पर कोप कर उस ओर जानेवाले समस्त मेघों को साल-भर तक दबा रखा था। एक बार महा-चीन को जाते समय कुछ वज्रयानी साधकों ने उनका अपमान किया था तो वे

इतने क्रुद्ध हुए कि समस्त उत्तरापथ के वज्रयानियों की वाक्-शक्ति एकदम लुप्त हो गयी थी। एक बार एक चैतिक सिद्ध सिंह पर सवार होकर उनसे मिलने आया था। आर्य उमाकान्तपाद ने पहाड़ ही हाँक दिया था और पहाड़ की सवारी पर बैठकर ही उन्होंने चैतिक सिद्ध की अगवानी की थी। वह सिद्ध विस्मयमूढ़ होकर लौटा था। बहन, मैंने उनकी सिद्धियों के विषय में इतनी बातें सुन रखी हैं कि उनको विस्तारपूर्वक कहूँ तो एक महाभारत बन जाये। ऐसे महासिद्ध कुलगुरु ने जब मेरे माता-पिता से निवेदन किया कि वे कुब्जिका-साधना के लिए मुझे कुछ दिनों तक उनके हवाले कर दें, तो माता-पिता ने गद्‌गद भाव से अनुरोध पालन किया। जिन माता-पिता की कन्या कुमारी-पूजन में साधन बनती हैं उनके सात पुरुष नीचे और सात पुरुष ऊपर तक कैलाशवास का गौरव पाते हैं। कदली-वन में इस सौभाग्य के अधिकारी थोड़े ही लोग थे। गुरु ने मेरी पूजा शुरू की। पहले दिन मैं जरा झेंपती रही; पर बाद में मेरा संकोच टूट गया। जब गुरु भाव-गद्‌गद होकर मेरा स्तुति पाठ करते थे तो मेरा अन्तर विगलित हो उठता था। मैं अपने को महाभाग्यशालिनी समझती। गुरु केवल संस्कृत के श्लोक ही नहीं पढ़ते, वे उनका अर्थ भी समझा दिया करते थे। मैं उन्मत्त की भाँति विह्वल हो उठती थी। गुरु मुझे नित्य नूतन वस्त्र पहनाते थे, आसन पर बैठाकर पैर धो देते थे, चरणों को अपने हाथों अलक्तक से रँग देते थे, सुगन्धित पुष्प, सिन्दूर और अगरुधूप से मेरी पूर्णोपचार पूजा करते थे। उनकी प्रत्येक क्रिया में एक अद्‌भुत गरिमा होती थी। वे शान्त भाव से बैठकर मेरा ध्यान करते थे और गद्‌गद कण्ठ से कह उठते थे :

—ॐ! बालरूपां च त्रैलोक्यसुन्दरीं वरवर्णिनीम्।
नानालंकारनम्राङ्गीं भद्रविद्याप्रकाशिनीम्॥
चारुहासां महानन्दहृदयां शुभदां शुभाम्।
ध्याये कुमारीं जननीं परमानन्दरूपिणीम्॥

"'मेरा अंग-अंग उल्लास और आत्म-गौरव से आलोकित हो उठता था। इसी अहंभावना ने मेरा सर्वनाश किया। हाय बहन, मैं इसी दारुण साधना की बलि हो गयी। मैं सिद्धियों के पीछे भागती फिरी। विवाह होने के बाद मुझे अपने देवता के समान पति की सेवा करनी थी, पर मैं सिद्धियों के पीछे ऐसी पागल थी कि कभी श्मशान को जाती, कभी चण्डिकायतन में रात-भर जप करती, कभी नदी-जल में घण्टों खड़ी रहकर अपराजिता पुष्पों को अभिमन्त्रित करती। मेरे पति हर तरह से मेरे आराम की बात सोचते रहते। मेरा एक प्रतिवेशी बड़ा चण्ड था। वह अपनी स्त्री को बराबर पीटा करता और मेरे पति को भी यही करने को उत्तेजित करता था। मैं उससे घृणा करती थी। परन्तु आज मैं समझती हूँ कि वह मेरा वास्तविक हितैषी था। हाय, यदि मेरे पति भी मुझे पीट देते, मेरी पसलियों को तोड़कर गृह-धर्म के खूंटे में बाँध देते!'

"तापसबाला की आँखों में आँसू आ गये। चन्द्रलेखा का हृदय सनाका खा

गया। हाय, वह यह क्या सुन रही है ? वह भी क्या अपने देवता-तुल्य पति को छोड़कर सिद्धियों के पीछे पागल नहीं है ? लेकिन उसने अपने को सँभाल लिया। वह सिद्धियों के पीछे पागल नहीं है। सिद्धियों को वह तिनके के बराबर आदर नहीं देती।

"तापसबाला ने कहा, 'मैंने ही बहन, इनको झिड़ककर वैराग्य-मार्ग की ओर प्रवृत्त किया था। इन्होंने अनिच्छापूर्वक केवल मेरा मन रखने के लिए साधना के दुरारोह पथ पर चढ़ना शुरू किया। हाय, जब मुझे होश हुआ तो वे बहुत दूर चले गये थे। हाय बहन, मैं उनको पा सकी हूँ, पर वे मुझे नहीं पा सके। देखती हो न उनकी अवस्था ? मैं यही तपस्या कर रही हूँ कि वे मुझे पा सकें। यह मूर्त्ति उनकी ही है। यहीं तक मैं तुम्हें सुना सकती हूँ। शेष सुनाने का अवसर शीघ्र ही मिलेगा। आशा पर ही तो जी रही हूँ।'

"दीर्घकाल तक वहाँ निस्तब्धता छायी रही। पास के गुहागर्भ से किसी ने गद्गद कण्ठ से मोहन स्वर में पाठ किया :

नमामि कुल-कामिनीं परमभाग्यसंधायिनीम्।
कुमारवरचातुरीं सकलसिद्धिदानंदिनीम्॥
प्रवालगुटिकास्रजां रजतरागवस्त्रान्विताम्।
अशेषवरदायिनीं भवनभामिनीं स्वामिनीम्॥

"तापसबाला ने कहा, 'उठो देवि, अमोघवज्र की पूजा समाप्त हो आयी है।'

"चन्द्रलेखा उठी, पर उसका हृदय बैठ चुका था…"

मैं साँस रोककर यह लेख पढ़ रहा था। अभी भी वह पूरा नहीं हुआ था, पर मेरे रक्त में झंझा उत्पन्न कर देने के लिए इतना ही प्रयोजन से अधिक था। एक दीर्घ निःश्वास निकला और दीपक बुझ गया जैसे किसी ने अचानक आकर मुझे आगे बढ़ने से रोक दिया हो। मैं पछाड़ खाकर गिर पड़ा।

12

अवश चेतना से अभिभूत मेरा अवसन्न चित्त देर तक भटकता रहा। ऐसा जान पड़ता था कि विकटाकृति छाया-मूर्त्तियाँ मुझे बाँधकर किसी अज्ञात स्थान को ले जा रही हैं। रास्ते में वैतरणी का महाभयंकर तट मिला जहाँ दूर तक केवल नर-कंकाल-ही-नरकंकाल फैले हुए थे। अनावृत भयावने नरमुण्डों की कोटर के समान प्राणहीन आँखें मुझे विचित्र भाव से घूर रही थीं। ऊपर नरमांस के मुक्खड़ गिद्ध

कतार बाँधकर उड़ रहे थे और नीचे पूतिगन्धि वायु सों-सों करती बह रही थी। मेरा शरीर लौह-रज्जुओं से बुरी तरह कसा हुआ था। मैं अवश भाव से चलता जा रहा था। कहाँ ?

अचानक मुझे महाकाल के सिंहासन पर विराजमान महाविचारक के दरबार में खड़ा कर दिया गया। वहाँ की डरावनी शान्ति बड़ी ही कष्टप्रद जान पड़ी। देवता की भृकुटियाँ तनी हुई थीं, अधरोष्ठ बुरी तरह दाँतों के नीचे पिस रहे थे, ललाट पर क्रोध-कुटिल रेखाएँ झलक रही थीं। उन्होंने मुझे सिर से पैर तक देखा। मेरे अंग-अंग में भयंकर सिहरन अनुभूत हुई। सिंहासनासीन विचारक ने तर्जनी-संकेत से कहा, 'इसे हटाओ!' क्षण-भर में वन्धन शिथिल हो गये, कसे हुए अंगों से स्फूर्ति की धारा बाहर की ओर छूट पड़ी, परन्तु अवश भाव ज्यों-का-त्यों बना रहा। मेरी आँखें खुल गयीं।

सिरहाने बैठकर मेरा विश्वस्त अनुचर अलहना बघेला पंखा झल रहा था। बघेला उसका कुल था, परन्तु गुण में भी वह बाघ का बच्चा ही था। शत्रु पर वह बाघ की तरह ही झपटता था, जीने-मरने की परवा किये बिना। मेरे लिए वह प्राण देने को सदा तत्पर रहता था। वह सिर पर पंखा झल रहा था, पर आँखें उसकी कहीं और थीं। उसने मेरी आँखों को खुलते देखा ही नहीं। पैर की ओर मैंनसिंह आँखें झुकाये बैठा था और अलहना की डाँट सुन रहा था। उसने भी नहीं देखा कि मेरी आँखें खुल गयी हैं। मैंनसिंह बहुत रोया था, उसकी बड़ी-बड़ी आँखें सूजकर गूलर-फल के समान हो गयी थीं। वह अब भी रो रहा था। बघेला फिसफिसाकर उसे डाँट रहा था, "मूर्ख, तूने वह कागद महाराज को क्यों दे दिया ? पहले मन्त्री के पास ले जाना चाहिए था। तू उल्लू है, नाच-गान और बाजीगरी किया कर। तुझसे राज-सेवा नहीं होगी। नटुआ का लौण्डा लड़ाई के मैदान में उतरा चाहे!"

प्रसंग कुछ ऐसा था कि मैंने आँखें बन्द कर लीं। कुछ और सुन लेना चाहता था। मुझे बघेला के क्रूर वाक्य बहुत बुरे लगे, पर सोचा कि देखना चाहिए मैंन-सिंह क्या कहता है। यद्यपि मेरा अवसाद अब समाप्त हो आया था, पर सुनने की इच्छा से मैं उसी प्रकार पड़ा रहा।

मैंनसिंह की आँख से अश्रु-धारा बह चली होगी। मेरे पैरों पर टप-टप कई बूँदें आ गिरीं। उसने बहुत धीरे-से सिसकते हुए कहा, "हाथ जोड़ूँ, मुझसे मन्त्री के पास जाने को न कहो। महाराज को चंगा करने का औषध मेरे पास है।"

बघेला को कदाचित दया आयी। फिसफिसाकर बोला, "फिर रोने लगा! तू लड़का क्यों हुआ रे! तुझे लड़की होना चाहिए था। बुरा मान गया ? ना रे मूर्ख, बुरा मानने की क्या बात ? राजा की सेवा करने के लिए बहुत सावधान रहना पड़ता है। अच्छा भाई, रो मत। कान ऐंठूँ फिर तुझे नहीं डाँटूँगा। ला, वह जड़ी कहाँ है ?"

बघेला की बातों से मैंनसिंह कुछ आश्वस्त हुआ। साँय-साँय करके बोला,

"वचन दो कि मन्त्री को मेरे आने की खबर नहीं दोगे।"

बघेला ने कहा, "नहीं दूँगा।"

मैनसिंह ज़रा रुककर बोला, "ज़रा सुनो, बोधा कायस्थ क्या पढ़ रहे हैं?" और फिर दोनों चुप हो गये।

बोधा कायस्थ मन्त्री विद्याधर के बहुत विश्वस्त शिष्य और लेखक थे। उनकी कहानी एक बार मन्त्री ने ही मुझे सुनायी थी। वे योगिनीपुर के धर्मायन कायस्थ के पुत्र थे। पृथ्वीराज को सन्देह था कि धर्मायन राज्य की गुप्त बातें मुहम्मद ग़ोरी को बता दिया करता है। वह भागकर महाराज जयित्रचन्द्र के दरबार में आया। अपने पुत्र बोधा को विद्याधर मन्त्री की सेवा में नियुक्त करके वह कहीं चला गया। कुछ लोग कहते थे कि वह गंगा में डूबकर मर गया। विद्याधर मन्त्री ने बोधा को पढ़ाया-लिखाया। उनका आश्रय पाकर यह बालक कई भाषाओं का जानकार हो गया। कान्यकुब्ज से जब विद्याधर का पत्ता कटा तो बोधा फिर अनाथ हो गये। बहुत दिन भटकते रहने के बाद अब वे फिर मन्त्री के पास आ गये हैं। मन्त्री उनसे गुप्तचर का काम भी लेते हैं। सच पूछा जाये तो विद्याधर मन्त्री यदि किसी पर पूरा विश्वास करते हैं तो वह बोधा पर ही। जब से बोधा आ गये हैं तब से मन्त्री की कार्य-शक्ति चौगुनी हो गयी है। मैनसिंह कह रहा है कि बोधा कुछ पढ़ रहे हैं। निश्चय ही विद्याधर मन्त्री सुन रहे हैं। मुझे कुतूहल हुआ और उसी प्रकार अचेतनावस्था का अभिनय करके पड़ा रहा। बाहर विद्याधर बोधा से वही कागद पढ़वाकर सुन रहे थे, जिसे पढ़ते-पढ़ते मेरी चेतना अवसन्न हो गयी थी। मैंने साहस बटोरकर उधर कान लगा दिये।

अनुमान से मैंने समझा कि मेरी अस्वस्थता का समाचार पाकर मन्त्री आये होंगे और यह लेख उनके हाथ लगा होगा। ठीक कारण समझने के लिए वे बोधा को बुलवाकर सुन रहे होंगे। कहानी का वही अंश चल रहा था जिसे पढ़कर मुझे धक्का लगा था। रानी ने लिखा था कि चन्द्रलेखा भी क्या अपने देवता-तुल्य पति की उपेक्षा नहीं कर रही है? इस वाक्य ने मेरे मन में आवेगों की झंझा बहा दी थी। मैं न जाने कैसे अचेत हो गया। मेरी दुर्बलता अब सबको ज्ञात हो गयी है। मन्त्री भी जान गये। छिः, कितनी लज्जा की बात है! मैंने इस बार हृदय कड़ा किया। इस तरह विह्वल होना क्या मुझे शोभा देता है? भारतवर्ष को विदेशियों के प्रहार से बचाने का संकल्प करनेवाला ऐसा छुई-मुई सिद्ध हुआ? धिक्!

जान पड़ा, जिस स्थान पर मुझे धक्का लगा था वहाँ विद्याधर भट्ट को भी आघात लगा। उन्होंने दीर्घ निःश्वास लेकर कहा, "क्या मतलब?"

यह प्रश्न नहीं था। बोधा समझते थे। उन्होंने भी दीर्घ निःश्वास लिया और कुछ गम्भीर स्वर में बोले, "हूँ!"

विद्याधर के लिए इतना पर्याप्त था। उन्हें मानो सन्तोष हुआ। जैसे वे अपने प्रिय शिष्य की व्याख्या से सन्तुष्ट हो गये। फिर एक दीर्घ निःश्वास लेकर उन्होंने समाधान के स्वर में कहा, "हूँ!" कदाचित् इसका अर्थ यह था कि तुम जो समझ

रहे हो वही ठीक है। इस विचित्र गुरु-शिष्य संवाद के बाद थोड़ी देर दोनों मौन रहे, जैसे एक-दूसरे के उत्तर को समझने का प्रयास कर रहे हों। फिर विद्याधर ने ही मौन भंग किया। बोले, "ठीक है, आगे चलो।"

बोधा ने थोड़ा सावधान होकर पढ़ना शुरू किया। रानी ने आगे लिखा था :

" 'हाँ देवि, तुमने ठीक ही समझा है कि तारा मूलत: बौद्ध-साधकों की उपास्य देवी हैं। अक्षोभ्य भैरव को उनके पार्श्व में स्थित और पूजित देखकर तुमने जो यह शंका की है कि वस्तुत: अक्षोभ्य बुद्ध को ही वहाँ बौद्ध रूप में स्थान दिया गया है, वह भी ठीक ही है। केवल तुम्हारी शंका निरर्थक है। वह केवल ऊपर-ऊपर देखने के कारण ही चित्त को उत्क्षिप्त कर रही है। तारा देवी न तो बौद्ध देवी हैं न शाक्त देवी! वे शक्ति के अनाद्यनन्त स्रोत का प्रतीक हैं। अनेक अभ्यास के बाद साधकों को इस महिमाशालिनी शक्ति के किसी-किसी ऐसे रूप का सन्धान मिलता है जो शीघ्र ही सिद्धि देता है। हम सभी शक्ति के रूप हैं। ढेले से लेकर पर्वत तक सर्वत्र एक ही शक्ति की दुर्वार धारा प्रवाहित हो रही है, सिद्धि भी सर्वत्र मिल सकती है, परन्तु मनुष्य अपनी दृष्टि से ही देखने का अभ्यस्त है और वह उसी चीज को सिद्धि कहता है जो उसके काम आ सके। यही देखो, मनुष्य आकाश-मार्ग में उड़ने लगे तो वह उसके लिए एक बड़ी सिद्धि है, किन्तु कितने कीड़े-मकोड़े, पक्षी और पतंग अनायास उड़ते रहते हैं। उनकी दृष्टि से देखा जाये तो उड़ना एक अत्यन्त नगण्य वस्तु है। जब हम कहते हैं कि शक्ति का अमुक रूप शीघ्र ही सिद्धि देता है तो हमारा मतलब यह होता है कि जो सिद्धि मनुष्य की दृष्टि से किसी काम लायक है वह सिद्धि प्राप्त होती है। आश्चर्य मत करो देवि, यदि बौद्ध-साधकों ने किसी रूप का प्रथम साक्षात्कार किया हो तो उससे शक्ति के मूल रूप में कोई भी परिवर्तन नहीं आ जाता।'

" 'धन्य हो आर्य, तुम्हारी इस सुस्पष्ट व्याख्या से मुझे बहुत-कुछ समझ में आ गया है, फिर भी मुझे यह नहीं सूझता कि बौद्ध-साधकों ने जिस रूप में शक्ति के इस महिमामय रूप का साक्षात्कार किया था, उसे शाक्त-तन्त्र ने ज्यों-का-त्यों क्यों नहीं स्वीकार कर लिया? अक्षोभ्य बुद्ध को अक्षोभ्य भैरव बनाने की क्या आवश्यकता थी?'

" 'चतुर हो देवि, तुम्हारा प्रश्न तुम्हारी सूक्ष्म बुद्धि का परिचायक है। एक बार तुम्हारे चित्त में जिस पूर्वापर परम्परा का अंकुर उत्पन्न हो गया है, वह सहज ही उत्पाटित नहीं होगा। देवि, मेरे गुरु ने बताया था कि भविष्य में मनुष्य इस पूर्वापर क्रम को बहुत महत्त्व देने लगेगा और अखण्ड काल की बात वह एकदम भूल जायेगा। तुम्हारे प्रश्न से लगता है कि बौद्ध-साधकों ने किसी नवीन वस्तु का आविष्कार किया था। यही भ्रम है। तारा देवी की उपासना किसी विशेष साधक को, किसी विशेष क्षण में सूझ भी गयी तो उससे यह सिद्ध नहीं होता कि यह विशिष्ट रूप नयी वस्तु है। यही देखो देवि, आर्य नागार्जुनपाद ने 'एकजटा देवी' की उपासना भोटदेश के साधकों से सीखी थी। एकजटा की

चतुर्भुजी मूर्त्ति को ही 'महाचीन तारा' कहते हैं। महाचीन, भोटदेश का ही नामान्तर है। यह बहुत पुरानी बात नहीं है, तथापि लोग इस परम्परा को भूल गये हैं। परन्तु यह सत्य है देवि, कि आर्य नागार्जुनपाद को यह साधना भोटदेश के अत्यन्त आदिम अधिवासियों के अनुष्ठान से प्राप्त हुई थी।[13] भोटों को यह कहाँ मिली, यह पता नहीं है। परन्तु पूर्वापर क्रम खोजनेवाले अवश्य इस प्रश्न में उलझ जायेंगे। परन्तु सत्य यह है देवि कि तारा अनाद्यनन्त शक्ति का ही मूर्त्त रूप है; न तो वह भोट में उत्पन्न हुई है, न बौद्ध परम्परा में और न शाक्ततन्त्र में।'

" 'हाँ आर्य! परन्तु इससे तो मेरी बुद्धि और जड़ बन गयी, मेरा प्रश्न और भी जटिल हो गया। आपके कथन से तो मालूम होता है कि अक्षोभ्य बुद्ध भी किसी भोटदेशीय स्थान पर बैठ गये थे। उस मूल देवता को ही बौद्ध-साधकों ने क्यों नहीं ग्रहण कर लिया?'

"अमोघवज्र के अधरों पर हँसी दिखायी दी, 'भूल रही हो देवि, साधना केवल उपास्य को आश्रय करके नहीं चलती, उपासक भी उसका मुख्य अंग होता है। शक्ति के 'उत्तर' को वह अपने संस्कारों और मान्यताओं के आधार पर ही स्वीकार करता है। इसलिए देवि, अक्षोभ्य बुद्ध शक्ति-साधकों के निकट भैरव या शिव के रूप में उपस्थित हुए हैं। तोड़ल-तन्त्र में स्पष्ट ही कहा गया है कि महादेव ही अक्षोभ्य भैरव हैं। समुद्र-मन्थन से जब विष निकला तो एकमात्र केवल शिव ही अक्षोभ्य बने रहे। इसीलिए महादेव का नाम अक्षोभ्य है।[14] बौद्ध-साधक जिस तत्त्व को अक्षोभ्य बुद्ध कहते हैं वह हू-ब-हू वही वस्तु है जिसे शाक्त-साधक अक्षोभ्य भैरव कहते हैं। अन्तर कहाँ है देवि, अपनी रुचि और संस्कारों के अनुकूल नाम देने से अन्तर थोड़े ही आ जाता है! यही देखो कि एकजटा यद्यपि भोट देवी हैं पर शाक्त-तन्त्रों में कहा गया है कि कैवल्यदायिनी होने से तारा का नाम एकजटा है—'कैवल्यदायिनीयस्मात् तस्मादेकजटा स्मृता।' इसमें कोई विरोध नहीं है। बाह्य आवरणों के भीतर देखो देवि, तारा वही भुवन-तारिणी है।'

"चन्द्रलेखा ने चारों ओर एक बार दृष्टि दौड़ायी। सारा मन्दिर पुरानी स्मृतियों के भार से इतना जर्जर हो गया था कि यह कल्पना करना कठिन था कि वह कब बना होगा। उसकी सारी दीवारों को छेदकर और छत की छाती फाड़कर हरी-हरी घास निकल आयी थी। जहाँ कहीं भी घास नहीं थी, वहीं हरी काई ने आसन जमा लिया था। मन्दिर के सामने एक छोटा-सा अलिन्द-(बरामदा) जैसा बना हुआ था, जो अब जंगली कबूतरों का आश्रय बन गया था। अन्धकार और दुर्गन्ध से उसका माथा भन्ना उठा था, कर्पूर-गुटिका के प्रकाश में वह महाचीन तारा की मूर्त्ति देख रही थी। उसे अब भी विश्वास नहीं हो रहा था कि तिब्बत के अर्द्ध-संस्कृत बोत धर्म की कोई देवी बौद्ध और शाक्त-तन्त्रों में इतना मान पा सकती है। वह आश्चर्य से सोच रही थी कि किस प्रकार मानव-चित्त ग्रहणशील होता है और किस प्रकार वह निर्विकार भाव से एकदम अपरिचित सत्यों का विश्वासी बन जाता है।

"अमोघवज्र ने मौन भंग किया; बोले, 'देवि, गोधूलि का समय हो गया है, मेरी बतायी हुई विधियों के अनुष्ठान का यही उपयुक्त समय है। तुम जगज्जननी के चरण-प्रान्त में बैठकर समाहित हो जाओ। विचलित न होना देवि! हो सकता है कि तुम्हें ऐसा कुछ देखना पड़े जिसका देखना तुम्हें अच्छा न लगे। माया को धोखा नहीं दिया जा सकता। माया धोखा दे सकती है। हो सकता है कि तुम धोखे में पड़ी हुई हो; पर माया धोखे में है, यह कभी नहीं हो सकता। तुम्हारे भीतर यदि मोह कहीं संचित है तो तुम्हें बहुत कष्ट होगा। पर कष्ट से भागकर कहाँ जा सकती हो; केवल एक बात याद रखना—तुम माता की गोद में बैठी हो। यहाँ कोई भय नहीं, कोई शंका नहीं ···।'

"इसी समय एक दीर्घकाय तपस्वी हाँफते हुए मन्दिर-द्वार पर उपस्थित हुए। स्पष्ट ही वे बहुत व्याकुल थे, उनके केश विकीर्ण थे, आँखें फटी हुई थीं और अधरोष्ठ नीले पड़ गये थे। मन्दिर-द्वार पर आते ही वे चिल्ला उठे, 'अमोघ-वज्र, अमोघवज्र, जल्दी जाओ! अनर्थ हो गया।'

"अमोघवज्र अचकचाकर उठे, 'क्यों, क्या हुआ आर्य, आप इतने उद्विग्न क्यों हैं?'

"नवागत तपस्वी ने कहा, 'बड़ा अशुभ संवाद आया है अमोघ! इसिपत्तन (सारनाथ) का पवित्र विहार ध्वस्त हो गया। आततायियों ने उसमें आग लगा दी है। उनकी निर्दय सेना नालन्दा की ओर बढ़ी आ रही है। हाय अमोघ, अब सद्धर्म का क्या होगा?'

"अमोघवज्र ने केवल दीर्घ निःश्वास लिया। नवागत तपस्वी ने इस दीर्घ निःश्वास का उत्तर अपने दीर्घतर निःश्वास से दिया। क्षण-भर बाद फिर बोल उठे, 'तुम्हारा कहना ही ठीक था अमोघ! सिद्धियों के पीछे पागल होने का यही परिणाम हो सकता था। आज मैं समूचे मगध में एक भी मनुष्य ऐसा नहीं देख रहा हूँ जो हमारी सहायता कर सके। साधारण प्रजा हमें सिद्ध समझती रही है। वह श्रद्धा से नहीं, भय से हमारी पूजा करती रही है। आज आततायी के खड्गा-घात से सिद्धियों का यह सारा खिलवाड़ टूटकर गिर गया है। जिसका दिखावा करके हम पूजा पाते थे, उसके ऐसे दयनीय पतन को देखकर यहाँ की प्रजा केवल हँसेगी। लेकिन जानते हो अमोघ, आज मेरी नस-नस में एक अद्‌भुत विद्रोह की आँधी बह रही है। आज भी हमारे विहार के ढोंगी साधक मन्त्रबल से तुर्कों की सेना उड़ा देने की गप्पों पर विश्वास करते हैं। और फिर जले पर नमक यह कि इसिपत्तन (सारनाथ) के भयंकर पतन की बात सुनकर कोई पीपल की डाल पर डाकिनी बैठाकर हाँकने के लिए हिमालय की ओर चल पड़ा है तो कोई तूँबे के अभिमन्त्रित जल से प्रलयपूर का दृश्य उपस्थित करने के लिए झारखण्ड के भैरव की ओर निकल पड़ा है। मैं चिल्लाकर हार गया कि प्राण देकर भी सद्धर्म की महिमा को बचाओ, परन्तु सुनता कौन है! आकर देखो अमोघ, सारा विहार खाली हो गया है। सिद्धों की सेना का ऐसा मिथ्याभाषी ढोंगी रूप फिर कभी

देखने को नहीं मिलेगा।'

"चन्द्रलेखा ने बाद में जाना कि नवागत तपस्वी का नाम भिसिलपाद है। महाचीन के किसी बड़े विहार से वे आये हैं; अनेक साधनाओं के प्रौढ़ साधक हैं। परन्तु सब करने के बाद भी इस नतीजे पर पहुँचे हैं कि सिद्धियाँ मनुष्य को कुछ विशेष बल नहीं देतीं। एक साधारण किसान, जिसमें दया-माया है, सच-झूठ का विवेक है और बाहर-भीतर एकाकार है, वह भी बड़े-से-बड़े सिद्ध से ऊँचा है। चरित्र-बल समस्त शक्तियों का अक्षय भण्डार है। जिस साधना से यह महान् शक्ति-स्रोत सूख जाता है, वह व्यर्थ है।

"अमोघवज्र ने फिर निःश्वास लिया। बोले, 'हाँ आर्य, गोरक्षनाथ ने ठीक ही कहा था कि सिद्धियाँ मनुष्य को पशु बना दें, पक्षी बना दें, अजगर बना दें, प्रेत बना दें, पर वे मनुष्य को मनुष्य बनाने में तब तक सहायक नहीं होंगी, जब तक सहज शरीर-धर्मों को ही परम लक्ष्य समझा जाता रहेगा। आर्य, कबूतर भी उड़ लेते हैं, अजगर भी वर्षों धरती के नीचे सो लेते हैं, जलकुक्कुट भी पानी के ऊपर चल लेते हैं। मनुष्य के लिए ये सब भारी सिद्धियाँ हैं। पर इससे क्या वह धर्म सचमुच प्रतिष्ठित होता है जो समस्त जगत् के पाप और दुःखमोचन को ही अपना आदर्श समझता है? मनुष्य पशु से किस बात में भिन्न है आर्य! केवल परदुःखकातरता, अपार करुणा, कठोर आत्म-दमन और अनाविल सत्यनिष्ठा, यही क्या मनुष्य की विशेषता नहीं है? लेकिन आज कितने सिद्ध यह बात समझ रहे हैं!'

"भिसिलपाद ने उत्तेजित होकर कहा, 'चलो अमोघ, समय नष्ट मत करो। नालन्दा का विहार बचनेवाला नहीं है। उसी के साथ-साथ यहाँ लाखों निरीह मनुष्य भी बरबाद हो जायेंगे। कुछ ऐसा करो कि यह अनर्थ रुक जाये। सिद्धों की चिन्ता छोड़ो। वे आज सायंकाल तक ही विहार को अपना घर समझते रहे हैं। आज एक भी सिद्ध विहार में नहीं दीखेगा। आज ढोंग का ऐसा खुला प्रदर्शन होगा, जैसा कभी भी नहीं हुआ।'

"चन्द्रलेखा का हृदय भय से सन्न हो गया। उसे ऐसा मालूम हुआ कि उसकी चेतना लुप्त होती जा रही है। कर्पूर का क्षीण प्रकाश और ततोधिक क्षीण सौरभ उसे सँभाल नहीं सके। वह बेहोश-सी होकर तारा देवी के चरण-प्रान्त में लुढ़क गयी। केवल पर्वत की शिखा से कोई उत्तेजित कठोर नाद रह-रहकर उसकी चेतना पर आघात करने लगा। यह सब मिथ्या है। सिद्धियों के पीछे पागल बनने की इस हवा ने वर्णाश्रम धर्म को भ्रष्ट कर दिया। कायरों और भगोड़ों को अपना नेता समझनेवाली जाति की दशा जो होनी चाहिए, वही आज इस जन-समूह की दशा होगी। निरर्थक मन्त्रों की निरर्थक रट देश में प्राण-शक्ति का संचार नहीं कर सकती। मनुष्य को देवता बनाने के लिए आत्मविश्वास और दृढ़ संयम की आवश्यकता है। सौगत और शाक्त-तन्त्रों ने मनुष्य की रीढ़ ही तोड़ दी है। गोरक्षनाथ ने इस निर्वीर्य साधना की गलती को बहुत पहले ही समझ

लिया था, पर हाय, किसी ने उनकी सुनी नहीं।

"चन्द्रलेखा ने देखा कि ग्राकाश में काले-काले मेघ उमड़ ग्राये हैं। उसे ठण्डी हवा का एक झोंका-सा लगा ग्रौर फिर प्रचण्ड ग्राँधी ने उसे उड़ा दिया। वह वृन्तच्युत तूलखण्ड की भाँति शून्य में उड़ने लगी। उसने ग्राग में जलते हुए गाँवों को देखा, ग्रधमरे निरीह शिशुग्रों को चिल्लाते देखा, फिर कठोर ग्राकृतिवाले ग्रतुल सैनिकों को। दुःख के मारे उसकी छाती फटी जा रही थी, पर वह ग्रसहाय थी। ग्रचानक एक जगह उसे पृथ्वी का ग्राकर्षण ग्रनुभूत हुग्रा। उसने देखा कि एक विराट् जन-समूह के बीच विद्युद्गौर तेजःपुंज कोई तपस्वी त्रिशूल लेकर कुछ समझा रहा है। चन्द्रलेखा को पहचानने में एक क्षण भी विलम्ब नहीं हुग्रा। ये ही गुरु गोरक्षनाथ थे। चन्द्रलेखा ने ग्रतृप्त नयनों से उस ग्रद्भुत तेजोरूप का पान किया। उनके सुदीर्घ ललाट से प्रकाश बरस रहा था। ऐसा मालूम होता था वे किसी विकट चिन्ता से खिन्न हो गये हैं, पर चेहरे पर कहीं भी किसी प्रकार की निष्प्रभता नहीं थी। केवल ग्राँखों के कोनों में ग्रौर भृकुटियों के ग्रन्तराल में एक प्रकार का ग्राकुंचन था, जिससे ललाट-देश पर हलकी वलियाँ निकल ग्रायी थीं। स्वच्छ भस्म का त्रिपुण्ड इन वलियों को ढक नहीं सका था। वे भावावेश की ग्रवस्था में तो थे, लेकिन किसी प्रकार की उत्तेजना का कोई भी चिह्न उनके मुखमण्डल पर नहीं था। चन्द्रलेखा ने ग्रपने को धन्य समझा, जो इस ब्रह्मचर्य के उत्स को, तपस्या के उद्गम को, तेज के ग्रागार को ग्रौर दर्प के मूर्तिमान विग्रह को देख सकी। उसे ऐसा लगा, मानो शिव ने ही मानव-रूप धारण किया है, पार्वती के मनोरम हास्य ने ही मोहन वेश में ग्रवतार लिया है, गंगा की पवित्र तरंगों ने ही ग्रचंचल शोभा धारण की है, महादुर्गा के तृप्त ग्रवलोकन ने ही नवीन विग्रह धारण किया है। चन्द्रलेखा ने इस तपस्या के विग्रह को, तेज के भण्डार को, ब्रह्मचर्य के विजयकेतन को ग्रौर वैराग्य के मनोहर रूप को मन-ही-मन प्रणाम किया; ग्रत्यन्त सावधानी से वह मठ के एक पार्श्व में छिप गयी ग्रौर मन-प्राण ढालकर गुरु गोरक्षनाथ की तेजोदीप्त वाणी सुनने लगी।"

विद्याधर ने फिर दीर्घ निःश्वास लिया। बोले, "ग्रर्थात् ?"

बोधा ने दीर्घ निःश्वास के साथ उत्तर दिया, "हूँ !"

विद्याधर ने जैसे हारकर उत्तर दिया, "हूँ !"

बोधा ने फिर पढ़ना शुरू किया :

"चन्द्रलेखा ग्रपनी तन्द्रा-जड़िम ग्रवस्था में भी ग्रमोघवज्र की बाँसुरी सुन रही थी। मनुष्य के कंकाल में से घुटने के नीचे की हड्डी खींचकर उसके भीतर की चर्बी निकाल दी गयी थी, उसी छिद्र से उस सुरीली बाँसुरी की ग्रावाज निकल रही थी। महाचीन में इस प्रकार की पादास्थि-वंशी का प्रचार बहुत ग्रधिक है। उस सुरीली बाँसुरी की ग्रावाज से दिगन्तराल व्याप्त हो गये थे। गिरि-गह्वर के पीछे से बार-बार विचित्र जय-निनाद हो रहा था। धीरे-धीरे ग्राकाश-मण्डल से विकटाकृति भूत ग्रौर वैताल उतरने लगे। उनकी चेष्टाएँ बड़ी विकट थीं।

मद्य-मांस और रक्त की वहाँ धुआँधार वर्षा हो रही थी। चिपिटनास भूतों की उस अस्त-व्यस्त मण्डली में मर्यादा का कोई ज्ञान नहीं था। योगिनियाँ मद्य और रक्त के कुल्लों से भूतों के अशुभ शरीर पर बार-बार आक्रमण करती थीं और बार-बार डमरू और सिंगे के नाद से वे इस पर हर्ष प्रकट कर रहे थे।

"यह सब हो रहा था, किन्तु चन्द्रलेखा के लिए सब मानो अर्थहीन छाया-चित्र थे। उसकी आँखों के सामने इन समस्त व्याकुल विलासों के पीछे और फिर भी इन सबसे स्पष्ट मूर्त्ति महातेजस्वी योगिराज गोरक्षनाथ की थी। उनकी अनाविल वाणी में यह कोलाहल कुछ भी व्याघात नहीं उत्पन्न कर रहा था। वह वाणी जितनी ही स्पष्ट थी उतनी ही तीव्र थी। वह हृदय को चीरकर सीधे प्रवेश करना चाहती थी। उसमें कहीं भी स्खलन नहीं था, जड़िमा नहीं थी, दुविधा नहीं थीं। वह गजनी से साकल तक विध्वस्त होने की कहानी थी, वह चीनाचार और सुन्दरी-साधना से देश के जर्जर होने की हृदय-विदारक वार्त्ता थी।

"चन्द्रलेखा यह क्या सुन रही है? अभी अमोघवज्र से महाचीन की महाविद्या का माहात्म्य उसने सुना है और अभी गुरु गोरक्षनाथ यह क्या समझा रहे है! यही साधना क्या इस देश को हीन-वीर्य बना रही है? इसी के साधक क्या लोक के सुख-दुःख से निरपेक्ष बनकर अपनी-अपनी खिचड़ी अलग पका रहे हैं? और यह गजनी से साकल तक विध्वस्त होने का क्या अर्थ है? चन्द्रलेखा क्या यह स्वप्न देख रही है?

"अमोघवज्र की सुरीली बाँसुरी बजती रही। भूतों और वैतालों का उद्दाम नृत्य ज्यों-का-त्यों जारी रहा। अचानक बाँसुरी रुक गयी। भूत-वैतालों और गुह्यकों की चिपिटनास-वाहिनी का उद्दाम नृत्य भ्रम-से रुक गया, डाकिनियों का ताण्डव, योगिनियों का उल्लास और गुह्य डाकिनियों का लासक एकाएक कम हो गया और आकाश के मध्य भाग से आनन्दभैरव उतरे। उनके अंग-अंग से कोटि-कोटि सूर्यों की प्रभा उल्लसित हो रही थी; उनकी तीन आँखों से कर्पूरअंकुर के समान मनोहर दृष्टि-रेखा उद्भासित हो रही थी। उनके अठारहों हाथों में घण्टा, डमरू, पाश, अंकुश आदि विविध अस्त्र विराज रहे थे। उनके वाम पार्श्व में आनन्द-भैरवी विराजमान थीं। अहा, संसार की समस्त श्रद्धा क्या यहीं पुंजित हो गयी है? विधाता के सौन्दर्य-भण्डार का सर्वस्व क्या इसी मूर्त्ति के बनाने में समाप्त हो गया है? प्रकृति की अशेष शोभा क्या यहीं केन्द्रित कर दी गयी है? चन्द्रलेखा ने अपने भाग्य को सराहा। एक बार वह आनन्दभैरव के मनोहर मुख की ओर देखती और एक बार आनन्दभैरवी के मादक सौन्दर्य की ओर। कैसा विचित्र संयोग है! धन्य हो महाभैरव, धन्य हो महाभैरवी!

"चन्द्रलेखा ने आश्चर्य के साथ देखा कि आनन्दभैरवी धीरे-धीरे आनन्द-भैरव में लीन हो गयीं। भैरव के उस अर्द्धनारीश्वर वेश में अपूर्व तेज, अपूर्व शोभा और अपूर्व लास तरंगित हो रहे थे। भूतगण तुमुल जय-निनाद से धरती को कम्पित करने लगे। देखते-देखते भूतों, गुह्यकों, डाकिनियों और योगिनियों का

दल, एक-दूसरे में विलीन हो गया। एक निमेष में चन्द्रलेखा ने देखा कि गुरु गोरक्षनाथ योगियों के सामने खड़े हैं—वही ज्योति-मूर्त्ति, वही अस्खलित वाणी, वही तेजोमण्डित मुद्रा। बोले :

" 'योगियो, मैंने भगवती के साथ जूझने का संकल्प किया था। भगवती ने कहा था—गोरक्ष, तुम माया को नहीं जीत सकते। तुम माया को मानकर ही मायातीत को पा सकते हो। मैंने भगवती से कहा था, माया को हराया जा सकता है। मायातीत कहीं बाहर नहीं है। वह हमारे भीतर ही है। वह हमारे रोम-रोम में रमा हुआ है। माया उसी के इशारे पर नाच रही है। मैंने कहा था—भगवती, तुम हमारे मार्ग से हट जाओ। तुम माया का पक्ष लेकर मुझे तंग मत करो। भगवती मान गयी थीं। तब से मैं माया को जीतने का प्रयास कर रहा हूँ और अपने शिष्यों से करा रहा हूँ। मैंने सफलता पायी है, क्योंकि मैंने माया को पहचान लिया है। माया हमारे मन में है, हमारी बुद्धि में है, हमारे सम्पूर्ण अन्तःकरण में है; यह हमारी ही सृष्टि है। अज्ञान ही माया है, मूढ़ता ही माया है, अवास्तव को वास्तव समझना ही माया है। सारे जगत् को भूलकर अपनी मुक्ति की चिन्ता करना सबसे बड़ी माया है। सारा संसार इस माया के जाल में फँसकर भटक रहा है।

" 'योगियो, सारा संसार मूर्खता का शिकार बना हुआ है। इस मूर्खता की धारा में योगी और सिद्ध भी उसी प्रकार बह गये हैं, जिस प्रकार गृहस्थजन। कोई शुभ-कर्म के अनुष्ठान और अशुभ-कर्म के वर्जन को ही मोक्ष समझ रहा है, कोई वेद-पाठ को मुक्ति का परम सोपान मानकर भूला हुआ है, कोई निरालम्ब रूप को ही मुक्ति माने बैठा है, कोई ध्यान-धारणा के प्रयोग से ही मुक्ति का फल खींच लेने को उद्यत है, कोई मद्य-मांस और विलासिता के द्वारा प्राप्त आनन्द को ही मोक्ष समझे बैठा है, कोई मूल-कन्द से उल्लसित भगवती कुण्डलिनी के संचार-मात्र को मुक्ति समझकर उलझा हुआ है, कोई सुलभ दृष्टि-निपात को ही मोक्ष मानने में उल्लास अनुभव कर रहा है। ये सब खण्ड-सत्य हैं। मोक्ष तो वह है जब सहज ही मनुष्य समाधि लगा सके और उस सहज समाधि के द्वारा ही स्वयं अपने मन से अपने मन को देखने लगे।[15]

" 'यह कैसे होगा? क्या संसार के इतर प्राणियों को मूर्ख समझने से योगियों और सिद्धों की मूर्खता कम हो जायेगी? जब हमारी आँख के सामने लाख-लाख निरीह प्राणियों का वध हो रहा है, दुर्दान्त म्लेच्छ सेना नगरों और शस्य-क्षेत्रों को भस्म कर रही है, जब अधमरे युवकों, परित्यक्त शिशुओं और लांच्छित बन्धुओं के क्रन्दन और आह से वायुमण्डल व्याप्त है, उस समय क्या सहज समाधि सम्भव है। योगियो, आज सब-कुछ भूलकर संगठित होने ही आवश्यकता है। ध्यान-धारणा का प्रयोग रुक सकता है, मारण-मोहन की विधियाँ स्थगित रखी जा सकती हैं, मोक्ष की चिन्ता में भटकने का व्यवसाय तब तक बन्द किया जा सकता है। वेतन-भोगी सैनिकों के वीर्य की परीक्षा हो चुकी है, गजवनी (ग़ज़नी) से साकल (स्यालकोट) तक की प्रत्येक मुठभेड़ में उन्हें पराजित होना पड़ा है। आज

सोमेश्वर तीर्थ का भविष्य संकट में है, पार्श्वनाथ की रत्नमूर्त्ति पर लुब्ध भेड़ियों की दृष्टि पड़ चुकी है, ओदन्तपुरी और नालन्दा विहार की बहुमूल्य बौद्ध मूर्त्तियों का भविष्य अन्धकाराच्छन्न है। आज क्या सम्प्रदायवाद को बहु मान देकर परस्पर विच्छिन्न होने के ज़रूरत है? क्या शैव, क्या वैष्णव, क्या जैन, क्या बौद्ध—सभी पर विपत्ति की घोर घटा छायी हुई है। यदि हम अपने बाह्य विभेदों पर ही अब भी अड़े रहेंगे, तो विनाश निश्चित है। एक प्रकार की बिना रीढ़ की साधना इन दिनों समूचे भारत को ग्रास किये जा रही है। सिद्धियों के नाम पर अत्यन्त निचली श्रेणी की कामुकता को उत्तेजना दी जा रही है। महाचीन के निम्न स्तर से आयी हुई यह साधना हमारे देश के बड़े-बड़े साधकों तक को अभिभूत कर रही है।

"'योगियो, माया बड़ी विकट शत्रु है। वह प्रतिद्वन्द्वी को घायल करने के हज़ार उपाय जानती है। परम तत्त्व, जिसके साक्षात्कार को प्रत्येक सम्प्रदाय परम पुरुषार्थ मान रहा है, इस शरीर से बाहर नहीं है। मैं ज़ोर देकर कहता हूँ, वह इस शरीर के भीतर मिलता है। उसको पाने के लिए शास्त्र पढ़ने की ज़रूरत नहीं, बाह्य उपचारों की भी आवश्यकता नहीं है। इस शरीर को अगर तुमने नहीं समझा तो सिद्धि के लिए भटकना बेकार है। निखिल ब्रह्माण्ड में तुम परम तत्त्व को खोज-खोजकर भटककर मर जाओगे। जो इस शरीर को नहीं जानता, वह इस ब्रह्माण्ड को भला क्या जानेगा? मैं भुजा उठाकर कहता हूँ, इस शरीर के छः चक्रों को समझ लो, सोलह आधारों को जान लो, दो लक्ष्यों को पहचान लो, पाँच आकाशों का अनुभव कर लो। मित्रो, यह विचित्र घर है। यद्यपि इसमें नौ दरवाज़े हैं और पाँच देवताओं से अधिष्ठित हैं, तो भी यह सिर्फ एक खम्भे पर ही टिका हुआ है। मैं पूछता हूँ, मित्रो, जो व्यक्ति इतनी-सी बात नहीं जानता, उसे सिद्धि कैसे मिलेगी।[16] और जो इतनी-सी बात जान जाये, उसे सारे संसार में भटकते फिरने की क्या आवश्यकता है? योगियो, माया दुरन्त है, माया दुरधिगम्य है। सिद्धियों के पीछे भागते फिरने में तुम क्या माया के जाल में नहीं उलझ रहे हो?

"'यह जो हर सम्प्रदाय में चतुश्चन्द्र, पंचपवित्र और पंचमकार की साधना घर किये जा रही है, यह हमारे समूचे समाज को निर्वीर्य और आलसी बना देगी। योगियो, जिस समय गृहस्थ भीत और शंकित हैं, वेतनभोगी सैनिक हतबुद्धि और कर्त्तव्य-भ्रष्ट हो गये हैं, साधु तरलकर्म और धर्महीन बन चुके हैं, उस समय मैं उन लोगों का आह्वान करता हूँ, जो विश्वास करते हैं कि नरदेह दुर्लभ वस्तु है, परम तत्त्व इससे बाहर नहीं है और हठपूर्वक उसे अनायास पाया जा सकता है। सम्प्रदाय का मैं विचार नहीं करता। जो लोग इस महासत्य में विश्वास रखते हों, उन्हें मैं गुरु के दिये हुए इस पवित्र त्रिशूल के नाम पर पुकारता हूँ। मित्रो, देव-मन्दिरों और विहारों के लिए प्राण देने का उपयुक्त अवसर आ गया है, अनाथों और वृद्धों की रक्षा का भार उठाने का सुन्दर समय अनायास मिल गया है, शिशुओं और विधवाओं के हृदय में आश्वासन की रेखा जगा देने का पुण्यपर्व सौभाग्य से मिल

गया है।

" 'तुम्हारा स्वर्ग तुम्हारे साथ है। शिव और शक्ति का सम्मिलन-क्षेत्र तुम्हारे शरीर की प्रत्येक गाँठ में है। वज्रोली साधन के मार्ग में जो लोग बहक गये हैं, उन्हें मैं लौटने का परामर्श देता हूँ। यह शरीर ही काम, विषहर और निरंजन का निवास-स्थान है।[17] जो लोग काम-साधना के लिए बाह्य उपकरणों का आश्रय लेते हैं, वे उतनी ही गलती करते हैं, जितनी निरंजन-साधना के लिए बाह्य तत्त्वों का आश्रय करनेवाले करते हैं। इतना स्मरण रखें कि आपकी साधना अकेले की साधना हो ही नहीं सकती। समस्त जगत् के सुख-दुःख और हास्य-रोदन आपको प्रभावित करेंगे ही। इसलिए आप जलते हुए शस्य-क्षेत्रों की उपेक्षा नहीं कर सकते, टूटते हुए मन्दिरों से आँख नहीं मूँद सकते, ललकते हुई शिशुओं और घिघियाते हुए वृद्धों की ओर से कान नहीं बन्द कर सकते। आप संगठित होकर ही संगठित अत्याचार का विरोध कर सकते हैं। यह सुन्दरी-साधना, यह महाचीनाचार, यह चक्रपूजा, यह महाविद्या-सिद्धि आपको नहीं बचा सकती। ये सारे आचार आपके धर्म को नहीं बचा सकते, आपके शरीर को नहीं बचा सकते। शरीर ही नष्ट हो गया तो आपका इहलोक और परलोक दोनों नष्ट हो गये। इसीलिए स्वर्ग के वाहको, उठो, संगठित होकर अत्याचार का सामना करो।'

"चन्द्रलेखा को ऐसा जान पड़ा कि ओदन्तपुरी में किसी ने आग लगा दी है। धुआँ और दाहक गन्ध इस देवायतन तक अनायास पहुँच रहे थे। वह एक विचित्र कोलाहल था। उसमें हाय-हाय की पुकार भी थी, विजयोल्लास की ध्वनि भी थी और जलते हुए घरों की चटचटाहट भी थी। अभी तक भूतों का जो विकट कोलाहल चन्द्रलेखा सुन रही थी, वह इसी श्रेणी का था, पर वह इतने हृदय-द्रावक उपादानों से भरा हुआ नहीं था। गोरक्षनाथ और भी निकट आये। और भी··· और भी। अन्त में वे अमोघवज्र के एकदम पास आकर खड़े हो गये। चन्द्रलेखा सम्भ्रम से, साध्वस से, लाज से, और आतंक से ऐसी रुद्ध-चेष्ट बन गयी कि वह हिल भी नहीं सकी। गुरु ने उसकी ओर देखा भी नहीं। वह ज्यों-की-त्यों अवश-सी, अवसन्न-सी पड़ी रही।

"गोरक्षनाथ को देखकर अमोघवज्र उठ खड़े हुए। बड़े प्रेम से उन्होंने उनका अभिवादन किया। गोरक्ष के तेजोमण्डित बदन पर आनन्द की छटा छिटक रही थी। उन्होंने अमोघवज्र की ओर देखकर बड़ी स्निग्ध हँसी हँसते हुए कहा, 'अब भी तुम इस घपले में पड़े हो अमोघ? हमारी आँखों के सामने गजवनी से साकल तक के समस्त विहार और रत्न-स्तूप विध्वस्त हो गये, सोमेश्वर तीर्थ लुट गया, इसिपत्तन में ईंट-से-ईंट बज गयी। नालन्दा और ओदन्तपुरी अब भी जल रही हैं और तुम्हारी यह जादूगरी की साधना अब भी अव्याहत गति से चल रही है। देखो अमोघ, मैंने अपनी आँखों इस महानाश का दृश्य देखा है। सुनोगे?'

"अमोघ की आँखों में आँसू छलक आये। बोले, 'भाई, एक समय के तुम मेरे गुरु-भाई हो; किन्तु मैं जहाँ था, उससे अणु-मात्र आगे नहीं बढ़ा और गुरु की कृपा

से तुम साक्षात् महाभैरव के रूप बन गये। मैं तुम्हारी सब बात सुनूँगा। परन्तु मुझे इतनी स्वाधीनता दो कि तुम्हें मनोनुकूल सम्मान दे सकूँ। मेरा मन बार-बार तुम्हारा चरण-स्पर्श करने को आतुर हो रहा है। मुझे यह अधिकार पाने दो।'

"गुरु ने अमोघ को गले से लगा लिया और बोले, 'छिः अमोघ, ऐसा भी कहते हैं ! तुम मेरे वही प्यारे गुरु-भाई हो। परन्तु तुम जिस विचित्र साधना-जाल में फँस गये हो, उसका रहस्य मुझे प्राप्त हो गया है। मैं तुम्हें इसमें भटकने नहीं दूंगा, इससे तुम्हारा ही नहीं, समूचे आर्यावर्त्त का अकल्याण है। सुनो।

" 'जालन्धर पीठ के वज्रेश्वरी-विहार के अद्भुत सिद्ध फेरुकवज्र का स्मरण है न तुम्हें ? सचमुच ही उसके चरणों पर सिद्धियाँ लोटती थीं। उसकी दृष्टि इतनी सधी हुई थी कि मोहन, उच्चाटन या वशीकरण तो उसके लिए बात-की-बात थी। मेरा शिष्य धोरंग बड़ा कठिन-चेता है। वह भी उसके सम्मोहन को नहीं काट सका था। मैंने उसके अनेक चमत्कार देखे हैं। वह पेड़ की टहनी पर बैठकर त्रैलोक्य घूम आ सकता था, भृंगार की टोंटी से अनायास निकल जा सकता था, भूतों, प्रेतों और यक्षिणियों को बटोर सकता था, आग पर दौड़ सकता था, तलवार पर सो सकता था। लोक पर उसका घोर प्रभाव था। गुरु की कृपा से मैं सिद्धियों को देखकर कभी अभिभूत नहीं हुआ, पर उसने मेरे ऊपर भी अपने अस्त्र का प्रयोग करना चाहा था। मैं उसकी अद्भुत शक्ति का क़ायल था। लेकिन जानते हो अमोघ, जिस दिन वज्रेश्वरी विहार पर एक सहस्र विदेशी सैनिकों ने 'दीन-दीन' कहकर हमला किया, उस दिन फेरुक की विद्या न जाने कहाँ लुप्त हो गयी। वशीकरण और मोहन की दुरन्तकला एक सहस्र चित्तों के मिलित जयोन्माद को रत्ती-भर भी इधर-उधर नहीं मोड़ सकी।' "

13

यहाँ फिर मुझे झटका लगा। यह सब क्या है ? क्या रानी के मस्तिष्क का सन्तुलन नष्ट हो गया है ? सचमुच ही क्या वे सिद्धयोगिनी हो गयी हैं ? हाय, क्या पिंजड़ा और चिड़िया दोनों से वंचित होने जा रहा हूँ ? मुझे रानी की एक-एक चेष्टा प्रत्यक्ष दीखने लगी। उनका आनन्दोल्लसित मुखमण्डल, तरंग-कुटिल अलकराशि, स्मयमान अधरप्रान्त, काली-काली मसृण भ्रू-लताएँ, आकर्ण प्रसारित नयन-कोरक, पवित्र-स्निग्ध दृग्विलास, अमृत-स्रावी वाणी—हाय, मैंने रानी को असत्य प्रयत्न से विरत क्यों नहीं किया ! क्या वे मेरी मानसिक दुर्बलता के कारण ही

पथभ्रष्ट नहीं हुई ! यह कैसी दुर्बलता है ! क्या मैं सचमुच विश्वास करता हूँ कि नारी की सार्थकता इस प्रकार की विकट साधना में सिद्धि प्राप्त करने में है ? सचमुच ही क्या वह गँवार पति मुझसे अधिक नारी की सार्थकता को नहीं समझता जो अपनी धर्म-पत्नी को बलात् अपमार्ग में जाने से रोकता है ? मैंने अपने को ही वंचित किया है और रानी को भी।

रानी ने जब कहा था कि मुझे सर्वत्र स्वाधीनता देनी होगी तो उसी समय मैंने क्यों नहीं समझा कि स्वाधीनता और अनाधीनता में अन्तर है ? रानी साधना के लिए प्रस्थान करते समय स्वाधीन नहीं थीं। वे नेय की भाँति, अवनमित की भाँति, अमर्यादित की भाँति आचरण कर रही थीं। इससे विषम पराधीनता और क्या हो सकती है ? मैंने उन्हें स्वाधीन भाव से नहीं, पराधीन भाव से जाने की अनुमति दी थी। हाय, इसका कोई प्रायश्चित्त भी अब रह गया है या नहीं ! अनजान में ही मैंने दीर्घ निःश्वास लिया। मेरी शिराएँ सनसना उठीं। रानी को बचाना होगा, अवश्य बचाना होगा। हाय रानी, तुम कहाँ हो ? अपने ऊपर जो संज्ञाहीनता मैंने इतनी देर से आरोपित कर रखी थी, वह एकाएक समाप्त हो गयी। मैं कुछ ऐसे संवेगों से अभिभूत हो गया जिनका स्वरूप मुझे आज भी स्पष्ट नहीं हो पाया है। मैं एकाएक उठकर बैठ गया। अचानक असामान्य रूप से मेरे मुँह से निकल गया, "हाय रानी !"

मेरे अचानक उठने से मैनसिंह घबरा गया। वह नीची आँखों को मेरे पैरों पर गड़ाकर तन्मय भाव से तलवे सहला रहा था। मेरे अप्रत्याशित उत्थान से वह बिल्कुल डर गया और पैरों को जोर से पकड़कर रो पड़ा। चकित मृगशावक के समान उसकी बड़ी-बड़ी आँखों से अविरल अश्रुधारा फूट पड़ी।

रुँधे गले से उसने कातर भाव से कहा, "रानी से मैं आपको मिलाऊँगा महाराज, घबराइए नहीं।"

मैं अपने आवेश में स्वयं लज्जित हो रहा। बघेला ने कसकर मेरा सिर हथेलियों में दबाया। रो वह भी रहा था। केवल घिग्घी बँधी आवाज़ से इतना ही कह सका, "धीरज धरो महाराज ! मैनसिंह चतुर है। वह रानी का पता जानता है।"

मुझे अपने को सँभालने में थोड़ा समय लगा। बाहर विद्याधर मन्त्री ने भी मेरी आवाज सुनी। बोले, "चलो बोधा, महाराज की संज्ञा लौट आयी है।"

विद्याधर भट्ट के सामने मैं क्या मुँह दिखाऊँगा ! वे फिर एक बार राजाओं की दुर्बलता से समूचे देश के महानाश की चिन्ता से क्या व्याकुल नहीं हो जायेंगे ! उन्होंने मुझसे क्या-क्या आशाएँ लगा रखी होंगी ! हाय, अपने स्वप्नों को इतनी आसानी से टूटते देख दुर्बल वृद्ध को कितना आघात लगेगा ! मैंने सावधानी से अपने वस्त्र इत्यादि ठीक किये और इस प्रकार बैठ गया जैसे कुछ हुआ ही न हो। वृद्ध मन्त्री के आने पर मैंने स्वस्थ भाव से प्रत्युत्थान और अभिवादन किया। परन्तु इस बीच मैनसिंह कब किस ओर अन्तर्धान हो गया, यह मैंने देखा ही नहीं।

बाद में बघेला बता रहा था कि वह पटवास के नीचे से सटाक-से निकल गया था और बघेला चुप रहे ऐसा इंगित से कह गया था।

वृद्ध मन्त्री के आसन ग्रहण करने पर मैं भी बैठ गया; यथासम्भव अपने को स्वस्थ दिखाने का प्रयत्न करता रहा। हृदय में जो दुश्चिन्ता थी और संज्ञाहीन होने की लज्जा थी, उसे संकल्प-बल से दबाने में मुझे अवश्य सफलता मिली थी क्योंकि वृद्ध मन्त्री ने सिर से पैर तक तीव्र दृष्टि से देखकर सन्तोष ही व्यक्त किया। थोड़ी देर मौन रहकर बोले, "कुछ चिन्तित तो नहीं हो बेटा!"

उन्होंने स्नेह का सम्बोधन किया। स्पष्ट ही वे मेरे हृदय के घाव पर शीतल उपलेपन देने का प्रयत्न कर रहे थे। मैं परास्त हो गया। पिता के समान स्नेह-परायण वृद्ध से कुछ छिपाना अपराध-सा लगा। थोड़ा व्रीड़ा-विमिश्रित भाव मेरे स्वर में आ गया। मैंने कहा, "हाँ आर्य, इस लेख से मैं विचलित अवश्य हो गया हूँ। पर आप चिन्ता न करें; अब मैं पूर्ण स्वस्थ हूँ।"

वृद्ध मन्त्री आश्वस्त-से लगे। बोले, "किन्तु यह लेख मैनसिंह को मिला कहाँ! मैं उससे मिलना चाहता हूँ।" फिर बघेला की ओर मुँह करके बोले, "तुम उसे खोजकर मेरे पास ले आना बेटा!" बघेला काठ की तरह चुप खड़ा रहा। पर विद्याधर को उसकी ओर देखने का अवकाश नहीं था। वे अपने-आपमें ही खोये हुए थे। नीचे मुख किये हुए बोले, "जान पड़ता है, इस वृद्धावस्था में भगवान् मुझे ग्रहों से ही लड़वाकर सन्तुष्ट नहीं हुए हैं। वे चाहते हैं कि मैं मन्त्र-तन्त्र, भूत-वेताल, डाकिनी-शाकिनी, ऋद्धि-सिद्धि सबसे उलझूँ। जैसी उनकी इच्छा! बेटा, मुझे सिद्धियों की सेना से भी जूझना पड़ेगा।" बोधा की ओर देखकर बोले, "ठीक है न बोधा?"

बोधा के वली-कुञ्चित ललाट के नीचे दो चिपटी आँखें शून्य में उलझी हुई थीं। उनमें न कोई भाव था, न राग था, न विराग था, न आवेश था, न चिन्ता थी—शून्य से उलझी हुई वह दृष्टि भी शून्य ही थी। वे देर तक सिर हिलाते हुए केवल 'हुँ' कहकर रह गये। थोड़ी देर के मौन के बाद विद्याधर ने बघेला को फिस-फिस करके कुछ उपचार बताये और उठ पड़े। चलते समय कहते गये, "मैनसिंह को ले आना।"

वृद्ध के चले जाने के बाद मैं कुछ आश्वस्त हुआ, उनकी बातों का अर्थ समझने का प्रयत्न करने लगा। बघेला हाथ जोड़कर बोला, "अन्नदाता, मैनसिंह मन्त्री के पास नहीं जाना चाहता। आपकी आज्ञा हो तो वह अकेले आपको रानी से मिलाना चाहता है। मगर अपराध मार्जित हो, मैं आपका साथ नहीं छोड़ूँगा। नेटुआ का यह लौण्डा बड़ा चालाक है। मैं उस पर सारा उत्तरदायित्व नहीं छोड़ सकता।"

इसी समय न जाने कहाँ से मैनसिंह आ टपका। नाटक में जिसे अपटीक्षेप प्रवेश कहते हैं, बहुत-कुछ उसी तरह। उसने बघेला की बातें सुन ली थीं। आते ही उसने आँखें तरेरकर बघेला की ओर देखा। बोला कुछ नहीं। मैंने पहली बार

मैनसिंह की बड़ी-बड़ी काली आँखें स्पष्ट देखीं। उनकी शोभा देखने ही योग्य थी। कान तक फैली हुई कोमल-मसृण भ्रू-लताओं के नीचे किंचित् अरुणायित नयन-कोरकों में एक अद्‌भुत लावण्यधारा लहरा रही थी। उसने एक ही साथ बरौनियों की कुटिल अनीकिनी बघेला पर दौड़ा दी। बघेला हतप्रभ हो गया। उसके मुँह से आवाज़ नहीं निकली। वह सचमुच भभरा गया। उस दृष्टि में एक विचित्र तिरस्कार की चोट थी।

बघेला की अवस्था देखकर मुझे दया आ गयी। मैंने प्यार-भरे स्वर में कहा, "मैनसिंह, बघेला पर क्रोध न करो। उसका कुछ विश्वास हो गया है कि विधाता ने मेरी रक्षा का भार उसी को सौंप दिया है। तुम क्या सचमुच जानते हो कि रानी कहाँ हैं ? मुझे ले चलोगे ? बघेला भी चले तो क्या हानि है ?"

मैनसिंह ने गर्दन नीची कर ली। मेरी सब बातें सिर झुकाये स्वीकार कर लीं। बोला कुछ नहीं। गूँगा है क्या ? लेकिन बोल तो रहा था। मैंने फिर दुलार-भरे स्वर में कहा, "देख भाई मैनसिंह, तू मेरा पूर्वजन्म का कोई हितू-मित्र लगता है। तूने मेरी इतनी भलाई की है कि मैं जन्म-जन्मान्तर तक उससे ऋण-मुक्त नहीं हो सकता। सच बता भाई, रानी को तूने कहाँ देखा है ? तूने जो यह लेख मुझे दिया है, उसे पढ़कर मेरा मन कराह उठा है। तू नहीं जानता कि मेरे मन में क्या बीत रही है। रानी के पास मुझे कब ले चलेगा भाई ?"

मैंने दुलरावने स्वर में उसे बार-बार 'भाई' कहा। मैनसिंह मुँह से कुछ बोला नहीं, लेकिन उसके रोम-रोम से कृतार्थता का भाव बरस रहा था। एक बार उसने फिर ग्रीवा उठायी। उसकी आँखों से अश्रुधारा झर रही थी। मैंने प्यार से उसकी पीठ थपथपायी। वह संकोच और साध्वस में गड़-सा गया। बहुत साहस बटोरकर अत्यन्त मृदु भाव से उसने कहा, "अभी चल सकते हैं।"

मुझे और क्या चाहिए था, तुरन्त खड़ा हो गया।

"कहाँ चलना होगा ?"

मैनसिंह ने आधा बोलकर, आधा इंगित से जो कुछ कहा उसका अर्थ यह था कि यहाँ से दस कोस की दूरी पर नाना गोसाईं के मठ में चलना है। मुझे आश्चर्य हुआ। पूछा, "नाना गोसाईं जानते हैं कि रानी उनके मठ में हैं ?"

मैनसिंह ने कुछ इस प्रकार हाथ घुमाया जिसका तात्पर्य था कि उसे कुछ पता नहीं। फिर उसने फिस-फिस करके कहा, "मेरी माँ के साथ हैं।"

मुझे आश्चर्य का एक और धक्का लगा। परन्तु अधिक समय नष्ट करना उचित न समझकर मैं तुरन्त चलने को तैयार हो गया। बघेला भी सज-बजकर अंग-रक्षक के रूप में चलने को तैयार हो गया। एक बार उसकी ओर देखकर मैनसिंह हँस पड़ा। केवल परिहास-सा करता हुआ जनान्तिक में बोला, "गँवार कहीं का, बड़ा वीर बने है !"

बघेला को क्रोध आया। गुर्राकर बोला, "जा, जा, नेटुआ का लौण्डा तलवार लिये फिरे है !"

लेकिन जब अलहना बघेला सज-धजकर निकला तो वह सचमुच अलबेला लगता था। गोंद से उसने मूँछें इस प्रकार सजायी थीं मानो उनसे त्रिशूल का काम लेनेवाला हो। गुलाबी कल्लेदार पगड़ी की आनबान कुछ ऐसी थी कि लगता था, उसने गुलाबी पहाड़ ही ओढ़ लिया है। कसे लँगोट के ऊपर जाँघिया और उसके ऊपर लटकती हुई कोशबद्ध तलवार ऐसी लग रही थी कि जैसे बबूल के पेड़ में विषधर नाग लटक रहा हो। भाला उसका उसके आकार से कम-से-कम ड्योढ़ा था। वह मैनसिंह को दिखा देना चाहता था कि असली राजपूत कैसा होता है।

मगर मैनसिंह भी एक ही था। जब बघेला सज-धजकर अकुतोभय मुद्रा में खड़ा हुआ तो उसने पीछे से चुटकी ली, "लड़ने चले हो कि दुलहिन ले आने? बानक तो ससुराल जाने की है!"

बघेला कटकर रह गया। उत्तर न सूझा। डपटकर बोला, "चुप रह रे नेटुए, महाराज न होते तो ऐसा घूँसा लगाता कि सारी नेटुआगिरी हवा हो जाती। क्यों रे लौण्डे, नहीं जानता जब राजपूत कहीं चलने को हो तो उसे चिढ़ाने का फल बुरा होता है?"

मैनसिंह खिलखिलाकर हँस पड़ा, "जानता हूँ, दुलहिन चपत लगा देती है।"

बघेला अब सचमुच बिगड़ा। झपटकर चाहा कि मैनसिंह को दबोच ले। मगर वह पहले ही सावधान था। सटाक-से निकलकर मेरे सामने आ गया। मैंने बघेले को डाँटते हुए कहा, "तू परिहास भी नहीं समझता?"

बघेला क्रोध पी गया। केवल दाँत पीसकर बोला, "पाजी है!"

हम तीनों पैदल ही चले। बघेला और मैनसिंह में एक झड़प इस बात पर भी हो गयी कि घोड़े पर चला जाये या नहीं। मैनसिंह पैदल के पक्ष में था; बघेला को इसमें दोष-ही-दोष दिखायी देता था। जब मैंने मैनसिंह का समर्थन किया तो बघेला कुछ ऐसा मुरझाया जैसे जुए में घर-द्वार सब हार गया हो। भाग्य को दोष देकर वह मान गया। मैनसिंह ने दुष्टता-भरी मुस्कान से उसे और भी आघात पहुँचाया।

बेचारा बघेला! उसका दावा था कि कभी उसके पूर्वज इस देश के चक्रवर्ती राजा थे। उसका विश्वास है कि वह दिन दूर नहीं जब बघेलों का गौरव-सूर्य फिर उदित होगा। वह अपनी प्रत्येक गति से प्रत्येक व्यक्ति को बता देना चाहता था कि वह सामान्य जनों से विशिष्ट है; पर विधाता सदा उसके प्रतिकूल रहे हैं। उसका बाप कभी पृथ्वीराज की सेना में ऊँचे पद पर था। अलहना को माता के गर्भ में ही छोड़कर उसने वीरगति पायी। माता के मुँह से वह अपने पिता के पराक्रम और वंश के गौरव की कथा सुनकर बड़ा हुआ। पर हर लड़ाई में वीरगति पानेवाला बघेला-कुल दरिद्रता की लड़ाई में न जीत ही सका, न वीरगति ही पा सका। माता ने बड़े कष्ट से उसका पालन किया। उसने ही इसे मेरी सेवा में लगाया। मेरे स्वीकार कर लेने पर वह दर्प के साथ बेटे को उपदेश देती गयी,

"अन्नदाता की सेवा में रत्ती-भर भी चूका तो माँ के दूध को लजायेगा, बघेला-वंश का नाम हँसायेगा।" अलहना माँ के आदेश का पालन करना जानता है। पर कठिनाई यह है कि विधाता इस काम में भी उसके विरुद्ध है। उसे बुद्धि नाम की वस्तु मिली ही नहीं है।

ऊबड़-खाबड़ पहाड़ी मार्ग से दिन-भर चलते रहने के बाद सन्ध्या समय हम लोग नाना गोसाईं के मठ के पास पहुँचे। रास्ते में मैंने दो-एक बार मैनसिंह से बातचीत करने की कोशिश की, मगर वह कतरा गया। सामने ताकने का तो उसे साहस ही नहीं हो रहा था। उसकी अवस्था देखकर मैंने उससे बात करने का प्रयत्न ही छोड़ दिया। वह एक लम्बा व्यवधान देकर कभी आगे, कभी पीछे चला करता। मैं बघेले की अटपटी बातों से ही सन्तोष करने लगा। बघेला अपने वंश-गौरव से बाहर बातचीत नहीं कर सकता था। उसके पिता पृथ्वीराज के चाचा कन्ह कनपट्टीवाले की सेना में बड़े पद पर थे। कन्ह चाचा सदा आँखों पर पट्टी बाँधे रहते थे। उनकी प्रतिज्ञा थी कि यदि उनके सामने कोई मूँछों पर हाथ दे तो उसका सिर उतार लेंगे। एक बार सचमुच ही पृथ्वीराज के शरणागत सात राजकुमारों का इसी अपराध पर मुण्डपात कर चुके थे। पृथ्वीराज के दुःखी होने पर चाचा कन्ह ने आँखों पर पट्टी बाँध ली थी। न आँखें खुली रहेंगी, न किसी को मूँछों पर ताव देते देखेंगे। अलहना के पिता उनके सेवक थे। पट्टी वही खोलते थे। दो अवसरों पर यह पट्टी खुलती थी—लड़ाई के मैदान में या अन्तःपुर में। लड़ाई के मैदान में मारकाट की छूट ही थी और अन्तःपुर में मूँछों का प्रश्न ही नहीं था।

जब अलहना आत्म-श्लाघा के साथ ऐसा कह रहा था तो चुलबुला मैनसिंह दबी हँसी रोक नहीं सका। बेचारा बघेला कहानी के उसी स्थान को सर्वाधिक वीरता-व्यंजक समझ रहा था। अनायास उसका हाथ अपनी त्रिशूलशूलनी मूँछों पर चला गया था। मैनसिंह को हँसते देखकर कुछ अप्रतिभ हो गया, पर भृकुटि-तर्जन से उत्तर देता हुआ ज़रा गर्वीले स्वर में बोला, "चाचा कन्ह केवल पिताजी को मूँछों पर ताव देने का अधिकार देते थे। ये वे मूँछें हैं, जो चाचा कन्ह के सामने भी नहीं झुकीं।" अड़ियल घोड़े के समान रुककर उसने दोनों हाथों से मूँछों को उमेठना शुरू किया। फिर यह सोचकर कि कहीं वह मेरे सामने अशिष्टता तो नहीं कर रहा है, विनीत भाव से बोला, "ढिठाई छिमा हो अन्न-दाता, बघेला-वंश की सम्पत्ति ये मूँछें ही हैं।"

हँसी मुझे भी आ रही थी। लेकिन मैं जानता था कि ऐसे छोटे-छोटे मिथ्या-भिमानों पर प्राण देना राजपूतों ने धर्म मान लिया है। इसकी उपेक्षा करनेवाले अन्नदाता का सिर भी देर तक धड़ पर नहीं रह सकता। मैंने मैनसिंह को डाँटा, "तू बड़ा नटखट है। बघेला-वंश का सम्मान किया जाता है।"

मैनसिंह सहम गया। हाथ जोड़कर उसने अलहना से क्षमा माँगी। अलहना प्रसन्न हुआ। ज़रा उद्धत भाव से बोला, "अभी मूँछें नहीं आयीं न रे! जब मूँछ

होगी तब इसका मोल समझेगा।"

मैनसिंह का मुँह कुछ लाल हो गया। अलहना को वह चिढ़ाता तो था, मगर प्यार भी करता था। उसमें एक विचित्र भोलापन था।

उत्साहित होकर बघेला और भी बकता गया। कैसे कन्ह चाचा ने मुगलों की अपार सेना को अकेले हराया था, कैसे हाथी के कुम्भ को तलवार ही से दो टूक कर दिया था, कैसे रीछ के आक्रमण के समय पंजे से ही उसके जबड़े को मसल डाला था, कैसे पृथ्वीराज को घोड़े समेत उठाकर नाले के उस पार फेंक दिया था, कैसे बरछे से पेड़ छेद डाला था। सर्वत्र अलहना के पिता ने उनकी सहायता की थी। यदि वे साथ न होते तो चाचा क्या कुछ कर पाते! चाचा कन्ह की पट्टी जब युद्ध के समय खुलती थी तो वे एकाएक इस प्रकार झपटते थे जैसे तीतर पर बाज झपटता है। यह अलहना के पिता का ही पराक्रम था कि उनके मनमाफ़िक शस्त्र उस समय मिल जाते थे। चाचा तो बमभोलानाथ थे, पट्टी खुलते ही वे टूट पड़ते थे। यदि उस समय उनके हाथ में कोई शस्त्र न दे दे तो वे शत्रु पर थप्पड़ के बल पर ही टूट पड़ते। मगर थे वे भीम के अवतार! बघेला रह-रहकर मैनसिंह की ओर वक्रदृष्टि से देख लेता था। इस दृष्टि का अर्थ स्पष्ट था—तू क्या जाने, नेटुए का लौण्डा! मैनसिंह विवश था। वह चुप था, पर उसकी आँखों की भाषा भी स्पष्ट थी—गँवार कहीं का!

जब हम लोग मठ के पास पहुँचे तो धरती पर सन्ध्या उतर आयी थी। वनभूमि काली तो पहले से ही थी, अब वह और भी काली हो चली थी। दिन-भर के थके-माँदे मयूर अलस भाव से तरु-शाखाओं की ओर ताक रहे थे। सुवर्ण मृगों का झुण्ड विस्रब्ध भाव से अपने आवासों की ओर लौटने लगा था, चपल काक-सेना भी थकी हुई जान पड़ती थी और सूर्यदेवता का जरठ रथचक्र बहुत धीरे-धीरे पश्चिम समुद्र की ओर लटकता जा रहा था। क्या प्रकाश के साथ स्फूर्ति का कोई सम्बन्ध है? क्यों चराचर प्रकाश के लुप्त होते ही इस प्रकार श्लथ-मन्थर हो जाता है? हम लोग भी थक गये थे। वीर बघेला यह दिखाना चाहता था कि वह थका नहीं है। उसने मूँछों को बार-बार बुरी तरह ऐंठकर ऐसा बना लिया था कि लगता था डंक मारने को उद्यत दो बिच्छू उसके मुँह पर रेंग रहे हैं। थकान के चिह्न उसके चेहरे पर दिखायी देते थे, पर वह उन्हें दूर करने का प्रयत्न कर रहा था। कई बार उसने अपने विशालकाय कुन्त को इस कन्धे से उस कन्धे पर रखा।

थक तो मैं भी गया था। पर मुझे रानी से मिलने की आशा ने बल दिया था। ज्यों-ज्यों नाना गोसाईं का मठ निकट आता गया त्यों-त्यों मेरे पैरों में तेज़ी आती गयी। मुझे बालक मैनसिंह के थकने की अधिक चिन्ता थी। पर वह तो उड़-सा रहा था। सदा आगे बढ़ जाता था—कोई-न-कोई बहाना बनाकर। मुझसे बचा करता था। कैसा संकोची लड़का है! मैं समझता हूँ कि इस यात्रा में वह कुछ ढीठ अवश्य हो गया। जब-जब मैं कहीं बैठा तब-तब वह आकर पैर

दबा गया। वह सदा अलहना से आगे सेवा-कार्य में जुट जाता। मगर भलेमानस ने आँख कभी नहीं मिलायी। इसे क्या कहूँ ? लाज, भय या आदर भाव ? कदाचित् तीनों का यह अपूर्व मिश्रण था। कैसा अल्हड़ है, परन्तु कितना सारवान् ! नाना गोसाईं के मठ तक आते-आते तो उसका उत्साह सौ गुना बढ़ गया। वह फुदकता हुआ चल रहा था।

मैं समझता था हमें मठ के भीतर जाना है। मैं मन-ही-मन नाना गोसाईं से मिलने की योजना भी बना रहा था। परन्तु मठ के पास आकर मैनसिंह ने हाथ जोड़कर कहा, "बस दस पग और रह गया है।" मैंने जब पूछा कि क्या मठ के भीतर नहीं जाना है तो उसने अपराधी की भाँति सिर झुकाकर कहा, "मेरी माताजी के पास चलना है। पास ही रहती हैं।" फिर थोड़ा व्यथित-सा होकर क्षमा-याचना के स्वर में कहा, "ढिठाई छिमा हो, अन्नदाता को बड़ा कष्ट दे रहा हूँ।"

मैंने दुलार से पुचकारा, "क्या कह रहे हो मैनसिंह, तुम्हें अपना परमहितू सखा समझता हूँ। तुम्हारी माताजी के दर्शन से मैं अपने को कृतार्थ समझूँगा। पर यह तो बताओ कि रानी कहाँ हैं ?"

झिझक के साथ मैनसिंह ने कहा, "वहीं महाराज !"

मेरी नसों में बिजली दौड़ गयी। बोला, "देर न करो, जल्दी चलो।"

चारों ओर से ऊँची पहाड़ी से घिरी हुई एक समतल भूमि में मिट्टी के दो-तीन कमरे थे, जो फूस से छाये हुए थे। यही मैनसिंह का घर था। चारों ओर जंगली खदिर का घना बेड़ा था। केवल एक स्थान पर छोटा-सा प्रवेशद्वार था जिसमें बाँस का एक दृढ़ कपाट था। एक व्यक्ति कठिनाई से उससे भीतर जा सकता था। फाटक के दोनों ओर दो भयंकर झबरैले कुत्ते थे। मैनसिंह ने ज्यों ही किवाड़ खोला, वे भीम-निनाद करते हुए उस पर टूट पड़े। मैनसिंह ने जोर से पुकारा, "बाघा, भलुआ, चुप !" दोनों कुत्तों ने आवाज से मालिक को पहचान लिया। उनकी आँखों में तब भी अविश्वास का भाव था, पर वे दुम हिलाने लगे। मैनसिंह ने फिर पुचकारा, "बाघा, भलुआ च् च् च् च् !" दोनों कुत्ते अब आगे के पैर उठाकर मालिक की गर्दन पर चढ़ गये—प्यार पाने की आशा में। मैनसिंह ने कहा, "प्रणाम करो, हमारे महाराज हैं।" कुत्तों ने आगे के पैर फैलाकर धरती पर सिर रखकर मुझे प्रणाम किया। मैनसिंह ने फिर कहा, "महाराज के सेवक अलबेले वीर अल्हना हैं, प्रणाम करो।" कुत्तों ने फिर उसी प्रकार प्रणाम किया; फिर दोनों अतिथियों को सूँघकर दुम हिलाकर भीतर जाने की अनुमति दी।

भीतर प्रवेश करते ही पावन शान्ति का अनुभव हुआ। घर के बाहर सर्वत्र गोबर से लीपकर तन्दूल-चूर्ण की अभिराम मण्डलिकाओं से जगमग कर दिया गया था। आसमान से उदीयमान चन्द्रमा की हलकी आभा रिमझिम-रिमझिम बरसकर शान्त तपोवन को और भी अभिराम बना रही थी। बाहर की ओर एक छोटा-सा घर था, जो प्रायः सब ओर से खुला था। उसमें एक छोटा-सा

मिट्टी का दीया जल रहा था। वातायनों से छन-छनकर अगुरु और चन्दन की सुगन्धि बाहर आ रही थी। सामने की ओर मिट्टी की एक छोटी-सी वेदी थी। वहीं आकर हम खड़े हो गये।

मैनसिंह ने साँय-साँय आवाज़ में कहा, "माँ पूजा पर बैठी हैं। मैं अभी आया।" वातावरण कुछ ऐसा शान्त था कि कुछ बोलने या पूछने का साहस ही नहीं हुआ, मानो अन्तर्यामी देवता ने भीतर से कठोर आदेश दिया—चुप! अलहना चकित भाव से प्रश्न-भरी मुद्रा में खड़ा-का-खड़ा रह गया। उसकी आँखें पूछ रही थीं—'यह क्या नटुआ का घर है?'

मैनसिंह चुपचाप भीतर घुस गया और एक कम्बल लाकर वेदी पर बिछा दिया। मुझसे इंगित से बैठने का अनुरोध करते हुए अपराधी की भाँति कातर भाव में फिसफिसाया, "माँ पूजा कर रही हैं। विराजिए महाराज, अभी आया।" और फिर भीतर घुस गया।

वेदी पर जब मैं बैठ गया तो बघेला की चकित मुद्रा समाप्त हुई। उसे एकाएक कर्त्तव्य-ज्ञान का दौरा आया। सावधानी से अपने विशालकाय कुन्त को धरती पर खड़ा करके उसने नीचे से ऊपर तक देखा, फलक की परीक्षा की, मूठ को सावधानी से परखा और फिर सन्नद्ध भाव से मेरे पीछे आकर खड़ा हो गया। बाघा और भालू उसकी इस वीर-मुद्रा को सन्देह की दृष्टि से देखते रहे, बोले नहीं, पर मृदु गुर्राहट से उसे सावधान कर दिया कि आगे मत बढ़ो। फिर सब जगह शान्ति छा गयी।

मैंने पूजागृह में दृष्टिपात किया। भीतर मैनसिंह की माता निवात-निष्कप दीपशिखा की भाँति बैठी हुई ध्यानमग्न थीं। उन्होंने एक महीन पुराना शुभ्र कौशेय वस्त्र धारण किया था, सामने मिट्टी की वेदी पर उसी प्रकार का शुभ्र कौशेय बिछा हुआ था। एक फूल की थाली में दशमुख आरात्रिक प्रदीप जल रहा था, जिसकी झिलमिलाती ज्योति से, फूलों से सजे हिण्डोले पर राधा-कृष्ण की युगल-मूर्त्ति उद्भासित हो रही थी। मैनसिंह की माता का मुख नहीं दिखायी दे रहा था, पर उनकी पीठ से स्पष्ट था कि वे घुटनों के बल बैठी हैं और मेरुदण्ड कदली-स्तम्भ के समान एकदम ऋजुसमुत्थान में है। हाथ उनके जुड़े हुए थे, दृष्टि मुँदी हुई। बाहर की मूर्ति ने भाव-जगत् में प्रवेश पाया था। वे शान्त-निस्पन्द चन्दन-प्रतिमा की भाँति अचंचल भाव से ध्यानमग्न थीं।

थोड़ी देर में मैनसिंह ताँबे के भृंगार में पानी लेकर आया। उसके एक हाथ में एक थाली थी। उसने अत्यन्त गरिमा के साथ थाली मेरे पैरों के नीचे रखी। सुकुमार कौशल से पदत्राणों को अलग किया और कृतकृत्य-सा होकर पैर धोया। वह भाव-विह्वल था, जैसे उसे जीवन की चरम-चरितार्थता प्राप्त हो गयी हो। पैर धोने में उसने एक घटी का समय लगाया। वह केवल श्रान्ति-प्रक्षालन-मात्र नहीं था, सुधा का प्रलेप भी था; न वह हटना चाहता था, न मैं पैर खींचना चाहता था। सेवा पाने में भी मनुष्य कभी-कभी चरितार्थता अनुभव करता है।

पूजागृह में थोड़ी गतिशीलता दिखायी पड़ी। मैनसिंह की माता ने एक हाथ में आरात्रिक प्रदीप और दूसरे हाथ में घण्टा लेकर बड़ी सुकुमार भंगिमा में आरती की। उन्हें तब भी पता नहीं चला था कि बाहर कोई आया है। मैनसिंह ने जल्दी से हाथ खींच लिया, "माँ की पूजा समाप्ति पर है।" फिर उसने अलहना बघेला की ओर दृष्टि फिरायी। ज़रा व्यंग्यात्मक हँसी के साथ धीरे-से बोला, "आइए वीरवर, आपके भी पैर धो दूँ।" बघेला फिर भभराया। आँख तरेरकर बोला, "चुप!" लेकिन मैनसिंह ने विना कुछ पूछे उसके पैर धो ही दिये। बघेला अजीब उलझन में था। वह न बोल सका, न हिल सका, न नाहीं कर सका। मैनसिंह ने बड़े आदर के साथ, बड़ी नम्रता के साथ उसके पैर धोये। थोड़ा दबा भी दिया।

इसी समय युगल-मूर्त्ति के चरणों में आरात्रिक प्रदीप रखकर मैनसिंह की माता ने गद्गद भाव में स्तोत्र-पाठ किया। कितना शुद्ध उच्चारण था, कितना मधुर कण्ठ! स्वर नाभि के नीचे से निकल रहा था जहाँ निस्पन्द परावाक् का अचल-प्रतिष्ठ आसन है। एक ही श्लोक उन्होंने कई बार पढ़ा। वह स्तोत्र नहीं था, दीन-पिपासित भक्त आत्मा की आन्तरिक पुकार थी :

अजातपक्षा इव मातरं खगाः स्तन्यं यथा वत्सतराः क्षुधार्ताः।
प्रियं प्रियेव व्युषितं विषण्णा मनोऽरविन्दाक्ष दिदृक्षते त्वाम्!

भाव विह्वलता की मूर्त्ति-सी बनी हुई वे उठीं। उनमें एक अपूर्व मादकता थी। आहा! साक्षात् भक्ति का ही रूप देख रहा हूँ, विग्रहवती भगवदनुकम्पा का ही दर्शन कर रहा हूँ, भगवान् की अनुग्रहेच्छा ही रूप धारण करके उपस्थित है! मैनसिंह धन्य है जो ऐसी महीयसी माता का स्नेह पाता है। किंचित् आगे बढ़कर मैनसिंह ने चरण-स्पर्श किये। माता ने जैसे पहचाना ही नहीं। वे तब भी भाव-लोक में विचरण कर रही थीं।

मैनसिंह ने धीरे-से कहा, "माँ, महाराज, पधारे हैं।" माता जैसे नींद से अचकचाकर उठ पड़ीं। बोलीं, "कहाँ हैं?" मैनसिंह ने इंगित से दिखा दिया और भाग गया। मैंने आगे बढ़कर चरण छू लिये। वे ऐसी डरीं जैसे साँप पर पैर पड़ गया हो—"क्या कर रहे हो महाराज, मुझे अपराधिनी बना रहे हो?" उन्होंने झुककर प्रणाम किया। मैंने बदले में फिर धरती पर सिर रखकर प्रणाम किया। वे लज्जित-सी होकर बोलीं, "बैठो महाराज, कुछ प्रसाद ग्रहण करो।"

मैंने स्वीकृति दी तो वे प्रसाद लाने चली गयीं।

इस बार अलहना ने मेरी ओर प्रश्न-भरी मुद्रा में देखा। मैंने घर में चारों ओर दृष्टि दौड़ायी। अलहना का प्रश्न मेरी आँखों में समा गया—'यह क्या नेटुए का घर है?'

14

मैं चकित और स्तब्ध भाव से उस विचित्र शोभानिकेतन को देख रहा था। मैंनसिंह की माताजी भीतर प्रसाद का आयोजन कर रही थीं। मैंने एक बार फिर से उस वन्य-आवास को ध्यान से देखा। चारों ओर घना अन्धकार था और उसके भीतर शान्ति घनीभूत होकर सिमट गयी थी। मुझे सब-कुछ रहस्यमय लगने लगा। मैंनसिंह का इस समय वहाँ न होना भी मुझे रहस्यमय जान पड़ा। आजीवन सन्देह पर ही लालित राजनीति-सेवी चित्त अज्ञात आशंकाओं से सिहर उठा। चारों ओर ठोस सन्नाटा और ततोधिक ठोस अन्धकार मुझे भीतिजनक लगा। इसी समय पूर्व-दिगन्त में चन्द्रमा की उदय-गूढ़ रश्मियों का प्रादुर्भाव देखा। ऐसा जान पड़ा कि मेरे भीतर की पाप-आशंकाओं को समझकर प्राची दिग्वधू ने अपने मुख पर पड़े हुए अलक-जाल को समेट लिया। दूर के आकाश में सीमन्त-रेखा के समान मनोहर रश्मि-मार्ग दिखायी पड़ा, फिर धीरे-धीरे प्राची दिग्वधू का स्मयमान सुन्दर मुख स्पष्ट हुआ। वे मानो कह रही थीं—कुटिलता छोड़ो, जहाँ आ गये हो वहाँ सर्वोत्तम पाने का प्रयास करो। शीघ्र ही लाल-लाल चन्द्रमा का बिम्ब मानो उछलकर क्षितिज के ऊपर आ गया। अन्धकार की शक्ति क्षीण हो गयी।

मैंने किंचित् आश्वस्त होकर अलहना की ओर देखा। वह भी चकित ही था। परन्तु आश्चर्य की बात यह थी कि मेरे मन में जिस दृष्टि ने क्षण-भर के लिए आशंका उत्पन्न कर दी थी, उसी ने सीधे-सीधे अलहना को आश्वस्त और भाव-गद्गद बना दिया था। उसकी डंकमार मूँछें अनायास झुक गयी थीं और भाले पर कसी हुई मुट्ठी अकारण ढीली पड़ गयी थी। ऐसा जान पड़ता था कि वह इसी प्रतीक्षा में था कि मैं उसकी ओर देखूँ और वह कुछ कहे। श्रद्धा के अतिरेक ने उसकी वाणी में चंचलता ला दी थी। धीरे-से गद्गद भाव से बोला, "धर्मावतार, नाटी माता साक्षात् भगवती लगती हैं।"

मैंने पूछा, "नाटी माता कौन ?"

अलहना ने सहजभाव से उत्तर दिया, "नाटी माता ही तो हैं। मैंनसिंह ने मुझे अपनी माता का यही नाम बताया था। यहाँ लोग इन्हें नाटी माता ही तो कहते हैं।"

मुझे यह नया मालूम हुआ। मैंनसिंह की माता का नाम 'नाटी माता' है। नाटी माता ! विचित्र नाम है ! यह नाम कैसे पड़ गया ! माताजी नाटी तो नहीं दीखतीं। होगा कोई कारण।

प्रसाद का आयोजन करके नाटी माता मेरे पास आयीं। अब चन्द्रमा क्षितिज से काफी ऊपर आ गया था, उसकी धवल ज्योत्स्ना से समस्त वनभूमि जगमगा उठी थी। नाटी माता को इस बार मैंने स्निग्ध ज्योत्स्ना के आलोक में स्पष्ट देखा।

उनकी अवस्था पचास के आसपास रही होगी, परन्तु मुखमण्डल विकच पुण्डरीक के समान शामक आभा से जगमगा रहा था, कहीं भी कोई शिकन नहीं थी। युवावस्था में वे निस्सन्देह सुन्दरियों की किरीटमणि के समान सम्मान्य रही होंगी। शुभ्र कौशेय वस्त्र से आच्छादित होने पर भी उनके शरीर की आभा झलक रही थी, मानो जल-चादर के भीतर से दीपशिखा जगमगा रही हो, मानो शरत्कालीन निरम्बु मेघ के आवरण के अन्तराल से चन्द्रमा की स्निग्ध मनोरम छटा छिटक रही हो, जैसे कनकसूत्र के जाल से चन्द्रमल्लिका की आभा बिखर रही हो। उनका सारा शरीर छन्दों से बना जान पड़ता था। मानो अनुप्रासों से कसकर, संगीत से ढालकर, यमकों से सँवारकर, उपमानों से निखारकर, तालों से बाँधकर, यतियों से शासित कर इस मनोरम आकर्षक शरीर को स्वयं छन्दोदेवता ने बनाया हो। उनके प्रत्येक पदविक्षेप में ताल चरण चूमते थे, प्रत्येक पादोत्थान में चारियाँ निछावर जाती थीं—जितना ही गठित उतना ही संयत। इस प्रौढ़ वयस में भी उनका मुखमण्डल उत्फुल्ल दीख रहा था। वे आयीं और अत्यन्त विनयपूर्वक हाथ जोड़कर मुझसे प्रसाद ग्रहण करने के लिए भीतर चलने का अनुरोध किया। उनके शब्द नाप-तोलकर स्पष्ट उच्चरित हुए थे। प्रत्येक स्वर, प्रत्येक व्यंजन उचित मात्रा में, उचित स्वराघात के साथ ऐसा सधा हुआ निकल रहा था कि मैं अवाक् भाव से केवल सुनता जा रहा था। क्या शिक्षा ने ही रूप धारण किया है, वाग्देवी ने ही प्रत्यक्ष विग्रह धारण किया है, व्याकरण-विद्या ही अवतरित हुई है ?

नाटी माता के अनुरोध पर मैं भीतर गया। अलहना ने इंगित से पूछा कि उसे क्या करना चाहिए ? मैंने उसे वहीं रुकने का आदेश दिया। भीतर आकर मैं यथानिर्देश काठ के एक छोटे-से पीढ़े पर बैठ गया। पीढ़ा बहुत मूल्यवान रहा होगा, क्योंकि उसमें चन्दन की सुगन्धि थी और बहुत मनोरम मण्डनिकाओं से उसे अलंकृत किया गया था। चाँदी की झारी में पानी रखा हुआ था और उसके पास ही चाँदी का एक सुन्दर-सा कच्चोलक था। नाटी माता ने मुझे बिठाकर अश्रुपूर्ण नयनों से युगल मूर्त्ति की ओर देखा। उस दृष्टि में एक कृतज्ञता का भाव था। उन्होंने मुँह से कुछ नहीं कहा, परन्तु उनका रोम-रोम कृतज्ञता की भाषा बोल रहा था। उन्होंने बड़े गौरव के साथ कुछ फल-मूल का प्रसाद मेरे सामने रखा। एक दूसरी थाली में भी फल-मूल का प्रसाद सजाकर वे अलहना को देने के लिए बाहर गयीं। जाते-जाते कहती गयीं, "दरिद्र के गृह में राज-राजेश्वर का आगमन हुआ है प्रभो, तुम्हारे प्रसाद के सिवा और यहाँ रखा ही क्या है ?"

मैं चुपचाप तब तक बैठा रहा जब तक वे फिर लौटकर नहीं आयीं। अलहना के लिए व्यवस्था करने में उन्हें थोड़ा विलम्ब हुआ। मैंने इस अवसर का लाभ उठाकर जी भरकर युगल-मूर्त्ति को देखा। दूर से जैसा समझा था, वैसी मूर्त्ति यह नहीं थी। मैंने त्रिभंगी मूर्त्ति का अनुमान किया था, पर यह मूर्त्ति किसी भी साम्प्रदायिक परिपाटी पर बनी हुई नहीं जान पड़ती थी। वस्तुतः इसे मूर्त्ति कहा ही नहीं जा सकता था। किसी अत्यन्त मुलायम शिलाखण्ड पर बड़े ही सावधान हाथों

ने इसे उत्कीर्ण किया था। मेघ-मेदुर श्रीकृष्ण की गोदी में विद्युद्गौरी किशोरी राधा अस्त-व्यस्त भाव से पड़ी हुई थीं और उसकी पृष्ठभूमि में आसमान भी उसी प्रकार मसृण पहलदार मेघों और विद्युत्शिखा से वलयित उत्कीर्ण था। नीचे की ओर यमुना की कल्लोलवती धारा और उसके तट पर लुढ़का हुआ एक घड़ा अंकित था। मैंने ध्यान से उत्कीर्ण मूर्त्ति को देखा और समझने का प्रयत्न किया। मूर्त्ति के तलदेश में उभरे हुए अक्षरों में एक श्लोक भी उत्कीर्ण था। उस श्लोक ने मूर्त्ति का अर्थ और उद्देश्य स्पष्ट कर दिया। लिखा था :

गताहं कालिन्दीं गृहसलिलमानेतुमनसा
घनोद्घूर्णैर्मेघैर्गगनमभितो मेदुरमभूत।
भभृशं धारासारैरपतमसहाया क्षितितले
जयत्वङ्के गृह्णन् पटुनटकलः कोपि चपलः॥[18]

अब सारा भाव स्पष्ट हो गया। असहाय भाव से गिरती हुई मुग्धा किशोरी की आँखें ऐसा बहुत-कुछ कह रही थीं जो श्लोक में नहीं अँट सका। उसमें कातर कृतार्थता का भाव था। श्लोक में जो 'पटु नट-कल' शब्द है वह चित्र के श्रीकृष्ण की मूर्त्ति में थोड़ी-सी रेखाओं की वक्रता से खिल उठा था। ऐसा जान पड़ता था जैसे अभी-अभी वे कहीं से कूदकर आ गये हैं। उत्तरीय का छोर जो हवा में ऊपर उठ चुका था, नीचे की ओर झुकता हुआ अंकित था और मयूरपिच्छ के मुकुट में भी कुछ उसी फुरती की वक्रता थी। नटनागर श्रीकृष्ण की आँखों में उत्सुकता थी। किशोरी की झुकी आँखों में घुसकर वे पूछ रही थीं—चोट तो नहीं लगी है ? परन्तु सबसे अद्भुत भाव 'चपलः' पद का था। किशोरी ने केवल चतुर कलाबाज श्रीकृष्ण की फुरती ही नहीं देखी, कोई चपल भाव भी देखा था। श्लोक केवल इंगित करके रह गया था। केवल 'जयतु' पद घोषित कर रहा था कि मुग्धा किशोरी इस चपलता से कृतकृत्य हो गयी थी। उत्कीर्ण मूर्त्ति में श्रीकृष्ण के अधरों पर एक चंचल स्मिति-रेखा के द्वारा सारे चपल भाव को मूर्त्तिमान कर दिया था। कवि ने शिल्पी को और शिल्पी ने कवि को निखार दिया था। कैसी अपूर्व कला थी !

मैं मुग्ध भाव से इस मनोहर शिल्प-कौशल को देख रहा था। ऐसे आराध्य की आराधिका 'नाटी माता' किस भाव से भजन करती हैं ? मुझे कोई सन्देह नहीं रहा कि जल ले आना सांसारिक कार्यों का उपलक्षण-मात्र है। भगवान् के प्रति वे प्रीति-स्निग्ध भाव से आकृष्ट हैं। यहाँ सहायता करनेवाला सहायता करके अपने को कृतकृत्य अनुभव कर रहा है और सहायता पानेवाली सहायता पाकर अपने को कृतार्थ अनुभव कर रही है। भगवान् का यह मधुर रूप कितना महनीय है ! इसमें एकान्त दैन्य भाव भी नहीं है और बिलकुल उसका अभाव भी नहीं है। मैं गद्गद भाव से देखता रहा—मुग्ध, चकित, अवाक्। अचानक मेरी दृष्टि कोने में छोटे-छोटे अक्षरों में उभरे नाम की ओर गयी। नाम था—'नागर नटी'। यह क्या रूप का नाम है, या रूपकार का ? मैं एक बार शिल्प की चारुता भूलकर शिल्पकार की चारुता में उलझ गया। नागर नटी ! क्या तात्पर्य हो सकता है भला !

इसी समय नाटी माता पधारीं। मुझे मूर्त्ति में उलझा देखकर वे एक क्षण के लिए ठिठक गयीं। फिर स्फुट मधुर वाणी में बोलीं, "प्रसाद ग्रहण कर लो महाराज !"

ऐसा जान पड़ा किसी ने रेशम की कोमल, किन्तु सारवती रश्मियों से बाँधकर मेरी दृष्टि को एकाएक खींच लिया है। कुछ झेंपते हुए बोला, "अपराध क्षमा हो माता, बड़ी मनोहर मूर्त्ति है। मैं इसके बारे में कुछ अधिक जानने का प्रसाद पाना चाहता हूँ।"

नाटी माता ने दुलार के साथ कहा, "सब जान लेना। किन्तु आराध्य का प्रसाद पहले ग्रहण करो, आराधिका का प्रसाद बाद में ग्रहण करने की अभिलाषा करो।" ऐसा कहकर वे हँस पड़ीं।

अधिक देर करना उचित नहीं था। मैंने शान्त भाव से प्रसाद ग्रहण किया। अत्यन्त साधारण-से पदार्थों में पवित्रता और गरिमा का अपूर्व और असाधारण रस भरा था। नाटी माता हाथ में ताल-व्यजन लेकर धीरे-धीरे झल रही थीं और निपुण भाव से देख रही थीं कि मैं कितनी तृप्ति से प्रसाद पा रहा हूँ। उनकी दृष्टि तृप्त-परितुष्ट लग रही थी।

कुछ देर तक मौन रहकर वे स्वयं बोलीं, "मूर्त्ति के बारे में जानना चाहते हो महाराज ?"

मैंने मौन स्वीकृति दी। उन्होंने बिना भूमिका के उत्तर दिया, "मूर्त्ति की कहानी तो मेरी ही कहानी हो जायेगी और वह लम्बी होगी। तुम रानी के बारे में इस समय उत्सुक हो। उनसे तुम्हें मिलाना है, इसलिए फिर कभी सुचित्त भाव से इस चर्चा को उठाऊँगी। संक्षेप में महाराज, इतना समझ लो कि बहुत भटकने के बाद मुझे इनका सन्धान मिला है। मेरे भावों ने ही इस विभाव-पुरुष की कल्पना की है। भाव यदि सत्य हों तो अभाव स्पष्ट हो जाते हैं और सारे अभावों को भरकर यह विभाव-पुरुष अपना रूप परिग्रह करते हैं। ऐसा लगता है कि बहुत भटकने के बाद मेरे मन में इन विभाव-पुरुष ने जैसा रूप परिग्रह किया है वही मेरी चरितार्थता है।"

मैंने बीच में ही टोककर पूछा, "मूर्त्ति क्या आपने ही बनायी है माताजी ?"

माताजी ने शान्त भाव से कहा, "जो चाहते हैं करा लेते हैं। इनका मन रखना बड़ा कठिन है—जिसके लिए मचल गये वह वस्तु मिल ही जानी चाहिए, तत्काल ! अपना मन रखाते हैं, दूसरे के पूरे मन पर अधिकार करके। ज़रा भी मन इधर-उधर गया कि पारा चढ़ा। मान तो ऐसा कि नाक का फोड़ा।"

माताजी कुछ भाव-गदगद अवस्था में पहुँच गयी थीं। मैंने बीच ही में टोक दिया। पूछा, "यह श्लोक, माताजी ?"

उन्हें झटका लगा, बोलीं, "कह तो दिया बेटा, जो चाहते हैं करा लेते हैं। रानी को इन्होंने ही यहाँ बुला लिया, नहीं तो इस निर्धन कुटिया की क्या हिम्मत कि राजराजेश्वरी को आश्रय देने की स्पर्द्धा करे। रानी भी बहुत भटक गयी थीं,

महाराज ! इन्होंने चरणों में आश्रय दे दिया है। तुम भी यदि रानी को पाना चाहते हो तो इनके प्रसाद के रूप में ही ग्रहण करो। एक बार यदि तुम इन्हें प्रसाद के रूप में स्वीकार कर सको तो कोई चिन्ता नहीं रहेगी। हाँ बेटा, ये ही सब-कुछ देते हैं, जिसे हम भला समझते हैं उसे भी और जिसे बुरा समझते हैं उसे भी। भला-बुरा, दुःख-सुख तो भटके हुए चित्त का विकल्पमात्र है।"

थोड़ा रुककर बोलीं, "बहुत बड़े काम का संकल्प तुमने किया है बेटा, उसके लिए आवश्यक है कि उस महान् संकल्प का आश्रयीभूत चित्त इनके चरणों में चढ़ा दो। गलत न समझना। अनुकरण करने को नहीं कह रही हूँ। भाव तुम्हारा अपना होगा, विभाव-पुरुष भी तदनुसार नया रूप परिग्रह करेगा। ये तो भाव के भूखे हैं—सच्चे भाव के। मामूली फल-मूल भी यदि थोड़ा भी अपवित्र, गन्दा या कुत्सित हो, तो रूठ जाते हैं, चित्त तो बहुत बड़ी वस्तु है। सच्चाई और ईमानदारी से धोकर, शील और मैत्री से सुवासित करके दो तो लेंगे। लेते हैं तो कसके लेते हैं, नहीं लेते तो ताकते तक नहीं।"

मैं माताजी की बात समझने का प्रयत्न कर रहा था, समझ नहीं पा रहा था; पर ऐसा लग रहा था कि अन्तस्तल के अतल गाम्भीर्य से कोई कह रहा है कि यही सत्य है, यही काम्य है, यही सब-कुछ है। उन वाक्यों का प्रभाव पवित्र मन्त्र के समान अन्तरतर के सुकुमार तन्तुओं को आन्दोलित कर रहा था।

कुछ देर मौन रहने के बाद मैंने पूछा, "यह 'नागर नटी' क्या है माता ?"

वे हँसीं, बोलीं, "मैं ही तो हूँ। इस नागर नट की नटी हूँ बेटा ! लोग पूछते हैं कि तुम्हारा नाम क्या है ? क्या कहूँ ? लोक में नाम तो था किन्तु कहने में लज्जा मालूम होती है। भ्रान्त कार्य-परम्परा का स्मारक ही तो है वह नाम। मैंने गुरु की आज्ञा से यही नाम ले लिया है। 'नागर नटी'—संक्षेप में 'नाटी'; आदि उनका, अन्त मेरा ! इस नाम से जीवन कृतार्थ हो गया जान पड़ता है।"

अब नाम का रहस्य समझ में आया। आदि उनका, अन्त मेरा ! समर्पण का क्रम नाम से ही शुरू हुआ है।

थोड़ी देर मौन रहने के बाद माताजी ने कहा, "चलो, रानी से मिला दूँ। अभी पूर्ण स्वस्थ नहीं हैं, अवसर की प्रतीक्षा करनी होगी। चलो, पास ही के घर में हैं। भूलना मत बेटा, भगवान् के प्रसाद के रूप में ही उन्हें ग्रहण करना। मैं उन्हें यही सिखा रही हूँ और तुम्हें भी सिखा रही हूँ।"

माताजी उठीं और उनके साथ एक पूरा अनुभाव-मण्डल उठ पड़ा। मेरी चकित आँखों ने आराध्य की ओर देखकर प्रश्न किया—अर्थात् ?

नाटी माता के पीछे-पीछे मैं इस प्रकार खिंचता चला गया जैसे श्रद्धा के पीछे-पीछे अनायास विश्वास खिंचता है। एक छोटे-से कमरे के सामने वे खड़ी हो गयीं और इंगित से मुझे चुपचाप स्थिर रहने को कहकर बहुत सावधानी से कपाट खोला। कपाट वह नाममात्र का ही था। वस्तुतः बाँस के फट्टों में सरकण्डों को कसकर एक साधारण-सा किवाड़ बनाया गया था, यद्यपि शालीनता उसमें प्रचुर

मात्रा में थी। सरकण्डे ऐसे सजाये गये थे, जिससे एक लहरदार छन्द अपने-आप खिल उठा था। बहिर्द्वार की देहली पर एक दीया जल रहा था, जिसमें प्रकाश तो साधारण ही था पर सुन्दरता प्रयत्नपूर्वक जोड़ी गयी थी। दरवाज़ा खुलने पर प्राय: सारा घर ही आलोकित हो उठा। भीतर भी वैसा ही एक छोटा-सा दीया जल रहा था। एक तृणास्तरण पर शुभ्र चादर बिछी थी। उस पर रानी अर्द्ध-शायित अवस्था में दिखायी पड़ीं। पास ही एक और किशोरी बैठी हुई उनके लटियाये केशों का सहला रही थी।

रानी उस समय तन्द्रा-जड़िम भाव में थीं। नाटी माता को उन्होंने नहीं देखा। नाटी माता ने चटपट कपाट बन्द कर दिया। मैं बाहर चुपचाप खड़ा रह गया। शीघ्र ही वे फिर बाहर आयीं। मुझे इंगित से कहा, "अभी थोड़ा रुकना पड़ेगा।" फिर एक काष्ठासन पर बैठने का आदेश देकर उन्होंने बहुत ही धीरे-से मेरे कान में कहा, "ज़रा बैठो। मैं अभी आयी।"

माताजी के चले जाने पर मैं उदास भाव से काष्ठासन पर बैठ गया। रानी को देखा है, पर मिल नहीं पा रहा हूँ। क्या हो गया है इन्हें ? मैं चिन्तित हो उठा। इसी समय एक हल्का-सा झोंका आया और बाहर का दीया फक्-से बुझ गया। मैं अन्धकार में द्वार पर साँस रोककर बैठा रहा। दो पग आगे रानी हैं और मिलना नहीं हो रहा है। कैसी विडम्बना है ! नाटी माता का आदेश हम दोनों के बीच दुर्लंघ्य पर्वत बना खड़ा है। हाय रानी, तुम्हें क्या पता है कि तुम्हारा सातवाहन बिल्कुल दो पग की दूरी पर खड़ा है ! रानी नहीं जानतीं। रानी की सेवा में उलझी हुई उनकी सहेली भी नहीं जानती। मैंने सब ओर से अपने-आपको इस प्रकार संयत कर लिया कि उन्हें सन्देह ही न हो कि कोई और भी यहाँ आया हुआ है। थोड़ी देर तक निस्तब्धता रही। फिर भीतर कुछ सगबगाहट हुई। मैंने सरकण्डों के लम्बे पतले छिद्र से भीतर देखने का प्रयत्न किया। उत्कण्ठा-व्याकुल चित्त अनौचित्य का हिसाब नहीं करता। मैं चोर की भाँति देखने लगा कि मेरी हृदयेश्वरी की तन्द्रा भंग हुई या नहीं। तन्द्रा भंग हो चुकी थी। रानी ने आँखें खोलीं। किशोरी का मुख स्पष्ट नहीं दिखायी दे रहा था। उसके मुलायम उभरे हुए कपोलों को दरेरा देकर प्रदीप रश्मियाँ बाहर निकलने का प्रयास कर रही थीं। कपोल-देश की इस मनोहर कान्ति ने मेरी कल्पना को उकसाया। मैंने इस किशोरी की पूर्ण मूर्त्ति की कल्पना कर ली। निस्सन्देह शोभा वहाँ दासी होकर रह रही होगी।

रानी इस प्रकार बैठी थीं जैसे नींद से उठी हों। उनका असंयत मुखमण्डल, अनुपस्कृत केशराजि, अलस भ्रू-लताएँ, म्लान अधर-पल्लव मेरे चित्त में विचारों का झंझा उत्पन्न कर रहे थे। मैं कई बार व्याकुल भाव से भीतर धँस पड़ने को उतावला हो उठा, पर अपने को हर बार सँभालने में भी समर्थ हो गया। नाटी माता का आदेश सचमुच दुर्भेद्य पर्वत—जड़ शिलासमुच्चय-सा प्रतीत हुआ। रानी की आँखें पूरी खुली नहीं थीं, शायद दीर्घकाल से अधमुँदी चली आ रही थीं।

उनके नीचे एक काली धारा स्पष्ट दिखायी दे रही थी, जैसे चपल खंजन-शावकों को बाँधने के लिए किसी ने काली लौह-शलाका बिछा दी हो। वे अधमुँदी आँखों से अपनी सहेली को देख रही थीं। निश्चय ही उस बेचारी का मुख उन आँखों का विषय नहीं था। वे इस प्रकार ताक रही थीं जैसे कुछ दीख ही न रहा हो। मेरा हृदय शतखण्ड हो रहा था। हाय रे दुर्भाग्य !

रानी के मुख से इस बार शब्द निकले, चिर-परिचित मीठे बोल ! मिठास ज्यों-की-त्यों थी पर सरसता नहीं थी, जैसे सुखाये हुए द्राक्षाफल हों। बोलीं, "क्यों री मैना, महाराज चन्द्रलेखा को स्मरण भी नहीं करते ?"

उत्तर मिला, "एक बार भी नहीं, दीदी ! केवल रानी-रानी कहते हैं।"

रानी ने जैसे विवश भाव से दीर्घ निःश्वास लेकर कहा, "हूँ ! यही उचित है।"

सहेली ने रानी की लटों की ओर आँख गड़ाये स्निग्ध स्वर में पूछा, "आज का नैवेद्य कहाँ है, दीदी ?"

रानी ने आँखें नीची कर लीं। बोलीं, "नहीं हुआ, मैना ! आज ही नहीं, कल भी ऐसा ही लगा कि नैवेद्य में कुछ दोष है। जहाँ पहुँचना चाहिए वहाँ स्वीकृत नहीं हो रहा है।"

"सो क्यों, दीदी ?"

"चन्द्रलेखा में कुछ मिथ्या धारणा घर कर गयी जान पड़ती है। विष्णुप्रिया माता ने कहा था कि यदि ऐसा जान पड़े तो रुक जाना। एक बार माताजी के साथ वहाँ जाना चाहती हूँ, मैना ! तू भी चलेगी ?"

"माताजी कहें तो चल सकती हूँ। लेकिन विष्णुप्रिया माता ने क्या कहा था, दीदी ?"

"अमोघवज्र के साथ जब मैं उनके यहाँ पहुँची तो वे जप करके कुछ ध्यान कर रही थीं। वहीं तो प्रथम बार नाटी माता के दर्शन हुए। वे वहीं चुपचाप बैठी थीं। मुझे—चन्द्रलेखा को—उन्होंने पहचान लिया।"

"किसे पहचान लिया दीदी—चन्द्रलेखा को या तुम्हें ?"

"मुझे—चन्द्रलेखा को !"

"तुम्हें ?"

"मुझे !"

"फिर क्या हुआ, दीदी ?"

"फिर अमोघवज्र ने कहा, 'भगवति, सिद्धयोगिनी चन्द्रलेखा शरणागता है, इन पर कृपा हो।'

"भगवती विष्णुप्रिया माता ने मेरी ओर देखा। उनकी दृष्टि ही कुछ विचित्र थी। उस दृष्टि में सुधालेप की स्निग्धता थी। भेदक तो वह नहीं थी। उन्होंने मुझे सिर से पैर तक देखा। देर तक कुछ बोलीं नहीं। थोड़ी देर बाद बोलीं, 'आर्य अमोघ, रानी को यहीं रहने दो, तुम अपने गन्तव्य को जाओ।'

"अमोघवज्र ने त्रिशूल की नोक को भूमि में टिकाकर अभिवादन किया। बोले, 'अनुगृहीत हूँ भगवति, तुम्हारी शरण में इन्हें छोड़कर निश्चिन्त हुआ।' फिर मेरी ओर देखकर बोले, 'देवि कल्याण हो, साक्षात् आह्लादिनी शक्ति की शरण में हो, यहीं तुम्हारी सिद्धि चरितार्थ होगी। निस्संकोच होकर, कुण्ठा और दुविधा छोड़कर, भगवती की आज्ञा का पालन करना। मुझे आज्ञा दो।' और चले गये। मेरी आँखों में आँसू आ गये। सिद्ध पुरुषों में ऐसी ममता कम मिलती है।"

"तुम्हारी आँखों में आँसू आ गये, दीदी ?"

"हाँ मैना !"

"आश्चर्य है !"

"हाँ मैना, उस दिन तक चन्द्रलेखा की आँखों से आँसू सूख गये थे।"

"चन्द्रलेखा की आँखों से ?"

"हाँ रे, मेरी आँखों से !"

"फिर क्या हुआ ?"

"भगवती विष्णुप्रिया माता ने मुझे पास बुलाया। बड़े प्यार से उन्होंने मेरे आँसू पोंछे और मेरी आँखों की परीक्षा करने लगीं। उन्होंने नाटी माता से कहा, 'यह देख नाटी, मनोगमा नाड़ियों की स्थिति साफ समझ में आ रही है। बत्तीस लक्षणों को अभिभूत करके यह चिन्मुखी शिरा सूझ गयी है। पारद और अभ्रक का प्रभाव है। नागनाथ को क्यों नहीं दीखी यह शिरा ? आश्चर्य है ! ज़रा-सी असावधानी से अनर्थ हो गया !' उनकी बात सुदकर नाटी माता भी मेरी आँखों को देखने लगीं, परन्तु ऐसा लगा कि मुझे तो नया मालूम पड़ रहा है और वे समझ नहीं पा रही हैं। फिर भगवती ने मेरी ओर देखकर पूछा कि नागनाथ ने मेरी आँखों की परीक्षा की थी या नहीं। मेरे ना कहने पर वे बोलीं, 'उनमें संकोच आ गया होगा। वे तुम्हारे शरीर का स्पर्श करने में हिचके होंगे। कुण्ठा आयी और वे बेचारे डूबे ! यही हुआ करता है।' नाटी माता ने आश्चर्य के साथ पूछा, 'क्या हुआ करता है, भगवति !'

"भगवती विष्णुप्रिया ने दीर्घ निःश्वास लेकर कहा, 'असीम की खोज में लगा चित्त प्रायः सीमा की उपेक्षा कर जाता है। यह सीमा है कि उसे मौका पाते ही दबोच लेती है। नागनाथ भूल ही गये कि बत्तीस लक्षणों से सम्पन्न सती केवल सीमा का विस्फूर्जित विलास है। उसे वे छू नहीं सकते, देख नहीं सकते। क्या ही अच्छा होता कि वे भेद दृढ़ होने के पूर्व ही चन्द्रलेखा की सहायता पा जाते ! सीमा भेद को बराबर दृढ़ करती है। चन्द्रलेखा की मनोगमा नाड़ियों में कठिन गाँठें पड़ गयी थीं। उन्होंने गुरुरूप में चन्द्रलेखा को वरण करके कुण्ठा को समाप्त करना चाहा पर वरण क्या एकतरफा होता है, नाटी ? चन्द्रलेखा की गाँठें निरन्तर दृढ़-से-दृढ़तर होती गयीं और नागनाथ निस्सहाय-से होकर सिद्धि-सोपान से लुढ़क गये। यह देखना, नाटी !'

"नाटी माता ने ध्यान से देखा। फिर प्रश्न-भरी मुद्रा में भगवती विष्णुप्रिया

की ओर ताकने लगीं ।

"उस समय एक विचित्र अनुभव हुआ । सुनेगी मैना ? आज सुनाने की इच्छा हो रही है । पता नहीं क्यों ?"

इसके बाद रानी अपना अनुभव सुनाने लगीं । अब उनका कण्ठ सरस हो आया । मैं उनकी चिरपरिचित वाणी का आनन्द लेने लगा । रानी ने सहेली को पास खींच लिया और उसके ललाट के उस भाग को दिखाया जो ठीक नाक के ऊपर और दोनों भ्रुवों के बीच में पड़ता था । बोलीं, "भगवती विष्णुप्रिया ने मेरे ललाट के इसी स्थान को बायें हाथ के अँगूठे से दबाया और दाहिने हाथ की हथेली से ग्रीवा की एक नाड़ी को कसके पकड़ा । नाटी माता से बोलीं, 'देख यह कल्पिका नाड़ी सूज गयी है । आँखों में जो लाल डोरे निकल आये हैं वह उसी के विकार से ।' थोड़ी देर तक दबाये रहीं । मुझे नींद-सी आने लगी । फिर मैं स्वप्न देखने लगी । स्वप्न क्या, प्रत्यक्ष देख रही थी । मैं बेहोश नहीं थी । विचित्र दृश्य था । ऐसा जान पड़ा जैसे मेरे जीवन की सारी अनुभूतियाँ तेजी से मेरी आँखों के सामने नाच रही हैं और जैसे मैं स्वयं अपने-आपको अनावृत रूप में देख रही हूँ । नागनाथ की कठोर तपस्या से द्रवीभूत अपने चित्त को मैंने प्रत्यक्ष देखा । वह ढरककर नागनाथ के हृदय में गिर जाना चाहता था । नागनाथ के हृदय के सब द्वार बन्द थे । फिर मैंने उसी द्रवित चित्त को महाराज के हृदय-गह्वर में गिरते देखा । वहाँ सब रास्ते खुले थे । सारा द्रवित चित्त उसमें समाप्त हो जाता तो भी वह अगाध गिरि-गह्वर जैसा हृदय उफनता नहीं, पर मैंने थोड़ा बचा लिया । मुझे आशा थी कि किसी दिन नागनाथ का हृदय-द्वार खुलेगा और उसमें देने लायक मेरे पास कुछ रहना चाहिए । मेरा हृदय पूरा नहीं दिया जा सकता था । राजा से स्वतन्त्र भाव से रहने की माँग इसी अज्ञात आकांक्षा का वाङ्मय रूप था । मैं लज्जा से गड़-सी गयी मैना, मैंने अपना ऐसा घिनौना रूप नहीं समझा था । मैंने चिल्लाकर कहा—त्राहि भगवति, त्राहि !

"भगवती विष्णुप्रिया माता ने अँगूठे का दबाव धीरे-धीरे कम किया । मैं और भी व्याकुल हुई । मुझे ऐसा लगा कि मैंने महाराज को एक ऐसे तूफ़ान से लड़ने को प्रोत्साहित किया जिसका कोई ठोस रूप नहीं था । उन्होंने सहज भाव से मेरी बात मान ली । एकाएक सैकड़ों नरमांस-लोभी भुक्खड़ गिद्धों ने उन पर आक्रमण किया । वे बहादुरी से लड़ते रहे और मैं चुपचाप वहाँ से खिसक गयी । दूर से उनकी आवाज सुनायी पड़ रही थी । वे थके हुए स्वर में कह रहे थे, 'कुछ चिन्ता नहीं देवी, तुम्हारी मनोकामना पूरी होगी । मैं तूफ़ान को रोक दूँगा । घबराना नहीं, तुम्हारा सातवाहन विजयी होकर रहेगा । मैं डरा नहीं हूँ, हारा नहीं हूँ, थका नहीं हूँ ।'

"मैना, चन्द्रलेखा का हृदय अवश्य जड़-पाषाण-पिण्डों से बना होगा । वह उसी समय फट क्यों नहीं गया ? मैंने फिर चिल्लाकर कहा, 'भगवति, त्राहि-त्राहि !' भगवती ने अँगूठा खींच लिया ! मैंने अपने को उस दिन सचमुच

अनावृत नग्न रूप में देखा है, मैना ! मैं सिद्धयोगिनी नहीं, महा अधम नारी हूँ। मैंने हीरा पाया और उसे जलती रेती में फेंक दिया !"

रानी की आँखें भर आयीं। सहेली ने और पास खिसककर उत्सुक नेत्रों को रानी की आँखों में गड़ा दिया, "फिर क्या हुआ दीदी ?"

"फिर ? फिर ? फिर मैं सिद्धयोगिनी दशा में पहुँचने लगी। मुझे ऐसा लगा कि भगवती विष्णुप्रिया कुछ माया जानती हैं, वे सिद्धयोगिनी को आतंकित करना चाहती हैं। मैंने धीरे-धीरे मन को दृढ़ करना शुरू किया। लेकिन नाटी माता ने भगवती के प्रत्येक वाक्य को उचित गौरव देकर सुना। भगवती बोलीं, 'देखो नाटी, स्त्री-शरीर के बत्तीस लक्षण सहनीय हैं। पर उसके चित्त का तेतीसवाँ लक्षण उसको अभिभूत कर देता है। यह तेतीसवाँ लक्षण है पूर्ण शरणागति, अकुण्ठ आत्मनिवेदन, अविचल प्रपत्तिनिष्ठा। स्त्री-शरीर तो महामाया का साक्षात् पार्थिव विग्रह है न ! पूर्ण शरणागति इसीलिए सीधे नहीं हो पाती। महामाया का सीमा-वपु बराबर बाधा देता रहता है। इसीलिए स्त्री को एक माध्यम खोजना पड़ता है। पातिव्रत धर्म और कुछ नहीं है बेटी, केवल पूर्ण शरणागति का दृढ़ सोपान मात्र है। चन्द्रलेखा की मनोगमा नाड़ी में सूजन आ जाने से यह स्खलित हो गयी है। परन्तु महामाया का अनुग्रह विचित्र भाव से प्राप्त होता रहता है। इसे बड़ी सिद्धि मिल चुकी है, केवल यह जान नहीं पायी है। महामाया ने पातिव्रत धर्म के मार्ग की इसकी सबसे बड़ी बाधा को हटा दिया है।'

"चन्द्रलेखा का अहंकार सतेज हो उठा, उसने बलपूर्वक शब्दों को मुखर करते हुए पूछा, 'क्या मतलब भगवति ?' भगवती ने उत्तर नहीं दिया। स्नेह से मेरी पीठ सहलाती हुई बोलीं, 'सबका मतलब जाना नहीं जाता देवि, कुछ अपने-आप समझ में आता है, कुछ समझना पड़ता है।' नाटी माता से उन्होंने कहा, 'नाटी, महाराज सातवाहन इस समय कहाँ हैं ?' नाटी माता ने कहा, 'चम्बल के ऊबड़-खाबड़ तट-प्रदेश में विकट युद्ध हो रहा है। वे उधर ही कहीं होंगे।' भगवती विष्णुप्रिया माता कुछ सोच में पड़ गयीं; बोलीं, 'तब तक नैवेद्य-विरेचन की क्रिया चले तो कैसा हो !' मैं कुछ समझ नहीं सकी। नाटी माता ने समझ लिया। बोलीं, 'जो आज्ञा भगवति !' और फिर प्यार से मेरी ओर देखकर बोलीं, 'देवि, मेरी कुटिया पवित्र कर सको तो दासी कृतकृत्य होगी।'

"मुझे इस प्रेम-भरी वाणी में सार जान पड़ा। भगवती विष्णुप्रिया की स्नेह-मेदुर आँखें मेरी ओर एकटक निहार रही थीं। वे खोयी-खोयी-सी लग रही थीं। अत्यन्त भीगे स्वर में उन्होंने कहा, 'हे भगवान् !' यह हारे हुए की पुकार थी; कम-से-कम चन्द्रलेखा को ऐसा ही लगा। परन्तु नाटी माता ने उसका अर्थ ठीक समझा। बोलीं, 'महाराज का पता लगाने जा रही हूँ, माता ! तब तक करणीय बताने की कृपा हो।'

"भगवती विष्णुप्रिया उसी प्रकार देर तक मेरी ओर ताकती रहीं। फिर स्नेह-रुद्ध कण्ठ को साफ करती हुई बोलीं, 'कुछ अनुचित कह गयी हूँ तो क्षमा करना,

देवि !' और उनकी आँखें झरने लगीं। चन्द्रलेखा सनाका खा गयी। उसका अहं-कार इस आँसू की धारा में बह गया। भगवती के चरणों पर वह लोट गयी, उसे अपना नग्न अनावृत रूप याद आ गया। हाथ जोड़कर बोली, 'दुर्विनीत हो गयी हूँ मातः, क्षमा-प्रार्थना के योग्य भी नहीं रह गयी हूँ। जो आज्ञा हो, प्रस्तुत हूँ।'

"भगवती ने कहा, 'क्या कर रही हो देवि, भगवान् का स्मरण करो। जो मन में आये वह लिखकर भगवत्पादमूल में निश्छल भाव से समर्पित कर दो। यही तुम्हारी साधना की अग्नि-परीक्षा होगी। अहंकार तब होता है देवि, जब मनुष्य अपने को उत्तरदायी मानने लगता है।'

"फिर थोड़ी देर मौन रहकर उन्होंने नाटी माता से कहा, 'महाराज सात-वाहन रानी के बिना तूफ़ान से नहीं जूझ पायेंगे। रानी महाराज के बिना अपने-आपको दलित-द्राक्षा के समान निष्पिष्ट करके परम प्रेयान् को नहीं दे सकेंगी। सती की साधना विकट होती है, नाटी ! तलवार की धार पर दौड़ना पड़ता है। थोड़ी-सी भी अहमिका उसे गिरा देती है।' कुछ मौन रहकर फिर बोलीं, 'देखो नाटी, रानी को अपने-आपको पूर्ण रूप से निवेदन करने का अवसर दो। यही नैवेद्य विरेचन है। जिस दिन इन्हें लगे कि नैवेद्य में कहीं कोई दोष है उस दिन सम्पूर्ण नैवेद्य महाराज के पास पहुँच जाना चाहिए। उस दिन यदि इनकी इच्छा हो तो मेरे पास ले आ सकती हो। चाहो तो महाराज से मिला सकती हो। इनके चित्त में जो अशेष जगत् को दुःख-मुक्त करने की लालसा है, वह महाराज के माध्यम से परमात्मा ही पूरी कर सकते हैं।' मेरी ओर देखकर बोलीं, 'रानी अहं-भाव को छोड़ना पड़ेगा। परम प्रेयान् को अहैतुक आत्मसमर्पण—देवता-तुल्य पति की मध्यस्थता में ! यही मन्त्र है, यही आचार है !'"

एकाएक रानी को झटका लगा, सहेली को पास खींचकर बोलीं, "क्यों री, तू कह रही थी न कि महाराज से मिला करती है, तूने उनकी बहुत सेवा की है। क्या आज भी महाराज से तेरी भेंट हुई थी ?"

"हुई थी दीदी !"

"वे थक गये हैं मैना ?"

"बिल्कुल नहीं दीदी !"

"उन्हें चन्द्रलेखा की आवश्यकता है, मैना ?"

"तुम्हारी आवश्यकता है दीदी ! मैं चन्द्रलेखा को क्या जानूँ !"

"हाँ री, मेरी ही ?"

"सो तो है।"

"महाराज जब लड़ाई पर जाते हैं तो उनको कौन शस्त्र-सज्जित करता है रे ?"

"अलहना बघेला !"

"चन्द्रलेखा यह भी नहीं कर सकी ?"

"तुम करोगी दीदी !"

रानी फिर मौन हो गयीं। कुछ क्षण रुककर बोलीं, "तू क्या करती है मैना? महाराज की सेवा नहीं करती? कुछ करती है, कह रही थी न?"

"कैसे करूँ दीदी?"

"महाराज को मालूम है कि तू मेरी सखी है?"

"उन्हें कैसे मालूम होगा, दीदी?"

"तूने बताया नहीं?"

"मेरे मुँह से तो आवाज़ ही नहीं निकलती दीदी! जब देखती हूँ कि महाराज दिन-भर के थके-माँदे उदास भाव से बिस्तर पर गिर जाते हैं तो छाती फटने लगती है। जी में आता है कि सब लाज-हया छोड़कर उनके चरणों में लिपट जाऊँ और कह दूँ कि तुम्हारी रानी की मैं सहेली हूँ। मुझे सेवा का अवसर दो, पर बड़ी शर्म मालूम होती है दीदी! मैं अलहना से ईर्ष्या करने लगी हूँ।"

"क्या? ईर्ष्या?"

"हाँ दीदी, ईर्ष्या।"

"तो तू चन्द्रलेखा से भी ईर्ष्या करने लगी होगी?"

"कहीं चद्रलेखा मिले तो अच्छा पाठ पढ़ा दूँ।"

"चन्द्रलेखा से तू बराबर मिलती रहती है री!"

"नहीं तो।"

रानी ने असमंजस का भाव दिखाया। फिर गुनगुनाते हुए दो बार 'ईर्ष्या-ईर्ष्या' कहकर चुप हो गयीं। मैना चुप सुनती रही। विवश भाव से रानी ने कहा, "हुँ!"

मैंने अपनी सारी चेतना-शक्ति को कान के पास खींचकर कपाट से लगा दिया। बातचीत कुछ इस प्रकार चल रही थी :

"रानी को याद करते हैं, चन्द्रलेखा को भूल गये?"

"चन्द्रलेखा को मैं क्या जानूँ दीदी?"

"क्यों री, महाराज अस्वस्थ हो गये तो तूने सचमुच पैर दबाये?"

"सचमुच दीदी!"

"और आज तूने उनके पैर धोये हैं?"

"देर तक दीदी!"

रानी ने एक झटके से चिल्लाकर कहा, "मैना, तू चोर है। तू चन्द्रलेखा का धन चुराने गयी थी।"

"बिल्कुल नहीं, मैं तो अपनी दीदी का धन उनके पास ले आयी हूँ।"

"पास ले आयी है?"

"एकदम हाथ में!"

रानी ने व्याकुल भाव से पूछा, "क्या महाराज को यहाँ ले आयी है?"

"एकदम!"

"मैना, तू चोर है!"

"हाँ, दीदी !"

"तू मेरा धन नहीं ले सकती ।"

"थोड़ा भी नहीं ?"

"तू चोर है !"

"ग्रौर तुम दीदी ?"

"चन्द्रलेखा !"

"नहीं, रानी दीदी !"

"रानी ग्रब कहाँ है री ?"

"तुम क्या हो दीदी ? तुम्हीं तो रानी हो।"

"तो महाराज की सेवा करने का साहस तूने कैसे किया ?"

"तुम नहीं करोगी तो कोई करेगा ही।"

रानी एकदम जैसे झटका खाकर भावान्तर में ग्रायीं। सहेली को एकदम खींचकर गले लगा लिया। उनकी ग्राँखों से झर-झर ग्रश्रुधारा झरने लगी। बोलीं, "मैना, तू ग्रच्छी लड़की है। चन्द्रलेखा ने महाराज को केवल धोखा ही दिया है। वह उनके किसी काम नहीं ग्रा सकी। हाय बहन, ग्रब क्या महाराज उसे क्षमा कर सकेंगे ?"

"क्या कहती हो, दीदी ! क्षमा करने की बात कहाँ उठती है ! रात-भर ग्रस्वस्थ रहने के बाद जब उन्हें पता चला कि उनकी रानी पास ही कहीं हैं तो दस कोस पैदल चलने को तैयार हो गये।"

"पैदल ?"

"हाँ दीदी, पैदल !"

"ग्ररे ग्रभागिन, तू नहीं जानती कि मैं उन्हें 'सातवाहन' कहती हूँ। उन्हें पैदल घसीटने का तुझे साहस कैसे हुग्रा ?"

"साहस ! तुम्हारे साथ रहकर साहस ही तो सीखती हूँ। तुम्हें उन्हें छोड़कर तप करने का साहस हो गया ग्रौर मैं तुमसे मिलाने के लिए उन्हें तप कराने का साहस नहीं कर सकती ?"

"मैना, तू चोर है।"

"हूँ, दीदी !"

"ले ग्रा मेरे महाराज को ! तेरे ऊपर ग्रब विश्वास नहीं है।"

"उनके ऊपर है, दीदी ?"

"तू चोर है।"

"हाँ, दीदी !"

"कहाँ हैं महाराज ?"

"बुला लाऊँ, दीदी ?"

रानी फिर रो पड़ीं। भरे हुए स्वर में बोलीं, "क्या मुँह दिखाऊँगी री !"

इस बार सहेली प्यार से रानी के गले लिपट गयी। बोली, "उधर देखो,

दीदी !"

जिधर दिखाया गया उधर मेरी दृष्टि नहीं जा सकी। पर रानी की आँखें उधर बँधी सो बँधी ही रह गयीं। उनके नयनाम्बु कपोल-देश पर तेजी से दौड़ने लगे। वे मूक, निस्तब्ध-निश्चेष्ट ताकती रहीं। क्या देख रही हैं ?

बातचीत का विषय कुछ विचित्र है। यह सहेली कौन है ? मैना ! स्पष्ट ही जिस बालक को अब तक मैनसिंह समझता रहा, वह यही है। आश्चर्य है ! क्या मैनसिंह यहाँ मैना बनकर बैठा है, या मैना मेरे पास मैनसिंह बनकर गयी थी ? आज मैनसिंह का लजीला मुँह, सदा छिपते रहने का स्वभाव, दूर-दूर रहने का प्रयत्न—सब साफ समझ में आ गये। नाटी माता का सुपुत्र मैनसिंह नागरनटी की दुलारी कन्या मैना है। मैना मदनावती ! क्या रहस्य होगा भला ?

इसी समय नाटी माता आयीं। मुझे चुपचाप बैठा देख कुछ क्षमायाचना के स्वर में बोलीं, "ज़रा देर हो गयी बेटा, देखूँ अब रानी की क्या अवस्था है !"

रानी तब भी उसी निश्चल मुद्रा में बैठी थीं। वे निस्तब्ध काष्ठ-प्रतिमा की भाँति उनकी गोद में लुढ़क गयीं। नाटी माता ने दुलार से उनके सारे शरीर पर हाथ फेरा, फिर धीरे-धीरे गुनगुनाकर गाने लगीं :

"गताहं कालिन्दीं गृहसलिलमानेतुमनसा
घनोद्घूर्णैर्मेघैर्गगनमभितो मेदुरमभूत्।
भृशं धारासारैरपतमसहाया क्षितितले
जयत्वङ्के गृह्णान् पटुनटकलःकोऽपि चपलः।।"

धीरे-धीरे रानी और मैना ने भी साथ दिया। कलकण्ठ से निकले हुए श्रद्धा-गद्गद संगीत ने वातावरण को भक्तिविद्ध कर दिया। माताजी का गला भरता आया, भरता आया और अन्त में भाव-गद्गद जड़िमा से अभिभूत हो गया। कुछ देर मौन रहने के बाद उन्होंने मन्दस्मित के साथ कहा, "तेरा नटनागर तो आ गया है री ! बुला दूँ ?"

रानी ने अश्रुपूर्ण नयनों को पूरा खोलकर माताजी की ओर देखा। अश्रुगद्गद कण्ठ से बोलीं, "बुला दो।"

मैना अकचकाकर उठ गयी; जल्दी से बाहर निकली। द्वार पर मुझे देखकर उसकी वैसी ही अवस्था हुई जिसकी कल्पना कभी कालिदास ने की थी—न-ययौ-न-तस्थौ ? मैंने स्थिति सँभालने के लिए हँसकर पूछा, "क्यों रे मैनसिंह, तू चोर है ?"

क्षण-भर के लिए ऐसा जान पड़ा कि उसकी साँस टँग गयी। मैंने हँसकर कहा, "नहीं भाई, तू मेरा परम हितू है। चोर तो मैं हूँ जो छिपकर तुम्हारी बात सुनता रहा।"

दिङ्मूढ़ मैना निश्चेष्ट पत्थर की मूर्त्ति-सी खड़ी-की-खड़ी रह गयी। उसकी आँखें मेरे मुँह की ओर टँगी ही रह गयीं और मुख पर लज्जा की लाल रेखाएँ तो जम-सी गयीं। स्त्री-वेश में वह मुख बड़ा ही कमनीय—मनोहर दिखायी दे रहा

था। कातर अपराध-भाव से तो वह और भी मोहक लग रहा था। मैना की उस कातर, जवदी-सी मुद्रा से मैं शंकित हो उठा। थोड़ा हँसकर आश्वस्त करता हुआ बोला, "हँसी कर रहा था मैना, तू तो मेरे लिए परम हितू मित्र मैनसिंह ही रहेगी न! मैं तेरा ऋण चुका नहीं सकता। मैना, आश्वस्त हो जा। मैं प्रीत हूँ, कृतज्ञ हूँ, कनाउड़ा हूँ।"

मैना की संज्ञा जैसे लौट आयी। कमल-कोरक के समान सुकुमार करतलों को जोड़कर वह मेरे पैरों पर गिर पड़ी। जिस मैना ने बालक-वेश में देर तक मेरे पैर दबाये थे और धोये थे, वही स्त्री-वेश में उन्हें छूने का साहस नहीं कर सकी। पैरों से दूर ही उसने सिर धरती पर रख दिया। आश्चर्य यह कि मैं भी उसकी पीठ थपथपाने का साहस नहीं कर सका। असहाय भाव से ताकता रह गया। ऊपरी आवरण कितना व्यवधान पैदा कर देता है! मैं यह सोचने को बाध्य हो गया कि मानसिक भावों की विविधता के मूल में नाम-रूप का आवरण काम कर रहा है। सारी झिझक, कुण्ठा, बनावट और जड़िमा बाहरी आवरणों से चालित हो रही है। हल्के-से आवरण-ज्ञान ने चित्त के अतल गाम्भीर्य को आन्दोलित कर दिया है। क्या कुछ और ज्ञान होने पर रहा-सहा भेदभाव भी जाता रहेगा?

इसी समय नाटी माता की आवाज सुनायी पड़ी। वे रानी से कह रही थीं, "रानी बिटिया, आश्वस्त हो जा, शान्त भाव से भगवान् का स्मरण कर। तेरा क्या है री? जैसा ये चाहते हैं वैसा कराते हैं। महाराज को बुला रही हूँ। इन्होंने ही तो उन्हें यहाँ तक घसीटा है, बेटा!"

वे उठीं तो मैना को फिर चेतना का दौरा आया। रुँधा कण्ठ, कातर नयन, व्रीडारक्त कपोल, एक साथ अर्द्धस्फुट विजड़ित वाणी में पुकार उठे, "अपराध क्षमा हो महाराज, दासी को सेवा से वंचित न होना पड़े।" और वह जल्दी भाग गयी।

द्वार खुला। माताजी के आदेश से मैं भीतर गया। वे चुपचाप बाहर चली गयीं।

रानी खड़ी होकर प्रतीक्षा कर रही थीं। उन्हें मेरे इतनी जल्दी आ जाने की आशा नहीं थी। मुझे देखकर वे एकाएक घबरायी-सी जान पड़ीं। मैं ठिठक गया। रानी की आँखें मेरे मुँह पर टिक गयीं। हाय, प्रथम दर्शन में जो आँखें मेरे सारे अस्तित्व को झकझोर सकी थीं, वे आज कैसी हो गयी हैं! सफेद शंखवराटिका के समान वे उज्ज्वल होकर भी राग-शून्य थीं, पाण्डुर अपरस्त पुष्प के समान वे बंकिम होकर भी चांचल्यरहित थीं, अनावृत शुक्ति-पटल के समान वे चमकदार होकर भी आभाहीन थीं। केशों में बुरी तरह लटें पड़ गयी थीं। भ्रू-युगल में असंगत वृद्धि हुई थी, ललाट-देश पर वली-रेखाएँ उमड़ आयी थीं, कपोल-प्रान्त पर श्यामल विवर स्पष्ट हो उठे थे, अधरों पर शुष्क आड़ी रेखाएँ निखर आयी थीं, पर चेहरे पर आपात मनोहर पाण्डुर प्रभामण्डल भी आलोकित हो रहा था।

रानी देर तक मेरी ओर अर्थहीन, भावहीन, उद्देश्यहीन दृष्टि से देखती रहीं। वे सिर्फ देखती रहीं, देखती रहीं, देखती रहीं।

मुझसे नहीं रहा गया। मैं अनावश्यक ऊँची आवाज में चिल्ला उठा, "रानी, मेरी प्यारी चन्द्रलेखा !"

रानी की आँखों से अविरल अश्रु धारा झड़ने लगी। उनमें थोड़ा चांचल्य दिखायी दिया। फिर मेरी ओर एकाएक इस प्रकार गिरीं जैसे कोई निराधार मूर्त्ति गिर रही हो। मेरे गले में उनकी दोनों भुजाएँ आकर लिपट गयीं। अश्रु रुद्ध कण्ठ से वे 'महाराज' कहकर लुढ़क पड़ीं। मैंने सावधानी से उन्हें सँभाला और गोद में लेकर बैठ गया। सामने देखा तो नाटी माता के चपल नटवर इसी प्रकार राधिका को गोद में लिये बैठे हैं। आश्चर्य हुआ।

मुझे नाटी माता की चेतावनी याद आयी। रानी को प्रसाद-रूप में ग्रहण करना होगा। जिसे पा रहा हूँ वह जगन्नियन्ता का प्रसाद है— उतना ही पवित्र, उतना ही महनीय, उतना ही काम्य ! प्रसाद अर्थात् परम प्रेयान् का प्रसन्नता-पूर्वक प्रदत्त भोग ! अपना भोग्य अधिकारपूर्वक ग्रहण किया जाता है, भगवान् का प्रसाद कृतज्ञता के साथ, परितोष के साथ, निर्लोभ भाव से। सब तो उन्हीं का है। उन्हीं का त्यक्त, अनुग्रहपूर्वक प्रदत्त, अलुब्ध भाव से ग्रहणीय। उपनिषद् में कहा है, 'तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः, मागृधः कस्य स्विद्धनम्।' उसी का त्याग किया हुआ, भुक्त-प्रतिदत्त प्रसाद ग्रहण करो, लोभ मत करो। किसका क्या पड़ा हुआ है यहाँ ! ठीक है अहैतुक अनुग्रहीता, अकारण प्रीतिनिर्झर, दयानिकेतन, तुम्हारे प्रसाद के रूप में ही रानी को पा सका हूँ। तुम्हारा प्रसाद चरितार्थ हो, तुम्हें इस प्रसाद के माध्यम से पा सकूँ, यही कामना है।

रानी के केशों की लटें बुरी तरह उलझी हुई थीं। मैना की निपुण उँगलियाँ देर तक प्रयत्न करके भी उन्हें सुलझा नहीं पायी थीं। मैंने भी प्रयत्न किया। देर तक वे मेरी गोद में मुँह छिपाये सुबकती रहीं। स्पष्ट जान पड़ता था कि उनका मानसिक सन्तुलन ठीक हो गया है। परन्तु मैं सोच नहीं पा रहा था कि क्या कहूँ कि उनके स्वास्थ्य पर प्रतिकूल प्रभाव न पड़े। बहुत देर तक चुप बैठना भी उचित नहीं जान पड़ता था। मैंने उनका मुँह हल्के हाथों से ऊपर उठाया। बहुत धीरे-से बोला, "देवि, चन्द्रलेखे !"

रानी ने जैसे अविश्वासपूर्वक मेरी ओर देखा। कदाचित् मैना की कही बात उन्हें व्यथित कर रही थी, 'महाराज रानी का नाम लेते हैं, चन्द्रलेखा का कभी नहीं !' मैं ठीक नहीं समझ सका कि उनकी आँखों में कौन-सी जिज्ञासा थी ? वे मुझसे क्या पूछना चाहती थीं ? पर उनकी सारी सत्ता उत्सुक श्रोता की भाँति उन आँखों में सिमटती आ रही थी। उस करुण मुख को आज भी स्मरण करता हूँ तो छाती फटती जान पड़ती है। मैं आँसू नहीं रोक सका। मैंने इतना तो समझ ही लिया था कि रानी अपने को अपने से अलग कर प्रथम पुरुष में देखने की साधना में काफी अग्रसर हो चुकी हैं। इस द्विधा-विभाजित व्यक्तित्व का दबाव ही उनके

सन्तुलन के नष्ट होने का हेतु है। इसलिए और कुछ न कहकर मैंने सम्बोधन के माध्यम से ही विभाजित व्यक्तित्व को जोड़ने का प्रयत्न किया। मैंने स्नेहपूर्ण शब्दों में कहा, "रानी चन्द्रलेखे ! प्रिये !"

रानी अब और फफककर रो पड़ीं। उन्होंने अपनी मृणाल-कोमल भुजाओं से कसकर मेरा गला पकड़ लिया।

15

थोड़ी देर तक रानी उसी प्रकार निश्चेष्ट पड़ी रहीं। ऐसा तो नहीं लगता था कि वे बेहोश हैं, क्योंकि उनके मन के भीतर एक प्रकार का आलोड़न चल रहा था जिसके अनुभाव-चिह्न कपोल, चिबुक, अधरोष्ठ और नयन-कोरकों में स्पन्दित हो रहे थे। वे एक प्रकार के स्वप्नावेश में थीं। बाहर नाटी माता और मैना धीरे-धीरे बात कर रही थीं, जो उस कोठरी में स्पष्ट सुनायी दे रही थी। बातचीत कुछ इस प्रकार चल रही थी। मैना ने कहा, "आज दीदी बहुत रोयी हैं। जब से आयी हैं तब से उनकी आँखों में आँसू नहीं दीखे और अधरों पर हँसी की रेखा नहीं दीखी। आज आँसू तो बहुत गिरे हैं। क्या होगा माँ ?"

नाटी माता ने उत्तर दिया, "शुभ लक्षण हैं मैना ! भगवती ने कहा था कि आँसू न आना अशुभ है, आना कल्याणकारक है।"

"आँसू कल्याणकारक हैं ?"

"हाँ बेटा, इसीलिए वृन्दावन को स्वर्ग से श्रेष्ठ माना जाता है। स्वर्गवासियों की आँखों में आँसू नहीं हैं। जहाँ आँसू की गुरुता नहीं है वहाँ पलक नहीं गिरते। स्वर्ग के देवताओं और देवियों के नयन निर्निमेष हैं। उनके पलक कभी गिरते ही नहीं। वे सुख जानते हैं, आनन्द नहीं।"

"और वृन्दावन ?"

"वृन्दावन में हास भी है और रुदन भी है, मुस्कान भी है और आँसू भी हैं। वृन्दावन इसीलिए आनन्द-निकेतन है। भगवती विष्णुप्रिया ने कहा था कि जिस दिन रानी के नयनों में अश्रु-रेखा दिखायी दे और अधरों पर स्मित-रेखा तरंगित हो, उस दिन समझना कि रानी के अन्तर्जगत् में वृन्दावन अवतरित हो रहा है।"

"विचित्र मत है !"

"तू नहीं समझेगी। यह केवल रानी के लिए सत्य है, सबके लिए नहीं।"

"पहेली है !"

"कुतर्क में मत पड़। बात तेरी समझ में नहीं आयेगी। जिस दिन भगवान् का अनुग्रह होगा उस दिन समझ सकेगी कि सात्त्विक चित्त के एक-एक अश्रु-बिन्दु में आनन्द-सागर हिलोरें लेता रहता है।"

मैना चुप हो गयी। बातचीत भी बन्द हो गयी। मुझे नाटी माता के उत्तर से सन्तोष हो रहा था, किन्तु मैना के प्रश्न वस्तुतः मेरे प्रश्न जान पड़ते थे। अभी तो यही सन्तोष की बात है कि रानी की आँखों में जो अश्रु-रेखा दीखी है वह कल्याणकारक है, उसने मंगल की सूचना दी है।

कुछ और समय यों ही बीता। धीरे-धीरे रानी की चेतना लौटने के चिह्न दिखायी दिये। कुछ क्षणों तक उनके अधरों में कम्पन, भ्रू-लताओं में स्पन्दन और नासाग्र-भाग में संकोच-विस्फार के चिह्न अधिक स्पष्ट होते रहे। फिर उनकी आँखें खुलीं। उनमें एक प्रकार की विवश निश्चेष्टता थी। वे पथरायी आँखों से मेरे मुँह की ओर ताकती रहीं। फिर उनसे एकाएक दरविगलित अश्रुधारा बह चली। मेरा हृदय फटने को आया। मैंने यथाशक्ति मृदु भाव से उनके आँसू पोंछ दिये। उन्हें अच्छा ही लगा होगा, किन्तु विवश कातरता का भाव गया नहीं। आँसू की धारा और तेजी से बहने लगी। मैं ठीक समझ नहीं पाया कि क्या करना उचित होगा। एक बार जी में आया कि उठाकर कसके रानी को गले लगा लूँ, पर एक विचित्र प्रकार का संकोच बाधक बन गया। बहुत देर तक इस प्रकार चलते रहना भी ठीक नहीं जान पड़ा। बिना सोचे-समझे मैंने उनके कपोल-देश पर बहनेवाली अश्रुधारा को पोंछकर उन्हें उठाकर गले लगा लेने का साहस किया। मेरा ऐसा करना कदाचित् अच्छा नहीं हुआ, क्योंकि रानी एक झटके में मुझसे अलग हो गयीं और थोड़ी दूर हटकर सामने बैठ गयीं।

उनके चेहरे से स्पष्ट था कि गलती से उन्होंने अब तक अपना सिर मेरी गोद में रहने दिया था। उन्होंने अपने अंग-प्रत्यंग को इस प्रकार समेटा जैसे कोई स्नान करके पवित्र बना व्यक्ति तेल चुपड़कर स्नान के लिए तैयार होनेवाले अभ्यक्त व्यक्ति से बचता है। फिर कुछ अस्वाभाविक रूप से दृप्त कण्ठ से बोलीं, "नहीं महाराज, चन्द्रलेखा का यह शरीर शिव के पवित्र तेजपारद से सुसंस्कृत है। इसकी बहत्तर हजार नाड़ियों में महादेव का वह भीषण तेज प्रवाहित हो रहा है। इसके स्पर्श से तुम्हारा अमंगल होगा। हाय महाराज, इस पवित्रीकृत शरीर-पिण्ड के भीतर कैसा दुर्बल चित्त क्रीड़ा कर रहा है। चन्द्रलेखा को विजय, शाप और वरदान एक ही साथ प्राप्त हुआ है। उसकी अजर-अमर काया के भीतर दुर्बल प्राण और ततोधिक दुर्बल मन निवास कर रहे हैं। विरत हो जाओ महाराज, तुम्हारी रानी असहाय होकर सिद्धयोगिनी के दुर्भेद्य प्राचीर में कैद है। उसे देखो और उस पर दया करो, किन्तु सिद्धयोगिनी के इस शरीर को स्पर्श करके अमंगल को मत बुलाओ।"

रानी के मुख पर तेज का हल्का-सा प्रभामण्डल दिखायी दे रहा था जो चित्तविकार के धुएँ से रह-रहकर मलिन हो जाता था। उनका मुख्य वक्तव्य मेरे

अमंगल की आशंका ही थी। मेरा मन बुरी तरह व्याकुल हो गया। मैंने विनीत भाव से कहा, "देवि, मुझसे बड़ा प्रमाद हुआ जो मैंने तुम्हें अरक्षित भाव से रस-साधना के कठोर मार्ग पर जाने दिया। मैं तो तुम्हारी ही आज्ञा का पालन कर रहा हूँ। तुमने कहा था, 'राजन्, सारी प्रजा अज्ञान, अभाव और विशृंखलित आत्म-चिन्तन से जर्जर है। वह बार-बार आक्रमणकारियों का शिकार बन रही है। युद्ध के घिनौने कुपरिणाम सबसे अधिक प्रजा को ही भोगने पड़ते हैं। जहाँ लाख-लाख निरीह प्रजा अकारण दुर्दशाग्रस्त हो रही हो वहाँ सबसे बड़ा पुण्य संकल्प उसमें आत्मबल का संचार करना ही है।' तुमने स्वयं इस मन्त्र को जन-जन के निकट प्रचारित किया और अपने इस सेवक को इस कार्य के लिए प्रेरित किया। तुम्हारे इस आदेश का पालन करने में ऐसा उलझा कि मुझे अवकाश ही नहीं मिला कि तुम्हारी ओर कुछ अधिक ध्यान दूँ। रह-रहकर मेरे मन में यह लालसा बलवती हो उठती थी कि तुम आकर देखो कि तुम्हारा सातवाहन मनवचन-कर्म से तुम्हारी इच्छा के अनुसार काम कर रहा है। पर देवि, मैं धोखे में था। मैंनसिंह ने तुम्हारे हस्तलेख मुझे पढ़ने को दिये। इस बीच इतना कुछ हो गया और मैं अनजान रहा, यह परिताप मेरे चित्त को मथे डालता है। देवि, मुझे इतनी दूर ले आकर अब तुम अमंगल का भय दिखा रही हो? तुम्हारे सातवाहन को अमंगल तो अब डरा नहीं सकता। स्मरण करो देवि, जिस दिन तुमसे मेरा प्रथम परिचय हुआ उसी दिन से सबने एक स्वर से कहना शुरू किया था कि मैं जोखिम उठा रहा हूँ। तुमने भी कहा था। पर जन्म-जन्मान्तर की चिरसंगिनी, मन्त्रदात्री रानी चन्द्रलेखा को मैं नहीं छोड़ सकता। उसी दिन चन्द्रलेखा के साथ मैंने अमंगल को भी वरा था। चन्द्रलेखा के साथ रहने पर अमंगल हतप्रभ रहता है, बिछुड़ जाने पर प्रचण्ड हो जाता है। मैंने तो स्वेच्छा से उसे साथ लिया है, देवि!"

रानी के चेहरे पर बेचैनी के लक्षण दीखे। उन्होंने अकारण दायें-बायें दृष्टि फिरायी। उद्वेग का भाव पसीने के रूप में प्रकट हुआ। मैंने बात बदलने के उद्देश्य से फिर कहा, "अगर तुम्हारा मन प्रसन्न हो देवि, तो एक बात पूछने की अनुज्ञा चाहता हूँ।"

रानी ने दीर्घ निःश्वास लिया। कुछ बोलीं नहीं, पर चेष्टाओं से स्पष्ट लगा कि वे प्रश्न सुनना चाहती हैं। अधिक प्रतीक्षा किये बिना मैंने पूछा, "देवि, मैंने तुम्हारे हस्तलेख को पढ़कर एक विचित्र कुतूहल का अनुभव किया है। यदि चित्त प्रसन्न हो तो जानना चाहूँगा कि उसमें कोई रहस्य है या नहीं। मुझे लगा है देवि, कि उसमें कहीं कोई रहस्य है जो अक्षरों के घेरे में नहीं आ सका है।"

रानी के चेहरे पर फिर उद्वेग-चिह्न प्रकट हुए। ऐसा जान पड़ा कि वे मानसिक दृष्टि से भहरा गयीं। उन्होंने जो कुछ कहा, उसमें परस्पर विरोध था।

रानी ने कहा, "सत्य क्या है, क्या नहीं है, कौन बतायेगा महाराज? मैंने जो-कुछ लिखा है उसे मैंने प्रत्यक्ष देखा है। महाभाग धर्मोपवक्ष ने एक दिन मुझसे कहा था, 'देवि, तुम जो प्रत्यक्ष देख रही हो, वह सत्य नहीं भी हो सकता है। जो

कुछ घटता दिखायी देता है वह हर समय सत्य ही नहीं होता।' उस दिन मुझे यह बात पहेली-जैसी लगी। प्रत्यक्ष अगर सत्य नहीं है तो सत्य क्या हो सकता है भला! परन्तु महाभाग अमोघवज्र के व्यक्तित्व में एक ऐसा आकर्षण था कि मैं उनकी बात का प्रतिवाद भी नहीं कर सकी। फिर उन्होंने मुझे एक गुहाद्वार पर पहुँचाया और कहा, 'देवि, इसके भीतर जाकर प्रत्यक्ष देखो।' मैंने अनिच्छापूर्वक उनकी आज्ञा मान ली।

"मैंने गुहा के भीतर प्रवेश किया। वस्तुतः वह पर्वत-पृष्ठ पर बना हुआ कोई पुराना पहाड़ी दुर्ग था, जो अब जंगलों से ढक गया था। पुराने दुर्ग के खण्डहर को कापालिक योगियों ने गुहा के रूप में व्यवहृत किया था। अमोघवज्रपाद ने बताया था—साधारण विश्वास यह है कि यह गुहा भरथरीजी की तपोभूमि थी। अब भी कहा जाता है कि वे आधी रात को यहाँ पधारते हैं। उस समय केवल सिद्ध-साधक ही वहाँ उपस्थित रह सकते हैं; दूसरा कोई वहाँ नहीं रह सकता। यदि हठपूर्वक कोई रह जाये तो उसकी मृत्यु निश्चित है। तुम्हें कोई भय नहीं, क्योंकि तुम सिद्धयोगिनी हो। गुहा के भीतर का दृश्य बड़ा ही विचित्र था। नर-कपालों में मनुष्य की चर्बी के दीये जल रहे थे और मध्य भाग के छोटे-से आँगन में कुछ विकट वेशधारी तापस बैठे थे जो समाधिमग्न-से जान पड़ते थे। बीच में नर-कपाल का ही एक कुण्ड बना हुआ था जो आँगन की कुट्टिम भूमि में मिट्टी से जड़ दिया गया था। इसमें निश्चय ही कुछ हवन किया गया था, जिसकी चिरायँध गन्ध से सारी गुहा बुरी तरह महक उठी थी। महाभाग अमोघवज्रपाद की आज्ञा से मैं एक कोने में चुपचाप खड़ी हो गयी। वे स्वयं मेरे पीछे खड़े हुए।"

इतना कहने के बाद रानी ने एक बार दीर्घ निःश्वास लिया और ध्यान से मेरे मुँह की ओर देखा। कदाचित् वे मेरे मन की थाह ले रही थीं। फिर बोलीं, "कुछ देर यों ही बीता। फिर तापस लोगों में कुछ चांचल्य दिखायी दिया। अब तक किसी ने हम दोनों को नहीं देखा था। फिर एकाएक उनमें से एक उठा और नर-कपाल के प्रदीपों को उकसाया। आँगन में थोड़ा अधिक प्रकाश हुआ। राल, रक्त-चन्दन, तिल और देवदारु काष्ठ के टुकड़ों को चर्बी में मिलाकर हवन किया गया और साधकों ने मिलित कण्ठ से स्तोत्र-पाठ किया :

"ओं घोराद् घोरतरादकालविषमात्कालादतद्भविताद्
दिव्यादिव्यतरात्पुराणविभवाद्विश्वप्रपंचात्मकात्
सर्वस्मात् समुदायमात्रवपुषो भिन्नाय सर्वात्मने
सर्वं संपरिवृत्यवर्द्धितजुषेऽघोराय तुभ्यं नमः।

"आँगन में एक अपूर्व आलोक उतरता दीखा। उसका प्रथम आविर्भाव केवल तेज के रूप में हुआ। फिर उसमें मनुष्याकृति की छाया-सी दिखायी पड़ी और अन्त में वह दिव्य ज्योति महायोगी भर्तृहरि के रूप में प्रकट हुई। सभी साधक चुपचाप स्वागत के लिए खड़े हो गये। भर्तृहरि ने तापसों से कहा, 'सिद्धयोगिनी चन्द्रलेखा और महाभाग अमोघवज्रपाद उपस्थित हैं, उन्हें आसन दो।' अब साधकों

की दृष्टि हम लोगों की ओर फिरी। उन्होंने उसी मण्डल में हमारे लिए भी स्थान कर दिया। वहाँ की गन्ध और भी उत्कट थी। यद्यपि मेरा शरीर पारद की विचित्र शक्ति से जरारोग से मुक्त हो गया था, परन्तु मैंने पहली बार अनुभव किया कि मेरी शिराएँ उतनी बलवती नहीं हैं जितनी मैंने सोच रखी थीं। ऐसा जान पड़ता था कि शिराएँ फटी जा रही हैं। मैंने योगिराज भर्तृहरि की आज्ञा का पालन किया। कुछ क्षण तक वे समाधि की स्थिति में निस्पन्द दीपशिखा की भाँति विराजमान थे। कुछ समय यों ही बीता।

"फिर वे मेरी ओर घूमकर बोले, 'देवि, तुम प्रत्यक्ष का रहस्य जानना चाहती हो ? जो कुछ देख रही हो शुभे, वह वाक्-मात्र है। संसार में जो कुछ दिखायी दे रहा है, वह पदार्थ है, कुछ निश्चित पदों का अर्थ-मात्र है। मनुष्य पदार्थ के जाल में फँसकर वास्तविक सच्चाई को नहीं जान पाता। 'वाक्पदीय' में मैंने वाग्देवी के तीन उपरले रूपों को ही माना था। मैंने कहा था कि वृत्तियाँ तीन ही हैं—पश्यन्ती मध्यमा और वैखरी, क्योंकि पदार्थ-जगत् इन्हीं से बँधा है। 'वाक्पदीय' पद और पदार्थ का परिचय करानेवाला ग्रन्थ है। उसके लिए इतना ही पर्याप्त था। पर सत्य यह है कि वास्तविक सच्चाई परावाक् का विषय है जो स्पन्दहीन है, अचल है, अकम्पित है। देवि, यह जो परिदृश्यमान, अनुभूयमान, उपकल्प्यमान जगत् है यह भाषा का खेल है। गणित में, ज्योतिष में, चिकित्सा में, तर्कशास्त्र में, मन्त्र-शास्त्र में, तन्त्र में जो कुछ दीख रहा है वह माया है। तुम जितना भाषा के द्वारा सोच सकती हो वह सब माया है, इन्द्रजाल है, मृगमरीचिका है। मेरे ऊपर विश्वास करो देवि, तुम जो सिद्धियोगिनी हो, यह केवल भाषा का दाँवपेंच है। सत्य तो इसकी परिधि के बाहर है—सबको छापकर, सबको व्याप्त करके और फिर भी सबसे अलग। जिसे तुम जरा-मृत्यु या रोग समझती हो, अमंगल और अशुभ समझती हो, सब महादेव का घोर रूप है, वह सीमा है। असीम रूप तो अघोर है, घोर से भी परे, अतिघोर से भी परे। तुमने जिस अशुभ व्यापार पर विजय प्राप्त की है वह मिथ्या है, इसलिए तुम्हारी विजय ही मिथ्या है। चाहो देवि, तो इस मिथ्या को प्रत्यक्ष दिखा सकता हूँ।'

"मेरी स्वीकृति की उन्होंने कोई आवश्यकता अनुभव नहीं की। ऐसा जान पड़ा कि कहीं डमरू की गड़गड़ाहट हुई और देखते-देखते मेरी आँखों के सामने भयंकर मारकाट और कोलाहल का दृश्य उपस्थित हो गया। वह बहुत ही भयंकर दृश्य था। उस सारी मारकाट और कोलाहल में मैंने देखा, विद्याधर मन्त्री बुरी तरह उलझे हुए हैं और जनपद के अशिक्षित और निहत्थे ग्रामीण पुरुष जूझ रहे हैं। मेरे देखते-देखते दृश्य बदला और गाँव में रोती हुई निपूती माताएँ, विधवा स्त्रियाँ, अनाथ बच्चे बड़ी ही दयनीय स्थिति में दिखायी दिये। एकाएक विद्याधर मन्त्री फिर दिखायी दिये। वे जनपद के अरक्षित, अनाथ, निरीह प्रजा की रक्षा के लिए ओजभरी वाणी में सैनिकों को उद्बोधित कर रहे थे। सैनिक फिर एक बार सोत्साह लौट पड़े। चम्बल के बीहड़ों में बड़ी ही क्रूरतापूर्ण लड़ाई लड़ी गयी।

तुर्क सैनिक बुरी तरह घेरकर मारे गये। सैकड़ों पानी बिना कातर चीत्कार करते समाप्त हो गये, सैकड़ों भूख की ज्वाला से छटपटाकर मर गये। जो बच गये उन्हें खदेड़-खदेड़कर मारा गया। एकाएक दृश्य परिवर्त्तन हुआ। मैंने अपरिचित तुर्क देश में मरे सैनिकों की विधवाओं को छाती पीट-पीटकर रोते देखा, अनजाने भोले शिशुओं की पथरायी आँखों का भयावना दृश्य देखा। फिर महाराज, मैंने तुम्हें भी देखा—घोड़े पर दौड़ते, हाँफते, श्रमसीकरों से स्नात। तुम्हारा चेहरा उदास था, मन मुरझाया हुआ था, तुम मेरी बात सोच रहे थे। आश्चर्य मत करो महाराज, मैंने अपने-आपको भी देखा। मेरी देह शिथिल-क्लान्त होकर गिर गयी थी, उसमें चेतना का कोई चिह्न नहीं था। उसे कुचलती हुई, रौंदती हुई सातवाहनी सेना निकल गयी। किसी ने आँख उठाकर उस अर्धमृत शवप्राय देह की ओर ताका भी नहीं। तुम सबके पीछे थे—क्लान्त, श्रान्त, कातर। मुझे देखते ही तुम घोड़े से कूद पड़े। तुमने मेरे कुचले हुए मृतप्राय शरीर को उठाया, उसे दुलार से पोंछा-सहलाया और बड़े प्रेम से अपने घोड़े पर बैठाया। अचानक गिद्धों की मांसलुब्धा भीड़ मेरे ऊपर मँडराने लगी। तुमने अपनी तलवार से उन्हें भगाने का प्रयास किया। फिर एकाएक किसी ने चिल्लाकर पीछे से कहा, 'छोड़ दो इसे, फेंक दो इस शव को। यह अमंगल का रूप है!' मैं इस विचित्र दृश्य को देखकर काँप उठी। मैंने कसकर तुम्हें पकड़ना चाहा। हाथ उठे नहीं! मैं चिल्ला पड़ी—'त्राहि!'

"महाभाग अमोघवज्र ने प्यार से कहा, 'कोई भय की बात नहीं है, शुभे! ध्यान से देखो, कहीं कुछ भी नहीं है।' मैं सचमुच ठगी गयी थी। क्या सब माया का प्रसार था? मैंने आश्चर्य के साथ देखा कि गुहा का कहीं नाम-निशान नहीं था। महाभाग अमोघवज्र हँसते हुए पूछ रहे हैं, 'क्या देखा है देवि?' मैंने उन्हें सब सुना दिया। वे हँसने लगे। बोले, 'सब प्रत्यक्ष दृष्ट तथ्य सत्य नहीं होते, शुभे! इसमें केवल एक बात सत्य है जो तुम्हें प्रत्यक्ष नहीं दीखी है। तुम राजा के लिए व्याकुल हो, तुम अपनी सिद्धियों को बहुत सम्मान नहीं दे रही हो और तुम्हारे भीतर श्रद्धा और विश्वास काम कर रहे हैं।' इतना कहने के बाद उन्होंने यह भी बताया कि ये सारी बातें उनकी रची माया थीं। मैं इसे प्रत्यक्ष इसलिए देख सकी कि मेरे मन में महाभाग अमोघवज्र के प्रति श्रद्धा और विश्वास है। प्रत्यक्ष देखा, पर सत्य नहीं था। क्या कहोगे महाराज? परन्तु मैं ही जानती हूँ कि मैंने कितना सत्य देखा है! इधर मेरे मन में शंका के भाव आ गये हैं। अमोघवज्र कहते थे कि मुझमें विश्वास है, पर मैंने देखा है कि मुझमें विश्वास ही नहीं है।

"मैं ठीक कह नहीं सकती कि मैंने जो-कुछ देखा है और जिसे भगवती विष्णुप्रिया की आज्ञा से लेखबद्ध किया है, उसमें कितना रहस्य है, कितना भाषा का खेल है, कितना कल्पित है, कितना तथ्य है। मैं केवल इतना ही कह सकती हूँ कि मैंने वही लिखा है जो मुझे प्रत्यक्ष दीखा है।

"अमोघवज्रपाद की आज्ञा से ही मैं भगवती विष्णुप्रिया के यहाँ गयी थी। मुझे यहाँ उनके सम्पर्क में आने से निस्सन्देह शान्ति मिली है। मेरा मन अब भी

दो नावों पर सवार है। मैंने जो-कुछ प्रत्यक्ष देखा है उसे भूल नहीं पा रही हूँ, किन्तु भगवती विष्णुप्रिया जिधर जाने का आदेश दे रही हैं उस ओर जा भी नहीं पा रही हूँ। महाराज, मेरे चित्त में यह भय बड़ी गहराई में जाके बैठा है कि मेरे सम्पर्क में आने पर तुम्हारा अमंगल होगा। मैं पातिव्रत-धर्म की उपेक्षा से अशुचि हो गयी हूँ, मैं सौभाग्य-वंचिता, असती हूँ। तुम मेरा स्पर्श न करो, महाराज ! मुझे कहीं शान्ति नहीं मिल रही है। नाटी माता की आज्ञा से मैं इस प्रेमपरायण देवता की परिचर्या में लगी हूँ। व्याकुल चित्त को शान्ति देने का यह अद्भुत उपचार है, पर यह भी मेरा अपना नहीं हो पा रहा। सिद्धरस पर मेरा जो विश्वास था वह हिल गया है, पर गया नहीं है; प्रेमरस पाने का जो मेरा प्रयास है वह अधूरा है। वह प्राप्त नहीं हो रहा है। राजन्, तुम्हारी रानी दयनीय है, करुणा की पात्र है, अभाजन को दी जानेवाली समवेदना की अधिकारिणी है।"

इस प्रकार सिद्धयोगिनी के रूप में आरम्भ किया हुआ वक्तव्य परिताप-कातरा, अनुताप-व्याकुला सती की कातर विवशता में पर्यवसित हुआ। रानी की बातों में आपाततः बहुत-से परस्पर-विरोधी तत्त्व थे। वे केवल यही सिद्ध कर रहे थे कि उनमें सहज भाव नहीं आ पाया है। न नागनाथ उनके मन से गये हैं, न अमोघवज्र, न भगवती विष्णुप्रिया। सब बारी-बारी से उनके चित्त में दुविधा, कुण्ठा और जड़िमा का संचार कर रहे हैं। वे मुझसे कुछ छिपा नहीं रही हैं, पर छिप अवश्य रही हैं। उनके अन्तरतर में समस्त चेतन और अवचेतन स्तर को भेद-कर जो अन्तर्यामी देवता विराजमान है, वह रानी के स्वरूप को ठीक-ठीक जानता है। रानी का मेरे ऊपर विश्वास है, मुझे पाने की लालसा है, अपने-आपको निःशेष भाव से न दे सकने का अनुताप है। इस सहज प्रेम में ही उनका चित्त विश्राम पा सकता है। अन्तर्यामी देवता जानते हैं। मैंने मन-ही-मन उन्हें प्रणाम किया।

रानी के उद्वेग-व्याकुल चेहरे में कहीं-न-कहीं आशा की छाया भी अवश्य थी, क्योंकि जब मैंने विनीत भाव से कहा कि 'देवि, अन्तर्यामी देवता को स्मरण करो, वे ही शान्ति देंगे,' तो उनकी आँखों में आँसू आ गये और मेरी ओर से दृष्टि हटाकर उन्होंने भगवान् श्रीकृष्ण की मूर्ति पर गड़ा दी।

रानी की आँखें गीली थीं। मेरी ओर देखे बिना ही बोलीं, "नाटी माता कहती हैं कि तुम्हारे भीतर जो अभाव है वह जब स्पष्ट हो जायेगा तो परमप्रेमवान् उस अभाव के विग्रह में ही तुम्हें अनुगृहीत करेंगे। वह विग्रह इस रस-साधना में विभाव बनेगा। अपनी कल्पना से उन्होंने मेरे विभाव-पुरुष की यह सुन्दर मूर्ति बनायी है। मुझे यह सोचते रहने का आदेश मिला है कि मेरे अन्तरतर का अभाव इस मूर्त्ति में बनाये गये भगवान् के रूप में रूप-परिग्रह करेगा। मैं जब इस मूर्ति पर ध्यान केन्द्रित करने का प्रयत्न करती हूँ तो बार-बार मेरा मन उचट जाता है। यह जो पीतपट देख रहे हो महाराज, वह जाने कैसे तुम्हारे कवच के समान बन जाता है, यह वंशी कोशबद्ध कृपाण का रूप ग्रहण करती है और जाने कितनी बार मुझे ऐसा लगता है कि भगवान् श्रीकृष्ण राधा को तेजी से उठाकर घोड़े की पीठ

पर बैठा लेना चाहते हैं। मैना कह रही है कि वह मेरे विभाव-पुरुष की ठीक कल्पना कर सकती है। वह बड़ी चपला है। उसने मुझे कभी सिद्धयोगिनी नहीं माना। शुरू-शुरू में मुझे उसकी ढिठाई अच्छी नहीं लगती थी, पर उसने मेरा अभिमान तोड़ दिया है। वह प्यार से मेरे गले लिपट जाती है और बार-बार मुझे बोलने को बाध्य करती है। उसने मुझे बताया है कि भगवान् मुझे जिस रूप में प्राप्त हो सकते हैं वह क्या है। अब तो वह इतनी ढीठ हो गयी है कि घण्टों बकबक करके मुझे रुला देती है। वह तुम्हारी सेना में काम करने लगी है, नित्य तुम्हारा ही चरित गाती है। गला पकड़कर कहती है, 'तुम चन्द्रलेखा नहीं हो, तुम मेरी दीदी हो।' देखोगे महाराज, इस लड़की की ढिठाई ? नाटी माता से छिपाकर उसने एक चित्र बनाया है। मुझसे कहती थी कि तुम बेकार चक्कर में पड़ी हो। मैं तुम्हारे परम-प्रेयान् भगवान् का चित्र बना दूँगी और उसने यह चित्र बनाकर इस मूर्त्ति के पीछे छिपा दिया।"

रानी ने चित्र निकालकर दिखाया। यह मेरा ही अश्वारोही रूप का चित्र था। रानी को घोड़े पर मेरे सामने बैठाकर कुछ इस प्रकार अंकित किया गया था जिसमें वे अत्यन्त प्रसन्न मुद्रा में दीख रही थीं। चित्र दिखाकर रानी हँसीं तो धवल ज्योत्स्ना की धारा-सी बह गयी। मेरे मन में खट् से लगा—रानी के अन्तर-जगत् में वृन्दावन अवतरित हुआ है !

रानी ने मन्दस्मित के साथ मैना की और भी प्रशंसा की। बोलीं, "अब मुझे उससे झगड़ने में रस मिलने लगा है, मुझे उससे ईर्ष्या भी होने लगी है। जाने उसे चन्द्रलेखा नाम से क्यों चिढ़ है ! एक विचित्र बात यह हुई है महाराज, कि मैं भी उसे चिढ़ाने में रस लेने लगी हूँ। वह चन्द्रलेखा का नाम नहीं सुनना चाहती, मैं उसे बार-बार सुनाती हूँ।"

कैसा विचित्र है मनुष्य का स्वभाव ! मुझे रानी की ये बातें बहुत ही प्रिय लगीं। लगा, मेरा आना कितना अच्छा हुआ !

इसी समय बाहर कुत्तों के भौंकने की आवाज़ आयी। नाटी माता बाहर निकल आयीं। पूछा, "कौन है ?"

"मैं बोधा हूँ, माताजी !"

"बोधा ? इतनी रात को ?"

"हाँ माताजी, खोलिए।"

माताजी के आदेश पर कुत्ते चुप हो गये। मैंने अनुमान से समझा कि बोधा भीतर बुला लिये गये हैं। बोधा के साथ जिस परिचित पद्धति से माताजी की बात हुई उससे मुझे आश्चर्य हुआ। मुझे स्वप्न में भी ऐसी आशा नहीं थी कि बोधा की इस परिवार से जान-पहचान होगी। बोधा को आया देख मैना भी बाहर आ गयी। वह निश्चय ही मैनसिंह के रूप में बाहर निकली होगी। कुछ भीत-आशंकित के समान उसने पूछा, "सब ठीक तो है बोधा प्रधान ?"

बोधा ने संक्षिप्त उत्तर दिया, "सब तो ठीक नहीं है।" फिर थोड़ी देर तक

फिसिर-फिसिर बातें होती रहीं।

रानी ने भी बोधा की बात सुन ली। उनमें एकाएक परिवर्त्तन दिखायी दिया। बोलीं, "ये लोग क्या कह रहे हैं, महाराज ?"

मैंने फिर मृदु भाव से उत्तर दिया, "कुछ होगा देवि, चिन्तित होने की बात नहीं है। अभी मालूम हो जायेगा।"

परन्तु रानी की चिन्ता गयी नहीं। वे कुछ उद्विग्न-सी बनी रहीं। उन्होंने कुछ कहा नहीं, पर दीर्घ निःश्वास के साथ भगवान् की ओर देखा। जान पड़ता था, उनके मन में अमंगल की आशंका उभर आयी थी।

बाहर मैना अर्थात् मैनसिंह और अलहना धीरे-धीरे बात कर रहे थे। कुछ स्पष्ट सुनायी नहीं दे रहा था। परन्तु अन्तिम वाक्य स्पष्ट सुनायी पड़े। मैनसिंह ने कहा, "बघेला, मुझे एक घटी का समय चाहिए। केवल एक घटी !"

अलहना दर्प के साथ बोला, "जाओ मैनसिंह, अपना काम देखो। अलहना बघेला एक घटी तक यमराज की पूरी सेना को भी रोक सकता है।"

जान पड़ा मैनसिंह इस दर्पोक्ति से आश्वस्त हुआ। फिर थोड़ी देर सन्नाटा रहा। रानी की व्याकुलता बढ़ गयी। वे आश्वस्त नहीं हो सकीं। मेरी ओर देखकर उन्होंने कहा, "महाराज, मैं नाटी माता की आज्ञा से इस कोठरी में आबद्ध हूँ। परन्तु मुझे आशंका हो रही है कि बाहर कुछ गड़बड़ है। यदि नाटी माता को एक क्षण के लिए इधर बुला सको तो कैसा हो !"

रानी का स्वर बिल्कुल स्वस्थ था। मुझे पहली बार ऐसा अनुभव हुआ कि मेरी पुरानी प्रिया चन्द्रलेखा बोल रही है। मृदु परिहास के साथ मैंने कहा, "सेवक सदा आज्ञापालन के लिए प्रस्तुत रहा है, देवि !"

रानी के शुष्क-शोण अधरों पर नर्म-चटुल हँसी खेल गयी। उनके नयन-कोरक प्रिया के हँसौहे अनुभाव से विस्फारित हो उठे। मैं कृतकृत्य हो गया। इस बार नागनाथ और विष्णुप्रिया के उपदेश की मार से मुक्त सहज रानी को देखकर मेरा हृदय गद्‌गद हो गया। मुझे आशंका थी कि यह भी संचारी भाव है, स्थायिता इसमें भी नहीं, पर एक क्षण के लिए भी जो इस सौम्य सहज मुद्रा को पा सका हूँ वही क्या कम है ! मैं बाहर निकल आया।

नाटी माता को लेकर जब मैं लौटा तो रानी में विचित्र उद्वेग के भाव दिखायी दिये। वे कुछ बेचैन-सी थीं। उनके अंग-अंग में चंचलता स्फुरित हो रही थी। दृष्टि उनकी नटवर कृष्ण पर ही निबद्ध थी, परन्तु हर अंग में अप्रत्याशित चांचल्य दिखायी दे रहा था। ऐसा जान पड़ता था, वे विचार-संघर्ष के आघातों से बेचैन हो उठी हैं, पर कुछ कर्त्तव्य नहीं स्थिर कर पा रही हैं।

नाटी माता ने प्यार से उनके सिर पर हाथ रख दिया। वे चौंककर उनकी ओर मुड़ीं। फिर एकदम उतावली के साथ उन्होंने पूछा, "क्या समाचार है माता ? कौन-से शत्रु चढ़े आ रहे हैं ? क्या महाराज के अनिष्ट की आशंका है ?"

नाटी माता के मुख पर कोई विकार नहीं था। सहज-स्मित के साथ उन्होंने

कहा, "विद्याधर मन्त्री के पास से बोधा समाचार ले आये हैं कि घुण्डकेश्वर अपने दल के साथ महाराज को पकड़ने के लिए आ रहा है। उसके साथ एक सहस्र तुर्क सैनिक भी हैं। सब मिलाकर कोई दो या तीन सहस्र सैनिक इस कुटिया के दोनों पार्श्व से चढ़े आ रहे हैं। विद्याधर मन्त्री का दल भी चुपचाप एक ओर से प्रतिरोध करने के उद्देश्य से चल चुका है। परन्तु दूसरी ओर से प्रतिरोध का कोई उपाय नहीं हो सका है। घुण्डकेश्वर को किसी प्रकार महाराज के अकेले आने का समाचार मिल गया है और बोधा को किसी प्रकार इस समाचार मिलनेवाली बात का समाचार मिल गया है। बोधा बड़ी कठिनाई से विद्याधर मन्त्री को समाचार दे सके हैं और प्राणों पर खेलकर शत्रु-सेना के बीच से यहाँ पहुँच सके हैं। यही समाचार है। आशंकाजनक तो है ही।"

नाटी माता की बात सुनकर रानी क्षण-भर के लिए विचलित हो गयीं। फिर एकाएक रो पड़ीं। बोलीं, "मैं ही सब अनर्थों की जड़ हूँ। मुझे आज्ञा दो माता, आज महाराज सातवाहन की अर्द्धांगिनी होने का प्रमाण दे सकूँ। घुण्डकेश्वर को आज अपने किये का फल भोगना पड़ेगा। मैं जीते-जी उस पापी को इस कुटिया में पैर नहीं रखने दूँगी।"

नाटी माता उसी प्रकार निर्विकार भाव से हँसती रहीं। बोलीं, "तो तुम भी किसी अनर्थ की जड़ हो!"

उनका अभिप्राय ठीक समझ में नहीं आया। परन्तु कुछ व्याख्या-सी करती हुई बोलीं, "कौन किसका अनिष्ट कर सकता है! तुम क्या, कोई भी न किसी का कुछ बनाता है, न कुछ बिगाड़ता है। हम लोग व्यर्थ ही अपने को कर्त्ता मानकर कष्ट पाते हैं। सब उस लीलाधर की लीला है। हम लोग तो निमित्त-मात्र हैं। मेरे लिए तो यह बड़े सौभाग्य का दिन जान पड़ता है, बेटी! आज तूने सातवाहन की सच्ची अर्द्धांगिनी बनने की लालसा प्रकट की है, इससे बड़ा मंगल क्या हो सकता है भला! तुम्हारे ऊपर भगवान् का अनुग्रह इसी रास्ते तो आनेवाला है। आज तो मंगल-शंख बजता दीख रहा है बेटी!"

नाटी माता और रानी की अनुमति लेकर मैं बाहर आया। बाहर आज शोभा का ज्वार आया हुआ था। तारा-खचित शुभ्र निर्मल आकाश के बीच चन्द्रमा इस प्रकार दीख रहा था जैसे विकच कुमुदों से आच्छादित सरोवर में कोई राजहंस तैर रहा हो। कुटिया पर दुग्ध-धवल ज्योत्स्ना का वितान-सा तना हुआ था। इस शोभा को भावी आशंका की सावधान निस्तब्धता ने कुछ ऐसा प्राणवन्त बना दिया था कि जान पड़ता था सारी वनस्थली आरोपित शक्ति से सावधान-सी बनी हुई प्रतीक्षा कर रही हो। उनकी साँसों की दबी हुई धड़कन स्पष्ट सुनायी दे रही थी। मैंने बहुत धीरे-धीरे फाटक की ओर पैर बढ़ाया। फाटक पर अलहना अपना विशाल कुन्त सँभाले सावधान खड़ा था और उसके दोनों ओर दोनों कुत्ते इस प्रकार दुबके पड़े थे कि अब लपके, अब लपके। न जाने उन्हें भावी आशंका की बात कैसे मालूम हो गयी थी। दूर खड़े बोधा प्रधान अपनी कौड़ी-जैसी आँखों को

दूर दिगन्त में गड़ाये हुए कुछ टोह लेने की मुद्रा में खड़े थे। किसी ने मुझे नहीं देखा। मैंने किसी का ध्यान भंग होने नहीं दिया। बोधा तो समाधि की-सी अवस्था में थे।

मैं कुटिया की दूसरी ओर गया। उधर पहाड़ी प्रायः सीधी खड़ी-सी थी। मुझे इधर से कोई आशंका नहीं जान पड़ी। सीधी खड़ी पहाड़ी स्वयं एक अप्रतिहन्तव्य प्रतिरोध थी। परन्तु उसकी चोटी पर मैंने एक विचित्र बात देखी। एक आग का गोला तेजी से मण्डलाकार चक्कर दे रहा था। इस मण्डल के केन्द्र में एक आड़ा उल्का-खण्ड कुटिया की ओर झुका हुआ था। मुझे कुछ विचित्र-सा लगा। यह क्या ? यद्यपि मैं अकेला ही था, फिर भी मेरे मुँह से निकल गया—इसमें कुछ-न-कुछ रहस्य है !

पीछे से नाटी माता की आवाज आयी, "मैना है, अपनी ग्रामीण वाहिनी को इधर पहुँचने का संकेत दे रही है।" मुझे आश्चर्य हुआ। नाटी माता कब आ गयीं ? नाटी माता थोड़ी देर वहीं खड़ी देखती रहीं। फिर बोलीं, "बेड़ा कमजोर है महाराज, तुम उसी ओर रहो। आज रानी पूर्ण सहज दीख रही हैं। वे कुछ करना चाहें तो बाधा न देना। प्रायश्चित करने दो महाराज, धुल जाने दो उनका सारा परिताप, आँसू से, स्वेद से, रक्त से। मैं जानती थी कि भगवान् तुम्हारी मध्यस्थता में ही रानी पर अनुग्रह करेंगे। आज विकट संकट के भीतर से उनके अनुग्रह की प्रीतिधारा सक्रिय हो उठी है।"

मैंने विनीत भाव से उत्तर दिया, "तुम्हारी मध्यस्थता में वह अनुग्रह बहुत पहले से क्रियाशील है, माताजी !"

नाटी माता ने प्रतिवाद किया, "ऐसा न कहो बेटा, मैं अधम नारी भगवान् के अनुग्रह का माध्यम बन सकती हूँ भला ! भगवान् तो तुम्हारी मध्यस्थता में मेरे ऊपर अनुग्रह कर रहे हैं। देख रहे हो इस नन्हीं-सी मैना को ! तुम्हारी हल्की-सी कृपा पाकर कितना साहस आ गया है उसमें ! इधर की जानपद-जनता को उसने बहुत सतेज बना दिया है। तुम्हीं तो इसमें निमित्त हो और तुम जानते भी नहीं ! कैसी विचित्र लीला है ?"

विचित्र ही तो है !

रात कोई एक प्रहर रह गयी होगी, फाटक के पास कुत्ते गरज उठे और अलहना ने साधकर अपने भाले से वार किया। टोह लेने के लिए आये हुए शत्रु के दो सैनिक फाटक पर झाँक रहे थे। अलहना ने दूसरा वार किया। देखते-देखते दोनों सैनिक ढेर हो गये। अलहना ने दृप्त कण्ठ से जयघोष किया। लड़ाई छिड़ गयी। फाटक पर शत्रु-सेना का एक प्रबल रेला आया। बाधा, भगुवा और अलहना गुँथ गये। अलहना को सुविधा थी। रास्ता संकीर्ण था। उसमें एक से अधिक सैनिक आ ही नहीं सकता था। फिर दोनों कुत्ते व्याघ्र की भाँति आक्रमण कर रहे थे। उनकी भयंकर गुर्राहट शत्रु को संत्रस्त बना देती थी। अलहना वार-पर-वार करता जा रहा था। दूर खड़े निःशस्त्र बोधा प्रधान शान्त निश्चल मुद्रा

में खड़े थे, जैसे कुछ हो ही नहीं रहा हो। शत्रु-सेना का दूसरा रेला बहुत प्रचण्ड था। उसने खदिर के बेड़े को तोड़कर कुटिया में प्रवेश करना चाहा। मैं नंगी तलवार लेकर खड़ा हो गया। सैनिक बहुत शिक्षित नहीं जान पड़ते थे। उन्हें तलवार के घाट उतारने में बहुत वीरता की जरूरत नहीं थी।

अचानक पीछे से किसी ने कर्कश स्वर में आदेश दिया, "पकड़ लो, यही राजा है।"

एक सहस्र सैनिकों ने सोल्लास दोहराया, "पकड़ लो!"

बेड़ा टूट चुका था। मेरे ऊपर सैकड़ों जवान चढ़ दौड़े। मुझे चिन्ता नहीं हुई। मेरी तलवार का आवर्त्तमण्डल भेदना उनके वश की बात नहीं थी। अशिक्षित सैनिक बुरी तरह कटने लगे। मैंने चिल्लाकर कहा, "व्यर्थ प्राण देने का साहस न करो। मैं सबको समाप्त कर दूँगा। भाग जाओ।"

इसी समय मैंने आश्चर्य के साथ देखा कि रानी कमर कसके तलवार खींचे सैनिकों के झुण्ड में कूद पड़ीं। उनकी आँखों से चिनगारियाँ झड़ रही थीं। वे तेजी से तलवार से वार कर रही थीं। अद्भुत थी वह शोभा! कसे हुए कंचुकबन्ध तलवार की भागती हुई गति से बार-बार मरोड़ खाकर शतधा विकुंचित हो रहे थे। सिंहनी के समान पतले कटि-देश में बँधा हुआ पल्ला बार-बार विद्रोह करके उद्धतफण नाग की भाँति शत्रुओं को ग्रास करने के लिए व्याकुल हो उठता था। मुखमण्डल पर सहस्रों श्रम-बिन्दु इस प्रकार सटे हुए थे मानो भयंकर दृश्य से भीत होकर तारे चन्द्रमा की गोद में चिपक गये हों।

पीछे से उसी कर्कश स्वर में फिर आदेश सुनायी पड़ा, "रानी है। दोनों को जीवित पकड़ लो।"

रानी ने सुना तो उनकी सारी देह में आग-सी लग गयी। कन्धा झाड़कर असंयत केशों को फटकारकर उन्होंने इस प्रकार गर्दन घुमायी, जैसे क्रुद्ध सिंहनी शिकार पर टूटने जा रही हो। वे चिल्ला पड़ीं, "पापी घुण्डकेश्वर बोल रहा है। आ जा पापी, आज तेरे पापों का घड़ा भर गया है।"

रानी मुझे पीछे ठेलकर आगे बढ़ जाना चाहती थीं। वे कदाचित् मुझे बचाना चाहती थीं। पर बात बिल्कुल उल्टी हो रही थी। आवेश में वे अन्धाधुन्ध तलवार चला रही थीं, बचाव करना वे जानती नहीं थीं। मुझे अपना और उनका दोनों का बचाव करना पड़ता था। वे भूल गयी थीं कि युद्ध भी शिक्षा चाहता है। उनके अचानक आ जाने से मेरी कठिनाई बहुत बढ़ गयी थी। पर वे क्रुद्ध-क्षुब्ध अवस्था में दायें-बायें देखे बिना तलवार चलाती जा रही थीं।

मैंने देखा, सामने से शत्रुओं का बड़ा भारी रेला आ रहा है। रानी उसके धक्के को सँभाल नहीं पायीं। चोट खाकर वे गिर गयीं। एक क्षण रुकता हूँ तो वे कुचल जायेंगी। मैंने मण्डलावर्त्त में चक्कर मारकर रानी को कुचलने से बचाना चाहा। भगवान् ने मुझमें न जाने कहाँ से शक्ति दी! मैंने रानी के पास तो किसी को पहुँचने नहीं दिया, शत्रुओं का शीघ्रता से संहार भी करने लगा। इसी समय

बाज की तरह झपटकर बोधा प्रधान आये और रानी को उठाकर कुटिया में ले गये।

मैं निर्द्वन्द्व होकर युद्ध में रम गया। अलहना अब भी जूझ रहा था, पर उसकी जयध्वनि क्षीण हो आयी थी। कुत्ते कदाचित् मार डाले गये थे। मैंने अकेले ही शत्रु-सेना को निःशेष करने का संकल्प किया। मैंने कुलदेवता का स्मरण किया और अकेला ही गुंथ गया। परन्तु आश्चर्यों का तांता तो अब शुरू हुआ। विद्युत्-रेखा की भाँति मैनसिंह न जाने कब आकर मेरी बगल में डट गया था। उसने मुझे पीछे करके आगे बढ़ने का प्रयत्न किया। मैंने रोका, "पीछे रहो मैनसिंह, मैं अकेला बहुत हूँ। लड़ाई देखो।"

मैनसिंह ने कातर भाव से कहा, "मुझे आगे रहने की आज्ञा मिले महाराज!"

मैंने उसे पीछे धकेलकर कहा, "आज नहीं।"

विकट युद्ध हुआ। मैनसिंह की फुर्ती और कौशल देखने ही लायक था। वाह, कैसा अद्भुत साहस है, कैसी फुर्ती है!

अचानक बोधा प्रधान गरज उठे, "पीछे महाराज, और पीछे!"

कुछ समझ में नहीं आया। मैनसिंह ने आगे कूदकर मुझे पीछे धकेल दिया और फिर स्वयं भी पीछे खिसका। लड़ते-लड़ते हम लोग दीवार से सट आये।

बोधा प्रधान ने गरजकर आज्ञा दी, "सावधान!"

पहाड़ों पर से दनादन पत्थर बरसने लगे। भयंकर गोलाबारी थी वह! शत्रु के पाँव उखड़ गये। दूर तक भागती हुई शत्रु-सेना पर पत्थरों की वर्षा होती रही। बोधा प्रधान ने गरजकर जयघोष किया, "महाराजाधिराज सातवाहन की जय!"

पहाड़ी पर सैकड़ों कण्ठों ने सोल्लास दुहराया, "जय!" पत्थरों का गिरना बन्द हो गया।

लड़ाई रुक गयी। अलहना रक्त से लथपथ हो गया था। वह बिल्कुल अधमरा हो गया था, परन्तु धन्य है यह वीर बालक, हाथ का भाला नहीं झुक पाया!

बोधा प्रधान पूरे युद्ध के वास्तविक सेनापति थे। तलवार और भालों की चोट उन्हें भी लगी, पर वे निःशस्त्र निरीक्षक होकर ही मृत्यु को ललकारते रहे। कितना दुरन्त साहस है—हाथ में एक डण्डा भी नहीं और तलवारों की धारासार वर्षा में धँसकर रानी को उठा लाये! बुद्धि और साहस का ऐसा मणिकांचन योग दुर्लभ है! बोधा को मैंने आज पहचाना।

मैनसिंह अर्थात् मैना! कुछ कहते नहीं बनता! बुद्धि, सेवा, साहस, रण-कौशल—धन्य है मैना!

और रानी! आज रानी के रूप में दुर्गा को ही देख सका हूँ।

पर नाटी माता कहाँ हैं?

16

देखते-देखते कुटिया के इर्द-गिर्द सैकड़ों ग्रामीण दूर-दूर तक खड़े हो गये। सभी अपने 'राजा' का दर्शन करने को उत्सुक थे। वे चुपचाप आते, दर्शन करते, प्रणाम-निवेदन करते और धीरे-से अपने निश्चित स्थान पर खड़े हो जाते। अधिकांश के हाथ में लाठी, बरछा या भाला था। मुझे लगता था कि ये पहले से ही सिखाये हुए थे। कुटिया में भीड़ बिल्कुल नहीं हुई। परन्तु दूर-दूर तक खड़े ग्रामीण युवकों की संख्या दो-ढाई सौ से कम नहीं थी। कुछ थोड़े-से लोग श्रद्धा और तत्परता के साथ मेरी सेवा में लगे थे। आवाज़ कहीं नहीं हो रही थी। मुझे आश्चर्य इस बात का था कि यह जानना कठिन था कि इनमें नेता कौन है—सब एक ही श्रेणी के थे। बोधा और मैनसिंह नहीं दीखते थे। नाटी माता का कहीं पता नहीं था। मैंने एक बार पूछा भी कि बोधा और मैनसिंह कहाँ हैं! सेवा में लगे हुए नवयुवकों ने कहा कि उन्हें नहीं मालूम। वे मेरी रक्षा के लिए नियुक्त हैं। रानी के बारे में पूछने पर पता चला कि वे स्वस्थ हैं और भीतर विश्राम कर रही हैं।

अलहना थोड़ी दूर पर बिल्कुल मृतप्राय पड़ा हुआ था। उसके लिए भी कुछ युवक नियुक्त थे। जो लोग आये हुए थे वे बड़े ही निरीह जान पड़ते थे। राजपूत तो वे नहीं थे। किसी में अलहना जैसी अकड़ नहीं थी, परन्तु आत्मविश्वास उनके प्रत्येक अंग से उल्लसित हो रहा था। रानी के प्रति उनकी अपार श्रद्धा जान पड़ती थी। ज्योंही मैंने रानी के पास जाने की इच्छा प्रकट की, उनके चेहरे आनन्दोल्लास से खिल गये। उन्होंने उठने में मेरी सहायता की। उसकी कोई विशेष आवश्यकता नहीं थी। मैं भीतर गया। उस समय दिन निकल आया था। रानी अपनी कोठरी में ही थीं। दो-तीन ग्रामीण स्त्रियाँ उन्हें घेरकर बैठी हुई पंखा झल रही थीं। मुझे देखते ही सबने घूँघट खींच लिये और गौरव देकर भक्तिपूर्वक प्रणाम करके कोठरी से बाहर निकल आयीं।

रानी सो रही थीं। उनका सारा शरीर अवसन्न जान पड़ता था। मैंने ध्यान से उनके सारे शरीर को देखा, ठीक पता नहीं चला कि चोट कहीं लगी है या नहीं। मैं चुपचाप उनके सिरहाने बैठ गया। अब भी उनकी साड़ी का पल्ला कमर में कसा हुआ था। कदाचित् सेवा करनेवाली स्त्रियों ने उसे शिथिल करना आवश्यक नहीं समझा था। या फिर रानी ने ही मना कर दिया हो। वीर बाला का वह श्लथ-क्लान्त रूप बहुत ही मनोहर लगता था। मैंने धीरे-धीरे रानी के ललाट का स्पर्श करके परीक्षा की। वे स्वस्थ ही जान पड़ीं। फिर पंखा लेकर झलने लगा। थोड़ी देर में रानी की नींद खुली। उनकी चेतना पूरी नहीं लौटी थी। थोड़ी देर तक वे मेरी ओर ताकती रहीं। फिर जब उन्होंने मुझे पूरी तरह पहचान लिया तो एकदम धड़फड़ाकर उठ बैठीं और क्षीण कण्ठ से कहा, "महाराजाधिराज की

जय हो !"

बहुत दिनों से रानी के मुख से 'जय-वाणी' सुनने को नहीं मिली थी। मैंने उन्हें लिटा देने का प्रयत्न किया, पर वे बैठी ही रहीं। केवल क्षीण कण्ठ से पूछा, "महाराज कुशलपूर्वक तो हैं ?"

मैंने सोत्साह उत्तर दिया, "देवि, कल्याण-रूपा महादेवी चन्द्रलेखा जिसकी सहाय हों वह धन्य है, उसके लिए कुशल-प्रश्न का क्या प्रयोजन है ? तुम तो स्वस्थ हो देवि ?"

"मैं पूर्ण स्वस्थ हूँ महाराज, मुझे खेद है कि मैं शत्रु-संहार में आपकी पूरी सहायता न कर सकी। मैं कब गिर गयी, पता नहीं। परन्तु मुझे लगता है कि मैं न गिरती तो बुरा होता। हर पाप का प्रायश्चित हो जाना अच्छा होता है। महाराज, मुझमें क्रोध आ गया था। यह तपोभ्रंश का लक्षण है। घुण्डकेश्वर की वाणी सुनकर मुझे क्रोध आ गया। मैं भूल गयी कि यह युद्ध व्यक्ति के विरुद्ध क्रोध या प्रेम के लिए नहीं लड़ा जा रहा है। जब मैं रणस्थल में गयी थी तो मुझे युद्ध का ठीक-ठीक स्वरूप स्मरण था, पर वहाँ पहुँचकर मैं क्रोध की चपेट में आ गयी। मैना को क्रोध नहीं आया, बोधा को तो कभी आता ही नहीं। मैं ही पथभ्रष्ट हो गयी।

"मेरे गुरु नागनाथ को रससिद्धि के पहले एक बार क्रोध आ गया था। उसका हेतु भी घुण्डकेश्वर ही था। उसने एक बुढ़िया को पैसा देकर अपने पक्ष में कर लिया था। उसमें भी उसने हमारे पुत्रों की सहायता से सफलता प्राप्त की थी। बुढ़िया योगिराज नागनाथ का भोजन बनाया करती थी। वह नित्य भोजन में नमक अधिक दे देती थी। जिस दिन रससिद्धि होनेवाली थी उस दिन योगिराज का धैर्य न टिक सका। उनके चित्त में क्रोध का विकार उत्पन्न हो गया। मुझसे उन्होंने अपने चित्त-विकार की बात कही थी। उन्होंने शास्त्र-विहित अनुष्ठान करके प्रायश्चित भी किया था। आज मुझे लग रहा है कि उनके चित्त का विकार प्रशमित नहीं हुआ था। रससिद्धि के दिन उन्होंने कहा था, 'देवि, विघ्नवाहिनी तत्पर है, सावधान हो जाओ!' उनके इस वाक्य से प्रकट होता है कि वे पूर्ण क्रोधमुक्त नहीं हो सके थे। उन्हें सिद्धरस नहीं मिला। पर पारद का प्रभाव मेरे ऊपर अवश्य पड़ा। आज मैं अपने को अधिक समझ रही हूँ। आज मुझे अमोघवज्र और भगवती विष्णुप्रिया की बात अधिक स्पष्ट हो रही है।

"महाराज, क्रोध झूठे अभिमान का चिह्न है, हर काम में अपने को कुछ अधिक महत्त्वपूर्ण मानने का परिणाम है। कल युद्ध में तुम्हारे अविचल धैर्य और अपनी क्षुद्र अहमिका को देखकर लगा कि अब तक जितने योगी मैंने देखे हैं उनमें तुम श्रेष्ठ हो। मैं आज पूर्ण स्वस्थ हूँ, महाराज ! दो घटी पूर्व तक मैं अस्वस्थ थी, दूसरे भाव में स्थित थी; अब मैं स्वस्थ हूँ, अपने भाव में आ गयी हूँ।"

इतना कहकर रानी उठीं और एकाएक मेरे चरणों पर गिर गयीं। उनकी आँखों से दर-विगलित अश्रुधारा बह चली और रुँधे गले से केवल इतना कह

सकीं, "अपराधिनी को क्षमा करो महाराज !"

इसके लिए मैं बिल्कुल प्रस्तुत नहीं था। कल की रात्रि कुछ विचित्र रही होगी। इसमें प्रतिक्षण मुझे आश्चर्य हुआ है। यह नया आश्चर्य है। मैंने रानी को उठाकर गले लगा लिया; बोला, "तुम नहीं देवि, मैं अपराधी हूँ।"

रानी की आँखें नीचे झुक गयीं। इस बार उनके मुख पर एक अपूर्व प्रभा-मण्डल दिखायी पड़ा—स्निग्ध, कोमल, शान्त ! मेरे मन में कितने ही भाव आये और गये। मैं निर्निमेष उस अपूर्व सौन्दर्य-माधुरी का पान करता रहा। एक बार भगवान् की मूर्त्ति की ओर देखा—'दयानिधान, इस भाव को स्थायी बनाओ। तुम्हारा प्रसाद है। देवता, आँधी और तूफ़ान में तुम्हारी मधुर वंशी की ध्वनि सुनायी दे रही है। आज रानी को नहीं, तुम्हें पा रहा हूँ। तुम्हीं दाता हो, तुम्हीं साक्षी हो, तुम्हीं दान दो !'

रानी उसी प्रकार देर तक खड़ी रहीं। उनका वह रूप आज तक के देखे सभी रूपों से विशिष्ट था। उनके निचौहें नयनों में अनुराग का समुद्र लहरा रहा था। उनका सम्पूर्ण मानस तरल होकर मुखमण्डल के प्रत्येक अवयव को हरितकान्ति बना रहा था। उनके अधरों में न जाने कहाँ से स्निग्ध-तरल रस की ऐसी धारा खेलने लगी थी जो उस समय भी नहीं दीखी थी जब प्रथम बार उन्होंने मुझे वरण किया था ! उनमें लज्जा, शोभा, उल्लास और कान्ति का अपूर्व आविर्भाव हुआ था।

अवसर देखकर मैंने कहा, "देवि, अपराध क्षमा हो, तुम्हारा यह परम धीर योगी सातवाहन सदा अपना धैर्य न रखने का अपराधी हो सकता है; उसे बीच-बीच में क्षमा करना पड़ेगा।" और उनके चिबुक को हलके स्पर्श से ऊपर उठाया। आँखें मिलीं और हल्की-सी स्मित-रेखा को अधरों पर उकसाकर फिर झुक गयीं।

मैंने कहा, "देवि, यदि आज्ञा हो तो भगवान् के चरणों में साथ-साथ प्रणति-निवेदन का प्रसाद चाहता हूँ।"

रानी की दृष्टि युगल मूर्त्ति की ओर गयी। हम दोनों ने साष्टांग प्रणाम किया। बाहर नाटी माता की मधुर स्तुति सुनायी पड़ी :

गताहं कालिन्दीं गृहसलिलमानेतुमनसा
घनद्घोरैर्मेघैर्गगनमभितो मेदुरमभूत्।
भृशं धारासारैरपतमसहाया क्षितितले
जयत्वङ्के गृह्णान्पटुनटकलःकोऽपि चपलः।

बाहर आया तो दिन बहुत चढ़ आया था। कुटिया में केवल अलहना विश्रान्त भाव से सोता दिखायी दिया। नाटी माता यथानियम पूजा-पाठ में लगी हुई थीं। ग्रामीण नौजवानों की वाहिनी कहीं दिखायी नहीं दे रही थी। रानी की सेवा में जो स्त्रियाँ नियुक्त थीं, वे स्नान करके पवित्र बनी हुई नाटी माता के पूजागृह के सामने चुपचाप हाथ जोड़कर बैठी हुई थीं। वे भक्ति-गद्गद जान पड़ती थीं। मुझे आया देखकर उनमें थोड़ी-सी चंचलता दीखी। सबने एकाएक घूँघट खींच

लिया और फिर दूसरी ओर दृष्टि फिराकर उसी प्रकार हाथ जोड़े बैठी रही। नाटी माता भीतर हाथ जोड़े गद्‌गद मुद्रा में समासीन थीं। मैंने दूर से ही उनके इष्टदेव को प्रणाम किया।

कुछ देर बाद नाटी माता निकलीं, ग्रामवधुओं ने प्रसाद पाया, जानुपातपूर्वक प्रणाम करके वे चुपचाप भीतर चली गयीं, कदाचित् रानी के पास। नाटी माता ने मुझे भी यथाविधि प्रसाद दिया। फिर बोलीं, "इस कुटिया में पधारकर महाराज ने हम लोगों को कृतार्थ किया, परन्तु कुछ आराम पहुँचाना तो दूर, हमारे दुर्भाग्य से संकट के बादल घिर आये। क्लेश होता है महाराज, पर इनकी लीला अपरम्पार है, पता नहीं कहाँ से कैसे झंझा में भी बाँसुरी की तान सुना देते हैं! कल की घटना से मन में बड़ी उथल-पुथल है महाराज, पर मैं निश्चित जानती हूँ, लुहार की दूकान का यह खट्टपट्ट अकारथ नहीं जायेगा; वीणा के तार बन रहे हैं, यथासमय उसकी सुरीली तान अवश्य सुनायी देगी। जब से आप पधारे, एक क्षण का भी विश्राम नहीं मिला। कुछ देर विश्राम कर लेना अच्छा होगा। मैंने सब आदमियों को यहाँ से हटा दिया है। थोड़ा विश्राम कर लो।"

रानी की सेविकाओं ने ही मेरे लिए विश्राम की भी व्यवस्था की। नाटी माता ने विश्राम करने के लिए आग्रह करते हुए प्यार से कहा, "भगवान् के अनुग्रह का रास्ता हर समय समझ में नहीं आता, बेटा! रक्त की धारा से कभी-कभी शान्ति का बिरवा सिंचता है। चिन्ता की बात क्या है? हम जिसे न्यायसंगत समझ रहे हैं वह न्यायसंगत या सत्य ही है, यह तो परिणाम ही बता सकते हैं। अपना कर्त्तव्य तो इतना ही है कि परमेश्वर जिस रूप में सत्य या न्याय का कंचुक धारण करके दिखायी दें उसे सर्वात्मना स्वीकार करें। रानी में एक विचित्र प्रकार का साहस है महाराज, वह दृष्ट सत्य को तत्काल स्वीकार कर लेती हैं। लेकिन एक विचित्र कुण्ठा भी है। उनके मन में थोड़ा-सा स्थान खाली रह जाता है; वे वहीं चूक जाती हैं। उसी के कारण उन्हें कष्ट होता है। ऐसा जान पड़ता है कि यह कुण्ठा अब समाप्त हो जायेगी। जिस दिन यह समाप्त होगी उस दिन रानी असाध्य-साधना का सामर्थ्य पा जायेंगी।"

मैंने आज्ञा-पालन की स्वीकृति दी। चलते-चलते विनीत भाव से कहा, "रानी के लिए आप जो कुछ कर रही हैं उसके लिए ऋणी हूँ, माताजी! मेरा विश्वास है कि आपके आशीर्वाद से उनकी कुण्ठा जाती रहेगी।"

नाटी माता ने दाँतों से जीभ दबा ली। "नहीं बेटा, ऐसा मत कहो। मैं तो रानी के गुणों को देखकर चकित हूँ। कुण्ठा तो नारी को विधाता ने दे ही दी है। नारी की सबसे बड़ी विशेषता यह कुण्ठा ही है। वही उसकी दुर्बलता है, वही उसकी शक्ति है। नारी अपने को सबसे छिपाती है, स्वयं अपने-आपसे भी—यहाँ तक कि वह परमात्मा से भी अपने को छिपाती है। मैं क्या अपने को नहीं छिपा रही हूँ? रानी की कुण्ठा समाप्त होने का अर्थ यही है कि वे अपने को भगवान् के निकट सम्पूर्ण रूप से अनवगुण्ठित रखें और बेटा, पति को जो परमेश्वर कहा

जाता है उसका स्पष्ट अर्थ यही है कि नारी को यह सुविधा प्राप्त है कि वह परिपूर्ण आत्मसमर्पण का साधन अनायास पा जाती है। रानी बहुत-बहुत सौभाग्यवती हैं बेटा, उनकी कुण्ठा अवश्य समाप्त होगी। आज का संकट टल जाये तो मैं तुम दोनों को भगवती विष्णुप्रिया के पास ले चलूँ।"

मैं नाटी माता की बात समझने का प्रयत्न कर रहा था। अचानक उनके अन्तिम वाक्य से खटका हुआ। मैंने पूछा, "आज का संकट अभी टला नहीं है, माताजी ?"

नाटी माता ने रुक-रुककर कहा, "टल जायेगा। भगवान् की ऐसी ही इच्छा जान पड़ती है। तुम विश्राम करो।"

क्या विश्राम करूँ ? मन में एक नयी आशंका घुमड़ आयी। प्रातःकाल से ही बोधा और मैनसिंह न जाने कहाँ चले गये हैं। नाटी माता स्वयं पता नहीं कहाँ चली गयी थीं। नाटी माता बातों-ही-बातों में कह गयीं कि वे भी अपने को क्या नहीं छिपा रही हैं ! किससे छिपा रही हैं। क्या नारी अपने को सचमुच ही अन्त तक छिपाती रहती है ? बात कुछ उलझी हुई-सी दीख रही है। बिस्तर पर पड़ा हूँ विश्राम के लिए। मन भाग-भागकर जाना चाहता है उस अज्ञात संकट में, जहाँ बोधा प्रधान और मैनसिंह—नाटी माता की वह अद्भुत पुत्री मैना—और कदाचित् वृद्ध और शिथिलगात विद्याधर मन्त्री जूझ रहे हैं। यहाँ पड़े रहना कितनी बड़ी कायरता है ! ये लोग कदाचित् सोच रहे हैं कि संकट में मेरी उपस्थिति अनिष्टकर होगी। पर मुझे क्या यहाँ विश्राम करना चाहिए ? मेरे अत्यन्त विश्वस्त बन्धुजन प्राणों का पण लगाकर मेरी रक्षा के लिए जूझ रहे हैं और मुझे विश्राम करने को कहा जा रहा है। यह अनुचित है, असंगत है, वीरधर्म के विपरीत है।

नाटी माता विश्राम करने का आदेश देकर एकदम चली गयीं। कुछ पूछने का अवसर ही नहीं दिया। परन्तु उनके सहज-प्रसन्न मुख पर विकार के चिह्न अवश्य थे। जब उन्होंने कहा कि मैं ही क्या अपने को नहीं छिपा रही हूँ, तो निस्सन्देह उनके मुख पर ऐसा भाव आया था जो एक दीर्घ-संचित अनुताप की काली छाया क्षण-भर के लिए छोड़ गया था। उन्होंने झटपट बात को दूसरी ओर मोड़ने का प्रयास किया था। कदाचित् भगवती विष्णुप्रिया के पास हम दोनों को ले जाने के प्रस्ताव के मूल में उनकी स्वयं वहाँ पहुँचने की लालसा भी क्रियाशील थी। क्या यह भी दुराव-छिपाव का ही प्रयत्न था ? थोड़ी देर तक मैं आँख मूँदकर पड़ा अवश्य रहा, पर मन में भयंकर विचार-झंझा बह रही थी। रह-रहकर रानी और मैना, अलहना और बोधा मन की रंगभूमि पर उतर आते थे। कैसा अद्भुत संयोग है !

किसी के प्रवेश की आहट मिली। मैंने धीरे-धीरे आँखें खोलीं। क्या देख रहा हूँ ? रानी चन्द्रलेखा मेरे सिरहाने खड़ी हैं। उनके दुर्बल शरीर में आज दुर्वार शक्ति आयी दीख रही है। परिपाण्डु कपोलदेश में नयी आभा है, कोटरशायी

दीर्घ नयनों में विचित्र लीला-विलास है। प्रत्यूष वेला में क्रोधोत्पत्ति के कारण उनके मन में तपस्या से भ्रष्ट होने का अनुताप था, मेरे प्रति उनके चित्त में नयी भावुकता-भरी श्रद्धा का गौरव था और पारद के दिव्य तेज के प्रति नयी अनास्था की विद्युल्लेखा कौंध गयी थी। इस समय क्या कोई और परिवर्तन हुआ है? उनमें आज नववधू की मोहक शोभा प्रकट हुई है, असंयत केश संयत हो गये हैं। सीमन्त रेखा में केवल नयी कान्ति ही नहीं निखरी है, महीन सिन्दूर-रेखा से वह प्रातःकालीन उषा की लालिमा को लज्जित कर रहा है। निस्सन्देह आज नवीन अरुणोदय हुआ है।

रानी ने धीरे-धीरे मेरे ललाट को दबाया। करतल पसीने से भीजा हुआ था। चित्त में निश्चय कहीं नये विकार का आविर्भाव हुआ है। शास्त्र कहता है कि मनुष्य के जन्म के साथ-ही-साथ कितने ही शत्रुओं की वाहिनी पीछे पड़ जाती है —क्रोध है, लोभ है, मोह है, मद है, मत्सर है। पर क्या इतने ही हैं? और भी इनके छोटे-मोटे सहायक हैं। सब एक-दूसरे की सहायता करते हैं। किसी प्रकार की चूक हुई कि एक या दो अपना शस्त्र ताने कूद आते हैं। एक आया तो दूसरा और दूसरा आया तो तीसरा बिना बुलाये उपस्थित है। छोटी-सी मनुष्य की दुर्बल काया और नियुक्त शत्रुओं की इतनी दुरत्यय वाहिनी! रानी को क्रोध आ गया था। बाकी शत्रु क्या चुप बैठे होंगे? शास्त्र कहता है, सावधान रहो, फूँक-फूँककर कदम रखो, नहीं तो अनर्थ हो जायेगा! हाय-हाय, आज तक अनर्थ रुका नहीं!

सचमुच क्या कोई अनर्थ हो गया है?

अगर यह अनर्थ है तो बहुत बुरा नहीं है। रानी का सहज सौन्दर्य लौट आया है। उनके नयनों में आज ज्ञान की किरणें नहीं हैं, लीला-विलास की स्रोतस्विनी लहरा रही है। मैंने आदर के साथ उनका स्वागत किया। उन्होंने स्नेहपेशल वाणी में कहा, "अब कैसा लग रहा है महाराज, स्वस्थ तो हैं न?"

"बहुत ठीक हूँ देवि! तुम्हें इस रूप में देख रहा हूँ, इससे बड़ा सुख क्या हो सकता है! रात-भर द्वितीया के चाँद को पूर्णिमा के चाँद में बदलते देखा है। स्वस्थ हूँ देवि! प्रीत हूँ, कृतकृत्य हूँ।"

रानी के मुख पर प्रसन्नता तरंगित हुई। थोड़ा संकोच उनमें अवश्य दिखायी दे रहा था, परन्तु वह इतना कठिन नहीं था जिसे दुर्भेद्य कहा जा सके। वे कुछ कातर-सी जान पड़ती थीं। मेरे मन में आशंका हुई कि कहीं तपोभंग के अनुताप का दूसरा दौरा तो नहीं आया है। रानी ने बहुत धीरे-धीरे अपनी बात कही। वे तपोभंग के अनुताप से कुछ म्लान अवश्य थीं। नाटी माता ने उन्हें बताया कि तुम्हें जो क्रोध आया वह चिन्तनीय नहीं है। पति को संकट में देखकर साधारण-से-साधारण स्त्री को जो क्रोध आता है, वह भगवान् का दिया हुआ अमोघ वरदान है। फिर पति भी कैसा, जिसने लाखों दलित मनुष्यों के दुःख-सुख को अपना बना लिया है। यह क्रोध सात्त्विक है, यह परमात्मा का आशीर्वाद है।

नाटी माता ने रानी को समझाया था कि जहाँ व्यक्तिगत सुख-दुःख की लालसा नहीं होती, जहाँ मनुष्य सहस्रों दुःखकातर मनुष्यों को विपत्ति से त्राण देने के लिए प्रयत्न करता है, वहाँ न तो क्रोध शत्रु होता है, न लोभ, न काम, न मोह। रानी के परिताप को देखते हुए नाटी माता ने आज उन्हें कुछ हलकी फटकार भी बतायी है। कहा है, 'जहाँ तक तुमने अशेष मानवजाति को रोग-जरा-मृत्यु से मुक्त करने का संकल्प किया था, वहाँ तक तुमने ठीक ही किया था। परन्तु बाद में तुमने अपनी सिद्धि को व्यक्तिगत अहंकार का विषय बना लिया, वहीं तुम तपोभ्रष्ट हो गयीं।' रानी को इससे बड़ा धक्का लगा है। उन्होंने नाटी माता से पूछा था कि आप कैसे कहती हैं कि मुझमें अहंकार आ गया था।

रानी को नाटी माता ने बड़े दुलार से समझाया है, 'जानती हो रानी, अहंकार क्या वस्तु है ? अपने को सारे जगत्प्रवाह से पृथक् समझ लेना ही अहंकार है। इस पृथकत्व-बुद्धि पर विजय पाना ही तपस्या है।' भागवत का श्लोक सुनाकर उन्होंने कहा, 'मनुष्य अपने पुत्र-कलत्र के लिए, धन-मान के लिए जो कुछ करता है वह तब तक असत् होता है, जब तक उसमें अपने को सबसे पृथक् समझने की बुद्धि बनी रहती है, किन्तु वे सारे प्रयत्न 'सत्' हो जाते हैं, यदि सबके लिए किये जायें, अपने को जगत्-प्रवाह से अभिन्न समझकर किये जायें।[19] मैना नन्ही-सी लड़की है पर उसमें ऐसा भाव आ रहा है; तुममें भी आयेगा। भगवान् को परिपूर्ण रूप से आत्मसमर्पण किये बिना यह बुद्धि नहीं आती।'

नाटी माता की बात को रानी ने जैसा समझा, उसका यही सार था। रानी कुछ विचलित जान पड़ती हैं। उन्हें सबसे अधिक आघात इस बात से पहुँचा है कि नन्ही-सी लड़की मैना जो कर रही है, उसे रानी अभी तक कर नहीं सकी हैं। मैं नाटी माता को जितना समझ पाया हूँ, उससे मेरा निश्चित विश्वास है कि उन्होंने ठीक उसी प्रकार नहीं कहा होगा, जिस प्रकार रानी के चित्त में उसकी छाप पड़ी है। छाप केवल बाहर की वस्तु का दबाव-चिह्न नहीं होता; जिस आधार पर वह पड़ता है उसके तत्त्व भी उसमें मिल जाते हैं।

रानी ने भरे गले से कहा, "महाराज, मैना आपकी जैसी सेवा कर रही है, वैसी मैं भी कर सकूँ तो अपने को कृतकृत्य मानूँगी। मैंने बहुत सोच-विचारकर देखा है, मैं मैना की तुलना में अत्यन्त नगण्य हूँ। यही देखो न, बेचारी इस समय न जाने कहाँ प्राणों पर खेल रही होगी और मैं यहाँ विश्राम कर रही हूँ।" फिर रानी एकदम भभरा गयीं। बोलीं, "मुझे बहुत आदर दे-देकर तुमने मेरी क्षुद्रता को बढ़ावा दिया है। महाराज, मुझे दासी की भाँति क्यों नहीं आज्ञा देते ? मैना धन्य है जो तुमसे डरती है, तुम्हारे ऊपर श्रद्धा रखती है, तुम्हारे लिए प्राण देती है !"

मुझे खट्-से लगा। क्या क्रोध के तुरन्त बाद, शास्त्रों की शत्रु-सेना में अपरिगणित, असूया-नामक शत्रु ने भी तो आक्रमण नहीं कर दिया ? परन्तु रानी तो कभी इस शत्रु का शिकार नहीं बनीं। मैना तो कभी सोच भी नहीं सकती कि

ऐसा हो सकता है। बहुत सोच-समझकर कवि-कुलगुरु कालिदास ने शकुन्तला की एक सखी का नाम 'अनसूया' दिया था। मैंना को मैंने जितना समझा है वह साक्षात् अनसूया है। रानी को क्या हो गया है ? परन्तु दूसरे ही क्षण मैंने अपने को आश्वस्त कर लिया। यह भी सहज भाव के आने की सूचना-मात्र है। रानी ने नाटी माता की बात को ठीक समझा नहीं है। भगवान् को परिपूर्ण भाव से आत्म-समर्पण उनके कथन का मूल स्वर होगा, परन्तु रानी उसी को भूल रही हैं। मैंने सँभालने का प्रयत्न किया।

"गलत समझ रही हो देवि, तुमने इस देश की साधारण प्रजा में जो आत्म-विश्वास संचारित किया है, वही बड़ी बात है। उसी से मैंनाएँ बन रही हैं, बोधा बन रहे हैं और आज मैंने सैंकड़ों निरीह ग्रामीणों को बनते देखा है। शस्त्र लेकर मैदान में जूझना निस्सन्देह बड़ी बात है, पर जूझने की शक्ति देना और भी बड़ी बात है। नाटी माता तुम्हारी शक्ति को जानती हैं, यह तुम्हारा अकिंचन सेवक भी जानता है। नाटी माता तुम्हें इस साधना-मार्ग से हटाकर उसी परिपूर्ण आत्म-दान के मार्ग में लगाना चाहती हैं। उनकी कदाचित् धारणा है कि तुम सिद्ध-योगिनी के अभिमान में सहज धर्म को भूलती जाती हो। भगवान् को आत्मसमर्पण करने का अर्थ है, प्रेरणा देने की स्थायी शक्ति को पाना। देवि, जो जितना देता है, उतना ही पाता है। जितना भगवान् को दिया जाता है उतना सोना होकर लौटता है। दातृत्व शक्ति का उत्स है सम्पूर्ण रूप से अपने आपको महाग्रहीता भगवच्चरणों में अर्पण कर देना। नाटी माता ने यही कहा होगा। मैंने, मैंना ने, बोधा ने और न जाने कितनों ने तुम्हारी प्रेरणा से तुम्ही को सर्वस्व देने का संकल्प किया है। तुम्हीं भगवत्दर्पण का माध्यम बनी हो। देवि, तुम अपने सहज रूप में आ जाओ। तुम्हीं को आश्रय करके यह विराट् यज्ञ पूरा होनेवाला है। तुम्हारे इस प्रयत्न में ही सच्ची सिद्धि है। मैं तो देवि, निश्चित मानता हूँ कि वह सिद्धि मिलनेवाली है। नाटी माता की बात ठीक से समझो।"

रानी के मुखमण्डल पर सहज तेज की दीप्ति दीखी। उन्होंने हँसने का प्रयत्न किया। बोलीं, "महाराज, मैं आज अपनी दुर्बलताओं को प्रत्यक्ष देख रही हूँ, पर मेरी सबसे बड़ी शक्ति यह जान पड़ती है कि तुमने मुझे छोड़ नहीं दिया है। तुम मुझे जो गौरव दे रहे हो वह आज तक किसी पति ने किसी पत्नी को नहीं दिया होगा। मैं इसके अनुकूल बन सकूँ, यह प्रयत्न करूँगी।" कहकर रानी ने आँखें झुका लीं। फिर एकाएक उन्हें ध्यान आया कि उन्होंने आवेश में आकर मेरे विश्राम में बाधा पहुँचायी है। बड़े प्यार से मुझे लेट जाने का आग्रह करते हुए उन्होंने मुझे पकड़कर लिटा दिया। सहज पत्नी के स्वर में आदेश दिया, "थोड़ा सो जाओ।" और धीरे-धीरे मेरा शरीर दबाने लगीं।

मैंने प्रतिवाद नहीं किया। सेवा पाना भी कभी-कभी परम सन्तोष और आत्म-लाभ का हेतु बनता है। मुझे ऐसा जान पड़ा, रानी के मृदुल स्पर्श से मेरा अन्तरतर परम विश्राम अनुभव कर रहा है। विचारों की झंझा क्रमशः क्षीण

होती गयी। ऐसा जान पड़ा, मन के निभृत पटल पर कोई सुधालेप हो रहा है। यह सेवा है या चिरपिपासित किसी अन्तर्यामी की बहुप्रतीक्षित तृषाशामक वारिधारा है ?

आँख खुली तो सन्ध्या उतर आयी थी। बाहर ग्रामीण स्त्रियों के अतिरिक्त कोई नहीं था। भीतर रानी भी नहीं थीं और नाटी माता का भी कहीं पता नहीं था। मेरी रक्षा के लिए कुछ स्त्रियों को छोड़कर ये सब लोग कहाँ चले गये ? मेरे मन में आशंका घुमड़ने लगी। स्त्रियाँ मुझे देखकर ऐसी लजा जाती थीं कि उनसे कुछ पूछने का साहस ही नहीं हुआ। अलहना तब भी संज्ञाहीन-सा पड़ा हुआ था। स्त्रियों से पूछने के अतिरिक्त और कोई उपाय नहीं था। साहस करके मैंने पूछा तो उन्होंने कुछ बताया अवश्य, परन्तु भाव स्पष्ट नहीं हुआ। केवल इतना ही सुनायी पड़ा कि नाना गोसाईं की ओर गये हैं।

मैंने और कोई उपाय न देखकर नाना गोसाईं के मठ की ओर जाने का निश्चय किया। स्त्रियों ने हाथ जोड़कर कहा कि आप उधर न जायें। मैं कुछ आगा-पीछा कर रहा था, इतने ही में दूर कुछ कोलाहल-सा सुनायी पड़ा। मैं ध्यान से उधर देखने लगा। हो सकता है कि शत्रु फिर अवसर देखकर चढ़े आ रहे हों। मैंने अपनी तलवार ठीक की और प्रतीक्षा करने लगा। भीड़ बहुत भारी जान पड़ी। आज बड़ी विषम परीक्षा का दिन है। आज अकेले ही इस भयंकर शत्रु-सेना से लोहा लेना है। रानी नहीं हैं, मैना नहीं है, बोधा नहीं हैं, अलहना मृतप्राय पड़ा है। ऐसा अवसर कम ही मिलता है। गीदड़ों के झुण्ड में आज सिंह के पराक्रम की परीक्षा है। मैंने कुल-देवता का स्मरण किया। जान पड़ता है कि मैना और बोधा की अशिक्षित वाहिनी शिक्षित जवानों की सेना का मुकाबला नहीं कर सकी है। कौन जाने, रानी, मैना, बोधा, नाटी माता और उनके साहसी सहायक किस अवस्था में हैं ! मैंने स्त्रियों को भीतर चले जाने को कहा। वे राजी नहीं हुईं। उन्होंने जब सुना कि शत्रु-सेना आ रही है तो उनके चेहरे पर भय का चिह्न बिलकुल नहीं आया। उनमें एक प्रकार का विचित्र साहस देखा गया। बोलीं कुछ नहीं, परन्तु कमर कसकर कुटिया के बाहर इस प्रकार खड़ी हो गयीं, जिससे सब ओर का रास्ता बन्द हो गया।

जरा संकोचपूर्वक एक प्रौढ़ा ने कहा, "महाराज, नाटी माता की आज्ञा से हम लोग आपकी सेवा में नियुक्त हैं। शत्रु से सशस्त्र युद्ध में आप निश्चय ही विजयी होंगे, पर नाटी माता की आज्ञा से पहले हमारी परीक्षा होगी। शत्रु हमारे शवों पर पैर रखकर ही इस पवित्र मन्दिर में प्रवेश कर सकते हैं।"

उनकी स्खलित लज्जाजड़ित वाणी में एक अपूर्व ओज था। मैंने उन्हें समझाया, बताया कि मेरा प्रमुख कर्त्तव्य है कि स्त्रियों, बालकों और देव-मन्दिरों की रक्षा करना; उन्हें मेरे कर्त्तव्य-पालन में बाधा नहीं देनी चाहिए। वे कुछ दुविधा में पड़ गयीं। मैंने आदेश के स्वर में कहा, "देर न कीजिए, आप लोग भगवान् की मूर्त्ति की रक्षा के लिए भीतर आ जायें। मैं शत्रु-सेना को देख रहा हूँ।"

मेरे कठोर स्वर का प्रभाव पड़ा। स्त्रियाँ सिमटकर पूजागृह के पास आ गयीं। बेड़ा कटा हुआ था, फाटक टूटा हुआ; कुटिया का आँगन बिलकुल खुला हुआ। भीड़ को देखकर मैं मन-ही-मन प्रतिरोध की योजना बनाने लगा। स्त्रियों में कुछ गुटुर-पुटुर चल रही थी। कदाचित् वे मुझे आगे छोड़ने को प्रस्तुत नहीं थीं। उनकी बातचीत धीरे-धीरे चढ़ाव पर आती गयी। अलहना की नींद खुल गयी। उसे यह भाँपने में देर नहीं लगी कि संकट फिर आ गया है। क्षत-विक्षत शरीर को हिलाने में भी उसे कष्ट हो रहा था। पर ज्योंही उसने देखा कि मैं अकेला हूँ, छलाँग मारकर खड़ा हो गया। बोला, "मैं आया महाराज, फिर शत्रु को चने चबाऊँ।"

अलहना का साहस चकित कर देनेवाला था। एक झटके में वह मेरे आगे आकर खड़ा हो गया। अब भी उसके शरीर से रक्त की धारा का बहना पूरी तरह रुका नहीं था, पर मुझे अकेला देखकर और शत्रु-संख्या की विपुलता का अनुमान कर वह सीधा तनकर खड़ा हो गया। उसका विशाल कुन्त उसके भी आगे खड़ा था। उसने शीघ्रतापूर्वक अपने केश संयत किये, मूँछें मरोड़ीं और भाले की मूठ की परीक्षा की। उसकी दिलेरी उसके रोम-रोम से प्रकट हो रही थी।

कोलाहल क्रमशः निकट आता गया। हम दोनों सन्नद्ध होकर कुटिया के दोनों सिरों पर डट गये। पीछे स्त्रियाँ भी यथाशक्ति प्रतिरोध का प्रयत्न करने के लिए तैयार होकर प्रतीक्षा करने लगीं। हम लोग आनेवाली विपत्ति का सामना करने के लिए पूर्ण सावधान थे। दूर से बड़ी अस्पष्ट जय-ध्वनि सुनायी पड़ी। धीरे-धीरे जय-ध्वनि स्पष्ट होने लगी। अलहना ने हर्ष-गद्गद होकर कहा, "अपने लोग ही जान पड़ते हैं, अन्नदाता!"

जय-ध्वनि और भी स्पष्ट हुई, "जय, महाराजाधिराज सातवाहन की जय! महादेवी रानी चन्द्रलेखा की जय!"

तो सचमुच अपने ही लोग हैं! मैंने अलहना को थोड़ा सावधान बने रहने का आदेश दिया। कहीं धोखा न हो! परन्तु जैसे-जैसे भीड़ निकट आती गयी वैसे-वैसे देखा गया कि सचमुच अपने ही लोग हैं। भीड़ के आगे-आगे बोधा प्रधान और मैनसिंह सातवाहिनी विजय-ध्वजा फहराते प्रसन्न-शान्त भाव से चले आ रहे हैं और पीछे मेरे सैनिकों और ग्रामीण नौजवानों की अशिक्षित किन्तु सुपरि-चालित वाहिनी बढ़ी चली आ रही है। वे लोग नाना प्रकार की आनन्द-ध्वनि कर रहे हैं और रह-रहकर विजयोल्लास में गगनभेदी जय-ध्वनि करते जा रहे हैं। मैनसिंह और बोधा प्रधान को देखकर ऐसा लगा जैसे हृदय में आकस्मिक आह्लाद के सागर का ज्वार आ गया हो। मैनसिंह को कदाचित् मुझे इस प्रकार एकदम सामने देखने की सम्भावना का भान भी नहीं था। मुझे देखते ही सारी सेना ने तुमुल हर्ष-ध्वनि की। मैनसिंह ने आनन्दोल्लास में भाग लिया परन्तु एकाएक विजय-ध्वज को बोधा प्रधान के हाथ में थमाकर एक ओर सटक गया। मुझे एक विचित्र प्रकार की आनन्दानुभूति हुई। ऐसा लगा जैसे हृदय गलकर इस महिमामयी

बालिका के चरणों पर ढरक जाना चाहता है। उसे भागते देखकर मैं धीरे-से हँस पड़ा। मैनसिंह अर्थात् मैना के ललाट पर स्वेद-बिन्दु निकल आये। विवश-कातर दृष्टि को प्रयत्नपूर्वक दूसरी ओर करके शोभा, शालीनता और तेज का वह प्रत्यक्ष विग्रह मेरी आँखों से ओझल हो गया।

बोधा प्रधान ने आगे बढ़कर मेरा अभिवादन किया। संक्षेप में, उन्होंने सूचना दी कि घुण्डकेश्वर और तुर्क सेना पराजित हुई है। विद्याधर मन्त्री आ रहे हैं। बन्दी तुर्क सैनिक उन्हीं के साथ हैं। वे नाना गोसाईं के मठ के पास शिविर डालकर महाराज की प्रतीक्षा करेंगे।

मैंने पूछा कि रानी और नाटी माता कहाँ हैं? बोधा की कौड़ी-जैसी आँखें टँग गयीं। उन्होंने पूछा कि वे क्या यहाँ नहीं हैं? कब से नहीं हैं? मैंने पूजागृह के पास खड़ी स्त्रियों की ओर इंगित करके बताया, 'ये लोग बता सकती हैं।'

बोधा प्रधान उधर गये और तुरन्त लौटकर कहा, "अभी पता लगाता हूँ महाराज!" और उल्टे पाँव लौट गये।

17

विद्याधर मन्त्री और बोधा प्रधान साथ-साथ पहुँचे। उनके साथ मेरे दोनों भतीजे भी थे। दोनों बालक सूखकर कंकालशेष हो गये थे। वे डरे हुए जान पड़ते थे। मुझे देखकर वे रोते हुए चरणों पर लोट गये। मैंने स्नेहपूर्वक उन्हें उठाकर छाती से चिपका लिया। उनके बारे में कुछ अधिक जानने के उद्देश्य से मैंने विद्याधर मन्त्री की ओर मुख किया। विद्याधर मन्त्री ने विशेष कुछ नहीं बताया। वे उद्विग्न से जान पड़ते थे। मैंने अनुमान से समझा कि कुछ बड़ी चिन्ता उनके मन में है।

बहुत संक्षेप में, अन्यमनस्क भाव से उन्होंने जो कुछ बताया उसका सारांश यह था कि दोनों बच्चों को घुण्डकेश्वर के जाल से बचाया जा सका है, पर वृद्ध धीर शर्मा का कोई पता नहीं चल रहा है। गुप्तचरों से पता चला है कि उन्हें गोपाद्रि दुर्ग से कोई दस कोस पूर्व की ओर किसी गुफा में छिपाकर रखा गया है और उन पर अनेक प्रकार की शारीरिक और मानसिक यातनाओं द्वारा अत्याचार किया जा रहा है। किसी मुसलमान फ़क़ीर ने इसका विरोध किया तो उसे भी बाँधकर औंधे मुख वहीं लटका दिया गया है। कहा जा रहा है कि घुण्डकों का एक दल गुफा पर पहरा दे रहा है। बोधा प्रधान को सूचना मिली है कि घुण्डकों की संख्या बहुत अधिक तो नहीं पर गुफा ठीक किस स्थान पर है यह

उनके गुप्तचर नहीं बता पाये हैं। यहाँ से दस कोस की दूरी केवल अनुमान के आधार पर स्थिर की गयी है।

विद्याधर मन्त्री का विजयोल्लास एकदम लुप्त हो गया था। उनका मन बैठ गया था। धीर शर्मा से उनका सहज स्नेह था। उन्हें धीर शर्मा को विषम संकट से बचा लेना केवल राजधर्म ही नहीं, व्यक्तिगत कर्त्तव्य जान पड़ता था। इन बच्चों की विषम यातना की कथा सुनकर वे अत्तन्त विचलित हो गये थे। मेरी शिराओं में भी एक विचित्र प्रकार की सनसनाहट अनुभव होने लगी। मैंने कर्त्तव्य-निश्चय के लिए बोधा प्रधान की ओर दृष्टि फिरायी।

बोधा की कौड़ी जैसी आँखें उसी प्रकार राग-विरागशून्य थीं। वे स्थिर भाव से मन्त्री की ओर बँधी हुई थीं। देखनेवाले को ऐसा लगता था कि बोधा प्रधान अपने-आपमें ही बिलकुल खो गये हैं। परन्तु सच बात यह थी कि इस स्थिर अचंचल दृष्टि का विषय सब-कुछ था। बोधा सचमुच ही सबको देख रहे थे। ज्यों ही मैंने उनकी ओर दृष्टि फिरायी वे मेरी ओर देखने लगे और प्रश्न को मेरी आँखों में पढ़कर उत्तर देते हुए बोले, "चलना चाहिए।"

मुझे ऐसा लगा कि यही तो ठीक उत्तर था, पर मैं जैसे इन दो शब्दों को एकदम भूल ही गया था। चलना चाहिए, अवश्य चलना चाहिए। परन्तु किसे? कहाँ?

बोधा प्रधान उसी प्रकार स्थिर खड़े रहे। उन्होंने मन्त्री की ओर इंगित करते हुए कहा, "तातपाद को विश्राम की आवश्यकता है।" और फिर कुछ और की प्रतीक्षा किये बिना कुटिया की ओर चले गये।

बड़ी कठिनाई से विद्याधर मन्त्री को विश्राम करने के लिए राजी किया जा सका। ऐसा जान पड़ता था कि बोधा प्रधान ने बिलकुल स्थिर कर लिया था कि मुझे और विद्याधर मन्त्री को यहाँ छोड़ जायेंगे। मेरे एकान्त अनुरोध से विद्याधर मन्त्री अनिच्छापूर्वक विश्राम करने गये। अवकाश पाकर मैं बोधा प्रधान को खोजने निकला। कुटिया में उस समय पूरी शान्ति थी। थके-माँदे सैनिकों को दूर हटकर विश्राम करने की आज्ञा दे दी गयी थी। सर्वत्र अनुशासन और सतर्कता दिखायी देती थी। छोटी-सी कुटिया इस समय युद्ध-शिविर के रूप में बदल गयी थी। मगर कुटिया की अधिष्ठात्री देवी कहीं दिखायी नहीं दे रही थी। इस शान्त-मनोरम पूजागृह को युद्ध की शिविर-भूमि बना देना क्या उचित हुआ है? क्या इसी से यहाँ की अधिष्ठात्री देवी रूठकर कहीं चली गयी हैं? अनजान में मैंने कैसा उत्पात कर दिया है? मुझे ऐसा लगा कि कुटिया में मेरा आना उचित नहीं हुआ। क्यों आया? रानी के लिए। कैसे आया? मैना के साथ।

विद्याधर मन्त्री ने किसी दिन रानी को सम्बोधित करके कहा था, "देवि, उठो, इस हतश्री देश को प्रेरण दो। तुम व्यर्थ कुलाभिमान का शरीरधारी प्रतिवाद हो। तुम राजाओं की आदर्श प्रेम-निष्ठा का मधुर फल हो और इतिहास-विधाता का जो-कुछ विधान है, उसकी ओर इंगित करनेवाली अप्रतिम तर्जनी हो।

बेटी, क्या होनेवाला है, कोई नहीं जानता, किन्तु क्या करना है, यह बिलकुल स्पष्ट है। बिजली की तरह कड़को, सुधाधारा की भाँति बरसो और असहाय प्रजा में शक्ति का संचार करो।"

कैसा विचित्र योग है कि जब विद्याधर मन्त्री यहाँ उपस्थित हुए उसी समय विधि-विधान की 'अप्रतिम तर्जनी' यहाँ से न जाने कहाँ चली गयी। आज अवसर था। विद्याधर भट्ट ही रानी को पुरानी प्रतिज्ञा का स्मरण दिला सकते थे। रानी ने प्रतिज्ञा की थी, 'आर्य, ऐसा ही होगा। इस देश में मिथ्या खण्ड-अभिमानों को चूर्ण करने के लिए चन्द्रलेखा वज्र के हथौड़े का काम करेगी और हतदर्प, हीनवीर्य पराजित प्रजा के चित्त में इतिहास की मंगलमयी प्रेरणा देने के लिए अमृत की तरह झरेगी।'

कदाचित् विद्याधर कुछ और समझा रहे थे, रानी कुछ और समझ रही थीं। वाग्देवी हँस रही थीं। इतिहास-विधाता भ्रू-कुंचित करके देख रहे थे। 'कला-काष्ठादि रूपेण परिणामप्रदायिनी' महाकाली ने उस दिन अट्टहास करके इस प्रतिज्ञा का तिरस्कार किया था। कितना-कुछ घट गया! विद्याधर अब भी स्थिर और अविचल हैं। उनके अंग-अंग से वही दृप्त वाणी अब भी मुखरित हो रही है जो उस दिन भावोद्दीप्त मुख से प्रकट हुई थी, 'अस्सी वर्षों के अनेक प्रकार के अनुभवों के भीतर से केवल एक ही बात समझ सका हूँ—शस्त्र-बल से हारना हारना नहीं है, आत्मबल से हारना ही वास्तविक पराजय है। बेटी, सारा-का-सारा देश विदेशियों से आक्रान्त हो जाये, मुझे लेश-मात्र भी चिन्ता नहीं होगी, यदि प्रजा में आत्मविश्वास बना रहे, अपने गौरवमय इतिहास की प्रेरणा जाग्रत रहे।'

परन्तु, परन्तु···

कुटिया के द्वार पर खड़ा-खड़ा मैं इन्हीं विचारों में उलझकर खड़ा हो गया। मैं भूल ही गया था कि बोधा प्रधान को खोजने निकला था। पिछले कई दिनों से मेरे मस्तिष्क की नसें कुछ दुर्बल हो गयी हैं। मूल बात को छोड़कर मैं प्राय: व्यर्थ की शाखा-प्रशाखाओं में उलझ जाता हूँ। मेरा मन कहाँ-से-कहाँ दौड़ता रहता है। कदाचित् अन्तस्तल में बहुत-से भाव-सूत्र उलझ गये हैं। यह उचित नहीं है। मैं अगर इस प्रकार उलझा करूँगा तो ये प्राणों पर खेलनेवाले विश्वस्त सहायक उखड़ जायेंगे।

मैं जब इन्हीं चिन्ताओं में उलझा हुआ था उसी समय भीतर से कुछ बात-चीत सुनायी पड़ी। स्वर में उत्तेजना थी। स्पष्ट ही मैना कुछ कह रही थी, "तुमने इस बार भूल की है बोधा प्रधान! धीर शर्मा की उत्पीड़न-कथा क्या विद्याधर भट्ट और महाराज को सुनानी चाहिए थी? मैना क्या मर गयी थी? तुम्हें अपनी कूट-बुद्धि पर कुछ अतिरिक्त विश्वास हो गया है। तुमने मुझसे पूछा तक नहीं और मन्त्री से सब कह दिया।"

बोधा ने बहुत धीरे से किन्तु दृढ़ता के साथ उत्तर दिया, "ठीक ही किया है। उत्तेजित न हो। तुम चुपचाप विश्राम करो! मैं सब देख लूँगा।"

मैना और उत्तेजित हुई, बोली, "देख लेंगे! बुद्धि मारी गयी है!"

बोधा कुछ भी विचलित नहीं हुए। शान्त भाव से बोले, "ऐसा समझ लो कि मुझसे पूछे बिना रानी के पोथे तुमने महाराज को दे दिये, उसके उत्तर में मैंने तुमसे पूछे बिना यह समाचार मन्त्री को दिया। चलो एक प्रमाद तुमसे हुआ, एक मुझसे हुआ। अब लाभ-हानि बराबर हो गयी। आगे की सोचो।"

अब की बार मैना और भी उत्तेजित हुई, "सब बातें कूटनीतिज्ञों को नहीं बतायी जातीं।"

बोधा को पहली बार मैंने हँसते सुना; बोले, "सब बातें अल्हड़ वीरों से भी नहीं पूछी जातीं।"

मैना को और भी क्रोध आया। बहुत बल देकर और कदाचित् आँखें तरेरकर उसने कहा, "अर्थात् ?"

बोधा ने अविचलित होकर कहा, "अर्थात् जो हुआ सो ठीक हुआ है, आगे की सोचो।"

मैना कुछ बोली नहीं। बोधा की गम्भीरता ने उसे अभिभूत कर दिया। बोधा ने कहा, "नाटी माता और रानी भी उसी ओर गयी हैं, भगवती विष्णुप्रिया के आश्रम के रास्ते में उनके विपद्ग्रस्त होने की भी आशंका है। मैंने अपने आदमियों को उनकी रक्षा के लिए भेज तो दिया है, पर मुझे भी जाना चाहिए। तुम थोड़ा विश्राम कर लो। मैं तुम्हें समाचार देता रहूँगा। विश्राम करो मगर सावधान रहो।"

मैना ने कहा, "मैं थकी कहाँ ? मैं तुम्हारे साथ चलूँगी।"

बोधा ने कहा, "नहीं।" और चुपचाप उठ पड़े।

जान पड़ा कि मैना को इससे सन्तोष नहीं हुआ, पर वह हार अवश्य गयी। उसने कुछ खिसियाने-से स्वर में पूछा, "अल्हड़ वीरों को कितनी देर तक विश्राम करना चाहिए ?"

चलते-चलते उसी शान्त भाव से बोधा बोले, "कम-से-कम पाँच घटी।"

मैं द्वार से कुछ दूर चला गया ताकि बोधा को मेरे उपस्थित रहने की आशंका न हो। बोधा बाहर आये। मुझे कुछ दूर पर टहलते देखकर कदाचित् उन्हें सन्देह हुआ कि मैंने उनकी बातचीत सुन ली है, पर शान्त ही दीखे।

मुझे देखकर उन्होंने विनीत भाव से प्रणाम किया और हाथ जोड़कर कहा, "महाराज, वृद्ध मन्त्री बहुत क्लान्त हैं। उनके मन में धीर शर्मा के लिए व्याकुल वेदना है। अपराध मार्जित हो, उनके विश्राम के लिए आपका यहाँ रहना आवश्यक है। इस बीच मैं धीर शर्मा के बारे में निश्चित समाचार प्राप्त करने का प्रयत्न करूँगा। तब तक मैं चाहता हूँ कि वृद्ध की देख-रेख का भार आप ही स्वीकार करें।"

मैंने प्रसन्नतापूर्वक स्वीकार कर लिया और पूछा, "नाटी माता का क्या समाचार है ?"

बोधा ने कहा, "ठीक ही है। वे रानी के साथ भगवती विष्णुप्रिया के आश्रम की ओर गयी हैं। कदाचित् कर्त्तव्य-द्वन्द्व में उनके परामर्श की उन्हें आवश्यकता है। कुछ चिन्ता न करें। मैं उनकी सुरक्षा की व्यवस्था भी सोच रहा हूँ।"

बोधा ने जब चलने की अनुमति माँगी तो मैंने उनसे पूछा कि वृद्ध मन्त्री ने कहा था कि धीर शर्मा के साथ कोई फकीर भी बाँधकर रखा गया है। वह कौन है?

बोधा ने आकाश की ओर ताकते हुए संक्षेप में उत्तर दिया, "ठीक तो नहीं पता चला, पर नाम उसका सीदी मौला बताया जा रहा है।"

"सीदी मौला?"

"हाँ महाराज, ऐसा ही कुछ नाम बताया जा रहा है।"

सीदी मौला! मेरे मन में आँधी-सी बह गयी। मैंने अनुनयपूर्वक कहा, "प्रधान, मैं सीदी मौला से मिलना चाहूँगा। तुम मुझे भी साथ ले चलो। मैं सीदी मौला से पहले भी मिल चुका हूँ। वह विचित्र फ़कीर है!"

बोधा के चेहरे पर कोई विकार नहीं दिखायी दिया। शान्त भाव से बोले, "दिल्ली में उसे हाथी के पैरों तले कुचलवा देने का आयोजन चल रहा है। सुना है, वह पकड़ में नहीं आ रहा है।"

"मगर पकड़ा तो गया है।"

"घुण्डकेश्वर ने पकड़ा है। उसे आशा है कि सीदी मौला को यदि सुलतान के हाथ सौंप सका तो उसका मान बढ़ जायेगा। परन्तु उसके पहले वह उससे रसायन-विद्या सीख लेना चाहता है। किन्तु अभी ये सारी बातें अस्पष्ट ही हैं। कुछ अधिक छानबीन की आवश्यकता है।"

पाँच घटी के भीतर कुछ समाचार देने का आश्वासन देकर बोधा प्रधान चले गये। मुझे विशेष रूप से वृद्ध मन्त्री की देखरेख का भार दे गये। मैं भी सावधान होकर प्रतीक्षा करने लगा। वृद्ध सचमुच बुरी तरह थक गये थे। ऐसा जान पड़ता था कि बहुत दिन बाद उन्हें विश्राम का अवसर मिला है। वे एक प्रकार से संज्ञाहीन ही हो गये थे।

मैं चुपचाप बाहर बैठ गया। मन में विचारों की झंझा चल रही थी। मैं पिछली घटनाओं का विश्लेषण कर रहा था। हमने अब तक क्या प्राप्त किया? कितना मेरा इसमें व्यक्तिगत है और कितना निःस्वार्थ देश-सेवा का? मुझे ऐसा लगा कि जब समूची प्रजा-शक्ति दीर्घकालीन निद्रा से उद्‌बुद्ध हो रही है, मैं केवल व्यक्तिगत भावावेगों के पीछे दौड़ रहा हूँ। मेरे मन में ग्लानि और निराशा के विकार अंकुरित हुए। मैंने दीर्घ निःश्वास लिया। इसी समय बिजली की चमक के समान अचानक मैना आकर सामने खड़ी हो गयी। वह बहुत उत्तेजित जान पड़ती थी। उसके चेहरे में लाली दमक रही थी। मेरी ओर देखते ही उसकी आँखें झुक गयीं। लेकिन क्षण-भर में उसने अपने को सँभाल लिया। उसने एक झटके से अपना सिर उठाया और फिर सामने से दृष्टि हटाकर एक ओर पार्श्व में फिरायी।

उसके ग्रीवा-भंग में एक अद्‌भुत शोभा थी। वह मेरी ओर ताक नहीं पा रही थी, पर कुछ ऐसी व्याकुल थी कि लज्जा की रस्सी का तोड़ना उसने आवश्यक समझा। सिंहनी की तरह उसने एक-दो बार गर्दन इधर-से-उधर घुमायी और उधर-से-इधर घुमायी। फिर अपनी सारी शक्ति को समेटकर कुछ अतिरिक्त उत्तेजना के साथ कहा :

"क्षमा करें महाराज, ऐसे नहीं चलेगा। वे लोग हमारे ऊपर आक्रमण करते रहें और हम लोग बचाव करते रहें, यह ठीक नहीं है। मुझसे अब यह नहीं सहा जाता। कल आप रानी के लिए व्याकुल थे, आज धीर शर्मा के लिए चिन्तित हैं, कल विद्याधर मन्त्री या बोधा प्रधान के लिए कातर हो उठेंगे। इस प्रकार मोह की छोटी-छोटी गठरियों के ढोने में ही हमारी शक्ति क्षीण हो जायेगी। मैं चाहती हूँ कि आप इन उद्‌बुद्ध अनुचरों को लेकर सीधे दिल्ली पर टूट पड़ें। साहस में सिद्धि बसती है महाराज! आप यदि ऐसा आक्रमण करें तो मेरा विश्वास है कि रानी दीदी के मस्तिष्क का विकार समाप्त हो जायेगा, घुण्डकेश्वर के षड्यन्त्र बालू की भीत की भाँति भहरा जायेंगे, बोधा की कूटबुद्धि चम्बल के बूहों को छोड़कर, बलख और बुखारा की दौड़ लगायेगी और विद्याधर मन्त्री का साहस विश्वविजय का संकल्प करेगा! छोड़ो महाराज, छोड़ो इन छोटी सीमाओं के घरौंदों को! भय नहीं है। अगर इस कार्य में हममें से प्रत्येक को कालदेवता का अतिथि बनना पड़े तब भी कोई चिन्ता नहीं। हमारे रक्त से सनी धरती का प्रत्येक कण, उससे उत्पन्न प्रत्येक दाना भावी पीढ़ियों को साहस और निर्भीकता का सन्देश देगा। यह फूँक-फूँककर पैर बढ़ाने की नीति वीरजनोचित नहीं है। मेरी सहन की सीमा समाप्त हो चुकी है। उठो महाराज, प्रचण्ड आँधी की भाँति बहो।" मैना ने क्रुद्ध सर्पिणी की तरह फुफकारकर कहा, "कायरों और कमीनों को शरण देनेवाले गढ़ पर धक्का मारो!"

मैं एकदम सीधा खड़ा हो गया। यह कैसी उद्‌बोधक वाणी है! यही तो वह सन्देशा है जिसे सुनने के लिए मेरा अन्तरतर व्याकुल था। आज तक किसी ने ऐसी मर्मभेदिनी वाणी क्यों नहीं सुनायी? आज सब साफ हो गया। अब तक मोह और क्षुद्रता की सीमाओं से भटकता रहा। आज पहली बार किसी ने हृदय के अतल गह्वर में विलीन आत्मज्ञान को ऊपर खींच लिया है। मैना ठीक कह रही है। क्या इन छोटी-छोटी, अहंकार और ममता द्वारा चालित, मोह और लोभ द्वारा चालित, क्षुद्र सीमाओं में नहीं फँस गया हूँ? कहाँ समूचे देश को स्तब्धता, अवमानना, भयकातरता और परमुखापेक्षिता से बचाने का महान् सन्देश और कहाँ इन मोह-ममता के व्यक्तिगत चौखटों में छटपटानेवाली स्वार्थ-साधना का प्रयत्न!

मैंने कहा, "ठीक कह रही है मैना। मैं भूला था, भटक गया था, अब और अधिक भटकना महानाश को आमन्त्रित करना है। तुमने मेरे चित्त में संचित सारे कूड़े के जंजाल को एकाएक भस्म कर दिया है। एक बार फिर मैं तुम्हारा कनाउड़ा हुआ।"

मैना जिस तरह आयी थी, उसी तरह झमाक से चली गयी। देर तक उसके रास्ते पर प्रकाश की एक वक्ररेखा खिंची पड़ी रही।

18

विद्याधर भट्ट ने मैना की बातें सुन लीं। वे उठकर बैठ गये। फिर बाहर आकर उन्होंने पूछा कि अभी जो लड़की बात कर रही थी वह कौन है। मैं असमंजस में पड़ गया। मुझे पता था कि मैना विद्याधर मन्त्री से बचती रहती है। उसे कदाचित् सन्देह है कि विद्याधर की तीव्र दृष्टि निश्चय ही पहचान लेगी कि वह बालिका है। यह रहस्य विद्याधर से छिपा नहीं रह सकता। परन्तु उनसे कुछ भी छिपाना मेरे बस की बात नहीं है। मैं उन्हें धोखे में नहीं रख सकता। चतुर वृद्ध के चित्त पर उसके सच्चे रूप की क्या प्रतिक्रिया होगी, यह अनुमान करना भी कठिन है। इसीलिए मैं तुरन्त कुछ उत्तर नहीं दे सका।

विद्याधर मन्त्री को मेरी दुविधा ने और भी उत्सुक बना दिया। बोले, "महाराज, अपूर्व तेजस्विनी बालिका है यह! इसने मेरे मोह पर कसकर आघात किया है। मुझे इसने सोते से जगाया है। जान पड़ता है तुम्हें यह अच्छी तरह जानती है। बताओ, शीघ्र बताओ महाराज! मैं इस तेजोवर्त्तिका से प्रकाश की भिक्षा माँगूँगा। सीधी-सी बात को इसने सीधे पकड़ा है। मैं मोह में पड़ा था।"

मैंने विनीत भाव से उत्तर दिया, "बालिका मेरी परिचित है, बहुत तेजस्विनी और साहसी है। उसने जो बात कही है उससे मेरा मन भी बहुत आन्दोलित है।" मैंने उसकी प्रशंसा ज़रा और बढ़ायी। उद्देश्य था बात को दूसरी ओर मोड़ देना। मैंने कहा, "आर्य, यह लड़की बिल्कुल बिजली की भाँति तेजोरूपा है; वैसी ही चंचल, वैसी ही तीव्रगामिनी। रानी चन्द्रलेखा की यह बहुत ही प्रिय सखी है। अब इसी महाप्राण बालिका की सेवा का फल है कि रानी अब स्वस्थ हो रही हैं।"

विद्याधर ने अधीर भाव से पूछा, "परन्तु कौन है? किस बड़भागी की कन्या है? क्या करती है? यहाँ कैसे आयी?"

मैंने विनीत भाव से उत्तर दिया, "आर्य, सब तो मुझे मालूम नहीं, पर इतना जान सका हूँ कि नाटी माता की पुत्री है।"

विद्याधर के चेहरे पर कुछ व्यस्तता के चिह्न दिखायी पड़े। अन्यमनस्क भाव से, जैसे अपने से ही पूछ रहे हों, कहने लगे, "नाटी माता! विचित्र बात है!" ऐसा जान पड़ा जैसे कुछ विस्मृत घटना एकाएक उनके मस्तिष्क में बिजली की

भाँति कौंध गयी। मेरी ओर तीव्र दृष्टि से देखकर बोले, "नाटी माता कौन है महाराज? तुम कुछ जानते हो?"

विनीत भाव से मैंने उत्तर दिया, "इतना ही जानता हूँ आर्य, कि नाटी माता विग्रहवती भक्ति हैं। उनके दर्शन से चित्त में संचित विकार और वासना निश्चित रूप से नष्ट होने लगती है। इसी पवित्र माता से इस प्रकार की तेजस्विनी, कान्तिमती कन्या का जन्म हो सकता है। प्रदीपशिखा से ही प्रदीपशिखा प्रज्वलित हो सकती है, कामधेनु से ही नन्दिनी का जन्म सम्भव है, अगाध सागर की जलराशि से ही लक्ष्मी की उत्पत्ति उचित है, रसनिर्भर मेघमाला से ही विद्युत-शिखा प्रकट हो सकती है।"

मैंने मैना की स्तुति अनावश्यक रूप से बढ़ा दी थी। मेरा उद्देश्य यह था कि इस प्रशस्ति-धारा में वृद्ध मन्त्री का चित्त इस प्रकार बहा दूँ कि वे मैना का नाम न पूछ सकें। यदि मैं एक बार नाम बता दूँ तो कदाचित् चतुर मन्त्री मैनसिंह के बारे में कुछ सोचने लगें और जो बात मैना ने प्रयत्नपूर्वक छिपा रखी है, वह प्रकट हो जाये। लेकिन वृद्ध मन्त्री की आँखों में कुछ कुतूहल और परेशानी के भाव झलक उठे। कदाचित् उनके मन में मेरी बातों से कुछ सन्देह जाग उठा। वे इस मनोभाव को उचित दिशा में ले जानेवाला नहीं समझ रहे थे। उन्होंने मेरी आँखों में कुछ पढ़ने का प्रयास किया। मैं अकारण लज्जित-सा अनुभव करने लगा। ऐसा जान पड़ा कि वृद्ध मन्त्री को सन्देह हो गया है कि मेरे चित्त में कोई आकर्षण या अनुराग क्रियाशील है। हाय-हाय, मैंने क्या करके क्या कर दिया! परन्तु वे कुछ बोले नहीं। उनकी चेष्टा से प्रकट था कि वे मैना से मिलना चाहते हैं, पर न जाने क्या सोचकर उन्होंने फिर वह बात नहीं उठायी। उनकी आँखें कुछ झुकी और वे मेरी ओर देखे बिना सिर हिला-हिलाकर गुनगुनाने लगे, "बात तो ठीक है। कसकर आघात करने की आवश्यकता है। देश की उद्‌बुद्ध चेतना का भरपूर लाभ उठाना चाहिए।"

मैं बड़े असमंजस में पड़ गया। क्या कुछ और कहना चाहिए या मौन ही सर्वोत्तम उपाय है? मैं इसी असमंजस में पड़ा था कि एकाएक परमात्मा ने सहायता की। हमारे सैनिक कुटिया के चारों ओर बिखरकर आराम कर रहे थे, उनमें कुछ हलचल दिखायी दी। कुछ सैनिक हमारी ओर बढ़े। उन्होंने हम दोनों को प्रणाम किया और फिर वृद्ध मन्त्री विद्याधर की ओर उन्मुख होकर अत्यन्त विनीत भाव से हाथ जोड़कर खड़े हो गये। वे कुछ कहना चाहते थे और आज्ञा की प्रतीक्षा कर रहे थे।

मन्त्री ने उनमें से एक को सम्बोधन करके कहा, "क्यों पुण्डीर, कोई नया समाचार है?"

पुण्डीर ने कुछ आगे बढ़कर हाथ जोड़े हुए निवेदन किया, "आर्य, देर से हम लोग प्रतीक्षा कर रहे हैं। एक अत्यन्त आवश्यक बात निवेदन करनी है, इसीलिए आपके विश्राम में बाधा देने को विवश हुए हैं।"

मन्त्री ने बड़े ही प्यार के स्वर में कहा, "मेरा विश्राम समाप्त हो चुका है पुण्डीर, अब मुझे स्वर्ग में ही विश्राम मिलेगा। तुम निस्संकोच अपनी बात कह डालो। अवहित हूँ।"

पुण्डीर ने अत्यन्त विनीत भाव से निवेदन किया, "आर्य, एक विचित्र गुप्तचर पकड़ा गया है। वह ऐसी बात करता है जिससे सुननेवालों को भ्रम हो कि वह कोई पहुँचा हुआ सिद्ध है, परन्तु उसकी बातचीत से लगता है कि हमारे महाराज के बारे में, हमारी सेना के बारे में, तत्रभवान् धीर शर्मा के विषय में बहुत-सी बातें जानता है। जिस समय पकड़ा गया, उस समय उसने समाधि लगाने का अभिनय किया था। हमारे सैनिकों ने उसे शत्रु का गुप्तचर समझकर बन्दी बना लिया। बड़ी देर तक तो वह कुछ बोलता ही नहीं था। जान पड़ता था वह गूँगा है। सैनिकों ने उससे बहुत छेड़छाड़ की, परन्तु वह गूँगा ही बना रहा। फिर उसे बाँधकर यहाँ तक ले आया गया। उस समय आर्यपाद विश्राम कर रहे थे, इसलिए आपके सामने उपस्थित नहीं किया। देर तक हम लोग उसका रंग-ढंग देखते रहे। फिर एकाएक वह बोलने लगा और ऐसा बोलने लगा कि चुप होने का नाम ही नहीं। क्या विचित्र-विचित्र बातें उसने बतायी हैं! कहता है, मैं कामरूप हो आया हूँ, गौड़ बंगाले का भ्रमण किया है, खुरासान और तुर्किस्तान तक यात्रा की है, ज्वालामुखी के पास तप किया, भोट देश में भूतों के साथ रातें बितायी हैं। और सब कहने के बाद यह भी बताता है कि दिल्ली का प्रत्येक अमीर उसका चेला है। वह घुण्डकेश्वर को भी जानता है और यह भी कह रहा है कि आज धीर शर्मा को पुण्य मुहूर्त्त में देवी की प्रसन्नता के लिए बलि होना पड़ेगा। अपराध क्षमा हो आर्य! वह महाराज के विषय में भी विचित्र-विचित्र बातें कह रहा है। सुनकर क्रोध भी आ रहा है और भय भी हो रहा है।"

सुनकर मेरे हृदय में धक्-से लगा। ये तो सीदी मौला के लक्षण हैं। क्या सीदी मौला घुण्डकेश्वर के बन्दीगृह से निकल भागे हैं? उनके लिए कुछ अचरज की बात तो है नहीं। मैंने सीदी मौला के मुँह से सुना है कि वे कितने ही बादशाहों के बन्दीगृहों को चकमा दे चुके हैं। बीच ही में टोककर मैंने अधीर भाव से कहा, "पुण्डीर, उसका नाम सीदी मौला तो नहीं है?"

पुण्डीर कुछ उत्तर देने जा रहा था कि विद्याधर मन्त्री ने कहा, "महाराज, आपका सीदी मौला से परिचय है?"

मैंने कहा, "हाँ आर्य, सीदी मौला को मैं जानता हूँ। वे विचित्र साधु हैं। अगर यह व्यक्ति सीदी मौला ही हैं तो उनके मिलने से लाभ भी होगा, हानि की कोई सम्भावना नहीं है। सीदी मौला निर्भय हैं। उनका न तो किसी के प्रति राग है, न विराग है।"

विद्याधर भट्ट की आँखें आश्चर्य से टँग गयीं, बोले, "कुछ तो मैंने भी उनके बारे में सुन रखा है।" फिर पुण्डीर की ओर मुँह करके उन्होंने आज्ञा दी, "पुण्डीर, सीदी मौला को यहाँ ले आओ।" और उसके साथी जब वहाँ से चलने लगे तो

मन्त्री ने उनमें से एक को रोक लिया। बोले, "तुम्हारे पास बिछाने की चटाई या दरी हो तो यहाँ लाकर बिछा दो।"

आज्ञा पाकर वह चला गया और एक बड़ी-सी दरी उठा लाया। जब उसने उसे बिछाकर साफ कर दिया तो मन्त्री ने आज्ञा दी कि पुण्डीर से जाकर कहो कि वह बन्दी को भद्रतापूर्वक सम्मान के साथ ले आये।

हम दोनों दरी पर बैठ गये। थोड़ी देर बाद तीन-चार सैनिकों ने कन्धे पर लादकर मृतवत् पड़े हुए सीदी मौला को हमारे सामने लाकर पटक दिया। हम दोनों को आश्चर्य हुआ। सैनिकों ने बताया, "जब हम इस बन्दी को यहाँ ले आने का उपक्रम करने लगे, तो यह कटे रूख की तरह ऐसे गिर गया जैसे मूर्च्छा आ गयी हो। हम लोगों ने इसे कन्धे पर ढोकर ले आने का निश्चय किया, लेकिन अजीब पाजी है। यह निरन्तर भारी होता जा रहा है। दो नौजवान इसे ले आने में एकदम असमर्थ हो गये। दो और लगाये गये। परन्तु जान पड़ता है यह भला आदमी भीतर-ही-भीतर कुछ कर रहा है। देखिए महाराज, लोहे से भी भारी है।"

चारों तगड़े नौजवान बुरी तरह हाँफ रहे थे और पसीने से तर-ब-तर हो गये थे। मैंने ध्यान से देखा तो मुझे कोई सन्देह नहीं रह गया कि ये सीदी मौला ही हैं। यद्यपि इधर दाढ़ी कुछ अधिक बढ़ गयी थी और केश अधिक लटिया गये थे, तो भी चेहरे पर उसी तरह की शान्ति थी जैसी मैंने पहले देखी थी। मुझे सन्देह हुआ कि सैनिकों ने कुछ दुर्वाच्य कहा होगा और सीदी मौला अड़ गये होंगे। जब उन्हें बलपूर्वक खींचा गया होगा तभी उन्होंने यह विचित्र समाधि ली होगी। मुझे ठीक समझ में नहीं आया कि क्या करने से सीदी मौला की समाधि भंग होगी। उनका सारा शरीर फ़ौलाद का बना हुआ-सा लग रहा था। लम्बी-लम्बी पतली उँगलियाँ लौहशलाका की भाँति तन गयी थीं। सारा शरीर कहीं से भी झुकने को तैयार नहीं था।

विद्याधर भट्ट ने आश्चर्य से उनके शरीर को नीचे से ऊपर तक देखा। उन्होंने सीदी मौला के फैले हुए करतल की बड़े ध्यान से परीक्षा की और मेरी ओर आश्चर्य से देखते हुए बोले, "राजन्, महासिद्ध के दर्शन हुए। देखो, दसों उँगलियों में चक्र के कैसे अद्भुत लांछन हैं!" फिर उन्होंने पैरों की ओर दृष्टि की। श्रद्धा के अतिरेक से उनकी आँखों से आँसू निकल आये, बोले, "देखते हो महाराज, पैरों में ये चक्र और अंकुश, मध्यभाग में मत्स्यरेखा और दाहिने पैर में त्रिशूल का लांछन! यह तो विचित्र योग है।"

मैंने सहमतिसूचक सिर हिलाया और निवेदन किया, "आर्य, सीदी मौला सचमुच सिद्ध पुरुष हैं।"

विद्याधर भट्ट ने सीदी मौला के ललाट की भी परीक्षा की। उनकी भाव-भंगिमा से ऐसा लगता था मानो वे स्पर्श करने से डर रहे हों, मानो किसी जलते हुए लौह-पिण्ड को छूने जा रहे हों। हाथ से स्पर्श किये बिना केवल दृष्टि से ही उन्होंने सीदी मौला के पूरे मुखमण्डल की परीक्षा की। फिर देर तक आँख के

अन्तिम कोरों की परीक्षा करते रहे, तब बोले, "अद्भुत है, विचित्र है !" फिर एकाएक जैसे उन्हें कुछ दीख गया और बोले, "कौन कहता है कि सीदी मौला संज्ञाशून्य हैं ! वे सब देख रहे हैं, सब सुन रहे हैं और सब समझ रहे हैं। देखो महाराज, ध्यान से देखो ये चक्षुर्गभा नाड़ियाँ बिल्कुल स्वस्थ हैं।"

मैंने सीदी मौला की आँखों पर हाथ फेरा। प्रथम स्पर्श में पलक भी लोहे के बने हुए-से लगे, परन्तु दूसरे ही क्षण उनमें मृदुलता आ गयी।

आर्य विद्याधर भट्ट ने कहा, "महाराज, आज ग्रहगण प्रसन्न हैं, जो हमें महायोगी के दर्शन हुए हैं।" फिर सैनिकों को उन्होंने आदेश दिया कि तुम लोग अपने-अपने स्थान पर चले जाओ।

सबके चले जाने पर हम दोनों चुपचाप सीदी मौला के चरणों के पास बैठ गये। मैंने कुछ कहने की इच्छा से आर्य विद्याधर भट्ट की ओर देखा। उन्होंने इंगित से कहा, "शान्त रहो।"

थोड़ी देर बाद सीदी मौला के शरीर में शैथिल्य आया। फ़ौलाद की तरह तनी हुई शिराओं में स्पन्दन के लक्षण दिखायी पड़े, पैरों में कम्पन हुआ, तनी हुई भुजाएँ शिथिल हो गयीं और क्षण-भर में सीदी मौला उठकर बैठ गये। उन्होंने आँखें खोलीं। किसी प्रकार की अलस जड़िमा या तन्द्रा का भाव उनमें था ही नहीं।

बोले, "तुम हो महाराज ! तुम्हारे सैनिकों ने मुझे बहुत तंग किया। मैं तो तुमसे मिलना ही चाहता था।" फिर विद्याधर मन्त्री की ओर देखकर बोले, "तुम्हारे मन्त्री विद्याधर भट्ट हैं न ? इनका नाम और यश तो बहुत सुना है, परन्तु प्रत्यक्ष देखने का अवसर आज ही मिला।" फिर विद्याधर भट्ट से बोले, "ज्योतिषी हो न ? भविष्य बताया करते हो ! तुम्हारा मित्र धीर शर्मा आज घुण्डकेश्वर के यज्ञ में बलि दिया जानेवाला है। घुण्डकेश्वर चाहता था कि मैं उसे रसायन विद्या दे दूँ। उस भाग्यहीन को नहीं मालूम कि विद्या माँगने से नहीं मिलती, छीनने से भी नहीं मिलती। विद्या तपस्या चाहती है। वह षड्यन्त्र जानता है। मुझे नित्य धमकाता था कि विद्या दे दो, नहीं तो देवी की वेदी पर बलि चढ़ जाओगे। चढ़ा देता तो बुरा नहीं होता, किन्तु उसमें बड़ी भेदबुद्धि है। मूर्ख यही नहीं समझ पाया कि देवी किसी बाहरी देवता का नाम नहीं है। वह हमारी अन्तरतर की सत्ता का ही नाम है। देवी उतनी ही दूर तक प्रसन्न होती हैं जितनी दूर तक उनके निखिल ब्रह्माण्ड में व्याप्त रूप के साथ हमारे अन्तरतर में विद्यमान सत्ता का सामंजस्य होता है। मन में तो दुनिया-भर की जड़ता का जंजाल है और चाहता है चिन्मयी देवी का प्रसाद ! मैंने कहा, 'तू एक बार मुझे बलि देकर देख ले, देवी तुझ पर कितनी प्रसन्न होती है !' जानते हो महाराज ! एक दिन अचानक उसके अन्तस्तल में स्थित भेदबुद्धि ने उसे धोखा दे दिया। उसने एकाएक आविष्कार किया कि मैं मुसलमान हूँ और धीर शर्मा पवित्र ब्राह्मण हैं, इसलिए बलि केवल धीर शर्मा की ही दी जा सकती है। उसके आदमियों ने मुझे यज्ञभूमि से दूर ले जाकर

पटक दिया। मैंने भी श्वास साध लिया। घुण्डकेश्वर को सन्देह हुआ कि मैं मर गया, इसलिए उसने यज्ञक्रिया में बाधक अशुभ लक्षण समझ अपने आदमियों को आज्ञा दी कि इसे बहुत दूर फेंक आओ। मैं पहाड़ की खोह में फेंक दिया गया। फिर मैं वहाँ से किसी प्रकार बाहर निकला। मुझे क्या पता था कि तुम यहीं हो। लेकिन जान पड़ता है, देवी घुण्डकेश्वर से प्रसन्न नहीं हुई हैं। जान पड़ता है वह धीर शर्मा की बलि नहीं दे सकेगा और उसका आडम्बरपूर्वक रचा हुआ मारणयज्ञ व्यर्थ सिद्ध होगा।" फिर एकाएक ठठाकर हँसते हुए सीदी मौला ने कहा, "मूर्ख, अभिचार के द्वारा सिद्धि प्राप्त करना चाहता है!"

विद्याधर भट्ट के मुख पर एक ही साथ अनेक भाव आये और गये। स्पष्ट ही वे इस समाचार से उद्विग्न हो गये। परन्तु सीदी मौला इस प्रकार बता रहे थे जैसे बच्चों के किसी खेल की बात कह रहे हों। बोले, "मूर्ख, मुसलमानों को बलि देने से हिचकता है और खुद मुसलमानों की बलि चढ़ गया है, इसका उसे पता ही नहीं। दिल्ली का सुलतान उसे कभी क्षमा नहीं करेगा। सुलतान तो मुझे हाथी के पैरों से कुचलवाकर मरवा देना चाहता था, किन्तु इस मूर्ख ने गिड़गिड़ाकर प्रार्थना की कि जब तक उसे मुझसे सिद्धि नहीं प्राप्त हो जाती तब तक मुझे जीने दिया जाये। और फिर मुझे तुर्क सैनिकों की सहायता से बाँधकर इधर ले आया। यह जो पर्वत का पिछला ढलाव है न महाराज, उसी में एक औंधी-सी गुफा है। ऊपर से वह बड़े कड़ाह जैसी लगती है, लेकिन उसके भीतर नीचे की ओर अनेक छोटी-छोटी कोठरियाँ हैं जिनमें किसी पुराने जमाने में साधु लोग रहा करते होंगे। मूर्ख घुण्डकेश्वर को पता नहीं था कि मैं इस गुफा में कुछ दिन बिता चुका हूँ। मुझे उसके चप्पे-चप्पे का ज्ञान है। मैं रास्ता भी जानता हूँ।"

फिर सीदी मौला ने एकाएक विद्याधर भट्ट की ओर दृष्टि उठायी। बोले, "क्या सोचते हो भट्ट? मित्र को बचाने जाओगे? या देश को बचाओगे? तुर्क सैनिकों ने मुझे बताया कि बहुत बड़ी तुर्क सेना इस बार उज्जयिनी को ग्रास करने जा रही है। चम्बल का भरोसा इस बार छोड़ दो। इस बार तुम्हारी रण-नीति की प्रत्यक्ष परीक्षा है। जिस समय तुम धीर शर्मा को बचाने के लिए यज्ञ-मण्डप तक पहुँचोगे, तब तक कौन जानता है कि उज्जयिनी में ईंट-से-ईंट नहीं बज उठेगी! एक तरफ धीर शर्मा को बचाना है, दूसरी तरफ देश को बचाना है। किधर जाओगे?"

विद्याधर भट्ट स्थिर, निस्पन्द पड़े रहे। ऐसा जान पड़ा कि क्षण-भर के लिए उनकी बुद्धि व्याकुल हो गयी। वे एकाएक घबराकर खड़े हो गये।

सीदी मौला ठठाकर हँस पड़े, बोले, "तुम्हारी इसी विकल बुद्धि ने तो जयित्रचन्द्र का सर्वनाश कर दिया। तुमने ठीक समय पर ठीक सलाह नहीं दी। देखता हूँ अब सातवाहन को भी ले डूबोगे।"

इतने दृढ़निश्चयी विद्याधर भट्ट क्षण-भर में काले पड़ गये। ऐसा जान पड़ा कि धैर्य नामक वस्तु उनमें है ही नहीं। उनके हाथ-पैर बुरी तरह काँपने लगे।

हाथ जोड़कर बोले, "योगिराज, कुछ उपाय बताओ।"

सीदी मौला और भी ज़ोर से हँसे, "उपाय! किस बात का उपाय? यही तो मैं पूछ रहा हूँ। पहले तुम्हारी इच्छा तो मालूम हो। धीर शर्मा के बचाने का उपाय पूछते हो या देश की रक्षा का?"

विद्याधर भट्ट उसी प्रकार काँपते हुए खड़े रहे, कुछ बोल ही नहीं सके। सीदी मौला की निर्भयता और निष्ठुरता मुझे अच्छी नहीं लगी।

मैंने कहा, "योगिराज, आप विद्याधर भट्ट को ठीक से नहीं जानते, इसीलिए ऐसी बातें कर रहे हैं। आपसे कम शक्ति-सम्पन्न किसी व्यक्ति ने अगर यह बात कही होती तो वह भट्ट के एक कुटिल दृष्टिपात से भहरा गया होता। आप कुछ ऐसी बात बताइए जो हमारे संकल्प-बल को दृढ़ करे। हमारे सैनिकों ने आपको शत्रु का गुप्तचर समझकर पकड़ा था। आप जिस प्रकार महामन्त्री के मन में द्विविधा और असमंजस का भाव पैदा कर रहे हैं, उससे तो लगता है उन्होंने आपको ठीक ही समझा था। आपको ऐसी बातें नहीं कहनी चाहिए थीं।"

सीदी मौला को जैसे कोई और ही रस मिला हो। हँसते हुए बोले, "कौन शत्रु है और कौन मित्र है, इसका निर्णय तो महाकाल देवता के दरबार में होगा। मैं तो इसी बात की परीक्षा कर रहा हूँ कि तुम लोग अपने को कहाँ तक समझ सके हो।" फिर विद्याधर भट्ट की ओर उन्मुख होकर उन्होंने कहा, "भट्ट, तुम कूटनीति के बल पर देश की रक्षा करना चाहते हो। तुम भूल ही गये हो कि महाराज सातवाहन की सिद्धि किसी और बात में है।"

विद्याधर भट्ट उसी प्रकार विवर्ण, श्रीहीन, हतवाक्!

सीदी मौला ने और भी क्रूर उपहास किया, बोले, "धीर शर्मा मूर्ख है, किन्तु डरपोक नहीं है। वे लोग उसे पीटते हैं तो श्लोक बोलने लगता है, घसीटते हैं तब भी श्लोक बोलता है, बाँधते हैं तब भी श्लोक बोलता है। चुप क्यों नहीं रहते बाबा? लेकिन वह तो अजब पोंगा है; श्लोक अगर दस शब्द का बोलेगा तो उसका अर्थ करेगा पचास शब्दों में। जीभ उसकी सपासप चलती रहती है; बमभोला है। सोचता होगा, सपासप जीभ का कोड़ा चलाकर प्रतिपक्षी को मार गिरायेगा। कौन मारता है, कौन गिराता है! मेरी रक्षा तो उसने कर दी। जब घुण्डकेश्वर को पता चला कि मैं मर गया हूँ तो वह थोड़ा विचलित हुआ। कदाचित् वह सुलतान से डर रहा था। मुझे तो लौटाना था। सुलतान जब तक मुझे हाथी के पैरों से नहीं कुचलवा देगा, तब तक उसे मारण-रस का पूरा स्वाद नहीं मिलेगा। किन्तु उस मूर्ख पण्डित को उसी मौक़े पर श्लोक याद आ गया। बिना दाँत के पोपले मुँह से उसकी जीभ निर्बाध भाव से घूमने लगी। सपासप श्लोक बोलकर उसने व्याख्या शुरू की। बलिदान के पहले मृत्यु हो जाने से कितना अनर्थ होता है, यह उसने खोल-खोलकर समझाया। उसने तो यह भी कह दिया कि यजमान ही मर जाता है। घुण्डकेश्वर मारने से जितना ही सुख पाता है, मरने से उतना ही डरता है। धीर शर्मा के श्लोकों ने मुझे तो बचा ही लिया। यहाँ से सीधे पूर्व की

ओर वन्यबदरियों के घने जंगल से जो रास्ता निकलता है, वह एकदम गुफा के द्वार पर पहुँचता है। उस द्वार के दाहिनी ओर बड़ा भारी खड्ड है; पचास हाथ से कम गहरा नहीं है। वहीं मुझे पटका गया। पता नहीं धीर शर्मा पर क्या बीती? बीते कुछ भी वह श्लोक बोल रहा होगा।"

विद्याधर भट्ट स्तब्ध, निस्पन्द!

सीदी मौला कुछ पिघले। इस शुष्क काष्ठ में भी दया-माया है। बोले, "तुम क्या सोच रहे हो भट्ट? इतना विचलित होना क्या तुम्हें शोभा देता है? तुम काल से लड़ रहे हो। काल से लड़नेवाले को कठोर होना चाहिए। तुम तो भहरा गये। मुझे शत्रु का गुप्तचर मान लेते तो तुम इतना अभिभूत न होते। मैं शत्रु का काम ही तो कर रहा हूँ, पर विचारकर देखो, मैं क्या सत्य नहीं कह रहा हूँ? मैं भविष्य देखता हूँ, पर तुम्हारे समान ग्रहों और लक्षणों को मिलाकर नहीं। मैं स्पष्ट देख रहा हूँ कि आर्यावर्त्त नाश के कगार पर खड़ा है; भेदबुद्धि से जर्जर, स्वार्थ और लिप्सा से अन्धा, ग्रह-ग्रहीत भारतवर्ष महानाश की ओर बढ़ रहा है। सहज भाव यहाँ है ही नहीं। तुम कूट-युद्ध से विजय पाना चाहते हो। मृगमरीचिका है यह। इस देश को वह बचायेगा जिसके पास सहज जीवन का कवच होगा, सत्य की तलवार होगी, धैर्य का रथ होगा, साहस की ढाल होगी, मैत्री का पाश होगा, धर्म का नेतृत्व होगा। तुम्हारे पास यह सब नहीं है। तुममें सीधी बात को सीधे ढंग से ग्रहण करने की शक्ति नहीं है। तुम रानी की निष्ठा और राजा के सहज भाव का लाभ नहीं उठा सकते। मगर तुम चाहो तो धीर शर्मा को बचा सकते हो, चाहो तो स्वयं अपना बलिदान करके इतिहास में कुछ चिनगारी छोड़ जा सकते हो। तुममें शक्ति है, पर उसे तुम जानते ही नहीं।"

विद्याधर स्थिर, अचंचल!

इसी समय बिजली की भाँति मैनसिंह आकर खप-से प्रकट हुआ। आगुल्फ-लम्बित कंचुक, कसा हुआ कटित्राण, गुलाबी पाग, कन्धे पर टिका हुआ विशाल कुन्त, वक्षस्थल पर चिपका हुआ कठोर कवच, कमर में झूलती हुई कोशबद्ध तलवार, पीठ पर झूलता हुआ ढाल। जान पड़ा जैसे घने मोहान्धकार को ध्वस्त करने के लिए अग्निशिखा ने वीर वेश धारण किया हो, अचंचल विद्युत्-किरणों ने मेघमाला का कंचुक धारण किया हो, आर्यभूमि की विजय-लालसा ने सैनिक विग्रह ग्रहण किया हो। अहा, कैसा कमनीय मुख है! उसकी आँखों से स्फुलिंग झड़ रहे थे।

आते ही उसने तीव्र भर्त्सना के साथ विद्याधर भट्ट को सम्बोधित करते हुए कहा, "उठो आर्य, धीर शर्मा की रक्षा करने का भार मुझ पर छोड़ो। इन बकवादी निठल्ले सिद्धों के चक्कर में मत पड़ो। ये बिगाड़ना जानते हैं, सँवारना नहीं जानते। जगत्-प्रवाह से विच्छिन्न होकर व्यक्तिगत साधना के कंचुक से निरन्तर संकुचित होते रहनेवाले इन सिद्धों ने सत्य को खण्डित किया है। ये क्या जानते हैं कि देश-रक्षा का अर्थ है व्यक्ति का बलिदान। हम मरणव्रत में दीक्षित हैं,

हम निठल्ले साधकों की आत्मवंचनावली दुनिया के जीव नहीं हैं। हम अपने को प्रतिक्षण, तिल-तिल करके आहुति देनेवाले गृहस्थ हैं। ये सिद्ध इस वीरसाधना को नहीं समझ सकते।"

फिर मेरी ओर मुँह करके मैनसिंह ने कहा, "महाराज, मेरा धैर्य समाप्त हो गया है। उठो, आँधी की तरह बहो, बिजली की तरह कड़को, मेघ की तरह बरसो। लाखों सेवक तुम्हारी आज्ञा की बाट जोह रहे हैं। देश की रक्षा होगी, होकर रहेगी—आज नहीं तो कल, कल नहीं तो परसों। हम क्यों चिन्तित हों? हमें अपनी पसलियों को जलाकर प्रकाश-शिखा को जला देना है। जलने दो, जलने दो इस प्रदीप-शिखा को। गृहस्थ का बलिदान एक पीढ़ी के लिए नहीं होता। आनेवाली पीढ़ियाँ प्रकाश पा जायें, इतना बहुत है।"

मैनसिंह इतना कहकर भीतर जाने को उद्यत हुआ। सीदी मौला एकदम लड़खड़ा गये। पहली बार उनकी फक्कड़ाना मस्ती पर अप्रत्याशित दिशा से धक्का लगा था। विद्याधर भट्ट जैसे नवजीवन पाकर एकदम उल्लसित हो उठे। चिल्लाकर बोले, "रुक जा मैनसिंह, मैं तुझे बहुत दिनों से खोज रहा हूँ, तू मेरी नसों में प्राण-संचार कर रहा है, तू मेरे चित्त में बिजली दौड़ा रहा है, तू मेरे मृत शरीर में प्राण ढाल रहा है। मैनसिंह, तू कौन है? मैनसिंह, बेटा मैनसिंह, रुक जा।"

मैन सिंह रुका नहीं। वह एक ओर चला ही गया। सीदी मौला की दशा विचित्र थी। ऐसा जान पड़ा कि प्रथम मेघ-गर्जन सुनकर व्याकुल सिंहकिशोर चकित भाव से देख रहा हो कि लड़ा किससे जाये,चुनौती कौन दे रहा है? उनकी कौड़ी-जैसी आँखें जो फैलीं सो फैली ही रह गयीं। विद्याधर भट्ट के मुख पर आनन्द की तरंग-रेखा खिची और स्थिर होकर अड़ गयी। मेरी नाड़ी में आँधी का आलोड़न अनुभूत हुआ। ऐसा जान पड़ा, युग-युगान्तर के पितृ-पितामहों का तेज नस-नस में मथित हो रहा है। मेरी भुजाओं में बार-बार स्पन्दन होता रहा।

सीदी मौला चुप! विद्याधर भट्ट चंचल!

19

सीदी मौला चले गये। उस दिन वे हारे हुए जुआरी-से लग रहे थे। उनकी दुर्भेद्य फक्कड़ाना मस्ती में पहली बार फटान की लकीर दिखायी पड़ी थी। ऐसा जान पड़ता था कि उनकी दुर्वार वाग्धारा भयंकर मरुभूमि में आकर एकाएक रुद्ध हो

गयी। वे जो चुप हुए सो मानो मूक ही हो गये।

विद्याधर भट्ट में चेतना का ज्वार आ गया। रह-रहकर उनकी भुजाएँ फड़क उठतीं। ऐसा जान पड़ता था कि किसी ने अद्भुत संजीवन रस उनकी शिराओं में उँडेल दिया है। मेरी ओर दृष्टिपात करने का समय उन्हें नहीं मिला। उन्होंने तुरन्त पुण्डीर को बुलाया और सैनिकों की व्यूह-रचना के विषय में परामर्श किया। लगभग एक घटी तक दोनों में गम्भीरतापूर्वक विचार-विमर्श चला। पुण्डीर ने विश्वास के साथ उनकी योजनाओं का समर्थन किया।

इसी समय अलहना बघेला अपने क्षत-विक्षत शरीर को घसीटता हुआ सामने आकर खड़ा हो गया। हाथ जोड़कर प्रणाम करता हुआ वह बोला, "अपराध छिमा हो अन्नदाता, मैनसिंह अकेला ही पीछे की ओर पहाड़ी पर चला गया है। जाते समय कह गया है कि धीर शर्मा को छुड़ाने जा रहा है। बिजली की गति से वह पहाड़ी पर चढ़ता जा रहा है। मैंने महाराज की आज्ञा लेकर साथ चलने का आग्रह किया, पर उसने सुना नहीं, चला ही गया। किधर धँस गया, कुछ पता नहीं चला। मुझे लगता है कि उसे अकेला नहीं छोड़ना चाहिए। आज्ञा हो तो मैं उसका अनुसरण करूँ।"

विद्याधर ने सुना तो उन्मत्त की भाँति चिल्ला उठे, "क्या कहा? चला गया? मैनसिंह अकेला चला गया? भुक्खड़ गिद्धों की भीड़ में अकेला सिंहकिशोर धँस गया? मेरी धमनियों में जीवनी शक्ति संचारित करनेवाला दुधमुँहा बालक अकेला चला गया?"

फिर पुण्डीर की ओर मुख करके बोले, "पुण्डीर, अकेला बालक शत्रुशिबिर में धँसा जा रहा है। अभी रण-डंका बजाओ। सोचने-विचारने का समय अब नहीं रहा। टूट पड़ो सारी शक्ति लगाकर इन उद्दण्ड धूर्त शृगालों के यूथ पर। अगर मैनसिंह पर थोड़ी भी आँच आयी तो इस देश की विजय-लालसा ही समाप्त हो जायेगी। पीढ़ियों तक भावी सन्तानें राजपुत्रों की इस गर्वीली सेना को धिक्कारेंगी। तुरन्त रण-डंका बजाओ। एक क्षण की भी देर हुई तो अनर्थ हो जायेगा।"

पुण्डीर ने गर्वपूर्वक सिर झुकाया, "निश्चिन्त रहें आर्य, यमराज की समूची सेना भी इस बालक का बाल बाँका नहीं कर सकेगी। आश्वस्त हों आर्य, पुण्डीर की तलवार पर भरोसा रखें।" इतना कहकर पुण्डीर ने अपनी तलवार निकाल ली और उल्लासपूर्वक उसे आकाश में घुमाया। तेज की एक रेखा वक्रभाव से महाशून्य में वलयित हो गयी।

रण-डंका पर चोट पड़ी। सहस्र वीरों की उल्लास-ध्वनि ने उसे दीर्घायित किया। जयघोष से आकाश गूँज उठा। एक छोटी-सी टुकड़ी को कुटिया के पास रहने का और शेष सेना को तीव्र गति से सीदी मौला के बताये हुए मार्ग से गन्तव्य स्थान तक पहुँचने का आदेश दिया गया। मुझे नाना गोसाईं के मठ पर सतर्क दृष्टि रखने का आदेश हुआ। मेरे साथ थोड़े-से चुने हुए जवान कर दिये गये।

रण-डंका बजते ही अलहना सीधा तनकर खड़ा हो गया और मेरी टुकड़ी के

साथ चलने का आग्रह करने लगा। मैंने उसे बहुत समझाने का प्रयत्न किया पर उसका आग्रह ही अन्त में विजयी सिद्ध हुआ। उसने मूँछें इस बुरी तरह उमेठीं मानो शत्रु ही चुटकी में आ गया हो। रण-डंका की प्रत्येक चोट ने उसके क्षत-विक्षत शरीर में संजीवन औषध का काम किया। पगड़ी बाँधकर, कमर कसकर, उसने अपने विशाल कुन्त को कन्धे पर रखा। फिर कुछ सोचकर उसने अपने भाले को नीचे से ऊपर तक देखा और उसके फलक को आकाश की ओर उछालकर फिर उसे धरती पर टिकाया। एक बार फिर उसने कन्धा झाड़ा और उसे नीचे से ऊपर तक देखा। ऐसा जान पड़ता था कि वीर रस ही निद्रा से जागकर खड़ा हो गया है। कहीं उसमें थकान का चिह्न नहीं था। सैनिकों ने जयघोष किया और फिर चुपचाप पंक्तिबद्ध होकर पहाड़ी पर चढ़ने लगे। वृद्ध विद्याधर सबसे पीछे थे।

उस समय पहाड़ी पर सन्ध्या उतर आयी थी। सारी वनभूमि सूर्यदेवता की लाल किरणों से स्नान कर रही थी। आकाश में यत्र-तत्र लाल-लाल मेघ खण्ड इस प्रकार विराज रहे थे जैसे विकट युद्ध के बाद रक्तारक्त कलेवर सैनिक विश्राम कर रहे हों। पक्षियों का दल आश्रय-वृक्षों की ओर दौड़ चला था। काकों की एक बड़ी-सी सेना काँव-काँव करती हुई सैनिकों के मार्ग पर मँडराने लगी। जिस समय सारी सेना हमारी आँखों से ओझल हुई, उसी समय थके हुए सूर्य का जरठ रथ-चक्र पश्चिम पयोनिधि में जा डूबा। अन्धकार बढ़ने लगा। आकाश में तारक-पुंज दिखायी देने लगा। मेरे मन में एक प्रकार की आशंका का धूम छा गया। बाहर तो अन्धकार था ही, भीतर उससे भी घना अन्धकार छा गया। क्या होनेवाला है? मैनसिंह ने बड़ी उतावली की। उसने सोचने का अवसर ही नहीं दिया।

मैंने दीर्घ निःश्वासपूर्वक सिर हिलाकर कहा, "अलहना, वीर मैनसिंह दुष्टों के शिविर में अकेला चला गया है।"

अलहना ने विश्वासपूर्वक सिर हिलाकर कहा, "कुछ चिन्ता नहीं महाराज, मैनसिंह चतुर है, वह जीतकर लौटेगा। मन्त्री उसके लिए व्यर्थ चिन्तित हैं। जानते हो महाराज, मैनसिंह अकेला एक सहस्र के बराबर है। मैं कहूँ महाराज, वह जीत-कर लौट रहा होगा। वह देर तक महाराज को अकेला नहीं छोड़ सकता। आप जानते नहीं महाराज, वह सदा छिपकर आपके साथ हो लिया करता है। भयंकर युद्ध की उपेक्षा करके वह अपने प्राणों का पण लगाकर महाराज की सेवा करता रहा है। थकना तो वह जानता ही नहीं। विद्या साधे है। चलता है तो ऐसा लगता है कि उड़ रहा है। विचित्र पाजी है। मुझसे ईर्ष्या करता है। कहता है, 'तू महाराज की सेवा का भार मुझे क्यों नहीं दे देता?' मैं उसे नेटुए का लौण्डा समझकर सदा डाँटता रहा। मगर सच कहूँ अन्नदाता, सेवा करने की उसकी लगन बहुत सच्ची है। नेटुए का लड़का तो वह नहीं जान पड़ता अन्नदाता, पर जादू जानता है। एक बार महाराज बहुत थककर सो गये थे—एक झाड़ी की छाया में। एक काला साँप झाड़ी में दिखायी पड़ा। मेरी तो बुद्धि ही मारी गयी। मैं महाराज को जगाने जा रहा था कि न जाने कहाँ से वह आ टपका। उसने इशारे से मुझे चुप रहने को

कहा और धीरे से आपके सिरहाने पहुँचकर खप-से साँप की गर्दन पकड़ ली। पता नहीं उसने क्या किया, साँप लाचार होकर उसके हाथों में झूल गया। फिर उसे दूर ले जाकर वह छोड़ आया। महाराज को यह बात न बताने को वह कह गया। एक दिन पूछा कि तू साँप कैसे पकड़ लेता है, तो बोला, 'मन्तर जानता हूँ।' सच-मुच वह मन्तर जाने धर्मावतार!"

फिर अलहना सहज भाव से बोला, "बसीकरन भी जानता है महाराज! मुझसे कह देता है 'चुप रहो,' तो मेरे मुँह से बात ही नहीं निकलती। नित्य मुझसे लड़ता है, चिढ़ाता है, बकवास करता है। नित्य उससे न बोलने की प्रतिज्ञा करता हूँ, लेकिन जब सामने आता है तो प्यार उफनने लगता है। लगता है उसके लिए प्राण भी दे सकता हूँ। फिर जो चाहता है, मनवा लेता है। कितनी बार मुझे हटाकर आपके पैर दबा चुका है। आपको पता भी नहीं। जब आप सो जाते हैं तो उसे सेवा की सूझती है। प्रत्येक वार यह कह देता है कि अगर महाराज से यह बात कहोगे तो तुमसे बोलचाल बन्द हो जायेगी।"

अलहना को पहली बार मैनसिंह के बारे में इतना मुखर देखा। परन्तु हृदय में विचित्र आलोड़न होने लगा। यह सब क्या सुन रहा हूँ?

मेरे मुँह से बिना सोचे-समझे निकल गया, "मैनसिंह चोर है।"

अलहना को ऐसा सुनने की आशा नहीं थी। बोला, "नहीं अन्नदाता, मैनसिंह सच्चा सेवक है। चोरी से सेवा करना क्या पाप है अन्नदाता?"

मानो मैं अपने आपसे बोल उठा, "नहीं, सेवा करना हर स्थिति में श्लाघ्य है।" परन्तु भीतर से अन्तर्यामी ने प्रश्न किया—'और सेवा लेना?' क्या उत्तर दूँ?

हमारे सैनिक जब पर्वत-मार्ग पर बहुत दूर निकल गये तो मैं भी अपनी टुकड़ी के साथ नाना गोसाईं के मठ की ओर बढ़ा। अलहना को लेकर कुल ग्यारह जवान मेरे साथ थे। मठ के चारों ओर तितर-बितर होकर ये लोग खड़े हो गये। मुख्य मार्ग के पास छिपकर मैं खड़ा हो गया। थोड़ी दूर पर अलहना भी छिपकर खड़ा हो गया। विद्याधर भट्ट ने आदेश दिया था कि मठ में रक्तपात न हो। हम लोग केवल यह देखते रहें कि कौन आता-जाता है।

आज कुछ होकर ही रहेगा। बिकट समय है। नाटी माता और रानी का पता ही नहीं है, मैनसिंह अकेला चला गया है, धीर शर्मा बलि होने जा रहे हैं, वृद्ध विद्याधर युद्ध करने गये हैं। क्या घटनेवाला है?

नाना गोसाईं का मठ कभी राजभवन रहा होगा। अब वह जीर्ण हो गया है, पर प्रताप का चिह्न उसमें अब भी है। पत्रों के झड़ जाने पर भी अश्वत्थ में जैसे एक प्रताप-भाव विद्यमान रहता है, ठीक उसी प्रकार। मठ जीर्ण ही नहीं हो गया था, मनुष्य के असावधान हाथों का आखेट भी हो चुका था। साधुओं ने कई स्थानों पर तोड़कर बाहर जाने का मार्ग बना लिया था। मुख्य द्वार बन्द रहता था, किन्तु इधर-उधर के नवोद्घाटित मार्ग सदा चालू रहते थे। इस समय घना अन्धकार

चारों ओर व्याप्त था। मठ में किसी प्रकार की आहट नहीं सुनायी दे रही थी। या तो साधु लोग मौन तपश्चर्या में लीन थे या सो गये थे। सर्वत्र शान्ति थी। एक पहर रात बीत गयी। किसी के आने-जाने की आहट नहीं सुनायी पड़ी। मैं पूरा सावधान था।

ज्यों-ज्यों आधी रात निकट आती जाती थी, त्यों-त्यों मेरा मन धीर शर्मा की चिन्ता से कातर होता जा रहा था। धीरे-धीरे आधी रात भी बीत गयी। अष्टमी की तिथि थी। पूर्वी आकाश चन्द्रमा की क्षीणकाया के उदय होने की सूचना देने लगा। यह वही दिशा थी जिधर कटाह-गुहा थी। आकाश का वह भाग लाल हो उठा। मन में धक्-से लगा। ऐसा जान पड़ा, इस समय जो रक्त की होली वहाँ खेली जा रही है, उसकी छिटकी बूँदों ने पूर्वी आकाश को भी रक्त से पिच्छिल बना दिया है। धीरे-धीरे रक्तस्नात चन्द्र-मण्डल का अधकटा बिम्ब ऊपर उठा। एक क्षण में वह कूदकर ऊपर आ गया और फिर धीरे-धीरे उसकी लालिमा कम होने लगी। नाना गोसाईं का मठ चन्द्रमा की दुग्ध-धवल धारा में स्नान करने लगा। मैं मुग्ध भाव से इस मनोरम स्निग्ध आलोक का रस ले रहा था। इसी समय मेरे पैरों में किसी के हाथ के स्पर्श की अनुभूति हुई। मैंने नीचे दृष्टि की। जान पड़ा कोई मनुष्य रेंगता हुआ मेरे पैरों के पास आ गया है। मैं आश्चर्य से क्षण-भर के लिए जड़ीभूत हो गया। फिर एकाएक मेरा हाथ तलवार की मूठ पर चला गया। मैंने तलवार खींच ली। रेंगनेवाला मनुष्य पैरों के पास उसी प्रकार पड़ा रहा। उसने धीरे-से कहा, "बोधा हूँ महाराज, शान्त रहें।"

झुककर देखा बोधा ही तो हैं।

मेरे आश्चर्य का ठिकाना न रहा। बोधा यहाँ कैसे ?

बोधा धीरे-से उठकर खड़े हो गये। बोले, "महाराज, यहाँ कोई चिन्ता की बात नहीं है। अभी हमारे तीन-चार आदमी नाना गोसाईं को कारागृह से छुड़ाकर ले जायेंगे। आप बाधा न दें। आपके सैनिकों को भी यह आदेश मिल जाना चाहिए। मैं बड़ी देर से आपको यहाँ देख रहा हूँ, पर आवश्यक कार्य में लगा था, इसलिए आ नहीं सका। मठ इस समय जनशून्य-सा ही है। घुण्डक लोग अब तक यमराज के पास पहुँच गये होंगे और बाकी संन्यासी अन्यत्र चले गये हैं। नाना गोसाईं को हम लोग अभी भगवती विष्णुप्रिया के आश्रम में ले जा रहे हैं। वहाँ से कोई और व्यवस्था की जायेगी। आप भी चलना चाहें तो चुपचाप इनके पीछे हो लें। शेष लोगों को यहाँ रहने दें। हो सकता है कि बचे हुए घुण्डक यहाँ आयें। उन्हें बन्दी बना लेने का आदेश दे दिया जाये लेकिन सब-कुछ चुपचाप हो।"

बोधा बहुत धीरे-धीरे फिसफिसाकर बोल रहे थे। अलहना को आहट मिल गयी। सावधानी से भाला सँभाले वह पास पहुँच गया। वह बिलकुल निःशब्द चला आ रहा था। मुझे भान भी नहीं हुआ, पर बोधा की सावधान दृष्टि ने ताड़ लिया। फिसफिसाकर बोले, "बघेला आ रहा है। सावधान कर दें।"

मैंने देखा तो अलहना एकदम आक्रमण की मुद्रा में खिसकता आ रहा था।

सावधान करने के लिए मैंने ज़रा जोर से ही कहा, "अलहना, शान्त रहो।"

अलहना ठिठक गया। फिर मैंने आदेश दिया, "जाकर सैनिकों को आदेश सुना दो। धीरे-धीरे कहना कि अभी मठ से जो लोग निकलेंगे, वे अपने ही लोग हैं। उन पर आक्रमण न हो। इसके बाद कोई आये तो बन्दी बना लिया जाये, रक्तपात न हो।"

अलहना प्रणाम करके चलने लगा, फिर मैंने कहा, "मैं बोधा प्रधान के साथ जा रहा हूँ। तुम सावधानी से यहीं छिपकर देखते रहो। कोई आये तो सैनिकों को सूचना दे देना।"

अलहना इस आज्ञा से विचलित हुआ, बोला, "अपराध छिमा हो, मैं महाराज को अकेला नहीं छोड़ूँगा।"

मैंने कहा, "कुछ चिन्ता न करो। यहाँ रहना आवश्यक है।"

अलहना की स्थिति विचित्र थी। वह आगे बढ़ ही नहीं सका। कटे रूख की तरह पैरों पर गिर पड़ा, बोला, "माता की आज्ञा है अन्नदाता! फिर आज तो मैनसिंह को वचन दे चुका हूँ कि प्राण रहते महाराज को अकेला नहीं छोड़ूँगा।"

मुझे हँसी आ गयी, "बघेला, तू मेरा सेवक है या मैनसिंह का?"

बघेला के चेहरे पर रोष का भाव उदित हुआ, "चरणों का सेवक हूँ अन्नदाता! मैं उस नेटुए के लौण्डे की चाकरी करूँगा?" फिर सँभलकर बोला, "सेवा का ही तो वचन दिया है अन्नदाता!"

बोधा ने संक्षेप करने के लिए कहा, "चलने दें महाराज, कोई हानि नहीं है। यहाँ विशेष प्रयोजन भी नहीं है।"

मेरे 'अच्छा' कहने पर बघेला चुपचाप सैनिकों को सूचना देने चला गया। बोधा प्रधान आवश्यक कार्य से दूसरी ओर चले गये। आगे चलकर वे साथ हो लेंगे, परन्तु तब तक सैनिकों को जाने दिये बिना ही, थोड़ी दूर रहकर हम लोग अर्थात् मैं और अलहना सैनिकों के पीछे-पीछे चल पड़ेंगे, यह स्थिर हुआ।

नाना गोसाईं को कन्धे पर सँभाले हुए तीन सैनिक निकले। एक सैनिक पीछे-पीछे चल रहा था। वे लोग जब कुछ दूर चले गये तो मैं अलहना के साथ उनके पीछे हो लिया। सैनिक बड़ी तीव्र गति से भागे जा रहे थे। उनके पीछे-पीछे चलने में दौड़ना पड़ा। लगभग दो घटी तक पहाड़ी मार्ग पर दौड़ते हुए हम ऐसे स्थान पर पहुँचे जो खदिर के घनच्छाय जंगलों से आच्छादित था। वहाँ आकर हम दिङ्मूढ़ हो गये। हम ठीक नहीं समझ सके कि हमारे सैनिक नाना गोसाईं को लेकर किधर चले गये। अलहना ने कई ओर धँसकर रास्ता खोजने का प्रयत्न किया, परन्तु सब व्यर्थ हुआ। रात प्रायः बीत आयी थी। उषःकाल की आभा झलक उठी थी। पूर्व दिङ्मण्डल पाटल वर्ण की किरणों से रंगीन होने लगा था। मैं और अलहना केवल दिङ्मूढ़ ही नहीं थे, किंकर्तव्यमूढ़ भी हो गये थे। कुछ विश्राम के लिए मैंने एक स्थान ढूँढ़ा। वह भी खदिर वनस्थली के भीतर ही था। वहाँ से न किसी को हम देख सकते थे, न कोई हमें देख सकता था। हम

लोग श्रान्त-शिथिल भाव से वहीं बैठ गये। मुझे तन्द्रा का अनुभव हुआ और धीरे-धीरे निद्रित भी हो गया। बघेला मुझसे अधिक क्लान्त था, पर वह जगा रहा।

मैंने स्वप्न में देखा—मैनसिंह अर्थात् मैना भयंकर शत्रु-सेना में अकेली घुस गयी है। सैकड़ों दैत्य-समान घुण्डक और तुर्क सैनिक उस पर टूट पड़े हैं। मैना लड़ रही है—महादुर्गा जिस प्रकार महिषासुर-वाहिनी में निर्भय अम्लान भाव से युद्ध करती थीं, उसी प्रकार। उसकी तलवार बड़ी तेजी से चल रही है—काल-सर्प के फण की भाँति अनवरत, विद्युल्लेखा की तरह वक्र चंचल, रामबाण के समान अमोघ। फिर एकाएक अभिभूत होती है। सैकड़ों मुस्टण्डे जवान उसको रौंद डालते हैं, मैना पकड़ ली जाती है। मेरे रक्त में प्रभंजन का आलोड़न हुआ। मैं एक ही झटके में उठकर बैठ गया। मैं चिल्ला उठा, "भय नहीं है मैना, मैं आया !" मैं एक झटके में खड़ा हो गया। हाथ तलवार की मूठ पर था।

मेरा इस प्रकार अकारण चिल्लाना देखकर अलहना डर गया, बोला, "मैं हूँ अन्नदाता, भय किस बात का है, क्या सपना देखने लगे थे ?"

"सपना ही था, पर कितना भयंकर !" मैंने कहा, "अलहना, वहाँ चल सकते हो जहाँ मैनसिंह गया है ? मैं उसी का सपना देख रहा था। चलो अलहना, जान पड़ता है मैनसिंह संकट में पड़ गया है।"

अलहना एक बार झिझका, फिर बोला, "चल क्यों नहीं सकूँगा, किन्तु समय लगेगा। कुछ समझ में नहीं आ रहा है कि हम लोग कहाँ हैं ।"

"ठीक है, रास्ता खोजो। चलना ही पड़ेगा। अभी !"

अलहना तुरन्त प्रस्तुत हो गया। सूर्योदय हो रहा था। उस दुर्भेद्य जंगल में रास्ता खोजना कठिन कार्य था। देर तक हम लोग भटकते रहे। मार्ग का कुछ पता नहीं। सूर्य को देखकर हमने दिशा का ज्ञान तो कर लिया, परन्तु उतने से आगे कुछ नहीं।

मैंने निश्चय किया कि पश्चिमोत्तर कोण की ओर बढ़ते जायें, कहीं-न-कहीं कुछ सन्धान मिल ही जायेगा। एक पहर तक बीहड़ कानन की छानबीन करने के बाद ऐसा लगा कि हम लोग और भी भटक गये हैं। हम एक ऐसे स्थान पर पहुँचे जहाँ आगे दूर तक फैला हुआ खड्ड था और उसके ऊपर सीधा खड़ा उत्तुंग पर्वत था। कुछ समझ में नही आया।

"अब ?" निराश होकर मैंने अपने से ही पूछा।

"लौट चलें महाराज !" अलहना ने निराशा-भरा उत्तर दिया।

"लौट चलें ?"

"हाँ धर्मावतार !"

लौटना कठिन है। लौट नहीं सकते। 'लौटना' क्रिया ही गलत है। कोई नहीं लौटता, कभी नहीं लौटा जाता। लौटना निरर्थक पद है। कौन लौटता है ? कहाँ लौटता है ? लौट चलूँ ? पाटी-गणित के अंकों को मिटाकर सुधारा जा

सकता है, जीवन के अंक कैसे सुधर सकते हैं? लौटना पड़ेगा? कैसे?

"तुम नहीं जानते अलहना, बिना सोचे-समझे बहुत दूर बढ़ गया हूँ। पीछे का रास्ता मिटता जा रहा है, आगे का सूझ नहीं रहा। कहाँ जा रहा हूँ, किधर, किस ओर?"

अलहना ने दीन भाव से कहा, "अन्नदाता, थोड़ा विश्राम कर लें। मैं आस-पास की स्थिति समझ लूँ।"

कितना सरल है यह बघेला बालक! विश्राम तो थकान का साथी है। जो थकता है वह विश्राम चाहता है, जो रास्ते पर है उसे विश्राम क्या? रास्ता भी कौन? आप ही अपना गन्तव्य। अभी तक मार्ग ही खोज रहा हूँ, लक्ष्य का प्रश्न हो कहाँ उठा! जिसका मार्ग ही निश्चित नहीं हुआ, उसका लक्ष्य क्या और विश्राम ही क्या? विश्राम लक्ष्य के निकट पहुँचने का भरोसा है। "कैसा विश्राम? अलहना, तुमने समझा ही नहीं।"

अलहना निराश, हतबुद्धि!

"रास्ता क्या है? जो लक्ष्य तक ले जाये। लक्ष्य क्या है? जहाँ मन विश्राम करे। और कोई विश्राम तो भौतिक शरीर-यन्त्र की पराजय का नामान्तर है। विश्राम! ना अलहना, विश्राम भी नहीं, लौटना भी नहीं। कुछ और बता।"

अलहना कातर, दयनीय! कदाचित् उसे सन्देह हुआ कि मेरे मस्तिष्क में कुछ विकार आ गया है।

अबकी बार अलहना ने नये अस्त्र का प्रयोग किया। पहली बार मुझे लगा कि अलहना में भी सोचने-विचारने की सामर्थ्य है। बोला, "अन्नदाता, मैं बुरी तरह थक गया हूँ, आज्ञा हो तो थोड़ा विश्राम कर लूँ।" अलहना जानता था कि मैं स्वयं अपने लिए चाहे विश्राम की न सोचूँ, पर अलहना की प्रार्थना को अस्वीकार नहीं कर सकूँगा। मुझे उसकी उपस्थित बुद्धि से सुख मिला। मैं रुककर विश्राम कर लेने को प्रस्तुत हो गया। थोड़ी-सी भूमि साफ करके अलहना ने मुझसे बैठ जाने का अनुरोध किया और स्वयं मुझसे पहले ही बैठ गया। थका वह सचमुच ही था।

मैं भी बैठकर निरर्थक चिन्ताधारा में बहने लगा। थोड़ी ही देर में अलहना सो गया। मुझे प्रसन्नता हुई। मैंने भी अपनी ढाल का उपाधान बनाया और अर्ध-शायित अवस्था में लेट गया। वह विचित्र अनुभव था। कब मुझे झपकी आ गयी, पता ही नहीं चला।

आँखें खुलीं तो अलहना का पता ही नहीं।

कहाँ चला गया? मुझे अकेला तो वह छोड़ नहीं सकता। मैं व्याकुल हो उठा। ऊँचे स्वर से पुकारा, "अलहना!"

उत्तर मिला, "अभी आया धर्मावतार!"

थोड़ी देर में अलहना पत्तों के दोने में पानी और कुछ जंगली फल-फूल लेकर उपस्थित हुआ। अब मुझे पता चला कि अलहना ने सोने का बहाना-भर किया

था। वास्तव में वह मुझे अवसर देना चाहता था। ज्योंही मेरी आँखों में तन्द्रा की झपकी लगी त्योंही वह उठकर आसपास फल-फूल और पानी की खोज में निकल पड़ा। उसके इस सेवा-भाव की जानकारी से मेरी आँखें छलछला आयीं। कोई नहीं जानता कि स्वर्ग में क्या मिलता है, अधिक-से-अधिक वह एक विश्वसनीय कल्पना है; पर यह जो अकुण्ठ चित्त की अहैतुकी सेवावृत्ति है, इसके सुख के समान क्या वह कल्पना हो सकती है ? सेवा में ही मुक्ति है। सेवा का ही दूसरा नाम अहैतुक आत्मसमर्पण है। सेवा का ही नाम प्रेम है। सेवा का ही नाम आनन्द है। सेवा ! पर किसकी सेवा ?

अलहना ने मेरे पैर धोये और आग्रह किया कि इस वनभूमि में जो कुछ मिल सका है उसे ग्रहण करूँ। मैंने स्वीकार किया।

कुछ आश्वस्त होकर अलहना बोला, "अन्नदाता, पानी की खोज में मैं इस खड्ड के किनारे-किनारे कुछ दूर निकल गया था। जान पड़ता है उस पार कुछ लोग श्रान्त भाव से विश्राम कर रहे हैं। हमारे सैनिक भी हो सकते हैं, शत्रु भी हो सकते हैं। दोनों ही अवस्थाओं में उनका पता लगाना चाहिए। आज्ञा हो तो मैं कुछ जतन करूँ ?"

मुझे एकदम झटका लगा। यह वही खड्डा तो नहीं है जिसमें सीदी मौला को फेंक दिया गया था। मैंने स्वयं पता लगाने का निश्चय किया और अलहना के बताये मार्ग से उस ओर गया। जहाँ अलहना ने दिखाया, वहाँ कुछ देर तक निस्तब्ध खड़ा-खड़ा मैं कान लगाकर सुनने लगा। रह-रहकर सन्नाटा और फिर उत्तेजित मनुष्य-कण्ठ की क्षीण ध्वनि आ रही थी। यहाँ तक पहुँचते-पहुँचते वह ध्वनि इतनी क्षीण हो जाती थी कि उससे कुछ अनुमान करना कठिन था। इतना तो निश्चित था कि इस खड्ड को पार कर लेने पर मनुष्य-पद-लांछित मार्ग मिल सकता है। मैंने देर तक कान लगाकर सुनने का प्रयत्न किया, पर कुछ समझ में नहीं आया।

कुछ देर हम यों ही खड़े रहे। फिर अलहना एक ऊँचे पेड़ पर चढ़ गया। उसका विश्वास था कि वहाँ से कुछ अधिक सुनायी देगा। देर तक वह वहाँ डटा रहा। मध्याह्न का सूर्य और भी ऊँचे चढ़कर टोह लेने का प्रयास कर रहा था।

एकाएक अलहना ने कहा, "अन्नदाता, जान पड़ता है वे लोग इस पर्वत के चढ़ाव पर चले आ रहे हैं।"

मैंने ध्यान से सुना तो सचमुच आवाज ऊपर की ओर चढ़नेवाले लोगों की जान पड़ी।

ऊपर आ रहे हैं ये लोग। कदाचित् कहीं जा रहे हैं। पहाड़ी रास्ता टेढ़े-मेढ़े, ऊपर-नीचे चलता ही है। ऐसा हो सकता है कि रास्ता इस पहाड़ की चोटी पर से हो। जो हों, हमें सावधानी से टोह लेनी होगी। अपने लोग हों तो क्या कहना ! शत्रु हो तो बचकर रहना। हमने देखा कि आवाज धीरे-धीरे पर्वत की चोटी की ओर बढ़ती आ रही है। यह भी जान पड़ा कि उनमें उल्लास का ओज है।

उल्लास-ध्वनि और ऊपर उठी। और, और!

पर्वतश्रृंग पर कई सौ आदमी स्पष्ट दिखायी पड़े। जितने ही ऊपर चढ़ते जाते थे, उतने ही उल्लास के साथ जयध्वनि कर रहे थे। निस्सन्देह ये अपने ही लोग थे। हमारे और उनके बीच अन्तर वहुत थोड़ा था, पर कितना दुर्लंघ्य!

अलहना प्रसन्नता के आवेश में चिल्ला उठा, "अपने ही लोग हैं अन्नदाता! महाराजाधिराज सातवाहन का नाम लेकर जयध्वनि कर रहे हैं।"

अलहना ने पेड़ की सबसे ऊँची शाखा पर चढ़कर सारी शक्ति लगाकर जय-घोष किया—एक बार, दो बार, तीन बार! किसी ने नहीं सुना। वह उतर आया।

मेरी नाड़ियों में रक्त का प्रबल वेग अनुभूत हुआ। जिसकी जय की घोषणा हो रही है वह इस किनारे असहाय खड़ा है। सामने उसी के सेवक आनन्दमत्त हैं, पर उन तक आवाज़ नहीं पहुँच पा रही है। कैसी विडम्बना है!

अलहना को भय था कि ये लोग आगे बढ़ जायेंगे और उनके अन्नदाता बीहड़ जंगल में भटकते ही रह जायेंगे। वह खड्ड के किनारे पहुँचकर चिल्लाने लगा। कौन सुनता है!

इसी समय ऐसा लगा कि कोई सुन अवश्य रहा है, कोई अदृश्य कान।

सैनिक शान्त होकर एक जगह सिमट गये। बीच में जगन्नायक भट्ट का दृप्त कण्ठ सुनायी पड़ा। स्पष्ट शब्द कान तक पहुँच नहीं रहे थे, पर छन्द स्पष्ट था। ऐसा लगा कि उनके मुख से बार-बार सुनी कोई कविता है। छन्द और ताल भी क्या अद्भुत तत्त्व हैं! उनके सहारे मैं परिचित शब्द तक अनायास पहुँच गया :

नवंनद्द नींसान वज्जै अघातं।
गजै गैन कै सिंघ कै गिभिराजं॥
नवंनद्द नफ्फेरि भेरी सभालं।
तरक्कंत तेगं मनो विज्जुनालं॥
करक्कै नरं षाल षग्गं षनक्कै॥
मनो काल हत्यं सुविज्जू भनक्कै...।[20]

मैंने समझ लिया कि आज जगन्नायक भट्ट पूरे आवेश में हैं। यह प्रवाह देर तक चलेगा। इसी बीच कुछ करना चाहिए। मैंने कहा, "अलहना, थोड़ी देर शान्ति है। कविता समाप्त होते ही 'नवंनद्द नफ्फेरि भेरी' का वास्तविक कोलाहल आरम्भ होगा और फिर तुमुल जयध्वनि में सारी शब्द-शक्ति का अवसान हो जायेगा। अभी चिल्लाना ठीक है।"

अलहना प्रस्तुत हुआ। मैंने उसके भाले की नोक में अपनी लाल पगड़ी बाँध दी। वह उसे ऊँचे उठाकर हिलाने लगा। सारी शक्ति समेटकर अलहना ने जय-ध्वनि की—"जय! महाराजाधिराज सातवाहन की जय!" कदाचित् पगड़ी पर किसी की दृष्टि पड़ी, फिर अलहना की कण्ठध्वनि कुछ पहुँची। सैनिकों में खर-भर हुई। सबने इधर ही दृष्टि लगायी। अलहना फिर गरज उठा, "जय!

महाराजाधिराज सातवाहन की जय !"

सैकड़ों दृष्टियाँ एक साथ नीचे की ओर दौड़ीं। मैंने पगड़ी सिर पर डाल ली। अब जान पड़ा सैनिकों ने पहचान लिया। एक साथ शत-शत कण्ठ की जय-ध्वनि ने हमारा स्वागत किया। दूर से विद्याधर भट्ट ने कुछ इशारा किया। स्पष्ट समझ में नहीं आया, पर जान पड़ा यहीं रुके रहने को कह रहे हैं। इंगित से हमने भी सूचना दी कि यहीं रुक रहे हैं। पता नहीं उन्होंने कितना समझा। सेना तुमुल जय-निनाद के साथ आगे बढ़ गयी।

अलहना को अभी इसी में सन्देह था कि वे लोग पहचान सके हैं या नहीं। उसने कुछ निराशा-भरे स्वर में कहा, "चले गये। हम मार्ग नहीं पा रहे हैं, यह समझ ही नहीं सके। मैनसिंह होता तो समझ जाता। मालूम होता है वह इनमें नहीं है। विद्याधर मन्त्री जहाँ रहेंगे वहाँ मैनसिंह नहीं रह सकता।"

"सब चले गये !" मुझे भी सन्देह हुआ कि लोग हमारी कठिनाई नहीं समझ पाये। समझते तो कोई-न-कोई अवश्य रुक जाता। कोई नहीं रुका, सब चले गये !

बाद में मुझे मालूम हुआ कि कूटनीति-विशारद मन्त्री को कुछ और ही सन्देह हो गया था और वे गुप्तचरों की व्यवस्था करके सेना को सुरक्षित भूमि में ले गये। गुप्तचर उस पार से छिपकर हमारी गतिविधि पर दृष्टि रखने लगे। सारा परिश्रम व्यर्थ गया।

अपने ही पैरों पर भरोसा रखना है।

अलहना विषम साहसी है। उसने कहा, "महाराज, थोड़ा यहीं विश्राम करें। मैं खड्ड पार करके उस किनारे जाऊँगा। वहाँ रास्ता है ही। मैं अन्नदाता को थोड़ा कष्ट दे सकता हूँ, पर मेरा विश्वास है कि साहस करने पर कुछ रास्ता मिल ही जायेगा।"

इसी समय देखा गया कि उस ओर कोई पर्वत-शृंग से हौले-हौले उतरने का प्रयत्न कर रहा है। बड़ा ही बीहड़ उतार है; ज़रा फिसला तो सौ हाथ नीचे गिरेगा। पर वह छिपकली की भाँति चिपकता हुआ उतरा आ रहा है।

अलहना के उल्लास में ज्वार चढ़ आया। चिल्लाकर बोला, "मैनसिंह है महाराज, उतर रहा है। मैं भी उतरूँ ?" आज्ञा की प्रतीक्षा न करके अलहना चल पड़ा।

यह क्या अनर्थ हो रहा है ! मैंने शक्ति-भर चिल्लाकर कहा, "मैनसिंह रुक जा, क्यों अकारण मौत के गले उतर रहा है ?"

कोई सुननेवाला ही नहीं। मैं साँस रोककर इस मरण-अभियान को देखने लगा। स्पष्ट हो गया, मैनसिंह ही है। वह छिप नहीं सकता। मैनसिंह—मैना ! मैना तू क्या कर रही है ? मूर्खे, यह साहस का स्थान है ? मैनसिंह की पाग खिसक गयी या उसने जान-बूझकर उतार ली। भौंरे के समान काले-घुंघराले केश लहरा उठे। उसने एक हाथ से उन्हें समेटा। कदाचित् अब भी यह मुग्धा अपने को छिपाना चाहती है। कैसे छिपा सकती है ? सब छिप जाये, यह अपूर्व देह-प्रभा

कहाँ छिपेगी ?

एकाएक मैनसिंह फिसला। गिरा, गिरा, सचमुच गिर गया। धिक्कार है मुझे ! मेरे देखते-देखते शोभा और वीरता का सम्मिलित विग्रह चकनाचूर हो रहा है, सेवा की मूक मूर्त्ति टूटकर खण्ड-खण्ड हो रही है, कान्ति और दृप्ति की स्फटिक प्रतिमा टूटकर बिखर रही है और मैं खड़ा-खड़ा देख रहा हूँ। धिक् !

एक छलाँग में खड्ड के किनारे पहुँच गया और दूसरे ही क्षण कूद पड़ा। संयोग अच्छा था। नीचे एक दृढ़ शिलाखण्ड था। मैं उसी पर गिरा। मैं एक मोटी लता से बीच में उलझ गया था, इससे सीधे नहीं गिरा। शिलाखण्ड पर पिच्छिल काई जमी हुई थी। लता की उलझन ने मुझे फिसलने से भी बचा लिया। उलझना हर समय बुरा नहीं होता।

लगभग उतनी ही ऊँचाई पर उस ओर मैनसिंह भी आ गिरा था। हम दोनों बिल्कुल आमने-सामने थे। बघेला मेरे सिर के ऊपर एक कोटर जैसे स्थान पर पहुँचकर आगे बढ़ने की सोच रहा था। एकाएक उसने एक ओर मैनसिंह को गिरते देखा, दूसरी ओर मुझे कूदते देखा। उसके हाथ-पैर फूल गये। वेदना के साथ उसने कातर चीत्कार किया, "त्राहि भगवान्, त्राहि !"

मैनसिंह क्षण-भर पड़ा रहा। फिर अस्त-व्यस्त अवस्था में उठ पड़ा। मुझे उसने देखा ही नहीं। मैनसिंह—मैना ! वस्त्र अस्त-व्यस्त, भुजाएँ शिथिल, केश असंयत, शरीर क्षत-विक्षत, मन सतेज ! मैना ही है, लावण्य की पुत्तलिका, शोभा की विश्राम भूमि, कान्ति की मूर्त्ति, आलोक की आकम्पित शिखा। अहा, किमिव हि मधुराणां मन्डनं नाकृतीनाम् !

मैनसिंह ने अपनी पगड़ी सँभाली, वस्त्र ठीक किये, कमर में कसी हुई रस्सी की परीक्षा की। फिर उसने दूसरे किनारे की ओर दृष्टि की। मैं बिल्कुल सामने खड़ा था। हम दोनों के बीच का अन्तर थोड़ा ही था, पर कितना दुरतिक्रम्य !

मैनसिंह ने मुझे जो वहाँ देखा तो एकाएक उसे विश्वास ही नहीं हुआ, फिर चीख उठा, "महाराज, यहाँ क्यों आ गये ?"

उसकी भय-व्याकुल आँखें कान तक फैल गयीं। अलहना हतबुद्धि होकर भगवान् को पुकार रहा था। क्षण-भर में क्या-क्या हो गया, महामाया की अघटित-घटनापटीयसी महिमा का कैसा अद्भुत विलास है ! ज्ञान-कर्म-इच्छा रूप में त्रिपुटीकृता सृष्टि-त्रिकोण यहाँ अनायास बन गया है। मैं, अलहना और मैना ! मैनसिंह की आँखों में लज्जा, कातरता और उत्साह का समुद्र लहरा उठा। उसने एक बार अपनी ओर देखा, आँखें झुक गयीं; मेरी ओर देखा, सिर घूम गया; अलहना की ओर देखा, भुजाएँ फड़क उठीं।

मैं चिन्तित था, मैना को कैसे बचाऊँ ? मैना चिन्तित, महाराज का कैसे उद्धार हो ! उसने रस्सी की फिर परीक्षा की। मेरी ओर देखकर उसने पूरी ताकत लगाकर रस्सी फेंकी। चिल्लाकर कहा, "पकड़िए।"

मैंने रस्सी पकड़ ली। मैनसिंह उसे एक किनारे पर बाँधने गया। संकेत से

कहा—उधर भी ! दोनों ओर रस्सी बँध गयी, कठोर बन्धन में !

फिर !

फिर मैंनसिंह रस्सी पर चलने लगा। मैंनसिंह—नेटुए का लौण्डा !

मेरा श्वास-प्रश्वास बन्द ! मैंनसिंह चंचल ! अलहना सोल्लास !

मैंनसिंह लीलापूर्वक इस पार आ गया। आकर उसने मेरे पैर छुए। नाड़ियों में प्रलय-पूर का आवेग अनुभूत हुआ।

अलहना जय-जयकार कर रहा था। रस्सी खींची गयी। मेरे आश्चर्य का ठिकाना नहीं रहा जब उस किनारे का बन्धन एक ही झटके में खुल गया। बन्धन कठोर था पर उधर का नहीं, केवल इधर का। मैंनसिंह ने इसे भी नये सिरे से, नयी विधि से बाँधा—ऐसा बन्धन जो एक ही झटके में खुल जाये। फिर अलहना की ओर उन्मुख होकर चिल्लाया, "रस्सी पकड़ो बघेला वीर।"

रस्सी अलहना तक पहुँची। वहाँ भी बाँधी गयी। फिर मेरी ओर देखकर मैंनसिंह बोला, "पकड़कर ऊपर उठ सकेंगे महाराज !"

ऊपर उठूँ ! उठ सकूँगा ?

"मैना—मैंनसिंह !" श्रद्धातिरेक से मेरी वाक्शक्ति रुद्ध हो गयी। इतना उल्लासकर अनुग्रह हो तो ऊपर उठना कठिन नहीं है।

अवतार—उतरना। मैंनसिंह का अवतार हो गया।

उद्धार—ऊपर की ओर ले जाना। मेरा उद्धार भी हो ही जायेगा।

ऊपर उठ सकता हूँ—बहुत ऊपर। सारा सत्त्व उमड़ आया है—ऊर्ध्वंगच्छन्ति सत्त्वस्थाः !

20

मैंनसिंह—मैना ! अलहना नहीं जानता, मैं जानता हूँ। अज्ञान की महिमा है कि अलहना के चित्त में उल्लास की लहरें पछाड़ खा रही हैं। जानकारी का प्रभाव है कि मैंनसिंह लज्जा से लाल है—व्रीड़ा-व्याकुल, स्तब्ध। और मैं ? आँचल के दीप की तरह भीतर सिर धुन रहा हूँ और बाहर तक अवगुण्ठित आलोक से उद्भासित हूँ। मैना क्या है ? पिछले तीन दिनों से निरन्तर जूझ रही है, पर कहीं क्लान्ति या अवसाद का चिह्न नहीं है। क्या चैतन्यमात्र है ? जड़ का सबसे कठिन धर्म है पृथ्वी के आकर्षण से भहरा जाना। यह जड़ शरीर-धर्म उसमें है ही नहीं क्या ? क्या उसका सारा कलेवर अग्निशिखा से ही बना है ? अग्निशिखा ही कभी नीचे नहीं

झुकती। मैना दीपशिखा है, विद्युल्लता है, चैतन्यप्रभा है। परन्तु यह भी कैसे मानूँ ? मैना की आँखें झुक गयीं हैं। सारी चैतन्य-लहरी में वहीं कहीं जड़िमा होगी। झुकी हैं तो जड़ता का स्पर्श भी है। मैना की वाणी रुद्ध है। कहीं जड़त्व की बाधा वहाँ भी काम कर रही है। मैना की ग्रीवा अवनत है, वहीं कहीं जड़त्व विलसित हो रहा है। जड़ता का बन्धन मनोहर होता है। जड़त्व सीमा है, चैतन्य सीमाहीन। सीमा असीम को रूप देती है, रस देती है। सीमा की कमजोरियों ने असीम को रूपायित किया है। मैना रूप और अरूप का मनोहर संगम-स्थल है।

प्रयत्न तो मैंने कई बार किया कि उससे समाचार पूछूँ। विस्तार से सुनना चाहता था। पर मैना है कि ऊपर आँख ही नहीं उठाती। सिर हिलाकर, अस्फुट शब्दों से, हाथ के इशारे से उसने जो कुछ बताया उसका अर्थ इतना ही था कि विद्याधर भट्ट के साथ धीर शर्मा नाटी माता की कुटिया की ओर चले गये हैं। उन्हें युद्ध नहीं करना पड़ा है। बोधा प्रधान की कूटबुद्धि ने पहले ही सब काम समाप्त कर दिया था। घुण्डक संन्यासियों में आपसी कलह हो गया है। वे आपस में ही लड़ गये हैं। धीर शर्मा छुड़ा लिये गये हैं। घुण्डकों का दल बन्दी बना लिया गया है। घुण्डकेश्वर कहीं भाग गया है। मैना की टुकड़ी ने उसे पकड़ने का प्रयत्न किया, पर अभी तक पकड़ा नहीं जा सका है। मैना ने जो नहीं कहा, वह उसका क्षत-विक्षत शरीर कह रहा था। जान पड़ता था, उस पर परशु से आक्रमण किया गया था, पर किसी प्रकार वह आघात निर्बल होकर उस पर पड़ा था। कन्धे के पास रक्त बह चुका था। कपड़े गीले थे।

अलहना इस घाव को देखकर अपने को धिक्कार चुका है। "मेरे रहते तेरे कन्धे पर चोट आ गयी, भाई मैनसिंह, मुझे धिक्कार है! बता, किस उद्दण्ड ने यह साहस किया है! किसने सिंह-किशोर के सटाभार को पैर से कुचलने का साहस किया है? बता भाई मैनसिंह, उसका रक्त नहीं चूस लिया तो बघेला नहीं!" मैनसिंह कुछ बोल नहीं रहा। कदाचित् स्वयं घुण्डकेश्वर ने ही यह वार किया था। यज्ञवेदी से वही फरसा उठा सकता था। मैनसिंह चुप! बघेला दाँत पीस रहा है—असहाय की भाँति।

भगवती विष्णुप्रिया का आश्रम निकट ही था। हम लोग सूर्यास्त से पहले ही वहाँ पहुँच गये। मैना गुमसुम आगे बढ़ रही थी। अलहना व्याकुल भाव से लड़ाई की बातें पूछ रहा था। मैं थोड़ी दूरी रखकर पीछे-पीछे चल रहा था। आश्रम घने जंगल में था। बबूल, खदिर और जंगली बेलों के कँटीले और झबरीले पेड़ों से घिरा हुआ छोटा-सा समतल स्थान था, जिसमें प्राकृतिक रूप से कन्दरा-सी बनी हुई थी। वन्य-वृक्षों के डाल-पत्तों से बना एक छोटा-सा फाटक उसे आवश्यकता पड़ने पर ढक देने के लिए बाहर रख दिया गया था। आँगन में घास-पात अबेन्ह उगे थे और एक-दूसरे से उलझकर जीवनी शक्ति की प्रखरता का उद्‌घोष कर रहे थे। निश्चित था कि मनुष्य के चरणों का बोझ उन्हें कभी नहीं सहना पड़ा था। आश्रम के द्वार तक पहुँचने के लिए जो पगडण्डी थी, वह भी मनुष्य-पद लांछित होने

का अवसर कम ही पा सकी थी। नाटी माता की कुटिया से यह एकदम भिन्न था। उसमें परिमार्जित और सुशिक्षित रूचि का निवास था, इसमें प्रकृति का सहज विलास था। शान्ति यहाँ भी थी, पर सूनेपन की नहीं, भरावट की। यहाँ बहुत कम लोग आते होंगे, यह तो निश्चित था। नगरवासी की आँखों में यहाँ की बेतरतीबी खटक जाती थी। न कहीं सफाई का प्रयत्न था, न सजावट का चिह्न। पास ही एक कुण्ड-सा था जिसमें बहुत ही स्वच्छ पानी दिखायी देता था। उसी के भरोसे कुछ कोविदार और करवीर के वृक्ष जी रहे थे। जान पड़ता है उन्हें किसी समय मनुष्य के हाथों की सेवा मिल चुकी थी।

आश्रम के प्रवेश-द्वार को 'द्वार' कहना केवल प्रथा-मात्र जान पड़ा। वहाँ यदि बोधा प्रधान न मिल गये होते और वे स्वयं बिना पूछे ही न कह देते कि वे आश्रम के प्रवेश-द्वार पर खड़े हैं, तो मुझे उसके द्वार होने का भान ही नहीं होता। वस्तुतः यह द्वार भी प्रकृति का ही निर्माण-कौशल था। भगवती विष्णुप्रिया की तपोनिलयभूता कन्दरा के चारों ओर घने कपित्थ और वनकदम्ब के झबरीले वृक्ष खड़े हुए थे। एक प्रस्तरशिला बीच में पड़ी हुई थी जो कपित्थ के शिशु वृक्षों की अधिक भूमि अधिकार करने की दुरन्त लालसा में बाधक सिद्ध हुई थी। यही अनधिकृतिसूचक स्थान 'प्रवेश-द्वार' था।

बोधा प्रधान वहीं खड़े-खड़े कुछ सोच रहे थे; एकाएक अलहना और मैनसिंह को देखकर खिल उठे। उनकी कौड़ी जैसी आँखों में कुछ फैलाव आया। मैं तब भी उनके सामने नहीं था; निकट ही था, पर वृक्षों की ओट में। मैनसिंह को लक्ष्य करके बोले, "आइए वीरवर! भगवती के आश्रम के प्रवेश-द्वार पर आपका स्वागत है! कहिए, प्राणदान की लालसा फलवती नहीं हुई?"

मैनसिंह चुप! अलहना से नहीं सहा गया। उसे इस व्यंग्य की पृष्ठभूमि का पता नहीं था। क्रोध-भरी वाणी में बोला, "क्या बक रहे हो प्रधान, मैनसिंह सच्चा सिंह-किशोर है। उसने शत्रुओं की धज्जियाँ उड़ा दी हैं। देखते नहीं बेचारे का रक्त से लथपथ कन्धा! जिसने आक्रमण किया था उसे पाऊँ तो चबा जाऊँ, रक्त पी लूँ, अँतड़ियाँ नोच लूँ।" अलहना कल्पित शत्रु को चबा जाने के लिए दाँत पीसने लगा।

मैनसिंह अब बोला। बोधा को सावधान करते हुए संक्षेप में डाँटा, "चुप! महाराज!"

बोधा समझ गये। वे सावधान होकर खड़े हुए और मैनसिंह के इंगित की ओर देखने लगे। मुझे देखते ही उन्होंने विनीत भाव से प्रणाम किया। फिर उसी प्रकार रहस्यमय चुप्पी साधकर खड़े हो गये।

मैंने स्वयं प्रश्न किया, "क्या समाचार है, प्रधान? मैं ज़रा भटक गया था।"

बोधा ने अत्यन्त विनीत वाणी में कहा, "अच्छा ही हुआ। समाचार ठीक ही है। नाटी माता अपने आश्रम को लौट गयी हैं। नाना गोसाईं भी अपने मठ में चले गये हैं। महारानी यहीं हैं। भगवती ने उन्हें कुछ जप करने की आज्ञा दी थी।

वे उसी में लगी रहीं। अब भगवती की आज्ञा से स्नान करके उनसे मिलने गयी हैं। भगवती महाराज को स्मरण कर रही थीं। कैसा विचित्र योग है कि उन्होंने आपका नाम लिया और आप पधारे! आइए, वहाँ चलें।"

मैंने कहा, "थोड़ा हाथ-मुँह धोकर पवित्र हो लेता तो अच्छा न होता?"

बोधा ने उत्तर दिया, "कोई हानि नहीं है। यहाँ पानी तो केवल इस झरने में मिलता है। भगवती के यहाँ कोई पात्र नहीं।" मुझे आश्चर्य हुआ। तो भगवती कोई बरतन नहीं रखतीं?

जलाशय के नाम पर वही प्राकृतिक झरना है। यहाँ कुछ मनुष्यों के हाथों का सम्पर्क है। एक-दो करवीर के झाड़ हैं, एक-दो कोविदार के मनोहर गुल्म। कहीं-कहीं मल्लिका भी उठ आयी है, परन्तु अपनी आन्तरिक जीवन-शक्ति से ही जी रही है। पानी बहुत ही शीतल और स्वच्छ है। स्नान के लिए मिट्टी के बर्तन की सहायता लेनी पड़ी। यह स्नान केवल शरीर को ही नहीं, मन और प्राण को भी स्वच्छ-शीतल बनानेवाला था। मैंने सैनिक वेश उतार दिया। बोधा कहीं चले गये थे, थोड़ी देर में लौटे तो नये शुभ्र अधोवस्त्र और दुकूल के साथ। मुझे आश्चर्य हुआ। पूछने पर पता चला कि नाटी माता व्यवस्था कर गयी थीं।

स्नान से पवित्र होकर भगवती की गुहा की ओर चला तो लगा जैसे उड़ रहा हूँ। इतना लाघव मैंने कभी अनुभव नहीं किया था। जान पड़ता था, कहीं कोई भार है ही नहीं। भार तो धरती के आकर्षण-वेग का नाम है, केवल चैतन्य-मात्र पर उस आकर्षण का प्रभाव नहीं पड़ता। तो क्या चित्-शक्ति की कोई शक्तिशाली धारा मेरी नसों में प्रवाहित हो रही है?

भगवती विष्णुप्रिया की अँधेरी गुहा में कर्पूरगुटिका जली और एक क्षण में मैंने भगवती के दर्शन किये। सामने हाथ जोड़कर रानी बैठी थीं। मुझे देखते ही उठकर खड़ी हो गयीं और जो कभी नहीं देखा था वह देखना पड़ा। उनकी आँखों से अश्रुधारा झर रही थी, केश-राशि बिखरी हुई थी, आँखें धूसर हो गयी थीं और मुख पर एक विचित्र-सी विवश भावना मँडरा रही थी। उन्होंने मेरे चरणों पर अपना सिर रख दिया और उन्हें आँसुओं से ही धो दिया। भगवती को प्रणाम निवेदन करने के पूर्व ही मुझे रानी चन्द्रलेखा का प्रथम प्रणाम स्वीकार करना पड़ा। मैंने आदरपूर्वक उन्हें उठाया और फिर हम दोनों ने साथ-साथ भगवती के चरणों में प्रणाम निवेदन किया।

भगवती विष्णुप्रिया ने स्निग्ध स्मित के साथ मनोवांछा पूर्ण होने का आशीर्वाद दिया। कुछ ही क्षणों में कर्पूरगुटिका का प्रकाश क्षीण हो गया और फिर बुझ गया। गुहा में फिर उसी प्रकार अन्धकार छा गया। एक क्षण के लिए भगवती का दर्शन हुआ सो हुआ। भगवती की अवस्था निश्चित रूप से अस्सी पार कर गयी होगी, लेकिन चेहरे पर क्या ही विचित्र कान्तिमयी शामक शोभा विराज रही थी! उनके पोपले मुँह से वह स्मित रेखा इस प्रकार उद्भासित हो रही थी मानो प्रवालमणि के अचानक उद्‌घाटित सम्पुट से लाल आभा छिटक रही हो।

इस वृद्धावस्था में उनका गौर मुखमण्डल एक विचित्र प्रकाश से दमक रहा था।

बड़े स्नेह से उन्होंने कहा, "बैठ जा बेटा !" आज्ञा पाकर हम दोनों बैठ गये। भगवती की वाणी से स्नेह उमड़ रहा था, पर नाटी माता की भाँति उस वाणी में शिक्षा और अभ्यास का नैपुण्य बिल्कुल नहीं था। आश्रम के प्राण-व्याकुल वातावरण की भाँति उस वाणी में भी प्राकृत प्राणावेग उफन रहा था। भाषा ग्राम्य किन्तु भाव स्वर्गीय ! अँधेरे में ही भगवती ने कहा, "आ बेटा, थोड़ा पास आ जा।" जिधर से शब्द आ रहे थे मैं उधर खिसककर आगे बढ़ा। भगवती ने स्नेहपूर्वक मेरे सिर पर हाथ फेरा, सारे मुखमण्डल को स्पर्शपूर्वक सहलाया, फिर सिर चूम लिया। एकाएक ऐसा जान पड़ा कि नाड़ियों में रक्त का आन्दोलन तीव्र हो गया है, मेरुदण्ड के इर्द-गिर्द विचित्र हलचल हो रही है और सारा शरीर रोमांचकण्टकित हो गया है। भगवती ने जब हाथ हटा लिया तो मैंने धीरे-धीरे सिर उठाया। अन्धकार में हल्की-सी प्रभा-रेखा दीखी और ऐसा लगा कि भगवती के मुखमण्डल से चारों ओर प्रभा-मण्डल छिटक उठा है। मैं अभिभूत की भाँति उस अपूर्व तेजोमण्डल को देखता रहा।

अचानक भगवती का हाथ फिर मेरे सिर पर आ गया। बड़े स्नेह से उन्होंने कहा, "तू अब जा सकता है बेटा ! चन्द्रलेखा यहीं रहेगी। तुझे थोड़ी देर बाद बुला लूँगी।" मैं जब उठने लगा तो उन्होंने फिर दुलार से कहा, "बुरा तो नहीं मान रहा बेटा ? तू कहता होगा कि कैसी माता के पास पहुँचा कि आते ही कह रही है, चला जा ! क्यों रे, बुरा मान गया ?"

मैंने विनीत भाव से कहा, "नहीं तो।"

माताजी ने जाने क्या समझकर कहा, "बनता है ?"

मैंने फिर कहा, "नहीं माताजी, मैं सत्य कहता हूँ।"

माताजी ने फिर स्नेहपूर्वक कहा, "तुझे बुरा मानना चाहिए था रे !"

विचित्र असमंजस में पड़ गया। क्या उत्तर दूँ, कुछ सूझा ही नहीं। माताजी ने फिर स्नेह-जड़ित स्वर में कहा, "जा बेटा, फिर बुला लूँगी।"

बाहर भी अन्धकार था। वृक्षावली की नील-मसृण छाया के साथ मिलकर अन्धकार ठोस-सा बन गया था। कुछ समझ में नहीं आया कि कहाँ बैठूँ। बोधा भी नहीं दीखे। अनुमान से जिधर प्रवेश-द्वार था उधर ही चला। वहाँ का शिलाखण्ड बैठने-योग्य आसन था, परन्तु वहाँ अलहना पैर पसारकर सो गया था। कई दिन से थका हुआ था, निश्चिन्त होने का अवसर मिलते ही गाढ़ निद्रा में लीन हो गया था। वहाँ से हटना पड़ा। कहाँ बैठूँ कुछ समझ में नहीं आया। फिर ध्यान आया, झरने के पास ही बैठूँ। एक बड़े-से महुए के पेड़ की एक शाखा झुकी थी, जो धरती को छू रही थी। अनुमान से उसी ओर चला। फिर चुपचाप उसी पर बैठ भी गया। भगवती विष्णुप्रिया की इस बात पर विचार करने लगा कि वे क्यों कह रही हैं कि मैं बन रहा हूँ। बनावट कहाँ है ! है तो अवश्य !

झरने के पास धीरे-धीरे बातचीत का आभास मिला। कण्ठस्वर बोधा और

मैना का जान पड़ा। मुझे कुतूहल हुआ। बातचीत कुछ उत्तेजित वातावरण में चल रही थी। पहले जो स्वर धीरे-धीरे बोले जाने के कारण सुनायी नहीं दे रहे थे, वे अब श्रवण-सुलभ हो गये। जान पड़ता था उन्हें इस बात की रंच-मात्र भी आशंका नहीं थी कि मैं इतनी जल्दी भगवती की गुहा से बाहर निकल आऊँगा। बोधा के स्वर में सावधानी और संयम था, मैना उत्तेजित थी। मैं कान देकर सुनने लगा।

"तुम्हारी उतावली के कारण आज की सारी योजना अधूरी रह गयी। अब तुम्हें लड़कपन नहीं करना चाहिए। मेरी बात तुमने मानी ही नहीं। अब बताओ यदि मैंने पूरी सावधानी न बरती होती, तो तुम्हारा जीवित रहना क्या सम्भव था? तुम्हारे न रहने पर मुझसे क्या और कोई काम हो सकेगा? मैं कहता हूँ मैना, लड़कपन छोड़ो। सारे काम भाले की नोक से नहीं सधते। आज तुमने महाराज को भी संकट में डाल दिया था। तुमने उतावली न की होती तो आज यहाँ कुछ और ही दृश्य होता।"

"क्या होता?"

"महाराज का यह स्नान आज चक्रवर्त्ती का अभिषेक बनता।"

"चुप भी रहो। कब से तुम लोग ऐसी ही हाँकते रहे हो। एक घुण्डकेश्वर के मारे तो नाकों दम है और सपना देखते हो सारी सुरत्राण-सेना को पराजित करने का! वह निठल्ला, सिद्ध बना हुआ फ़कीर विद्याधर भट्ट पर वशीकरण साधता रहे और मैं टुकुर-टुकुर देखती रहूँ। प्रधान, तीन रेखा खींचकर कहे देती हूँ, इस देश को ये ही निठल्ले डुबा देंगे।"

"तो तुमने भाला तानकर क्या कर लिया, सुनूँ? मैंने विद्याधर भट्ट की आज्ञा से योजना बनायी थी। मैना, तुम इतनी भोली हो कि अपने को भट्टपाद से भी अधिक बुद्धिमती समझने लगीं! यह तुम्हारा अहंकार हमारे मार्ग में बड़ी भारी बाधा खड़ी करेगा। तुमने सब गुड़-गोबर कर दिया।"

"लो प्रधान, इस भाले से मेरा शरीर खण्ड-खण्ड कर डालो। इसी के साथ तुम्हारी बाधा भी मिट जायेगा। न रहेगा बाँस न बजेगी बाँसुरी। मैं कायरता को मान नहीं दे सकती, तुम चाहे उसे जितना बड़ा नाम दे दो। लो, उठाओ भाला। मार डालो मुझे। मैं सचमुच प्राण-दान के लिए कृत-संकल्प हूँ। तुम्हारे हाथों मर जाऊँगी तो अच्छा ही होगा।"

बोधा जोर से हँसे—"बस, लड़कियों की वीरता की यही चरम सीमा है। अरे भाई, मैं कायस्थ का बच्चा, मैं भाला चलाना क्या जानूँ?"

"केवल वाक्य-बाण चला सकते हो?"

"बहुत खेद है मैना, वह भी लड़कियों के अस्त्रागार में सुरक्षित हो गया है।"

"तुम कायर हो और अपनी कायरता को कूटनीति माना करते हो।"

"तुम्हारी बात ठीक भी हो सकती है मैना!"

"कहते लज्जा नहीं मालूम होती? विधाता ने तुम्हें पुरुष-विग्रह दिया है!"

"उससे गलती होती ही रहती है। देखो न तुम्हें नारी-विग्रह दे दिया है।"

"मैं जो हूँ सो ठीक हूँ।"

"तो फिर विधाता की इस ठीक रचना को भाले से छेदने का अब कोई तुक नहीं है न!"

"महाराज के सामने तो भीगी बिल्ली बने रहते हो, मुझसे शास्त्रार्थ करना हो तो वचनवागीश!"

"अच्छा, अच्छा, तुम जीतीं, मैं हारा। अब थोड़ी ठण्डी हो जाओ तो कुछ बात बताऊँ।"

"तो बताओ, मेरे कारण तुम्हारी कौन-सी योजना खटाई में पड़ गयी?"

"छोड़ो भी।"

"नहीं छोड़ूँगी, बताना पड़ेगा।"

"घुण्डकेश्वर भाग गया है, तुम्हारे कन्धे पर चोट आ गयी। महाराजाधिराज का चक्रवर्त्ती का अभिषेक रुक गया।"

"प्रधान, तुम मुझे बेध रहे हो। यों ही मार डालो। मैं तुम्हारी टेढ़ी बातें नहीं समझ पाती।"

"समझो, इसीलिए तो कह रहा हूँ।"

"समझाओ!"

"बहुत अच्छा। पहले वचन दो कि मेरी बात को ध्यान से सुनोगी—उपेक्षा-बुद्धि से नहीं, गौरव-बुद्धि से।"

"सुन रही हूँ।"

"धीर शर्मा को छुड़ाने का हम लोगों ने तिहरा जाल फैलाया था। पहला यह था कि घुण्डकों में भेद-बुद्धि उत्पन्न करनेवाले हमारे सैनिक यज्ञ-भूमि में उत्पात कर देंगे और घुण्डकेश्वर यूपकाष्ठ तक पहुँच ही नहीं सकेगा। धीर शर्मा को छुड़ा लिया जायेगा।"

"भेद-बुद्धि कैसी होती?"

"संक्षेप में सुनो। महाराज के निकल आने का समय हो गया है।"

"ठीक है, और?"

"इसमें असफलता भी होती तो धीर शर्मा बच जाते। किन्तु पहली योजना में ही सफलता मिल गयी।"

"कैसे बच जाते?"

"जैसे तुम बच गयीं।"

"अर्थात्?"

"अर्थात् घुण्डकेश्वर का बलि-परशु ऐसा ढीला था कि वह कसकर चलाते ही उखड़ जाता। धीर शर्मा बच जाते। तुम उतावली करके अपने गँवार सैनिकों के साथ न पहुँच जातीं तो घुण्डकेश्वर पकड़ लिया गया होता। एक तरफ उसने अपने ही लोगों का उपद्रव देखा, दूसरी ओर तुम्हारे सैनिकों का जयघोष सुना तो

बलि-परशु लिये ही भागा। भागते-भागते उसने तुम पर वार किया। ज्यों ही उसने परशु कसकर खींचा त्यों ही उसका फलक छिटककर दूर जा गिरा। तुम्हारी मूर्खता के कारण यह तुम्हारे कन्धे से टकरा गया। घुण्डकेश्वर भागा। तुम्हारे सैनिक उसके पीछे दौड़े। बेचारे वे सब तो बन्दी बना लिये गये, परन्तु घुण्डकेश्वर को अवसर मिल गया। अच्छा ही हुआ, नहीं तो महाराज भटकते ही रह जाते। हमारे सैनिकों ने तुम्हारे गँवार सैनिकों को घुण्डकेश्वर के सैनिक समझकर पकड़ लिया। विजयोल्लास में मत्त होकर वे शिविर में लौट आये।"

"और तीसरी बात क्या है?"

"कल सुनना। तुमने पहाड़ से कूदकर महाराज को जो भय-व्याकुल बना दिया, जिसके कारण वे स्वयं खड्ड में कूद पड़े, यह तुम्हारी सबसे बड़ी मूर्खता थी।"

मैना रो पड़ी, "बड़ा बुरा हुआ प्रधान, पर परमात्मा के अनुग्रह से महाराज बाल-बाल बच गये। जानते हो क्या हुआ? मुझमें एक बड़ा भारी भय है। रात को सपने में भी डर के मारे कभी-कभी चिल्ला उठती हूँ। जब ऊपर से नीचे की ओर झाँकती हूँ तो लगता है कोई बलात् पकड़कर मुझे नीचे फेंक रहा है। मेरा सारा शरीर सुन्न हो जाता है, सूझबूझ मारी जाती है। इस बार भी ऐसा ही हुआ। वैसे मैं अपनी कमर में रस्सी बाँधकर उतर रही थी, पर एकाएक मेरी दृष्टि नीचे की ओर गयी और सारा शरीर सन्न हो गया। मैं बेसुध गिर पड़ी। कमर की रस्सी ने मुझे रोक लिया, पर गिर तो मैं गयी ही। पता नहीं, यह क्यों होता है! कोई ग्रह है या भूत है, जो मुझे इस तरह फेंक दिया करता है।"

बोधा आश्चर्य से बोले, "ऐसा? यह तो मेरी ही बीमारी है। मुझे जब कोई ऊपर हाथ उठाकर कहता है, 'ले लो', तो मेरा रक्त जम जाता है। लेकिन इसका कारण है। मैं तो मूल बात जानकर बहुत-कुछ नीरोग हो गया हूँ। तुम भी जान लो तो कदाचित् स्वस्थ हो जाओ। तुमने पहले बताया होता तो अब तक यह भूत भाग गया होता।"

"बताओ प्रधान, अवश्य बताओ। इस बीमारी के कारण आज तो अनर्थ ही हो गया होता।"

"तो सुनो। नाटी माता ने मेरे ऊपर ही छोड़ दिया है कि उपयुक्त अवसर पर इस कहानी को तुम्हें सुना दूँ। मैं बराबर असमंजस में पड़ा रहता था। आज सुना ही देता हूँ।

"बहुत पहले की बात है। मेरी अवस्था उस समय आठ-नौ साल की होगी। मेरे पिता न जाने कहाँ चले गये। माता ने मुझे विद्याधर भट्ट के पास पढ़ने को छोड़ दिया और स्वयं भी स्वर्ग सिधार गयीं। मैं अनाथ बालक भट्टपाद का स्नेह और मान पाकर पढ़ने भी लगा और बढ़ने भी लगा। भट्ट ने अपने हृदय का सारा स्नेह ढालकर मुझे पढ़ाया। उनके मन के किसी कोने में यह गुप्त लालसा थी कि मुझे किसी बड़े साम्राज्य के मन्त्रीरूप में देखेंगे। उनकी अध्यापन-शैली में यह

उद्देश्य प्रधान था। उन्होंने आरम्भ में मुझे पंचतन्त्र पढ़ाया। प्रतिदिन वे मुझसे राजनीतिक समस्याओं के उलझनदार प्रश्न पूछते थे। यदि ऐसा हो तो क्या करोगे, ऐसी समस्या आ जाये तो क्या मार्ग निकालोगे ? मैं यथाबुद्धि उत्तर देता। वे मेरी बुद्धि को विकट समस्याओं के शाण-पट्ट पर खरादना चाहते थे। मैं प्रसन्नतापूर्वक उनका समाधान बताता था। पर यह क्रम अधिक दिन नहीं चल सका। दुर्भाग्य ने मुझे फिर अनाथ बना दिया। एक दिन बिना किसी से कुछ कहे भट्टपाद कहीं चले गये। मैं जैसा अनाथ पहले था, वैसा ही फिर हो गया। नगर में हल्ला मचा कि रानी ने कुचक्र करके ग़ोरी की सेना बुला ली है; भयंकर रक्तपात होनेवाला है। बहुत लोग नगर छोड़कर इधर-उधर भागने लगे। मैं भी भाग खड़ा हुआ। ग्यारह वर्ष के बालक को बुद्धि ही कितनी ?"

मैना खिलखिलाकर हँस पड़ी। बोली, "आज भी तो उसी बुद्धि का अभ्यास करते जा रहे हो !" बोधा अप्रतिहत रहे। बोले, "कहा न कि सारे वाक्य-बाण लड़कियों के शस्त्रागार में चले गये हैं। अच्छा, सुनती जाओ।"

"सुनाइए।"

"भय के मारे लोगों का विवेक तो नष्ट हो ही गया था, मनुष्य के सामान्य धर्मों से भी वे च्युत हो गये थे। मैं अगर किसी परिवार के साथ हो लेता तो लोग भगाने लगते, मारने पर भी उतारू हो जाते। डर था कि अधिक आदमी हो जायेंगे तो सन्देह का कारण मिल सकता है। फिर एक लड़का साथ-साथ चलता रहेगा तो उसको छोड़कर अपने बच्चों को खाना देना कठिन हो जायेगा। मैं हर परिवार का कोप-भाजन हो रहा था। पेट की ज्वाला जो थी सो तो थी ही, अपमान की ज्वाला और भयंकर थी। सबसे अलग मैं खेतों, जंगलों और बीहड़ मैदानों के रास्ते भागने का प्रयत्न करता रहा। कभी कोई दयालु दो-चार अन्न के दाने दे देता तो उसे अपना परम भाग्य मानता। मुझे ठीक स्मरण नहीं कि कितने दिनों तक यह अवस्था रही। एकाएक एक जंगली रास्ते पर नाटी माता मिल गयीं। और भागनेवालों के समान इनमें हड़बड़ी नहीं थी। बहुत शान्ति के साथ वे चल रही थीं। उन्हें मैंने विद्याधर भट्ट के घर पर देखा था। वे भी मुझे देख चुकी थीं। मुझे देखते ही वे पहचान गयीं और आश्चर्य के साथ पूछा कि मैं क्यों इधर आ गया। सारी स्थिति समझ लेने के बाद उन्होंने दीर्घ निःश्वास लिया। बोलीं, 'आ बेटा, तू भी मेरे जैसा ही अभागा है। वहीं चल जहाँ विद्याधर भट्ट की आज्ञा से मैं जा रही हूँ। मुझे भी एक साथी चाहिए था बेटा ! तू विपदा का साथी है। आ बेटा, साथ ही चल !' माताजी की आँखों से अश्रुधारा झरने लगी। मैं उनकी गोद में कूद पड़ा, मुझे परम शान्ति मिली।"

बोधा कुछ भाव-गद्गद से जान पड़े। वे कुछ देर तक चुप रहे। जान पड़ता है मैना की उत्सुकता बढ़ गयी। कहानी में विलम्ब होता देख वह आग्रहपूर्वक बोली, "फिर क्या हुआ प्रधान ?"

"फिर ? फिर तो मेरे जीवन का नया अध्याय शुरू हुआ।"

"नया ? कैसा नया ?"

"क्या बताऊँ मैना ! मैं उस समय बहुत छोटा था। सब बातें समझ में नहीं आती थीं। आज भी कितनी बातों को समझ पाता हूँ। बड़ा हुआ तो जान पड़ा कि पहले जो करता था वह बच्चों का खेल था। क्या और बड़ा होऊँगा तो इस समय जो कर रहा हूँ यह भी बच्चों का खेल नहीं जान पड़ेगा? शायद सबसे बड़ा वह है जो सब-कुछ बच्चों का खेल मानता है।"

"क्या जाने क्या बात है ! आगे की सुनाओ।"

"अन्तिम बार जब मैंने माताजी को अपने गुरु के पास देखा था, वह दृश्य भूलता नहीं। वे निर्मम भाव से उन्हें डाँट रहे थे; वे रो रही थीं। बिलख-बिलखकर कह रही थीं, 'आप ही मेरे पिता हैं, आप ही मुझे शरण दें, मैं ऊब गयी हूँ। पृथ्वी-राज के दरबार से भागकर यहाँ आयी, यहाँ और भी कुचक्र है। पिता ! मेरी रक्षा करो, मेरे रूप को नष्ट कर दो, मेरे तथाकथित गुणों को नष्ट कर दो। मिट्टी के ग्राहक हीरे की उपेक्षा करते हैं। पिता, मुझे मिट्टी के ग्राहकों के हाथ से बचाओ।'

"मेरे गुरु रो पड़े। माताजी के सिर पर हाथ रख दिया और रोते-रोते बोले, 'तू नहीं जानती बेटा, मैं कितना असहाय हूँ। यह देश रसातल को जानेवाला है। यहाँ मिट्टी का दाम अधिक आँका जा रहा है, छिलके का मोल बढ़ गया है। पुरुष नारी को मांस-पिण्ड समझकर भुक्खड़ गिद्ध की तरह उस पर टूट रहा है। नारी भय से व्याकुल होकर अपना वास्तविक धर्म भूल गयी है—विधाता ने तुझे दण्ड देने के लिए यह रूप नहीं दिया था, पर मनुष्य की विकृत बुद्धि ने वरदान को अभिशाप बना दिया है। मैं व्याकुल हूँ बेटा, तू मेरा आश्रय न खोज। छोड़ दे इस पाप-नगरी को। जा, चली जा कहीं और, किसी बड़े की शरण में। भगवान् की शरण में जा बेटा ! भगवान् ही अशरण-शरण हैं। जिन्हें दुनिया पतित समझती है उन्हें भी वहीं आश्रय मिलता है।' माताजी ने पूछा, 'कहाँ जाऊँ? आप ही कोई स्थान बता दें।' वृद्ध मन्त्री को कुछ सूझ नहीं रहा था। व्याकुल थे। बोले, 'तू जगन्नाथपुरी चली जा। वहीं तुझे पतितों के परमात्मा के दर्शन होंगे, निराश्रयों के आश्रयदाता मिलेंगे, दरिद्रों के नारायण प्राप्त होंगे। जा बेटा, छोड़ दे इस पाप-नगरी को। इस नगरी के बाहर जब तक तू नहीं निकल जाती तब तक मैं इसका सर्वाधिकारी बना रहूँगा। ज्यों ही तू पतित-पावन के क्षेत्र में प्रवेश करेगी, त्यों ही मैं भी इस पाप-पुरी को छोड़ दूँगा।'

"मैना, आगे की कहानी तुम्हारे रोग की औषध है। लेकिन एक बार देख लेने दो कि महाराज के बाहर आने में कितनी देर है।"

मैना ने दीर्घ निःश्वास लिया। बोधा उठकर गुहा की ओर गये। थोड़ी ही देर में वे फिर लौट आये। जान पड़ता था वे आश्वस्त थे कि महाराज के बाहर आने में अभी देर है। कहानी आगे बढ़ी :

"कई दिन बाद हम लोग जगन्नाथपुरी पहुँचे। माताजी ने भक्ति-भरे कण्ठ से उनकी ऐसी स्तुति गायी कि देखते-देखते उनकी कीर्ति-कथा सर्वत्र फैल गयी।

मन्दिर के पुजारी लोग उन पर श्रद्धा करने लगे। हमारे दिन अच्छे कटने लगे। सन्ध्या की आरती के बाद माताजी का स्तव-पाठ प्राय: नित्य का नियम हो गया। इसी बीच एक अप्रत्याशित घटना घटी, जिसने माताजी का जीवन ही मोड़ दिया। जगन्नाथपुरी के मन्दिर में बहुत देव-दासियाँ थीं। प्राय: किसी मनौती के अनुसार गृहस्थ-भक्त अपनी बालिका या युवती कन्याओं को सजा-बनाकर देवता को समर्पित कर जाते थे; ये ही देवदासियाँ कहलाती थीं। इनका काम नाच-गान के द्वारा देवता की सेवा करना था। पर धर्म हर समय देवता को लक्ष्य करके ही नहीं चल पाता। देवता के भक्त भी कभी-कभी उसके लक्ष्य बन जाते हैं। जो हो, एक दिन एक डेढ़-दो वर्ष की छोटी बालिका मन्दिर के द्वार पर पायी गयी। उसे पूर्ण रूप से सजाया गया था। वह बिल्कुल गुड़िया-सी लगती थी। पता नहीं किस क्रूर माता-पिता ने उस दुधमुँही बालिका को देवता के चरणों में समर्पित किया था। उस दिन मन्दिर में बड़ा हो-हल्ला मचा था। इस विचित्र देवदासी का क्या हो? वह धर्म-सम्मत विधि से समर्पित भी नहीं थी। परन्तु निस्सन्देह वह देवता के उद्देश्य से ही वहाँ डाल दी गयी थी। वह बुरी तरह रो रही थी। देखनेवालों की भीड़ लगी हुई थी। धर्मशास्त्री पण्डित उसके भविष्य की व्यवस्था पर शास्त्रार्थ-विचार में मग्न थे। इसी समय माताजी पहुँचीं। मैं भी साथ था। उस सुन्दर फूल-सी बालिका को देखकर माताजी का हृदय उमड़ आया। उन्होंने गिड़गिड़ाकर पुजारी से कहा कि 'बाबा, इस बालिका को मुझे दे दो।' पुजारी के लिए वह नन्ही बालिका स्वयं समस्या थी। पर जब तक धर्मशास्त्रियों का निर्णय नहीं मिल जाता तब तक वह कुछ कर नहीं सकता था। स्थिति यह थी कि पुजारी मण्डप के चत्वर पर उस रोती हुई बालिका को लिये खड़ा था और माताजी और मैं नीचे खड़े होकर गिड़गिड़ा रहे थे। माताजी बालिका का रोना देखकर और भी व्याकुल हुईं। पीछे से अपार भीड़ चिल्ला रही थी, 'दे दो, दे दो।' कुछ देर में माताजी बेहोश होकर गिर गयीं। भीड़ ने चिल्लाकर कहा, 'दे दो।' मैं रोने लगा। पुजारी विचित्र असमंजस में था। कुछ देर बाद धर्मशास्त्रियों का निर्णय मिला, 'बालिका देवता को समर्पित है। जो ले, वह उसे देवता के प्रसाद के रूप में ग्रहण करे।' पुजारी ने बालिका को देवता के चरणों में लगाया और बाहर आकर चिल्लाया, 'ले, बालिका को प्रसाद समझकर ग्रहण कर!' माताजी संज्ञाहीन! पुजारी ने फिर चिल्लाकर कहा, 'लेती है कि नहीं भाग्यहीना!' माताजी के कानों में शब्द गये। वे उठकर बैठ गयीं और आलस्य-जड़ित नयनों से देखने लगीं। पुजारी ने ऊपर से बालिका को छोड़ दिया। वह बेचारी चीख उठी। मैंने बीच में ही पकड़ लिया। पुजारी ने आँखें ततेरकर कहा, 'तूने ले लिया, पाषण्ड!' फिर माताजी ने जल्दी-जल्दी उस बालिका को गोद में दबा लिया। उनके वक्ष:स्थल से दूध की धारा बह चली। मैना, तुम्हीं वह बालिका हो।"

आकाश का पूर्वी छोर चन्द्रमा की उदय-गूढ़ रश्मियों से उद्भासित हो उठा। घनच्छाय कपित्थ और खदिर के वृक्षों की शिखाएँ उनकी सूचना-मात्र से दमक उठीं। ऐसा जान पड़ा जैसे वनस्थली में कुछ नयी आशा की ज्योति प्रकट होनेवाली है। अब भी अन्धकार पूरे वैभव के साथ जमा हुआ था, किन्तु स्पष्ट लग रहा था कि अधिक देर तक स्थिर नहीं रह सकेगा। मेरी जड़ता के अन्धकार का भी कहीं अवसान है? पूर्व दिगंचल चंचल हो उठा, वृक्षों के झाँझरे पर्दे के भीतर से प्राची दिशा-रूपी वधू का मनोहर मुख अब भी साफ़ नहीं दिखायी दे रहा, परन्तु इतना तो स्पष्ट ही लग रहा है कि उसने अपने अस्त-व्यस्त चिकुर-जाल को समेटना शुरू कर दिया है। प्रसन्नता क्या छिपाये छिपती है?

मैंने स्थान-परिवर्तन करना उचित समझा। चोरी-चोरी जितना सुन चुका हूँ उतने का भार ही दुर्वह जान पड़ता है। अधिक क्या सँभाल सकूँगा? मैना पुरुषोत्तम-क्षेत्र का प्रसाद है, ग़लती से बीच में ही ले ली गयी। चन्द्रमा ऊपर उठ रहा है, न जाने किस आशा का सन्देश लेकर। मन जाने कैसा-कैसा अनुभव कर रहा है! चुपचाप उस ओर खिसक गया जिधर अलहना सो रहा था।

आकाश साफ़ हो गया। चन्द्रमा कब क्षितिज से ऊपर आया, कब उसने अपनी रागारुण शोभा को झाड़ दिया और कब उसकी निर्मल मरीचि-माला अशेष जगत् को उत्फुल्ल करने के कार्य में तन्मय हो गयी, कुछ पता नहीं चला। लाली झड़ गयी, झड़ती ही रहती है, झड़ ही जानी चाहिए। नहीं झड़े तो दुनिया अँधेरे में पड़ी रह जाये। राग की आभा व्यक्ति तक ही सीमित है, ज्योत्स्ना सम्पूर्ण विश्व की शामक शोभा है।

परन्तु आज मन व्याकुल हो गया है। जानना चाहता है, क्यों इतना बड़ा आयोजन हुआ, किसके लिए? किस अनुराग की अरुणिमा ने पूर्व दिग्वधू के मुख को लज्जा की आभा से इस प्रकार दीप्त कर दिया? निखिल भुवन के ऊपरले स्तर पर परिदृश्यमान कोलाहल के अन्तराल में क्या कहीं चोरी-चोरी प्रीति-तरल अनुराग-लीला चल रही है? अचानक इतना राग, इतनी आभा, इतनी दीप्ति क्या यों ही ढरक पड़ती है? जिस समय सारा विश्व गाढ़ निद्रा में निमग्न है, उसी समय इतना विपुल आयोजन, इतनी विराट् साज-सज्जा क्या सिर्फ़ बात-की-बात है? मेरा अन्तर्यामी कह रहा है, नहीं, व्यर्थ नहीं है, कहीं कुछ चल रहा है—लोकचक्षु के अगोचर गुपचुप।

फिर सारा आयोजन कितनी देर के लिए? पलक मारते रागारुण लीला समाप्त हो जाती है, लुकाचोरी का खेल खत्म हो जाता है, अनुराग का कुहक शून्य में विलीन हो जाता है, क्रीड़ा की इन्द्रधनुषी रंगीनी विस्मृति के अतल गह्वर

में विलुप्त हो जाती है। इस अपव्यय का भी कोई ठिकाना है? रंग और रूप का इतना बड़ा आयोजन सिर्फ़ कुछ क्षणों में अदृश्य हो जाता है, बच रहता है प्रयोजन का रंगहीन, रूपहीन, प्रभावहीन आवेग। चन्द्रमा अब शुभ्र कलहंस की भाँति निर्मल आकाश-सरोवर में तैर रहा है—निरीह भलेमानस के समान।

रानी गुहा से बाहर आयीं। जान पड़ता था मुझे खोज रही हैं। उठकर उनके पास पहुँचा। शुभ्र कौशेय वस्त्र से आगुल्फ आवेष्टित उनकी तन्वी अंगयष्टि क्षीरसागर में खिली दमनक यष्टि की शोभा को लजा रही थी। अतर्कशित देहलता झीने वस्त्र के आवरण को भेदकर जगमग कर रही थी। यद्यपि उनकी आँखें झुकी हुई थीं और सीमन्त से यत्नपूर्वक खिसकाया हुआ घूँघट आधे लिलार तक बढ़ आया था, परन्तु सहज अनुभाव की बंकिम तरंग-रेखा आवरण का बाँध तोड़कर मानस-जगत् को चंचल बना रही थी। मेरी ओर उन्होंने देखा और फिर आँखें झुका लीं। कदाचित् भगवती के सामने मुझे जी भरकर देखने का साहस उन्हें नहीं हुआ। मैं भगवती के आदेश की प्रतीक्षा में कुछ सुनने की आशा रखता था, इसलिए बिना कुछ कहे रानी के सामने खड़ा हो गया। रानी और भी निकट आ गयीं। बोलीं कुछ नहीं। लज्जा-भार से झुकी हुई आँखों से उन्होंने एक बार फिर मेरी ओर देखा।

एक क्षण में मानो अमृत का लेप हुआ, या संजीवन औषध का सिंचन हुआ, या चन्द्र-किरणों का अभिषेक हुआ, मेरा अंग-अंग उल्लसित-सा, अनुगृहीत-सा, परितृप्त-सा अनुभूत हुआ। रानी के प्रवाल-शोण अधरों पर हल्की स्मिति-रेखा दिखायी पड़ी, नयन-कोरकों में चंचल विलास-लीला थिरक गयी और कपोलपालि पर उल्लास-बन्धुर पुलक-रेखा गतिशील हो उठी। आँखें झुकती गयीं, हाथ धीरे-धीरे ऊपर उठते गये। मैं भी कुछ समझ नहीं सका। यह सब क्या हो रहा है, कैसे हो रहा है? क्या चन्द्रमा की मरीचिमाला ने हाथों का विग्रह धारण किया है? क्या कमलश्री गतिशील हो उठी है? क्या प्रफुल्ल दमनक-लता में प्रवाल-कोरकों की परम्परा उत्पन्न करने की लालसा बलवती हो उठी है? मैं आश्चर्य-जड़ित मुद्रा में खड़ा रह गया। रानी की आँखें और झुकीं, किन्तु प्रवाल-शोण अधरों पर व्रीड़ा-चपल स्मिति-रेखा और भी उभरती गयी। रानी के हाथ मेरे मुँह के पास आ गये। अस्फुट शब्द कान में पहुँचे—'पान!' तो यह पान था! झम-से पुलक-कम्पन की एक अप्रतिरोध्य झंझाकुल तरंग शिरा-शिरा में लहर उठी। मातृकल्पा भगवती विष्णुप्रिया के दरबार में यह कैसा आयोजन है? कदाचित् किसी मंगल अनुष्ठान का यह समापन-विधान है। मैंने मंगल-ताम्बूल ग्रहण किया। फिर रानी के इंगित के अनुसार भगवती के पास गुहा में गया।

इस समय गुहा में चन्द्रमा की धवल प्रभा अबाध भाव से प्रवेश कर रही थी। जान पड़ता था क्षीर-समुद्र की धारा पालि तोड़कर ढरक पड़ी हो। भगवती के तेजोदीप्त मुख पर ज्योत्स्ना की धवल धारा सीधे बरस रही थी। ऐसा जान पड़ता था कि जैसे सरस्वती ने वैराग्य का विग्रह धारण किया हो, कामनारहित भक्ति

ने ही क्षीरसागर का आश्रय लिया हो, तपस्या की मूर्त्ति धारण करके परा-विद्या ने ही गुहावास का व्रत लिया हो, अभिचार-साधना से ऊबी हुई करुणा ने ही निर्जन-वास का निश्चय किया हो, तथागत की धर्म-देशना ने ही सरस प्रेम-साधना का संकल्प किया हो।

हम दोनों ने साथ-ही-साथ भगवती को प्रणाम किया। मुँह से उन्होंने कुछ कहा नहीं, किन्तु उनके रोम-रोम से आशीर्वाद की वर्षा हो रही थी। मैंने अपना भाग्य सराहा। क्षण-भर मौन रहने के बाद बोलीं, "मंगल-अभिषेक तेरा हो गया। नाटी की यही साध थी। पूरी हुई। जानकर प्रसन्न होगी। जा बेटा, तेरी शक्ति लौटा दी इन्होंने। लीलाधर हैं, सारी दुनिया इन्हीं की इच्छा पर चले। पर दुनिया है कि अपने रास्ते जाना चाहती है। इनका मन है कि दुनिया को ठग लें, दुनिया का मन है कि इनको ठग ले। लुका-छिपी का खेल खेला जा रहा है। माया ऐसी कि किसी को जानने नहीं देंगे कि वह चाहता क्या है ! तू जानता है बेटा, कि तू चाहता क्या है ? बोल तो, सुनूँ भी।"

बेढब प्रश्न किया माताजी ने। कैसे बताऊँ क्या चाहता हूँ ? कुछ ठीक उत्तर नहीं सूझ पाया। बुद्धिमान का कौशल मौन है। मैं कोई उत्तर न देकर चुपचाप उनकी ओर ताकता रहा।

भगवती ने स्नेह के साथ कहा, "बता न बेटा ! तेरी इच्छा ये ही न पूरी करेंगे ! तेरी क्या मनोकामना है ? राज्य चाहता है, धन चाहता है, वैभव चाहता है या मेरी तरह इन्हीं को चाहता है ?"

फिर क्षण-भर रुककर बोलीं, "नहीं बताना चाहता, क्योंकि तू नहीं जानता। सीधी-सी बात है। कोई नहीं जानता कि वह क्या चाहता है। तुझे नहीं मालूम, रानी को भी नहीं मालूम। यही होता है बेटा, पता नहीं कि क्या चाहते हैं हम, और प्रयत्न किये जा रहे हैं। रानी कहती है कि वह सारे संसार का दुःख दूर करना चाहती है, उसके लिए जोग साधने गयी थी। सारे दुःखों को दूर करने की जो दवा है, उसे ही क्यों नहीं चाहती भोली ! कहती है, ध्यान में या सपने की बेहोशी में उसने माया और गोरखनाथ की बात सुनी है। गोरखनाथ से भगवती ने कहा, 'तुम माया को नहीं जीत सकते।' गोरख ने कहा, 'अवश्य जीतेंगे।' कैसे जीतोगे बाबा, भूत तो सरसों में है। यह जो जीतना-हारना है, यही तो माया है। माया कहीं बाहर है ? हम हैं, यही तो माया है। यह जो कुछ देख रहे हो, सुन रहे हो, समझ रहे हो, अनुभव कर रहे हो, सब तो माया है। मैं कुछ कर रहा हूँ, जान रहा हूँ, समझ रहा हूँ, यह सब तो अहंकार का ही रूप है। पर कहाँ गोरख, कहाँ माया ! बात तो इसके मन की है। इसने जो देखा सो इसके अपने मन की बात है। मन से तो संसार बनता है बेटा ! वास्तव में रानी चाहती कुछ और थी, समझती कुछ और थी। असली माया तो यही है। यदि मनुष्य का जानना और चाहना एक हो जाये तो टण्टा समाप्त !"

भगवती थोड़ी देर के लिए मौन हो रहीं। ऐसा जान पड़ा, वे ध्यानस्थ हो

गयीं। उनका बाहरी व्यापार अन्तर्मुख हो गया। वे निवात-निष्कम्प दीपशिखा की भाँति स्थिर हो रहीं। हम दोनों हाथ जोड़े उसी प्रकार बैठे रहे। देर तक प्रतीक्षा नहीं करनी पड़ी। उनका ध्यान जल्दी ही भंग हुआ। बोलीं, "बेटा, तू राजकाज का जीव है, मैं तुझे विशेष कुछ बता नहीं सकूँगी, केवल आशीर्वाद दे सकती हूँ। जिस कार्य में लगा है उसमें तेरी मंगल-बुद्धि बनी रहे। मनुष्य निमित्त-मात्र बन सकता है। जो करना होगा वह ये ही करेंगे। न व्याकुल होने की आवश्यकता है, न चिन्तित होने की। तेरी बुद्धि निर्मल हो, हृदय सेवापरायण हो, तेरे मन में भगवान् का वास हो!"

मैंने विनीत भाव से पूछा, "भगवती, वह मंगल अभिषेकवाली बात नहीं समझ सका। यदि अनुचित न हो तो जानने का प्रसाद पाना चाहता हूँ।"

भगवती ने प्रसन्नता प्रकट की। उनके मुख से सन्तोष का भाव प्रकट हुआ। बोलीं, "यह जो ताम्बूल है न बेटा, यह शिव और शक्ति का युक्त प्रत्यक्ष विग्रह है। यह गृहस्थ धर्म का साक्षात् रूप है। भगवान् को जब लीला-विस्तार की इच्छा हुई तो उनके ज्ञानमय चिन्मय वपु ने दो दिशाओं में चलकर रूप परिग्रह किया। एक तो उनकी विलास-लीला इच्छा के रूप में और दूसरी क्रिया के रूप में अभिव्यक्त हुई। यही कारण है कि ज्ञान, इच्छा और क्रिया-रूप में यह जगत् त्रिधा-विभक्त है। त्रिधा-विभक्त होने की सामर्थ्य रखनेवाली इसी शक्ति को कोई आद्या शक्ति, कोई त्रिपुरा, कोई सीता, कोई महामाया कहता है। बात एक ही है। नाम उसके बहुत हो सकते हैं, तत्त्व एक ही है। ज्ञान से निकली हुई दो शाखाएँ—इच्छा और क्रिया—यही अधोमुख त्रिकोण है। यही ऊर्ध्वशाख अधोमूल अश्वत्थ है, यही त्रिगुणात्मक जगत् है। इसमें ज्ञान नीचे की ओर पड़ा हुआ है।

"पान के पत्ते में यही त्रिकोण दिखायी देता है। कह सकते हो कि यह मानसिक जगत् का एक छोटा-सा प्रतिमान है। यह उस शक्ति का प्रतीक है जिसने स्थूल जगत् में नारी-कलेवर धारण किया है। और यह जो पूगीफल है, जो नीचे से दीर्घ और ऊपर सूक्ष्म होता है, वह शिवतत्त्व है। जब क्रिया और इच्छा दोनों ज्ञान की ओर बढ़ने लगती हैं तो नर-नारी के पिण्ड में—इस स्थूल काया में—चिन्मय शिवतत्त्व की ज्योति जगती है। शिव और शक्ति की इसी लीला को शक्ति-साधक अधोमुख और ऊर्ध्वमुख त्रिकोण में अंकित श्री-चक्र कहते हैं, बौद्ध साधक वज्र कहते हैं। परन्तु ताम्बूल ही गृहस्थ का श्री-चक्र है। इसमें केवल शिवशक्ति का लीला-विलास ही नहीं; उनका तेज भी विन्यस्त है। खदिरराग (कत्था) शक्ति का तेज है, सुधाचूर्ण (चूना) शिवतत्त्व का तेज है। सो, ताम्बूल-वीटक गृहस्थ को भगवान् की आदि-सिसृक्षा और समस्त जगत्व्यापी तेजोयोग का स्मरण तो दिलाता ही है, संसार में रहते हुए संसार-चक्र से मुक्त होने के उपाय का भी स्मरण दिलाता है। इसीलिए शास्त्रकार इसे गृहस्थ के लिए परम मंगलमय मानते हैं। गृहस्थी की कोई पूजा इसके बिना सफल नहीं मानी जाती।

"रानी को मैंने यह रहस्य समझाया है। दूसरों की बात में पड़कर इसने

गृहस्थ-धर्म की मर्यादा भुला दी थी। यह जोग साधने के चक्कर में जा फँसी। ताम्बूल नारी-धर्म को ठीक-ठीक व्यक्त करता है। देख बेटा, जिस प्रकार पान और सुपारी, चूना और कत्था मिलकर एकमेक हो जाते हैं, उसी प्रकार जब पुरुष और नारी और उनकी तेजोगरिमा एकमेक हो जाते हैं, तभी अलौकिक आनन्द के हेतु बनते हैं। कैसे बनते हैं? एक-दूसरे को परिपूर्ण भाव से आत्मसमर्पण करके। गाँठ बाँध ले बेटा, जहाँ परिपूर्ण आत्म-समर्पण है वहीं भगवान् आप-रूप होकर प्रकट होते हैं। जाओ बेटा, तुम दोनों का मन एक हो, व्रत एक हो, संकल्प एक हो। रानी चन्द्रलेखा को विधाता ने बत्तीस लक्षणों से सँवारकर भेजा है। यह तैंतीसवाँ लक्षण ही पारमार्थिक लक्षण है—परिपूर्ण आत्म-समर्पण। चन्द्रलेखा का सुहाग धन्य हो! मैंने आज का ताम्बूल लीला-निकेतन के प्रसाद के रूप में दिया है। तुझे और क्या चाहिए बेटा, तेरी शक्ति लौटा दी गयी है, तुझे भगवान् का प्रसाद मिल गया है, जो काम परिपूर्ण अर्पण-बुद्धि से करेगा वह अवश्य सफल होगा।"

मैंने शिरसा प्रणाम करके भगवती के आशीर्वचन को ग्रहण किया। हाथ जोड़कर बोला, "धन्य हूँ मातः, कृतार्थ हूँ, सफलकाम हूँ, परन्तु जानना चाहता हूँ कि जानना और चाहना कैसे एक होंगे। यदि अनुचित न समझें तो यह दास कृतकाम होगा। मूढ़ हूँ मातः, न ज्ञान, क्रिया, इच्छा के इस रहस्य को समझ पा रहा हूँ और न यही समझ पा रहा हूँ कि मेरा कर्तव्य क्या है?"

भगवती के वली-कुंचित मुख पर आनन्द की धारा-सी बह गयी। बोलीं, "जानते हो बेटा, भगवान् ने किसी समय अर्जुन को बताया था कि सहज कर्म अगर सदोष भी हो तो उसे छोड़ना नहीं चाहिए। फिर बड़े-बड़े पण्डितों ने इस सहज-सी बात को तरह-तरह से समझाया है। मनुष्य में काम, क्रोध, लोभ, मोह स्वाभाविक रूप से विद्यमान रहते हैं। कुछ लोगों ने कहा कि सहज कर्म का मतलब है सभी मनोविकारों को ज्यों का त्यों स्वीकार कर लेना। भगवान् ने बुद्ध अवतार में अच्छी तरह समझाया कि मनुष्य का सहज स्वभाव इन विकारों को छोड़ने का है। परन्तु लोग अपने रास्ते चलते गये और सहज-साधना के नाम पर ऐसी बहुत-सी बातें करने लगे जो मनुष्य को पशु बना देती हैं। घुण्डक साधु तो यही प्रचार करते हैं कि मनुष्य पशु ही है। पशु को पशु की तरह से रहना चाहिए। वह पाश में बँधा हुआ है। कर ही क्या सकता है? पशु जब पशु की तरह रहने लगता है तभी पशुपतिनाथ प्रसन्न होते हैं। घुण्डक साधुओं ने इस मत को बहुत बड़े तत्त्ववाद का रूप दे दिया है। वे कहते हैं कि पशु किसी का खेत चर सकता है, उसे दोष नहीं लगता। दोष-गुण सब पशुपति का है। वही जब चाहें तो पाश या बन्धन खोल सकते हैं। जो चाहो करो, जैसे चाहो रहो, दोष कहीं नहीं है। इसका फल यह हुआ कि घुण्डक साधु कुछ भी करने में हानि नहीं मानते। मतलब सधे तो वे गोहत्या करा सकते हैं, मन्दिर तुड़वा सकते हैं, स्त्रियों पर बलात्कार कर सकते हैं, गाँवों में आग लगा सकते हैं। परन्तु, अगर इसका नाम तपस्या है तो पाप और क्या हो सकता है बेटा!

"असल में वे इच्छा और क्रिया को ज्ञान के अधीन नहीं मानते। मन में हज़ार वासनाएँ उठती हैं। उनके अनुसार अगर आदमी चलने लगे तो बड़ा विकट परिणाम होगा। देखना चाहिए, यह इच्छा क्यों उत्पन्न हो रही है और कहाँ ले जायगी। और इसके लिए ज्ञान की आवश्यकता है। ज्ञान जिसके मूल में है और ज्ञान ही जिसकी सम्पत्ति है, वही क्रिया ठीक हो सकती है। भगवान् ने गीता में इसीलिए कहा था, 'हे अर्जुन, सभी कर्म ज्ञान में समाप्त हो जाते हैं।' यह ज्ञान छोटी-मोटी जानकारी से बड़ा है। शास्त्रों में इसका प्रयत्न किया गया है कि छोटे-से-छोटे काम में मनुष्य को वह मूल बात याद आती रहे। हम जो भी करें उसके पहले हमें यह स्मरण रखना चाहिए कि यह क्रिया और इस क्रिया के करने की इच्छा किसी बड़े ज्ञान का परिणाम है और इसी बड़े ज्ञान में इसकी समाप्ति होगी। छोटे-से-छोटा काम भी अपने-आपमें पूर्ण नहीं। उसका आरम्भ बड़ी दूर से है और अन्त भी बड़ी दूर तक पहुँचनेवाला है। इतना-सा ज्ञान मन में बना रहे तो घुण्डकों के द्वारा प्रचारित तत्त्ववाद प्रपत्ति अर्थात् शरणागति का रूप धारण करेगा। यह सही है कि हम लोग निमित्त-मात्र होकर भगवान् की इस लीला में सहायक बने हुए हैं। परन्तु घुण्डक लोग न आदि देखते हैं और न अन्त देखते हैं।"

मुझे बड़ा आश्चर्य हुआ। मैंने पूछा, "भगवति, क्या घुण्डकों का भी कोई सम्प्रदाय है? और उनका भी कोई दर्शन है?"

भगवती ने कहा, "वे दावा तो ऐसा ही करते हैं। देखो, यही घुण्डकेश्वर दिल्ली के सुलतान से मिला। उसकी सहायता लेकर उसने गौ-ब्राह्मणों का नाश किया, गाँव-के-गाँव जला दिये, फिर भी वह समझता है कि वह तप कर रहा है। और भी बहुत-से साधु-सम्प्रदाय हैं जो स्वार्थ के कारण अनुचित कार्य किया करते हैं, परन्तु वे मन-ही-मन स्वीकार करते हैं कि वे अनुचित काम कर रहे हैं। परन्तु घुण्डकेश्वर जब ऐसा काम करता है तो खुले तौर पर स्वीकार करता है कि वह उचित कर रहा है। इस कार्य को वह वीर-साधना कहता है। अपने को वह परम पाशुपत मानता है। क्यों ऐसा होता है? क्योंकि अब उसने अपने स्वार्थमय कार्यों को बड़े तत्त्ववाद का रूप दे दिया है। वह भक्ति को कायरता मानता है, अवसर-वादिता को वीरता समझता है, स्वार्थ को परमार्थ कहा करता है। इसलिए उसे लोकलज्जा का भय नहीं है। ऐसे उद्दण्ड लोगों को समझाना-बुझाना भी बेकार है। भगवान् ने ऐसे ही लोगों को दुष्कृत् कहा है। ये लोग समझाने-बुझाने से नहीं मानते। इनको दण्ड देने के लिए भगवान् को बार-बार अवतार धारण करना पड़ता है। देवता लोग बार-बार पृथ्वी पर आकर धर्म की रक्षा के लिए ऐसे दुर्जनों का नाश किया करते हैं?"

"कैसे करते हैं मातः?"

"स्वर्ग का देवता पृथ्वी पर भाला-तलवार लेकर नहीं आता। जो लोग धर्म-बुद्धि-सम्पन्न हैं उन्हीं को वे सुबुद्धि और शक्ति देते हैं। यह सुबुद्धि ही देवता है, शक्ति ही देवता है। तुम्हारे भीतर देवता काम कर रहा है। तुम खूब अच्छी तरह

समझ लो बेटा, कि भगवान् तुमको निमित्त बनाकर दुष्टों का दमन करना चाहते हैं। रानी के मन में एक दुविधा थी। यह समझती थी कि इस प्रकार लड़ाई लड़ने में हिंसा होती है और इसीलिए यह पाप है। यह जो कोटिवेधी रस सिद्ध करने के चक्कर में फँसी, उसका कारण इसकी यही चित्तगत द्विविधा है। यह अगवाह रास्ता खोजती थी। परन्तु बेटा, धर्म के क्षेत्र में कोई अगवाह रास्ता नहीं। हर बात का पूरा दाम चुकाना पड़ता है। हो सकता है कि सीमित दृष्टि से देखने पर ऐसे काम में भी दोष दिखायी दे। मनुष्य का कर्त्तव्य है कि जो लोग दीन, दुःखी, निरीह व्यक्तियों को कष्ट पहुँचा रहे हैं उनका दमन करे। समझाने से समझ जायें तो हिंसा का मार्ग नहीं अपनाना चाहिए। न समझें तो मान लेना चाहिए कि देवता इनके विरुद्ध हो गये हैं। विधाता ने मनुष्य को सामाजिक प्राणी बनाया है। सामाजिक मंगल का उच्छेद करनेवाले विधाता के सहज विधान को नहीं मानते। उनको दण्ड देना मनुष्य का सहज धर्म है। भगवान् ने इसीलिए कहा था कि सीमित दृष्टि से जो चीज सदोष जान पड़े वह भी यदि मनुष्य का सहज धर्म हो तो अवश्य करणीय है। अर्जुन के मन में मोह हो गया था। वह सहज कर्म को भूलने लगा था।

"देखो बेटा, ठीक से समझ लो कि तुम जो लड़ाई लड़ रहे हो, वह विदेशी के विरुद्ध नहीं है, विधर्मी के विरुद्ध नहीं है, यह उन लोगों के विरुद्ध है जो विधाता के सहज विधान को पंगु बनाने का प्रयत्न कर रहे हैं। तुम्हारी लड़ाई उन सब लोगों से है जो मनुष्य के सहज कर्म में बाधक हैं। सामाजिक मंगल के लिए जो सहज प्रवृत्ति है उसी का नाम धर्म है। उसके विरुद्ध जानेवाला अधर्मी है। तुम्हारी लड़ाई उसी से है। तुम भगवान् के ऊपर एक क्षण के लिए भी अनास्था न प्रकट करना। तुम्हारे भीतर जो दण्डनीय को दण्ड देने की बुद्धि उत्पन्न हुई है वह उन्हीं की प्रेरणा है। जाओ बेटा, अधर्म के विरुद्ध अभियान करो। अधर्म से जूझना मनुष्य का सहज धर्म है। जूझते-जूझते मर जाना भी विजय है। चन्द्रलेखा को मैंने समझाया है। ऐसा जान पड़ता है कि भगवान् की प्रेरणा इसके चित्त में भी आ गयी है। जाओ, विजयी होओ!"

इतना कहकर भगवती विष्णुप्रिया मौन हो गयीं। ऐसा जान पड़ा कि उनमें कोई भावावेग इतनी तीव्रता से आया है कि बाहर की सब क्रियाएँ उसकी चपेट में आ गयी हैं। वे निष्कम्प दीपशिखा की भाँति स्थिर हो गयीं—भीतर से प्रज्वलिता, बाहर से निस्तब्ध।

हम दोनों चुपचाप बैठे रहे। भगवती उसी प्रकार शान्त-स्थिर मुद्रा में ध्यान लीन हो गयीं। मेरे मन में कई प्रश्न उठे। ऐसा जान पड़ता था कि जितनी बातें मैंने सुनी हैं वे एक ही सन्दर्भ की नहीं हैं। बीच-बीच में उनका क्रम टूट-टूट गया है। कदाचित् बहुत-सी बातें छोड़ दी गयी हैं। सहज-साधना क्या है? धूपकेश्वर ने सहज-साधना को पशु-धर्म के साथ मिलाकर तत्त्ववाद को कैसा रूप दिया है? सहज धर्म क्या सामाजिक मंगल का नाम है या व्यक्ति की मुक्ति का विधान है?

परन्तु भगवती विष्णुप्रिया जो ध्यानस्थ हुईं सो हुईं। मैंने एक बार रानी की ओर देखा। वे एकटक भगवती की ओर देख रही थीं। रानी को भगवती ने क्या उपदेश दिया है? मेरी शक्ति लौटा दी गयी है। किसने लौटायी? कौन है वह शक्ति? क्या रानी फिर मेरे साथ उसी प्रकार काम करने को प्रस्तुत हो गयी हैं जैसे पहले करती थीं? क्या रानी का मानसिक सन्तुलन ठीक हो गया है? आज उन्होंने जिस प्रकार सहज प्रेम से ताम्बूल-वीटक दिया है वह क्या किसी स्थायी परिवर्त्तन का लक्षण है, या भगवती के प्रभाव से अभिभूत चित्त का क्षणिक आचरण है? रानी शान्त हैं। उनका चित्त क्या सचमुच स्वस्थ हो आया है?

मैं इसी प्रकार अपनी ही भावनाओं में डूब-उतरा रहा था। इसी समय बाहर कुछ हलचल मालूम हुई। कुछ समझ में नहीं आया। भगवती की समाधि ज्यों-की-त्यों बनी रही। रानी ज्यों-की-त्यों एकटक उनकी ओर देख रही थीं। पर मेरा मन चंचल हुआ। निस्सन्देह बाहर कुछ गड़बड़ हो रही है। स्पष्ट लगता था कि बोधा और अलहना कुछ फिसिर-फिसिर करते हुए इधर-उधर दौड़ रहे हैं। मन में आशंका हुई। सोचने लगा, उठकर देखना उचित होगा या नहीं। रानी उसी प्रकार स्थिर थीं, जैसे उन्हें कुछ भी सुनायी नहीं दे रहा हो। उनकी दृष्टि स्थिर भाव से भगवती के समाधिस्थ मुखमण्डल पर टिकी हुई थी। पलकें भी नहीं गिर रही थीं। क्या वे भी समाधिलीन हैं?

बाहर की हलचल बढ़ती गयी। मैंने रानी का ध्यान उधर आकृष्ट करना चाहा। उनके कान के पास मुँह करके मैंने धीरे-से कहा, "देवि, बाहर कुछ गड़बड़ लग रही है। मैं ज़रा देख आऊँ तो कैसा हो?"

रानी सचमुच समाधिस्थ जान पड़ीं। उन्होंने जैसे सुना ही नहीं। उसी प्रकार एकटक भगवती की ओर ताकती रहीं। फिर मैंने उनका कन्धा पकड़कर मृदु भाव से हिलाया। वे जैसे नींद से जागीं। मेरी ओर देखते ही उनकी बड़ी-बड़ी आँखों में आँसू आ गये। बोलीं कुछ नहीं। केवल शून्य दृष्टि से मेरी ओर ताकती रहीं। मुझे धक्-से लगा। क्या रानी में कोई नया परिवर्त्तन हो आया है? यह कैसी अवश जड़िमा है! हाय, क्या मैं फिर उन्हें खोने जा रहा हूँ? उनकी पद्म-पलाश जैसी आँखें कैसी हो गयी हैं? परन्तु भगवती ने जो-कुछ कहा उसमें कोई आशंका की बात तो नहीं थी। फिर यह क्या हो गया है?

रानी की आँखों से अश्रुधारा झरती रही। मेरा हृदय फटने को आया। भगवती के सामने कुछ करना भी सम्भव नहीं था। परन्तु भीतर से अन्तर्यामी आदेश दे रहे थे, रानी को अंक में भर लो। कुछ समझ में नहीं आ रहा था कि कर्त्तव्य क्या है? मैंने एक बार रानी की ओर देखा। रज्जुबद्ध मरकट की तरह मेरा चित्त चंचल होकर भी विवश था।

भगवती की आँखें खुलीं। उन्होंने इंगित से कहा, "जाओ।"

मैं उठ पड़ा। रानी वैसी ही बनी रहीं। हिलीं भी नहीं। भगवती विष्णुप्रिया ने उनके सिर पर हाथ फेरा। दुलार के साथ कहा, "जा बेटा, दुविधा छोड़।

भगवान् तेरा मंगल करेंगे।"

रानी उठीं। ऐसा लगा, उठने में उन्हें प्रयास करना पड़ा। उनकी ग्राँखें ग्रब भी गीली थीं, केश बिखरे हुए थे, कपोलपालि ग्रार्द्र थी, ग्रधर शुष्क थे, वस्त्र ग्रस्त-व्यस्त थे। भगवती बोलीं, "ग्रखण्ड सौभाग्यवती है तू। सती के बल से ही पति विजयी होता है। तेरा व्रत सार्थक है!"

भगवती फिर दुलार से बोलीं, "जा बेटा, तेरे तप से ही सातवाहन की विजय होगी।" हम दोनों ने भगवती को प्रणाम किया ग्रौर बाहर निकले।

मैना बेहोश पड़ी थी। बोधा उसका सिर गोद में लिये बैठे थे। ग्रलहना दौड़-धूप कर रहा था। कभी पानी ले जाता था, कभी हवा करता था। बोधा निःस्तब्ध बैठे थे—ग्रपराधी की भाँति, लुटे की भाँति, हारे की भाँति। वीरवेश में बेहोश मैना ग्रौर भी सुन्दर लग रही थी। बाहुयुगल शिथिल श्यामा लता की भाँति भूल गये थे, मुँह उपरागग्रस्त चन्द्रमा की तरह धूमिल हो गया था, ग्राँखें सन्ध्याकालीन कमल-पुष्प की भाँति मुँद गयी थीं।

रानी ने जो मैना को उस ग्रवस्था में देखा तो एकाएक चिल्ला उठीं, "हाय बोधा, यह क्या हो गया?" फिर उन्होंने मैना का सिर ग्रपनी गोद में ले लिया। वे मृदु भाव से उसके मुख पर हाथ फेरने लगीं। ऐसा जान पड़ा कि कल्पलता के किसलय चन्द्रमा पर सुधा लेप रहे हैं।" बोधा ग्रपराधी की भाँति एक ग्रोर खड़े हो गये। उनका चेहरा बुरी तरह म्लान था। कौड़ी जैसी ग्राँखें फटी-फटी दिखायी दे रही थीं। वे कुछ बोल नहीं सके। उनके ललाट पर पसीने की बूँदें झलक उठी थीं।

22

कहाँ ग्रा पहुँचा हूँ! मैंने कभी इतना कुछ नहीं सोचा था। एक-एक करके घटनाएँ याद ग्रा रही हैं, जैसे किसी निपुण कलाकार द्वारा निर्मित चित्रपट पर अंकित चित्र देख रहा हूँ। कैसे यह सब हो गया? सीदी मौला ने बताया था कि मनुष्य जो चाहता है, वह हो जाता है, एकमात्र ग्रनुबन्ध यह है कि चाहने-वाले का चित्त सत्त्वस्थ हो। जितना ही ग्रधिक वह सत्त्वस्थ होगा, उतना ही ग्रधिक सर्जनशील होगा। मैंने कुछ भी नहीं चाहा ग्रौर होता गया। क्या यह किसी ग्रन्य सत्त्वस्थ चित्त की इच्छा का खेल है जिसमें मैं कठपुतली के खेल की पुतली की तरह नचाया जा रहा हूँ? रानी ग्रचानक मिल गयीं। विद्याधर

भट्ट अकस्मात् आ गये। नाटी माता और मैना मेरी इच्छा से नहीं, विधाता की बनायी योजना से मिल गयीं। घुण्डकेश्वर अकारण ही शत्रु बन गया। क्या यह सब नियति का विधान था? फिर कौन कहाँ चला गया? सोचता हूँ तो व्याकुल होता हूँ। सारे देश को स्वस्थ और स्वतन्त्र करने का मेरा संकल्प कितना दुर्बल सिद्ध हुआ! मैना मुझसे अधिक समझती है। कहाँ से उसे इतना साहस और शौर्य मिला है; इतनी वेधक अनाविल दृष्टि? उसे कहीं से राजनीति की शिक्षा नहीं मिली, रणनीति उसे बिलकुल नहीं मालूम, ज्ञान-विज्ञान की बातों से तो वह चिढ़ जाती है, फिर भी कैसी स्पष्ट ग्राहिका शक्ति है!

रानी और मैना! मेरी चेतना के दो पार्श्व हैं। रानी मेरी इच्छा का प्रतीक हैं, जैसे एक निरन्तर प्रवहमान अप्रतिहत गति-मात्र हो। गलत दिशा में गयीं तो गलती ही की ओर दुर्वार वेग से बढ़ती गयीं; कुण्ठित हुईं तो दुर्वार वेग से ही कुण्ठोन्मुखी बनी रहीं, मानो इस कुण्ठा का कोई ओर-छोर नहीं; प्रेमाप्लुत हुईं तो इतनी निमग्न हुईं कि कहीं अपनी सत्ता का ध्यान ही नहीं। उन्होंने कहा था, 'राजन्, आँधी की तरह बहो, बिजली की तरह कड़को, मेघ की तरह बरसो।' हाय, मैं क्या समझता था कि उन्होंने उपदेश के बहाने अपना ही रूप समझा दिया है! वे आँधी की तरह ही बहीं, बिजली की तरह ही कड़कीं, बादल की तरह ही बरसीं। रानी मेरी चेतना का केवल गतिशील पार्श्व हैं—इच्छा-मात्र!

और मैना? बहुत सोचकर मैं देख रहा हूँ, मैना मेरी चेतना के उस पार्श्व का प्रतिनिधित्व करती है, जो केवल क्रिया-मात्र है। इच्छा बार-बार उससे टकराती है, झुकती है, मुड़ती है, प्रतिहत होती है, रूपायित होती है। इच्छा गति-मात्र है; क्रिया स्थिति-मात्र है। इच्छा और क्रिया के अनवरत आघात-प्रत्याघात से जो तरंगमाला विकिरत हो रही है, वही मेरा इतिहास है, मेरा जीवन है, मेरा संसार है। मैं ज्ञाता हूँ, मैं द्रष्टा हूँ, मैं साक्षी हूँ।

विचित्र परिस्थिति थी। मैना रानी की गोद में संज्ञाशून्य पड़ी थी, मैं कातर भाव से देख रहा था, बोधा प्रधान को काठ मार गया था, रानी की आँखों से अविरल अश्रुधारा झर रही थी, केवल अलहना व्याकुल भाव से इधर-उधर दौड़ रहा था। रानी की अश्रुधारा की बात सुनकर एक बार नाटी माता ने कहा था कि ये आँसू कल्याणकारक हैं। मैं सोच रहा था कि इस समय किसी प्रीतिकर कल्याण का आविर्भाव होनेवाला है, पर हुआ कुछ और ही।

एकाएक घुण्डक सेना का आक्रमण हो गया, जैसे मेघ-शून्य आकाश से अचानक ओले पड़ने लगे हों। रानी असावधान, अलहना व्याकुल, बोधा निश्चेष्ट, मैनसिंह निःसंज्ञ! जब तक स्थिति समझ में आये, तब तक आश्रम तीरों की बौछार से भर गया। आश्रम चारों ओर सघन वृक्षों से घिरा था। वृक्षों के अन्तराल से तीर आ रहे थे। कुछ भी समझ में नहीं आ रहा था कि कौन उन वृक्षों के अन्तराल से बाण चला रहा है। शत्रुओं की संख्या बहुत अधिक रही होगी, क्योंकि सभी ओर से बाण बरस रहे थे। जान पड़ता था, शत्रुओं ने चुपके-चुपके

गहरी मोर्चाबन्दी कर ली थी। जिधर आश्रम का द्वार था, उधर से कोई तीर नहीं आया। मुझे समझने में देर नहीं लगी कि शत्रुओं ने वहीं हम लोगों को एक-एक करके पकड़ लेने की योजना बनायी है। वह स्थान इतना सँकरा था कि एक से अधिक मनुष्य निकल ही नहीं सकता था। तीरों की मार एक प्रकार का हाँका थी। हम लोग भयभीत होकर उधर से ही भागते। निश्चय ही वहाँ हमें पकड़ लेने की तैयारी की गयी है।

अलहना सहज बुद्धि से सब समझ गया। वह झपटकर मेरे पास आकर खड़ा हो गया। इस विषम परिस्थिति में वही एक ऐसा था जो अपना शस्त्र भूला नहीं था। यद्यपि वह मैनसिंह की सेवा में सर्वात्मना लगा हुआ था, तथापि अपने हाथ का भाला हाथ में ही रखे रहना भूला नहीं था। वह तनकर खड़ा हुआ तो ऐसा लगा कि शिकार पर झपटने से पहले शेर अँगड़ाई लेकर सावधान हो गया हो। बोधा प्रधान को जरा देर में होश आया। उन्होंने चारों ओर दृष्टि फिरायी। अन्धकार तब भी घना ही था। सों-सों करके तीर चले आ रहे थे। एक क्षण उन्हें समझने में लगा। दूसरे क्षण वे सचेष्ट हुए और फिर तो स्वयं तीर की भाँति छूटे और बाँस तथा सरकण्डों से बने फाटक तक पहुँचे। उसे झपटकर उठाया और रानी के ऊपर उसे तानकर खड़े हो गये। रानी भी सचेष्ट हुईं। भयंकर शोक-वेग ने एकाएक उत्साह का रूप ग्रहण किया। उन्होंने अनायास मैना को उठाया और झपटकर गुहा में प्रवेश किया। मैना को गुहा में छोड़कर वे बाहर निकलीं। फिर कुछ सोचकर भीतर गयीं। तब भी मैना की कमर में तलवार बँधी हुई थी। रानी ने नंगी तलवार खींच ली। आँचल से कमर कसकर नंगी तलवार लिये जब वे बाहर आयीं तो जान पड़ा कि गुहाद्वार से साक्षात महिषमर्दिनी दुर्गा ही निकल आयी हैं। भगवती विष्णुप्रिया उस समय भी समाधिलीन थीं। बोधा गुहाद्वार से चिपके हुए कुछ सोचने लगे। तीरों की बौछार होती रही। रानी को देखकर अलहना में उत्साह का ज्वार आया। चिल्लाकर उसने जयघोष किया, "जय, महारानी चन्द्रलेखा की जय!" रानी ने बढ़ावा दिया, "जय, महाराज सातवाहन की जय!" केवल दो दृप्त कण्ठों ने बारम्बार महाराज सातवाहन का जयघोष किया।

बोधा प्रधान निश्चेष्ट बने रहे। एकाएक उन्हें कुछ सूझ गया। वे तीरों की बौछार के भीतर तीव्रगति से आगे बढ़े। कहाँ जा रहे हैं? उसी तीव्रता के साथ लौटते हुए बोधा प्रधान ने जय-जयकार किया। उन्होंने मेरी तलवार मेरे हाथों में देते हुए चिन्तित स्वर में कहा, "विषम संकट आ गया है महाराज!" उनके शान्त-स्थिर मुखमण्डल पर चिन्ता की रेखाएँ स्पष्ट उभर आयी थीं।

तलवार मिलते ही मेरे रक्त में उल्लास-मुखर झंझा बह गयी। प्रसुप्त क्षात्र-दर्प बाँध तोड़कर बाहर आया।

बोधा प्रधान को आश्वस्त करते हुए मैंने कहा, "चिन्ता की क्या बात है प्रधान! यह मेरा बाहुदण्ड है और यह है तलवार की धारा। हजारों पापी इसमें

बह चुके हैं, और भी बहेंगे। तुम मैनसिंह को देखो। मैं शत्रुओं से समझ लूँगा।"

बहुत समझने-समझाने का समय ही नहीं मिला। चारों ओर से 'मारो', 'पकड़ लो' का कठोर स्वर सुनायी देने लगा। देखते-देखते गुफा के सामने छोटे-से आँगन में अनगिनत घुण्डक सैनिक उतर आये। रानी क्रुद्ध सर्पिणी की भाँति फुफकार उठीं। उनकी नंगी तलवार काल-सर्प के फण के समान आक्रमणोद्यत हुई। अलहना सधे हाथ से भाले के वार करने लगा। मैं भी गुँथ गया। एक तो घोर अन्धकार, फिर न जाने कितने मल्लों का जमघट ! कुछ सूझ नहीं रहा था। मुझे रानी का अशिक्षित उत्साह सबसे अधिक चिन्तित कर रहा था। एक बार मैंने उनसे रुकने और देखते रहने का आग्रह भी किया, परन्तु उनमें रुकने की इच्छा का लेश भी नहीं था। वे महाराज सातवाहन को बचा लेने के लिए बद्ध-परिकर थीं। लाचार होकर मैंने अलहना को आदेश दिया कि वे उनके पास ही रहें। फिर मुझे किसी ओर देखने का अवकाश ही नहीं रहा।

ऐसा विकट युद्ध था कि मैं सबकुछ भूल गया। मेरी तलवार तेजी से चलने लगी। देर तक शत्रुओं को मेरे निकट आने का साहस नहीं हुआ। उस अन्धकार में कुछ भी ठीक से समझ में नहीं आ रहा था। ज्वलन्त अग्नि-शिखा की भाँति रानी कभी-कभी आगे अवश्य लपक जाती थीं, पर अलहना कौशलपूर्वक उन्हें पीछे कर देता था। मैं अकेला गुँथा हुआ था। मेरी तलवार की चपेट में कुछ सैनिक अवश्य आ गये। रक्त की धारा से आश्रम की पवित्र भूमि पिच्छिल हो उठी।

जिस समय भयंकर कोलाहल और नर-संहार चल रहा था, उसी समय मुझे गुफा के भीतर से मैना का स्वर सुनायी पड़ा ! वह अब होश में आ गयी थी। वह चिल्लाकर कह रही थी, "प्रधान, द्वार खोलो, मुझे निकलने दो।"

बोधा कह रहे थे, "थोड़ा रुको मैना, अभी वहीं पड़ी रहो।"

प्रधान के स्वर में आकुल अनुरोध था। परन्तु मैना ने धक्का मारकर किवाड़ गिरा दिया। बाँस और सरकण्डों के फाटक को टूटते देर नहीं लगी। बोधा ने गिड़गिड़ाकर कहा, "रुक जा मैना; मेरी अच्छी-भली मैना ! अभी सब ठीक हुआ जाता है।"

बोधा के शब्दों का अर्थ मैंने यह समझा कि वे अपने ढंग से कुछ कर रहे हैं। क्या कर रहे हैं, कुछ पता नहीं चला। मैना के लिए यह स्थिति असह्य थी। उसने कहा, "हट जाओ !" और वज्र-वेग से बाहर आ गयी। वह निःशस्त्र थी। उसे सारी बात समझ में भी नहीं आयी थी। पर इतना उसे समझ में आ गया था कि महाराज और महारानी शत्रुओं से घिर गये हैं। उसने सारी शक्ति लगाकर चिल्लाकर कहा, "महाराज सातवाहन की जय ! महारानी चन्द्रलेखा की जय !"

मेरी नसों में जैसे वज्र घुमड़ पड़ा। मैंने आवाज-में-आवाज मिलाते हुए कहा, "जय !" क्षीण कण्ठ से परन्तु उत्साह के साथ अलहना ने दुहराया, "जय।"

इसी समय गुफा-द्वार पर कपूर की गुटिका जल उठी। प्रकाश की क्षीण रेखा में मैंने देखा, मैना उत्तेजित अवस्था में चिल्ला रही है—"जय !"

जान पड़ा अलहना बुझ चला है। वह अन्धाधुन्ध भाला चला रहा था। रानी गिर चुकी थीं। मेरा रक्त खौल उठा। मैं झपटकर उस स्थान पर पहुँचा जहाँ रानी गिरी थीं। अलहना तब भी यन्त्र-चालित की भाँति भाला चलाये जा रहा था। एक ही साथ कई सैनिक मुझे और रानी को पकड़ने के लिए कूद आये। रानी का शरीर लुढ़ककर मेरे पैरों के पास आ गिरा। मेरे मुँह से कातर ध्वनि निकली—"हाय !" पीछे से मैना ने जयघोष किया। उसकी पगड़ी आग का गोला बनकर शत्रु-व्यूह पर गिरी। थोड़ी देर के लिए इस आग ने उन्हें विचलित किया। तब तक जलते हुए बाँस और सरकण्डे दनादन शत्रु-व्यूह पर गिरने लगे। मैना के केश खुले थे। वह सनासन अग्निदण्ड फेंक रही थी। कोलाहल और बढ़ा। ऐसा लगा कि भगवती विष्णुप्रिया की समाधि भंग हुई है। वे गुफा के बाहर आकर खड़ी हो गयीं—शान्त, निश्चल, अस्खलित। एकाएक आश्रम-द्वार के पास सूखे बबूल में आग लग गयी और देखते-देखते जंगल धधक उठा। उस प्रलयाग्नि की दीप्त प्रभा में भगवती विष्णुप्रिया की शान्त मनोरम कान्ति लहक उठी। उन्होंने हाथ उठाकर कहा, "शान्त हो जाओ, यह आश्रम है।"

आग की लपटों ने विकराल रूप ग्रहण किया। शत्रुओं के पाँव उखड़ गये। मेरी नसों में अब भी तूफान का वेग हिलोरें ले रहा था। सारी जीवनशक्ति बाहुओं में सिमट आयी थी। मैंने अलहना का उत्साह बढ़ाने के लिए कहा, "शाबाश रणबाँकुरे, शाबाश !" पर तब तक अलहना कटे रूख की तरह मेरे चरणों में लोट चुका था। शत्रु टिक नहीं सके, भहरा गये। मुझे लगा कि अलहना को खोकर मैं विजयी हुआ हूँ। आँखों के सामने अँधेरा छा गया। मैं निःसंज्ञ होकर गिर गया। गिरते-गिरते मैना का करुणप्लुत शब्द सुनायी पड़ा, "हाय दीदी !" ये शब्द सन-से मेरी छाती में छेद कर गये। तो रानी भी चल बसीं ? उस समय मेरे आगे समूचा दिक्चक्रवाल कुलालचक्र की भाँति घूम गया। ऐसा जान पड़ा, अन्धकार का कोई भीषण पहाड़ मेरे ऊपर आ गिरा है। मैं अपनी ही तलवार की शय्या पर लेट गया। मैं इतिहास बना रहा हूँ या स्वयं बन रहा हूँ। मेरा संकल्प परिस्थिति से टकरा रहा है। परिस्थितियाँ कठोर हैं, संकल्प कोमल है।

मैं ठीक कह नहीं सकता कि मैं कितनी देर तक संज्ञाशून्य पड़ा रहा, बीच-बीच में मुझे स्वप्न-सा आभासित होता था। ऐसा लगता था, मैं किसी ऊर्ध्वलोक की ओर जा रहा हूँ। दूर आकाश में, रानी चन्द्रलेखा ऊपर की ओर उड़ती जा रही हैं, उनके कौसुम्भी वस्त्र हवा में फरफरा रहे हैं, उनकी आँखें नीचे की ओर विवश भाव में मुझे देख रही हैं। वे नीचे आने का प्रयत्न कर रही हैं, पर प्रबलतर वायु उन्हें ऊपर ठेले जा रही है। मैं सारी शक्ति लगाकर उन्हें पकड़ने का प्रयत्न कर रहा हूँ। मैं जितना ही ऊपर उठना चाहता हूँ, धरती का आकर्षण उतना ही

मुझे नीचे की ओर खींच रहा है। रानी नीचे आना चाहती हैं, आ नहीं पा रही हैं। मैं ऊपर उठना चाहता हूँ, उठ नहीं पा रहा हूँ। रानी की कातर आँखों से आँसू झर रहे हैं, कह रही हैं, 'आयास न करो महाराज ! मुझे नीचे आने नहीं दिया जा रहा है, कोई बड़ी शक्ति दुर्वार वेग से खींच रही है। नहीं हो सकेगा महाराज ! तुम मुझे नहीं पकड़ सकोगे, मैं तुम्हारे चरणों में नहीं आ सकूँगी।' मैं चिल्लाकर कह रहा हूँ, 'रानी, रानी, देवी, मैं तुम्हें नहीं छोड़ सकूँगा। चिन्तित न हो देवि ! मैं अवश्य तुम्हें पकड़ सकूँगा।' रानी कातर भाव से कह रही हैं, 'नहीं होगा महाराज ! कोई बड़ी भारी दैवी शक्ति मुझे ऊपर लिये जा रही है। हाय महाराज, मैं लौट नहीं सकती, मैं विवश हूँ महाराज !' रानी दूर-से-दूर चली जा रही हैं। मैं लाचार हूँ, विवश हूँ, कातर हूँ। 'हाय रानी, हाय देवी, चिड़िया भी गयी, पिंजड़ा भी गया !' रानी की करुण आँखें और भी धूसर हो उठी हैं। मैं और भी बल लगाकर ऊपर उठना चाहता हूँ, और भी। रानी दूर से दूरतर चली जा रही हैं। मैं गिर पड़ता हूँ, बेहोश हो जाता हूँ।

फिर मुझे स्वप्न में दिखायी पड़ा। रानी नीचे आ गयी हैं। कह रही हैं, 'बड़ा अनर्थ हो गया महाराज ! मुझे तुम्हारे चरणों की सेवा का अवसर नहीं मिल रहा है। देखो, ये मुझे फिर खींचे लिये जा रहे हैं।' मैं सारी शक्ति लगाकर उठना चाहता हूँ, उठ नहीं पा रहा हूँ। 'देवि, मुझे छोड़ो मत। मैं सेवा लेना नहीं चाहता, देना चाहता हूँ। तुम्हें देखता रहूँ, यही मेरे लिए सब-कुछ है।' रानी को कोई खींचे लिये जा रहा है। वे चिल्लाकर कह रही हैं, 'देखो महाराज, ये मुझे नहीं छोड़ रहे।' रानी की कातर आँखों को देखकर मेरा सारा अस्तित्व उद्वेल हो उठता है। 'कौन तुम्हें ले जा सकता है देवि, देखो यह मैं आया !' कोई मुझे ज़ोर से दबा देता है। रानी ऊपर जा रही हैं, मेरा मन हार जाता है। 'हाय देवि, रुको, मैं आया !' मैं उठने का प्रयास करता हूँ, फिर दबा दिया जाता हूँ। रानी करुण नेत्रों से ताकती हुई ऊपर चली जा रही हैं, ऊपर, और भी ऊपर। मैं कहता हूँ, 'देवि, मैं तुम्हें नहीं छोड़ूँगा।' उठने का प्रयत्न करता हूँ। रानी दूर से कह रही हैं, 'नहीं होगा महाराज ! प्रयास मत करो, कोई दुर्वार शक्ति मुझे खींचे लिये जा रही है।' मैं रानी के विवश-करुण मुख को देखकर रो पड़ता हूँ। चिल्लाकर कहता हूँ, 'घबराओ नहीं देवि, अभी आया।' ज़ोर लगाकर उठना चाहता हूँ। 'रानी, रानी, रानी !' हाय, रानी दूर, और भी दूर ! मैं और भी बल लगाकर उठता हूँ, और भी। दबाव और भी तेज़ी से अनुभूत हो रहा है। मैं व्याकुल हूँ और ज़ोर लगाता हूँ। 'रानी, रानी, रानी !'

अचानक आँखें खुलीं। पैर के पास मैना खड़ी है। केश बिखरे हुए, आँखें फटी-फटी। मेरी छाती पर हाथ रखकर वह मुझे उठने से रोक रही है। मैं तब भी स्वप्नावेश की कुहेलिका से मुक्त नहीं था। तब भी चिल्लाता जा रहा था—'रानी, रानी !'

मैना भय-व्याकुल, त्रस्त ! मैं एक ही झटके में उठकर बैठ गया। मैना ने

फिर मुझे लिटा देने का प्रयत्न किया। उसके कपोलों पर आँसू की धारा बह रही थी। भय के मारे उसकी आँखें धूसर हो गयी थीं। "मैं हूँ महाराज, मैना!" उसके मुख से अचानक निकल पड़ा। मैंने अपने को सँभालने का यत्न किया।

"मैना! रानी कहाँ हैं?"

"बताती हूँ महाराज! आप लेट जायें।"

"मैं कहा हूँ?"

"लेट जायें महाराज! सब बताती हूँ।"

"बोधा प्रधान कहाँ हैं? अलहना कहाँ है?"

"शान्त हों महाराज! सब बताती हूँ।"

मैं फिर लेट गया। आँखें फिर मुँद गयीं। मैना ने मेरे ललाट पर कोमल भाव से हाथ फेरा। वह रो रही थी।

थोड़ी देर यों ही बीता। मैं जगा था, पर श्रान्त-शिथिल होकर पड़ा रहा। फिर बोधा प्रधान आये। उन्होंने आते ही पूछा, "जगे थे?"

मैना ने कदाचित् इंगित से 'हाँ' कहा। बोधा मेरे सिर के पास आ गये। मैना पैरों की ओर चली गयी। बोधा ने मेरी नाड़ी देखी। धीरे-से अपने-आप से बोले, "अब ठीक हैं।"

कुछ देर दोनों मौन रहे। मैना मेरे तलवों को धीरे-धीरे सहला रही थी। फिर कातर भाव से बोली, "रानी को पूछ रहे थे।" और फफककर रो पड़ी। मैं फिर तन्द्रा का अनुभव करने लगा और संज्ञाहीन हो गया।

संज्ञाहीनता की अवस्था कई दिनों तक बनी रही। मुझे बीच-बीच में होश आ जाता और फिर उसी प्रकार सो जाता। मैना सदा सेवा निरत मिलती। बोधा प्रधान कभी-कभी दीख जाते। और किसी को मैंने नहीं देखा। मैना ने मुझे कभी बोलने नहीं दिया। मैं यदि कुछ पूछता तो एक ही उत्तर मिलता, 'लेटे रहें महाराज, सब बताती हूँ।' मैं लेटा तो रहा, पर मैना ने कुछ बताया नहीं। स्पष्ट ही बताने योग्य उसके पास कुछ था ही नहीं। वह व्याकुल होती है, रोती है, सिसकने लगती है। इससे अधिक क्या बता सकती है। मैं अब समझने लगा था। रानी चली गयीं; दूर, बहुत दूर!

रानी क्या सचमुच चली गयीं? प्रतिक्षण अनुभव कर रहा हूँ, वे पास ही हैं, मेरे भीतर ही हैं, मेरे सारे अस्तित्व को मुखरित करके विराजमान हैं। उनका होना इतने निविड़ भाव से कभी अनुभूत नहीं हुआ। मेरी पूरी सत्ता उन्हीं से तो भरी हुई है। रानी हैं, अवश्य हैं। कहीं नहीं गयी हैं। हाय, पर मिल नहीं पा रही हैं! इतना सामीप्य, इतनी दूरी!

मेरी तन्द्रा-जड़िम अवस्था कई दिन तक बनी रही। बीच-बीच में संज्ञा लौट आती थी और बीच-बीच में स्वप्नावेश की अवस्था आ जाती थी। एक बार आँख खुली तो अन्धकार मालूम हुआ। कदाचित् रात्रि का समय था। सदा की भाँति मैं आशा कर रहा था कि मैना सामने दीखेगी। वह नहीं दिखायी पड़ी। मेरा मन

उदास हो गया। मैना देवी है। उसके दर्शन-मात्र से चित्त की क्लान्ति दूर हो जाती है। मैं अकारण उससे प्रश्न किया करता हूँ। जानता हूँ निश्चित उत्तर मिलेगा, 'लेटे रहें महाराज, सब बताती हूँ।' फिर भी पूछता हूँ। उसके दो-चार शब्द अन्तरतर को स्निग्ध करते हैं, अन्तःकरण को सुधासिक्त करते हैं। इतना क्या कम है? पर आज वह दीख नहीं रही है। कहाँ चली गयी।

यह भी पता नहीं था कि कहाँ हूँ। गुफा यह नहीं है, महल भी नहीं है, कोई पुरानी-सी झोंपड़ी है, दीवारें पुरानी हैं, फूस का छप्पर भी पुराना लग रहा है। किसी गाँव में हूँ या कहीं निर्जन अरण्य में? मैना कहती है, 'सब बताती हूँ।' कुछ भी तो नहीं बताया। मैं चुपचाप ताकता रहा। मैना कहीं पास ही होगी। थककर सो गयी होगी। आहा, बेचारी कब से सोयी भी नहीं होगी! हर समय तो जगी रहती है। मेरा मन और भी उदास हो गया। मैं ही उसके सारे कष्टों का कारण हूँ।

बाहर बोधा प्रधान का कण्ठ-स्वर सुनायी पड़ा। बड़े अनुनय के साथ वे कह रहे थे, "थोड़ा विश्राम कर ले मैना! तू क्यों इतनी व्याकुल है? तेरी क्या दशा हो गयी है? भोली, अगर अपने को गला देगी, तो महाराज की सेवा कैसे कर सकेगी? अभी बहुत-कुछ करना है, अभी से तू इतनी गल जायेगी, तो काम कैसे चलेगा? महाराज तुझे देखकर ही तो बल पा रहे हैं।"

मैना ने क्षीण कण्ठ से कहा, "ठीक तो हूँ प्रधान! क्या समाचार लाये?"

बोधा हँसे, "समाचार यह है कि अभिषेक की तैयारी पूरी हो चुकी है। तू स्वस्थ हो जा और मन्त्रबल से महाराज को स्वस्थ कर दे। विद्याधर भट्ट की आज्ञा है कि मैना खूब खाये, खूब विश्राम करे, खूब सेवा करे।"

"कर रही हूँ प्रधान! दीदी के बिना अभिषेक कैसे होगा भला?"

"मैं क्या जानूँ! विद्याधर भट्ट जानते हैं।"

मैना ने दीर्घ निःश्वास लिया। पूछा, "घुण्डकों का क्या हुआ?"

बोधा ने दीर्घ निःश्वास लेकर कहा, "हुँ!"

फिर देर तक दोनों चुप रहे।

बोधा ने ही मौन भंग किया, "महाराज आज स्वप्न में बड़बड़ाये तो नहीं?"

"नहीं। आज गाढ़ निद्रा में हैं। तभी तो इधर आ सकी हूँ। माँ ने क्या कहा? वे स्वस्थ हैं न?"

"माताजी आ गयी हैं। बाहरवाली कुटिया में विश्राम कर रही हैं। प्रातःकाल इधर आयेंगी। अब तुम थोड़ा विश्राम करो मैना, मैं यहाँ हूँ, जाओ।"

"घुण्डकेश्वर का कुछ समाचार नहीं बताओगे?"

"अभी कुछ बताने योग्य है नहीं मैना! घुण्डकों का एक बड़ा दल तो हमारे साथ मिल गया है, पर अभी घुण्डकेश्वर का कुछ पता नहीं चल रहा है। जानती हो मैना, घुण्डकों में भी दो दल हैं। किसी समय दक्षिण के चोल राजाओं ने जैनों का भयंकर दमन किया था। ये लोग शैव थे। दक्षिण के राष्ट्रकूट लोग जैन थे।

ठीक जैन धर्म में वे दीक्षित तो नहीं थे, पर जैन-मत का बड़ा सम्मान करते थे। लोग उन्हें जैन ही मानते थे। कर्णाट देश के गंगवंशी राजा भी जैन थे। चालुक्यों ने शैव-धर्म की प्रतिष्ठा में अपनी राजशक्ति का उपयोग किया था। तब से शैवों और जैनों में मनोमालिन्य बना आया है। आज से कोई दो-ढाई सौ साल पहले, तणजौर के चोलों ने कर्णाट देश के गंगवंशी राजाओं का उच्छेद किया था। किन्तु होयसल वंश के जैन राजाओं ने फिर से जैन धर्म की प्रतिष्ठा की। होयसलों के कुल में ही विश्ववर्द्धन हुआ था, जिसे रामानुजाचार्य ने वैष्णव धर्म की ओर प्रवृत्त किया है। घुण्डकों का प्रथम उत्थान जैन मत के अनुयायियों के दमन के लिए हुआ था। चोल राजाओं ने उन्हें मठ आदि ही नहीं दिये थे, अस्त्र-शस्त्र से भी सुसज्जित किया था। घुण्डकों ने जैनों का ही नहीं, वैष्णवों का भी दमन किया था। आगे चलकर इनका एक दल लिंगायतों के प्रभाव में आ गया।

"यह इतिहास हमारा बहुत सहायक सिद्ध हुआ है। धीर शर्मा ने इस इतिहास की सहायता से आभड़ सेठ को अपने पक्ष में कर लिया है। उन्होंने आभड़ को घुण्डकों का सच्चा रूप समझा दिया है। आभड़ पैसे का लोभी तो है, पर बड़ा धर्म-भीरु है। घुण्डकेश्वर की गतिविधि से अब वह पूरी तरह परिचित हो गया है। होयसल राजाओं के यहाँ कभी उनके पुरखे नगर-सेठ थे। वह वैष्णवों को भी अपना आत्मीय मानता है। पहले वह भ्रम में था। अब वह पक्का चेला बन गया है। उसने घुण्डकों के दमन के लिए अपनी सारी धनराशि देने का संकल्प किया है। घुण्डकों के साथ एक नीमनाथी दल था, जो अपने इतिहास से अपरिचित होने के कारण, घुण्डक मतानुयायी हो गया था। असल में वे लोग गंग राजाओं के मानित जैन थे। अब भी वे अपने दल में जैन नियमों का पालन करते हैं। ये लोग ही उस दिन भगवती विष्णुप्रिया के आश्रम पर धावा बोलने आये थे। उस दिन सचमुच शुभ दिन था। ये लोग अशिक्षित हैं, पर बड़े धर्म-भीरु हैं। उस दिन इन्हें बहुत गलत बातें बताकर उत्तेजित किया गया था। भगवती विष्णुप्रिया को देखते ही उनमें विचित्र प्रतिक्रिया हुई। वे लोग अब एकदम बदल गये हैं। घुण्डकेश्वर प्रायः अकेला पड़ गया है। गोपाद्रि दुर्ग के पास जो तेलिया का मन्दिर है, वह असल में गंगवंश के किसी राजा का बनवाया है। नीमनाथियों का उससे बड़ा मोह है। वे जैन भी हैं और शैव भी। सुलतान के सैनिकों ने उस मन्दिर को तोड़ना चाहा था। नीमनाथी घुण्डकों ने विरोध किया। मन्दिर नहीं तोड़ा जा सका। इतना ही समझ लो कि नीमनाथी भी हमारी ओर हो गये हैं!"

मैना ने कुछ समझते हुए कहा, "हूँ!"

बोधा ने कहा, "अब जाकर चुपचाप सो जाओ।"

बोधा के स्वर में अबकी बार आदेश का पुट था।

मैना चुप रही। थोड़ी देर बाद धीरे-धीरे बोली, "रहो प्रधान, महाराज के पास रहो। अब मुझसे नहीं सहा जाता। वे फिर उठकर पूछेंगे कि रानी कहाँ है। मेरी तो छाती फट जाती है। सहा नहीं जाता प्रधान! क्या बताऊँ, तुम्हीं

बताग्रो ।"

"ग्रच्छा, ग्रब तुम विश्राम करो। मैं देख रहा हूँ।"

"तुम भी तो कई दिन से थके हो, तुम क्यों नहीं विश्राम कर लेते ?"

बोधा हँसने लगे, बोले, "मैं ? मेरा नाम बोधा है, बोधा ! —चलते-चलते सो लेता हूँ, सोते-सोते सोच लेता हूँ, सोचते-सोचते देख लेता हूँ।"

मैना का मन कुछ ग्राश्वस्त हो गया था। उसे हँसी ग्रा गयी। ज़रा विनोद-पिच्छिल स्वर में ही बोली, "ग्रौर देखते-देखते ?"

"देखते-देखते पा लेता हूँ।"

"क्या पा लेते हो ?"

"कवच के भीतर कोमल हृदय, तलवार की धार में प्राणों का ग्राकुल संगीत, भाले की नोक में वेधक दृष्टि ग्रौर ..."

"ग्रौर क्या ?"

"ग्रौर भी बहुत-कुछ। ग्रब जाग्रो।"

बोधा मेरे पास ग्रा गये। मैना नहीं ग्रायी। विश्राम करने चली गयी कदाचित्। मुझे सन्तोष हुग्रा, किन्तु चित्त के ग्रन्तर्निगूढ़ किसी कक्ष में थोड़ी बेचैनी भी ग्रनुभूत हुई।

ग्रभिषेक होगा ! किसका ग्रभिषेक ? कैसा ग्रभिषेक ? मनोमोदक खाना ग्रच्छा नहीं है। समूचा उत्तरापथ ध्वस्त हो गया है, भीतरी विद्वेष से जर्जर बना हुग्रा देश खरस्रोता नदी के तट पर खड़े कूल-द्रुम की भाँति केवल एक धक्के की बाट जोह रहा है। जिसकी जड़ में पानी की धारा की खधार लग गयी है, उसे बचाने का स्वप्न देखना मनोमोदक से ग्रधिक महत्त्व नहीं रखता। यहाँ धर्म के नाम पर पाखण्ड चल रहा है, युद्ध के नाम पर टुकड़े छीनने का पोचपन खेला जा रहा है, साधना के नाम पर ग्रात्मनिर्मित मिथ्या कुहेलिका का लुभावना जाल पसारा जा रहा है। इस देश के चक्रवर्त्तित्व का ग्रभिषेक भी एक मिथ्या ग्रभिनय मात्र ही होगा। विद्याधर भट्ट उतावले हैं। वे इस देश में राजपूती साम्राज्य की पुनः प्रतिष्ठा का स्वप्न देख रहे हैं। मैं निराश हूँ। मुझे यथार्थता का प्रत्यक्ष ग्रनुभव हो चुका है। क्षणिक विजयों के बल पर एक महान् संकल्प की नींव नहीं डाली जा सकती। बोधा कहते हैं, ग्रभिषेक होगा। क्या कहना चाहते हैं वे ?

बोधा ने ग्रँधेरे में मेरा तलवा सहलाया, ललाट स्पर्श किया, फिर नाड़ी की गति देखी। नाक के पास कान ले ग्राकर उन्होंने कदाचित् श्वास-प्रश्वास की गति देखनी चाही। मैंने निद्रा का ग्रभिनय छोड़ देना उचित समझा। बोला, "कौन है ?"

"बोधा हूँ महाराज ! कैसा लग रहा है ?"

"ठीक हूँ प्रधान ! हम लोग कहाँ हैं ?"

"गोपाद्रि दुर्ग से बहुत दूर नहीं हैं महाराज ! एक निर्जन गिरि-उपत्यका के जीर्ण कुटीर में। पास नटों की बस्ती है। वे लोग बड़े विश्वस्त ग्रनुचर हैं। चिन्ता

की कोई बात नहीं है।"

"मुझे क्या हो गया है प्रधान ? मैं क्या बीमार हो गया हूँ ?"

"बीमार ? नहीं धर्मावतार ! मस्तिष्क के निचले भाग में चोट आ जाने से आपकी संज्ञा लोप हो गयी थी। भगवती के बताये अनुसार उपचार हुआ है। अब पूर्ण रूप से ठीक हो गया है। थोड़ी दुर्बलता रह गयी है। बीमार आप क्यों होंगे ? पूर्ण स्वस्थ हैं।"

"मैना का क्या हाल है ?"

"बहुत अच्छी है। अभी अबोध बालिका है। बहुत व्याकुल और विचलित हो गयी थी, अब ठीक हो रही है। कई दिन से सोयी भी नहीं। उसे विश्राम करने को कहकर आया हूँ। अभी यहीं थी।"

"तुम कहाँ गये थे प्रधान ?"

"मैं ? मैं कहाँ जाऊँगा धर्मावतार ! भट्टपाद का समाचार लेने गया था। नाटी माता के उधर भी हो आया। यहीं आ गयी हैं। प्रातःकाल आपको देखने आयेंगी।"

"भट्टपाद कैसे हैं ?"

"बहुत प्रसन्न हैं। उज्जयिनी के युद्ध में विजयी हुए हैं। घुण्डकों का एक दल उनकी सहायता कर रहा है।"

"और घुण्डकेश्वर ?"

"अभी घुण्डकेश्वर वश में नहीं आया। आप अभी अधिक न बोलें धर्मावतार ! दुर्बलता है।"

बोधा अभी घुण्डकों का इतिहास बता रहे थे। कदाचित् वे मुझे उस बात से अवगत नहीं कराना चाहते। परन्तु मैंने सुन तो लिया ही है। बोधा कहते हैं, इतिहास हमारी सहायता कर रहा है। इतिहास क्या है ? इतिहास और दैव-योग से घटनेवाले जागतिक व्यापार में अन्तर है। इतिहास मानवीय संकल्पों से बनता है। यह ठीक है कि इतिहास वैसा ही नहीं होता जैसा हम चाहते हैं। जड़ प्रकृति मानवीय संकल्पों से टकराती रहती है। केवल संकल्प इतिहास नहीं बनता। मानव-चित्त का संकल्प और जड़ प्रकृति की परिस्थितियाँ संघर्षनिरत हैं। मानव-संकल्प बार-बार परिस्थितियों से उलझता है, मुड़ता है, रूप परिग्रह करता है और इतिहास बना करता है। बोधा कहते हैं, इतिहास हमारी सहायता कर रहा है। क्या हो सकती है यह सहायता ? इसका एक ही अर्थ हो सकता है - हमारा संकल्प दूसरों के संकल्प से उत्पन्न परिस्थितियों से टकरायेगा। संकल्प विकृत होगा, मुड़ेगा, झुकेगा, बढ़ेगा, नया रूप लेगा। मैं अधिक नहीं सोच सका। मुझे कुछ शंका हुई। कदाचित् मस्तिष्क की दुर्बलता दूसरा हेतु हो। इतिहास बन रहा है, इतिहास की सहायता से। संकल्प टकरा रहा है, संकल्पजन्य परिस्थिति से। क्या होगा इसका रूप ?

रानी के बारे में पूछना व्यर्थ था। मैंने मैना की बात से समझ लिया था कि

रानी अब नहीं हैं। अब मैंने उनके विषय में कोई चर्चा न करने का निश्चय कर लिया था। किन्तु बोधा प्रधान मेरे मन की ताड़ गये। बोले, "महारानी के बारे में चिन्ता न करें धर्मावतार! यथासमय वे भी मिल जायेंगी।"

मुझे यह सुनने की आशा नहीं थी। एकाएक मैं सन्तुलन खो बैठा। "क्या कहा प्रधान? रानी जीवित हैं? मिल जायेंगी? कहाँ हैं?"

मैं एकाएक उठकर बैठ गया।

प्रधान ने मुझे दबाकर लिटा दिया। "चिन्ता न करें महाराज! यथासमय वे आ जायेंगी। अभी थोड़ा धीरज रखें।"

मैं अधिक सुनना चाहता था। बोधा अधिक बताना नहीं चाहते थे। अनुनय-पूर्वक उन्होंने कहा, "बोधा हूँ महाराज! आपका अनुचर हूँ। धृष्टता क्षमा हो। अभी आप बहुत दुर्बल हैं। रानी मिलेंगी, वे भी व्याकुल हैं। पर भट्टपाद ने आज्ञा दी है कि अभी उन्हें यहाँ न ले आया जाये।"

मैं चुप हो गया। किन्तु चित्त में विचित्र आलोड़न होने लगा। बोधा क्या ठीक कह रहे हैं? मुझे भुलावा तो नहीं दे रहे? मैंने कातर भाव से पूछा, "भुलावा तो नहीं दे रहे हो प्रधान? रानी क्या सचमुच जीवित हैं? मैना को क्या उनके बारे में ठीक-ठीक बात ज्ञात नहीं है?"

बोधा ने कहा, "ठीक कह रहा हूँ धर्मावतार! आपसे मिथ्या कह सकता हूँ! मैना अबोध है। उसने क्या कुछ अन्यथा कहा है?"

मुझे सन्तोष हुआ, बोला, "नहीं, उसने कुछ नहीं कहा है।"

बोधा ने आश्वस्त करते हुए कहा, "वह नहीं जानती।"

मैंने बाहर अन्धकार का घना आवरण देखा। पूछा, "रात कितनी और रह गयी है प्रधान?"

"आधी बीत चुकी है धर्मावतार! आप थोड़ा सोने का प्रयत्न करें।"

"ठीक है, तुम भी विश्राम करो।"

"कर रहा हूँ महाराज!"

बोधा मेरे सिरहाने बैठ गये। मैंने उन्हें अवसर देने के लिए सोने का भान किया। वे बैठे-बैठे ही सो गये। मुझे नींद नहीं आयी। विचारों की विरुद्धगामी धाराएँ परस्पर को काटती रहीं। आँख मूँदकर पड़ा रहा।

मन में इतिहास की घटनाएँ आन्दोलित हो उठीं। धर्म का कैसा स्वरूप है! एक धर्म के अनुयायी दूसरे का दमन करते हैं। शैवों ने जैनों का उच्छेद किया, जैनों ने शिवभक्तों को ध्वस्त किया। फिर काल-देवता ने मरहम लगाया। एक यह अवस्था आयी कि धुण्डक और नीमनाथी एकमेक हो गये। फिर एक और धर्म आया जिसने नीमनाथियों का मन्दिर गिराने का प्रयत्न किया। इतिहास फिर लौटा। अब धुण्डक और नीमनाथी शत्रु बनने जा रहे हैं। इतिहास कितनी बड़ी शक्ति है! धर्म कितना बड़ा मूढ़ग्राह है! मेरा मन कहता है, इन धार्मिक संघटनों में और कुछ चाहे हो, धर्म नहीं है। धर्म मुक्तिदाता है, धार्मिक संघटन

बन्धन हैं। धर्म प्रेरणा है, धार्मिक संघटन गतिरोध हैं। धर्म कोई संस्था नहीं है, वह मानवात्मा की पुकार है। विद्याधर भट्ट कदाचित् धार्मिक संघटनों को मुक्ति के साधन के रूप में व्यवहार करना चाहते हैं। क्या यह सम्भव है ? क्या कीचड़ से कीचड़ धुल सकेगा ? इतिहास इसकी सेंध में घुसकर क्या फिर विच्छेद नहीं पैदा करेगा ? धर्म को किस प्रकार मनुष्य की सामाजिक और राजनीतिक मुक्ति का साधन बनाया जा सकता है ? मेरा चित्त व्याकुल है। कुछ सूझ नहीं रहा है।

प्रातःकाल निकट आ गया। थोड़ी दूर से नाटी माता का मनोहर कण्ठ सुनायी पड़ा :

> "गताऽहं कालिन्दीं गृहसलिलमानेतुमनसा
> घनद्घोरैर्मेघैर्गगनतलमभितोमेदुरमभूत्।
> ध्वनद्धारासारैरपतमसहाया क्षितितले
> जयत्वङ्के गृह्णत्पटुनपृकलः कोऽपि चपलः।"

23

कुछ दिनों बाद मैं स्वस्थ हो आया। बोधा और मैना की अक्लान्त सेवाओं की विजय हुई। मैना अब कम आया करती थी, पर उसके मौन निर्देश का कड़ा पहरा ज्यों-का-त्यों बना हुआ था। मुझे विश्राम करते रहने की दुरतिक्रम्य आज्ञा मिली थी। मैं घर की एक निर्धारित सीमा के अन्दर ही थोड़ा-बहुत टहल सकता था। उसके आगे लक्ष्मण की लकीर थी, जिसका लाँघना सम्भव नहीं था। दो-तीन दिन से बोधा भी नहीं दिखायी पड़े। पूछने पर पता चला कि आवश्यक कार्य से वे विद्याधर मन्त्री के पास गये हैं। मैना अब प्रसन्न थी। नाटी माता भी बीच-बीच में आकर आशीर्वाद दे जाती थीं। अधिक समय उनका पूजापाठ में ही निकल जाता था। मैं प्रायः अकेला ही घर में पड़ा रहता था। या तो इन लोगों ने अब मुझे पूर्ण स्वस्थ मान लिया था या कुछ और तैयारी में लगे थे।

स्वस्थ तो मैं अवश्य हो गया था, पर मुझे ऐसा लग रहा था कि मैं जो अकेला पड़ा हुआ हूँ, वह किसी आँधी के पहले की शान्ति का अनुभव कर रहा हूँ। बोधा ने दो-एक वाक्य कभी-कभी इस प्रकार कहे थे जिनसे मैं आनेवाली आँधी का आभास पा रहा था। एक दिन उन्होंने कहा था, 'भट्टपाद आपकी अनुमति लेने के लिए आयेंगे, परन्तु अभी वे आपको पूर्ण विश्राम देना चाहते हैं।' एक दिन मैना को सम्बोधित करके उन्होंने कहा, 'अभी ही अपने को क्यों खपाये जा रही है

मैना, शक्ति की परीक्षा का दिन अभी आया नहीं।' परन्तु इससे अधिक उन्होंने कुछ बताया नहीं। अब, जब वे भट्टपाद के पास गये हैं तो निश्चय ही कुछ महत्त्व-पूर्ण काम है।

विद्याधर भट्ट को कदाचित् मेरी औपचारिक अनुमति-भर चाहिए। चाणक्य ने कुछ इसी प्रकार का अमात्य-कार्य किया होगा। भट्टपाद ही योजना बनाते हैं, नीति-निर्धारण करते हैं और काम आरम्भ करते हैं, मुझसे पूछ-भर लेते हैं। एक भी ऐसा अवसर नहीं आया जब उनकी योजना मेरे कारण परिवर्त्तित हुई हो। मुझे उनके अनुभव और सदिच्छा पर विश्वास है और उन्हें मेरी अनुगामिता पर श्रद्धा है। मुझे ऐसा लगने लगा है कि श्रद्धार्चित अनुगामिता ही राजा का यथार्थ आदर्श है। अभी वह चाणक्य और विद्याधर के व्यक्तित्व को आश्रय करके अंकुरित हो रही है, कोई दिन आयेगा जब वह पूरी प्रजा को आश्रय करके पुष्पित-पल्लवित होगी। राजा उस समय वही कहा जायेगा जो लोक-सेवक होगा। सेवाभावना ही कदाचित् उत्तम नेतृत्व का रूप ग्रहण करती है। जिसे अपनी व्यक्तिगत प्राप्ति-हानि की चिन्ता नहीं होती और पूरे समाज का अभ्युदय ही लाभ दिखायी देने लगता है, वही यथार्थ राजा है, वही समाज का नेतृत्व भी कर सकता है। कहीं ऐसा हो सकता कि मैं सारी प्रजा के लिए अपने-आपको बलि-दान कर सकता! कहाँ हो पाता है! मिट्टी का जड़ आकर्षण बराबर नीचे की ओर खींचता है। जिसे हम स्वार्थ कहते हैं, वह मिट्टी का आकर्षण ही तो है।

पड़ा-पड़ा मैं यही सब सोच रहा था। अचानक कुछ कौओं की आवाज कान में पड़ी। मैंने समझा कि प्रातःकाल हो गया। उठकर बाहर निकला तो लगा कि कौए भ्रम में थे। चन्द्रमा के ऊपर सफेद बादलों का आवरण पड़ा हुआ था और ऐसा लगता था कि पौ फटने का समय हो आया है। कौए चतुर जीव माने जाते हैं, पर इस झुटपुटे ने उन्हें धोखा दिया था। वे भ्रम में पड़कर बोल उठे थे। सवेरा होने में अभी काफी विलम्ब था, लेकिन मैं जो घर से बाहर निकला, वह अच्छा ही हुआ। ऐसी शान्त निस्तब्धता बड़े भाग्य से ही देखने को मिलती है। ऐसा जान पड़ता था कि प्रकृति अत्यन्त सावधान होकर, सुधाभाण्ड के मुख पर झीना वस्त्र डालकर छना हुआ अमृत धरती पर उँडेल रही है। ऐसी सावधानी की क्या आवश्यकता थी, मैं कह नहीं सकता। लेकिन इस झीने आवरण से छना हुआ अमृत निस्सन्देह चित्त में विचित्र प्रकार की प्राण-धारा को उद्वेल कर रहा था। चन्द्रमा किसी अलक्ष्य सुन्दरी के वस्त्राच्छादित मुख के समान कमनीय-मनोहर दिखायी दे रहा था और तारिकाएँ उसके आभूषणों में खचित रत्नों की तरह आवरण भेदकर जगमगा रही थीं। पता नहीं, अवगुण्ठन से समावृत इस धवल धारा को चुपचाप रात में ढरका देने का क्या उद्देश्य रहा होगा! दूर पहाड़ी पर सरकण्डों से बने हुए करनटों के छोटे-छोटे झोंपड़े और अतीत की समृद्धि की गवाही देनेवाले टूटे-फूटे खँडहर शान्त निद्रा में निमग्न दिखायी दे रहे थे। शान्ति इतनी घनी थी कि कहीं पत्ता खड़कने का भी शब्द नहीं सुनायी पड़ रहा था।

दूर तक फैली हुई काली गिरि-शृंखला दिगन्त के एक छोर से निकलकर दूसरे छोर तक सपाट चली गयी थी।

मैं इस मादक शोभा से ऐसा अभिभूत हुआ कि सब-कुछ भूलकर सामनेवाली पर्वत-शृंखला की ओर चल पड़ा। कितना सुहावना दृश्य था! मैं धीरे-धीरे आगे बढ़ता ही चला गया। यह भूल ही गया कि मुझे चुपचाप घर पड़े रहने का कठोर अनुशासन मानकर चलना पड़ता है। थोड़ी दूर जाने पर मैं एकदम ठिठककर खड़ा हो गया। पास ही के किसी खँडहर से बड़ी हलकी ध्वनि में वीणा और उसके साथ संगीत की तान सुनायी पड़ी। जान पड़ता था, कोई अपने ही मन से, यथासम्भव कोलाहल से बचने का प्रयत्न करते हुए, मन्द-मन्द ध्वनि से वीणा बजा रहा है और साथ-ही-साथ गाता जा रहा है। मुझे आश्चर्य हुआ। मैं खिचता ही चला गया। थोड़ी देर में उस घर के सामने उपस्थित हुआ जहाँ से संगीत की मृदु-मन्द ध्वनि आ रही थी। घर वह नाम-मात्र का ही था। अन्य खँडहरों से दूर कोई पुराना टूटा हुआ मन्दिर था, जिसकी छत कदाचित् एकदम नष्ट हो गयी थी। ऊपर घास-फूस और जंगली पेड़ों की टहनियों और पत्तों से एक कामचलाऊ छत बना ली गयी थी। सामने की भूमि साफ कर ली गयी थी। उस पर गोबर से लीपकर किसी ने बड़ी सुन्दर मण्डनिकाएँ बना रखी थीं। चाँदनी के घने प्रकाश में ये मण्डनिकाएँ बहुत मनोहर दिखायी देती थीं। भीतर हल्का-सा दीया टिमटिमा रहा था। घर वैसे चारों ओर से बन्द था, पर बहुत पुराना होने के कारण दीवारें सर्वत्र टूटी हुई थीं। बड़े-बड़े छिद्रों से भीतर का दृश्य स्पष्ट दिखायी दे रहा था। मैंने भीतर झाँककर देखा। देखकर आश्चर्य से चकित रह गया। बड़े क्षीण मनोहर कण्ठ से कोई हलके स्वर में गा रहा था :

> ध्यान-लयेन पुरः परिकल्प्य भवन्तमतीव दुरापम्।
> विलपति हसति विषीदति रोदिति चञ्चति मुञ्चति तापम्॥
> प्रतिपदमिनमपि निगदति माधव तव चरणे पतिताहम्।
> त्वयि विमुखे मयि सपदि सुधानिधिरपि तनुते तनुदाहम्॥

[हे माधव, आप दुर्लभ हैं, अतीव दुर्लभ, वह (राधा) फिर ध्यान की तन्मयता में आपको अपने सामने ही कल्पना करके विलाप करती है, हँसती है, विषाद करती है, रोती है, चलती है, प्रसन्न होती है। वह बिलकुल विक्षिप्त-सी हो गयी है। पद-पद पर कहती है, हे माधव, मैं तुम्हारे चरणों में पड़ी हूँ, तुम्हारे विमुख होने पर अमृत का निधि, यह चन्द्रमा भी मुझे जला रहा है।]

दीपक के क्षीण प्रकाश में मैंने नाटी माता को भाव-विह्वल मुद्रा में गाते देखा। सामने वही पटु-नट-कलावाले नटवर नागर की मनोहारिणी मूर्त्ति थी। नाटी माता घुटनों के बल खड़ी थीं। उनके घुँघराले केश पीठ पर छितराये हुए थे। अभी भी वे गीले लग रहे थे। कन्धे से नीचे सारा शरीर हलके गुलाबी रंग के कौशेय वस्त्र से आच्छादित था। कन्धे पर बायें हाथ में वीणा थी। दाहिने हाथ में कुछ भी नहीं था। कदाचित् उन्होंने पहले कुछ ले रखा हो; इस समय वह बिलकुल

खाली था। वे बहुत हलके कण्ठ से गा रही थीं। जान पड़ता था, वे और किसी के कानों में यह स्वर पहुँचने नहीं देना चाहती थीं। धीरे-धीरे परन्तु बहुत मनोहर भाव-गद्गद् स्वर में वे बार-बार इन्हीं पंक्तियों को गुनगुना रही थीं। उनका गला रह-रहकर रुँध आता था, पर वे गाये जा रही थीं। कई बार इन पंक्तियों को गाते-गाते वे विह्वल से विह्वलतर हो गयीं। सावधानी बनी हुई थी। एकाएक कातर भाव से उनके स्वर में अवरोह आया, पद बदले। अत्यन्त असहाय भाव से, फिर भी सतर्कता के साथ उन्होंने गाया :

सा-विरहे तव दीना
माधव मनसिज-विशिख-भयादिव भावनया त्वपि लीना !
सा-विरहे तव दीना !

अन्तिम पद रुक-रुककर निकला और वे वीणासहित नटवर नागर के चरणों में झुक गयीं। कुछ क्षणों के लिए गान रुक गया। मैं मुग्ध, अभिभूत, व्याकुल खड़ा देखता रहा। वीणा एक ओर लुढ़क गयी। ऐसा जान पड़ा, नाटी माता जो नटवर के चरणों में गिरीं सो मूर्च्छित ही हो गयीं। फिर धीरे-धीरे उन्होंने सिर उठाया—खोयी-सी, ठगी-सी, उद्भ्रान्त-सी उन्होंने चारों ओर देखा; कपोलों पर दरविगलित अश्रु धारा बह रही थी। उन्होंने रुँधे गले को साफ किया और फिर खड़ी हो गयीं, फिर कुछ पीछे हटीं। मूर्त्ति बराबर सामने की ओर बनी रही। वे इस बार अपने को भूल गयीं, अपनी सतर्कता को भूल गयीं। द्रुतचारी से थिरक उठीं। अब की बार जैसे उन्हें कुछ मिल गया हो, ताली बजा-बजाकर वे नाचने लगीं। सतर्कता धीरे-धीरे क्षीण होती गयी। हाथ और पैर से ताल देती हुई वे गा उठीं—

संचरदधरसुधामधुरध्वनिमुखरितमोहनवंशम्
चलितदृगंचलचञ्चलमौलि कपोलविलोलवतंसम्
रासे हरिमिह विहितविलासम्
स्मरति मनो मम कृतपरिहासम्
चन्द्रकचारुमयूरशिखंडकमंडलवलयितकेशम्
प्रचुरपुरन्दरधनुरनुरंजितमेदुरमुदिरसुवेशम्।

[रास में विलास करते हुए, नर्मकेलि से मुसकराते हुए भगवान् को मेरा मन स्मरण कर रहा है। कैसे थे वे श्यामसुन्दर ! मोहन वंशी बजा रहे थे, जिसकी ध्वनि उनके अधरामृत के संचार से और भी मनोहर हो उठी थी, दृगंचल और मौलिदेश चंचल हो उठे थे और इसी कारण कपोल देश पर झूलता हुआ कुण्डल भी हिल रहा था। चन्द्राकार चिह्नों से खचित सुन्दर मयूर-पक्षों से उनके केश वेष्टित थे, प्रचुर इन्द्रधनुषों से अनुरंजित सान्द्रस्निग्ध मेघमाला की भाँति उनका सुन्दर वेश बड़ा ही प्रियदर्शन था। रास में विलास करते हुए भगवान् को मेरा मन स्मरण कर रहा है।]

नृत्य में विह्वल होकर नाटी माता उस छोटे-से घर में एक कोने से दूसरे

कोने तक मत्तमयूर की भाँति नाच उठीं। भावावेग के साथ-साथ नृत्य के वेग में भी तेज़ी आती गयी और एक ऐसा अवसर आया कि गान एकदम रुक गया। केवल ताल और गति की विचित्र उलझी हुई थिरकन! सारा वातावरण तालानुग हो गया। नाटी माता के पैर सधे हुए थे, विविध चारियों के उद्दाम और बहुविचित्र आवर्त्त में भी वे सम पर ही आकर पड़ते थे। उनकी शिक्षित गति को देखकर मैं चकित रह गया। कहाँ सीखी उन्होंने यह कला? नृत्य मैंने बहुत देखे थे, पर ऐसा तालानुग संचार मेरी कल्पना के बाहर की बात थी। उनके प्रत्येक अंग में तालानुग छन्द थिरक रहे थे। एक-एक पेशी ताल पर झूम रही थी; यहाँ तक कि बिखरे हुए अस्त-व्यस्त चिकुर भी ठीक अवसर पर वेगपूर्वक उनकी पीठ पर आकर झम-से चिपक जाते थे। अंगयष्टि से चिपका हुआ अरुण कौशेय चारियों के आवर्त्त में बुरी तरह चंचल हो उठता था, पर सम पर आते ही विनीत सेवक की भाँति यथास्थान पहुँच जाता था। कई-कई बार तो वह इस प्रकार मण्डलित हो उठता था कि सचमुच ही लगता था कि लाल पाँखोंवाला मोर नाच रहा हो। कहीं नूपुर की झंकार नहीं, किंकिणी का क्वणन नहीं, कंकण का रणन नहीं, किन्तु सारा वातावरण एक विचित्र प्रकार के झणत्कार से विद्ध हो गया था। उल्लास-चंचल साड़ी जब मण्डलित हो उठती थी तो भीतर की नीली अँगिया शत-शत वलियों में तरंगित-व्याकुलित होकर उसे पकड़ने का प्रयत्न करती थी, परन्तु कठोर बन्धन की वेदना से केवल कसमसाकर रह जाती थी। यह विचित्र नृत्य केवल ताल-मात्र था—अंग-अंग से स्फुरित वितत-सन्तत तालमात्र!

सारे व्यापार का विशिष्ट कौशल यह था कि नटवर नागर की मूर्ति क्षण-भर के लिए भी पीठ की ओर नहीं आयी। निस्सन्देह इस गीति की राधा स्वयं नाटी माता थीं। पहले लाल रंग के कौशेय को देखकर मेरी समझ में जो बात नहीं आयी थी, वह अब स्पष्ट हो गयी। यह लाल साड़ी और नीली अँगिया राधाभाव की साधना का अंग-मात्र थी। नाटी माता भावमदिर थीं। वे नाचती गयीं, नाचती गयीं, नाचती गयीं। कोई क्लान्ति नहीं, अवसाद नहीं। हृदय के अतल गाम्भीर्य से निकली हुई नृत्य-मन्दाकिनी क्लान्ति नहीं लाती, विश्राम ले आती है। नाटी माता इस समय सच्चे अर्थों में 'आत्माराम' बनी थीं। वे अपने में ही अपना विश्राम पा गयी थीं। मैं कह नहीं सकता कि कितनी देर तक वे 'मदचकुट चकोरी' मुद्रा में रहीं—केवल एक ही बात मन के उपरले स्तर पर गूँजती रही—'नागर नटी! आदि उनका, अन्त मेरा!' आदि देखने का सौभाग्य नहीं मिला, अन्त भी क्या देखना उचित है? आवेश की शिथिलता के बाद माताजी मुझे देखेंगी तो क्या सोचेंगी? मैं चोर की भाँति छिपकर नटवर नागर को रिझाने की उनकी कला देख रहा हूँ। यह क्या क्षम्य है? नहीं, आदि भी नहीं देखा, अन्त भी नहीं देखूँगा। नृत्य के इस महनीय रूप को भूल नहीं सकूँगा। पहली बार आज समझ में आया है कि कालिदास ने नृत्य के लिए क्यों कहा था कि 'देवानामिममामनन्ति मुनयाः कान्तं क्रतुं चाक्षुषम्!'[41] सचमुच मैं आज

चाक्षुष यज्ञ का प्रसाद पा सका हूँ। मैं धीरे-धीरे वहाँ से हट आया।

हटना आसान नहीं था। महाशून्य में व्याप्त समष्टिगत नाद, साधक के मनोहर कण्ठ के आरोह-अवरोह की तरंगमाला पर गतिशील विग्रह धारण करके महाशून्य के अन्तरतर को कम्पित कर रहा था। विराट् शून्य की परिपूर्णता निस्सीम गति और ससीम स्थिति (ताल) की मिलनोत्कण्ठा से बार-बार तरंग-लोल हो रही थी। मानव-कण्ठ—तत्रापि सहज मनोहर नारी-कण्ठ की प्रत्यंचा से निक्षिप्त स्वर-तरंग ने चित्त में न जाने कितने रूपों को उरेह डाला! यह जो सृष्टि में रंगों की धूम है, गन्ध की भरमार है, रूप का समुद्र है, आनन्द का हिल्लोल है, वह भी किसी अज्ञात गायक के कण्ठ-स्वर की अद्भुत लीला है। शून्य न जाने किस विराट् की इच्छा-शक्ति से स्पन्दित हो रहा है! सीदी मौला ने कहा था, इच्छा ही नाद है, गति है, चांचल्य है और उसकी अनुगामिनी क्रिया ही बिन्दु है, स्थिति है, जड़ता है। सारा चराचर जगत् नाद और बिन्दु का ही विलास है। कौन है जिसके कुशल संगीत ने संसार को रूप से, रंग से, गन्ध से, आलोक से, स्वर से भर रखा है? कौन बता सकता है, उस विराट् लीलाधर का सन्धान?

नाटी माता का शरीर ही छन्दों से बना है। नागर नटी! किस असमाध्य उद्गम-भूमि से भावों के छन्द उठ रहे हैं! प्रत्येक संचार में छन्द है, प्रत्येक क्रिया में छन्द है। नाटी माता ने अपने-आपमें छन्द-पुरुष को ही ढाल दिया है। वे आज राधा-भाव में हैं, चिरन्तन प्रेमिक को चिरन्तन प्रेमिका का आत्मार्पण। एक बार उनकी करुण स्वर-लहरी ने बताया—तव चरणे पतिताऽहम्; तो दूसरी बार चपल हिन्दोल की भाँति झटका खाकर कूक उठीं—रासे हरिमिह विहित विलासम् स्मरति मनो ममकृत परिहासम्। दोनों पराकोटियों के बीच मुखर हुआ लय और ताल—देवताओं का चाक्षुष यज्ञ, नृत्य! और महाशून्य सिहर उठा। हटना आसान नहीं था, बार-बार गति मुड़ जाती थी, केन्द्र की ओर। यही क्या वह विराट् यज्ञ है जिसे भगवान् ने कहा था—अपाने जुह्वति प्राणम्। केन्द्रापगा शक्ति बार-बार मुड़कर केन्द्रानुगा होना चाहती है। समुद्र की कल्लोलमुखर तरंगमाला की भाँति, बेला पर पछाड़ खा-खाकर लौटना चाहती है। लौट रहा हूँ, लौटना पड़ रहा है। शिष्टाचार धक्के दे-देकर लौटा रहा है। कहाँ? किस ओर? यह शिष्टाचार भी एक व्यवधान है, अन्तराय है।

लौटकर आया तो उषःकाल अपने पूर्ण उल्लास पर था। मैना शंकित दृष्टि से मुझे इधर-उधर खोज रही थी। कदाचित् चुपके-चुपके यह देखने आयी थी कि उसका रोगी अभी सो रहा है या जग गया है। मुझे देखकर उसकी मृगशावक जैसी बड़ी-बड़ी आँखें प्रसन्नता से खिल गयीं और दूसरे ही क्षण कुछ विषाद से संकुचित भी हुईं। उसने आँखें झुका लीं और अभियोग के स्वर में कहा, "कहाँ चले गये थे?"

स्वर में मृदुता भी थी, कठोरता भी थी। उसकी बात अनसुनी करके मैं घूमने निकल गया, यह बात उसे असह्य थी। मैंने मन-ही-मन कहा—शासन की

ममता भी कठोर होती है, सरले, इतनी भी क्या ममता !

सफाई देने का प्रयास करते हुए बोला, "अभी थोड़ा टहलने का जी हुआ मैना ! पड़े-पड़े अच्छा नहीं लग रहा था।"

मैना की आँखें झुकी थीं। उसने रोष का भाव प्रकट करते हुए कहा, "नहीं।" और अभिमान का ऐसा झोंका उसे अनुभूत हुआ कि उसी प्रकार आँखें झुकाये वह वहाँ से तेजी से चली गयी। मैं कुछ कहूँ, इससे पहले ही वह निकल गयी।

केवल एक ही शब्द कानों में गूँजता रहा—'नहीं।' क्या नहीं ? नहीं, अर्थात् बाहर नहीं जा सकते, आज्ञा का उल्लंघन नहीं कर सकते, सफाई देने का प्रयत्न नहीं कर सकते। सब नहीं। अर्थात् मैं बन्दी हूँ। बन्दी हूँ ? किस बन्धन में हूँ। कुछ नहीं, केवल मैं बन्दी हूँ, मैना को अधिकार है वह मेरी सारी इच्छाओं को 'नहीं' के चाबुक से मारकर जिधर चाहे उधर मोड़े। 'नहीं' का और दूसरा अर्थ क्या हो सकता है ? 'नहीं', कितना मनोहर बन्धन है ! संगीत ही तो है। अभी जो संगीत सुन आया हूँ, उसमें व्यक्ति अपने को विलीन कर रहा है। अब जो सुन रहा हूँ, उसमें व्यक्ति अपने को अभिव्यक्त कर रहा है। नहीं, नहीं ! कैसा मनोहर संगीत है !

मैंने व्यथित होकर, बल देकर पुकारा, "मैना, सुनती जाओ।"

मैना नहीं लौटी। मेरे शब्द महाशून्य में एक क्षणिक कम्पन उत्पन्न करके विलीन हो गये। मैना नहीं आयी। अभिमान की उसकी मुद्रा चित्त में खड़ी रह गयी। गयी पर जा न सकी। मेरे मानस-पटल के ऊपर हाहाकार की झंझा बह गयी और उसमें मैना उसी मुद्रा में अविचल खड़ी रही। मैं अपने घर में अपनी शैया पर आ गिरा। कुछ समझ में नहीं आया। ऐसी भी क्या चिन्ता !

लेकिन, निस्सन्देह मैना का हृदय परास्त हो गया होगा। मेरी कातर मुद्रा देर तक उसे चैन से नहीं रहने देगी, यह मैं जानता था, जान गया था। वह लौटेगी, निस्सन्देह लौटेगी। लौटी भी। उस समय उसकी मुद्रा देखने योग्य थी। लज्जा से उसकी ग्रीवा झुक गयी थी, बंकिम भ्रू-लता टूटी हुई प्रत्यंचावाले धनुष के समान शिथिल हो गयी थी, अनुतापवश उसके अधरों पर पपड़ी पड़ गयी थी, सारी अंगयष्टि प्रभंजन-लुण्ठिता कोविदारलता की भाँति शिथिल जान पड़ती थी। मैना लौट आयी। किन्तु महामाया की क्या विचित्र लीला है ! उसके रोष-कषायित मुख को देखकर मेरा चित्त म्लान हो उठा था, अन्तरतर के अतल गाम्भीर्य से बार-बार ध्वनि उठ रही थी कि वह लौट आये, पर उसके आने पर मेरे मन में अभिमान का संचार हुआ। मैंने एक बार उसकी ओर देखा और विरक्ति से मुँह फेर लिया। अभिमान का आक्रमण अप्रत्याशित रूप में हुआ, वेग से मुझे अभिभूत करता गया। मैंने आँखें बन्द कर लीं। देर तक वह खड़ी रही, जैसे कोई महा अपराधिनी हो। देर तक मैं मुँह फेरे, आँखें मूँदे पड़ा रहा, जैसे मुझे कसकर बदला लेना हो। मैना का द्रवित होना सत्य था, मेरा मान मिथ्या

था। सत्य कातर भाव से खड़ा था, मिथ्याचरण कसकर जमा हुआ था।

मैना मेरे पैरों के पास आ गयी। उसने अपना सिर मेरे तलवों पर टिका दिया। आँखों से अविरल अश्रुधारा बह उठी। मेरी निष्ठुरता बढ़ गयी। मैं उसी प्रकार पड़ा रहा। एक-एक क्षण युग के समान बीत रहा था, पर अभिमान ज्यों-का-त्यों बना रहा। मैना रोती रही। अन्त में मेरी ही हार हुई। वेदना-रस से चित्त की कठोरता घुल गयी। मैंने पैर खींच लिया और उठकर बैठ गया। मैना के ललाट को सहलाया, वचन थोड़ी देर रुद्ध रहे, बहुत देर नहीं।

"क्यों रो रही है मैना ?"

मैना का अभिमान क्या चला गया था ? वह और भी वेग से रोने लगी। मैंने उसके केशों को सहलाया, मुँह को उठाकर अपनी ओर किया, सान्त्वना के अनेक वाक्य कहे, पर मैना का रोदन और भी बढ़ता गया।

"नहीं मैना, तुमने ठीक ही कहा था, मैं तो यों ही अप्रसन्न होने का अभिनय कर रहा था। शान्त हो जा मैना, मेरी अच्छी मैना, रोती क्यों है पगली, क्या मैं सचमुच अप्रसन्न हूँ ?"

मैना का आवेग शिथिल हुआ। उसने मेरी ओर देखा, केवल एक क्षण के लिए। बड़ी हृदय-भेदी दृष्टि थी वह! उसका अर्थ मैं पूरा समझ नहीं सका। इतना ही समझ पाया कि मैं महाराज सातवाहन हूँ, मुझे क्या ऐसा मान शोभा देता है! मैना धीरे-धीरे उठी और बिना कुछ कहे वहाँ से चली गयी। क्षमा-याचना करने आयी थी या शासन-शृंखला को और दृढ़ बनाने ? मैना चली गयी; अपनी ही दुर्बलता से मैंने अपने को वंचित किया।

एक क्षण में क्या हो गया! यह चित्र बना रहेगा, चित्त में पत्थर की लकीर बनकर रहेगा; व्याख्याएँ होती रहेंगी, चित्र मुसकराता रहेगा। एक क्षण में क्या नहीं हो जाता! पर यह क्षण क्या अपने-आपमें सीमित है ? आज जो फूल खिला है, वह क्या एक क्षण की उपज है ? न जाने कब से विधाता के दरबार में इस एक फूल को खिलाने की योजना बन रही है! बीज बने, पेड़ बने, फूल बने, फल बने, फिर वही क्रम चला, फिर वही, फिर वही। आज इस फूल को खिलाने का अवसर मिला है, लाखों वर्ष की तपस्या की यह परिणति है। पर यही क्या अन्त है ? और भी आयोजन होंगे, और भी, और भी। फूल खिलने की प्रक्रिया नहीं रुकेगी, प्रकृति के अपव्यय का उत्साह नहीं रुकेगा। किसलिए, किस महा उद्देश्य के लिए ? मैं नहीं बता सकता। मेरे अन्तर्यामी कहते हैं, मैना का यह निर्व्याज आक्रोश-रोदन भी फूल ही है, इसमें भी कोई फल आनेवाला है। यह यहीं नहीं रुकेगा। यह क्षणिक नहीं रहेगा। दूर, बहुत दूर जाकर ही वह सार्थक होगा।

अभिमानिनी, तूने मुझे आराम दिया है या बेचैनी ? मैना के जाने के बाद मेरे चित्त में एक विचित्र प्रकार की छटपटाहट अनुभूत हुई। मैं क्या मैना को समझ सका ? मैना क्या मुझे समझ सकी ? संसार विचित्र है, स्पष्टता कहीं नहीं, सर्वत्र आवरण। अनावरण सत्य का रूप कहीं देखने को मिल सकता है ?

हाय-हाय, किस पूषा को हिरण्यमय पात्र से इस सत्य का मुख खोलने का भार सौंपा गया है ? आओ पूषन्, सत्य के इस आवरण को अपावृत करो। नीचे से ऊपर तक माया का झीना आवरण पड़ा हुआ है। कौन दावा कर सकता है कि उसने जैसा देखा है वही ठीक है ?

नाटी माता की कुटिया देख आया हूँ, पर मैना किधर रहती है ? हाय, मैना अभिमानिनी बनी ही चली गयी। कहाँ होगी वह ? किधर गयी होगी ? मैं बाहर बेचैनी से टहलने लगा। सूर्योदय हो गया था। प्रकृति ने तन्द्रा का जो जाल बिछाया था, वह सब समेट लिया गया था। मैं धीरे-धीरे फिर नाटी माता की कुटिया की ओर चला। आशा थी मैना वहाँ मिल जायेगी। नाटी माता अब अन्तिम नैवेद्य समर्पित कर चुकी थीं। अब वे सहज भाव से नटवर नागर की स्तुति पढ़ रही थीं। कण्ठ में कहीं श्रान्ति या असाधारणता नहीं थी। परिचित मोहन कण्ठ, परिचित मोहन स्वर, परिचित मोहन स्तोत्र—

गताऽहं कालिन्दीं गृहसलिलमानेतुमनसा
घनद्घोरैर्मेघैर्गगनतलमभितोमेदुरमभूत ।
ध्वनद्धारासारैरपतमसहाया क्षितितले
जयत्वंके गृह्णन्पटुनटकलः कोऽपि चपलः ॥

मैं धीरे-धीरे कुटिया के पास पहुँचा। सोच रहा था कि एक बार और अनुचित प्रयास करूँ, उचककर देखूँ कि मैना है या नहीं। इसी समय एक ग्रामीण युवक आया। पत्ते के दोनों में कुछ फूल द्वार पर रखकर उसने माथा टेककर प्रणाम किया। फिर चिल्लाकर बोला, "फूल रखे जा रहा हूँ माताजी !" और चल पड़ा। मुझे देखकर उसे कुछ आश्चर्य हुआ। लगा, पहचानने की कोशिश कर रहा है। फिर उसने मुझसे पूछा, "आप ही महाराज हैं ?"

मैंने स्वीकार किया। युवक ने श्रद्धापूर्वक दण्डवत् प्रणाम किया और गद्गद भाव से कहा, "धन्य भाग्य जो आज सवेरे-सवेरे महाराज के दर्शन हुए !"

वह हाथ जोड़कर खड़ा हुआ। मैंने उसे ध्यान से देखा—गठा हुआ गौरवर्ण शरीर, उभरी और कसी हुई मांसपेशियाँ, आकर्ण विस्फारित नेत्र और जलता हुआ-सा ललाट। कौन हो सकता है वह युवक ? पहनावे के नाम पर एक धोती, जो घुटनों के ऊपर ही झूल रही है और फटा हुआ साधारण-सा मोटा उत्तरीय। जैसे गूदड़ी का हीरा हो।

मैंने पूछा, "तुम कौन हो भाई, कहाँ रहते हो ?"

"नट हूँ महाराज ! छोटी जात का नहीं, कारुनट हूँ। इसी गाँव में रहता हूँ। लेकिन हम लोगों का गाँव-गिराँव तो कुछ होता नहीं। घूमते-फिरते हैं। हम पुरुष लोग मल्लविद्या और व्यायाम-कौशल से लोगों का मनोरंजन करते हैं और हमारी स्त्रियाँ नाच-गाकर बड़े लोगों की सेवा करती हैं। आज यहाँ हैं, तो कल और कहीं। और नटों से हम अलग हैं। वे छोटी जात के होते हैं, हम लोग राजपूत हैं। नाटी माता तो हमारी ही जात की हैं न महाराज ! उन्होंने हमारे कुल को

तार दिया है।"

"कारुनट हो ? क्या कहना है ! कारुनट तो बड़े वीर होते हैं !"

"हाँ धर्मावतार ! वीर तो और नट भी होते हैं, पर हम लोग केवल वीरता का ही काम नहीं करते, कलावन्त भी हैं। मेरे प्रपितामह जोधासिंह इक्कीस नगाड़ों को पैरों के ताल से बजा लेते थे। उनकी क्षिप्रता और नृत्यकुशलता से मुग्ध होकर परम भट्टारक अनंगपाल ने उन्हें कारुनट की उपाधि दी थी। एक बार होली के अवसर पर गुलाल पर नृत्य करते हुए उन्होंने अपने पैरों से महाराजाधिराज की मनोवांछिता प्रिया की मूर्त्ति बना दी थी। महाराज प्रसन्न भी हुए और अप्रसन्न भी। प्रसन्न तो उनकी कला से हुए और अप्रसन्न इसलिए हुए कि उनकी सर्वाधिक प्रेयसी को पैरों से रौंद-रौंदकर बनाया गया था। उन्होंने यह भूमि हमें दी थी पुरस्कार में, परन्तु यह राज्य की अन्तिम सीमा पर थी, जो एक प्रकार का निर्वासन भी था। तब से हम लोगों पर अनेक विपत्तियाँ आयीं, हम कंगाल हो गये, लेकिन जैसे-तैसे अपनी विद्या बचाये हुए हैं। सात नगाड़ों पर मैं भी नाच लेता हूँ।"

"बहुत अच्छा !"

"हाँ महाराज ! हमारे गाँव का एक आदमी ग्यारह नगाड़ों पर नाच लेता है। मैं, महाराज, सात हाथ के बाँसों के सहारे दौड़ लेता हूँ। घुड़सवार मुझे नहीं पकड़ सकते।"

"साधु वीर !"

"परन्तु महाराज, लोग हमारे ऊपर विश्वास नहीं करते। वे समझते हैं, हम डाकू हैं, चोर हैं। इस अपवाद के कारण हमारी जाति भी छोटी होती जाती है। नाटी माता की तपस्या से अब हम लोग कुछ लोगों की दृष्टि में उठने लगे हैं। मैंनसिंह ने हमें सम्मानपूर्वक जीना सिखाया है। जब नाटी माता युवती थीं तो कदम्बवास मन्त्री की दृष्टि उन पर पड़ी। वे उन्हें साँभर ले गये। उनके नृत्य-कौशल पर वे मुग्ध थे। वे बड़े गुणग्राही थे। उन्होंने नाटी माता को खूब पढ़ाया-लिखाया। उन्होंने ही उन्हें 'कारुनटी' कहकर सम्मानित किया था। परन्तु बीच में जाने क्या हुआ, महाराज पृथ्वीराज ने कदम्बवास को मरवा दिया। वे 'कारुनटी' को गणिका समझने लगे। आप ही बताइए महाराज, अगर कदम्बवास के हत्यारे को नाटी माता स्वीकार कर लेतीं तो कितनी बड़ी कृतघ्नता होती ! वे वहाँ से भागकर महाराज जयित्रचन्द्र के दरबार में चली गयीं। महाराज पृथ्वीराज के महल में से निकलना कोई आसान काम नहीं था। मेरे पिता बताते हैं कि किस प्रकार कारुनटों की विद्या ने उस समय काम दिया। एक सौ एक नट अजयमेरु दुर्ग की खाई में साँस रोककर औंधेमुख पड़े रहे और उनकी पीठों से वह दृढ़ सेतु तैयार हुआ जिस पर से 'कारुनटी' आसानी से पार कर गयीं। बाँसों के बल चलनेवाले ग्यारह जवान स्थान-स्थान पर नियुक्त हुए थे जिन्होंने कन्धे पर, रातों-रात बाँस के सहारे, उन्हें कान्यकुब्ज तक पहुँचा दिया।

"महाराज जयित्रचन्द्र गुणग्राही थे। उन्होंने 'कारुनटी' का बड़ा सम्मान किया। पिताजी बताते हैं कि उनके नृत्य का जो प्रथम आयोजन किया गया था, उसमें पूरा पटवास कमल के पुष्पों से सजाया गया था। नाटी माता ने मयूर नृत्य किया था। कान्यकुब्ज में पाँच सौ वर्ष बाद इस नृत्य का आयोजन हो सका था। विविध रंगों के चूर्णों की तैयारी की गयी थी। नाटी माता के सधे पैरों का कौशल उस दिन हर प्रकार से स्तुत्य रूप में प्रकट हुआ था। उन्होंने ग्यारह भ्रामिकाएँ खेली थीं। प्रत्येक भ्रामिका अलग-अलग रंग के चूर्णों से खेली गयी। ग्यारहवीं बार पूरी रंगभूमि रंग-विरंगी आभा से दमकते हुए नर्त्तमान मयूर के रूप में खिल उठी थी। महाराज ने उनकी पालकी में कन्धा लगाकर सम्मान किया था। कारुनटों की कला उस दिन समूची भारत भूमि में प्रशंसित हुई। लेकिन हमारी तो मौत ही आ गयी। ये जो टूटे हुए खँडहर देख रहे हैं महाराज, वह प्रतिशोध भावना का ही फल है। एक-एक घर जलाया गया, रौंदा गया, स्त्रियों की लज्जा तक लूटी गयी। हमारे सैकड़ों कलावन्त तलवार के घाट उतार दिये गये। हमारी स्त्रियाँ शाकम्भरी-नरेश के अन्तःपुर में नीच कार्य करने को बाध्य की गयीं। हम तो लुट गये महाराज!"

"शिव, शिव! वड़ा कष्ट उठाना पड़ा तुम्हें वीरवर!"

"मगर हम दबे नहीं महाराज! कालिंजर की लड़ाई में चौहानों को जो दुम दबाकर भागना पड़ा, उसमें हमारे जवानों का बड़ा हाथ था। कठिनाई यह है कि कोई भी क्षत्रिय राजा हमें हमारा पुराना सम्मान देने को प्रस्तुत नहीं। महाराज जयित्रचन्द्र ने पहले तो 'कारुनटी' को 'नगर-श्री' की उपाधि दी, पर बाद में उनकी डोलकुल की रानी ने उन्हें सताना शुरू किया। कला का सम्मान उठ गया है महाराज! जयित्रचन्द्र के दरबारियों ने नाटी माता का मोल नहीं समझा। 'नगर-श्री' को भागना पड़ा और जयित्रचन्द्र के राज्य की श्री भी साथ-ही-साथ भागने को बाध्य हुई। अब तो उनका डोम-पुत्र हरिश्चन्द्र तुर्कों और पठानों के साथ मन्दिर तोड़ता फिर रहा है। हम लोग अवसर देख रहे हैं। मिले तो फल भोगवाके छोड़ेंगे।"

मुझे धक्-से लगा। मैंने तो यही सुना था कि चन्दावर की लड़ाई में जयित्रचन्द्र के वंश की समाप्ति हो गयी। यह क्या सुन रहा हूँ? क्या सूहवदेवी का पुत्र ही हरिश्चन्द्र है? क्या उसी ने तुर्कों को सहायता दी है? वह क्या उनका सेवक बन गया है? पर मैं सँभल गया। बोला, "वीरवर, अब तुम्हें अपमान नहीं सहना पड़ेगा।"

युवक ने झुककर चरण छू लिये। बोला, "महाराजाधिराज सातवाहन की छत्रछाया में हम दुर्जय दुरतिक्रम्य हो गये हैं। मैंनसिंह के इंगित पर हम दिल्ली तक धावा बोलने को तैयार हैं। हमारी स्त्रियों में उत्साह का तरंग उद्वेल हो रहा है। वे हमसे आगे मरने को तैयार हैं। नाटी माता ने बहुत दुनिया देखी है। उन्होंने बताया कि जीविका का साधन बन जाने पर कला अपने ऊँचे आसन से

गिर जाती है। अब हमने निश्चय किया है कि हम अपनी कला को बेचेंगे नहीं। हम प्राण देकर अपना पुराना सम्मान लौटा लायेंगे। लोग हमारे पुरुषों को डाकू समझते हैं, हमारी स्त्रियों को गणिका। यह कलंक मिटकर रहेगा। महाराजाधिराज सातवाहन की विजय-पताका हमारे कन्धे पर लहरायेगी।"

युवक के मुख पर निर्भय साहस तरंगित हो रहा था। वह कुछ पढ़ा-लिखा जान पड़ा। मैंने पूछा, "तुम कुछ पढ़े-लिखे हो वीरवर ?"

उसने विनयपूर्वक कहा, "सब नाटी माता और मैनसिंह का प्रसाद है महाराज !"

मैंने फिर पूछा, "तुम्हारा नाम जान सकता हूँ भाई ?"

"भम्भल, महाराज !" उत्तर मिला।

"तुम क्या प्रतिदिन नाटी माता को फूल दे जाते हो, भम्भल ?"

"जब से आयी हैं, तब से प्रतिदिन।"

"कब से आयी हैं ?"

"यही कोई दस दिन से। आप तो अस्वस्थ हो गये थे धर्मावतार ! मैनसिंह से हम लोगों को समाचार मिलते रहते थे। हमारी जाति के लोग बहुत चिन्तित हो गये थे। परसों रात को उन लोगों ने भैरव बाबा की पूजा की थी। उसमें एक आदमी की बलि दी जाती है। कई लोग अपने को बलि देने को प्रस्तुत थे। एक मनुष्य की बलि लेकर भैरव बाबा रोगी को रोग-मुक्त कर देते हैं। लोगों में होड़ मची हुई थी। मैनसिंह सबसे आगे था। परसों दिन-भर इसी उलझन में बीता। नाटी माता को पता चला तो उन्होंने यह पूजा ही रोक दी। बोलीं, 'बलि का अवसर आ रहा है। सच्चा बलिदान धर्म-कार्य के लिए बलि होने को कहते हैं। जो आदमी कुछ धर्म-कार्य किये बिना अपने को बलि चढ़ाता है, उसका बलिदान अधूरा रह जाता है।' आश्चर्य की बात है महाराज कि बूढ़े जम्बल पर भैरव बाबा का आवेश हुआ तो उन्होंने ज्यों-की-त्यों वही बातें कहीं जो नाटी माता ने कही थीं। अब इस गाँव और इसके आसपास के गाँव के लोग उस अवसर की प्रतीक्षा में हैं जब भैरव बाबा का बलिदान का आदेश मिलेगा। मैनसिंह कहता है कि जल्दी ही वह अवसर आने वाला है।"

"अच्छा !"

"अच्छा महाराज, अपराध मार्जित हो तो एक बात पूछूँ ?"

"हाँ-हाँ, पूछो।"

"सुना है भगवती विष्णुप्रिया के आश्रम में जब महारानी चन्द्रलेखा जूझते-जूझते गिर गयीं तो उनमें महिषमर्दिनी दशभुजा दुर्गा का तेज उतर आया। उन्होंने शत्रुओं का संहार किया। कल ही यह समाचार आया है कि वे विक्रमशिला में आकाश मार्ग से उतरीं। उनकी दसों भुजाओं में अनेक आयुध थे। उनको देखकर डोमराजा हरिश्चन्द्र के साथ आयी तुर्कों की सेना ऐसी भागी कि कहीं उसका पता ही नहीं चला। सुना है वे आकाश-मार्ग से कामरूप से लेकर

ज्वालामुखी तक रक्षा कर रही हैं। आप कुछ जानते हों तो बतायें महाराज !"

"क्या मैनसिंह ने बताया है, भम्भल ?"

"नहीं महाराज, वह बेचारा तो रानी का नाम सुनते ही रोने लगता है। परन्तु यह बात तो सब जानते हैं।" भम्भल के स्वर में आवेश का भाव आया, "अब शत्रु की विराट् वाहिनी को हम चुटकियों से मसल देंगे। साक्षात् महिषमर्दिनी हमारी रक्षा कर रही हैं।"

इसी समय नाटी माता बाहर निकलीं। भम्भल को डाँटते हुए उन्होंने कहा, "क्या बक-बक कर रहा है भम्भल ! तुझे नहीं मालूम कि महाराज अस्वस्थ हैं ?"

भम्भल एकाएक घबरा गया। "अपराध हुआ माताजी, क्षमा करें धर्मावतार !" कहकर वह ऐसा भागा जैसे सामने बाघ दीख गया हो, और क्षण-भर में लापता हो गया।

नाटी माता हँसने लगीं। बोलीं, "बड़ा वाचाल हो गया है। क्या बक रहा था महाराज ?" फिर मेरे उत्तर की प्रतीक्षा किये बिना बोलीं, "आपको बाहर तो नहीं निकलना चाहिए। चलिए, विश्राम कीजिए।"

माताजी को मैंने प्रणाम किया और उनके पीछे-पीछे चलने लगा। अब मैं नाटी माता का इतिहास जान गया था। नाटी माता इस सन्दर्भ में और भी महिमामयी हो गयीं। कारुनटी, नगर-श्री, नागरनटी, नाटी माता ! आदि उनका, अन्त मेरा !

नाटी माता हँसती हुई पूछती जा रही थीं, "क्या कहता था महाराज, रानी दुर्गा के रूप में अवतरित हुई हैं ! न जाने कौन इन लोगों को ये बातें बताया करता है। जंगल में जैसे दावानल फैलता है, वैसे ही इन लोगों के बीच ये बातें फैलती हैं। दो दिन पहले रानी के चार ही हाथ थे, अब सुना है दस हो गये हैं !" कहकर नाटी माता खुलकर हँस पड़ीं। मेरी ओर उन्होंने देखा नहीं। मेरी दृष्टि उनके लाल-लाल चरणों की ओर थी। इन्हीं मनोहर चरणों ने किसी दिन कान्यकुब्ज में विचित्र मयूर बना दिये थे—ताल-ताल पर थिरककर। इन्हीं चरणों को आज देखा शून्य को पूर्णता प्रदान करते हुए, ताल और लय के समंजस विधान के द्वारा। इन चरणों की महिमा थी कि प्रबल प्रतापान्वित दलपंगुर महाराज जयित्रचन्द्र ने पालकी में कन्धा लगा दिया था। आज उनसे भी अधिक महिमामण्डित, उनसे भी अधिक शक्तिपुंज आनन्दकन्द ने क्या कन्धे पर पालकी नहीं उठा ली है ?

नाटी माता नहीं जानतीं कि मैं क्या सोच रहा हूँ ! वे सहजगति से चल रही हैं। मैं झूम रहा हूँ। एकाएक उन्होंने मेरी ओर देखा। कुछ घबरायी आवाज में पूछा, "उदास हो महाराज ? सब ठीक तो है ?"

"उदास तो नहीं हूँ माताजी !"

"मैना गयी थी न ? या भूल गयी ? बहुत नटखट हो गयी है। परसों गाँव में दिन-भर भैरव बाबा की पूजा कराती फिरी। मैनसिंह सभी आगे-आगे घूमती

रही। मैं कहती हूँ, भोली, क्यों अपने को छिपाती फिरती है ! तुझे जिसने रूप दिया है, वही कार्य भी देगा। अभी बहुत भोली है। सेवा में प्रमाद कर रही है न महाराज ?"

"प्रमाद ? नहीं माताजी, मैना ने सेवा न की होती तो क्या मैं जीवित होता ?"

"मुझे भय लगता है कि उसकी सेवा में मोह है, प्रतिदान की आकांक्षा है, इसीलिए उसमें झिझक है, कुण्ठा है। व्रीड़ा तक तो ठीक है, पर कुण्ठा क्यों होगी ?"

मैं चुप।

"है न महाराज ?"

"यह तो वही कह सकता है माताजी, जिसमें मोह न हो, कुण्ठा न हो, झिझक न हो।"

नाटी माता ने घूमकर मेरी ओर देखा; बोलीं कुछ नहीं।

24

उस दिन मैं बहुत बेचैन रहा। दिन-भर किसी से भेंट नहीं हुई। सन्ध्या समय थोड़ा बाहर निकला। मन में बार-बार नाटी माता की वह मुद्रा खड़ी हो जाती थी, जब उन्होंने पीछे मुड़कर मेरी ओर देखा था। उस दृष्टि का अर्थ समझने का प्रयत्न करता रहा। क्या वह अपराधी को सावधान करने की दृष्टि थी या बने हुए चोर को ठीक-ठीक समझने के कारण अचरज प्रकट करनेवाली दृष्टि थी ? नाटी माता ने मुझे क्या समझा। उन्हें कष्ट हुआ, आश्चर्य हुआ या दया आयी ? मैं देर तक उनकी मौन दृष्टि का अर्थ समझने का प्रयत्न करता रहा। मन में आया उनसे मिलकर ही अर्थ क्यों न समझ लूँ। यदि कहीं कोई त्रुटि या विच्युति हो गयी है तो उसे अंकुरावस्था में ही मसल डालना बुद्धिमानी है। परन्तु मन स्थिर नहीं हो पाया। अनेक विचार आये और गये।

नाटी माता ने कहा था, 'मुझे भय लगता है कि मैना की सेवा में मोह है, प्रतिदान की आकांक्षा है, इसीलिए उसमें झिझक है, कुण्ठा है। व्रीड़ा तक तो ठीक है, पर कुण्ठा क्यों होगी ?' मुझे मौन देखकर उन्होंने पूछा था, 'है न महाराज ?' क्या उत्तर देता भला ! मुँह से निकल पड़ा, 'यह तो वही कह सकता है माताजी, जिसमें मोह न हो, कुण्ठा न हो, झिझक न हो।' बस इतनी ही-सी तो

बात थी। परन्तु माताजी ने घूमकर मेरी ओर एक विचित्र दृष्टि से देखा। उस दृष्टि का अर्थ नहीं समझ पा रहा हूँ। माताजी ने क्या समझा। उनके मन में चित्र किस प्रकार स्फुट हुआ, किस रंग में, किस रूप में! हाय, मुझसे अपराध हो गया क्या?

मैं बेचैनी से टहल रहा था। आज कहीं कोई मनुष्य भी नहीं दीख रहा था। निर्जन सूने प्रान्तर में मेरा मन भरा-भरा-सा लग रहा था। इसी समय भम्भल दीख गया। भम्भल ने मुझे प्रणाम किया और एक ओर चुपचाप खिसक जाने का प्रयत्न किया।

मैंने टोका, "सुनो भम्भल, कहाँ जा रहे हो? कुछ बातें सुनाओ।"

भम्भल रुका, लेकिन बोला नहीं। कुछ संकुचित-सा खड़ा हो गया।

मैंने फिर बढ़ावा दिया, "क्या बात है वीरवर, चुप क्यों हो? उदास हो क्या? चिन्तित दिखायी दे रहे हो। कुशल तो है?"

भम्भल ने हाथ मलते हुए दीन भाव से कहा, "धर्मावतार, आप अस्वस्थ हैं। माताजी ने आपसे बहुत बात न करने की आज्ञा दी है।"

मैं समझ गया, बोला, "मैं नहीं बोलूँगा। मैं तो केवल सुनता रहूँगा। सुननेवाले को कष्ट थोड़े ही होता है!"

भम्भल क्षण-भर ठिठका। सरलता के साथ उत्तर दिया, "होता है धर्मावतार!"

मुझे भम्भल का उत्तर कुछ विचित्र-सा लगा, पूछा, "कैसे?"

भम्भल बोला, "आज ही देखा है महाराज! माताजी मैनसिंह से कहे जा रही थीं और मैनसिंह चुपचाप रोये जा रहा था। बोलता बिल्कुल नहीं था, पर कष्ट उसी को हो रहा था। सुननेवाले को कष्ट न होता तो बेचारा रोता क्यों?"

सुनकर मुझ पर जो बीती उससे भम्भल की बात की प्रामाणिकता ही सिद्ध हुई। ठीक ही कह रहा है। यह आवश्यक नहीं कि बोलनेवाले को ही कष्ट हो। सुननेवाले को भी कष्ट हो सकता है। यही बात सुनकर मेरे चित्त को कितना कष्ट हो रहा है! मैं सचमुच डर गया कि आगे यह वाचाल युवक न जाने और क्या सुना दे! मैं क्षण-भर में म्लान हो गया। मैनसिंह रोये जा रहा था! हाय, यह कैसा दुःसंवाद है! माताजी को मेरे उस दिन के उत्तर ने कदाचित् सन्देहव्याकुल बना दिया था। यह तो विश्वास योग्य नहीं जान पड़ता कि माताजी इतनी निष्करूण, निष्ठुर हो सकती हैं।

भम्भल की वाचालता में तरंग आयी। उसने आगे कहा, "माताजी से मैनसिंह बहुत डरता है महाराज! उस दिन उसने गाँव में सबसे कहा कि माताजी से मत कहना कि भगवती जलकर मर गयी हैं। उन्हें सुनकर कष्ट होगा। किन्तु गाँव की स्त्रियों में से एक ने माताजी से कह ही दिया। बात कैसे छिप सकती है महाराज! हर आदमी जानता है कि भगवती विष्णुप्रिया जलकर मर गयीं। मैनसिंह वहाँ गया भी था। माताजी ने सुना तो वे भी वहाँ चली गयीं। मुझसे कह गयी हैं कि

महाराज की ठीक से सेवा करना। इधर सुनते हैं धर्मावतार, कि बड़ी भारी लड़ाई होनेवाली है। इस बार योगी लोग हमारी ओर से लड़ेंगे। यहाँ से सब नौजवान चले गये हैं। कुछ थोड़े-से लोग रह गये हैं। मैनसिंह उस दिन कह रहा था कि बड़ा भयंकर संकट आ गया है। इधर महाराज अस्वस्थ हैं, उधर दुष्टों ने उज्जयिनी के गाँव-के-गाँव जला दिये हैं, स्त्रियों और बालकों का वध किया है। बूढ़े मन्त्री बहुत विचलित हो गये हैं। महाराज से सलाह नहीं कर सकते, भगवती विष्णुप्रिया का कड़ा निषेध है; उधर दीन प्रजा का हाहाकार सुना नहीं जाता। अब सुना गया कि भगवती भी जल मरीं। क्या होगा महाराज? चारों ओर से संकट आ गया है। मैनसिंह कहता था, कुछ परवा नहीं, हम शत्रुओं को मसल डालेंगे। इसी समय माताजी ने उससे जाने क्या-क्या कहा कि बेचारा एकदम मुरझा गया। संकट आता है तो सब ओर से आ जाता है।" भम्भल ने ज्ञानी की भाँति उपसंहार किया।

भम्भल का प्रत्येक वाक्य वज्र-प्रहार की भाँति मुझे विचलित करता रहा। लेकिन आश्चर्य यह है कि मैं एक प्रकार की विचित्र प्रेरणा भी अनुभव करने लगा। सारी प्रजा जब विपत्ति के आवर्त्त में पड़ी है, उस समय एकान्त निर्जन में अस्वस्थता का भान करके पड़ा रहना क्या उचित है? मेरे मन में इन परिजनों के प्रति क्षोभ का भाव भी उत्पन्न हुआ। इन्होंने मुझे कितना दुर्बल और असहाय बना दिया है? अभिमान का भाव भी आया। राजा मैं हूँ या ये लोग? इतना बड़ा संकट आया है और मुझे जानने भी न देना क्या उचित आचरण है? निस्सन्देह मैना में कठोर मोह का आवरण पनप उठा है। मैं अस्वस्थ हूँ। कहाँ अस्वस्थ हूँ? दीन प्रजा का धन, मान, प्राण सब-कुछ जल रहा है और मैं मुग्ध की भाँति, नेय की भाँति, अनजान बना विश्राम कर रहा हूँ! पितृ-पितामहों का दिया हुआ यह शरीर किस दिन काम आयेगा? धिक्कार है मुझे, धिक्कार है उन लोगों को जो मुझे इस प्रकार छुईमुई बनाये हुए हैं! मैं पिछले कई वर्षों से किधर बढ़ रहा हूँ! एक भी काम मैंने क्या ऐसा किया है जो अपने बचाव के अतिरिक्त कुछ अधिक मूल्य रखता हो? मैं यहाँ पड़ा हूँ। प्रजा अनाथ की भाँति कष्ट पा रही है। धिक्!

भम्भल मेरे मनोभाव को नहीं समझ सका। उसकी वाचालता और भी उत्तेजित हुई। कहने लगा, "मैनसिंह किसी से कुछ कहे बिना न जाने कहाँ चला गया। गया है तो कुछ करके ही लौटेगा। कह रहा था, महाराज को सबसे बड़ा समाचार ही सुनाने लौटूँगा। बड़ा वीर है वह! मेरा मन कहता है महाराज, कि वह लड़ाई के मैदान में ही गया है। उसके साथ तीस-पैंतीस कारुनट जवान भी गये हैं और कुछ स्त्रियाँ भी उसके साथ चली गयी हैं। विचित्र बातें करता है। कहता है, स्त्रियाँ इस युद्ध में अधिक सफल होंगी। मैंने कहा, 'करनटों की स्त्रियाँ तो नाच-गा सकती हैं, वे भला क्या लड़ेंगी!' तो डाँटकर बोला, 'तुम चुप रहो।' मैं चुप हो गया। विलक्षण बुद्धि है उसकी। कुछ करेगा अवश्य!"

मैंने टोका, "तुम्हें कुछ पता है भम्भल, लड़ाई कहाँ हो रही है? उधर जाने का रास्ता किधर से है?"

भम्भल बोला, "सब जानता हूँ महाराज! माताजी ने बताने की आज्ञा नहीं दी, नहीं तो सब बता देता।"

मैंने पूछा, "माताजी ने क्या आज्ञा दी है?"

माताजी की आज्ञा की बात के याद आते ही भम्भल को कुछ घबराहट हुई। हाथ जोड़कर बोला, "क्षमा करें धर्मावतार, मैं बहुत बात करूँगा तो आपकी अस्वस्थता बढ़ जायेगी। माताजी ने कहा है कि महाराज से अधिक बातें न किया करो।"

मैं हँसने लगा। उसकी घबराहट दूर करने के लिए थोड़ी स्तुति करना आवश्यक था। मैंने कहा, "भम्भल, जब तुम बातें करते हो तो मुझे बड़ा सुख मिलता है। मेरी सारी दुर्बलता जाती रहती है। तुम्हारे जैसे युवक से बातें करने से ही मेरी अस्वस्थता दूर होगी। तुम लड़ाई के मैदान में क्यों नहीं गये भम्भल? तुम तो इस गाँव के सबसे चतुर नौजवान हो। मैनसिंह ने तुम्हें साथ न ले जाकर गलती की है।"

भम्भल फिर मुखर हुआ। बोला, "मैं तो जाने को उतावला था धर्मावतार लेकिन मैनसिंह कहता है कि तुम लड़ाई में जाने योग्य नहीं हो, तुम्हारे पेट में बात नहीं पचती। इस लड़ाई में कम बोलनेवालों की आवश्यकता है; तुम बहुत बोलते हो। तुम यहीं रहकर महाराज की सेवा करो। मैंने भी सोचा कि महाराज की सेवा करने का अवसर मिल रहा है तो क्यों न उसकी बात मान लूँ! मगर यह ठीक नहीं है कि मेरे पेट में बात नहीं पचती। मुझे भगवती के जल जाने की बात कई दिन से मालूम थी। मैनसिंह ने कहा था कि माताजी को मत बतलाना। सो मैंने नहीं बताया। उन्हें तो गाँव की स्त्रियों ने बता दिया। फिर जब उन्होंने पूछा तो मैंने कह दिया कि बात तो ठीक है, लेकिन बताऊँगा नहीं। माताजी ने बहुत पूछा पर मैंने एक ही उत्तर दिया, 'नहीं बताऊँगा।' वे अप्रसन्न होकर चली गयीं; पर मैंने उन्हें नहीं बताया, नहीं बताया। फिर भी ये लोग कहते हैं कि मेरे पेट में बात नहीं पचती।

"इन लोगों ने यह भी कहा कि महाराज से मत बतलाना कि रानी जीवित हैं या मर गयी हैं, सो मैंने आपको बताया? वैसे मुझे मालूम है कि रानी जीती हैं और उनमें दशभुजा शक्ति का संचार हुआ है। काशी के पास उन्हें देखा गया है। ओदन्तपुरी में देखा गया है। रानी आकाश से तेज रूप में उतरती हैं। धीरे-धीरे धरती पर साक्षात् महिषमर्दिनी के रूप में दिखायी देती हैं। डोम राजा हरिश्चन्द्र से उनकी बात हुई है। उसने उनको बड़ी बहन मानकर तुर्कों का साथ छोड़ दिया है। लोग उससे बहुत क्षुब्ध थे, पर रानी के कहने पर उसे महाराज जयित्रचन्द्र का पुत्र मान लिया है, उसे महाराज की उपाधि दी है। मगर उसका राज्य सूहवदेवी के गाँव तक ही सीमित है। कर्दमेश्वर महादेव के मन्दिर की रक्षा

उसके आदमियों ने ही की है। लोग कहते हैं कि यह मन्दिर महाराज गोविन्दचन्द्र का बनवाया हुआ है। तुर्क उसे नष्ट नहीं कर सके। सुना है महाराज, कि है तो अभी लड़का ही लेकिन तेजस्वी है। मैनसिंह कहता है कि काशी में उसके नाम पर एक घाट बना दिया गया है। अस्सी नदी का पानी जहाँ गंगाजी में गिरता है वहीं यह घाट बना है। हरिश्चन्द्र इस बात से प्रसन्न है कि कर्दमेश्वर के मन्दिर को पखारता हुआ पानी उसके ही राज्य में गंगाजी में गिरता है। रानी कहती हैं कि जात-पाँत के कारण किसी को छोटा मत समझो। लोगों ने केवल रानी की बात मानकर उसे उस घाट का राजा माना है। जात-पाँत कैसे भुलायी जा सकती है महाराज ! हरिश्चन्द्र तो महाराज की उपाधि धारण करने पर भी डोम ही रहेगा न ! यह विधान मनुष्य के बदलने से थोड़े ही बदल जायेगा। वह तो विधाता का विधान है न !''[22]

मैंने आश्चर्य प्रकट करते हुए कहा, ''तुम्हें ये सब बातें कैसे मालूम हुईं भम्भल ?''

भम्भल ने कुछ छिपाना चाहा। बोला, ''नालन्दा विहार के साधु लोग बताते हैं धर्मावतार ! मगर मैं इससे अधिक कुछ नहीं कह सकता।''

मैं समझ गया कि भम्भल को कुछ निषेधाज्ञा प्राप्त है। बात बदलकर ही इससे कुछ जानकारी प्राप्त की जा सकती है। भोला भी है और वाचाल तो है ही ! मैंने बात बदलने के ढंग पर कहा, ''जाने भी दो, यह बताओ कि तुम्हें घुड़सवारी आती है ?''

भम्भल का चेहरा दमक उठा, ''घोड़ा तो मेरा बहुत प्रिय जन्तु है धर्मावतार ! आपका जो वज्र है न, उसकी देख-भाल तो मैं ही करता हूँ। पशु होने से क्या होता है महाराज, उसमें मनुष्य से अधिक माया-ममता है। कहता हूँ, 'महाराज के पास चलोगे वज्र !' तो कान खड़े करके शून्य की ओर ताकने लगता है और रोने भी लगता है। मैनसिंह ने कहा है कि जब महाराज पूर्ण स्वस्थ हो जायें तभी उनके पास इसे ले जाना।''

मेरा हृदय उछल पड़ा। मैंने समझ लिया था वज्र मर गया है। लेकिन वह यहीं है, यह जानकर बड़ी प्रसन्नता हुई। बोला, ''वज्र को देखना चाहता हूँ भम्भल ! दिखा दोगे ?''

भम्भल गल गया, ''अभी आप अस्वस्थ हैं महाराज ! वज्र भी अस्वस्थ है। अभी तो देखने लायक नहीं है।''

''वज्र अस्वस्थ है ! मैं अवश्य देखूँगा भम्भल ! मेरे स्पर्श से वह स्वस्थ हो जायेगा।''

भम्भल थोड़ा हिचका। फिर उसे मेरी बात जँच गयी। ''हो सकता है धर्मावतार, वह आपके स्पर्श से स्वस्थ हो जाये। मगर वह दूर है। उसके पेट में चोट लगी थी। खड़ा हो जाता है, पर चल नहीं सकता। अमोघवज्र हैं न, नालन्दा के सिद्ध अमोघवज्र ! वे कहते हैं कि यह भी वज्र है, मैं भी वज्र हूँ। मैं और ये दोनों

भाई-भाई हैं। उन्होंने कुछ उपचार किया, तब से ठीक हो रहा है। मैंने उसकी बड़ी सेवा की है महाराज! यहाँ लाया गया तो उठ भी नहीं पाता था। मैनसिंह ने कहा है कि जब तक चलने न लगे, तब तक महाराज को न दिखाओ। उन्हें बड़ा कष्ट होगा। मैंने अब उसे खड़ा तो कर दिया है।"

मैंने उल्लास के साथ कहा, "कनाउड़ा हूँ भम्भल! तुमने मेरी यह सबसे बड़ी सेवा की है। उसकी जान बचाकर तुमने मेरी जान बचायी है। मैं उसे अवश्य देखूँगा। वह मुझे देखते ही हृष्ट-पुष्ट होकर चलने लगेगा।"

भम्भल ने लज्जा के साथ कहा, "ऐसा न कहो महाराज, आपका सेवक हूँ।"

"भम्भल, मैं तुमसे बहुत प्रसन्न हूँ। ऐसी कोई चीज नहीं है जो मैं तुम्हें न दे सकूँ। मुझे वज्र से अवश्य मिला दो। कितनी दूर है वह?"

भम्भल ने कहा, "बहुत दूर तो नहीं है, लेकिन रास्ता पहाड़ी है। आपको जाने में कष्ट होगा, वह भी नहीं आ सकेगा। मैं कल प्रातःकाल अमोघवज्र महाराज से पूछकर उसे ले आऊँगा।"

अमोघवज्र! यह नाम तो परिचित जान पड़ता है। रानी के लेखों में इस नाम के एक साधु की चर्चा आयी थी। वे ही हैं? मैंने कुछ और जानने के उद्देश्य से पूछा, 'अमोघवज्र से भी मिलना चाहता हूँ भम्भल! तुम बता सकते हो वे कौन हैं?"

भम्भल ने जीभ काट ली, मानो कुछ ऐसा कह गया हो जो उसे नहीं कहना चाहिए था। निश्चय ही उसे ये सारी बातें अमोघवज्र से ज्ञात हुई हैं। यही वह छिपाना चाहता था, पर बहक में छिपा नहीं पाया। मैंने उसे इस प्रसंग से हटाने के उद्देश्य से कहा, "तुम मेरी सेवा करने के लिए हो न भम्भल! मैं तुम्हें कुछ काम देना चाहता हूँ!"

भम्भल को इस प्रसंग से इतनी जल्दी मुक्ति पाने की आशा नहीं थी। प्रसन्न हुआ, बोला, "धर्मावतार की आज्ञा हो, इस अकिंचन का इससे बड़ा सौभाग्य क्या हो सकता है!"

मैंने अपनी कुटिया की ओर मुँह फिराया। कहा, "चलो, कुटिया तक पहुँचा दो, मैं थक गया हूँ।"

भम्भल मुरझा गया, बोला, "मेरे कन्धे पर बैठ जायें धर्मावतार! मैं अभी पहुँचा देता हूँ।"

मैंने उसकी पीठ ठोंकी, "नहीं वीर, मैं चल लूँगा। तुम साथ-साथ चलो।"

पर भम्भल अड़ गया, "यह कैसे होगा धर्मावतार! सेवक किस दिन काम आयेगा! इतनी सेवा का अवसर तो मुझे मिलना ही चाहिए।" और पैर पकड़कर रो पड़ा।

मैं विचित्र संकट में पड़ गया। कुछ देर उसे समझाता रहा, लेकिन उसने हठ पकड़ लिया। अनिच्छापूर्वक उसके कन्धे पर सवार हुआ। उसे तो मानो राज्य ही मिल गया। कुटिया बहुत दूर नहीं थी। शीघ्र ही हम पहुँच गये। उस समय

सन्ध्याकालीन हल्का अन्धकार पर्वत-भूमि पर उतर आया था। चटपट मुझे लिटाकर वह मेरे पैर दबाने लगा। फिर व्याकुल भाव से पूछने लगा कि अब कैसा लग रहा है।

मैंने उसे आश्वस्त किया, "कुछ चिन्ता की बात नहीं है भम्भल! थोड़ा हृदय में कष्ट है। तुम सिद्ध अमोघवज्र को बुला दो। वे कुछ उपचार कर सकते हैं।"

भम्भल विचित्र धर्मसंकट में पड़ गया। कदाचित् उसे अमोघवज्रवाली बात को छिपाने का आदेश था।

मैंने कहा, "जल्दी करो भम्भल, कष्ट बढ़ रहा है।"

भम्भल हैरान था। फिर आँखें नीची किये जल्दी-जल्दी चला गया।

भम्भल चला गया तो मुझे थोड़ा मानसिक खेद हुआ। इस भोले नवयुवक से मैंने कैसी छलना का व्यवहार किया। कितना सरल है! कहता है 'कुछ नहीं कहूँगा', पर सब कह जाता है। श्रद्धा, भोलापन और सहज सारल्य इसके चरित्र के मुख्य उपादान हैं। मैनसिंह ने कह दिया तुम वाचाल हो, लड़ाई में जाने के अयोग्य हो, मान गया। पर माना भी नहीं। मैंने ऐसा निश्छल हृदय नहीं देखा। कोई बात छिपा नहीं पाता। विचित्र बातें करता है। रानी के बारे में इसने जो कुछ कहा वह तो केवल चकरा देनेवाला है। रानी जीती हैं, पर आकाश में तेज-रूपयी ही दिखायी देती हैं, धरती पर उतरती हैं तो साक्षात् महिषमर्दिनी के रूप में! इन बातों का क्या अर्थ हो सकता है भला! बोधा प्रधान कहते हैं, रानी हैं। क्या तेज रूप में ही हैं? उनका पार्थिव शरीर क्या नहीं रहा? बोधा और भम्भल के कथनों का सामंजस्य क्या है?

मैं इसी प्रकार की चिन्ताओं में उलझा था कि भम्भल भदन्त अमोघवज्र को लेकर उपस्थित हुआ। अन्धकार घना हो आया था। स्वच्छ-निर्मल नभोमण्डल में तारावली प्रसन्न भाव से हँस रही थी। सूनी काली गिरिश्रृंखला और भी काली हो गयी थी। आकाश जागता हुआ-सा दिखायी दे रहा था, वनस्थली सोयी-सी जान पड़ती थी। अन्धकार ही नहीं, निस्तब्धता भी सूचीभेद्य-सी लग रही थी। मैं चुपचाप कुटिया के आँगन में बैठा खोया-खोया-सा सोच रहा था। अमोघवज्र और भम्भल चुपचाप निःशब्द आकर खड़े हो गये।

भम्भल ने खाँसकर गला साफ किया और भयत्रस्त वाणी में बोला, "जय हो धर्मावतार! आर्य अमोघवज्र पधारे हैं।"

मैं उठकर अभिवादन करने को उद्यत हुआ ही था कि अत्यन्त मधुरवाणी में भदन्त अमोघवज्र ने कहा, "कल्याण हो, महाराज, उठने का प्रयत्न न करें। हृदय-रोग में उठने-बैठने के आयास से कष्ट बढ़ता है।"

मन-ही-मन मैं लज्जित हुआ। सरल भम्भल ने मेरे हृदय-रोग के बारे में न जाने क्या-क्या बताया है। शान्त स्वर में बोला, "प्रणाम स्वीकार हो आर्य, मैं स्वस्थ हूँ, चिन्ता की कोई बात नहीं है।"

भदन्त ने मेरी नाड़ी की परीक्षा की और आश्वस्त हुए। इस बीच भम्भल ने मिट्टी का छोटा-सा दीया जलाया। आँगन में प्रकाश हुआ। उस हल्के प्रकाश में मैंने भदन्त अमोघवज्र को देखा।

भदन्त अमोघवज्र का सारा शरीर लाल रंग के चीवर से आच्छादित था। केवल उनका दमकता हुआ गौर मुखमण्डल दिखायी दे रहा था—सन्ध्याराग से रंजित मेघ-खण्ड के ऊपर जिस प्रकार अस्तगामी सूर्यमण्डल दमकता रहता है, बहुत-कुछ उसी प्रकार। यद्यपि वे प्रौढ़ावस्था की अन्तिम सीमा पर आ गये थे और उनके गौर-मुख के कपोलों का तनाव शिथिल हो आया था, तथापि ऐसा जान पड़ता था कि किसी कठिन आकर्षण से युवावस्था घूम-घूमकर लौट आयी थी और एक प्रकार की निराशाभरी स्थिति में पड़ी रह गयी थी। सिर मुण्डित था, परन्तु प्रयत्नपूर्वक कुछ केश न भी हटा दिये गये होते तो वह प्रायः ऐसा ही दीखता। केशों ने न जाने कब वहाँ से अपना डेरा उठा लिया था। चेहरे पर एक विचित्र प्रकार की शान्ति थी, विचित्रता उसमें यह थी कि शान्ति की अवस्था में जो अन्तर्मुख भाव हुआ करता है— आत्मन्येवात्मना लीनः भाव—वह वहाँ बिल्कुल नहीं था। आँखों में एक ज्योति थी जो बाहर की ओर छिटकी पड़ती थी।

अमोघवज्र की वाणी बड़ी ही मधुर थी। उनके वाक्य का प्रत्येक शब्द इस प्रकार उच्चरित होता था मानो पहले से ही उनकी अर्थ-व्यंजकता तौल-तौलकर सँभाल ली गयी है। कोई भी दो शब्द टकराकर या छिटककर नहीं निकलते थे। प्रत्येक शब्द अपनी मर्यादा के भीतर ही रहता था। उन्होंने देर तक मेरी नाड़ी, हृदय-गति और आँखों की परीक्षा की और आश्वस्त स्वर में बोले, "कोई विकार तो नहीं दीख पड़ रहा है महाराज! सब अंग स्वस्थ हैं। कुछ क्लान्ति आ गयी होगी, और कोई बात तो नहीं दीखती।"

भम्भल दीया लिये खड़ा था। एक बार मेरी ओर, एक बार भदन्त की ओर भयत्रस्त दृष्टि से देख लेता था और फिर सावधानी से दीये की बाती उकसा देता था। भदन्त की बातों से वह आश्वस्त हुआ। ऐसा जान पड़ा, उसके मुरझाये मुख पर प्राण-धारा धीरे-धीरे तरंगित होने लगी है। भदन्त ने दीया अलग रख देने का आदेश दिया। फिर भम्भल को पास बुलाकर कुछ सामान्य उपचार की बातें बतायीं। चीवर के भीतर के खीसे से एक डिबिया निकालकर उसमें से कोई औषधि निकाली और भम्भल के हाथ में देते हुए जरा जोर से बोले, "सोने से पहले महाराज को खिला देना। घबराओ नहीं, मैं रात को यहीं रहूँगा। कोई चिन्ता की बात नहीं है।" फिर मेरी ओर देखकर बोले, "बहुत घबरा गया था।"

भदन्त के वहीं रहने की इच्छा जानकर भम्भल और भी आश्वस्त हुआ। जान पड़ता है उनसे वहीं रहने की प्रार्थना पहले ही कर चुका था, क्योंकि उनका कम्बल साथ ले आया था। इस सरल युवक को इस प्रकार व्याकुल करने का सारा दोष मेरा ही था, यह सोचकर मुझे ग्लानि हुई, पर मुझे बड़ा सन्तोष भी

हुआ, क्योंकि भदन्त यहीं रुक जानेवाले थे। उनसे कुछ बातें ठीक-ठीक जानने का अवसर अनायास मिल गया। भदन्त की आज्ञा से भम्भल एक ओर उनका आसन ठीक करने चला गया। फिर अवसर देखकर मैंने कहा, "क्षमा करें आर्य ! कष्ट मुझे शारीरिक नहीं है, मानसिक है ! आपको इस समय जो कष्ट दिया वह उसी के उपचार के लिए।"

भदन्त अमोघवज्र के मुख पर बड़ी मोहक हँसी दिखायी दी। बोले, "जानता हूँ महाराज, जानता हूँ। मैं भी आपके दर्शन का अवसर ही खोज रहा था। अभी तो आप विश्राम करें। कुछ दैनिक कृत्य मेरे भी रह गये हैं। उनसे निवृत्त होने में थोड़ा विलम्ब होगा, तब तक आप विश्राम करें। मैं प्रातःकाल फिर मिलूँगा।"

भदन्त उठ पड़े। मैंने हाथ जोड़कर कहा, "असमय में अकारण कष्ट दिया। अपराधी हूँ आर्य, क्षमाप्रार्थी हूँ।"

भदन्त ने स्मितपूर्वक उत्तर दिया, "अब तक दर्शन न करने का अपराधी मैं हूँ महाराज !" फिर स्नेह-सिक्त हँसी हँसकर अभिवादन का उत्तर दिये बिना ही चल पड़े।

प्रातःकाल भदन्त अमोघवज्र आये, आशीर्वाद देकर बोले, "राजन्, मैं आपसे मिलने के लिए व्याकुल था। परन्तु नाटी माता के अनुरोध से मैं रुका हुआ था। नाटी माता नहीं चाहती थीं कि मैं इस अवस्था में आपको कष्ट दूँ। यद्यपि मैं उनकी अकारण दुश्चिन्ताओं को संगत नहीं समझता, तथापि उनके प्रति मेरी अगाध श्रद्धा है, इसलिए मैं उनकी बात मान गया ! मैंने उन्हें वचन दिया था कि जब तक महाराज स्वयं मुझे न बुलायें मैं उनसे नहीं मिलूँगा। आप शीघ्र ही मुझे स्वयं न बुला सकें इसकी व्यवस्था भी उन्होंने कर ली थी। आपके निकट जो भी परिचर्या के लिए आता था, उससे कह दिया जाता था कि मेरे सम्बन्ध में महाराज को कुछ न बताया जाये। नाटी माता की आध्यात्मिक साधना का मार्ग मेरे मार्ग से भिन्न है। वह व्यक्तिनिष्ठ होने के कारण मोह के उस आवरण से मुक्त नहीं है जो भक्ति-मार्ग में सात्त्विक मानकर स्वीकार कर लिया जाता है।

"मैं 'मोह' को 'मोह' मानने का ही पक्षपाती हूँ, सात्त्विक हो तो, राजसिक हो तो। भक्तिमार्ग में भगवदर्पण का जो सिद्धान्त स्वीकृत है, वह व्यक्ति की सहजवृत्ति ही हो सकती है, कोई सिद्धान्त, साधन या मार्ग नहीं। एक विशेष प्रकार के स्नायविक संस्थानवाले व्यक्ति सहज ही भगवदर्पण सिद्धान्त को मान लेते हैं, वे जिस किसी परिस्थिति में हों, इसी रास्ते जायेंगे। बाहरी रूप उनके विश्वासों के भिन्न-भिन्न हो सकते हैं। कभी वे गुरु को ही सब-कुछ मानकर निश्चिन्त हो जाते हैं, कभी किसी ग्रन्थ-विशेष पर आस्था रखकर सबकुछ उसी के नाम और भरोसे पर छोड़ देते हैं और कभी किसी इष्ट देवता का अनुचिन्तन करके अपने को सारे दायित्वों से अलग कर लेते हैं। मूलतः ये सब व्यक्तिवादी होते हैं।

"नाटी माता पूर्णरूप से व्यक्तिवादी भी नहीं हैं। उन्हें उपास्य-उपासक-भेद में आस्था है, उपास्य में आस्था है, अपने में भी आस्था है। इसीलिए वे न तो पूरी

भगवदर्पण-बुद्धि से काम ले पाती हैं, न पूर्णरूप से अपनी बहिर्गामिनी बुद्धि पर ही भरोसा कर पाती हैं। वे भगवान् पर भरोसा करती अवश्य हैं, पर अपनी समझ पर कम नहीं करतीं। दोनों नहीं चल सकते। यही मोह है। या तो उन्हें कहना चाहिए कि 'महाराज को भगवान्-भरोसे छोड़ दिया' या फिर पूरी मुस्तैदी से समस्त बाह्य बाधक तत्त्वों को समझें और तदनुकूल प्रतिकार का उपाय सोचें। परन्तु यह सब इसलिए नहीं कह रहा हूँ कि नाटी माता के प्रति मेरी श्रद्धा कम है। बहुत अधिक है। मैं तो ऐसा समझता हूँ कि उनकी बनावट ही कुछ ऐसी है कि वे इसी प्रकार सोचने को बाध्य हैं। श्रद्धा उनके विश्वास या सिद्धान्त के कारण नहीं है, उस प्रयत्न के कारण है जो जड़-संस्थान के इंगित पर चलने की सहज वृत्ति का अवरोध करके भीतर के चैतन्य के इंगित पर चलने के लिए है। इस प्रयत्न के कारण नाटी माता श्रद्धेय हैं और नारी जाति की ललाम-भूता हैं। जड़-संस्थान उनके सामने हतदर्प सर्प की भाँति झुक जाता है। उनका चित्त निरन्तर विजयी होता जा रहा है। जिस दिन वह इस सात्त्विक मोह के आवरण को तोड़ देगा, उस दिन नाटी माता त्रिजगन्मनोज्ञा वज्रतारा से अभिन्न हो जायेंगी।"

इस लम्बे वक्तव्य को कहने में अमोघवज्र को आवश्यकता से अधिक समय लगा। वे प्रत्येक शब्द को तौल-तौलकर, अर्थसीमा की जाँच करके बोल रहे थे। इतना कहने के बाद उन्हें कुछ ऐसा जान पड़ा कि वे स्वयं संकुचित हो गये। फिर शान्त स्वर में पूछा, "आयास तो नहीं हो रहा है महाराज?"

मैंने कहा, "नहीं आर्य, मुझे अच्छा लग रहा है।"

भदन्त ने कहा, "तो सुनो राजन्! मैं अनेक वर्षों से विविध साधना-मार्गों में विचरता रहा हूँ; यथाबुद्धि विभिन्न मार्गों में पाये जानेवाले उत्तम पक्ष को हृदयंगम करता रहा हूँ। मैंने वज्रयान मार्ग की साधना की है; शाक्त आगमों की षोडश कुमारी-साधना की है; नाथ-मार्ग के विविध प्राणायामों, आसनों और बन्धों की जानकारी प्राप्त की है; वामाचारियों के चक्रपूजन में विधिवत् योग दिया है; रसेश्वरों की साधना का अनुभव प्राप्त किया है; यहाँ तक कि सोम-सिद्धान्तियों के मार्ग पर चलकर उमा-महेश्वर-योग-साधना का भी प्रत्यक्ष अनुभव किया है। बहुत काल तक मैं अपने मन को सन्तोष देता रहा हूँ कि सभी मार्गों का मूल लक्ष्य एक है—चित्तत्त्व का उन्मेष, अचित् तत्त्व का पराभव!

"परन्तु पिछले एक-दो वर्षों से मेरा मन सन्देहवादी हो गया है। मैं देख रहा हूँ कि सिद्धियों के पीछे पागल बने लोगों ने देश को निर्वीर्य और कायर बना दिया है। माया को पराभूत करने का ढोंग रचनेवाले लोग माया के सबसे मजबूत वाहन सिद्ध हुए हैं। काम-क्रोध को शत्रु घोषित करनेवाले उनके कोतदास सिद्ध हुए हैं। सारा समाज पाखण्ड और मिथ्याचार से अभिभूत हो गया है। मेरे गुरु-भाई भिसिलपाद बहुत पहले से इस प्रकार की बात कहने लगे थे, पर मैंने उन्हें बराबर सन्देहवादी भावनाओं से बचते रहने की सलाह दी थी। दो घटनाओं ने मुझे झटका देकर भिसिलपाद की ओर पटक दिया है। एक तो है ओदन्तपुरी

और नालन्दा के महाविहारों का देखते-देखते ध्वस्त होना और दूसरा महारानी चन्द्रलेखा के भयत्रस्त चित्त के विक्षोभ से निकली अद्भुत सिद्धिकथाओं का श्रवण। दोनों ने मुझे अधिकाधिक यह सोचने को बाध्य किया है कि व्यक्ति-चित्त का परिष्करण केवल असफल प्रयास ही नहीं है, अनावश्यक भी है। मैं समाज-चित्त के परिष्करण को मान देने लगा हूँ। मैं और भिसिलपाद नाना देशों, पर्वतों, जंगलों के बीच ऐसे नेता के सन्धान में घूमते फिरे हैं जो समाजचित्त को स्फूर्त्ति दे सके और इन वैयक्तिक साधनाओं की माया झाड़ सके।

"हमने आपका नाम और यश सुना था। हम दोनों आपके दर्शन के लिए व्याकुल होकर इधर आ रहे थे। इसी समय हमें सेढ़ी नदी के तट पर विभ्रान्त, विक्षिप्तप्राय, स्रस्तकुन्तला, विमना, श्लथचरणा महारानी चन्द्रलेखा के दर्शन हुए। ऐसा जान पड़ता था, युग-युगान्तर की सिद्धि मार्गभ्रष्ट, थकित, विभ्रान्त होकर सामने स्वयं आ गयी है। हमने पहचानने में रंच-मात्र की देर नहीं की। शरीर के आवरण को भेदकर बत्तीस लक्षणों के सुपरिणाम इस प्रकार आभासित हो रहे थे जैसे जलचादर के भीतर दीपक जगमगाया करते हैं। उनकी उस अवस्था से हमें कष्ट हुआ। भिसिलपाद अब भी ग्रह-नक्षत्रों और शकुन-अपशकुनों की माया नहीं काट सके हैं। उन्होंने दुखी होकर कहा था, देश की ही नहीं, महाराजा सातवाहन की भी सिद्धि विस्रस्त है, विक्षुब्ध है, दिङ्मूढ़ है। पर मैंने उनकी बात नहीं मानी। हम भी कुछ मानसी सिद्धियों के जानकार हैं। हमने रानी के विक्षुब्ध चित्त को संयत करने के लिए अपने मनोबल का प्रयोग किया। पता नहीं हमें सफलता क्यों नहीं मिली। ऐसा जान पड़ता था, हमारी प्राणशक्ति की धारा किसी भयंकर बाधा से टकराकर चूर-चूर हो जाती है। रानी विचित्र प्रकार की बातें करती थीं। उनमें ऊपर-ऊपर से चित्त-विक्षेप का कोई चिह्न नहीं दिखायी दे रहा था। उनकी कल्पनावृत्ति अत्यन्त तीव्र हो गयी थी। हमारी बातचीत का रंच-मात्र पकड़कर वे कल्पना से विचित्र स्वप्न-लोक गढ़ लेती थीं। हम देश की वर्त्तमान जर्जर अवस्था से त्राण पाने के लिए उनको और आपको खोज रहे थे। हमने उनके बारे में बहुत सुन रखा था, पर उनकी इस विक्षेपावस्था से हम एकदम निराश हो गये। इसी अवस्था में उन्हें लेकर हम भगवती विष्णुप्रिया के आश्रम में पहुँचे। हमारा मुख्य उद्देश्य यह था कि रानी को माताजी की स्नेह-पूर्ण छाया में रख दें ताकि वे कुछ स्वस्थ हो जायें। फिर हम आपकी खोज में निकलनेवाले थे। परन्तु इस बीच घटनाचक्र बहुत तेजी से घूमने लगा।"

अमोघवज्र ने फिर एक बार मेरी ओर देखकर पूछा, "आयास तो नहीं हो रहा है महाराज?"

क्या बताऊँ? अमोघवज्र की बातें हथौड़े की तरह मेरी छाती पर चोट कर रही थीं, पर साथ ही अन्तरतर के देवता कह रहे थे—सब जान लो, फिर क्या हुआ, फिर क्या हुआ, फिर क्या हुआ! मैंने यथासम्भव अपने को सँभालते हुए कहा, "पूरा सुनना चाहता हूँ आर्य!"

25

हिमालय के पाद देश में, सरस्वती नदी की उद्गम-भूमि में यह व्यासतीर्थ है। आज श्रावणी पूर्णिमा है। सारा नभोमण्डल नील पयोधरों से अवगुण्ठित है। मयूर मत्त भाव से नाच रहे हैं। घनघोर वर्षा होनेवाली है।

एक महीने से दौड़ता आ रहा हूँ। कुछ असाध्य साधना का संकल्प लेकर चला हूँ। सीधा रास्ता पकड़ना कठिन था। समस्त उत्तरापथ विक्षुब्ध है। टेढ़ा रास्ता अपनाना पड़ता है। विन्ध्य मेखला के घने जंगलों को चीरता हुआ, उफनती नदियों और जलमग्न कान्तारों को पार करता हुआ, पूर्व की ओर बढ़ता गया हूँ। विकट वनस्थली में डरावने हिंस्र जन्तुओं की आँख बचाकर निकल आया हूँ, मदमत्त हाथियों और रक्त-लोलुप व्याघ्रों की उपेक्षा करता हुआ बढ़ा हूँ। भीषण रमणीय विन्ध्याटवी की मनमोहक शोभा और हृदयद्रावी विध्वंसलीला को अनदेखा करके अग्रसर हुआ हूँ। संकीर्ण गिरित्वर्म के निकट बहनेवाली गंगा की विकट धारा को अनायास पार कर गया हूँ और उत्तर कोसल के जलाप्लुत मैदानों को पार करता हुआ हिमालय के पाददेश की शरण में पश्चिम की ओर मुड़कर निरन्तर भागता हुआ इस व्यासतीर्थ तक पहुँचा हूँ। विकट अभियान है यह। इसमें प्राणों की चिन्ता नहीं थी, क्लान्ति का नाम नहीं था। केवल एक लक्ष्य था, किसी प्रकार सरस्वती नदी की इस पवित्र उद्गम-भूमि तक पहुँच जाना। चलता रहा हूँ, केवल चलता रहा हूँ, तूफान पैरों में बाँधकर दौड़ता रहा हूँ। किसके बल पर, किसके लिए?

अमोघवज्र यथार्थवादी की भाँति बोलते हैं, पर भाषा में रहस्य का पुट बना हुआ है। बराबर उनकी बतायी बातें सोचता आया हूँ। हतबुद्धि होकर देखता हूँ कि वे जो कहते हैं उसके साथ जैसा कहते हैं का कोई सामंजस्य नहीं है। वे झकझोर देते हैं, आन्दोलित करते हैं, विचलित करते हैं पर आगे बढ़ने नहीं देते। जो बात उनकी सबसे अधिक स्पष्ट थी, वह यह कि मैं इतने दिनों तक मोहग्रस्त की भाँति, नेय की भाँति आचरण करता रहा हूँ। रानी ने मेरे चित्त को बुरी तरह अभिभूत कर दिया है। मैं नेता नहीं, नेय बन गया हूँ। अमोघवज्र ने जो नहीं कहा था वह मेरे लिए और भी कठिन सिद्ध हुआ। मैंने स्वयं प्रवृत्त होने का साहस ही खो दिया है। रानी की बात पर चलता-चलता एक दिन रानी को ही खो बैठा। फिर विद्याधर भट्ट के इंगित पर चलता-चलता उन्हें भी छोड़ दिया। फिर मैना के इंगित पर चलता-चलता उसे भी खो आया। कैसा विचित्र संयोग है!

अमोघवज्र ने कहा था कि इच्छा-शक्ति और क्रिया-शक्ति के इंगित पर चलते रहने के कारण जीव माया के 'पाश' में बँध जाता है, उसकी 'स्व'-तन्त्रता जाती रहती है। ऐसे ही जीव को पाशुपत लोग 'पशु' कहते हैं। उन्होंने एक और

बात बतायी, व्यक्ति की भाँति समाज भी माया के पाश में बँधकर 'पशु'-अवस्था को प्राप्त करता है। उसकी स्वतन्त्र इच्छा समाप्त हो जाती है। वह रूढ़ियों, आप्त वाक्यों और शास्त्रविधानों के द्वारा चलाया जाने लगता है। व्यक्ति की पशुता से कहीं अधिक भयंकर होती है समाज की पशुता। भारतवर्ष का वर्तमान समाज इसी पशुता का शिकार है; वह सामाजिक स्वाधीन चिन्तन खो चुका है। परन्तु इसके बाद उन्होंने जो-कुछ कहा उससे मैं बड़ा ही विचलित हुआ था।

उनका एक-एक शब्द मेरे कानों में गूँज रहा है। इस विकट यात्रा में वे हज़ार सुरों में झंकृत हुए हैं। उन्होंने कहा था, 'देखो महाराज, पश्चिम की ओर से जो महान् इसलाम आ रहा है, उसे ठीक-ठीक समझो। उसके एक हाथ में अमृत का भाण्ड है, दूसरे में नग्न कृपाण। वह समानता का मन्त्र लेकर आया है, सड़े-गले आचारों को चुनौती देने का अपार साहस लेकर उद्‌भूत हुआ है। और रास्ते में जो भी बाधक हो उसे साफ़ कर देने का विकट संकल्प लेकर निकला है। उसने लाखों-करोड़ों को पैरों-तले दबाकर उनकी मांस-मज्जा के ढूह पर प्रासाद खड़ा करने की त्रुटि नहीं दिखायी है। विचित्र है उसकी प्राणदायिनी शक्ति, अपूर्व है उसका दलितोत्थापन संकल्प! मैंने बहुत देश देखे हैं महाराज, ऐसा विचित्र धर्म नहीं देखा। सहस्रों दलितों को उसने तलवार की नोक पर उठाकर ऊँचा आसन दे दिया, सैकड़ों जंगली जातियों को उसने एक झटके में रूढ़ियों और परम्पराओं के मलवे से दूर फेंक दिया। अचरज तो तब होता है महाराज, जब इसके महामन्त्र के प्रभाव से कल तक बर्बर समझी जानेवाली जातियाँ विश्व-नेतृत्व की लालसा से मत्त हो उठती हैं। दोष उसमें भी है, पर सड़ी रूढ़ियों और विषाक्त परम्पराओं के विष से जर्जर समाज के साथ जब उसके द्वारा प्रभावित समाज की तुलना करता हूँ तो निराश हो उठता हूँ। हमारा यह समाज लाखों-करोड़ों को अपमानित करने में गर्व अनुभव करता है। अपमान का फल अपमान ही होगा। जिन्हें हमने पैरों-तले दबा रखा है, वे ही एक दिन नीचे से हमारा पैर पकड़कर हमें चलने में असमर्थ बना देंगे, बना दे रहे हैं। मैं निराश हूँ। इस किट्टकलुष प्रजा का संशोधन कठिन जान पड़ता है। सर्वत्र घुन लगा हुआ है। क्षुद्रता के अहंकार से यहाँ की प्रत्येक जाति जर्जर है। प्रत्येक सम्प्रदाय अन्तर्विदीर्ण है। छोटेपन में अहंकार का दर्प इतना प्रचण्ड होता है कि वह अपने को ही खण्डित करता रहता है। भारतवर्ष की असंख्य छोटी इकाइयाँ अपने को खण्ड-विदीर्ण करती जा रही हैं। अन्तर्विदारी शक्ति इतनी तीव्र हो गयी है कि यह आशा करना व्यर्थ है कि यह महादेश कभी किसी एक महान् आदर्श के लिए सीना तानकर खड़ा हो सकेगा। हमारी सामाजिक संहति दुर्बल है, विच्छेद-परम्परा प्रबल है, क्षुद्रता का बोझ भयंकर है। मैं व्याकुल होकर तुम्हारे पास पहुँचा हूँ। नहीं जानता, तुम इसे विषहीन बनाने में कहाँ तक समर्थ होगे। सारे पुराने चिन्तन और तत्त्वज्ञान इस शतच्छिद्र पात्र में व्यर्थ हो रहे हैं महाराज! कोई बड़ा आदर्श, अत्यन्त बड़ा आदर्श ही इसकी क्षुद्रता को झाड़ सकता है। मैं हतबुद्धि हूँ, मुझे कुछ सूझ नहीं रहा है। मैं शस्त्र-

युद्ध की व्यर्थता समझ गया हूँ, क्षणिक जय-पराजय की कुहेलिका और रंगीन मिथ्याचारिता का रहस्य जान गया हूँ। मैं भविष्य देखकर चिन्तित हूँ महाराज !'

भयंकर गिरिकान्तारों को पार करता हुआ आ रहा हूँ। इस देश के निर्झरों से यही सुनता आ रहा हूँ कि विकट भविष्य आ रहा है। ऋषियों और धर्माचार्यों के पवित्र विचार डूबने जा रहे हैं, कवियों की मनोहर वाणी लुप्त होने जा रही है, क्षुद्रता का भार सबको डुबा देगा। सब डूब जायेगा, सब ! अमोघवज्र ने इसलाम के बारे में और भी कहा था, 'महाराज, अब तक यह क्रान्तिवाहक धर्म जहाँ-जहाँ गया है वहीं दबी हुई जनता ने हृदय खोलकर इसका स्वागत किया है, मन्त्र-मुग्ध की भाँति इसे अपनाया है। वाह्लीक और बिहार (बलख और बुखारा) इसकी चपेट में आ गये हैं, असुरदेश इसके इंगित पर मदमत्त हो उठा है। इसके आगमन की सूचनामात्र से पारस्य तक की जनता भाव-विह्वल हो उठी है। पसन्द-नापसन्द की बात नहीं है, मैं तथ्य बतला रहा हूँ। यह इस देश में आया है तो तब तक रहने के लिए आया है जब तक इससे अधिक प्रबल सामाजिक विचार नहीं आ जाता।'

उफनती नदियों की तरंग-लोल कलकल में मैं यही विकट गुंजार सुनता आ रहा हूँ। इसी के प्रतिरोध का उद्दाम संकल्प मुझमें अपार साहस भरता रहा है। मैं थका नहीं हूँ, क्लान्त नहीं हूँ, असाध्य-साधन का संकल्प लेकर चला हूँ। कोई महत्तर आदर्श चाहिए, कोई विराट् परिकल्पना। वही नहीं खोज पा रहा हूँ। केवल प्रतिक्रिया कितनी दूर साथ देगी ? हे मेरे महान् देश की मिट्टी, शक्ति दो, शक्ति दो, शक्ति दो कि मैं इस देश की आत्मघाती मूढ़ता को कसकर आघात दे सकूँ; शक्ति दो कि मैं उस महान् 'एक' के मन्त्र का साधन जुटा सकूँ ! कैसी विचित्र शक्ति रही है इस मिट्टी में ! न जाने कितने युगों में बलदृप्त जातियों की कितनी दुर्वार धाराएँ यहाँ आयी हैं, उनके रक्तरंजित चरणों की छाप अब भी देखने को मिल जाती है पर फिर वे सब 'एक' के महान् मन्त्र में दीक्षित हो गयी हैं।

'कहाँ है वह मन्त्र, कहाँ है उसकी शक्ति ?' अमोघवज्र की वाणी कानों के पर्दे पर बार-बार टकरा रही है, 'सब बदल जायेगा महाराज, सब बदल जायेगा। इस देश की जनता अपने पूर्वजों के नाम भी बदल देगी। यही सर्वत्र हुआ है, यही यहाँ भी होगा। अहिंसा और मैत्री के सिद्धान्त ताक पर रख दिये जायेंगे, अद्वैत और सर्वात्मबोध के मनोमोहक सिद्धान्त लुप्त हो जायेंगे। व्याकुल हूँ महाराज, बहुत व्याकुल हूँ। समाज की जड़ में ही घुन लग गया है। अजयमेरु का अभेद्य दुर्ग ढह गया, कान्यकुब्ज की दलपंगुर सेना कपूर की भाँति हवा में मिल गयी, कालिंजर की मदगर्वितवाहिनी बिखर गयी, गौड़ कूलद्रुम की भाँति एक ही धक्के में भहरा गया। नाश, महानाश, की विकराल लीला की बात सोचता हूँ तो हतबुद्धि हो रहता हूँ। एकमात्र तुम्हीं आशा हो। इस देश में केवल तुमने समझा है कि राजधानी राज्य नहीं होती, जनता ही वास्तविक राज्य होती है। रानी ने

समझा था पर हाय, वे भी ढोंगी साधुओं के चक्कर में पड़ गयीं। मिथ्या तपस्या का खोखलापन मैं जानता हूँ महाराज! उससे सावधान रहो। विद्याधर भट्ट इन ढोंगियों की सेना सजाकर देश का उद्धार करना चाहते हैं। नहीं महाराज, वे डुबा देंगे। उनसे बचो!'

अमोघवज्र की कातर वाणी से मेरे प्राण व्याकुल हो उठे थे। अमोघवज्र की वाणी ने मेरे अन्तरतर को झँझोड़ दिया था। मुझे अच्छी तरह याद है कि उस दिन मेरी शिराएँ झनझना उठी थीं। केवल रानी ने समझा था। हाँ, रानी ने समझा था। पर रानी कहाँ हैं? इतने विकट मार्गों से भागता आ रहा हूँ, रानी कहीं नहीं दीखीं। हाय देवि, तुमने जो महान् संकल्प किया था वह क्या समाप्त हो गया? कहाँ पड़ा रह गया वह कोटि-कोटि जीवों को जरा-मरण और रोग-शोक से मुक्त करने का महान् संकल्प! आओ देवि, इस अवसर पर और किससे आदर्श की याचना करूँ?

बादल घुमड़ते आ रहे हैं, काले बादलों के परत-पर-परत इकट्ठे हो रहे हैं। शिव की जटा के समान फैली हुई शिवालक गिरि-शृंखला और भी काली हो गयी है। घनघोर वर्षा होनेवाली है।

विद्याधर भट्ट पूरे उत्साह में हैं। मैं जब उनसे मिलने गया तो वे योगियों और संन्यासियों की सेना संगठित करने में जुटे हुए थे। योगियों ने उनका साथ दिया है। धर्म की रक्षा के नाम पर उनमें विकट उन्माद का संचार हुआ है। विद्याधर भट्ट को आशा है कि वे इनकी सहायता से समूची विन्ध्यमेखला को आक्रमण-केन्द्र बनायेंगे। वे और कुछ सुनना नहीं चाहते। अमोघवज्र की बातें सुनकर वे क्रुद्ध व्याघ्र की तरह तन गये थे। क्रोध-कम्पित स्वर में कहने लगे, "ये बौद्ध सदा से इस देश का कोढ़ बने जी रहे हैं। जब कभी विदेशियों का आक्रमण हुआ है तो ये उनकी सहायता को दौड़ पड़े हैं। ये सदा विदेशियों को अपना त्राता मानते रहे हैं। हार-जीत की बात कायर सोचते हैं, महाराज! हमें इस देश की रक्षा करनी है—इसके समस्त दोष-गुणों के साथ। दोष मैंने भी देखे हैं, पर प्राण पूरे का बचाव चाहता है। प्राण समग्रता का धर्म है। सुधार फिर हो लेंगे, क्रान्तियाँ आती-जाती रहेंगी, पर जिसके रहे बिना कुछ भी नहीं रह जायेगा, वह है हमारा समाज। कुल और जाति की संकीर्णताओं और मिथ्या मूढ़-ग्राहों से मुक्ति पाने का प्रयत्न बाद में होगा। पहला काम पहले करना चाहिए। पहला कर्त्तव्य है प्राण-रक्षा। इस विषम संकट-काल में जिसने तुम्हारे चित्त में इस प्रकार का संशय उत्पन्न करना चाहा है, उसे मैं देश का शत्रु मानता हूँ। प्रथम उपचार उसका सिर उतार लेना था। तुम महाराज, निठल्ले तत्त्ववादियों के क्लीव विचारों के शिकार न बनो। इस समय झिझक छोड़ो। कसकर लोहा लेना है। लोहा लेना ही धर्म है। क्या होगा, इसकी चिन्ता करने के लिए यहाँ कायरों और क्लीवों की प्रचुर संख्या है। उन्हें छोड़ दो। अमोघवज्र ने अकर्मा अलस तत्त्वविलासियों की-सी बातें सुनायी हैं। उठो महाराज, ये बातें केवल आलसियों और अकर्मण्यों की

थाती हैं। संशय हृदय की दुर्बलता का नामान्तर है। हम इस प्रकार सोचने के अभ्यस्त नहीं हैं। कसकर आघात करो। प्रत्येक चोट शत्रु को क्षीण बनाती है। प्रत्येक चोट का मूल्य है। कायर हिसाब किया करते हैं, वीर प्राणों की आहुति देते हैं।'

विद्याधर भट्ट की वह तेजोदृप्त मुद्रा याद आती है तो रोमांच हो आता है। कितनी आस्था है उनमें, कैसा दृढ़ संकल्प! अमोघवज्र ठीक कह रहे थे, विद्याधर भट्ट ठीक कर रहे हैं। यही अन्तर है।

अमोघवज्र ने बताया था कि सपादलक्ष प्रदेश में कोई राजा हैं—अशोक चल्ल।[22] वे बौद्ध भी हैं, शाक्त भी हैं। बौद्ध इसलिए कि वे बुद्ध के पवित्र स्थानों का जीर्णोद्धार कराते हैं, भिक्षुओं के विहारों को दान देते हैं और सद्धर्म के प्रत्येक सम्प्रदाय के संन्यासियों का सत्कार करते हैं; परन्तु भीतर से वे शाक्त हैं, शक्ति-पूजा में ही उनकी सच्ची निष्ठा है। वे बुद्धगया आये थे, नालन्दा भी गये थे, सर्वत्र उन्होंने प्रचुर दान दिया है और जहाँ गये हैं वहीं तारादेवी का मन्दिर बनवा आये हैं। जहाँ मैदान में सरस्वती नदी का प्रवेश होता है वहाँ से कुछ और पश्चिम हटकर पंचवट प्रदेश है, वहीं उनकी राजधानी है। अमोघवज्र उनसे मिल चुके हैं। उनका विश्वास है कि अशोक चल्ल बौद्ध तीर्थों के विध्वंस से बहुत क्षुब्ध हैं। वे अवसर की प्रतीक्षा में हैं और उपयुक्त सहायता मिलने पर दिल्ली पर उत्तर की ओर से आक्रमण कर सकते हैं। उनकी सहायता ली जा सकती है।

विद्याधर भट्ट को अमोघवज्र की यह बात पसन्द आयी। उन्होंने कहा, 'देखो महाराज, समय अब एकदम नहीं है। मैं विन्ध्यमेखला से आक्रमण करने को कृत-संकल्प हूँ। तुम अगर अनुमति देते हो तो बहुत अच्छा, नहीं देते हो तो मैं विद्रोह करूँगा। तुम यह मेरी तलवार लो और मेरा मुण्डपात करो। मैं रुक नहीं सकता। मरना तो है ही, तुम्हारे हाथों मर जाऊँगा तो अच्छा ही होगा। नहीं मारना चाहते तो आज्ञा दो। वृद्ध को रोको मत, या तो इसे मरण-यज्ञ में आगे बढ़ने की आज्ञा दो या फिर इसे स्वयं यमराज के द्वार पहुँचा दो। दीर्घकाल तक मैं धुँधुआता रहा हूँ। अब सहा नहीं जाता। मुझे जलने दो। मैं व्यर्थ की बकवासों में समय नष्ट करना नहीं चाहता। मेरे गुरु ने बताया था कि विद्याधर, यदि तेरा कोई साथ न दे तो भी तू उस लक्ष्य तक बढ़ने में हिचकिचा नहीं जिसे तूने ठीक समझ लिया है। निकल पड़ अकेला, निहत्था, निरस्त्र। रास्ता न सूझता हो तो अपनी पसलियों की ही मशाल जला ले। मगर रुकना नहीं, झुकना नहीं। बहुत दिनों तक मैंने गुरु की इस महावाणी की उपेक्षा की है। मृत्यु के द्वार पर आकर मैं इसकी उपेक्षा नहीं कर सकता। मैं धधक रहा हूँ महाराज, मैं जल रहा हूँ!'

उनकी इस बात से मेरी शिराओं का रक्त झनझना उठा था। मैं वृद्ध के महा-संकल्प से प्रभावित हुआ। ऐसा लगा कि सहस्रों विद्युल्लेखाएँ रक्त में एकाएक घुस गयी हैं। मैंने उन्हें वचन दिया कि मैं उत्तर की ओर से आक्रमण की व्यवस्था करने

के लिए अशोक चल्ल के साथ व्यूह-रचना की तैयारी करने जा रहा हूँ। विद्याधर के वलीकुंचित मुखमण्डल पर दीप्ति का उल्लास नाच उठा।

तब से मैं दौड़ता आ रहा हूँ। विन्ध्यमेखला के घने जंगलों के भीतर से, भरी नदियों और जलमग्न कान्तारों को पार करता हुआ मैं पूरब की ओर बढ़ता गया हूँ। नालन्दा, राजगृह, विक्रमशिला, संकीर्ण गिरिवर्त्म के पास उफनती गंगा और मिथिला के जलाप्लुत मैदानों को पार करके हिमालय के पाददेश तक पहुँचा हूँ और वहाँ से विकट पार्वत्य प्रान्तों को लाँघता हुआ आज सरस्वती की उद्गम-भूमि के निकटवर्त्ती बदरीवन के व्यास सरोवर पर आ खड़ा हुआ हूँ। पैरों में प्रभंजन का वेग बाँधकर मैंने यह विकट यात्रा की है।

वर्षा-ऋतु में कोई यात्रा के लिए नहीं निकलता। मैं निकल पड़ा हूँ। आज श्रावणी पूर्णिमा है। एक मास पूर्व आता तो द्वैपायन व्यास के इस पवित्र आश्रम का कुछ और ही दृश्य होता। आकाश घुमड़ा हुआ है। पर्वत-भूमि की इस घन-घुम्मर छटा का क्या कहना है! बरसने लगता है तो ऐसा जान पड़ता है, ऊपर आकाश-रूपी महासरोवर का पर्दा ही फट गया है; गरजने लगता है तो ऐसा जान पड़ता है, दिशाएँ ही टूटकर चकनाचूर हो गयी हैं। नीचे से ऊपर तक काले घने बादलों के परत-पर-परत जमते जा रहे हैं। आज जमकर बरसेगा। मेरा मन उदास हो गया है।

मैं अन्धाधुन्ध चलता गया हूँ। रास्ते में किसी दृश्य ने मुझे देर तक नहीं भरमाया है। मैंने इच्छाशक्ति और क्रिया-शक्ति की लगाम अपने हाथ में कसकर पकड़ी है। दृश्य आये हैं, मनुष्य मिले हैं, मैं दरेरा देकर आगे निकल गया हूँ; अर्थ समझने में समय नहीं नष्ट किया। मुझे ठीक पता नहीं कि मैं कितने दिनों तक चला हूँ। आज श्रावणी पूर्णिमा है। एक महीने से अधिक हो गया है, यह निश्चित है। थकान नहीं आयी। रह-रहकर दो मूर्त्तियाँ मेरे मानस-पटल पर अनामन्त्रित आ जाती थीं—रानी और मैना।

रानी का रहस्य मेरी समझ में नहीं आया। अमोघवज्र सीधी बात को सीधी भाषा में कहने के अभ्यस्त हैं। उन्होंने कहा था, 'रानी हैं, पर मिल नहीं सकेंगी। मिल भी जायें तो तुम पा नहीं सकोगे।'

विचित्र बात है! आज व्यास मुनि के आश्रम में जबकि काले बादलों ने धरती और आकाश को एक कर दिया है, रानी की याद आ रही है। एक ऐसे ही सरोवर के तट पर किसी दिन कालिदास याद आये थे। गधैया-ताल की कहानी सुनकर रानी में एकदम परिवर्त्तन हुआ था। आज तक मैं ठीक नहीं समझ सका कि रानी में उस प्रकार के परिवर्त्तन का कारण क्या था। कालिदास वाग्देवता के दुलारे थे। और व्यास? व्यास कवियों के कवि हैं। आज उनके आश्रम में ही रानी की याद आ रही है। क्या पवित्र तीर्थों में जाने से सचमुच ऐसा पुण्य होता है कि मनुष्य की मनोकामना फलवती हो जाये? युग-युग से इस देश की जनता का ऐसा ही विश्वास है। इस व्यास-सरोवर में स्नान करने से पुत्र-कामना पूरी होती है, ऐसा विश्वास

किया जाता है। पुत्र-कामना ! मैंने कभी मन में ऐसी कामना नहीं की। अब तो कामना का प्रश्न ही नहीं है। पुत्र-कामना मन में हो भी तो अब सम्भावना कहाँ है ? —लतायां पूर्व-लूनायां प्रसूनस्यागमः कुतः ! लता ही नहीं रही तो फूल की आशा करना पागलपन है। व्यास-सरोवर में स्नान करना व्यर्थ है। रानी साथ होतीं तो सोचा भी जा सकता था।

अचानक आसमान काला हो आया। मैंने रानी की मूर्ति आकाश में देखी। काले मेघों में, ध्यान से देखा, रानी की चिकुरच्छवि दिखायी दे रही है। हाय, वसन्त के पुष्पों की लक्ष्मी आज नील अवगुण्ठन में ढक गयी है। रानी ही तो हैं ! रानी-रानी ! रानी स्पष्ट उड़ती हुई दिखायी पड़ीं। उनका आकाश-विलुण्ठित श्यामल अंचल पश्चिम तक फैला है। अस्त-व्यस्त चिकुर-जाल मेघों में विचित्र भाव से उलझ गया है। रानी की कान्ति क्या छिपाये छिप सकती है ? नील अवगुण्ठन के घन-मेदुर आवरण का भेद करके विद्युत-शिखा की भाँति वह चमक रही है। रानी उड़ी जा रही हैं—पश्चिम से पूरब की ओर बड़े वेग से। देख रहा हूँ, रानी को देख रहा हूँ। वसन्त काल में फूलों में वे दीखी थीं, परन्तु आज वर्षा-काल में क्या विचित्र शोभा है उनकी ! नीला अंचल और काला चिकुर-जाल आकाश में व्याप्त हो रहा है। देख रहा हूँ, पा नहीं रहा हूँ। रानी उड़ी जा रही हैं, उद्दाम वेग से। मैं चकित हूँ, मुग्ध हूँ। सुन रहा हूँ, 'महाराज, आँधी की तरह बहो, वज्र की भाँति टूटो, दावानल की भाँति जलो !'

जल रहा हूँ देवि, जल रहा हूँ। बड़वानल की भाँति जल रहा हूँ। अन्तरिक्ष और धरती के अवकाश को छापकर घनघोर वर्षा के बीच महासमुद्र ही खड़ा हो गया है, उसके भीतर जल रहा हूँ। बड़वानल की भाँति ही जल रहा हूँ। कहाँ जा रही हो देवि, थोड़ा रुको, थोड़ी देर बात करो ! असहाय हो गया हूँ।

आओ देवि, द्वैपायन मुनि के इस आश्रम में आओ। रानी उड़ी जा रही हैं—नील-मेदुर अंचल और भी फैल गया है, घन-मेचक चिकुर-जाल और भी विस्रस्त हो गया है। रानी ही तो हैं ! क्या कहा था देवि, 'पिंजड़ा भी तुम्हारा, चिड़िया भी तुम्हारी !' आज यह क्या देख रहा हूँ, पिंजड़ा भी गया, चिड़िया भी गयी !

लहाछेह वर्षा हो रही है। व्यास-सरोवर छककर रस पी रहा है। बादल घुमड़-घुमड़कर बरस रहे हैं। बिजली लरज-लरजकर चमक रही है। सबने रानी की छवि चुरा ली है। रानी सर्वत्र दीख रही हैं, खण्ड-खण्ड होकर।

पीछे से किसी के हाथों का स्पर्श अनुभव हुआ। कोई कन्धा पकड़कर झकझोर रहा है।

"भीग क्यों रहे हो महाराज ! चलो कुटिया में।"

पीछे घूमकर देखता हूँ – सीदी मौला हैं। आपादमस्तक कम्बल से लिपटे हुए सीदी मौला !

क्षण-भर तक पथरायी आँखों से देखता रहा। विश्वास ही नहीं हो रहा था। सीदी मौला ठठाकर हँसे, "क्या देख रहे हो ? सीदी मौला हूँ, तुम्हारा पुराना

मित्र ! भूल गये क्या ?"

सीदी मौला !

सचमुच सीदी मौला ही हैं। मैना ने एक दिन कड़ककर सीदी मौला की ज्ञान-गम्भीर वार्त्ता को बकवास कहा था। कहा था, 'इन निठल्लों की बात में समय नष्ट करना व्यर्थ है।' जो नहीं कही थी वह बात उसकी कुटिल भृकुटियों और तनी हुई ललाट-रेखाओं से चू पड़ी थी — ठीक सीदी मौला के मस्तक पर। वह बात सीधी थी, परन्तु इतनी वेगवती कि सीदी के मस्तिष्क की गहराई में चुभ गयी थी, 'तुम दायित्वहीन भगोड़े ठूँठ लोग समाज का नाश कर रहे हो।' उस दिन सीदी मौला ने पहली बार हार मानी थी। वे चुपचाप उठकर अन्तर्धान हो गये थे। उसके बाद बहुत-कुछ घटित हुआ। सीदी मौला आज दिखायी दिये। उस दिन मैंने सोचा था, सीदी मौला बुरा मान गये, कदाचित् फिर नहीं मिलेंगे। आज ऐसे अचानक मिल गये तो आश्चर्य हुआ। जीवन के हर मोड़ पर ये मिल जाते हैं। यहाँ मिले हैं तो कुछ निश्चय ही विधि-विधान का संकेत लेकर।

सीदी मौला मुझे घसीटकर अपनी कुटिया में ले गये। वहाँ आग जल रही थी। मैंने हाथ-पैर सेंके, कपड़े सुखाये और आश्वस्त होकर उनके सामने बैठ गया। इस बीच सीदी मौला कुछ और ही कामों में व्यस्त थे। उन्होंने खरल उठाया; उसमें देर तक कुछ रगड़ा, फिर उसमें पानी डाला। थोड़ी देर तक उसे आग के पास रखकर गरम किया। फिर बोले, 'पी लो महाराज, तुम्हारी क्लान्ति दूर हो जायेगी।'

मैं पी गया। क्षण-भर में शरीर और मन में विचित्र स्फूर्त्ति आ गयी। ऐसा लगा, मेरा शरीर अब स्वस्थ हो गया है; मन में नयी उमंगें लहराने लगी हैं। सीदी मौला थोड़ी देर तक चुपचाप एकटक मेरी ओर देखते रहे। क्या देख रहे थे ? पता नहीं, कदाचित् वे मेरे ललाट की भाग्यलिपि पढ़ रहे थे।

फिर उन्होंने स्वयं मौन भंग किया। बोले, "मुझे यहाँ पर देखकर तुम्हें आश्चर्य हुआ न महाराज ?"

मैंने विनीत भाव से उत्तर दिया, "थोड़ा आश्चर्य तो हुआ, पर फिर सोचा रमते राम लोगों के लिए इसमें नया क्या है।"

सीदी मौला हँसे, पर यह हँसी फक्कड़ों का ठहाका नहीं थी, जैसे कहीं कुछ धारा में रुकावट आ गयी हो; बोले, "लेकिन तुम्हें यहाँ देखकर मुझे बिल्कुल आश्चर्य नहीं हुआ। मैं तुम्हारी प्रतीक्षा ही कर रहा था।"

सीदी मौला मेरी प्रतीक्षा कर रहे थे ? मुझे इस बार सचमुच आश्चर्य हुआ। मेरे इधर आने की बात तो किसी को मालूम नहीं। केवल विद्याधर भट्ट जानते हैं और हो सकता है कि उन्होंने अपने पट्टशिष्य बोधा प्रधान को भी बताया हो। पर सीदी मौला को यह बात कैसे मालूम हो गयी ? आश्चर्य से मेरी आँखें फैल गयीं। मेरे मन में यह आशंका भी उत्पन्न हुई कि जब बात सीदी मौला तक पहुँच चुकी है तो हो सकता है शत्रु-पक्ष को भी मेरे इधर आने का पता चल गया हो।

यह कैसा विचित्र संयोग उपस्थित हुआ? सीदी मौला मेरे मुख की ओर उसी प्रकार ताकते रहे, मानो मेरे भीतर चलनेवाले अन्तर्द्वन्द्व को पढ़ रहे हों। सीदी मौला की कौड़ी-जैसी आँखें दूसरी ओर फिरीं। बोले, "क्या सोच रहे हो महाराज? यही न कि मुझे कैसे मालूम हुआ कि तुम इधर आ रहे हो। बताऊँ? सुनोगे?"

फिर बिना रुके उपसंहार करते हुए बोले, "मैं जानता था।" और ठठाकर हँस पड़े। थोड़ा रुककर बोले, "बोधा प्रधान इधर आ गये हैं और आवश्यक तैयारी कर चुके हैं। अशोक चल्ल से तुम्हें पूरी सहायता मिलेगी। तुम्हें आश्चर्य होता होगा कि मैं कैसे इस व्यूह में आ फँसा! कर्मचक्र है महाराज, किसी को नहीं छोड़ता। मैं न तुम्हारा मित्र हूँ, न शत्रु। दिल्ली के बादशाह का भी मैं न मित्र हूँ, न शत्रु। वह मुझे अकारण शत्रु मानने लगा। कहता है मैं ताँबे को सोना बनाकर दरबारियों को देता हूँ, इस प्रकार उनके लिए विद्रोह करने का साधन प्रस्तुत करता हूँ। ऐसी बात कभी तुमने सुनी है महाराज? लेकिन दिल्ली का बादशाह ऐसा ही मानता है। मुझे हाथी के पैरों से कुचलवा देगा। इस बार तो नहीं कुचलवा सका। आगे की कौन जानता है! मैं कहता हूँ बाबा, तू अपनी क्यों नहीं देख रहा! कौन जाने तू कब कुचल जायेगा! बड़े बादशाह से क्यों नहीं डरता? सुनता कौन है!

"अब नये सिरे से मेरा एक अपराध यह बताया जाता है कि मैंने तुम्हारी सहायता की है। सो पहले तो अप्रत्यक्ष रूप से शत्रुता का कार्य करता था, अब अप्रत्यक्ष रूप से शत्रु ही बन गया हूँ। मुझे मार डालता कोई बात नहीं थी। न जाने कितनों ने कितनी बार मुझे मारने का प्रयत्न किया है, मार नहीं सके। हर बार उनके बुलाने से मृत्यु नहीं आयी, हर बार मुझे निगल जाने का साहस उसे नहीं हुआ। मारनेवाले हर बार मृत्यु से छोटे सिद्ध हुए, सीदी मौला हर बार मृत्यु से बड़ा साबित हुआ। अब दिल्ली का बादशाह मारने चला है। नहीं मार सकोगे बाबा, क्यों अकड़ रहे हो! अपनी चोटी के बालों को देखो, काल कसकर पकड़े हैं। पर सुनता कौन है! मुझे मारते तो पत्ता भी नहीं हिलता। निहंगों के लिए रोनेवाला कौन पड़ा है! पर उसने उन लोगों पर अत्याचार शुरू किया है, जो मेरे पास आया करते थे। भोली-भाली स्त्रियों और निरीह बच्चों तक को उसने जलती सँड़ासियों से बेधा है। मेरा मन भी विचलित हुआ है। हाय, इन गरीबों ने क्या किया था!"

देखता हूँ, पत्थर भी पसीजता है। सीदी मौला के फक्कड़ाना चेहरे पर विषाद का धूम छा गया। बोले, "उस तीन बरस की भोली बच्ची को माँ की गोद में रखकर छेद डालने की क्या आवश्यकता थी? अब भी ये सब अत्याचार कहाँ समाप्त हुए हैं! सैकड़ों कारागार में पड़े हुए हैं। यह क्या हो रहा है! मैं अपराधी हूँ तो मुझे मारो बाबा! इस भोले, निरीह, निरपराध बच्चों ने और भले घर की बहू-बेटियों ने क्या अपराध किया था, इन्हें क्यों सता रहे हो?

महाराज, मैं भागकर नहीं आया हूँ। मैं उन्हें छुड़ाने का संकल्प लेकर चला हूँ। बोधा मुझे मार्ग में मिल गये थे। उन्होंने आश्वासन दिया कि वे मेरी सहायता करेंगे। जीवन में पहली बार मैं माया से विचलित हुआ हूँ। बोधा जैसे मनुष्य को मैंने पहली बार अपना सच्चा मित्र माना है। बोधा के कहने से ही यहाँ तुम्हारी प्रतीक्षा कर रहा था। मैं जानता था कि पंचवट जाने के लिए तुम्हें यहाँ आना ही पड़ेगा। यहाँ का काम तो बना-बनाया है। मैं अशोक चल्ल से मिल चुका हूँ। वे आने ही वाले हैं।"

वर्षा हो रही है। आज जान पड़ता है, इन्द्र का जल-भाण्डागार उलट पड़ा है। घोर वर्षा हो रही है। मयूर मत्त हैं, सरोवर मगन है, सीदी मौला उदास हैं। भयंकर वर्षा है।

26

बोधा प्रधान आये। उनके चेहरे पर सदा की भाँति एकरस शान्ति बनी हुई थी। उन्होंने मुझे बताया कि विद्याधर भट्ट की आज्ञा से वे इधर आये हैं, उनके साथ धीर शर्मा भी आ गये हैं, जो महाराज अशोक चल्ल को अपनी विद्वत्ता से मुग्ध कर चुके हैं और भाद्रपद की अष्टमी को होनेवाली शिवा-बलि के अनुष्ठान के पौरोहित्य में नियुक्त हुए हैं।

सीदी मौला ने सुना तो ठठाकर हँस पड़े। बोले, "बोधा प्रधान ने अशोक चल्ल का उपयुक्त साथी जुटा दिया है। चल्ल भी बौड़म है, अपनी बुद्धि पर उसे कम आस्था है और सियारों की सूझ-बूझ पर अधिक। कहता है, जब तक देवी का आदेश प्राप्त नहीं हो जायेगा, तब तक कुछ वचन नहीं दे सकता। बोधा ने धीर शर्मा को जोत दिया है। धीर शर्मा श्लोक-पर-श्लोक ठोंकता जाता है और अशोक चल्ल हाथ जोड़कर भक्ति-गद्‌गद होकर सुनता जाता है। अच्छे बौड़मों का मिलन हुआ है! महाराज, अगर अशोक चल्ल तुम्हारे अनुकूल हुआ तो बोधा प्रधान की बुद्धिमानी के कारण नहीं, बल्कि धीर शर्मा की मूर्खता के कारण होगा। जानते हो महाराज, देवी का आदेश कैसे प्राप्त होगा? शृगालियों के माध्यम से!"

सीदी मौला के चेहरे पर फक्कड़ाना हँसी छा गयी थी। पर बोधा ने उधर ध्यान नहीं दिया। शान्त भाव से बोले, "यहाँ से कोई दो योजन पर तारा देवी का मन्दिर है। आजकल अशोक चल्ल वहीं व्रत कर रहे हैं। महाराज को वहीं चलना

होगा। अशोक चल्ल ने हाथ जोड़कर प्रार्थना की है कि महाराज के स्वागत के लिए उपस्थित नहीं हो सकने का अपराध मार्जित हो। अनुष्ठान-विधि के अनुसार उनका वहीं रहना आवश्यक है।"

मैंने शिवा-बलि के बारे में सुन रखा था, पर कभी अनुष्ठान देखा नहीं था। बोधा के साथ तारा-मन्दिर जाने को तुरन्त प्रस्तुत हो गया। रास्ता अच्छा था, केवल बीच-बीच वर्षा का पानी जमा हुआ था। दिन-भर चलकर जब हम मन्दिर के पास आये तो सूर्य अस्तगिरि पर जाने की तैयारी कर चुका था। तब भी थोड़ी-थोड़ी धूप थी, परन्तु उसमें तीव्रता एकदम नहीं थी। सामने एक नदी थी जो तीव्र वेग से बह रही थी। पहाड़ से मैदान में उतरनेवाली नदियों में एक प्रकार की घरघराहट की ध्वनि होती है। इसीलिए लोग प्रायः उन्हें 'घर्घर' कहा करते हैं। बोधा प्रधान ने बताया कि इस नदी को भी यहाँ के स्थानीय लोग 'घग्घर' ही कहते हैं। हमें यह नदी पार नहीं करनी पड़ी। इसके पूर्वी किनारे पर ऊँची पर्वत-शृंखला थी। उस पर एक चौड़ी पगडण्डी थी जो वर्षा ऋतु में अनायास ही उग आनेवाली घासों से ढक जाने पर भी स्पष्ट दिखायी देती थी। उसी से ऊपर उठकर हम उस पर्वत की काली-सी दीखनेवाली चोटी पर पहुँचे जहाँ तारा देवी का छोटा-सा मन्दिर था।

मन्दिर के चारों ओर एक छोटा-सा प्रांगण था, जिसे अनगढ़ पत्थरों के ढोकों से घेर दिया गया था। आँगन के भीतर दमनक पुष्पों की क्यारियाँ थीं। जहाँ पगडण्डी प्रांगण से मिलती थी वहीं एक द्वार था। द्वार से ही एक सोता बहता दिखायी देता था जो पश्चिमोत्तर कोण की ओर मुड़ गया था। एक बड़े-से पत्थर से एक संक्रम (पुल) बना लिया गया था जो बहुत-कुछ कामचलाऊ-सा ही था। धीर शर्मा द्वार पर ही मिल गये। धौत वस्त्र के ऊपर उन्होंने एक लाल उत्तरीय ओढ़ रखा था। उनका यज्ञोपवीत भी लाल था। वे सावधानी से दमनक पत्र चुन रहे थे। मुझ पर दृष्टि पड़ते ही वे उल्लास से चंचल हो उठे। दमनक पत्रों के दोनों को उन्होंने सावधानी से एक गुल्म पर रख दिया; फिर दोनों हाथ उठाकर चिल्ला उठे, "जय हो, महाराजाधिराज सातवाहन की जय हो!"

बोधा प्रधान ने इंगित से कहा, "धीरे!" मगर धीर शर्मा को इतनी सावधानी पसन्द न थी। वे कुछ संयत तो हुए, पर बहुत अधिक नहीं। पोपले मुँह से, उल्लास गद्‌गद भाव से बोले, "प्रतपतु चन्द्रवपुर्नरेन्द्रचन्द्रः!"

धीर शर्मा को प्रसन्न देखकर मुझे बड़ी प्रसन्नता हुई। मैंने हाथ जोड़कर उन्हें प्रणाम किया।

धीर शर्मा बोले, "आज शुभ दिन है महाराज! दमनक लता परिवेष्टित मातृमन्दिर में आपका स्वागत है। दमनक माँ तारा का दुलारा पौधा है। 'दक्षिणामूर्त्ति संहिता' में कहा है :

"कामनेत्रसमुद्‌भूत रतिनेत्रजलाप्लुत।
ऋषिगन्धर्वसिद्धानां विमोहक नमोऽस्तुते।[24]

"यह कामदेव के नेत्रों से उत्पन्न हुआ, रति की आँखों के जल से सींचा गया है। इसे स्वयं शिव ने सर्वसिद्धि-प्रदाता कहा है। इसके बिना तारा प्रसन्न नहीं होतीं। 'ज्ञानार्णव' में लिखा है :

"दमनेन च यो मन्त्री वर्षमध्ये न पूजयेत्
तस्य सांवत्सरी पूजा दमनाय भविष्यति।[25]

"अर्थात् जो मन्त्रसाधक कम-से-कम एक बार दमनक से देवी की पूजा नहीं करता, उसकी वर्ष-भर की पूजा व्यर्थ जाती है। 'महाकाल संहिता' में स्वयं शिव ने देवी को बताया है—'तस्य वर्षकृता पूजा व्यर्था भवति भामिनि!' 'वीरतन्त्र' में तो···"

बोधा प्रधान ने बीच में ही टोक दिया, "महाराज श्रान्त हैं आर्य!" 'वीरतन्त्र' की बात बीच में ही रुक गयी।

धीर शर्मा ने व्याकुल भाव से कहा, "हाँ-हाँ, महाराज, इस निर्झर में से थोड़ा-सा जल लेकर मार्जन कर लें। यह माँ तारा के चरणों को पखारता हुआ बहता है, 'वज्रतारा माहात्म्य' में लिखा है :

"तारा वामांघ्रिमाघ्राय स्रोतो झर्झरसंज्ञकम्।
नित्यं वहित यद्देवि श्रान्तिक्लांतिहरं नृणाम्॥

"यही झर्झर स्रोत है महाराज! माँ के बायें चरण को यह बारह महीने धोता रहता है। आश्चर्य है महाराज, माँ के चरणों के नीचे दबे हुए शव को यह बिलकुल नहीं छूता। यद्यपि माँ के दक्षिण चरण से ही शव दबा हुआ है और बायाँ पैर ऊपर है तथापि वह बायें पैर को छूकर ही बहता है। 'ब्रह्म संहिता' में कहा है न महाराज :

"ज्वलत्पावकज्वालजालातिभास्वत्
चितामध्यसंस्थां सुपुष्पां सुखर्वाम्।
शवं दक्षपादेन कण्ठे निपीड्य
स्थितां वामकेनांघ्रिणांघ्रि निपीड्य।

"उसी नीलतारा भगवती का यह मन्दिर है। उन्हीं के वाम चरणों का प्रक्षालन करनेवाला यह झर्झर स्रोत है। समस्त मानसिक और शारीरिक क्लान्ति को दूर करने की सामर्थ्य इसमें है। धन्य हो माता—

"शरीरेण दूर्वादलश्यामरागैः कृतं चारुयज्ञोपवीतं दधानाम्।"

बोधा ने फिर बाधा दी, "आर्य, महाराज अशोक चल्ल को समाचार देना चाहिए।"

धीर शर्मा को एकाएक ध्यान आया, "अवश्य, अवश्य, महाराज तब तक मार्जन कर लें, मैं अभी उन्हें समाचार देता हूँ।" फिर 'सतां सद्भिः संगः कथमपि हि पुण्येन भवति' कहकर वे जल्दी-जल्दी मन्दिर की ओर चले गये।

बोधा प्रधान की सहायता से मैंने झर्झर स्रोत के पवित्र जल से मार्जन किया। पानी सचमुच ही क्लान्तिहर जान पड़ा। उस समय पर्वत-चूड़ा पर सन्ध्या-काल

की अरुण आभा उतर आयी थी। दिन-भर के थके पक्षी निस्तब्ध भाव से अपने घोंसलों में जाने लगे थे। सामने काली ऊंची गिरिश्रृंखला के श्रृंगदेश में चिपके हुए छुटपुट बादलों पर अरुण आभा झलक उठी थी। ऐसा जान पड़ता था कि पर्वतराज ने भी भगवती नीलतारा की उपासना के लिए लाल-लाल उत्तरीय धारण कर रखा है। मेरा मन एक विशेष प्रकार की गरिमा से भर उठा। ऐसा जान पड़ा, मानो कुछ अन्तरतर को आलोड़ित-मथित कर रहा है। इसका कारण ठीक समझ नहीं सका। दमनक पत्रों की भीनी-भीनी सुगन्धि चित्त को विचित्र भाव से अभिभूत कर रही थी।

पता नहीं क्या हुआ कि मैंने सामने नीलतारा को प्रत्यक्ष देखा। स्वप्न वह नहीं था, इतना मैं निश्चित रूप से कह सकता हूँ। मैं जाग रहा हूँ, सोच रहा हूँ, समझ रहा हूँ, प्रत्यक्ष दर्शन कर रहा हूँ। नीलतारा की मूर्त्ति अतीव खर्व थी। धधकती चिता की भास्वर ज्वाला में दाहिने पैर से शव को दबाकर बायें पैर से दाहिने पैर को लपेटकर वे खड़ी थीं। अपूर्व थी वह शोभा! नीलमणि से गढ़ी हुई-सी, नीलोत्पल के रस से सींची हुई-सी, दूर्वादल की नीलमेदुर कान्ति से सँवारी हुई-सी वह दिव्य मूर्त्ति लाल लपटों से घिरी थी। वक्षोदेश पर पचास मुण्डों की माला लटकी हुई थी, बायें कन्धे पर काले नाग का यज्ञोपवीत पयोधरों के मध्य भाग में चिपटकर दाहिनी ओर की मेखला पर झूल पड़ा था; उसे व्याघ्र-चर्म का आच्छादन बिल्कुल ढक नहीं पा रहा था। ललाट देश पर अद्भुत शोभा थी क्योंकि त्रिकुटी के ऊपर तिरछी चन्द्रकला शोभित हो रही थी। देवी की जटाएँ पिंगल वर्ण की थीं और केश एक-दूसरे से उलझकर एका-कार वेणी के रूप में गुँथ गये थे। चन्द्रकला के बीच में लाल रोली का टीका इस प्रकार शोभित हो रहा था मानो बाल चन्द्रमा की गोद में मंगल बैठा हो। कानों में जो कुण्डल था उसमें नाग का छन्द था। देवी के एक हाथ में नीलकमल था, दूसरे में कपाल, बाकी दोनों हाथों में कर्त्तरी और करवाल शोभित हो रहे थे। यह वेश जितना ही प्रचण्ड था उतना ही मनोहर। नीलोत्पल दल के समान श्यामल-मनोहर मुख से सुधा-स्निग्ध हँसी झर रही थी।

मैं प्रत्यक्ष नीलतारा का दर्शन पाकर अपने को कृतकृत्य अनुभव कर रहा था। मुग्ध, चकित, अवाक् होकर मैं स्तब्ध हो रहा। मुझे पता ही नहीं चला कि कब महाराज अशोक चल्ल पधारे, कब उनके राज-पुरोहित ने मुझे त्रैलोक्य-विजयी होने का आशीर्वाद दिया और कब मैं मन्दिर के प्रांगण में उनके साथ प्रविष्ट हुआ। कब मैं एक छोटे-से साफ़-सुथरे घर में ले आया गया, इसका मुझे बिलकुल पता न चला। परन्तु, फिर भी, मैं निःसंज्ञ नहीं था। मैं एक ही मूर्त्ति निरन्तर देखता रहा—भास्वर चिताज्वाला में स्थिर भाव से विद्यमान शव पर प्रत्यालीढपदा मुद्रा में विराजमान खर्वकाया यौवनोद्दीप्ता मुण्डमालाधारिणी नीलतारा। मैं जिधर देखता हूँ उधर एक ही मूर्त्ति दिखायी दे रही है। क्या मैं सम्मोहित हूँ? मनसा अभिभूत हूँ? निस्संज्ञ हूँ? ऐसा तो नहीं लगता। वह

देवी-मूर्त्ति कितनी प्रचण्ड है ! उसके अंग-अंग से क्रिया-शक्ति उच्छल हो रही है। सारी मूर्त्ति स्फूर्तियों से खींचकर, उल्लास से तराशकर, ऊर्जाओं से कसकर विद्युत्-शिखाओं से धोकर बनायी जान पड़ती है। तीन नेत्रों से ज्योति-सी बरस रही है। यह क्या पौरुष शक्ति का नारी-विग्रह है ? मैं हैरान हूँ। मुझे क्या इस मूर्त्ति ने ग्रस लिया है ? क्या हो गया है मुझे ? सामने जो नीलगिरिश्रृंखला दीखी थी, वह भी इस मूर्त्ति से आच्छन्न हो गयी। आगे-पीछे दायें-बायें सर्वत्र उग्रतारा की नील-मेदुर मूर्त्ति ! मेरा आनन्द-विह्वल भाव क्रमशः भय में बदलता गया। मैंने कुछ अनावश्यक बल देकर पुकारा, "बोधा प्रधान !"

"आज्ञा हो धर्मावतार !" बोधा ने कहा।

"यह सब क्या है ? मुझे क्या हो गया है ?"

"क्या हुआ धर्मावतार ? सब ठीक ही तो है।"

"मैं चारों ओर भगवती नीलतारा को ही देख रहा हूँ, मुझे और कुछ भी नहीं दिखायी दे रहा है। मैं तुम्हें भी नहीं देख पा रहा हूँ। देखो, मेरा मस्तिष्क विकृत तो नहीं हो गया ?"

बोधा के स्वर में थोड़ी व्याकुलता का भाव दिखायी दिया। बोले, "कुछ विकार तो नहीं दीख रहा है महाराज ! धीर शर्मा को बुलाऊँ ?"

"बुलाओ।"

धीर शर्मा आये। प्रसन्न गद्गद वाणी में बोले, "सत्पात्र देखकर माँ तारा प्रसन्न होती हैं। अहा, महाराजाधिराज को प्रत्यक्ष दर्शन दिया है माता ने ! कैसा देख रहे हैं महाराज ? 'नीलतन्त्र' में कहा है :

"प्रत्यालीढपदां घोरां मुंडमालाविभूषिताम् ।
खर्वां लम्बोदरीं भीमां व्याघ्रचर्मावृतां करौ ।।

"ऐसा ही रूप है न महाराज ?"

"हाँ।"

धीर शर्मा अब 'मन्त्रचूड़ामणि' का श्लोक बोलते जा रहे थे :

"पीनोन्नत पयोभागां रक्तवर्तुललोचनाम् ।
ललज्जिह्वां महाभीमां दंष्ट्रा कोटि-समुज्ज्वलाम् ।।
नीलोत्पल वसन्मालां बद्धजूटां..."

अधीर भाव से बोधा प्रधान ने कहा, "महाराज आशंकित हैं आर्य ! कुछ उपचार अपेक्षित है।"

धीर शर्मा ने मेरे सिर पर हाथ फेरा और देवी के चरणोदक का छींटा आँखों पर मारकर बोले, "आशंकित होने की क्या बात है ? भगवती का अनुग्रह है। आते ही उन्होंने महाराज को अपूर्व दर्शन दिये : अव्याक्षेपो भविष्यन्त्याः कार्य-सिद्धेर्हिलक्षणम्। समस्त सिद्धियाँ आज दासी हो गयीं।"

आँखों में देवी के चरणोदक के स्पर्श से तरावट आयी। परन्तु तब भी नीलमूर्त्ति आँखों के सामने बनी रही। धीर शर्मा ने आश्वस्त करते हुए कहा,

"कोई चिन्ता नहीं महाराज, माँ की माया है, उन्हीं का ध्यान करें।" और मृदु भाव से आँखों पर हाथ फेरते हुए बोले :

"हासव्याजविराजमानकुसुमां वक्षोजराजत्फलाम्
उद्यतकुन्तल कैतवं प्रविलसन्मत्तालिमालाकुलाम्।
स्थाणुस्थां रमणीय नूपुरकृतांवालामपर्णामहं
काञ्चित् कल्पलतां नमामि ललितां शैलाधिराजोद्गताम्॥"

धीर शर्मा बराबर मेरे ललाट पर हाथ फेरते जा रहे थे। फिर मुझे निद्रा-सी आ गयी है। बोधा और धीर शर्मा पास ही बैठे रहे। मुझे कैसी निद्रा आयी थी, कह नहीं सकता। मैं अनुभव कर रहा था कि मैं सो गया हूँ, परन्तु बोधा और धीर शर्मा की फिसिर-फिसिर स्पष्ट सुन रहा था। मूर्त्ति अब नहीं दिखायी दे रही थी, लेकिन उसकी आभा अब भी झलक रही थी। उसे पूर्ण रूप से विलीन होने में देर लगी। धीर शर्मा बहुत दबे स्वर में कह रहे थे, "सिद्धपीठ है भाई, मैं आया था पहली बार, तो मुझे ऐसा ही दीख रहा था। तुम्हें कुछ नहीं दीखा था प्रधान ?"

"दीखा भी था और नहीं भी दीखा था।"

"सो कैसे ?"

"मैं शंकालु हूँ आर्य। प्रत्येक बात में सन्देह करता हूँ। प्रथम बार मैं जब यहाँ आया तो मुझे बहुत-कुछ वैसा ही दीखने लगा जैसा महाराज बता रहे हैं। मैंने तुरन्त इसे किसी सम्मोहन का अभिचार समझ लिया। जितनी ही मुझे वह मूर्त्ति दीखती थी; उतनी ही दृढ़ता से मैं किसी दिखानेवाले की बात सोचता था। अन्त में तारा मूर्त्ति दिखानेवाले के रूप में बदल गयी और फिर बाद में वह दिखानेवाला भी तिरोहित हो गया।"

"कैसा था वह ?"

"मैं उस आदमी की खोज में हूँ। वह बड़ा मोटा-सा क्रूर दृष्टिवाला साधु है। उसकी आँखें जुगनू की तरह चमकती रहती हैं, उसके गले में हड्डियों की माला है। उसके ललाट पर लाल चन्दन की बिन्दी है। मुझे वह बहुत धूर्त जान पड़ता है।"

"आश्चर्य है !"

"कुछ आश्चर्य नहीं है। महाराज अशोक चल्ल श्रद्धालु हैं, उन पर वह इस प्रकार के जादू का प्रयोग करता रहता है। पर देखिए !"

बोधा ने कुछ इस प्रकार से बात की मानो उन्होंने उस आदमी को कुछ दण्ड देने का निश्चय कर लिया हो। धीर शर्मा ने पूछा, "मगर उसका उद्देश्य क्या है ?"

बोधा बोले नहीं, चुपचाप एक 'हुँ' करके रह गये। देर तक दोनों मौन बैठे रहे। मुझे भी अब शान्ति मिलने लगी। कुछ देर बाद नीलमूर्त्ति की आभा भी तिरोहित हो गयी। मैंने आँखें खोलीं। अब सब-कुछ शान्त दीखने लगा। धीर शर्मा आश्वस्त हुए। उन्होंने एक बार फिर देवी का चरणोदक दिया। इसी समय

राजपुरोहित भी आ गये। उन्हें पहली बार मैं देख नहीं सका था। बड़े ही सौम्य-मनोहर दीख रहे थे।

आशीर्वाद देने के बाद उन्होंने कहा, "राजाधिराज अशोक चल्ल ने कुशल पूछा है और कहा है कि महाराज कुछ चिन्ता न करें, इस सिद्ध पीठ में माँ तारा इस प्रकार का अनुग्रह करती ही रहती हैं। यह उनकी प्रसन्नता का संकेत है। इससे चिन्तित होने की आवश्यकता नहीं है। महाराज की यदि इच्छा हो तो आज आधी रात की बलि के बाद, शिवाओं (शृगालियों) के संकेत में, गुप्त रूप में, राजाधिराज अशोक चल्ल के साथ चल सकते हैं।"

राजपुरोहित की बात पूरी तरह से समझ में तो मुझे नहीं आयी, पर मैंने स्वीकार कर लिया। राजपुरोहित ने धीर शर्मा और बोधा प्रधान को भी इसी प्रकार का निमन्त्रण दिया। उनके चले जाने के बाद मैंने धीर शर्मा से पूछा कि यह कैसा अनुष्ठान है। धीर शर्मा ने शास्त्र-वाक्यों के लम्बे उद्धरणों के साथ जो कुछ कहा उसका भाव मैंने यह समझा कि भगवती नीलतारा की पूजा समाप्त हो जाने के बाद निर्जन अरण्य में शिवाओं (शृगालियों) को मांस-खण्ड की बलि दी जाती है। वहाँ साधक छिपकर अपनी मनोकामना के भावी फल की सूचना पाता है। यह नैमित्तिक विधि है। 'कुल-चूड़ामणि' में तो कहा है कि सन्ध्या समय श्मशान में बिल्व वृक्ष के नीचे यह अनुष्ठान करना चाहिए, किन्तु 'महाकाल-संहिता' में निर्देश है कि यह रात के समय किया जाना चाहिए। यहाँ का अनुष्ठान इसी 'संहिता' के वचनों के अनुसार हो रहा है। अंगन्यास, प्राणायाम, जप आदि की विशेष विधियों के यथानियम सम्पन्न होने के पश्चात् साधक मद्य और मांस की बलि निर्जन में देता है और 'काली-काली' कहकर पुकारता है। उस समय महामाया स्वयं शृगाली के रूप में उपस्थित होती हैं। निमितज्ञ उस समय छिपकर बैठे रहते हैं और शिवा की गतिविधि का निरीक्षण करते हैं। यदि शृगाली मांस नहीं ग्रहण करती तो अशुभ होता है। ग्रहण करके वह यदि ईशान कोण की ओर मुँह करके रोदन करती है तो शुभ होता है। निमितज्ञ जानता है कि एक ही शृगाली आये तो काम्य कार्य की कैसी सिद्धि होती है, अनेक आयें तो क्या होता है, किधर मुँह करके रोयें तो क्या फल होता है, डरकर भाग जायें तो क्या होने-वाला होता है।

धीर शर्मा ने बड़ी श्रद्धा के साथ कहा, " 'महाकाल संहिता' में इसका बड़ा विस्तार है महाराज! इस अनुष्ठान से पता चल जायेगा कि क्या करना कर्त्तव्य है। शिवा साक्षात् शिवा होती है। उसकी तृप्ति अशेष फलदायिनी होती है। 'संहिता' कहती है :

"महदैश्वर्यमाप्नोति निःशेषं भक्षयन्ति चेत्,
अर्द्धेतु मध्यमा सिद्धिरभक्षे तु विपद्भवेत।"[26]

धीर शर्मा 'फेत्कारिणी तन्त्र' के कुछ श्लोक बोलने ही जा रहे थे कि बोधा प्रधान ने उन्हें स्मरण दिलाया कि अनुष्ठान में जाने के लिए उन्हें सन्ध्या-वन्दन से

निवृत्त हो लेना चाहिए। शास्त्र वाक्यों का सिलसिला टूट गया।

धीर शर्मा के जाने के बाद बोधा ने शान्ति की साँस ली। बोले, "बहुत आशा यहाँ नहीं दीखती, महाराज !"

बोधा से कुछ जान लेना कठिन है। दिन-भर साथ रहे, पर बोले एकदम नहीं। कुछ बोलते हैं तो तौलकर बोलते हैं। मैंने कुछ अधिक जानने के उद्देश्य से उनसे पूछा, "ऐसा क्यों कहते हो प्रधान ?"

बोधा ने दीर्घ निःश्वास लिया। फिर बोले, "दो कारणों से महाराज ! प्रथम तो यह है कि अशोक चल्ल का मन अभी स्थिर नहीं है। ये जय-पराजय, लाभ-हानि, शुभ-अशुभ की दृष्टि से देखते हैं। घर में कोई घुसकर मार-पीट करने लगे, बहू-बेटियों का अपमान करने लगे तो इस दृष्टि से बात पर विचार नहीं किया जाता। वहाँ एकमात्र कर्त्तव्य हो जाता है, प्राणों का पण लगाकर शत्रु से जूझना। खेद है महाराज, बहुत खेद है मुझे, ये अशोक चल्ल इस बात को नहीं समझ पाते। मैं जानता नहीं कि भगवती नीलतारा शृगालियों के माध्यम से सचमुच कोई संकेत देती हैं या नहीं। पर देश की वर्तमान अवस्था में उनके संकेत की बात क्या सचमुच ज्ञातव्य है ? देवी क्या हमारे आवश्यक कर्त्तव्य में कोई और संकेत देंगी ? यहाँ तो संकेत स्पष्ट है। दूसरी बात यह है कि अशोक चल्ल का दुर्ग रक्षात्मक युद्ध के लिए तो ठीक है, पर उनकी छोटी सेना इस विशाल मैदान में खो जायेगी। आक्रमणात्मक युद्ध का विचार ही यहाँ व्यर्थ है।"

"फिर क्या सोचते हो ?"

"आज के अनुष्ठान का परिणाम देख लिया जाये। मैं इस ओर से निराश हो चुका हूँ। यह सहायता मिल जाये तो अच्छा है, न भी मिले तो सोचना तो होगा ही।"

"क्या समझते हो प्रधान ? यहाँ मेरा आना व्यर्थ होगा ?"

बोधा प्रधान मुस्कराये। बोले, "बिल्कुल नहीं। आपको व्यर्थ ही भयंकर प्राण-संकट में डालने का प्रयास मेरे गुरुजी ने नहीं किया है। आपकी यात्रा की एक-एक विकट गति लाख-लाख गुनी शक्ति बनकर हमारी ओर लौटी है। गुरुजी कहते हैं कि अपने प्राणों को शुभ उद्देश्य के लिए संकट में डाल देने से बड़ी कोई पूजा नहीं होती। आप जितनी बार नदी में कूदे हैं, उतनी बार सहस्र-सहस्र शक्ति-धारा हमारे सैनिकों में उफनी है।"

फिर हँसते हुए बोधा प्रधान ने कहा, "पगली मैना तो आपके संकटों की कल्पना से ही असाध्य-साधन के व्रत में जुट गयी है। सच पूछिए तो महादुर्गा उधर ही मैना के विग्रह में उतरी हैं। भगवती नीलतारा यदि महाशिव की क्रियाशक्ति का विग्रह हैं तो मैना महाराज की क्रिया-शक्ति का विग्रह बनी हुई है।"

मैना ! मेरी क्रिया-शक्ति !

बोधा प्रधान के साथ दिन-भर चलता रहा हूँ, हज़ार बार मैना मेरी चित्त-भूमि में आयी है, हज़ार बार मैंने उसके बारे में पूछना चाहा है, पर वाणी रुद्ध

हो गयी है। सुन रहा हूँ, मैना कुछ कर रही है। क्या कर रही है? कहाँ है वह?

बोधा प्रधान चुप हैं। मैं और सुनना चाहता हूँ।

व्याकुल भाव से मैंने पूछा, "मैना कहाँ है प्रधान?"

प्रधान की स्थिर दृष्टि में चांचल्य आया। बोले, "मैना कभी आपको अरक्षित छोड़ सकती है?"

"क्या कहते हो प्रधान? मैना मेरी रक्षा कर रही है! कहाँ, कैसे?"

"शान्त हों धर्मावतार, कल ही कुछ पता चल सकेगा। अभी तो मैं भी विशेष कुछ बताने की स्थिति में नहीं हूँ। पर मैना चल पड़ी है। जल्दी-से-जल्दी वह आपकी सेवा में पहुँचना चाहती है। कुछ करके ही आयेगी।"

"पहेली बुझा रहे हो प्रधान?"

"दास कभी ऐसा अपराध नहीं कर सकता है धर्मावतार!"

"साफ़-साफ़ क्यों नहीं कहते?"

"जितना जानता हूँ वह इतना ही है महाराज! कल कुछ अधिक बता सकता हूँ।"

राजपुरोहित आये और बात वहीं रुक गयी। मैना की मूर्त्ति आँखों के सामने घूम गयी। वह चल पड़ी है! कहाँ के लिए?

27

शिवा-बलि के अनुष्ठान में मैं सम्मिलित नहीं हो सका। उस रात को मेरा मन बड़ा ही चंचल हो उठा था। मुझे शारीरिक क्लान्ति उतना कष्ट नहीं दे रही थी, जितना मानसिक दुश्चिन्ता। इसका उपचार भी धीर शर्मा ने देवी के प्रसाद से ही किया। मुझे गाढ़ निद्रा आ गयी। अर्द्धरात्रि को मुझे जगाना उचित नहीं समझा गया। दूसरे दिन काफ़ी दिन चढ़ जाने के बाद मेरी आँख खुली। धीर शर्मा उदास-से खड़े थे। मेरे बारे में कुशल-प्रश्न पूछने के बाद उन्होंने संक्षेप में बताया कि कल क्या हुआ। कदाचित् उदास होने के कारण ही वे बहुत श्लोक नहीं बोल सके; थोड़े तो बोल ही गये। उन्होंने बताया, बलि के लिए दो शृगालियाँ आयी थीं। उन्होंने बड़े प्रेम से बलि को ग्रहण भी किया। सारा आयोजन अनुकूल निमित्त ही सूचित कर रहा था। पर अन्तिम समय में कुछ दुर्निमित्त दिखायी दिया। राजा अशोक चल्ल ने कौपीन धारण करके हाथ में गन्ध-चन्दन-चर्चित पुष्प लिया। उनकी शिखा खोल दी गयी। राजपुरोहित ने राजा की ओर से अत्यन्त क्षीण स्वर में 'महाकाल संहिता'

के आठ श्लोकों के स्तोत्र का पाठ किया। जब उन्होंने पढ़ा :

विस्रस्तचिकुरे चण्डि चामुण्डे मुण्डमालिनि:
संहारकारिणी क्रुद्धे सर्वसिद्धिं प्रयच्छ मे।

तो एक शिवा ने मुँह उठाकर देखा और फिर बलि ग्रहण करने लगी। राजपुरोहित स्तोत्र-पाठ करते रहे। सातवाँ श्लोक था :

अनुग्रहं कुरु सदा देवि, कृपया मां विलोकय:।
राज्यं प्रयच्छ विकटे, वित्तमायु:सुतान् स्त्रियम्।

ठीक इसी समय दोनों शृगालियाँ दक्षिण की ओर भाग गयीं। यह दुर्निमित्त है। राजा अशोक चल्ल निराश हो गये हैं।

धीर शर्मा ने हताश स्वर में कहा, "अब क्या होगा महाराज ?" वे मौन हो रहे और उनकी सारी मनोवेदना मुखर हो उठी, "अब क्या होगा, अब क्या होगा ?"

मैं कुछ विचलित हुआ। इसी समय बोधा प्रधान आये। उन्होंने धीर शर्मा का अन्तिम वाक्य सुन लिया था। उनकी आँखों में हल्का-सा उल्लास था, बोले, "युद्ध होगा आर्य ! अब विकट युद्ध होगा। शिवा ने यही कहा न कि अशोक चल्ल को राज्य नहीं देंगी। माँगता कौन है आर्य ! हम राज्य के लिए युद्ध कर ही कब रहे थे ! राज्य एक व्यक्ति को नहीं मिलेगा, मिलेगा तो पूरे देश को मिलेगा, नहीं मिलेगा तो किसी को नहीं मिलेगा। यही तो महाराज की इच्छा है। आप हताश क्यों हो रहे हैं ? मुझे तो बड़े शुभ निमित्त का दर्शन मिला है। चिन्ता न करें आर्य, अशोक चल्ल चाहें या न चाहें, युद्ध होगा, विकट युद्ध होगा। मुझे शुभ संकेत मिले हैं। जय-पराजय की बात ही कहाँ उठती है !"

बोधा प्रधान आज असाधारण रूप से उल्लसित जान पड़ते थे। मुझे उनका एक-एक वाक्य अर्थपूर्ण जान पड़ा। उनके वक्तव्य ने मुझे प्रेरणा दी। मैं राज्य के लिए युद्ध करना नहीं चाहता था। रानी चाहती थीं रोग, शोक और भय से सारी मनुष्य जाति को मुक्त करना। मैंने उसका अपने ढंग से अर्थ कर लिया था। मैं चाहता था, प्रजा में आत्मबल का संचार। मैं विश्वास नहीं कर सकता था कि किसी रासायनिक औषध के बल पर यह काम हो सकता है, किन्तु रानी ऐसा ही विश्वास करने लगी थीं, वे अपने रास्ते चली गयीं। विद्याधर भट्ट चाहते थे विदेशियों को युद्ध और कूटनीति के बल पर पराजित करना। हम तीनों के तीन लक्ष्य थे जो थोड़ी दूर तक एक रास्ते से चलने पर मिल जाते थे। इसी बीच मिले बोधा, विद्याधर भट्ट के अनुगत, मुझे सहायक समझनेवाले। मिली मैना, रानी की प्रिय सहचरी, पर उनकी साधना से एकदम असहमत। वह मुझे सहायक के रूप में नहीं ग्रहण करती। उसने न जाने कैसे और क्यों, अपने को मेरा रक्षक मान लिया। बाधा मैंने किसी को नहीं दी।

मुझे इन विभिन्न लक्ष्यों के यात्रियों को साथ लेकर चलना है। कभी-कभी मैं स्वयं अपना प्रतिवाद सिद्ध हुआ हूँ। रानी मुझसे भी अधिक सिद्ध हुई हैं। विद्याधर

भट्ट दृढ़ हैं, बोधा दृढ़ है, मैना भी सुना है, दृढ़ है। विचित्र योग है ! राजा और रानी दोनों ही स्वतोविभक्त हैं, जो लोग अपने को उनका अनुगत मानते हैं वे दृढ़ हैं।

लेकिन सौ धक्कों के बाद भी जो बात मेरे सामने बिलकुल स्पष्ट है, वह यह है कि देश का उद्धार युद्धों से नहीं होने जा रहा है। इसे आत्मबल चाहिए, ऐक्य चाहिए, कर्त्तव्य पर स्थिर रहने का मन्त्र चाहिए। सबसे बड़ी बाधा है—राजा की विचित्र कल्पना, झूठे कुलाभिमान का दम्भ, मिथ्या विश्वासों में धर्म-भावना। मुझे इस धर्म या उस धर्म के प्रति आस्था नहीं है। मैं चाहता हूँ मनुष्य के भीतर जो देवता स्तब्ध बैठा है, जो अन्याय के सामने नहीं झुकता, लोभ और मोह के प्रहारों से जर्जर नहीं होता, शताब्दियों से विरूप परिस्थितियों में भी चारित्र्य को, दया को, परोपकार को कसकर पकड़ने में आनन्दित होता है—उस देवता को उद्‌बुद्ध करना। शक्तिशाली होने पर दोष और बाधाएँ स्वयं परास्त हो जायेंगी।

पर मुझे रास्ता नहीं सूझ रहा है। युद्ध केवल साधन है, पर कैसा घृणित साधन है ! मैं निरुपाय हूँ। इसी युद्ध के लिए सहायता माँगने मैं इतनी दूर आया हूँ। परन्तु युद्ध तभी तक ठीक है, जब तक वह अविचाल्य आत्मबल के कवच से सुरक्षित है। जो युद्ध राज्य-लाभ के लिए भाड़े के सैनिकों से लड़ा जाता है, वह या तो निर्मम हत्या है या अन्धा आत्मघात। बोधा कहते हैं, युद्ध होगा; पर किसी व्यक्ति-विशेष के राज्य-लाभ के लिए नहीं। क्या विद्याधर भट्ट अपने शिष्य के मुख से बोल रहे हैं ? क्या भट्टपाद और उनके पट्टशिष्य बोधा ने मेरा मत स्वीकार कर लिया है ? मुझे अपनी विजय का पहला आभास बोधा के वाक्यों में मिल रहा था।

धीर शर्मा ठीक से समझ नहीं सके। अशोक चल्ल से सहायता पाना उनकी इस यात्रा का मुख्य लक्ष्य था; उस लक्ष्य की सिद्धि में बाधा पड़ने से वे हताश हो गये थे। बोधा की बात से उन्हें आश्चर्य हुआ। सीधे-सादे पण्डित थे, उन्हें बोधा की बात का अर्थ समझ में नहीं आया।

आश्चर्य से पूछा, "कैसे युद्ध होगा प्रधान ? हम तीन ही तो इधर रह गये हैं। मैं शस्त्र-विद्या में शून्य हूँ; तुम कहते हो, 'मैं कायस्थ का बच्चा तलवार चलाना क्या जानूँ ?' रह गये महाराज, क्या वे अकेले ही आक्रमण करेंगे ?"

बोधा हँसे; बोले, "घबराओ नहीं आर्य ! सब हो जायेगा।"

बोधा के इस उत्तर में मैंने बहुत विश्वास पाया। परन्तु धीर शर्मा अनाश्वस्त बने रहे। थोड़ी देर तक वे मौन बैठे रहे, फिर उन्हें एकाएक कुछ स्मरण आया और बिना कुछ बोले ही वे उठ पड़े। निस्सन्देह वे बहुत विचलित हो गये थे।

धीर शर्मा के चले जाने के बाद बोधा भी थोड़ी देर मौन रहे। फिर बहुत निकट आकर धीरे-धीरे बोले, "धर्मावतार, इस बीच कुछ ऐसी घटनाएँ घटीं और मैं कुछ ऐसे धर्मसंकट में पड़ा कि धृष्टता करनी पड़ी। उसके लिए क्षमा माँगने

आया हूँ। मुझे आपकी आज्ञा लेने का अवसर नहीं मिला। बात ऐसी थी कि आज्ञा न होते हुए भी वचनबद्ध हो जाना पड़ा। इस अपराध के कारण लज्जित हूँ और जो काम पहले करना चाहिए, उसे बाद में करने की अनुमति माँगने आकर दुहरी धृष्टता का अपराधी हो रहा हूँ।"

बोधा की आँखों में विवश दीनता के भाव दिखायी दिये। मैंने कहा, "कहो न प्रधान, क्या कहना चाहते हो ? विद्याधर भट्टपाद के स्थान पर इस समय तुम्हीं हो। तुम जो करोगे, ठीक ही करोगे।"

आश्वस्त होकर बोधा ने जो कुछ बताया वह इस प्रकार है :

कल शिवा-बलि के समय जो अपशकुन हुआ उससे धर्मप्राण महाराज अशोक चल्ल बहुत विचलित हुए। अपनी कुटिया तक पहुँचते-पहुँचते उन्हें ज्वर आ गया। राजपुरोहित ने देवी के चरणोदकों से उपचार किया पर ज्वर नहीं उतरा। महाराज अशोक चल्ल और भी विचलित हुए। कुछ देर छटपटाते रहे, फिर उन्होंने बोधा प्रधान को स्मरण किया। बोधा प्रधान से उन्होंने कहा, 'प्रधान, मैंने तुम्हें सहायता देने का वचन दिया है, पर देवी इस युद्ध की अनुमति नहीं दे रही हैं। न तो मैं वचन-भंग कर सकता हूँ, न देवी की आज्ञा का उल्लंघन कर सकता हूँ। मुझे सबसे बड़ी लज्जा यह है कि महाराजाधिराज सातवाहन आज मेरे अतिथि हैं और मैं उनकी कुछ भी सेवा करने में असमर्थ हूँ। तुम्हीं बताओ प्रधान, यह कितनी लज्जा की बात है !' बोधा प्रधान ने उचित उत्तर दिया। उन्होंने कहा कि इसमें कोई लज्जा की बात नहीं है। राजा सातवाहन देवी के आदेशों का आदर करेंगे। उन्हें कोई निराशा नहीं होगी। पर अशोक चल्ल को सन्तोष नहीं हुआ। व्याकुल होकर बोले, "नहीं प्रधान, मैं राजाधिराज को मुँह नहीं दिखा सकता। तुम मुझे महासिद्ध अक्षोभ्य भैरव के पास ले चलो। वहाँ मैं कुछ उपाय सोचूँगा।'

महाराज अशोक चल्ल पालकी में एक गुफा में पहुँचे, जहाँ अक्षोभ्य भैरव विराजमान थे। बोधा प्रधान ने देखा कि वे व्याघ्र-चर्म पर आसीन थे, सामने छोटी-सी उग्रतारा की मूर्त्ति थी जो काले पत्थर को काटकर बनायी गयी थी। अक्षोभ्य भैरव लाल रंग की एक चादर से आच्छादित थे। उनके पास पानपात्र भी पड़ा हुआ था। उनकी आँखें लाल थीं, सिर पर रोली का तिलक एक प्रकार से पोता हुआ ही था। उसमें जवाकुसुम का एक दल चिपका हुआ था। वे जोर-जोर से स्तोत्र-पाठ कर रहे थे। बोधा प्रधान को लगा कि उन्होंने कभी इस मनुष्य को देखा है। उनके केश में जटाएँ बँध गयी थीं, मूँछें और दाढ़ी भी लटिआई-सी दीख रही थीं, होंठ बहुत मोटे थे और स्वर मेघ-निःस्वन के समान गम्भीर था। महाराज अशोक चल्ल ने बड़ी श्रद्धा से उन्हें प्रणाम किया और बोधा प्रधान ने भी उन्हीं का अनुकरण किया। अक्षोभ्य भैरव स्तोत्र-पाठ में लगे रहे। ऐसा लगा कि उन्होंने महाराज को देख तो लिया पर ऐसा भाव किया कि देख नहीं रहे हैं। थोड़ी देर में स्तोत्र समाप्त हुआ। उन्होंने देवी को शिरसा प्रणाम किया। थोड़ी देर तक ध्यान की मुद्रा में बैठे रहे। फिर कुछ मुद्राएँ कीं और सबसे निश्चिन्त

होकर महाराज की ओर दृष्टिपात किया। महाराज अशोक चल्ल ने सारी परिस्थितियों से उन्हें अवगत कराया। उन्होंने बोधा प्रधान का परिचय भी दिया और उनसे प्रार्थना की कि इस परिस्थिति में करणीय क्या है, यह जानने के उद्देश्य से ही वे अवधूतपाद को कष्ट देने आये हैं।

अक्षोभ्य भैरव ने आँख मूँदकर बड़ी सावधानी से सारी बातें सुनीं। फिर वे देवी की ओर मुँह करके बैठ गये। देर तक वे अँगड़ाई और जमुहाई लेते रहे। कभी वे क्षण-भर के लिए आविष्ट हो जाते थे और फिर तुरन्त अँगड़ाई लेने लगते थे। कोई आधी घटी तक यह क्रिया चलती रही। फिर उन्होंने विकट फूत्कार किया। वे उठकर खड़े हो गये और देर तक नाचते रहे। एकाएक वे देवी की मूर्त्ति की मुद्रा में प्रत्यालीढपद होकर खड़े हो गये। उनकी जीभ निकल आयी। वे आविष्ट भाव से धाराप्रवाह बोलने लगे, 'अरे अधम अशोक, तू मर चुका है। तुझमें रंच-मात्र भी प्राण-शक्ति नहीं रह गयी है। तूने अपना वचन पालन नहीं किया। तू प्राणों के भय से देवी की उपासना कर रहा है। शाकम्भरी क्षेत्र से तेरे पुरखे भागकर आये थे। उन्होंने मिथ्याचार किया। वे मरने से डरते थे। तू उग्रतारा के क्षेत्र में रहकर भी वही कायरता दिखा रहा है। तू मरना नहीं जानता। तू जीना भी नहीं जान सकेगा। तू देवी का झूठा उपासक है। सारे देश में धर्म पर संकट छाया हुआ है, बहुओं और बेटियों की लाज जा रही है, मन्दिर और तीर्थ विध्वस्त हो रहे हैं, ब्राह्मण और श्रमण अनाथ हो गये हैं, दीन प्रजा अनाथ होती जा रही है, झूठे कुलाभिमान और पाखण्ड से धरती कसमसा उठी है, लहलहाते शस्यक्षेत्र कपोत-कर्बुर भस्म से आच्छादित हो रहे हैं,क्षीर समुद्र में महाविष्णु का आसन हिल उठा है और तू देवी से पूछ रहा है कि क्या करना चाहिए! मूर्ख, नपुंसक, तू राज्य चाहता है। राज्य उसे मिलता है जो राज्य दे देता है। पाषण्ड, देवी के मन्दिर बनवाकर तू अपने क्लैव्य को ढकना चाहता है? भाग जा मेरे सामने से; पापी, मूर्ख, नपुंसक, दूर हो यहाँ से! देवी का सच्चा भक्त आ गया है। निछावर करदे अपना सर्वस्व उसके चरणों में। बोल, देवी का कोप दूर करना चाहता है तो अभी प्रतिज्ञा कर कि लोभ और मोह छोड़कर, सबकुछ अतुल-पराक्रम महाराजा सातवाहन को भेंटकर देगा। बुला अपने कोषाध्यक्ष को, अपने सेनापति को! देवी के पादमूल में निश्छल होकर प्रतिज्ञा कर कि मनसा-वाचा-कर्मणा तू अन्यथा नहीं करेगा।'

भैरव के प्रत्येक वाक्य से महाराज अशोक चल्ल को धक्का लगता गया। धक्के-पर-धक्के खाकर महाराज चल्ल विचलित हो गये। अभिभूत की भाँति, नेय की भाँति, अपदार्थ की भाँति वे हाथ जोड़कर खड़े हो गये और बोले, 'सब स्वीकार है, सब स्वीकार है, मैं केवल देवी के कोप का प्रसादन चाहता हूँ।'

अक्षोभ्य भैरव फिर नाच उठे। उन्होंने विकट ताण्डव किया। उनकी जीभ पूरी-की-पूरी बाहर निकल आयी। आँखों से सचमुच ही स्फुलिंग निकलने लगे। वे फिर प्रत्यालीढपद मुद्रा में खड़े हो गये। फिर बोधा की ओर देखकर बोले,

'अरे ओ कायर विद्याधर के चेले, तू प्रतिज्ञा कर कि अशोक चल्ल ने जो-जो वचन जिस-जिस को दिया है, उसे तेरा निर्वीर्य भगोड़ा गुरु और मूर्ख महाराज सातवाहन पूरा करेंगे। मूर्ख, तूने पुरुषोत्तम क्षेत्र के प्रसाद को सर्वात्मना स्वीकार न करके अपने महाराज को तमोगुण के गर्त में ढकेल दिया है। महाराजाधिराज रानी चन्द्रलेखा से विच्युत होकर निःशक्त हो गया है। तेरी मूर्खता और क्लीव आदर्श के कारण ही सातवाहन व्यर्थ निष्प्रयोजन झूठी वीरता का स्वांग रचता फिरता है। आ, देवी के चरणों में बैठकर प्रतिज्ञा कर कि अशोक चल्ल के सभी वचनों की रक्षा करेगा, जय-पराजय की घात में बैठकर कर्त्तव्य से नहीं कतरायेगा, भगवान् पर पूर्ण आस्था रखकर उनका प्रसाद स्वीकार करेगा, विद्याधर के निर्वीर्य कलंक को धोने का प्रयत्न करेगा, देवी के आदेश से प्रजा में आत्मबल का संचार करायेगा। भाग्यवंचित, तू रानी को क्यों नहीं खोजता ? तेरे गुरु ने मिथ्या प्रचार के बल पर समर जीतने का ढोंग रचा है। अरे ओ मूढ़, देवी न हिन्दुओं की होती है, न मुसलमानों की, न बौद्धों की। जहाँ सत्य है, जहाँ पर दुःख से विचलित न होने की भावना है, जहाँ वीरता है, जहाँ निर्भीकता है, जहाँ सहज भाव है, वहीं तारा का निवास है।'

अभिभूत की भाँति बोधा ने सब स्वीकार कर लिया। वे उस समय सोच ही नहीं सके कि सातवाहन या विद्याधर की ओर से कुछ वचन देना उनके अधिकार के बाहर की बात है। इस बीच अशोक चल्ल ने सेनापति और कोषाध्यक्ष के नाम आदेशपत्र लिख लिया और देवी के चरणों में भक्ति-भाव से छोड़ दिया। अक्षोभ्य भैरव ने और भी उग्र नृत्य किया। उनकी नसों से विविध भाँति की ध्वनियाँ निकलती रहीं। रह-रहकर वे व्याकुल भाव से चिल्ला उठते थे—'जगत्तारिणी, जगत्तारिणी!' अन्त में उनकी छाती तन गयी। वे एकदम धनुषाकार देवी के पादमूल में लुढ़क गये। बोधा प्रधान भय से कातर हो उठे। जीवन में पहली बार वे आवेश-जड़ कण्ठ से चिल्ला उठे, 'जगत्तारिणी, जगत्तारिणी!' अशोक चल्ल मूर्च्छित हो गये। अक्षोभ्य भैरव भी संज्ञाशून्य पड़े रहे। बोधा प्रधान की हृदयगति रुकने लगी थी। इसी समय अक्षोभ्य भैरव की संज्ञा लौट आयी। वे बिल्कुल सहज भाव से बैठ गये और देवी की ओर मुँह करके एक श्लोक का स्तोत्र पढ़ने लगे। कई बार सुनने के कारण बोधा को भी वह याद हो गया। आवेश की-सी अवस्था में वे भी भैरव के साथ उस श्लोक का पाठ करने लगे। बोधा ने मुझे वह श्लोक सुनाया :

प्रत्यालीढपदार्पिताङ्घ्रिशवहृद् घोराट्टहासा परा
खड्गेन्दीवरकर्त्रिखर्परभुजा हुंकारबीजोद्भवा।
खर्वा नीलविशालपिङ्गलजटाजूटोग्रनागैर्वृता
जाड्यं न्यस्य कपालके त्रिजगतां हन्त्युग्रतारा स्वयम्।

मुझे स्मरण आया कि धीर शर्मा कल इसी श्लोक को 'फेत्कारिणी तन्त्र' में लिखा कहकर पढ़ने जा रहे थे।

बोधा ने बताया कि उन्होंने प्रत्यक्ष देवी को मूर्ति में से निकलते देखा। उनके चार हाथों में से एक में खड्ग था, एक में नीलकमल था, एक में कैंची थी और एक में खर्पट था। देवी नीलरंग की थीं; उनके ललाट की आँख से ज्वाला निकल रही थी; उनके केश पिंगल वर्ण के थे। आकृति उनकी छोटी ही थी, उसमें चारों ओर नाग लिपटे हुए थे, कटिदेश में व्याघ्रचर्म जैसे-तैसे झूल रहा था। वे प्रत्यालीढ़पदा मुद्रा में खड़ी थीं। दाहिना पैर सीधा दण्डाकार जमा हुआ था और बायाँ पैर थोड़ा ऊपर उठा था और बंकिम भाव से दाहिने पर स्थित हो रहा था। उस पैर की शोभा अद्भुत थी। उसके ऊपर जावक से श्री-चक्र-जैसा कुछ बना हुआ था और तलवे में लाल कमल उभरा था। उसमें नूपुर भी था। देवी ने विकट अट्टहास किया और अक्षोभ्य भैरव के ललाट को स्पर्श किया। उन्होंने थोड़ा आगे बढ़कर अशोक चल्ल के ललाट को भी स्पर्श किया। उस समय वे झुकी हुई थीं। उनकी कटिदेश की मेखला की किंकिणियाँ मृदु भाव से आन्दोलित हुईं, बायें चरण का नूपुर झनझना उठा और शिथिल श्यामालता के समान झूलती हुई बायीं भुजाओं पर पिंगल केश झूल पड़े। उनके नील कपोल पर स्मित की वक्ररेखा इस प्रकार छा गयी मानो घन-मसृण मेघमाला पर बिजली की रेखा कौंध गयी हो। उन्होंने दाहिने हाथ के खड्ग से अशोक चल्ल के ललाट का स्पर्श किया और तुरन्त बोधा की ओर झुककर उनके सिर पर खड्ग की धार मृदु भाव से रख दी। बोधा को रोमांच हो आया। उन्हें भय लगा, परन्तु तुरन्त ही देवी के स्मयमान मुख को देखकर ढाढ़स भी बँधा। क्षण-भर में यह सब-कुछ हो गया। अशोक चल्ल उठकर बैठ गये। बोधा साध्वस-वश उठके खड़े हो गये। देवी अन्तर्धान हो गयीं।

अक्षोभ्य भैरव ने अशोक चल्ल को विश्राम करने का आदेश दिया। वे उदास मन से एक ओर चले गये। फिर बोधा को दोनों पत्र देते हुए कहा, 'ले जा, यथोचित कर।' बोधा को जान पड़ा जैसे उनकी संज्ञा लौट आयी हो। उन्होंने अपनी स्वीकृति पर विचार किया तो कातर होकर बोले, "प्रभो, मैं बिना समझे-बूझे अपने अधिकार से बाहर चला गया हूँ। आज्ञा हो तो महाराजाधिराज सातवाहन से निवेदन करूँ कि वे श्रीचरणों की सेवा में उपस्थित होकर सब-कुछ समझ लें।' इस पर अक्षोभ्य भैरव एकदम बिगड़ उठे। कड़ककर बोले, 'पाषण्ड, तू समझता है मैं राजाओं को अपनी कुटिया में बुलाने के लिए यह सब ढोंग रच रहा हूँ? जो वचन तूने देवी को दिये हैं, उनका पालन कर, नहीं तो नरक में जा। मैं कुछ भी नहीं जानता।' बोधा का मन सनाका खा गया। वे सचमुच ऐसा सोच चुके थे। वे चुपचाप सिर झुकाये बैठे रहे। फिर अक्षोभ्य भैरव ने प्रसन्न होकर कहा, 'विद्याधर की भाँति तू भी उत्तरदायित्वों से भागने का प्रयत्न करता है। तूने जो स्वीकार किया है, वह सब तेरे अधिकार के भीतर है। तू अशोक चल्ल के पास राजा का प्रतिनिधि होकर ही तो आया है। विद्याधर तेरी ही तरह सोचकर कान्यकुब्ज छोड़कर भाग गया था। जा, ऐसी बातें न

कर। तेरा राजा यदि तेरी बातों से मुकरता है तो यह सब तेरा हो जायेगा। तुझे अपनी हड्डी-पसलियों को जलाकर वचन पालन करना होगा। जा, यहाँ से जल्दी चला जा। देवी ने तेरे सिर पर कृपाण की धार रख दी थी। अब भी तुझे डर लगता है पाषण्ड ?'

निरुपाय होकर बोधा ने प्रणाम किया और मेरे पास आये। मैं तब भी सो रहा था। फिर वे सेनापति और कोषाध्यक्ष के पास गये। उन्हें पत्र दिया और उनसे बातचीत करके फिर मेरे पास आये। सेनापति और कोषाध्यक्ष को महाराज अशोक चल्ल का आदेश मिल चुका था। उन्होंने बताया कि ये दोनों पत्र महाराज के पास रहेंगे। उन्होंने बोधा को आश्वासन दिया कि वे प्रतिक्षण महाराजाधिराज सातवाहन की प्रत्येक आज्ञा के लिए प्रस्तुत हैं। उन्होंने स्वयं महाराजा की सेवा में उपस्थित होने का निश्चय किया है।

बोधा प्रधान ने जो दो पत्र दिखाये, भूर्जपत्र पर लाल रोली से लिखे हुए थे। पत्र के अन्त में महाराज अशोक चल्ल ने अपने तीन वचनों के न पालन किये जाने का भी उल्लेख कर दिया था। एक वचन था, किसी तुर्क सेनापति के जाल से भद्रकाली भैरवी का उद्धार; दूसरा था, उस अज्ञातनामा तुर्क सेनापति का शिरश्छेदन और तीसरा था, बोधा प्रधान और महाराज सातवाहन को युद्ध में सहायता देने की प्रतिज्ञा। यह पत्र लिखकर अशोक चल्ल ने तीसरा वचन तो पूरा ही कर दिया था। रह गये दो।

मैंने हैरान होकर पूछा, "प्रधान, यह कौन सेनापति है जिसका सिर उतारना होगा? उसका अपराध क्या है, कहाँ रहता है? फिर यह भद्रकाली भैरवी कौन है? ये सब बातें जाने बिना इस विषय में कैसे कुछ किया जा सकता है?"

बोधा प्रधान चुपचाप कुछ सोचने लगे।

मेरे मन में बहुत-से विचार आते-जाते रहे। बोधा प्रधान ने बताया है कि अक्षोभ्य भैरव ने आविष्ट अवस्था में बोधा प्रधान को इसलिए भी फटकारा है कि उन्होंने पुरुषोत्तम क्षेत्र के प्रसाद को सर्वात्मना स्वीकार नहीं किया। बोधा नहीं जानते कि मैं इसका अर्थ समझता हूँ। यह प्रसाद मैना है। कदाचित् मेरे मन में मैना के प्रति ऐसा मोह है जिसे नीलतारा के उपासक अक्षोभ्य भैरव जानते हैं और मैं अपने को उससे छिपाने का प्रयत्न करता हूँ। [यह मोह ही कदाचित् तमोगुण का गर्त्त है। फिर विद्याधर भट्ट रानी के बारे में मिथ्या प्रचार कर रहे हैं, यह भी उन्होंने जान लिया है। मैं नहीं जानता। बोधा प्रधान ने जो कुछ कहा है, उससे स्पष्ट है कि अक्षोभ्य भैरव उनके भीतर की गूढ़ चिन्तनाओं को आसानी से जान लेते हैं। क्या रहस्य है इसमें? क्या बोधा प्रधान उस समय ऐसी ही कोई बात सोच रहे थे? क्या देवी की आराधना से मनुष्य ऐसी सिद्धि पा जाता है, जो सामने बैठे हुए मनुष्य की विचार-तरंगों को पकड़ लेने में समर्थ हो जाये? रानी को खोजने का क्या अर्थ है? क्या रानी जीवित हैं और ऐसी जगह चली गयी हैं जो प्रधान को नहीं मालूम? मैंने अधिक जानने की इच्छा से बोधा प्रधान

से फिर प्रश्न किया, "प्रधान, यह पुरुषोत्तम क्षेत्र का प्रसाद और रानी को खोजने की बात समझ में आयी नहीं, क्या तुम्हें इस विषय में ज्ञात है ?"

बोधा प्रधान को उत्तर देने में संकोच हुआ। एक बार मेरी ओर देखकर फिर आकाश की ओर देखते हुए बोले, "पुरुषोत्तम क्षेत्र जगन्नाथपुरी को कहते हैं न महाराज ?"

"हाँ, कहते तो उसी को हैं।"

"क्या रहस्य है कुछ समझ में नहीं आता। फिर कभी पूरी कथा सुनाने की अनुमति चाहता हूँ। इतना बता दूँ कि एक बार मैंने मैना को—जब वह नन्ही-सी बालिका थी और मैं दस-ग्यारह साल का बालक था—पुरुषोत्तम तीर्थ में प्रमादवश गोद में ले लिया था। उस समय पुजारी ने कहा था कि 'मूर्ख, यह प्रसाद तूने बीच ही में ले लिया।' यही कदाचित् पुरुषोत्तम क्षेत्र का प्रसाद है, जिसकी ओर भैरव का संकेत था। मैं बड़ी उलझन में पड़ गया हूँ। धर्मावतार, मैंने इस प्रसाद को कभी स्वीकार नहीं किया—आंशिक भाव से भी नहीं, सर्वात्मना भी नहीं। यह क्या देवता के प्रति अपराध है ?"

"है तो।"

"तो कदाचित् यही अपराध हो।"

"प्रसाद तो ग्रहण करना ही पड़ता है प्रधान !"

"यह कैसा प्रसाद हुआ स्वामिन् ! मेरी तो समझ में नहीं आता।"

"कभी अपने गुरु से परामर्श किया था ?"

"कभी नहीं।"

"और रानी के खोजने का क्या तात्पर्य है ?"

"यह बात भी रहस्य-सी ही लगती है महाराज ! मुझे जितना ज्ञात है, उतना बता सकता हूँ। उस दिन आप निःसंज्ञ हो गये तो मैंने आपको सुरक्षित स्थान पर पहुँचाया। मैना ने मेरी सहायता की। रानी उस समय संज्ञाशून्य थीं। उन्हें दूसरी बार ले जाने का निश्चय किया था। लौटकर आया तो भगवती विष्णुप्रिया जल चुकी थीं। कहते हैं, जब उन्होंने आश्रम में रक्तपात देखा तो क्रोध और करुणा से उनके मुँह से निकला—'हे भगवान् !' और उनके शरीर से ज्वाला निकली और वे जल गयीं। कुछ घुण्डक साधु कहीं वन में छिपे थे। उन्होंने यह दृश्य देखा तो डर गये। वे ही आगे चलकर भट्टपाद की शरण में आये। उनके ही भीतर धर्म-भाव प्रथम जाग्रत हुआ और घुण्डकों की संगठित मण्डली में दरार पड़ने का कारण हुआ। उन्होंने ईश्वर से प्रार्थना की, उनका अपराध मार्जित हो। उन्होंने ही बताया कि भगवती के जलते ही रानी और अलहना जी उठे। उन्होंने रानी को आकाश में दशभुजा दुर्गा के रूप में उठते भी देखा। मैंने भट्टपाद से पूछा था। उन्होंने कहा, 'कोई हानि नहीं है, यह बात प्रचारित होगी तो हमारे लिए अच्छा ही होगा।' इससे अधिक मैं नहीं जानता। मैना को यह बात झूठ मालूम हुई। किन्तु मैंने भट्टपाद की बात का अर्थ यह समझा है कि

रानी जीवित हैं। कहाँ हैं, यह बात ठीक-ठीक नहीं बता सकता।"

सचमुच रहस्य क्या है! मैं क्षण-भर तक कुछ निश्चय नहीं कर सका कि इस विषय में बोधा से और क्या पूछूँ।

मुझे मौन देखकर बोधा ने ही कहा, "मुझे ऐसा लगता है कि रानी जीवित हैं और भट्टपाद ने उनको परिचर्या के लिए कहीं सुरक्षित स्थान में रखा है। वे इस युद्ध में विजय पाने के बाद सारा भेद खोलेंगे।"

"अर्थात् युद्ध में मिथ्या प्रचार के द्वारा सफलता पाने की दुराशा से भट्टपाद ने रानी को छिपा रखा है?" मेरे मन में रोष का भाव आया।

बोधा ने कहा, "नहीं धर्मावतार, ऐसा कैसे हो सकता है। भट्टपाद बहुत-सी बातों में विश्वास करते हैं। वे शुभ लग्न, शुभ अवसर, शुभ विधि, सबका ध्यान रखते हैं। पता नहीं, इस सम्बन्ध में वे क्या सोचते हैं! पर और बहुत-सी बातें भी तो हैं, जिन पर हमें सोचना है।"

बोधा ने प्रसंग बदलना चाहा, यह स्पष्ट था। मैं समझ गया। बोला, "हाँ, और भी बातें हैं। भद्रकाली का कुछ पता लगा?"

बोधा प्रधान भी मेरा मनोभाव समझ गये। मैंने उनके मनोभावों को समझने का प्रयत्न किया और उन्होंने मेरे। वे प्रसन्न हुए और हँसकर बोले, "धर्मावतार, सेवक ने कुछ पता लगाया है।"

मैंने उत्सुकतापूर्वक पूछा, "क्या पता लगा प्रधान?"

बोधा ने कहा, "बड़ी करुण कथा है धर्मावतार! अक्षोभ्य भैरव मिथिला के श्रोत्रिय ब्राह्मण हैं। ओदन्तपुरी के निकट जो नालन्द विहार है, उसमें देश-देशान्तर से आये विद्वान और साधु शास्त्र-चर्चा किया करते थे। पता चला है कि वहाँ अष्टोत्तर शत विहार थे। वहाँ बौद्ध और शाक्त आगमों के बड़े-बड़े विद्वान् और साधक निवास करते थे। जब तुर्क सेनापति बख्तियार ने उस स्थान पर अधिकार किया, मन्दिरों और विहारों को ध्वस्त कर दिया और वहाँ के विशाल पुस्तक-मन्दिर को जला दिया, तो विद्वान् और साधु या तो मार डाले गये या जिसे जो रास्ता सूझा, उससे उसे भागना पड़ा। नालन्दा का विद्यामन्दिर देखते-देखते जन-शून्य हो गया। पुस्तकालय कई दिन तक जलता रहा; हथौड़ों की चोट से कई दिन तक मूर्त्तियाँ टूटती रहीं। केवल दो साधु वहाँ रह गये—प्रधान आचार्य राहुल भद्र और तारापीठ के अनन्य सेवक अक्षोभ्य भैरव। राहुल भद्र बहुत वृद्ध थे। तुर्कों ने उनकी आयु को देखकर उन्हें छोड़ दिया, परन्तु अक्षोभ्य इतने वृद्ध नहीं थे। वे सारी उथल-पुथल के बीच निश्चल बने रहे। तारा का मन्दिर छोटा ही था। तुर्कों ने उसे सबसे अन्त में तोड़ने का निश्चय किया।

"अक्षोभ्य भैरव ने अन्त तक न तो मन्दिर छोड़ा और न मूर्त्ति पर हाथ लगाने दिया। वे निहत्थे मन्दिर-द्वार पर जूझते रहे। पर अकेले कहाँ तक जूझते! सैनिकों ने उनकी जटा पकड़कर घसीटना शुरू किया। क्रुद्ध सैनिक उचित-

अनुचित का विचार छोड़कर अक्षोभ्य को घसीटते हुए ओदन्तपुरी की ओर ले चले। अक्षोभ्य उस अवस्था में भी प्रतिरोध करते जा रहे थे। वे प्रायः मूर्च्छित हो चुके थे। अचानक एक झाड़ी से एक युवती और एक युवक निकले और दनादन डण्डों से सैनिकों पर प्रहार करने लगे। सैनिकों की भुजाएँ टूट गयीं, उनके हाथ की तलवारें गिर पड़ीं और वे मूर्च्छित होकर गिर गये। दो-तीन सैनिक पीछे थे। उन्हें इस अप्रत्याशित आक्रमण की आशंका नहीं थी। जब तक वे घटना-स्थल पर पहुँचे, तब तक युवक ने तलवार उठा ली। युवती भी तलवार लेने को झुकी। परन्तु सैनिकों ने हल्ला बोल दिया। युवक अकेला ही तीन सैनिकों से जूझने लगा। युवती ने तलवार उठा तो ली, पर चलाने का उसे अभ्यास नहीं था। वह दूर से ही तलवार भाँजती रही। इसी समय अक्षोभ्य भैरव की संज्ञा लौट आयी। वे उठकर बैठ गये। उन्हें परिस्थिति को समझने में थोड़ा विलम्ब हुआ। इस बीच युवती करुण भाव से चीख उठी। अक्षोभ्य भैरव के हाथ उस युवक का डण्डा लग गया। उन्होंने बैठे-बैठे ही सैनिकों की कमर पर कसकर डण्डे मारे। वे इधर-उधर देखने का अवसर भी न पा सके। लगातार डण्डा चलाते गये। दो सैनिक धराशायी हो गये। एक भाग गया। युवक भी भहरा गया। क्षण-भर में पाँच मनुष्य मर गये। बच रहे केवल दो।

"अक्षोभ्य ने सिर उठाया तो कुररी की भाँति कातर चीत्कार करती हुई उस युवती को देखा। वह अपूर्व सुन्दरी थी। पता लगाने पर उन्हें ज्ञात हुआ कि जो युवक मर गया है, वह इसी युवती का भाई था। इन सैनिकों ने गाँव में लूट-खसोट की थी और इस युवती के माता-पिता और एक भाई को मार डाला था। भाई-बहनों ने तय किया था कि वे बदला अवश्य लेंगे, चाहे प्राण ही क्यों न चले जायें। इसीलिए वे यहाँ झाड़ी में छिपे थे। भाई तो प्रण पूरा करके स्वर्ग चला गया, बहन बच गयी और अनाथ हो गयी। अक्षोभ्य का मन करुणा और कृतज्ञता से भर गया। वे भी रो पड़े। न जाने क्यों उनके मुख से उस युवती के लिए 'भद्रकाली' सम्बोधन निकला। वे बोले, 'भद्रकाली, तू भगवती जगत्तारिणी का साक्षात् विग्रह है। शोक न कर, मैं जब तक जीवित हूँ, सदा तेरे पिता, माता और भाई के स्थान पर रहूँगा। तू मेरी माँ है क्योंकि तूने मुझे प्राण दिया है। तू मेरी बहन है क्योंकि मैं तेरे भाई के स्थान पर हूँ, तू मेरी बेटी है क्योंकि मैंने तेरा पितृत्व स्वीकार कर लिया है।' यद्यपि भद्रकाली का जन्म तथाकथित अस्पृश्य कुल में हुआ था; तथापि अक्षोभ्य ने उसे बड़े स्नेह से पाला और अपने विश्वास के अनुसार शाक्त-साधना में दीक्षित किया। भद्रकाली भैरवी यही युवती है।

"कोई छः महीने बाद अक्षोभ्य को फिर विपत्तियों के भँवर में पड़ना पड़ा। कहते हैं कि कोई तुर्क सेनापित भद्रकाली के रूप पर रीझ गया और उसने बड़ी क्रूरता के साथ अक्षोभ्य को पिटवाया। अक्षोभ्य को कसकर बाँध दिया गया और उनकी आँखों के सामने भद्रकाली का अपहरण किया गया। वह रोती-चीखती चली गयी। अक्षोभ्य असहाय भाव से ताकते रह गये। कई दिन तक किसी को

साहस नहीं हुआ कि वह अक्षोभ्य का बन्धन खोले। अन्त में, जयदेव नामक किसी ब्राह्मण धनी[27] व्यक्ति ने उनके बन्धन खुलवाये। क्रोध और विवशता से अक्षोभ्य काँपते हुए उठे। जयदेव से उन्होंने प्रार्थना की कि वे भद्रकाली का उद्धार करने में सहायक बनें, पर जयदेव ने अपनी असमर्थता की बात कही। उन्हीं दिनों अशोक चल्ल वहाँ गये हुए थे। उन्होंने कई मन्दिरों की मरम्मत करायी। अक्षोभ्य के साधना-स्थान को भी उन्होंने फिर से बनवाया और नयी तारा-मूर्ति की स्थापना की। उसी समय अक्षोभ्य की विद्या और साधना से प्रभावित होकर उन्होंने तुर्क सेनापति के शिरश्छेदन और भद्रकाली के उद्धार के वचन दिये। कठिनाई यह आयी कि अक्षोभ्य उस सेनापति का न नाम बता सके और न यही पता लगा सके कि भद्रकाली भैरवी कहाँ ले जायी गयी है। अशोक चल्ल ने, बाद में, इस कार्य को असम्भव समझ लिया और चुप हो रहे। जयदेव नालन्द विहार के बचे-खुचे भिक्षुओं की सहायता करते रहने के कारण तुर्कों के कोपभाजन बने और कारागार में डाल दिये गये। हताश होकर अक्षोभ्य इधर चले आये।"

बोधा प्रधान इतना कहकर चुप हो गये। उन्होंने शून्य में अपनी दृष्टि गड़ा ली। मैंने पूछा, "प्रधान, इस वचन के पालन में तो पुण्य ही होगा, पर अपराधी का कुछ पता-ठिकाना भी तो होना चाहिए।"

बोधा प्रधान ने संक्षिप्त उत्तर दिया, "हूँ!"

"तुमने कुछ और बातें नहीं मालूम कीं प्रधान?"

"थोड़ी-सी और बातें भी ज्ञात हुई हैं धर्मावतार!"

"क्या?"

"विशेष कुछ नहीं। यही कि भद्रकाली भैरवी कैसी थी।"

"कैसी थी?"

"अक्षोभ्य भैरव से कुछ पूछने में डर लगता है धर्मावतार! वे बहुत चिड़-चिड़े हो गये हैं। पर मैंने साहस करके उनसे पूछा तो मालूम हुआ कि भद्रकाली बहुत सुन्दरी थी। उसका रंग यद्यपि श्यामल वर्ण का है तथापि उसकी बड़ी-बड़ी आँखें, पतले होंठ, शुकतुण्ड नासिका और प्रशस्त ललाट उसे लाखों में एक बना देते थे। उसके केश एड़ी तक लहराते थे। वह नियमित रूप से सप्तशती के ग्यारहवें अध्याय का मधुर स्वर में पाठ कर सकती थी। उसे कुछ योगासन और मुद्राएँ सिद्ध थीं। बस इतना ही।"

"इससे तो कोई विशेष सहायता नहीं मिलती प्रधान!"

"हाँ धर्मावतार, किन्तु पता चल ही जायेगा।"

"अच्छा, मुझे ये सब वचन पालन करने ही होंगे।"

इसी समय महाराजाधिराज सातवाहन का जय-निनाद करते हुए कुछ सैनिकों सहित सेनाध्यक्ष उपस्थित हुए।

28

पण्डितों के आशीर्वाद और वन्दीजनों के कीर्त्तिगान के समारोह में एक बड़ा लाभ यह हुआ कि जल्हन से परिचय हो गया। इस किशोर कवि के कण्ठ में कुछ ऐसा आकर्षण था कि मैं मुग्ध भाव से देर तक उसके मुख से अपना कीर्त्तिगान सुनता रहा। यह अन्य वन्दीजन की घिसी-पिटी रूढ़िबद्ध सूखी स्वामिस्तुति नहीं थी, हृदय से निकली हुई उल्लासपूर्ण वीरस्तुति थी। उसमें उद्बोधन की शक्ति थी और सच्चे हृदय से निकली हुई ओजपूर्ण प्रेरणा थी। कवि भूल गया था कि वह किसी प्राकृत पुरुष की स्तुति कर रहा है और मैं भूल गया था कि कविता मेरी प्रशस्ति के लिए सुनायी जा रही है। यमक, अनुप्रास और पदसंघट्टना का महत्त्व जैसा मैंने आज अनुभव किया, वैसा इसके पहले कभी अनुभव नहीं कर सका था। उसके छन्द भाषा के पंख जान पड़ते, जिनके बल पर वह अर्थ के बन्धन से बहुत ऊपर उड़ान ले रहे रही थी। समान उच्चारणवाले शब्द एक के बाद एक इस प्रकार उतरते जा रहे थे जैसे शिक्षित मल्लों की सेना वेग से पदताल मिलाती हुई किसी निश्चित लक्ष्य की ओर बढ़ती जा रही हो। रह-रहकर उसके स्वर में कम्पन आता था और ध्वनियों की लकीर बल खा उठती थी। महाराजाधिराज सातवाहन उस वाणी के बहाना-मात्र थे। वह खण्ड-विच्छिन्न देश के पराजित गौरव की मर्मवेदना थी, राजपूती गौरव के ध्वस्त हो जाने की आशंका की व्याकुल पुकार थी, सुप्त वीरता को जगाने की अनुद्धत ललकार थी।

आवेश-जड़ित कण्ठ से कवि ने कम्पमान स्वर में कहा, 'सूर्य, चन्द्र और अग्नि के पुत्रो, क्या बेखबर सो रहे हो? धरती कसमसा उठी है, नगाधिराज की पथरीली छाती में दरार पड़ती दिखायी दे रही है। गंगा-यमुना की शीतल धारा सूखती नजर आ रही है, भूकम्प आ रहा है, अन्धकार का भयंकर कोप संसार को ग्रस्त करने जा रहा है। किस दिन तुम्हारा तेज काम आयेगा? किस दिन के लिए इस पवित्र धरती ने अन्न उँडेल-उँडेलकर तुम्हारा पालन किया था? उठो, जागो, एक हो जाओ! आर्यावर्त की पवित्र भूमि आज अपने गरवीले पुत्रों की क्षुद्रता, आलस्य और फूट से त्राहि-त्राहि कर उठी है—उठो, जागो!'

कवि की वाणी काँप रही थी, उसकी आँखों से चिनगारी झड़ रही थीं और मस्तक पर छोटे-छोटे स्वेदकण उभर आये थे। मगर इस कवि के पास इन सारी बातों का एक ही उपचार था—तलवार! झमाझम टपकते रहनेवाले शब्द ऐसी ध्वनि-शृंखलाओं का निर्माण करने लगते थे जैसे तलवारें झनझना रही हों, जुझाऊ बाजे बज रहे हों, भैरवों और योगिनियों के अट्टहास का कोलाहल मुखर हो उठा हो। कवि का अव्याज-मनोहर मुख बड़ा ही कमनीय था। मैंने उसे रोक लिया। सबके चले जाने के बाद जब केवल दो ही व्यक्ति रह गये— जल्हन और

बोधा—तो मैंने कवि से उसका परिचय प्राप्त किया।

जल्हन, महाराजाधिराज पृथ्वीराज के सभा-कवि और सखा चन्दबलद्दिय (चन्दबरदायी) का पुत्र था। उसमें योग्य पिता के योग्य पुत्र होने का गर्व था। वह अपने को अन्य पेशेवर कीर्त्तिगायकों से भिन्न समझता था। इसलिए वह अन्य भाटों से भिन्न श्रेणी का पहनावा भी धारण करता। उसके लम्बे विकुंचित केश कन्धे पर झूल रहे थे। ललाट पर लाल रोली की बिन्दी दीपक की तरह जल रही थी। हल्के लाल रंग का उसका आगुल्फ-लम्बित चोल कमर के पास उसी रंग के मोटे रेशमी पट्टे से बँधा था और उसमें बत्तीस अंगुलोंवाली छोटी तलवार गाढ़े लाल रंग के कोश में बँधी लटक रही थी।

जल्हन कोई ऐसी बात नहीं कह पाता था जिसमें उसके समर्थ पिता की चर्चा न आती हो। अशोक चल्ल के पास उसके आने का कारण भी पिता का वचन था। उसने बताया कि महाराज पृथ्वीराज निरंकुश शासक थे। कभी-कभी उनके अविचारित कार्यों से संकट उपस्थित हो जाया करता था। ऐसे अवसरों पर केवल उसके पिता ही उनकी बाग सँभाल सकते थे। कदम्बवास मन्त्री की उन्होंने जो हत्या की, वह निरा लड़कपन था। देवी की कृपा से जल्हन के पिता चन्द ने उस हत्या का रहस्य जान लिया था। पृथ्वीराज हत्या करके स्वयं लज्जित थे और पाप को छिपाना चाहते थे। भरी सभा में जल्हन के पिता चन्दबलद्दिय ने उस पाप का भण्डा फोड़ा था। यह केवल उन्हीं का शौर्य और साहस था कि वे पृथ्वीराज से अपनी गलती मनवा सके।

हाहुलीराय जैसे महान् वीर सामन्त को अपमानित करके पृथ्वीराज ने अपना राज्य ही संकट में डाल दिया था। जलन्धर का स्वामी हाहुलीराय दिल्ली का ढाल था। चन्दबलद्दिय का ही यह चातुर्य था कि हाहुलीराय फिर से दिल्ली की सहायता को तैयार हुए थे। शुरू में तो हाहुलीराय ने क्रोधवश चन्दबलद्दिय को तीन दिन तक कारागार में बन्द कर रखा था, परन्तु अपार धैर्य था जल्हन के पिता में। हाहुलीराय दुर्गा का उपासक था। वह चन्दबरदायी की दुर्गाभक्ति से प्रभावित हुआ था। अशोक चल्ल उस समय बालक थे। उन दिनों वे अपने मामा हाहुलीराय के यहाँ पल रहे थे। जल्हन भी बालक था। अपने पिता के साथ वह जलन्धर गया था। हाहुलीराय न जाने क्यों उस बालक को बहुत प्यार करने लगे थे। हो सकता है कि चन्दबलद्दिय और पृथ्वीराज के प्रति जो वे अनुकूल हुए उसमें इस बालक के स्नेह का भी हाथ रहा हो। उसी समय अशोक चल्ल और जल्हन में मित्रता हो गयी। अनुकूल होने के बाद चन्दबलद्दिय और हाहुलीराय जलन्धर पीठ की देवी वज्रेश्वरी के मन्दिर में विजय की प्रार्थना करने गये थे। हाहुलीराय को खड्ग-सिद्धि प्राप्त थी। कहा जाता है कि उनका खड्ग अपने-आप शत्रु-व्यूह में घुसकर कुहराम मचा देता था। देवी को प्रणाम करने का उनका ढंग यह था कि वे खड्ग को आकाश में उछालते थे और वह आकाश में कावा काटकर देवी के पादमूल में आ गिरता था। उस समय उसकी नोक देवी के चरणों

का हल्का स्पर्श करती थी। परन्तु इस बार वज्रेश्वरी ने उसका प्रणाम स्वीकार नहीं किया। खड्ग आसमान से गिरा और धरती पर आकर दो टुकड़ों में बिखर गया। जल्हन के पिता और हाहुलीराय इस दुर्निमित्त से चिन्तित हो उठे।

जल्हन ने और भी बताया कि जब उसके पिता और हाहुलीराय मन्दिर से लौटे तो उनका चेहरा उतर गया था। हाहुलीराय तो बहुत विचलित थे। उनके मुख पर काली छाया उभर आयी थी, पपनियों के नीचे नीली रेखा खिंच आयी थी, आँखें मुरझाये कचनार के समान धूमिल होकर छितरा गयी थीं। वे रह रह-कर दीर्घ निःश्वास लेते थे। दोनों बालकों ने अपने पिता और मामा की अवस्था देखकर चुपचाप रहस्य जानने के लिए वज्रेश्वरी मन्दिर की राह ली।

आधी रात बीत चुकी थी। चारों ओर सन्नाटा था। वज्रेश्वरी के मन्दिर के चारों ओर उन दिनों जंगली झाड़ दूर तक फैले हुए थे। दोनों बालक निर्भय भाव से बढ़े जा रहे थे। मन्दिर का द्वार बन्द देखकर उन्होंने पिछवाड़े की ओर जाकर देखा कि कोई और द्वार है या नहीं। पिछवाड़े की दीवारों से हल्की प्रकाश-रेखा छिटकी हुई थी और गुग्गुलु के धूम और पिसे हुए लवंग की सुगन्धि आ रही थी। उत्सुकता और कुतुहल के कारण दोनों बालक दरार से आँख सटाकर भीतर का दृश्य देखने लगे। दृश्य बड़ा ही भयानक था।

मन्दिर के वृद्ध पुजारी मन्त्र जप रहे थे। उनके सामने एक छोटे तिकोने कुण्ड में अग्नि जल रही थी जिस पर मिट्टी के कड़ाहीनुमा पात्र में दूध रखा हुआ था। दूसरी ओर मन्दिर की सेविका घुटने टेककर एक दृष्टि से कड़ाह के दूध को देख रही थी। पुजारी ने बुरी तरह अंग मरोड़ा और एक बार भयावनी आवाज में ललकारने का-सा अभिनय किया। दूध उफनने लगा। वह आग में भी गिरा। एक दुर्गन्धि का झोंका दरार छेदकर बाहर आया जिससे दोनों बालक कुछ विचलित हुए। परन्तु भीतर के दृश्य के लिए उत्सुकता इतनी तीव्र थी कि वे आँखें गड़ाये रहे। सेविका को आवेश आया। शुरू-शुरू में तो वह अपने सारे अंगों को मरोड़ती-भर रही। पर एकाएक पुजारी की कड़ाके की ललकार से वह एकदम उत्क्षिप्त-सी हो उठी। वह खड़ी हो गयी। फिर उसका अद्भुत ताण्डव शुरू हुआ। नाचते-नाचते वह विवस्त्र हो गयी। परन्तु उसमें मानो संज्ञा थी ही नहीं। पुजारी ने आग के पास मुँह रखकर ऊपर की ओर फूँक मारी और उससे जलती लपटों की लम्बी धारा ऊपर की ओर उठी। सेविका और भी उन्मत्त भाव से नाचने लगी। अब उसने विचित्र स्वर में चिल्लाना शुरू किया। 'हाहुलीराय पापी का साथ देने जा रहा है, मेरे भक्त कदम्बवास के हत्यारे की सहायता करने जा रहा है, मैं उसका प्रणाम नहीं ले सकती।' पुजारी ने हाथ जोड़कर कहा, 'भगवती, हाहुलीराय का अपराध मार्जित हो, वह वचन दे चुका है।' आविष्ट सेविका ने कहा, 'इस बार नहीं, इस बार नहीं। बार-बार मेरी अवज्ञा करता है। करनाटी पर जिसने कुदृष्टि डाली, कदम्बवास को जिसने मार डाला, उस पापी का साथ देकर वह मेरा आशीर्वाद नहीं पा सकता।' 'उपाय बताओ भगवति, क्रोध में कैसे

काम होगा ?' ग्राविष्ट सेविका ने कहा, 'मैं नहीं, उग्रतारा रक्षा करेगी। उसी की शरण में जाये।' पुजारी ने कहा, 'विलम्ब होगा देवि !' 'तो सत्यानाश को जाये !' पुजारी ने गिड़गिड़ाकर कहा, 'क्षमा करो देवि, क्षमा करो !' 'कह दे कि हाहुली-राय ग्रौर चन्द ग्रपने उत्तराधिकारियों को उग्रतारा की शरण में भेजें।'

दोनों बालक भय के मारे भाग खड़े हुए। परन्तु बाद में पुजारी के कहने पर ग्रशोक चल्ल ग्रौर जल्हन उग्रतारा की उपासना के लिए पंचवट प्रदेश को भेज दिये गये। हाहुलीराय ने भानजे को ही उत्तराधिकारी बनाया था।

जल्हन ने कई बार बताया कि कदम्बवास ग्रौर करनाटी के प्रसंग में उसके पिता चन्द का महाराज पृथ्वीराज से जो मतभेद हुग्रा वह ग्राजीवन बना रहा। यद्यपि चन्द स्वामीभक्त धर्म का पालन बराबर करते रहे ग्रौर उन्होंने कभी भी यह प्रकट नहीं होने दिया कि उनके मन में कोई ग्रन्यथा भाव है, तथापि वे भीतर-ही-भीतर ग्रनुतप्त ग्रवश्य होते रहे। जल्हन ने बताया कि यद्यपि उसने करनाटी को स्वयं नहीं देखा था, पर सारा शाकम्भरी क्षेत्र उसके गुणों पर मुग्ध था ग्रौर उसका शाकम्भरी लक्ष्मी के रूप में सम्मान करता था। उसमें रूप ग्रौर लावण्य तो था ही, शील ग्रौर सौजन्य भी उसमें परिपूर्ण भाव से विद्यमान थे।

जल्हन ने सोत्साह कहा, "धर्मावतार, कदम्बवास गुणों के दास थे। यह उनका ही प्रताप था कि देश-देश के कवि, गायक ग्रौर वाद्य-विशारद उनके दरबार में एकत्र हुए थे। उनके समय में शाकम्भरी भूमि गुणियों से भरी रहती थी। करनाटी उन्हीं के ग्रौदार्य से वहाँ न जाने कहाँ से खिंच ग्रायी थी। मैंने सुना है महाराज कि वह तालों की रानी थी। उसके पदविक्षेपों में छन्द उभरते रहते थे, पैरों से वह जैसा चाहती थी वैसा वातावरण बना लेती थी। एक बार कदम्बवास मन्त्री ने उसे कठिन नृत्य का ग्रादेश दिया था। कहा था, 'करनाटी, तुम क्या ऐसा नृत्य कर सकती हो जिससे ग्राधी सभा रोये ग्रौर ग्राधी सभा हँसे ?' करनाटी ने बड़ी विनम्रता से उत्तर दिया, 'दासी को जैसी ग्राज्ञा मिलेगी, उसी का शक्ति-भर पालन करेगी। केवल इतनी ग्राशा रखती हूँ कि उस दिन पहले से किसी को इस बात की सूचना न दी जाये।' मन्त्री ने इस शर्त को स्वीकार कर लिया।

"बड़ा भारी ग्रायोजन हुग्रा। करनाटी ने एक दिन पूर्व से तैयारी की थी। किसी को कुछ पता नहीं था। करनाटी ने उस दिन ग्रद्भुत नृत्य किया। उसके नृत्य का ग्रारम्भ एक करुण गीत के साथ हुग्रा। लोग बताया करते हैं कि वह गान उसका स्वयं का रचा हुग्रा था। ग्रत्यन्त कातर भाव से किसी प्रेमी ने किसी चिरन्तन प्रेमिका को ग्रात्मार्पण किया था। करनाटी के कोमल कम्पमान स्वर में स्नान करके वह ग्रात्मनिवेदन बहुत ही ग्रार्द्र होकर निकला। मार्दङ्गिक ने ताल दिया ग्रौर निपुण कलाकार के पदसंचार से करुणा की सहस्रधारा इस प्रकार ऊर्ध्वमुख उत्क्षिप्त हुई जैसे सहस्रधारायन्त्र से वारिधारा उच्छ्वसित हो उठती है। गान की ध्रुवा रह-रहकर करुण कम्पन उत्पन्न करने लगी, सभासदों की ग्राँखें गीली हो गयीं। स्वयं कदम्बवास इस मोहक मदिर करुण संगीत से प्लावित हो

उठे ।

"मगर उन्होंने आश्चर्य और कुतूहल से देखा कि तिरस्करिणी (पर्दे) के पीछे बैठी हुई सभी महिलाएँ हँसी से लोट-पोट हो रही हैं। करनाटी की प्रत्येक थिरकन जहाँ पुरुष श्रोताओं का हृदय मसल देती थी, वहीं हर महिला-श्रोता मुँह में आँचल देकर लहालोट हो जाती थी। मुँह का आँचल महिलाओं की किलकारी को दबाने में एकदम असमर्थ सिद्ध हो रहा था। इस विचित्र बात ने मन्त्री को चकित कर दिया। पुरुष-वर्ग महिलाओं के औद्धत्य से थोड़ा चिन्तित भी हुआ। चाचा कन्ह तो इतने क्रुद्ध हुए कि बीच में ही डाँट पड़े। उनके हस्तक्षेप से नृत्य बीच में ही रुक गया। करनाटी ने निरीह भाव से हाथ जोड़कर क्षमा माँगी। कदम्बवास ने अचरज के साथ पूछा, 'यह क्या बात है करनाटी ?' करनाटी ने हाथ जोड़कर पवित्र स्मिति के साथ कहा, 'धर्मावतार की आज्ञा थी।' कदम्बवास हैरान थे। उन्होंने सभासदों को जब यह बताया कि आज करनाटी को आधी सभा को हँसाने और आधी सभा को रुलाने का आदेश था तो सभासदों ने करनाटी के जय-जयकार से आकाश कम्पित कर दिया। सबने यही समझा कि करनाटी को कोई सिद्धि प्राप्त है। कदम्बवास को इस रहस्य का पता तब चला जब वे अन्तःपुर में गये ।

"हुआ यह कि जब कदम्बवास रनिवास में पहुँचे तो उनकी पत्नी चंगदेई ने हँसकर उनका स्वागत किया और देर तक हँसती रहीं। तब भी उन पर उस विचित्र नृत्य की मादकता छायी हुई थी। वे स्वभाव से ही गम्भीर थीं। मन्दस्मित ही उनके अधरों पर टिक सकता था। कदम्बवास ने उसे कभी इस प्रकार खिलकर निकलते नहीं देखा था। चकित होकर उन्होंने कारण पूछा। चंगदेई ने यह रहस्य बताया। बात यह हुई कि करनाटी ने एक लाल रेशमी पट पर दो चित्र बना लिये थे। एक था एक बहुत भोंड़ी शक्लवाला कुबड़ा बौना, जो हाथ जोड़कर प्रेमकातर मुद्रा में बैठा था; दूसरा चित्र था एक अपूर्व सुन्दरी बाला का जिसकी भवें क्रोध और घृणा से तनी हुई थीं। करनाटी ने अपने चुन्नटदार चोल की बायीं ओर इसे लटका लिया था। उसे इस सावधानी से सिया गया था कि जब करनाटी का बायाँ अंग महिलाओं की ओर आता था तो वह फट खुल जाता था। यह बात विचित्र चारिका के कारण होती थी। प्रत्येक थिरकन के साथ कुबड़ा बौना सुन्दरी के चरणों पर गिर जाता था और तुरन्त सुन्दरी के हाथ उसे धकेलकर लुढ़का देते थे। हर करुण मूर्च्छना के समय महिलामण्डल की ओर करनाटी का हाथ झूल जाता था और उँगलियाँ उस दृश्य का निर्देश कर देती थीं। पुरुष-वर्ग जहाँ भक्ति के करुण आवेग में बह जाता था वहीं महिलाओं के सामने यह दृश्य उपस्थित हो जाता था और सारा करुण तत्त्व हास्यरस का अंग बन जाता था। आरम्भ में एक-दो स्त्रियों ने इस दृश्य को लक्ष्य किया, बाद में कानों-कान बात फैल गयी। वे उत्सुकतापूर्वक प्रतीक्षा करती थीं कि कब वह दृश्य उपस्थित होगा और उन्हें अधिक हँसने का अवसर मिलेगा। नृत्य के आघूर्णन वेग के चढ़ाव के

साथ भोंडे प्रेमिक का लुढ़कना भी तेज होता गया। स्त्रियों की हँसी ने बाँध तोड़ दिया। इसी समय चाचा कन्ह क्रोध से तिलमिलाकर चिल्ला उठे। नृत्य बन्द हो गया। महिलाएँ हँसी से लोट-पोट होती हुई अपने-अपने घर चली गयीं। रहस्य जहाँ-का-तहाँ रह गया।

"दूसरे दिन मन्त्री ने बड़ी धूम-धाम के साथ सरस्वती भवन का उत्सव कराया और अत्यन्त सम्मान के साथ करनाटी को 'कारुनटी' के लोक-विश्रुत विरुद से सम्मानित किया। परन्तु यह सम्मान उन्हें महँगा पड़ा, क्योंकि इसी के परिणामस्वरूप कदम्बवास की हत्या हुई। 'कारुनटी' भागकर कान्यकुब्जेश्वर की राज-सभा में चली गयी। पिताश्री ने दीर्घ निःश्वास लेकर कहा था—शाकम्भरी की लक्ष्मी चली गयी।"

जल्हन की वाग्धारा अभी भी शिथिल नहीं हुई थी। वह कुछ और कहना चाहता था, परन्तु बोधा ऊब गये थे। उन्होंने बीच में ही कह दिया, "दूत आया है महाराज!"

जल्हन को इस बतकटाव से क्लेश हुआ। वह और भी बोलना चाहता था। मेरे उत्तर देने के पूर्व ही बोल उठा, "हाहुलीराय को मनाने के लिए पिताजी ही दूत भी बने थे। उन्होंने मना लिया था, पर देवी की इच्छा कुछ और ही थी। जब हाहुलीराय के साथ वे दुबारा मन्दिर में गये तो बहुत स्तुति करने पर भी वे बोली नहीं।[28] पिताजी निराश हो गये। हाहुलीराय ने उन्हें मन्दिर में ही रोक लिया और स्वयं सुलतान के पास चले गये। वहाँ से भी उन्हें निराश लौटना पड़ा। पिताजी के प्रयत्नों से वे पृथ्वीराज की ओर उन्मुख हुए। हम दोनों को नीलतारा की उपासना की आज्ञा देकर वे लौट गये। पर देवी की इच्छा के विरुद्ध दौत्य की सफलता का भी क्या मूल्य है!"

बोधा को थोड़ा रुकने का संकेत करके मैंने जल्हन से कहा, "निराश हो गये हो कवि?"

जल्हन को मानो चोट लगी। बोला, "चन्द का पुत्र होकर निराश होऊँगा धर्मावतार? नहीं, मैं निराश नहीं हूँ। बात यह है कि जब पिताजी ने नील सरस्वती उग्रतारा की उपासना के लिए मुझे आज्ञा दी तो मैंने पूछा, 'पिताजी, क्या साहस के साथ आक्रमणकारी से जूझना धर्म नहीं है? इसके लिए देवी की अनुमति क्यों लेनी पड़ती है? यदि आक्रमणकारी से युद्ध करना धर्म है तो देवी ऐसा करने की आज्ञा क्यों नहीं देती?'

"पिताजी ने दीर्घ निःश्वास लिया। बोले, 'बेटा, मैं कवि हूँ। कई बार मुझे ऐसा लगता है कि मैं जो बोल रहा हूँ वह मेरी सोची-समझी बातों से एकदम अलग है। कई बार मेरे चित्त में जो उठता है वह वाणी की रस्सी पकड़कर कहीं ऐसी जगह चला जाता है जो चित्तगत आरम्भिक विचारों से एकदम भिन्न होता है। मैंने कई बार सोचा कि ऐसा क्यों होता है। मुझे ऐसा लगता है कि मेरे अन्तरतर में कोई और बैठा है जो मेरी वाणी में छन्दों के पर बाँध देता है और वह

प्रयोजनों की दुनिया से ऊपर—बहुत ऊपर, विपुल व्योम में—उड़ने लगती है। ऊपर-ऊपर से मैं भी संसार के और दस आदमियों की तरह धन्धे का आदमी हूँ। परन्तु जब उस देवता का उल्लास मेरी वाणी के साथ मुखर होता है तो कुछ और हो जाता हूँ। मेरी वाणी में लाख-लाख लोगों की आशाओं और आकांक्षाओं के स्वर झंकृत हो उठते हैं। यही देवता मेरी वाग्देवी है। वह जनचित्त की समष्टि-शक्ति से भिन्न और कुछ नहीं है। जब मेरी वाणी इस समष्टि-शक्ति के स्वर में नहीं बोलती तो मैं समझता हूँ, देवी नहीं बोल रही हैं। मेरी वाणी उस समय मुर्दा हो जाती है। मैं कुछ कारण नहीं जानता। इतना जानता हूँ कि देवी नहीं बोल रही हैं। जन-चित्त की समष्टि-शक्ति ही वह विशेष बात है जो कवि को कुछ और बना देती है। वही शक्ति आज मौन है। मैं सत्वगुणात्मिका शुक्ल सरस्वती का उपासक रहा हूँ। समष्टि-चित्त की ज्ञान-रूपा शक्ति ही यह शुक्ल सरस्वती है। समष्टि-चित्त की दो और शक्तियाँ हैं—इच्छा-शक्ति और क्रिया-शक्ति। नीलसरस्वती या उग्रतारा क्रिया-शक्ति हैं। ऐसा जान पड़ता है कि देवी समष्टि-चित्त की क्रिया-शक्ति की उपासना चाहती है। बेटा, तू देवी की पत्थर की मूर्त्ति को सब-कुछ न मान ले। यह तो आरम्भ है। इस मूर्त्ति की उपासना करके क्रमशः तू समूचे देश की क्रिया-शक्ति का जाड्य नष्ट करने जा रहा है। रुक न जाना बेटा, मुझसे जो नहीं हो सका उसे तुझे करना है। देवी नहीं चाहतीं कि एक-दो वीर तलवार भाँजकर वीरता का स्वाँग भरें। वे चाहती हैं, समूचे मानव-चित्त की सक्रियता। याद रख इस बात को—देवी अर्थात् समष्टि-चित्त की ज्ञान-शक्ति, इच्छा-शक्ति और क्रिया-शक्ति। भगवती नीलतारा की उपासना से तू क्रिया-शक्ति के उद्बोधन का व्रत लेने जा रहा है। जा बेटा, देवी तेरा मंगल करे।' "

जल्हन क्षण-भर निश्चेष्ट होकर समाधिस्थ-सा हो गया। फिर बोला, "मेरी उपासना ठीक नहीं चली। अशोक चल्ल क्रिया-शक्ति की उपासना करते-करते निष्क्रिय हो गये। उन्होंने ज्ञान-शक्ति और इच्छा-शक्ति को एकदम भुला दिया। मैं क्रिया-शक्ति की आराधना कम और अशोक चल्ल की आराधना अधिक करने लगा। समष्टि-चित्त की क्रिया-शक्ति अब भी निश्चेष्ट है। भगवती उग्रतारा आज भी विमुख हैं। क्या होगा धर्मावतार ?"

उदास जल्हन का मुँह और भी कमनीय हो आया। भीतर की वन्ध्य उपासना भोलेपन के रूप में हाहाकार कर उठी।

मैंने बोधा को दूत को बुलाने की आज्ञा दी। जल्हन थोड़ी देर वैसे ही बैठा रहा। फिर एकाएक बोल उठा, "मैंने स्वप्न में देखा है महाराज, कि कारुनटी तपस्या कर रही हैं। उनकी गोद में भगवती नीलतारा क्रिया-शक्ति के रूप में अवतरित हुई हैं। इस स्वप्न का क्या अर्थ हो सकता है महाराज ?"

मुझे धक् से लगा। मैना—भगवती उग्रतारा—समष्टि-चित्त की क्रिया-शक्ति ?

जल्हन नित्य आता है, तरह-तरह के समाचार सुना जाता है। जब से शाह का दूत मैत्री का सन्देश दे गया है, बोधा का दर्शन दुर्लभ हो गया है। जल्हन ही सब समाचार सुनाया करता है। यह शाह दिल्ली के सुलतान का कोई भूतपूर्व सेना-पति है। कहते हैं, इसी ने नालन्दा को जीता था। अब इस शाह के परिवार को सुलतान ने बन्दी बना लिया है। उसका दोष यह था कि उसने सीदी मौला से बहुत-सा सोना बनवा लिया था और किसी भी समय विद्रोहियों की सहायता से सुलतान को सिंहासन से अलग कर सकता था। शाह अब विद्रोही हो गया है। पास ही कहीं उसने राजधानी बना ली है। सबसे अचरज की बात यह सुनी कि वह इस पवित्र भूमि से विदेशियों को निकाल बाहर करने की प्रतिज्ञा ले चुका है। दिल्ली के सुलतानों को वह सुलतान ही नहीं मानता। सब गुलाम हैं—चित्त के दरिद्र, आचरण के अभद्र और चरित्र के अपावन। यह भी सुना है कि वह अपने को पवित्र शाही सम्राटों का—जो कभी गज़नी के ब्राह्मण-वंशी शासक थे—वंशज मानता है। यहाँ तक पता चला है कि विद्याधर भट्ट से भी उसने सम्पर्क स्थापित किया है।

ठीक प्रामाणिक समाचार तो नहीं मिला, पर जल्हन ने बताया है कि उसे विद्याधर भट्ट ने इस अनुबन्ध के साथ सहायता देने का वचन दिया है कि वह मुझसे मैत्री स्थापित कर ले। बोधा प्रधान वास्तविक परिस्थिति का पता लगाने गये, सो गये। आज दस दिन से मैं उनकी प्रतीक्षा में हूँ। अशोक चल्ल के मन्त्री और सेनापति आते हैं और नित्य आदेश माँगते हैं। अब चुप बैठना कठिन हो गया है। इस समय रानी और मैना की बहुत याद आ रही है। जल्हन विश्वास-पूर्वक कह जाता है कि रानी आकाशमार्ग से उड़ती हुई कामरूप से सोमतीर्थ तक जनता में आत्मविश्वास का सन्देशा दे रही हैं। पर जल्हन ने स्वयं उन्हें नहीं देखा है, केवल जनता में फैली हुई किंवदन्तियों को सुना देना कर्त्तव्य समझकर सुना देता है। दस दिन से असमंजस की अवस्था में हूँ। आज जल्हन ने बातों-बातों में ही बताया कि अक्षोभ्य भैरव से मिल लेना अच्छा होगा। वे प्रायः रात्रि के प्रथम प्रहर में मिलना पसन्द करते हैं। आज मैंने उनसे मिलने का निश्चय किया है। सिद्ध-पुरुष हैं, कुछ मार्ग बता सकते हैं। अक्षोभ्य भैरव जैसे सिद्धपुरुष से मिलने के लिए जल्हन की बतायी विधियों का दिन-भर पालन किया है, उपवास किया है, नीलतारा के नाम का जप किया है, ध्यान किया है। अब प्रस्तुत हूँ, जल्हन आ जाये तो चल पड़ूँगा। सूर्यास्त होने जा रहा है।

उस दिन आकाश में बादल विरल भाव से फैले थे। हिमालय की शोभा का वर्णन करते हुए इस महान् पर्वत की धातुमयी लाल अधित्यकाओं को काले-काले

शिखरों से विभक्त देखकर कालिदास ने अकाल सन्ध्या की उपमा ढूँढ़ी थी—बरसात की वह सन्ध्या जो अस्त होते हुए सूर्य की लाल-लाल किरणों से आसमान को लाल पटम्बर के रूप में खिला देती है परन्तु जिस पर काले-काले बादल बीच-बीच में आकर विचित्र कारुकार्य की शोभा बिखेर देते हैं। आज वह उपमेय तो नहीं दीख रहा है, पर उपमान प्रत्यक्ष है। लाल-लाल नभोभूमि पर काले और सफेद, कहीं-कहीं सिन्दूरी राग से अरुणायित किनारीवाले मेघखण्डों की विभक्ति। कैसी विचित्र शोभा है! और इस शोभा को सौ गुणा बढ़ा देता है, पृष्ठभूमि की सुनहरी आभा से सजा गिरिशृंग। किस अज्ञात सुन्दरी ने इस बेल-बूटेवाली रंगीन चुनरी से शृंगार किया है?

मैं मुग्ध भाव से इस शोभा को निहारने लगा। यह जो आसमान में इतना राग-रंग बिखर जाता है, वह क्या व्यर्थ का आयोजन है? कौन ढाल देता है इतनी अनुराग-दीप्ति? किसलिए? क्या प्रकृति की अज्ञात भाषा में कोई चिरन्तन अनुराग-नाटक खेला जा रहा है? कौन लोग हैं इसके पात्र? समझ नहीं पा रहा हूँ। कल देखा था, बच्चे खेल रहे हैं गुड़ियों का खेल। मिट्टी की धूल से घर बनाये थे, सरकण्डों की छाजन, पत्तों की कपाट। मिट्टी की गुड़ियों का घर बसाने का खेल चल रहा था। बच्चे थे। बड़े होंगे तो समझ जायेंगे कि यह सब झूठी कल्पना है, खेल है, विनोद है। बड़े होने पर कदाचित् अपनी ही बालबुद्धि पर उन्हें हँसी आयेगी। एक क्षण बाद विचार आया, क्या मैं और बड़ा हो जाऊँगा तो इस समय जो कर रहा हूँ, वह भी बच्चों का खेल लगेगा!

कौन जाने, 'और बड़ा' होना क्या है? अभी भी मन में यही आता है कि 'और बड़ा' होना बाकी है; जब हो जाऊँगा तो आज का सब-कुछ खेल जान पड़ेगा। घरौंदों का खेल, गुड़ियों का घर बसाना! इस 'बलाहकच्छेदविभक्तरागा' सन्ध्या को देखता हूँ तो मन में प्रश्न उठता है, क्या ज्ञान में कुछ और वृद्धि होने पर यह मौन भाषा भी समझ में आने लगेगी? हृदय के अन्तरतर से पुकार उठ रही है, यह सम्भव है। भाषा सीखते-सीखते सीखी जाती है। जिस भाषा का अर्थ समझ में नहीं आया उसका अर्थ है ही नहीं, यह कैसे कहा जा सकता है! यह आकाश-भरा तारकमण्डल, उल्लासमुखर चंचल पवन, उद्धूम अग्निशिखा की समता करनेवाला सन्ध्याकालीन गिरि-कुहर, सबका अर्थ होना चाहिए। समझ में नहीं आ रहा है। कितना समझ पाया हूँ? इस विपुल ब्रह्माण्ड में जो कोलाहल सुनायी दे रहा है, वह क्या निरर्थक है? यह जो जय-पराजय की विलक्षण महत्त्वाकांक्षा है, वह क्या ऊपर-ऊपर से जैसे दिखायी दे रही है, वैसी ही है? नहीं, कुछ गहराई में और होना चाहिए। जितना दीख रहा है, उतना ही सब-कुछ नहीं है। कुछ और है, कुछ और है। पर क्या है? सीमाबद्ध मस्तिष्क की तरंगें पछाड़ खा-खाकर तीर पर सिर मार रही हैं—कुछ और है, पर क्या है?

जल्हन आया। इस कमनीय-वदन किशोर-कवि को देखकर चित्त अकारण आह्लादित हो उठता है। आज उसने विचित्र वेश धारण किया है। नीचे का

पंचकक्ष धौत वस्त्र कदाचित् कौशेय वस्त्र है, लाल-लाल कौशेय रेशम। ऊपर बायें कन्धे से दाहिने कक्ष को पार करनेवाला उत्तरीय लाल है, पर कौशेय नहीं है। कदाचित् अतसी की छाल से बननेवाला चीनांशुक है, बहुत महार्घ। ललाट पर लाल रोली का तिलक है। सिर पर नौका के समान दीखनेवाली हल्की टोपी है। लाल वह भी है। पंचकक्ष कौशेय की दाहिनी ओर थोड़ा-सा निकला हुआ उपवीत-सूत्र भी लाल है। अकाल सन्ध्या की शोभा के साथ कवि के अद्भुत वेश का विचित्र अनुप्रास साम्य है। तुक मिल रही है। अच्छा भी लग रहा है।

जल्हन ने इधर प्रचलित प्रथा के अनुसार झुककर अभिवादन किया। उसके स्मयमान मुख पर आज नया आह्लाद मुखर था—"महाराजाधिराज की जय हो! मैं भगवती नीलतारा का दर्शन करके आ रहा हूँ। आज मैं ब्राह्ममुहूर्त्त में ही उठकर स्नानादि से निवृत्त होकर भगवती के मन्दिर में जाने को प्रस्तुत हुआ। आश्चर्य है महाराज, ज्यों ही मैंने द्वार पर से प्रथम पग उठाया कि तारस्वर से कुक्कुट बोल उठा। यह बड़ा शुभ शकुन है। अन्तिम प्रहर में स्वस्थ होकर जब कुक्कुट तारस्वर में बोलता है तो राजा का परम कल्याण होता है। कुक्कुट की प्रथम ध्वनि हर समय तारस्वर की नहीं होती। इस क्षेत्र में कुक्कुट प्राय: ही रात को बोला करता था; वह भी मन्द स्वर में। वह अशुभ था। मैंने प्रथम बार ब्राह्ममुहूर्त में उसे तारस्वर में बोलते सुना। इस शुभ शकुन से मेरा उल्लास चौगुना हो गया। यह बात असत्य नहीं हो सकती महाराज! वराहमिहिराचार्य को नील-सरस्वती सिद्ध थीं। वे जो कुछ कह गये हैं उसमें तिल-मात्र इधर-उधर नहीं हो सकता। स्वस्थ भाव से प्रातःकाल कुक्कुट का तारस्वर से पुकारना केवल राजा के लिए नहीं, राष्ट्र और पुर के लिए भी मंगलजनक होता है।[29] और भी आश्चर्य यह है महाराज, कि मैं उस समय सचमुच राष्ट्र, पुर और राजा की बात सोच रहा था।"

जल्हन की सरलता-भरी बात से मुझे प्रसन्नता ही हुई। हँसकर कहा, "कुक्कुट तो प्रातःकाल बोलता ही है कवि! इसमें इतना उल्लसित होने की क्या बात है?"

आश्चर्य से आकर्ण-विस्फारित दीर्घ नयनों से देखता हुआ कवि बोला, "बोलता है महाराज, इसीलिए आचार्य ने 'स्वभावविरुतानि' कहा है। जैसा तारस्वर से आज बोला, वैसा पहले कभी नहीं बोला था। सब भाषा क्या हमारी समझ में आती है? जिन लोगों ने भगवती नील-सरस्वती को सिद्ध कर लिया है, वे कुछ समझते हैं। वराहमिहिर ऐसे ही सिद्धपुरुष थे।" फिर थोड़ा रुककर जल्हन ने मानो उपदेश देते हुए कहा, "कोई भी भाषा निरर्थक नहीं होती महाराज! जो समझ में न आये, उसे निरर्थक नहीं मानना चाहिए। जो लोग जान चुके हैं, उन पर विश्वास करके ही तो हम भाषा का अर्थ जानते हैं।"

मुझे धक्-से लगा। कुछ क्षण पहले मैं यही तो सोच रहा था। जल्हन के सरल विश्वास पर सन्देह करने का मुझे क्या अधिकार है? मुझे भी तो लग

रहा है कि सब समझ में नहीं आ रहा है। कौन जानता है, अज्ञात भाषाओं में किसकी कौन-सी इच्छा अभिव्यक्ति पा रही है।

"ठीक कहते हो कवि, सब भाषाएँ समझ में नहीं आतीं, इसीलिए निरर्थक नहीं होतीं।"

जल्हन आश्वस्त हुआ, बोला, "भगवती नीलतारा के मन्दिर से निकला महाराज, तो एक छोटे-से झबरीले दमनक गुल्म की शाखा पर श्यामा पक्षी का जोड़ा 'चिरिलु-चिरिलु' शब्द करता हुआ चारा बाँट रहा था। यह और भी शुभ शकुन है। धर्मावतार ! दमनक की शाखाओं पर श्यामा पक्षी का बैठना अत्यन्त दुर्लभ योग है। यह भगवती नीलतारा का शुभ संकेत है। आज सचमुच बड़े मंगल का दिवस है। इसका आरम्भ भी उत्तम हुआ है और अन्त भी मंगलजनक दीख रहा है। परमसिद्ध अक्षोभ्य भैरव के दर्शन का ऐसा सुयोग दूसरा नहीं हो सकता। प्रस्तुत हों महाराज, अभी शुभ मुहूर्त्त है।"

मैं प्रस्तुत हो गया।

अन्धकार में पर्वतभूमि दुर्गम हो जाती है। टेढ़ी-मेढ़ी पगडण्डियों से हम दोनों आगे बढ़े। जल्हन मार्ग दिखाता जा रहा था। मैं चुपचाप पीछे-पीछे चल रहा था। जल्हन चुपचाप चल रहा था, इससे मैंने अनुमान किया कि नीलतारा का नाम जपता जा रहा है। मैंने भी ऐसा ही करना उचित समझा और मन-ही-मन नीलतारा का नाम जपने लगा। कोई एक घटी तक इसी प्रकार चलते-चलते मैं ऊब गया। क्षण-भर में मैंने आविष्कार किया कि ऊपर-ऊपर से मैं 'नीलतारा-नीलतारा' कहता जा रहा हूँ, पर भीतर रानी और मैना का ध्यान करता आ रहा हूँ। हर बार मुझे लगता था कि देख रहा हूँ कि रानी आकाशमार्ग से उड़ी जा रही हैं। मेरी कल्पना की दृष्टि में उनकी साड़ी का पल्ला वायुवेग से फहराता जा रहा है, शैवाल जाल के समान चिकुर सम्भार विस्रस्त भाव से पीछे की ओर लहराता जा रहा है। वे परिश्रम से कातर हैं, मुख विवर्ण है, अधरोष्ठ सूखे हुए हैं, आँखें फटी-फटी-सी हैं। फिर मेरे सामने आती मैना—रानी की सखी, उदास, म्लान, श्रान्त ! लगता, मैना अपनी प्राणाधिका दीदी की क्लान्ति नहीं दूर कर पा रही है। हाय, श्रान्त-क्लान्त रानी को सदा आश्वस्त करने की क्षमता रखनेवाली मैना कहाँ है ?

मुँह में नीलतारा, हृदय में रानी और मैना ! यह कैसा मिथ्याचार है ?

मैंने मौन भंग किया, "जल्हन, भगवती का ध्यान नहीं कर पा रहा हूँ। चित्त चंचल है। कुछ कहो।"

जल्हन सरल भाव से बोला, "चित्त की चंचलता तो भगवती की ही लीला का नाम है धर्मावतार ! चित्त चंचल होता है, इसीलिए भगवती की आराधना आवश्यक होती है। पिताजी कहा करते थे कि भगवती की आराधना दो प्रकार की होती है। एक तो जब आराधक का चित्त चंचल हो तो भगवती को स्मरण करना, दूसरी, जब भगवती का स्मरण किया जाता हो तो आराधक का चित्त

चंचल हो जाना। दोनों ही अवस्थाओं में भगवती का स्मरण मंगलजनक होता है। पहली अवस्था में भगवती के उस अन्तर्निगूढ़ रूप की उपलब्धि होती है जो नाना पदार्थों के भीतर एक-रस होकर विद्यमान रहता है; और दूसरी अवस्था में भगवती के उस रूप की उपलब्धि होती है जो विविध व्यक्त पदार्थों में अभिव्यक्त हो रहा है। सभी रूप, सभी रस, सभी शब्द उन्हीं का तो रूप हैं। मन में जो भी व्यक्त रूप प्रतिभासित हो रहा है, वह सब उन्हीं के रूप का प्रतिनिधित्व करता है। भगवती के नाम का यही माहात्म्य है महाराज, कि उनके नाम के साथ-साथ जो भी रूप चित्त में उद्भासित हो, उसी के रूप में वे प्राप्त होती हैं। उनकी आराधना किसी भी अवस्था में व्यर्थ नहीं जाती।"

जल्हन ने सहज भाव से जो कुछ कहा, वह मेरे अन्तरतर को आन्दोलित और मथित करता रहा। नाम-स्मरण के समय जो रूप चित्त में प्रतिभासित होता है, वे उसी रूप मैं प्राप्त होती हैं। इस विश्वास में कितनी आस्था है! मैं नील-तारा के नाम का स्मरण कर रहा हूँ और रानी और मैना चित्त में उद्भासित हो रही हैं। क्या भगवती रानी और मैना के रूप में प्राप्त होनेवाली हैं? प्राप्त होने का क्या अर्थ है? जल्हन जो कह रहा है वह कोई बहुत बड़ी बात होनी चाहिए। उसे कदाचित् कहनेवाला भी नहीं समझ रहा है, सुननेवाला भी नहीं समझ रहा है। वह भगवती के उस आराधक के लिए कही गयी है जो जान गया है कि जो कुछ भी स्पन्दन है, वैविध्य है, नानात्व है, वह भगवती का रूप है। जो कुछ रूप-गन्ध-शब्द में अभिव्यक्त है, वह और कुछ नहीं, भगवती की ही अभिव्यक्ति है। रानी भी, मैना भी, रानी और मैना के प्रति मोह भी!

जल्हन रुका। बोला, "हम लोग आश्रम-द्वार के पास आ गये हैं। चारों ओर तृण शाद्वलों से भूमि आच्छन्न है, परन्तु यहीं कहीं महाराज को थोड़ी देर रुकना पड़ेगा। मैं भैरवपाद की अनुमति ले लेता हूँ। कुछ देर आपको अकेले रहना पड़ेगा। मैं अभी आता हूँ।" फिर थोड़ा अलग एक पेड़ के नीचे एक पत्थर का बड़ा-सा ढोंका रखकर जल्हन बोला, "यहाँ बैठकर भगवती का नाम स्मरण करें धर्मावतार! मैं अभी आया।" फिर थोड़ा रुककर बोला, "भैरवपाद कभी-कभी पाठ में लगे रहते हैं और देर तक आँख नहीं उठाते। हो सकता है कि थोड़ा विलम्ब भी हो जाये। विराजें महाराज!"

मैं बैठ गया और जल्हन आश्रम में प्रविष्ट हुआ।

सारी वनभूमि अन्धकार से आच्छन्न थी। ऐसा लग रहा था जैसे कहीं से अपार कज्जल-समुद्र उमड़ आया है और सम्पूर्ण पर्वत भूमि को ग्रास कर गया है। ऊपर आकाश में तारकपुंज चमक रहे थे, पर उनसे भी निरन्तर प्रकाश नहीं मिल पा रहा था; छिन्न मेघखण्ड प्रायः ही उन्हें आच्छादित कर लेते थे। एकाएक आश्रम-द्वार पर दो व्यक्ति दिखायी पड़े। यह नहीं मालूम हो सका कि वे किधर से आये हैं। केवल छाया की भाँति उनका शरीर दिखायी दे रहा था। आश्रम-द्वार पर क्षण-भर रुककर वे उसी ओर बढ़े जिधर मैं बैठा था। मैं सावधान हुआ।

परन्तु उनका उद्देश्य गुप्त आक्रमण नहीं था, यह स्पष्ट था क्योंकि वे स्वयं असावधान दीख रहे थे। मेरे पास से वे चुपचाप निकल गये। उनकी दृष्टि मुझ पर नहीं पड़ी। कारण भी था। मेरा बैठने का शिलाखण्ड पेड़ से सटा हुआ था और उन्होंने मेरी छाया अगर देखी भी हो तो पेड़ का ही कोई अंग मान लिया होगा। थोड़ी दूर जाकर वे एक स्थल पर पत्थर डालकर बैठ गये। वे अब मुझसे कोई दस हाथ की दूरी पर थे। मैं चुपचाप उनकी गतिविधि देखने लगा। हाथ मैंने अवश्य तलवार की मूठ पर जमा लिया था और इस प्रकार सावधान था कि किसी भी क्षण किसी आक्रमण का प्रतिरोध कर सकता था। दोनों व्यक्ति बैठ गये। उन्हें रंच-मात्र भी आशंका नहीं थी कि यहाँ तीसरा भी कोई हो सकता है। वे धीरे-धीरे किन्तु स्पष्ट सुनायी देने योग्य आवाज में बातें करने लगे।

पहला ही वाक्य मेरे अन्तरतर को आलोड़ित कर उठा। अन्धकार में छिपा हुआ मृग-किशोर एकाएक अप्रत्याशित भाव से वीणा की प्रथम झंकार सुनकर कुछ इसी प्रकार आन्दोलित हुआ करता होगा। एक ही साथ सैकड़ों भावतरंगें उल्लसित हो उठीं। प्रथम वाक्य ने मेरे श्रवणेन्द्रिय को उत्सुक बना दिया, आँखों को अधिक दृष्टि-शक्ति पाने के लिए व्याकुल बना दिया। रोम-रोम से उठी हुई उल्लास-तरंगों की चोट से आँखों के तन्तुजाल इतने चंचल हो उठे कि आँसू की धारा फूट पड़ी।

पहला वाक्य !

शब्द मैना के थे। अन्धकार में भी स्पष्ट भाव से मैनसिंह आँखों के सामने उल्लसित हो उठा। निस्सन्देह इस समय भी मैना पुरुष-वेश में ही थी। मैना ने कहा, "जानते हो प्रधान, जब पहले-पहल महाराज को मैंने देखा था तो रक्त के प्रत्येक कण से ध्वनि निकलती जान पड़ी थी—यही तेरी चरितार्थता है ? सहस्र-सहस्र जन्मों में भटकती हुई तू इसी निधि की खोज में थी। ऐसा जान पड़ा जैसे समूचा अस्तित्व विगलित हो उठा है। ऐसा क्यों हुआ ? यह क्या तमोगुण का प्रभाव था ? सच मानो प्रधान, यदि यह तमोगुण है तो संसार में सत्त्वगुण नाम का पदार्थ कहीं है ही नहीं।"

बोवा प्रधान बोले नहीं, 'हूँ' कहकर रह गये। थोड़ी देर तक कोई कुछ नहीं बोला। फिर मैना ने ही मृदु कण्ठ से कहा, "ऐसा कैसे हो सकता है प्रधान ? महाराज को मैं कैसे छोड़ सकती हूँ ? भैरव की बात का अर्थ केवल इतना ही है कि तुम्हारे चित्त में कुछ इस प्रकार का विकार है। मैं इतना अच्छी तरह समझ गयी हूँ कि ये तान्त्रिक लोग केवल उतनी बात बता सकते हैं जितनी प्रश्नकर्त्ता के मन में होती है। देखो न, दीदी ने कितना-कुछ लिखा था ! पढ़नेवाले को लग सकता है कि कोई वास्तविक अनुभूति की बात कही जा रही है। परन्तु सत्य यह है कि अमोघवज्र ने उनके अन्तरतर की वासनाओं और कल्पनाओं की मानसिक उत्सारणा की थी। लिखने की ओर प्रवृत्त करना उत्सारण का एक कौशल मात्र था। अपने मुँह से कहकर उस बात को सुनने का अवसर भी दे

सकते थे। मन में कितनी ही वासनाएँ छिपी रहती हैं प्रधान, हम सब जान भी नहीं पाते।"

"तो तुम समझती हो मैना, कि अक्षोभ्य भैरव ने मेरी वासनाओं को ही प्रकट कर दिया है?"

"अमोघवज्र विचित्र प्रकार के साधु थे। वे साधना के द्वारा प्राप्त फल को रहस्य के रूप में छिपाया नहीं करते। उन्होंने माताजी से कहा था कि मन यद्यपि प्रत्येक व्यक्ति में अलग-अलग होता है, परन्तु सब मनों को अपने-आपमें समेटने-वाला विपुल ब्रह्माण्डव्यापी एक समष्टि-मन भी है। प्रयत्न द्वारा उस समष्टि-चित्त को पकड़ा जा सकता है। उसके जितने अंश को आदमी पकड़ पाता है, उतने अंश से सम्बन्धित प्रत्येक व्यक्ति के चित्त की क्रिया-प्रतिक्रिया को बता सकता है। वे तो यह भी कहते थे कि यह कोई बड़ी बात नहीं है। यह भी छोटी जानकारी है—जिस प्रकार वैद्य विराट् जीवन के नियमों को जानकर व्यक्ति-विशेष के जीवन-तत्त्व की क्रिया-प्रतिक्रिया को समझ लेता है, बहुत-कुछ उसी प्रकार। मेरा तो पूरा विश्वास है कि तुम्हारे मन के किसी अन्तराल में यह भाव बैठा हुआ है कि महाराज मेरी ओर आकृष्ट होने से तमोगुण की ओर बढ़ रहे हैं। शायद यह बात तुम अपने से भी छिपाते हो। तान्त्रिक ने तुम्हारा चोर पकड़ा है, महाराज से उसका कोई सम्बन्ध नहीं है।"

बोधा प्रधान ने कहा, 'हुँ!' और मौन हो गये। अन्धकार की चादर में मुँह ढाँपे विशाल वृक्षों ने कहा—'हुँ!' सब-कुछ देखने-सुननेवाले आकाशमार्ग के प्रदीपवाहक नक्षत्रों ने कहा—'हुँ!' तृण-शाद्वलों के रूप में धरती की अनादि पीड़ा के रोमांच सिहर उठे—'हुँ!' मैना ठीक कह रही है। महाराज का इस तमोगुण से कोई सम्बन्ध नहीं। दिशाएँ प्रसन्न हो गयीं, दक्षिणी समीर सुख-व्यंजक झोंके से उल्लास प्रकट कर गया, मेरा हृदय पूरोत्सिद्ध तड़ाग की भाँति बाँध तोड़ने को उद्यत हुआ। ऐसा जान पड़ा जैसे हृदय पर से एक कठोर शिला अचानक भहरा गयी। हे मरुद्गण, तुम साक्षी हो, मेरा हृदय तमोग्रस्त नहीं है!

बोधा प्रधान परास्त-से हो गये थे। बड़ी कातर वाणी में बोले, "क्षमा करो मैना! तुम जो कह रही हो वह यदि सत्य है तो महाराज को मुँह दिखाने योग्य नहीं रह गया। तुम्हें भी क्या मुँह दिखा सकता हूँ! मैं सचमुच ही नहीं जानता कि मेरे मन में ऐसा पाप-भाव विद्यमान है। परन्तु जब कह रही हो तो लगता है कि यह ठीक हो भी सकता है।"

मैना इस कातर वाणी से गल गयी। उसे लगा कि उसने प्रधान के हृदय पर अनावश्यक रूप से कठिन चोट मार दी है। बोली, "बुरा मान गये प्रधान! तुमने ही तो लाड़ दे-देकर इस मैना को ढीठ बना दिया है। कभी डाँटते भी तो नहीं। माँ कहा करती थीं न कि इसे इतना सिर न चढ़ाओ। कड़ी बात कह जाती हूँ तो हँस दिया करते हो, आज बुरा मान गये। लो भला, यह भी कोई बात हुई! आज ही तो मुझे ठीक-ठीक अर्थों में प्रसन्नता हुई है और आज ही तुम बुरा

मान गये !"

ऐसा जान पड़ा कि प्रधान को मैना की बात से कुतूहल हुआ। वे कुछ प्रसन्न भी हुए होंगे, क्योंकि उनकी वाणी में अब कातरता नहीं जान पड़ी। बोले, "क्या कह रही हो मैना, आज ही तुम्हें प्रसन्नता हुई है ? क्यों भला ? बोधा को चोट पहुँचाकर तुम्हें प्रसन्नता हुई ? और वह भी ठीक अर्थों में ?"

"पहले यह बताओ कि जो कह रही हूँ वह ठीक हो सकता है न ?"

"कदाचित् ठीक ही है।"

"नहीं, साफ़-साफ़ कहो। ठीक है न ?"

"ले भाई, ठीक है। अब अपनी प्रसन्नता का कारण तो बताओ।"

"मैं समझती थी कि तुम पूरे चट्टान हो जिस पर प्राण-तत्त्व के पनपने का कोई अवसर ही नहीं है, वनस्पतियों की तो बात ही क्या, निर्लज्ज दूब भी वहाँ हार मान जाती है! भगवती विष्णुप्रिया के आश्रम में तुमने सहज भाव से पुरुषोत्तम क्षेत्र के प्रसाद की कहानी सुनायी तो मुझे लगा कि कहीं-न-कहीं तुम्हारे अन्तर में भी रस है बहुत नीचे। पर मन में शंका बनी रही कि तुम्हारे इस गूढ़ सारस्य का ठीक पता लगा सकी या नहीं। आज स्पष्ट हो गया कि तुम्हारे अन्तरतर के निगूढ़ निभृत में ऐसा कुछ है जो बहुत कमनीय है क्योंकि मैंने उसमें ईर्ष्या की तरंगें प्रत्यक्ष देखी हैं।"

"हुँ !"

"ठीक कह रही हूँ न प्रधान ?"

"हुँ !"

"भगवान् ने मुझे नारी-विग्रह दिया है—एकदम मुलायम, दुर्बल, भंगुर ! तुम्हारी आज्ञा से मैंने उस पर पुरुष-आवरण डाल दिया है—कठोर, सशक्त, उद्धत। रानी दीदी का मानसिक विक्षेप देखा तो हृदय रो उठा। दृढ़ संकल्प किया कि दीदी के धन को ढूँढ़कर उसके पास पहुँचा दूँ। तुम्हारी राय ली तो तुमने सेना में भर्ती करा दिया। दीदी के धन को देखा—महाराज सातवाहन ! ऐसा जान पड़ा जैसे सारे जन्मान्तर से इसी रूप को खोजती फिर रही थी। ऐसा जान पड़ा जैसे जन्म-जन्मान्तर से इसी लक्ष्य तक पहुँचाने के लिए अनादिकाल से आयोजन करते आ रहे थे। सत्य कहती हूँ प्रधान, मन में जो भाव था वह लोभ नहीं था; पा लूँ, ऐसी लालसा नहीं थी; केवल यही भाव था कि अपने को निःशेष भाव से उँडेलकर दे दूँ।

"तुमने भी अपने को दे दिया, पर तुम्हें भगवान् ने पुरुष-विग्रह दिया है। तुम्हारा दान अनायास सात्त्विक हो जाता है; उसमें विग्रह बाधक नहीं है। मैं देती हूँ तो विग्रह भी ढरक जाना चाहता है। तुम्हारा अर्घ्य शुद्ध गंगाजल की धार है। मेरे गंगाजल में फूल भी तैरता रहता है। देना चाहती हूँ गंगाजल की धार, आगे उतराकर बह जाना चाहता है फूल। यही अन्तर है। पर दान, दान है। शपथपूर्वक कह सकती हूँ, इसमें केवल सत्त्वोद्रेक है। फूल को रोकना चाहते

हो तो रोक लो, हाथ लगाओ, मेरे दोनों हाथ फँसे हैं। दीदी के धन पर मैं कभी लोभ कर सकती हूँ प्रधान ? पर लाचारी इस विग्रह की है। तुमसे कातर प्रार्थना करती हूँ प्रधान, मेरी सेवा को निर्मल बनाओ। इसे राजसदोष से मुक्त करो।"

"हुँ !"

"आज ही कुछ हो जाना चाहिए। शाह को साधने का काम तुम कर ही चुके हो। मैं इन बातों में विश्वास नहीं करती। मैं महाराज की सहायता कर सकूँगी, ऐसा दम्भ मुझमें नहीं है। मैं केवल एक बात अनुभव करने लगी हूँ, मैं जो भी करती हूँ वह मानो महाराज की इच्छा है। कैसे मुझमें यह भाव आ गया है, यह नहीं कह सकती। पर जबसे माताजी ने मुझे समझा दिया है कि तू राजस-भाव से महाराज की ओर न बढ़, तब से मुझे बहुत-सी बातें अनायास समझ में आ गयी हैं। महाराज को रानी दीदी के पास पहुँचाने की साधना इस-लिए खण्डित हो गयी कि मेरा विग्रह प्रतिकूल भाव की ओर ले जाना चाहता था। माताजी ने बताया कि तू रानी को महाराज के पास पहुँचाने का जतन कर। मैं अब उसी ओर अग्रसर हो रही हूँ। तुम्हारी सहायता के बिना मैं भटक जा सकती हूँ।"

"थोड़ा रुको मैना !"

"एक क्षण भी समय नहीं है। चलो, भगवती नीलतारा के मन्दिर में चलें। कल एक बार महाराज का दर्शन करके फिर आनेवाली प्रचण्ड आँधी में अपने को बहा दूँगी।"

बोधा प्रधान असमंजस में पड़े जान पड़े। मैना उठकर खड़ी हो गयी। तो वे खड़े हो गये। फिर रज्जुबद्ध की भाँति मैना के पीछे-पीछे चल पड़े। उनकी आँखें काम नहीं कर रही थीं, ऐसा जान पड़ा, क्योंकि मेरे पास से दोनों निकल गये और उन्हें रंच-मात्र सन्देह भी नहीं हुआ कि यहाँ कोई तीसरा भी है।

'तो, फूल रोक लिया गया। अच्छा ही हुआ।' मैंने दीर्घ निःश्वास लिया।

जल्हन अभी तक लौटा नहीं। मुझे यहाँ बिठाकर जो गया, सो गया। क्या कारण हो सकता है ? कहीं उसने भी समाधि तो नहीं लगा ली ?

कुछ क्षण पहले तमोगुण से ग्रस्त न होने का उल्लास मुखर हो उठा था। अब लगता है, तमोगुण का एकदम एक ही झटके में हट जाना भी बहुत अच्छा नहीं होता। एक बार आकाश की ओर देखा, सूना मालूम हुआ; वनस्पतियों को निहारा, सो गये जान पड़े; पर्वत-शिखरों की ओर दृष्टि फेरी, बेहोश लग रहे थे।

सहसा जगत् जड़ हो गया है। भगवती उग्रतारा का ध्यान-मन्त्र याद आया—जाड्यं न्यस्य कपालके त्रिजगतां हन्त्युग्रतारा स्वयं—समस्त त्रैलोक्य की जड़ता को कपाल खर्पर में न्यस्त करके उग्रतारा स्वयं उसे विनष्ट कर दें। जय हो भगवती उग्रतारा की !

[illegible] है। अनेक ताराएँ

चल रही हैं, नीलतारा स्थिर है। कहीं उसका ओर-छोर नहीं। नीलतारा, नीलतारा !

चारों ओर घोर निस्तब्धता छायी हुई थी। लोग अन्धकार की विकटता बताने के लिए उसे सूचीभेद्य कहते हैं—सूचीभेद्य, सुई चुभोने योग्य। परन्तु यह निस्तब्धता तो सूच्यभेद्य लग रही थी; सुई भी इसको छेदने में असमर्थ हो सकती थी। जल्हन आया नहीं। कहाँ अटक गया, कहीं कुछ आकस्मिक उत्पात में तो नहीं फँस गया ? चिन्ता होने लगी। पुराने लोगों ने ठीक ही कहा था कि प्रियजन का चित्त पापाशंकी होता है। मेरे चित्त में आशंका का धूम छाने लगा। इसी समय दूर शिवा की ध्वनि हुई, बड़ी घोर ध्वनि ! मन काँप उठा। फिर अचानक शृगालों की आवाज़ के समान 'हुक्का-हूआ' कर उठी। मैं सोचने लगा कि एक के बाद एक, दो प्रकार की ध्वनि एक ही जन्तु ने की या दो विभिन्न श्रेणी के जन्तुओं ने बारी-बारी से शब्द किया। यही उधेड़-बुन मन में देर तक चलती रही।

मन में इस छोटी-सी बात को लेकर चलनेवाली इस चिन्ता से मुझे मन-ही-मन थोड़ी हँसी भी आयी। यह भी कोई बात-जैसी-बात है। इस ऊहापोह में पड़ना बेकार नहीं तो क्या है ? पर फिर भी यही बात मन में आती-जाती रही। जब कोई काम की बात नहीं होती तो मन ऐसी ही बेकार की बातों में उलझा करता है। तभी जल्हन का पदार्पण हुआ।

जल्हन ने आते ही उल्लास के साथ कहा, "सुना न महाराज, शिवा ने पहले ऊँचे स्वर में घोर ध्वनि की, बाद में शृगाल की तरह बोल उठी !"

जल्हन की बात से मुझे हँसी आ गयी। इतनी देर बाद लौटे तो यही समाचार ले आये। यह नहीं बताया कि जिस काम के लिए गये थे उसका क्या हुआ, इतनी देर कहाँ अटक गये थे। आते ही पूछते हैं कि सुना महाराज, शिवा का शब्द ! मानो महाराज यहाँ यही सुनने के लिए बैठे हैं।

किन्तु जल्हन ने फिर जानना चाहा, "नहीं सुना महाराज !"

लाचार होकर कहना पड़ा कि सुना है।

जल्हन ने कहा, "साधारण बात नहीं है धर्मावतार ! नीलतारा के क्षेत्र में शिवारुत कभी व्यर्थ नहीं होता। शिवा का इस प्रकार का शब्द तीन फलों को देता है। कल्याण होता है, धन-प्राप्ति होती है और बिछुड़े हुए प्रेमी से भेंट होती है। वराहमिहिराचार्य ने स्पष्ट रूप से इस फल का आदेश किया है। उनकी बात क्या कभी अन्यथा हो सकती है ?"[30]

मन में औत्सुक्य का भाव जाग गया। पर जल्हन की सरलता पर आश्चर्य भी हुआ। फिर मैंने पूछा, "भैरवपाद की आज्ञा हुई कवि ?"

जल्हन ने और भी उत्साह के साथ कहा, "समाधि में थे महाराज ! अब बुलाने की आज्ञा मिली है। पधारें धर्मावतार ! आज सब शुभ-ही-शुभ दिखायी दे रहा है।"

"चलो !"

30

बोधा प्रधान ने अक्षोभ्य भैरव का जो रूप बताया था उस पर से मैंने अनुमान किया था कि अक्षोभ्य भैरव अक्खड़ और शुष्क तान्त्रिक होंगे, अभिचार के बल पर श्रद्धालुजनों पर आतंक जमाया करते होंगे, सम्मोहन और वशीकरण के साथ-साथ अपशब्दों की मार से श्रद्धालु श्रोता को अभिभूत किया करते होंगे और रहस्यमयी वाणी बोलकर भयत्रस्त भक्तजन का चित्त उखाड़ दिया करते होंगे। परन्तु मेरा यह अनुमान ठीक नहीं था। बोधा ने उन्हें आविष्ट अवस्था में देखा था। मैं जब उनसे मिलने गया तो वे सहज भाव में थे। उन्होंने उल्लासपूर्वक 'वर्धन्ताम्-वर्धन्ताम्' कहकर वर्द्धापनिका दी और बड़े आदर और प्रेम के साथ मुझे पहले से ही बिछे हुए कुशास्तरण पर बिठाया। मेरे प्रणाम करने पर उन्होंने स्नेह-सने स्वर में आशीर्वाद दिया। उन्होंने मुझे राजा के रूप में नहीं, अत्यन्त प्रिय सन्तान के रूप में ही देखा। उनकी बातों में कहीं ऐसी कोई ध्वनि नहीं थी, जिससे लगा हो कि किसी राजा को सन्तुष्ट करने के उद्देश्य से कही गयी हो। स्नेह-मेदुर वत्सल भाव अवश्य उनमें बार-बार ऊपर आ जाता था। सम्मान का स्वर उसमें मिला हुआ रहता था। वे प्रायः 'आयुष्मान्' कहकर मुझे सम्बोधन करते थे।

कुशल-प्रश्न के बाद उन्होंने कहा, "यह कवि बता रहे थे कि महाराज के चित्त में कुछ उद्वेग है। यह ठीक है आयुष्मन्?"

मैंने हाथ जोड़कर निवेदन किया कि कवि ने ठीक ही बताया है।

अक्षोभ्य भैरव क्षण-भर स्थिर दृष्टि हो मेरी ओर ताकते रहे, मानो कुछ पढ़ने का प्रयास कर रहे हों। उनके नीचे के मोटे होंठ एकाध बार चंचल भी हुए, पर बोले कुछ नहीं। उन्होंने आँखें झुका लीं और क्षण-भर में खो गये-से जान पड़े। थोड़ी देर तक वे निवात-निष्कम्प दीपशिखा की भाँति स्थिर बने रहे। जल्हन उत्सुकता के आधिक्य से आँखें फैलाये उनके और निकट सरक आया। मैं यथाशक्ति स्थिर बने रहने का प्रयत्न करने लगा। थोड़ी देर तक यह विचित्र स्तब्ध मौन भाव मुझे अभिभूत करने लगा। रह-रहकर मन में विचार-तरंग उद्वेल हो उठने लगे। रानी का प्रथम साक्षात्कार, फिर उनकी साधना, फिर युद्ध, फिर उनके लेख, फिर मैना का परिचय—एक-पर-एक इस प्रकार दिखायी देने लगा जैसे किसी निपुण कवि का निबद्ध नाटक अभिनीत होता देख रहा होऊँ। ये बातें मेरे मन में पहले भी उठ चुकी हैं, पर इस बार तो वे कालक्रम से एक-पर-एक सजकर आ रही थीं। मैं केवल दर्शक ही नहीं था, सामने अभिनय करता-सा अपने को ही देख रहा था। मगर जो बात सबसे विचित्र और अभिनव थी वह थी रानी की चिन्ताजर्जर मूर्त्ति। मेरे मन में आया, जैसे रानी निराश भाव से

मेरी ओर देख रही हैं। लटियाया हुआ चिकुर-जल अस्त-व्यस्त है, परिधान धूसर है, आँखें सूजी हुई हैं, चेहरे पर करुण रेखाएँ उभर आयी हैं। रानी का ऐसा हताश मुख मेरे मन में कभी नहीं आया था। मैं उद्विग्न हुआ। यह सब क्या सोच रहा हूँ ? क्या मेरा ही मनोविकार मूर्त्तिमान हो रहा है या किसी विचित्र तूलिका से अज्ञात सत्य उभरता आ रहा है ?

एकाएक भैरव की आँखें खुलीं और मन्द-स्मित के साथ उन्होंने मेरी ओर देखा; फिर बड़े ही कोमल कण्ठ से गा उठे—

"यथा प्रसन्नैर्मधुरं शिरोरुहैर्जटाभिरप्येवमभूत्तदाननम्
न षट्पदश्रेणिभिरेव पंकजं सशैवलासंगमपि प्रकाशते ।।"

यह श्लोक मेरा जाना हुआ था। 'कुमारसम्भव' में कालिदास ने तपोनिरता भगवती पार्वती का इस रूप में चित्रण किया है। तपस्या करते समय उनके सुन्दर केश लटिया गये थे, फिर भी उनका मुख उतना ही मधुर दीखता था जितना सँवारे केशों के साथ दीखा करता था। कमल का कमनीय पुष्प केवल भौंरों की मनोहर श्रेणी से सज्जित होकर ही शोभित नहीं होता, शैवाल जाल में उलझे रहने पर भी उसकी शोभा वैसी ही बनी रहती है।

मेरे मन में धक्-से लगा। क्या भैरव ने मेरे चित्त में आविर्भूत रानी के जटामण्डित रूप को जान लिया है ? भैरव को इस समय यही श्लोक क्यों सूझा ? क्या इस श्लोक को सुनाकर वे मुझे भुलावा देना चाहते हैं ? हृदय की सारी वेदना उमड़-घुमड़कर इस श्लोकांश में ही प्रतिध्वनित होने लगी कि 'जटाभिरप्येवमभूत्तदाननम्'। कालिदास तो कल्प-कवि थे, पार्वती के लिए उन्होंने जो कुछ कहा है उससे मर्त्यलोक की यथार्थ और कठोर भूमि पर विचरण करनेवाला मानव अपने-आपको सान्त्वना दे सकता है ?

भैरव ने क्षण-भर मौन रहकर उसी प्रकार मन्दस्मित के साथ कहा, "भगवती का यही रूप इस समय मेरे मन में आया। कदाचित्त तुम इस देश की विध्वस्त राजलक्ष्मी की बात सोच रहे थे, कदाचित् आयुष्मती चन्द्रलेखा की चिन्ता-कातर मूर्त्ति की बात सोच रहे थे। मेरे मन में भद्रकाली की मूर्त्ति नाच रही है; सबका एक ही उत्तर मिल रहा है—'न षट्पदश्रेणिभिरेव पंकजं सशैवलासंगमपि प्रकाशते !' कह नहीं सकता आयुष्यमान् कि यही श्लोक मेरे मन में क्यों आ गया। भगवती के सहस्रों रूप हैं, वस्तुतः रूप-मात्र में भगवती का ही वास है। फिर भी यही श्लोक मेरे मन में क्यों आ गया ? तुम कदाचित् मुझे सिद्ध समझकर कुछ सान्त्वना या आश्वासन की बात सुनने आये हो, पर मेरा चित्त कम कातर नहीं है। भगवती का ध्यान करता हूँ तो न जाने कब भद्रकाली मेरे मन में आ जाती है। न जाने कहाँ है वह ! है भी या नहीं, कौन जाने ! पर जब-जब उसका ध्यान आता है, मन चंचल हो उठता है; ऐसी बेचैनी अनुभव करता हूँ कि लगता है, पागल हो जाऊँगा। मेरा अर्जित पूर्व-पुण्य अवश्य बहुत क्षीण हो गया होगा, नहीं तो मेरी इच्छा का इतना तिरस्कार नहीं होता। कभी-कभी दृढ़ता के साथ इस

जन्म में कुछ पुण्य अर्जन करने का प्रयास करता हूँ। छोटी-सी तो इच्छा है, भद्रकाली को सुखी देखूँ। पर वह भी पूर्ण नहीं हो पा रही है। बार-बार भगवती से प्रार्थना करता हूँ, माता, मेरी यह छोटी-सी साध पूरी करो। पर अन्तराय बड़ा है। कर्म छोटा है, पूरा नहीं पड़ता। तुम्हारी चिन्ता मैं क्या दूर कर सकता हूँ? एक ही बात जान पाया हूँ, भगवती की शरण पकड़ना। उनकी इच्छा ही मुख्य है। कुछ करा लेती हैं, कुछ कहला लेती हैं। जब कहला रही हैं कि मधुरता वैसी ही है तो अवश्य वैसी ही है। केवल यही सोचता हूँ कि मधुरता का वैसा ही बना रहना ठीक है या मधुरता का वैसा ही उपलब्ध होना। जान पड़ता है, सारा कष्ट अनुपलब्धि का ही है।"

मैंने विनीत भाव से पूछा, "आर्य, महाकवि कालिदास ने इस प्रकार के देवी के माधुर्य को द्रष्टा-विशेष की दृष्टि से ही देखा है या द्रष्टव्य की शाश्वत महिमा वर्णन करना उद्देश्य है?"

भैरव ने एक झटके से 'ना' कहा। ऐसा जान पड़ा 'ना' का तुरन्त आना उन्होंने आवश्यक समझा, पर देर तक बने रहना अनावश्यक। थोड़ा-सा विराम देकर बोले, "कालिदास तो द्रष्टव्य की महिमा ही बताते हैं। इस प्रसंग में द्रष्टव्य विभु है और द्रष्टा अणु। शिव का रूप वर्णन करना होता तो भी कुछ ऐसा ही कहते। पार्वती के मुख से कहलवाया भी है कि,

"विभूषणोद्भासि पिनद्धभोगि वा गजाजिनालंबिदुकूलधारि वा।
कपालि वा स्यादथवेन्द्रशेखरं न विश्वमूर्तेरवधार्यते वपुः॥

कठिनाई वहाँ है जहाँ द्रष्टव्य भी अणु है। मैं भद्रकाली को नन्हीं बालिका के रूप में देखता हूँ। मेरी सीमाएँ ही मुझे बाँध देती हैं। मन से कहता हूँ, ऐ मेरे मन, देवी की बात पर आस्था रख। मन कहता है कैसे रखूँ? यही टंटा है।"

जल्हन ने उतावली के साथ बीच ही में टोका, "और इस देश की राजलक्ष्मी के बारे में आप क्या सोचते हैं प्रभो?"

"इस देश की राजलक्ष्मी!" भैरव ने दीर्घ निःश्वास लिया। उन्होंने नील-तारा की मूर्ति की ओर आँखें गड़ा दीं, मानो पूछ रहे हों कि भगवती, क्या उत्तर दूँ? कुछ देर स्तब्धता का वातावरण एकरस बना रहा। भैरव के अंगों में धीरे-धीरे एक विशेष प्रकार की चेतना-धारा प्रवाहित होती-सी जान पड़ी। उन्होंने अँगड़ाई ली, कन्धे पर का उत्तरीय धरती पर गिर गया। विकट जृम्भा के साथ भयंकर भाव से उनका मुँह फैल गया। ऐसा जान पड़ा, चेतना का वेगवान प्रवाह उनकी नसों को कम्पित करता हुआ मांसपेशियों को आन्दोलित करने लगा। वे घुटनों के बल स्थिर हो रहे। अब वे पूर्णतः आविष्ट लगते थे।

साध्वसपूर्वक जल्हन हाथ जोड़कर खड़ा हो गया। मैं खड़ा तो नहीं हुआ, पर हाथ अनायास जुड़ गये। परन्तु एक ही झटके में भैरव जब प्रत्यालीढपाद मुद्रा में खड़े हो गये तो मैं भी उठकर खड़ा हो गया। सोचने-विचारने का अवसर ही नहीं मिला। भैरव की शिराओं का तनाव बढ़ता ही जा रहा था। गले की एक-एक

नस उभर ग्रायी, ग्राँखें इस प्रकार निकल ग्रायीं जैसे ग्रब ग्रधिक देर तक उनका कपालदेश में टिकना सम्भव न हो। एक क्षण के लिए मेरे मन में प्रश्न उठा, यह निरन्तर देवी का ध्यान करनेवाले मन की ग्रज्ञात गहराई में छिपा हुग्रा संवेग है या भगवती का ग्रावेश है। भैरव ने मेरी ग्रोर दृष्टि फिरायी। ऐसा जान पड़ा जैसे सैकड़ों उल्का-खण्ड मेरी ग्रोर बरस पड़े हों। भैरव का स्वर बदल गया। उसमें सिंह-गर्जन का छन्द था। बोले तो ऐसा लगा जैसे डमरू की ध्वनि निकल रही है :

"सातवाहन ! सावधान होकर सुन ! ग्रवहित है ?"

"ग्रवहित हूँ प्रभो !"

"तो सुन !"

"सुन रहा हूँ।"

"देखो सातवाहन, पिछले पाँच सौ वर्षों से इस देश के राजाधिराजों ने इस देश की राजलक्ष्मी को खण्ड-विक्षत कर दिया है। गुप्त सम्राटों ने सदा पुराने शास्त्रों को नयी परिस्थितियों के ग्रनुसार संशोधन कराने का प्रयत्न किया था। उन दिनों के लिखे शास्त्रों को बाद के सम्राटों ने स्थिर मान लिया ग्रौर उनके ग्रर्द्धशिक्षित सचिवों ने ग्राँख मूँदकर उन्हीं नीतियों का पालन किया। ग्राज देश छिन्न-विच्छिन्न हो गया है। इस देश की राजनीति के तीन महादोष हैं। तुम भी इन्हीं दोषों की उपज हो। साहस हो तो ध्यान से सुनो—हमारे शास्त्रकारों ने ग्रवस्था-विशेष में नियम बनाये हैं कि जिन राजाग्रों को उत्खात कर दिया गया है, उनके उत्तराधिकारियों को ही राज्य करने दिया जाये, केवल उनकी ग्रामदनी का एक हिस्सा सम्राट् के कोश में भेजा जाये। यह उत्खात-प्रतिरोपण-विधान शक्तिशाली गुप्त नरपतियों के लिए गौरव की बात थी। पर धीरे-धीरे यह प्रथा सम्राट् ग्रौर जनता के बीच ग्रनेक व्यवधानों की सृष्टि करने में समर्थ हुई। देश की राजलक्ष्मी को टुकड़ों में बाँटने में इससे बड़ा कारण ग्रौर कुछ नहीं हुग्रा। सम्राटों के नीचे कई-कई स्वराट्, उनके नीचे कई-कई राजा, उनके नीचे कई माण्डलिक, उनके नीचे कई नृपति — ग्रौर सब वंशानुक्रम से ! यह व्यवस्था ग्रब भयंकर हो गयी है। इन कड़ियों में कहीं भी कुपुत्र या दुर्द्धर्ष राजकुमार का जन्म हो जाये तो सारी व्यवस्था बिखर जाती है। यही कारण है कि पिछले पाँच सौ वर्षों में ग्रनेक राज्य फेन-बुद्बुद की तरह उठते-गिरते रहे हैं। केन्द्रीय शक्ति जर्जर होकर शीर्ण-विशीर्ण हो गयी। गुप्त सम्राटों ने गणराज्यों का संघटन करके साम्राज्य बनाया था। उनके लिए यह नियम शोभन था। ग्रब वह हमारे विनाश का कारण बन गया है। यह प्रथम महादोष है।"

ग्रक्षोभ्य भैरव रुके, मानो बात को समझ लेने का ग्रवसर दे रहे हों।

भैरव ने क्रुद्ध स्वर में कहा, "राजाग्रों ग्रौर राजाधिराजों ने पृथ्वी को ग्रपनी वंशानुक्रम से प्राप्त सम्पत्ति मान लिया है। राजा मरे तो उसके बेटों में बँटवारा हो, माण्डलिक मरे तो बँटवारा हो, नरपति मरे तो बँटवारा हो, बँटती-बँटती धरती त्राहि-त्राहि कर उठी है। यह दूसरा महादोष है जिसने राजलक्ष्मी को

खण्ड-जर्जर बना दिया है।"

थोड़ा रुककर उन्होंने और क्रुद्ध स्वर में कहा, "और बात-बात में भूमिदान के द्वारा नये-नये सामन्तों की सृष्टि करना तीसरा महादोष है। कुछ दिन तक यह क्रम चलता रहा तो इस देश में छोटे-छोटे नरपतियों के अतिरिक्त और कोई दिखायी ही नहीं देगा। सातवाहन यह क्रम चल नहीं सकता। तुम जो नहीं रोकोगे तो कोई और आकर इस क्रम को नष्ट कर देगा, कर रहा है। भारतवर्ष की राज-लक्ष्मी के सिर का एक-एक बाल इस बँटवारे की भेंट हो चुका है। सीधा जन-सम्पर्क रखनेवाला राजनेता कहीं रह ही नहीं गया है। राजशक्ति दुर्बल है, प्रजा मूक दर्शक बनी हुई है। राजपुत्रों की झूठी दर्पोक्तियाँ अन्त:सार-शून्य ढफ बन गयी हैं। धिक्कार है इस दम्भवर्धिनी, पाखण्ड प्रसारिणी जड़ नीति को!

"इस राजनीति के साथ जिस रण-नीति का गठबन्धन हुआ है वह और भी भयंकर है। जाने कब से इस देश के शास्त्रकार मौल, भृतक, मित्र और श्रेणी-भेद से सेनाओं का विभाजन करते आये हैं! मौल सेना की बड़ी महिमा गायी गयी है। वंश-परम्परा से प्राप्त धरती का उपभोग करनेवाले लोगों से संगठित मौल सेना सामन्तों की ही भाँति जड़ और अविश्वसनीय हो गयी है। भाड़े के सैनिकों की भृतक सेना इसलिए बुरी बतायी गयी है कि वह अधिक पैसा पाने पर धोखा देती है। पर मौल सेनाओं में यह दोष इन दिनों कम नहीं है। नरवर्मा के सामन्तों को मौल सेना इसलिए धोखा दे गयी थी कि उन्हें विश्वास हो गया था कि नरवर्मा के पतन के बाद प्रतिहार लोग उन्हें उनके सब अधिकारों के साथ ज्यों-का-त्यों रहने देंगे। काश्मीर की भृतक सेना मौलों से अधिक विश्वसनीय सिद्ध हुई। दल-पंगुर महाराज जयित्रचन्द्र की सारी मौल सेना हाथी का दाँत ही सिद्ध हुई; पुण्डरीक ने भृतक तुरुष्कों से अधिक सहायता पायी। सामन्तों की मौल सेना आपस में लड़कर ही मर गयी। नालन्दा में मौल सेनाओं की नपुंसकता देखकर मेरा मन बहुत क्षुब्ध हुआ था। यह कोई रणनीति है?

"मूर्ख राजाओं और चाटुकार पण्डितों ने अरि का अर्थ ही शत्रु हो जाने दिया है। कभी पड़ोसी राजा को 'अरि' कहा जाता था, मित्र वह होता था जो पड़ोसी का पड़ोसी है। किसी समय ऐसा विचार ठीक रहा होगा। परन्तु अभी जो तुरुष्क आये हैं, वे सबके शत्रु हैं। कितने ही राजाओं को नष्ट करके उनके पड़ोसियों को ये खा गये, पर अब भी मूर्खों की समझ में नहीं आया। मित्र सेना अब समूचे देश की सेना है। अरि का अरि होकर भी तुरुष्क मित्र नहीं बनेगा। गाँठ बाँध लो इस बात को! मैं कान्यकुब्ज का उच्छेद देख चुका हूँ; गौड़ का पराभव देख चुका हूँ; चौहानों का मर्दन सुन चुका हूँ; चन्देलों की पराजय की कहानी भी सुन चुका हूँ। मित्र-सेना के नाम पर गाहड़वारों का तुरुष्कों को निम-न्त्रित करना कितनी बड़ी भूल थी। समझदार देख-सुनकर सीखता है, इस देश की बुद्धि भी जड़ हो गयी है। आँखों के सामने सत्यानाश का ताण्डव चल रहा है और हम हैं कि समझ ही नहीं पा रहे हैं।

"श्रेणी सेना तो इस देश से उठ ही गयी है। व्यापार नष्ट हो गया, सेठ कंगाल हो गये, निगमों और श्रेणियों का खेल ही समाप्त हो गया। कभी इन सेठों की सेनाएँ भी राजा के काम आती थीं। वे जान पर खेलकर लड़ती थीं। अब तो कहाँ सेठ और कहाँ श्रेणी ! अब तो हर पंसारी 'महाजन' होता जा रहा है। यहाँ से निगमों के अधिपति महाजन उठ ही गये।"

छण-भर तक ग्लानि और क्षोभ से भैरव का मुख मलिन हो गया। एकाएक अद्भुत चेतना की नवीन तरंग ने उनके रक्त में हिलोरें भरीं। वे मन्त्रौषधि-रुद्ध कालसर्प की भाँति बेबसी की फुफकार भरते हुए बोल उठे :

"अरे ओ सातवाहन, इस देश की राजनीति विच्छेद की नीति पर खड़ी हुई है। आज वीर विक्रमादित्य-सा जननेता कहाँ है? कहाँ है, समुद्रगुप्त जैसा लोकनायक, जो महामाण्डलिकों के सिर पर पैर रखकर स्वयं सेना का संचालन करता हो? कहाँ है चन्द्रगुप्त जैसा विषम साहसिक, जो शत्रु सेना में इस प्रकार अकुतोभय होकर प्रवेश करता था जैसे सिंह सियारों के झुण्ड में घुस जाता है? देख, इस सिंहवाहिनी नीलतारा को! यह सिंह पर सवारी करती है। इसके चौखट पर सिर मारकर प्रसाद पाने की आकांक्षा न रख। सच्चा सिंह बन, तभी इसका प्रसाद पा सकेगा। भीरु कायर अशोक चल्ल इसकी उपासना करने का दम भरता था। वह श्रृगालों को अपना आदर्श समझता था, श्रृगालियों को मार्ग-दर्शक मानता था। सहस्र बार मैंने इस नीलतारा मूर्ति का निर्मम अट्टहास सुना है। बड़ी निर्मम है, बड़ी बेपीर है! कायरों को अपनी छाया तक नहीं छूने देती, मूर्ख नीतिज्ञों की जड़ता पर दारुण अट्टहास करती है, पथभ्रान्त कवियों की झमाझम निकलती वाणी को क्रूर परिहास का विषय मानती है। यह निखिल ब्रह्माण्ड की क्रिया-शक्ति की अधिदेवता है। इसकी उपासना कर्म की उपासना है, ज्ञान द्वारा परिष्कृत, तपस्या द्वारा समर्पित अक्लान्त कर्म की।

"और देख सातवाहन, शुक्र और कामन्दक की रणनीति में परिवर्त्तन की आवश्यकता है। दोनों पक्ष उसी नीति को मानें तो ठीक है, पर हिमालय के उस पार से आनेवाली सेना उन बन्धनों को नहीं मानती। भटिण्डा की लड़ाई में राज-पुत्रों की मौल सेना सूर्योदय में ही लड़ने को बाध्य हुई; कल्यपाल सोये हुए थे, कलेऊ नहीं मिला; अपराह्न तक लड़ते-लड़ते वे क्लान्त हो गये, लड़ते-लड़ते खा नहीं सकते थे; हजार बाधाएँ थीं; चौका नहीं था; अस्पृश्य से स्पर्श का बचाव नहीं था; घोड़ों के मांस से काम नहीं चला सकते थे; शत्रु की मार से नहीं, पेट की मार से भहरा गये। शास्त्रकारों ने कहा है, अटवी सेना निकृष्ट होती है। पर क्या इन विकट शत्रुओं के लिए अटवी सेना ही उपयुक्त न होती? शकों से जूझने के लिए विक्रमादित्य ने भिल्लों और मुसहरों की सेना का संगठन किया था। उन्हीं के बल पर वे शकारि बन सके। शकों को उन्होंने वक्षुतट तक खदेड़ दिया। देख रे, अर्थशास्त्र और धर्मशास्त्र हर समय साथ-साथ नहीं चलते। देवी के चरणों पर सिर रखकर शपथ ले कि तू सीधे जनता से सम्पर्क रखेगा, किसी को छोटा

और किसी को बड़ा नहीं मानेगा, धरती को बपौती नहीं धरोहर समझेगा, सामन्ती प्रथा का उच्छेद करेगा। ऐसा करके ही तू वीर विक्रमादित्य की परम्परा का उत्तराधिकारी बनेगा।"

मेरी नसों में विचित्र झनझनाहट अनुभव हो रही थी। मैं अभिभूत की भाँति चुपचाप हाथ जोड़े खड़ा रहा। जल्हन काँप रहा था।

अक्षोभ्य भैरव थोड़ी देर तक चुपचाप देखते रहे। वे प्रतीक्षा कर रहे थे कि मैं देवी के चरणों में प्रणत होकर शपथ ग्रहण करूँगा। मैं तब भी अभिभूत खड़ा ही रहा। मुझे उस आदेश के पालन के प्रति अनिच्छा नहीं थी। मैं सोच रहा था कि भैरव का आवेश समाप्त हो और उनकी बातें पूरी हो जायें तो देवी के चरणों में सिर झुकाकर शपथ ग्रहण करूँ। एक प्रकार की निष्क्रियता मुझे दबोचे बैठी थी।

थोड़ी देर तक मेरी ओर देखकर भैरव ने मुँह फिरा लिया। वे देवी की ओर उन्मुख हुए। उनकी आँखों में आँसू आ गये। फिर एकाएक उचके और उत्ताल नर्त्तन करने लगे। रह-रहकर उनके मुँह से 'हुँ', 'हुँ' की ध्वनि निकल पड़ती थी। विकट नृत्य था वह! प्रत्येक चारी से दिक्चक्रवाल कुलातचक्र की भाँति नाच उठता था, प्रत्येक पदताल से गिरिभूमि धसकती-सी जान पड़ती थी। उनकी आँखों से निरन्तर अश्रुधारा झरी जा रही थी। वे हाँफने लगे और देवी के पाद-मूल में एकाएक लुढ़क गये। मैं जड़, स्तब्ध, निश्चेष्ट!

जल्हन भय के मारे चिल्ला उठा, "त्राहि सर्वेश्वरी, त्राहि!"

अक्षोभ्य भैरव कुछ देर में स्वस्थ होकर बैठ गये। वे फिर सहज भाव में आ गये। उन्होंने फिर स्नेह-मृदुल कण्ठ से कहा, "आयुष्मान्, देवी को प्रणाम करो। शपथ तो तुमने ली नहीं।"

मैंने अपराधी की भाँति कहा, "समय पर बात भूल गयी। मुझमें स्तब्धता आ गयी थी। कुछ पता नहीं, क्यों मेरा अन्तरतर जड़ीभूत हो गया!" यह कहकर मैंने भक्तिपूर्वक देवी के चरणों में अपनी साष्टांग प्रणति का निवेदन किया। जल्हन ने भी मेरा अनुकरण किया।

अक्षोभ्य भैरव प्रसन्न हुए, पर उस प्रसन्नता में उल्लास का वेग नहीं था। कुछ क्षण मौन रहकर उन्होंने कहा, "साधु आयुष्मान्, भगवती तुम्हारा कल्याण करेंगी! स्तब्धता भी उन्हीं का विलास है। तुम्हारे भीतर यह समय पर चूक जानेवाली जड़ता कुछ अच्छी बात नहीं है। परन्तु देवी की आराधना का यह बाह्य रूप ही है आयुष्मान्! सच्ची उपासना तो निरन्तर शुभ कार्य की प्रेरणा है। निरन्तर अन्याय से जूझो, निरन्तर जड़ता से संघर्ष करते जाओ, निरन्तर सड़ी-गली मृत्युग्रस्त रूढ़ियों का परीक्षण करते रहो। समय पर तुम चूक गये, यह भूल हुई। कदाचित् तुम्हारा संकल्प सैकड़ों वर्ष बाद रूप ग्रहण करे, पर चिन्ता की कोई बात नहीं; निरन्तर शुभ साधना अपने-आपमें बड़ा पुरस्कार है।"

जल्हन को अन्तिम बात से चिन्ता हुई। गिड़गिड़ाकर पूछ बैठा, "क्या कहा

प्रभो, महाराज का संकल्प सैकड़ों वर्ष बाद रूप ग्रहण करेगा !"

भैरव ने डाँटकर कहा, "तू अशोक का साथी है न रे ? तुझे चाहिए चट्ट रोटी पट्ट दाल। संकल्प कितना बड़ा है, नहीं देखता ? देश के जीवन में हजार-पाँच सौ साल कौन-सी बड़ी बात है रे ! छोटे संकल्प का छोटा समय होता है। हजारों वर्ष की किट्ट इतनी शीघ्रता से धुलेगी ? देवी संकल्प को देखती हैं। अभी एक युवती युवक-वेश में आयी थी। मैं पहचान गया। संकल्प उसका छोटा था, किसी महाराज की अहैतुकी सेवा। देवी ने प्रसन्न होकर उसके कार्य के अन्तराय को हटा दिया। छोटा-सा संकल्प, छोटी-सी सिद्धि !"

भैरव ने सहज भाव से यह बात कही। परन्तु मुझे ऐसा लगा जैसे हृदय का कोई मांस-खण्ड ही नुच गया हो। क्या मेरे चित्त में कहीं सहैतुकी सेवा की वासना संचित थी ? यदि थी तो उसका छिल जाना, नुच जाना, कट जाना अच्छा ही हुआ। यह और बात है कि उस वासना-रूपी मल के साथ कुछ मांस-खण्ड से भी हाथ धोना पड़ा।

जल्हन ने अवसर देखकर कहा, "प्रभो, महाराज रानी चन्द्रलेखा के लिए चिन्तित हैं। उस सम्बन्ध में भी कुछ आदेश हो।"

भैरव हँसे, "भाई जल्हन, तू समझता है कि मैं सारी दुनिया की बात जानता हूँ। ना भाई, मैं स्वयं अपनी मर्मवेदना का उत्तर नहीं जानता। महामाया जानती हैं, सबको आच्छादित करके, सबको अन्तर्भुक्त करके, सर्वत्र वे व्याप्त हैं। कभी-कभी ऐसा लगता है कि मैं उनके किसी एक पहलू को देख रहा हूँ। क्यों ऐसा होता है, कैसे बताऊँ ? कदाचित् उनका नाम लेते-लेते किसी पूर्व पुण्य के प्रताप से उनकी सत्ता के किसी पार्श्व का स्पर्श कर लेता हूँ। बहुत अस्पष्ट होता है वह स्पर्श, पर मेरा मैं-पन उससे खो जाता है। कुछ ऐसी बात कह जाता हूँ, जो सोच-समझकर नहीं कह सकता था। इसे मैं महामाया का प्रसाद ही मानता हूँ। जब यह आयुष्मान् पधारे तभी मैंने महामाया से प्रार्थना की कि कुछ रानी की बात बताओ भगवती ! कोई उत्तर नहीं मिला। मेरे मन में आया कि भद्रकाली की ही बात पूछूँ। फिर वही मौन। केवल मन में वही श्लोक आया जिसे सुना चुका हूँ। तुमने जब राजलक्ष्मी की बात पूछी तो मुझे ऐसा लगा, देवी कुछ कह रही हैं। इससे अधिक मैं कुछ भी नहीं जानता।"

भैरव चुप हो गये। देर तक किसी ने कुछ नहीं कहा। भैरव कुछ सोच रहे थे।

इस बीच आकाश में मेघ घिर आये थे। हम लोगों का ध्यान उधर नहीं था। मेघों की गड़गड़ाहट आरम्भ हुई, भैरव उसी प्रकार शान्त बने रहे। दो-चार मोटी बूँदें गिरीं। भैरव तथैव ! हम दोनों भी उसी प्रकार बैठे रहे। धीरे-धीरे पानी बरसने लगा। पहले वेग कम था, फिर बढ़ गया। भैरव उसी तरह निस्तब्ध !

यद्यपि नीलतारा की मूर्त्ति एक अर्द्ध-मन्दिराकृति गुफा के बीच थी, पर पानी के छींटे वहाँ भी पहुँच रहे थे। भैरव वैसे ही बने रहे। पानी बरसता रहा, हम

तीनों भीगते रहे। एकाएक भैरव की दृष्टि सीकरार्द्र देवी-प्रतिमा पर गयी। ऐसा जान पड़ा, उनकी सत्ता लौट आयी। वे विह्वल कण्ठ से गा उठे :

"यथाप्रसन्नैर्मधुरं शिरोरुहैर्जटाभिरप्येवमभूत्तदाननम्।
न षट्पदश्रेणिभिरेव पंकजं सशैवलासंगमपि प्रकाशते॥"

31

इच्छा-शक्ति और क्रिया-शक्ति का द्वन्द्व तेजी से चल पड़ा है। नहीं चाहता कि जो कुछ हो रहा है उसके विश्लेषण में समय नष्ट करूँ, पर न जाने क्यों मन ही नहीं मानता। हिसाब लगाना आवश्यक नहीं है; पर अनिवार्य अवश्य हो उठा है। विद्याधर भट्ट ने कहा था, सफलता और असफलता का हिसाब कायर लगाते हैं। जो शूर हैं वे अपने निश्चय पर चट्टान की तरह दृढ़ और आँधी की तरह गतिशील हैं। अपनी बात को पुष्ट करने के लिए उन्होंने भारवि का कोई श्लोक पढ़ा था। लगा था, वे जो कह रहे हैं वही सत्य है, क्योंकि उनकी वाणी में प्राणों का वेग था, आस्था की दृढ़ता थी। अब लग रहा है, सत्य वाणी के अर्थ का नाम नहीं है, उसके पीछे रहनेवाले प्राण-वेग और आन्तरिक सच्चाई का नाम है। किसी भी वाणी के किसी भी अर्थ को ये दो बातें सत्य बना देती हैं। सत्य बाह्य अर्थ में नहीं, आन्तरिक आस्था में निवास करता है। हिसाब लगा रहा हूँ, क्योंकि हिसाब लगाये बिना आगे बढ़ना कठिन है।

उस दिन बोधा और मैना ने जब साथ-ही-साथ प्रणाम किया तो एक विभिन्न तरंगानुभूति अन्तःकरण को आन्दोलित कर उठी। 'तरंगानुभूति' ही उसे कहना चाहिए। वह बहुत-कुछ समुद्र की लहरों के समान ही था। एक-एक बार समुद्र उल्लास-चंचल हो चाँद को पकड़ लेना चाहता है। हर बार धरती का दुर्वार आकर्षण उसे नीचे की ओर खींचता है। समुद्र हिम्मत नहीं हारता। विद्याधर भट्ट के निपुण शिष्य की भाँति वह हिसाब नहीं लगाता। एक-पर-एक तरंग उठती-गिरती सोपान-परम्परा का निर्माण करती है और अन्त में पछाड़ खाकर बेला-भूमि को विक्षुब्ध करती है। मनोरथों की सोपान-परम्परा उसे केवल उद्वेल-भर करती है। मैना को देखकर उस दिन कुछ ऐसा ही अनुभव हुआ। आकाश—अनन्त आकाश—को आनन्द के उल्लास से पकड़ने का प्रयत्न, मनोरथों की सोपान-परम्परा, तट पर असहाय अवसान! मुझे प्रसन्नता अवश्य हुई। हिसाब लगाने पर आनन्द की मात्रा ही अधिक निकली। हिसाब करने से सन्तोष प्राप्त

हुआ, यह क्या कम लाभ है ?

मैना उस समय बालक-वेश में ही थी। पतली छरहरी उँगलियों से कसकर उसने भाला थाम रखा था। क्षण-भर के लिए ऐसा लगा कि मदन देवता ने अपने युग-युग से लालित पुष्पों के बाण को छोड़ दिया है। लेकिन उसकी आँखें बुरी तरह झुकी हुई थीं। बाण-विद्ध खंजनशावक की भाँति वे शिकारी के बंकिम धनुष पर ही भूल गयी-सी दिखायी दे रही थीं। हाय, इनके आर्द्र पंखों में क्या अब चपलता का कभी संचार नहीं होगा ?

बोधा का चेहरा सदा की भाँति भावविहीन था। अत्यन्त मृदु भाव से उन्होंने केवल इतना ही कहा, "पुरुषोत्तम क्षेत्र में प्राप्त, देवता के अयाचित प्रसाद को शिरसा स्वीकार करने की अनुज्ञा हो धर्मावतार !"

आँखें उनकी ऊपर नहीं उठीं। मैंने दोनों के सिर पर हाथ फेरकर आशीर्वाद दिया, परन्तु मैना का वह व्रीड़ा-मनोहर मुख जो हृदय-देश पर आया सो चिपक ही गया। रण-डंका बज गया है, उत्तर से दक्षिण तक भयंकर घमासान में बिजली की भाँति चमक रहा हूँ, पर वह मूर्त्ति जो चिपकी है वह जम ही गयी है। पीड़ा होती है, चाहता हूँ वहाँ से हटा दूँ। न मूर्त्ति ही हटा पाया हूँ और न पीड़ा से मुक्ति ही मिली है। कुछ पीड़ाएँ बेहिसाब मीठी होती हैं।

मैं चाहता था, जान लूँ कि मैना के अन्तर्जगत् में क्या बीत रहा है। कदाचित् मैना के मन में यही इच्छा थी कि वह जान ले कि मेरे अन्तर्जगत् में कैसा कुछ घटित हो रहा है, पर पूछने का साहस न मुझे हुआ, न उसे ही। सब इच्छाएँ क्रिया में रूपान्तरित नहीं होना चाहतीं। मुझे उस दिन यह विचित्र रहस्य ज्ञात हुआ कि इच्छा के भी इच्छा और अनिच्छा होती है। आज हिसाब लगाने बैठा हूँ तो स्पष्ट जान पड़ता है, इच्छा वस्तु-स्थिति को जान जाती है तो अकर्मण्य हो जाती है। मैं जानता था कि मैना के भीतर क्या घट रहा होगा। यह विशुद्ध अर्घ्यदान में फूल को रोक रखने का दृढ़ संकल्प था, क्योंकि फूल की मादक गन्ध ग्रहीता को मोह-ग्रस्त कर सकती थी। मेरे अन्तरतर में यह जानकारी दृढ़ता से विद्यमान थी, परन्तु मैना ने क्यों नहीं पूछा ? क्या उसके अन्तर्यामी भी मेरी ही तरह कुछ जान चुके थे ? असम्भव नहीं है। जो भी हो, ज्ञानवती इच्छा निःसन्देह अकर्मण्य होती है। ज्ञान इच्छा को रोकता है।

दूसरे दिन जब मैना बोधा प्रधान के पीछे आकर खड़ी हो गयी तो उसका उद्वेग कम हो गया था। बालक-वेश में ज्वलन्त अग्नि-शिखा-सी दीप्त लग रही थी —पवित्र, तेजोमयी, असह्य स्पर्श ! आँखें उस दिन भी झुकी थीं, पर दोनों कपोल सहज लालिमा से दमक रहे थे। मेरे अन्तर्यामी अच्छी तरह जान गये हैं कि फूल की मादकता केवल गन्ध में ही नहीं होती। उस दिन मैं समझ नहीं सका कि आज मैना में कल का भाव एकाएक कैसे अन्तर्धान हो गया।

समझने में बहुत विलम्ब नहीं हुआ। मैना कर्त्तव्य के आह्वान पर सदा की भाँति तन गयी थी। उसके रोम-रोम में कुछ असाध्य-साधन के संकल्प का चांचल्य

था। बोधा प्रधान कुछ उद्विग्न थे। उन्होंने बताया था कि अशोक चल्ल के सेना-पति और मन्त्री कुछ आगा-पीछा कर रहे हैं। वे कहते हैं कि जब तक भद्रकाली का उद्धार नहीं हो जाता और उसके अपहर्त्ता का शिरश्छेदन नहीं हो जाता, तब तक अशोक चल्ल की सेनाएँ महाराज की सहायता कैसे कर सकती हैं! बोधा प्रधान को सन्देह है कि यह नया पैंतरा अक्षोभ्य के संकेत पर आरम्भ हुआ है। बोधा प्रधान अस्वस्ति का भाव अनुभव कर रहे थे। उन्हें लग रहा था कि उनकी कूट बुद्धि धोखा दे रही है।

मैना सदा की भाँति स्पष्ट थी, "मरने दो इन नपुंसकों की सेना को। जो करना है वही बताओ। हम निठल्लों की भाँति बैठने यहाँ नहीं आये हैं। हम सीधे दिल्ली पर आक्रमण करेंगे। सोचो तो प्रधान, वृद्ध विद्याधर भट्ट उधर मरने-मारने की तैयारी कर रहे हैं और हम हाथ-पर-हाथ धरे बैठे हैं। अशोक चल्ल की सेना जाये भाड़ में। हमें जो करना है, करेंगे।"

आवेश में मैना का चेहरा तमतमा आया। उसकी झुकी पलकें फड़क उठीं, नयन-कोरकों में आकस्मिक विस्तार हुआ और भृकुटियाँ बंकिम भाव से उत्क्षिप्त हुईं। उसने मेरी ओर देखकर रोषपूर्वक कहा, "क्षमा हो महाराज, चल्लों की सेना यहाँ सुरक्षित स्थान खोजकर छिपने के लिए आयी है। इन्हें युद्ध करना होता तो दिल्ली और शाकम्भरी की भूमि को छोड़कर नया सपादलक्ष बसाने यहाँ नहीं आते। इन्होंने भूगोल को धोखा दिया है, अब इतिहास को भी धोखा देना चाहते हैं, परन्तु इस पर्वत-भूमि के निवासी और तरह के लोग हैं। वे आपको अधिक अच्छी तरह से पहचानते हैं। आज्ञा हो तो वे प्राण देने के लिए प्रस्तुत हैं।"

बोधा के मुख पर न कोई अनुकूल प्रतिक्रिया के चिह्न दीखे, न प्रतिकूल प्रतिक्रिया के। शान्त भाव से बोले, "हूँ!" परन्तु मुझे ऐसा जान पड़ा मानो शिराओं में किसी ने बिजली पिघलाकर उँडेल दी है। मैं कह उठा, "साधु मैनसिंह, तुमसे यही आशा थी!"

उस दिन बोधा ने धारा को थोड़ी देर रोकने का प्रयास-सा करते हुए कहा था, "वचन जो दिया है उसे पूरा करना ही होगा।"

अकुतोभय मैनसिंह बोला, "उसका भार मेरे ऊपर। अब बताओ आगे क्या करना है?"

बोधा चुप।

मैंने ध्यान से बोधा के भावहीन चेहरे को देखा। कुछ समझना कठिन था। पर अचानक मुझे स्मरण हो आया कि वचन मैंने नहीं, बोधा ने दिया है। कहीं उन्हें इस बात का मानसिक क्लेश तो नहीं हो रहा है कि उनकी नासमझी से मुझे बँधना पड़ा है। मैना उस प्रसंग को जानती है या नहीं, मैं कह नहीं सकता। पर बोधा के मन में रंच-मात्र भी ऐसी आशंका नहीं होनी चाहिए कि मैं उनके दिये वचनों की उपेक्षा कर सकता हूँ। मैनसिंह की तरलता से मैं परिचित हूँ। वह कदाचित् उस प्रसंग की सुकुमारता से अपरिचित है।

मैंने उसे शान्त करने के उद्देश्य से कहा, "वचन मैंने दिया है, उसे पूरा करना हमारा धर्म है। कठिनाई यह है कि न तो हमें भद्रकाली का कुछ पता-ठिकाना मालूम है, न उसके अपहर्त्ता का। इसमें भी कोई सन्देह नहीं कि अक्षोभ्य भैरव के चित्त के उपरले स्तर पर भद्रकाली की समस्या ही मुख्य है। उनका एक ही लक्ष्य जान पड़ता है, भद्रकाली का उद्धार। उनकी सहायता के बिना अशोक चल्ल की सेना या कोश की सहायता नहीं मिलेगी। लेकिन सहायता का मिलना या न मिलना बड़ी बात नहीं है। वचन पूरा करना बड़ी बात है।"

बोधा आश्वस्त जान पड़े। दिगन्त में आँखें गड़ाये हुए ही बोले, "इतनी बड़ी शक्ति से टकराना है। सोच-समझकर ही कुछ करना चाहिए। शाह की भी समस्या है। वह व्यक्तिगत कारणों से असन्तुष्ट है। सहायता वह भी करना चाहता है। उतावला वह मैनसिंह से कम नहीं है। परन्तु व्यक्तिगत कारणों से उत्पन्न असन्तोष पर बहुत भरोसा नहीं होता। ये कारण कभी भी दूर किये जा सकते हैं। इसलिए ज़रा फूंक-फूंककर पैर बढ़ाने में कोई दोष नहीं है। मुझे भट्टपाद के निदेश की आवश्यकता अनुभव हो रही है महाराज!"

बोधा की बात समझने में बहुत आयास मुझे नहीं हुआ। हम दोनों कई दिन से इन बातों पर विचार कर रहे हैं। अक्षोभ्य भैरव पण्डित हैं। उन्होंने इतिहास को समझने का प्रयास किया है। वे छोटे-छोटे सामन्तों की स्थायी परम्परा को इस देश की राजनीतिक और सैनिक पराजय का मुख्य हेतु मानते हैं। बोधा प्रधान उनसे परामर्श कर चुके हैं। वे वेतन-भोगी भृतिक सेना को अधिक उपयुक्त मानते हैं। विद्याधर भट्ट ठीक इसके विपरीत सोचते हैं। वे वेतन-भोगी सैनिकों को राज्य का सबसे दुर्बल अंग मानते हैं। मेरे और रानी के प्रयत्नों से ग्रामीण जनता की जो अशिक्षित सेना तैयार हुई, उसे वे सन्देह की दृष्टि से देखते रहे। कहते हैं कि शास्त्रकारों की बतायी हुई अटवी सेना से यह बहुत भिन्न नहीं है। पर व्यवहार में इसकी सफलता देखकर वे शास्त्र-परिपाटी को छोड़ने को प्रस्तुत हुए थे।

बोधा अब भी उनके पुराने आदर्शों से प्रभावित हैं। मैनसिंह तो अटवी सेना का मूर्त्त रूप ही है।

बोधा ने अपने विचारों में संशोधन किया है। वे सामन्त सेना को अब आवश्यक नहीं मानते, पर वर्त्तमान परिस्थिति में अपरिहार्य अवश्य मानते हैं। केवल अशिक्षित गँवारों के उत्साह पर वे आस्था नहीं रखते। वह रहे, पर शिक्षित सामन्त सेना के बिना वह बालू की दीवार ही सिद्ध होगी। नयी व्यवस्था तो बाद में बनेगी; अभी तो पुरानी से ही काम चलाना पड़ेगा। बोधा दूर तक सोचते हैं। देश से सोना लुट गया है। महाराजा हर्षवर्धन को पाँच सौ वर्ष बीत रहे हैं; उनके बाद भारतवर्ष के किसी राजाधिराज ने सोने की मुद्रा नहीं चलायी। इसकी टकसाल में इन दिनों केवल रौप्य-मुद्राएँ ढाली जा रही हैं। कश्मीर और कलिंग में कुछ नयी स्वर्ण-मुद्राएँ ढाली गयीं, पर वे देश में चल नहीं पायीं। गांगेय

नरेशों की स्वर्ण-मुद्राएँ ढली नहीं कि लुट गयीं। भृतिक सेना सोने की मुद्रा चाहती है। हाय, सोना है कहाँ ? अशोक चल्ल के कोष में स्वर्ण का नाम भी नहीं है। केवल उत्साह के आवेग से सोना नहीं पैदा किया जा सकता। रौप्य तो केवल अपने सीमित क्षेत्र में ही मान्य हो सकता है। मैना इतना कुछ नहीं समझती। उसने अपने करनट वीरों की सहायता से कुछ पार्वतीय सेना बनायी है। वह सोचती है कि दिल्ली पर चढ़ने के लिए वह पर्याप्त है। बोधा नीति देखते हैं, व्यवहार देखते हैं। विद्याधर भट्ट से परामर्श लेने की आवश्यकता तो थी ही।

सब है, लेकिन मैनसिंह बनी हुई मैना की वाणी में रक्त हिल्लोलित करने की अद्‌भुत शक्ति है। मेरी बात से उसका उत्साह क्षीण हो गया था। वह कुछ हताश-सी दीखी। उसने अपने रोष को पी लिया। जान पड़ा जैसे बिल में से आधा निकला हुआ फणोद्धत काल-सर्प फिर से बिल में घुसने जा रहा हो और अपने उद्धत फणमण्डल को समेटने में उसे आयास करना पड़ रहा हो। उसने अपने अधर-पुट को दाँतों से दबाया, मानो फिर से फड़क उठने का दण्ड दे रही हो। चुपचाप उसने लम्बी साँस ली। उसकी इस मुद्रा में और भी लावण्य निखर आया था। कालिदास ने ठीक ही कहा था—'किमिव हि मधुराणां मण्डनं नाकृतीनाम्' !

बोधा सोने के लिए चिन्तित हैं। सोना मिल जाये तो देश के लाखों शिक्षित राजपुत्रों की अदम्य वाहिनी बन सकती है। महाराज जयित्रचन्द्र 'दलपंगुर' का विरुद धारण करते थे। उनके पास जो सेना थी उसका कोई हिसाब नहीं था। घर से निकलकर युद्ध-क्षेत्र तक खड़ी होने पर इतनी भीड़ होती थी कि सेना पंगु हो जाती थी। सोना उनके पास था, पर सेना पर उसे व्यय करना उन्हें पसन्द न था। वे सामन्तों पर आस्था रखते थे। सामन्ती सेना विदेशी लुटेरों के धक्के नहीं सँभाल सकी। सेना पिट गयी, सोना लुट गया। विद्याधर भट्ट सामन्ती सेना को ही वेतनभोगी सेना कहते हैं। सोना और सेना का सम्बन्ध वे नहीं स्थापित कर पाये। अब पछताते हैं। सोने का देश में ऐसा अभाव है कि लोग ताँबे से सोना बनानेवाले नकली सिद्धों के पीछे दौड़ रहे हैं। ऊँटों और खच्चरों पर लादकर विदेशी लुटेरे सोना ले गये हैं। मन्दिरों को तोड़कर उन्होंने सोने की खोज की है। सुना है, दक्षिणापथ के नरेश ब्रह्मदेश से पूर्व सुवर्णद्वीप में सोने की खोज के लिए अपने अनुचर भेज रहे हैं। उत्तरापथ तो सोने से एकदम शून्य हो गया है। सीदी मौला कहते थे, दिल्ली के सुलतान और अमीर भी सोने के लिए आकुल हैं। बोधा हताश हैं, हाय सोना !

उस दिन बोधा की जीत हुई थी। कूटनीति को और अवसर मिलना चाहिए। मैना हार गयी थी, अनियन्त्रित वीर-दर्प को अभी शान्त रहना चाहिए। जाते-जाते कह गयी थी, 'भद्रकाली के उद्धार और उसके अपहर्त्ता को दण्ड देने का काम मुझे दीजिए और अपनी कूटनीति का चक्र चलाते रहिए। इतना काम करने में तो कोई दोष नहीं है न प्रधान !' उसके स्वर में तीखी चोट थी। बोधा अविचलित

रहे। चोट का उत्तर उन्होंने हँसकर दिया था। मैना तिलमिला गयी थी। बोधा ने कहा था, ''इसमें क्या दोष है?' मैना ने मुझे प्रणाम किया, क्रुद्ध सिंहनी के समान उसने ग्रीवा को घुमाया और युवजनोचित उद्धत गति से चल पड़ी। चलते-चलते कहती गयी, 'शाह भी भण्ड है। भगोड़ों से कुछ बननेवाला नहीं है। प्रधान को भय है कि उसका असन्तोष कोई भी, कभी भी दूर कर सकता है। ठीक है। उसका असन्तोष हमीं दूर करें और वह सदा दिल्ली के सुल्तान से असन्तुष्ट रहे, इसका भार भी मेरे ऊपर।' मैना, मैनसिंह ? क्या अपूर्व दर्प है! चली तो धरती पर अनुराग की तरंगें हिल्लोलित हो उठीं, बोली तो आकाश में कम्पन सिहर उठा उस दिन। मैं मुग्ध होकर देखता रहा था।

बोधा की वह जीत क्षणिक थी। आज कुरुक्षेत्र से मालव भूमि तक घनघोर युद्ध के उन्माद से ग्रस्त होकर फिरकी की तरह नाच रहा हूँ। बार-बार सोचता हूँ कि मनुष्य कितनी थोड़ी दूर तक देख सकता है। उस दिन मैना का मन तोड़ना व्यर्थ का खिलवाड़ ही साबित हुआ। जिस समय हम सोना प्राप्त करने की योजना बना रहे थे, उस दिन दक्षिण और पश्चिम के आकाश से घनघोर बादल उमड़े आ रहे थे। मैना बुरा मान गयी। कुछ करने ही गयी होगी। रह-रहकर उसका आहत दर्प याद आ रहा है। कहाँ गयी होगी वह ?

बोधा प्रधान ने शान्त स्वर में कहा था, 'मैना इन दिनों अकारण उत्तेजित है; तर्क नहीं सुनती, केवल एक ही रट लगाये रहती है, महाराज से आज्ञा लेकर दिल्ली पर चढ़ाई कर दो। मुझे उसकी मानसिक स्थिति असन्तुलित जान पड़ती है। भय होता है कि उसका बाल-सुलभ चापल्य कुछ अनर्थ न करा दे। उसे अभी तक एक ही बात से रोकता रहा हूँ। जब वह उत्तेजित होती है तो कहता हूँ, ऐसा करने से महाराज के अनिष्ट की सम्भावना है।' फिर हँसकर बोले, 'इस उद्धत सर्पिणी को वश में रखने का यही मन्त्र रह गया है मेरे पास।'

सुनकर हृदय को धक्का लगा था। सोचने लगा, क्या रानी की भाँति उनकी सखी भी मानसिक असन्तुलन का आखेट बनने जा रही है ? हे भगवान् !

32

मैना का पता चल गया। उसने असाध्य-साधन किया है। स्वयं सीदी मौला ने समाचार दिया। उनकी फक्कड़ाना मस्ती उस दिन पूर्णिमा के समुद्र की भाँति उद्वेल हो उठी थी। बोले, ''महाराज, मैंने मैनसिंह-जैसा तेजस्वी युवक नहीं देखा।

व्याघ्र के मुँह में हाथ डालकर उसके पेट से किसी वस्तु को निकाल लाना सरल है, किन्तु दिल्ली के सुलतान के विकट जठर से शाह के परिवार को निकाल लाना कठिन है। मैनसिंह ने यही दुष्कर कार्य किया है। सीदी मौला ने आज तक किसी के पैर नहीं छुए हैं, पर इस युवक के पैर छू लेने की इच्छा होती है। कैसा वीर है, कैसा चतुर है, कैसा भोला ! इतना बड़ा काम किसी और ने किया होता तो घमण्ड से फूल उठता, पर वह तो और भी संकुचित लगता है। शाह ने घोषणा की है, वह जो भी माँगेगा उसे दे देगा। प्राण भी माँगे तो वह नहीं हिचकेगा। मैं स्वयं शाह का सन्देशा लेकर उसके पास गया, पर वह तो किसी के सामने जाने में भी लजाता है। आवाज तो उसके मुँह में है ही नहीं। चुपचाप टुकुर-टुकुर ताकता रहा। फिर फुसफुसाकर बोला, 'बाबा, मैं तो महाराज सातवाहन का सेवक हूँ। शाह उनके कार्यों में तन-मन-धन से सहयोग दें, यही मेरा पुरस्कार है !' "

सीदी मौला की आँखें कुछ गीली हो आयीं। बोले, "महाराज, बहुत-से पोंगे सिद्ध मैंने देखे हैं जो दो-दो पैसे पर ईमान बेच देते हैं। पर ऐसा त्यागी, ऐसा सत्त्वगुणी, ऐसा पवित्रात्मा तो मैंने नहीं देखा। नन्हा-सा बालक है, कैसा अद्भुत देवोपम चरित्र है !"

आज सीदी मौला को नया सत्य दिखायी पड़ा था। उनके चट्टान-से कठोर हृदय पर कोमल दूब उग आयी थी। वे उच्छ्वसित थे। एकाएक उनका भाव बदला। कुछ कुटिल हँसी हँसकर उन्होंने कहा, "सब भण्ड हैं। यहाँ राजा भण्ड हैं, मन्त्री भण्ड हैं, फ़कीर भण्ड हैं, रईस भण्ड हैं। सब स्वार्थ के चेरे हैं। सीदी मौला के पास इसलिए आयेंगे कि वह सोना बनाकर दे देगा। सोना मिलने की आशा हो तो उनसे चिलम भरवा लो, पैर दबवा लो; जूठा बर्तन मँजवा लो। स्वार्थ के गुलाम हैं। दिल्ली में गुलामों का राज्य है। सब-के-सब चुगलखोर, चरित्रहीन, क्रूर, गँवार। नाश हो जायेगा इस सल्तनत का ! गाँठ बाँध लो महाराज, जिस सल्तनत में सबको अपनी-अपनी पड़ी हो, जिसमें बड़े-से-बड़े को अपना सिर बचाने की ही चिन्ता पड़ी हो; जिसमें प्रजा के सुख-दुःख से कोई मतलब ही न हो, वह नाश के कगार पर खड़ी है। वे भाग्यहीन डण्डे के बल से राज चाहते हैं। सब नरक के कीड़े बनेंगे। तुम भाग्यवान हो, तुम्हें मैनसिंह-सा सेवक मिला है। शाह तुमसे बड़ी आशा रखते हैं। वे तुम्हारे सच्चे मित्र हैं। उन्होंने कहलवाया है कि तुम उन पर पूरा भरोसा कर सकते हो। वे मैनसिंह के उपकारों का कोई प्रतिदान नहीं दे सकते, पर तुम्हारी सहायता प्राण देकर भी करेंगे। दिल्ली के नरक में यही तो एक देवता था महाराज ! अभागे सुलतान ने इसे भी शत्रु बना लिया। शाह को इस बात का बड़ा दुःख है कि वे मैनसिंह का सम्मान करना तो दूर, उसे देख भी नहीं सके। वह भोला बालक जो अन्तर्धान हुआ सो हुआ। पता नहीं किधर निकल गया ! शाह के परिवार को कारागार से छुड़ाकर, यहाँ तक पहुँचाकर फिर लुप्त हो गया।

बलिहारी है उसके साहस की ! कुल तीस ही युवक तो उसके साथ थे, पर ग्राँधी की तरह टूटा ग्रौर कारागार तोड़कर, दिल्ली के पहरेदारों की ग्राँखों में धूल झोंककर निकल ग्राया। सुलतान बौखला उठा है। सुना है शाह को बन्दी बनाने का ग्रादेश दिया है। उसकी सेना उमड़ी चली ग्रा रही है।''

सीदी मौला नहीं जानते कि उनका एक-एक वाक्य मेरी नसों में कितनी बिजली उँडेल रहा है। वे जानने की ग्रावश्यकता भी नहीं समझते। सुननेवाले पर क्या बीत रही है इसकी चिन्ता न कभी थी, न ग्राज है। वे कह रहे हैं, क्योंकि कहने में उन्हें ग्रानन्द मिल रहा है। वे ग्रपनी मौज में बहते हैं। उनके बहने से किसकी क्या लाभ-हानि है इसकी चिन्ता उन्हें नहीं है। मेरी छाती फूल रही है, भुजाएँ फड़क रही हैं, समूचा ग्रस्तित्व दलित द्राक्षा की भाँति निचुड़कर बह जाना चाहता है। मैनसिंह—मैना !

सीदी मौला बहते रहे, ''सुना है महाराज, विद्याधर भट्ट को सुलतान ने फिर चिढ़ाया है। तैलपों ने जो मन्दिर बनाये थे उसके भित्तिगात्र पर खुदी मूर्त्तियों की नाक तोड़ देने का ग्रादेश दिया है। मूर्ख कहीं का ! विद्याधर भट्ट को चिढ़ा रहा है या सारी भारतीय जनता को ! ग्रपनी नाक बचा बाबा ! एक पापी कितना बड़ा ग्रनर्थ कर सकता है ! वह भारतीय जनता को दो भागों में बाँटना चाहता है—हिन्दू ग्रौर मुसलमान। चाहता क्या है, उससे ऐसा ही हो रहा है। परमात्मा ने ग्रादमी को दो तरह का नहीं बनाया। सुलतान बनाने जा रहा है। सुलतान के मूर्ख साथी समझ नहीं पा रहे हैं कि वे कितने बड़े महानाश का बीज बो रहे हैं। शाह इस समाचार से मर्माहत हैं। वे इस भेद को मिटाना चाहते हैं। उनकी राजमहिषी हिन्दू-पद्धति से पूजा-पाठ करती हैं। शाह ग्रानन्द-गद्गद होकर सुनते हैं। पर सुलतान कहता है कि यह बात बुरी है। परमात्मा ने उसे भेद पैदा करने का भार दिया है, शाह परमात्मा की इच्छा का विरोध कर रहा है। सुनी है महाराज तुमने कहीं ऐसी बात ? सब मुसलमान पुण्यात्मा हैं, सब हिन्दू धर्मद्वेषी हैं। मुसलमान होकर सब ग्रच्छे हो जाते हैं—चोर हों तो, डाकू हों तो, पाखण्डी हों तो। सुलतान ऐसा ही मानता है। परमात्मा से भी मज़ाक करना चाहता है ! शक्तिमद का ऐसा उद्धत रूप तुमने नहीं देखा होगा।

''ग्रब उधर से विद्याधर भट्ट ने योगियों की सेना इकट्ठी की है। धर्म की रक्षा के लिए उन्हें लूटमार करने का ग्रधिकार दिया है। लेकिन क्या यह सत्य है महाराज, कि रानी चन्द्रलेखा के नेतृत्व में इस विचित्र धर्मरक्षक दल का संगठन हुग्रा है ? सुना है बारह सम्प्रदायों के योगी संगठित हुए हैं। रानी चन्द्रलेखा को वे लोग विमला देवी का ग्रवतार मानते हैं। सुना है कि त्रिशूल उठाकर सबने शपथ ली है कि जब तक सारी ग्रार्यभूमि विदेशियों से मुक्त नहीं हो जाती तब तक वे लोग शस्त्र-त्याग नहीं करेंगे, सैनिक संगठन का क्रम टूटने नहीं देंगे, ग्रधर्म के विरुद्ध निरन्तर ग्राघात करने से विरत नहीं होंगे ग्रौर गौ-ब्राह्मण, मन्दिर-मठ ग्रौर शिशु तथा नारी की रक्षा के व्रत से विरत नहीं होंगे। प्रतिज्ञा तो बुरी नहीं

है, पर क्या इन मूर्ख गाँजाखोरों की सेना इसे निभा सकेगी ? सुना है महाराज, रानी ग्रापसे मिलने के लिए चल पड़ी हैं। मूर्खों ने उड़ा रखा है कि वे ग्राकाश-मार्ग से उड़कर चली ग्रा रही हैं। शाह को इस समाचार से बड़ी प्रसन्नता हुई है।"

सीदी मौला ने प्रश्न किया तो मैंने समझा कि कुछ उत्तर पाना चाहेंगे। यद्यपि ये सब समाचार मेरे लिए नये हैं ग्रौर मैं इसका केवल 'नहीं' में ही उत्तर दे सकता हूँ, पर मुझे थोड़ी ग्राशा बँधी कि वे रुकेंगे, पर सीदी मौला का प्रश्न केवल उनकी वचन-रचना की शैली-मात्र सिद्ध हुग्रा। वे रुके नहीं, कहते ही गये। बोले, "शाह से तुम्हें मिलना चाहिए महाराज ! वह बहुत शिष्ट है, तुम्हारा मित्र होने योग्य। इस समय वह तुमसे मिलने को व्याकुल है। वह उपकार-भार से दबा है, उसके ऊपर संकट भी है। ग्रौर संकट भी ऐसा जो तुम्हारे ग्रौर उसके ऊपर समान भाव से है। तुम दोनों की मित्रता इस समय बहुत ग्रावश्यक ग्रौर मंगल-जनक होगी। शाह के यहाँ ग्राज उत्सव भी है।"

सीदी मौला ने एक बार मेरी ग्रोर कुटिल भाव से देखा, फिर ठहाका मारकर हँसे ग्रौर बोले, "मूर्ख सारी दुनिया की चिन्ता में घुलते रहते हैं। सब समझते हैं कि विधाता ने दुनिया को सँभाल रखने का काम उन्हें ही सौंपा है। क्यों चिन्तित होते हो बाबा ? नाव तुम्हारे भरोसे थोड़े ही चल रही है ! पतवार पकड़कर जो बैठा है उस पर भरोसा रखो। पर सुनता कौन है ? सब समझते हैं कि वे ही संसार को निश्चित दिशा में चलाने के लिए नियुक्त हैं। ये जो किरात हैं न महाराज, इनके साथ चीनों का नाम तुम सुनते ग्राये हो। तुम समझते होंगे कि दोनों एक ही जैसे हैं, पर दोनों के दो विश्वास हैं—परस्पर-विरोधी। यहाँ तो महाभारत-युग से लोग चीनों ग्रौर किरातों को भाई-भाई मानते ग्रा रहे हैं पर मैं मानता हूँ कि ये दोनों परस्पर को काटने के लिए कितने व्याकुल हैं ! किरात समझता है कि विधाता कुछ करना चाहता है तो उसे ग्रवसर दे देता है; वे निमित्त हैं, करनेवाला कोई ग्रौर है। लेकिन चीन कहता है कि वह जो चाहेगा वही होगा। वही दुनिया को सँभाल-सुधारकर रखने के लिए भेजा गया है। कितनी बार दोनों में ठन चुकी है। दोनों ग्रपने-ग्रपने विश्वास में दृढ़ हैं, पर विधाता न इसकी सुनता है न उसकी। वह ग्रपने ढंग से चलता है।

"यह जो मिथिला है न महाराज, इसका पुराना नाम विदेह है। विदेहों का राज्य कभी हिमालय के उस पार तक था। बीच में किरात घुसकर उसे दो टुकड़ों में विभक्त करने में समर्थ हो गये। उत्तर विदेह ग्रौर दक्षिण विदेह का सम्बन्ध टूट गया। मगर उत्तर विदेहवाले ग्राज तक चीनों से लोहा लेते रहे हैं। चीनों ने कितनी बार चाहा कि उन्हें निगल जायें। एक बार शानवंशी राजाग्रों ने एक लाख सेना भेजी थी। विदेहों के पास कुल पाँच सहस्र सैनिक थे, मगर लड़ना कोई विदेहों से सीखे। चीनों की विशाल सेना से ऐसे जूझे जैसे फुर्तीला बाज सर्पों से जूझता है। विधाता की कुछ ग्रौर ही योजना थी। उद्धत चीनों ने किरातों के

एक गाँव में आग लगा दी थी। मर्माहत किरात उत्तर की ओर से उन पर टूट पड़े। विदेह तो जहाँ-के-तहाँ रह गये, पर एक लाख चीनी हिमालय की चोटियों पर सदा के लिए सो गये। शानवंश का तख्ता ही उलट दिया गया। मदमत्त होकर शिक्षा देने चले थे, खुद ही शिक्षा पा गये। क्यों फूले फिरते हो बाबा, काल चुटिया पकड़े है, उसे देखो!"

सीदी मौला एकदम चुप हो गये और बोलना जो बन्द किया सो बन्द ही कर दिया। थोड़ी देर मौन रहकर बिना किसी भूमिका के उठे और एक ओर चल दिये। गये तो ऐसे गये मानो पहचानते ही नहीं। आये थे तो आँखें गीली थीं, जाने लगे तो सूख गयी थीं। एक झटके में मोह-ममता को तोड़कर निकल पड़े। विचित्र हैं, सब प्रकार से विचित्र!

उस समय सन्ध्या उतर आयी थी। पश्चिम समुद्र में निमज्जमान सूर्य की लाल किरणें तब भी ऊँची गिरि-शृंखलाओं को छू रही थीं, पर धरती पर धूसरता फैल गयी थी। अन्धकार अभी नहीं हुआ था, पर प्रकाश समाप्त हो गया था। रह-रहकर चमगीदड़ों का इधर-से-उधर आना-जाना ऐसा लग रहा था जैसे अन्धकार ने अपने विश्वस्त गुप्तचरों को टोह लेने के लिए भेजा हो। शीघ्र ही अन्धकार का पूर्ण शासन प्रतिष्ठित होनेवाला है। क्या घटित होने जा रहा है?

सीदी मौला ने अद्भुत ढंग से बातें कीं। समाचार देना उनका मुख्य उद्देश्य नहीं था, पर एक ही साथ कितनी बातें बता गये। मैना का शौर्य और आनुगत्य आज हृदय कुरेद रहा है। रानी आनेवाली हैं। विद्याधर भट्ट ने नयी सेना खड़ी की है, वह भी योगियों की। रानी के नेतृत्त्व में यह सब हुआ है। सुलतान मूर्त्तियों की नाक काटने का आदेश दे चुका है। शाह मर्माहत भी है, उल्लसित भी है, कृतज्ञ भी है, मिलना भी चाहता है। कितनी बातें वे बता गये और अन्त में अप्रासंगिक रूप से चीन-किरात युद्ध की बात कह गये, विदेहों की विजय-कथा भी सुना गये। कह गये, काल चुटिया पकड़े है; उसकी ओर देखो। सारी बातें विचित्र हैं। सीदी मौला में कुछ परिवर्तन देख रहा हूँ। उनके भीतर माया-ममता भी कहीं है अवश्य, पर बुरी तरह दुबकी हुई।

इसी समय बोधा पधारे। उनके चेहरे पर क्लान्ति के चिह्न उभर आये थे। यह क्लान्ति मानसिक निराशा की थी। मैंने उन्हें सीदी मौला की बातें बता दीं। आज तक शाह से मैं मिल नहीं सका और मिलने का अब उपयुक्त समय आ गया है, यह बात भी कह दी। बोधा के मुख पर इस समाचार से थोड़ी प्रसन्नता दीखी कि मैना ने शाह के परिवार का उद्धार कर लिया है। ऐसा जान पड़ा कि यह बात उन्हें पहले से ही ज्ञात थी। परन्तु शाह से मिलनेवाली बात उन्हें नहीं जँची। कातर प्रार्थना के साथ उन्होंने कहा कि अभी नहीं। हम यहाँ शाह के समान बल-सम्पन्न नहीं हैं। दुर्बल और सबल की मैत्री निभती नहीं। अशोक चल्ल की सारी शक्ति जब तक हमारे हाथ में नहीं आ जाती तब तक यह मैत्री शीलहीन होगी, लोक-चित्त में भ्रम उत्पन्न करेगी। बोधा ने यह भी बताया कि उन्होंने मैना को

यह बात समझाने में सफलता पायी है। अशोक चल्ल को दिये वचनों के लिए उनकी व्याकुलता का एक प्रमुख कारण यही है कि उनके बिना शाह की मैत्री भी निभ नहीं सकेगी। बोधा ने अपनी बात को अधिक सबल बनाने के लिए संस्कृत का नीति वाक्य सुना दिया—समानशील व्यसनेषु सख्यम्।

ठीक है, बिलकुल ठीक है। 'समानशील व्यसनेषु सख्यम्!' मैत्री शील और व्यसन की समानता चाहती है। जहाँ समानता नहीं, वहाँ शील उखड़ जाता है, मैत्री भहरा जाती है, स्नेह-तन्तु बिखर जाते हैं। बोधा की बातें स्पष्ट थीं। एक ही झटके में उन्होंने मुझे अनावृत यथार्थ के सामने खड़ा कर दिया। शक्तिशाली और शक्तिहीन की मित्रता केवल बात-की-बात है। पंचशील का पालन भी समान शक्तिवालों में ही हो सकता है। सबल और दुर्बल की मैत्री एक के आधिपत्य और दूसरे के आनुगत्य से अधिक महत्त्व नहीं रखती। बोधा ठीक कह रहे हैं। परन्तु अब ? मेरे मन में एक सहस्र चिन्ताएँ एक साथ उद्वेल हो उठीं। यहाँ आना क्या व्यर्थ हुआ ? क्या विद्याधर भट्ट की योजना को सफल बनाना ही मेरा कर्त्तव्य नहीं था ? कैसी विषम विडम्बना है ! नितान्त शक्तिहीन तो नहीं हूँ। मेरी शक्ति दिल्ली के दक्षिण में है, उत्तर में असहाय हूँ। जहाँ से सहायता मिलने की आशा थी वहाँ से मिल नहीं पा रही है। दो अनजाने वचन पहाड़ की तरह रास्ता रोककर खड़े हैं। उत्साह की धारा मानो जम गयी है। बोधा ठीक कह रहे हैं। मित्रता और शील की बातें थोथी सिद्ध हो रही हैं। मैंने निराशा-भरी दृष्टि से आकाश की ओर देखा।

बोधा मर्माहत हुए। उनका उद्देश्य मुझे निराश करना नहीं था। वे फिर सँभलकर उसी प्रकार बैठ गये। विनीत भाव से बोले, "शक्ति हमारे पास है धर्मावतार ! पर अभी प्रत्यक्ष नहीं हो पायी है। यदि अनुमति हो तो मैं प्रस्ताव करना चाहूँगा कि हम दोनों गुप्त वेश में शाह के उत्सव में सम्मिलित हों और वहाँ की यथार्थ स्थिति समझने का प्रयत्न करें।"

बोधा ने मध्यम मार्ग निकाला। उपस्थित भी रहें, अनुपस्थित भी रहें। मुझे प्रस्ताव उत्तम जँचा। मैंने अनुमति दे दी, पर वातावरण हल्का नहीं हो सका। चिन्ता की गहरी रेखाएँ मेरे ललाट पर खिंच ही आयीं। बोधा प्रधान भी आश्वस्त नहीं हो पाये। हम दोनों चिन्तित मुद्रा में आकाश की ओर देखने लगे। देर तक स्तब्धता और सन्नाटा बना रहा। शक्ति हमारे पास है, पर प्रत्यक्ष नहीं हो पायी है ! कब प्रत्यक्ष होगी ? कब, कब ?

सन्ध्या अब पूरी उतर आयी थी, किन्तु प्रकाश का क्षीण प्रभाव अब भी रह गया था।

अचानक धीर शर्मा, मैनसिंह और पुण्डीर का आविर्भाव हुआ—नाटक में जिस प्रकार अपटीक्षेप प्रवेश होता है, बहुत-कुछ उसी प्रकार। यह एकदम अप्रत्याशित था। मैनसिंह के रूप में दीर्घकाल बाद मैना को देखा। बलिहारी है उस शोभा की ! आज उसकी आँखें झुकी नहीं थीं। वे सीधे मेरी ओर

नियुक्त थीं। आनन्द और हुलास के प्रबल वेग से मैं जड़-सा बन गया। धीर शर्मा ने आशीर्वाद की मार से मुझे विचलित न कर दिया होता तो मेरी जड़ता न जाने कब तक उसी प्रकार बनी रहती। बोधा प्रधान ने धीर शर्मा को उठकर प्रणाम किया। उनके प्रणति-निवेदन को देखकर मुझे भी प्रणाम करने की बात याद आयी। इस बीच धीर शर्मा कई श्लोक बोल चुके थे और अब उनकी व्याख्या करने लगे थे। मैं मैनसिंह को देखने में ऐसा उलझा था कि उन वर्धापनिकावाले श्लोकों को ठीक-ठीक सुन भी नहीं सका। लेकिन इतना स्पष्ट था कि वृद्ध आचार्य बहुत प्रसन्न थे। पुण्डीर का ध्यान किसी को नहीं रहा। मैनसिंह ने ही बीच में टोककर कहा, "विद्याधर भट्टपाद का सन्देश लेकर पुण्डीर आये हैं धर्मावतार!"

अब मेरी दृष्टि पुण्डीर की ओर गयी। उसने साष्टांग प्रणिपात करके कहा, "अन्नदाता की जय हो! आचार्य विद्याधर भट्टपाद ने विजयी होने का आशीर्वाद दिया है। कुछ बहुत आवश्यक कार्य से उन्होंने मुझे भेजा है। जिस दिन मुझे यहाँ पहुँचना चाहिए था, उस दिन नहीं पहुँच सका। मार्ग में कुछ विघ्न उपस्थित हो गया। पहुँचने पर भी अन्नदाता के स्थान का पता लगाना कठिन जान पड़ा। बड़ी कठिनाई से आचार्य धीर शर्मा से सम्पर्क स्थापित कर सका। उनके प्रयत्नों से ही मैनसिंह से भेंट हो सकी। यहाँ तक पहुँचने में मुझे बहुत विलम्ब हुआ। विद्याधर भट्टपाद का आदेश था कि मैं शीघ्र ही लौट जाऊँ। उनका पत्र बड़ी कठिनाई से बचा पाया हूँ। इसे स्वीकार करने का प्रसाद हो और मुझे यथोचित आज्ञा मिले। रास्ते में मैंने जो कुछ देखा है उससे स्पष्ट हो गया है कि मेरा गोपाद्रि जाना तुरन्त आवश्यक है। भट्टपाद व्याकुलता से मेरी प्रतीक्षा कर रहे होंगे।"

पत्र मैंने ले लिया। मैनसिंह को आदेश दिया कि वह आचार्य धीर शर्मा और पुण्डीर के विश्राम की व्यवस्था करे। उनके चले जाने के बाद मैंने भट्टपाद के मुद्रांकित पत्र को बोधा प्रधान को पढ़ने के लिए दिया। उन्होंने सावधानी से उसे खोला; सन्ध्याकालीन क्षीण प्रकाश में बड़े आयास के साथ पढ़ा।

विद्याधर भट्ट का पूरा पत्र इक्कणि शैली में लिखा गया था। उसका ठीक-ठीक आशय उनके पट्टशिष्य बोधा प्रधान ही बता सकते थे। पत्र पढ़कर बोधा प्रधान ने बताया कि भट्टपाद बिलकुल प्रस्तुत हैं। उन्होंने अटवी सेना का संगठन कर लिया है और योगियों के बारह दल उनकी सेना में धर्मयुद्ध के लिए सैनिक रूप में संगठित हो गये हैं। यह विचित्र संवाद था, क्योंकि बताया गया था कि योगियों की सेना को कोई वेतन नहीं दिया जायेगा। वे केवल धर्म के लिए लड़ेंगे, परन्तु उन्हें अधिकार दिया गया है कि लूट-खसोट की सम्पत्ति अपने-अपने मठों के लिए रख सकते हैं। इस विचित्र 'धर्मयुद्ध' का कोई भयंकर परिणाम हो सकता है या नहीं, यह बात कदाचित् सोची ही नहीं गयी थी। लेकिन पत्र के अन्त में रानी चन्द्रलेखा के बारे में बहुत ही उल्लासवर्धक समाचार था। बताया गया था कि रानी के नेतृत्व में ही योगियों की सेना संगठित हुई है। योगियों ने रानी को परम-भट्टारिका विमला देवी का प्रत्यक्ष विग्रह घोषित किया है। यह भी लिखा है कि

रानी अब पूर्ण स्वस्थ हैं और हम लोगों के पास आने को व्याकुल हैं। विद्याधर भट्ट ने लिखा है कि शाह के साथ मित्रता दृढ़ होनी चाहिए। अशोक चल्ल और शाह दोनों की सम्मिलित सेना दिल्ली पर आक्रमण कर सके तो बहुत अच्छा है, पर यदि किसी कारणवश वे आक्रमण न करना चाहें तो भी उनकी तैयारी चलती रहनी चाहिए। उत्तर से दबाव न भी पड़े, केवल दिल्ली की कुछ शक्ति उस ओर लगी रहे, तो भी हमारा लाभ ही है। पत्र के अन्त में विद्याधर भट्ट ने अपनी सहज-गम्भीर शैली में इतना और जोड़ दिया था, ''विद्याधर भट्ट को अपने जीवन का अन्तिम और निर्णायक धक्का मारने की अनुमति हो। इस बार मातृभूमि के उद्धार के लिए वह मृत्यु को वरण करने का संकल्प कर चुका है। वह निष्कण्टक धरित्री के शासक के रूप में महाराजाधिराज सातवाहन को प्रतिष्ठित देखकर शान्ति के साथ स्वर्ग जा सकेगा। यद्यपि इसके पहले भी उसे स्वर्ग जाना पड़ा तो भी कोई हानि नहीं है। कम-से-कम महाराज जयित्रचन्द्र और परमर्दिदेव के सामने वह अपराधी की भाँति पहुँचने की लज्जा से मुक्ति पायेगा।'

विद्याधर भट्ट के पत्र में जो नहीं कहा गया था वह पुण्डीर ने सुनाया। उसने बताया कि प्रजा चट्टान की तरह दृढ़ है, सैनिक आँधी की तरह टूटने को प्रस्तुत हैं, विद्याधर भट्ट शत्रु पर झपटने के पूर्व घात लगानेवाले सिंह की भाँति स्थिर और सावधान हैं। उसने और भी उल्लास-भरी वाणी में बताया, "महारानी चन्द्रलेखा हमारा नेतृत्व करने को प्रस्तुत हैं। योगियों ने सर्वतीर्थों के पवित्र जल से उनका अभिषेक किया है। सहस्रों योगियों ने त्रिशूल उठाकर उनके सामने प्रतिज्ञा की है कि 'जब तक सारी आर्यभूमि विदेशियों के अपवित्र पद-संचार से मुक्त नहीं हो जाती, जब तक वे शस्त्र-त्याग नहीं करेंगे, सैनिक संघटन का क्रम नहीं टूटने देंगे, अधर्म के विरुद्ध निर्मम आघात करने से विरत नहीं होंगे और गौ, ब्राह्मण, शिशु, नारी, धर्मस्थान आदि की रक्षा के व्रत से पीछे नहीं हटेंगे।' महारानी धर्मावतार से मिलने को व्याकुल हैं। मेरे चलने के बाद वे भी चल पड़ी होंगी।"

मैंनसिंह ने पुण्डीर से जो यह समाचार सुना तो उन्मत्त की भाँति चिल्ला उठा, "जय! महारानी चन्द्रलेखा की जय!"

वृद्ध धीर शर्मा भी उसी प्रकार प्रमत्त उल्लास के साथ चिल्ला उठे, "जय, महारानी चन्द्रलेखा की जय!"

मेरी शिराओं में उष्ण रक्त का प्रबल वेग अनुभव हुआ। ऐसा जान पड़ा कि रक्त का एक-एक कण उन्मत्त भाव से पुकार उठा, 'जय, महारानी चन्द्रलेखा की जय!'

पुण्डीर ने उपसंहार किया; "जय, महाराज सातवाहन की जय!"

चार कण्ठों ने साथ-साथ दुहराया, "जय, महाराज सातवाहन की जय!"

पर्वत-कन्दराओं से मुझे सुनायी पड़ा, '···जय!'

मैंनसिंह को जैसे मनचाही वस्तु मिल गयी हो। वह उल्लास से अधीर,

जूझने को व्याकुल, टूट पड़ने को सन्नद्ध !

थोड़ी देर तक सन्नाटा रहा। फिर मैनसिंह ने ही मौन भंग किया। उसने अपने भाले को आकाश में उछाला, बिजली-सी कौंध गयी। सिंह-किशोर की भाँति गुर्राया, मेघ-सा गरज उठा, "भद्रकाली का कुछ सन्धान मिल गया है धर्मावतार ! आज्ञा हो तो भैरवपाद को लेकर पहचनवा लूँ और अशोक चल्ल को दिये वचनों को पूरा करूँ।"

उल्लास-मुखर-स्वर में मैं चिल्ला उठा, "साधु, मैनसिंह, अवश्य तुम्हें अनुमति है।"

मैनसिंह चुपचाप प्रणाम करके एक ओर चल पड़ा।

व्याकुल भाव से बोधा प्रधान ने पुकारा; "रुको मैनसिंह, कहाँ पता लगा, कैसे पता लगा ?"

धीर शर्मा ने बोधा प्रधान को डाँटा, "चुप रहो प्रधान, शुभ कार्य में जाते समय टोकना नहीं चाहिए।"

उल्लास-मत्त मैनसिंह की लीलायित गति रुकी नहीं। बोधा को चंचल कटाक्ष से आहत करता हुआ और हल्की-सी स्मिति-रेखा से बेधता हुआ वह चला ही गया। बोधा अज्ञात आशंका से व्याकुल हो उठे। कुछ बोल नहीं सके।

धीर शर्मा और पुण्डीर भी अनुमति लेकर चले गये। सबके चले जाने के बाद भी बोधा प्रधान खोये-खोये-से सोचते रहे। मैंने उनकी चिन्तित मुद्रा देखकर पूछा, "प्रधान, आज तुम्हें प्रसन्न होना चाहिए। आज चिन्तित होने का क्या कारण उपस्थित हो गया ?"

बोधा विचलित-से दिखायी पड़े। कुछ व्याकुल भाव से ही बोले, "बात तो सब प्रसन्नता की ही है अन्नदाता, पर जाने क्यों हृदय शंकित हो उठा है ! मैना उतावली में कुछ अनर्थ न कर बैठे।"

मैंने आश्वस्त करने के उद्देश्य से कहा, "चिन्ता न करो प्रधान, मैना चतुर है, शूर है, सोच-समझकर काम करनेवाली है। उससे ऐसे किसी कार्य की आशंका नहीं है जो हमारे लिए अहितकर हो।"

बोधा कुछ आश्वस्त अवश्य हुए, पर उनके मुखमण्डल पर चिन्ता की रेखाएँ फिर भी स्पष्ट दिखायी देती रहीं।

अन्धकार अब घना हो आया था। बोधा चिन्ता-निमग्न थे। उनके मन में निःसन्देह कुछ आशंकाएँ घुमड़ आयी थीं, पर उन्होंने कहा कुछ भी नहीं। देर तक मेरे मन में भी नाना प्रकार के विचार आते-जाते रहे। रानी क्या सचमुच इधर आ रही हैं ? उनके यहाँ तक पहुँचने का उपाय क्या है ? क्या वे भी पुण्डीर की भाँति धीर शर्मा को माध्यम बनायेंगी ? यदि मैं यहाँ से अन्यत्र चला गया तो उन्हें कैसे मेरा स्थान ज्ञात होगा ? क्या मैना इस सम्बन्ध में कुछ करेगी ? बोधा प्रधान कहते हैं कि हमें गुप्त वेश में शाह के स्थान पर चलना चाहिए, पर यदि रानी इसी बीच आ गयीं तो ? रानी का इतनी जल्दी आना क्या सम्भव है ? पुण्डीर

कह रहा था, उसके यहाँ तक पहुँचने में विलम्ब हुआ है। कहीं रानी उसके प्रस्थान के तुरन्त बाद ही चल पड़ी हों तो पहुँच भी सकती हैं। बोधा क्या सोच रहे हैं? क्या वे भी इसी उधेड़-बुन में हैं? हाय ऐसा तो नहीं होगा कि रानी आ जायें और मिल न सकें!

बोधा चंचल हुए। ऐसा जान पड़ा कि उनके अन्तर्जगत् की हलचल अब बाहर प्रकट होने लगी है। वे सावधान होकर बैठ गये और मेरी ओर दृष्टि करके कातर भाव से बोले, "यह स्थान छोड़ देना चाहिए धर्मावतार! सेवक को आज्ञा हो तो वह मैना का अनुसरण करे। जाने क्यों, मन में बड़ा उद्वेग है!"

बोधा की बात समझने में बहुत कठिनाई नहीं हुई। भावावेश में यहाँ कई कण्ठों ने जयघोष किया है। शत्रु-पक्ष का कोई व्यक्ति अगर सुन सका हो तो यहाँ संकट आ सकता है। पर स्थान छोड़ने पर रानी से मिलना कैसे होगा?

मनुष्य का चित्त कितना विचित्र है। रानी के आने की सम्भावना को मैंने निश्चित मान लिया था। रानी आ रही हैं, व्याकुल भाव से मुझे खोज रही हैं। बोधा प्रधान नहीं जानते, मेरा अन्तरतर जान गया है। फिर भी कैसा आश्चर्य है कि रानी के आने की इतनी स्पष्ट सम्भावना को मैं बोधा प्रधान से कहने में हिचक रहा था! मैं स्थिर बना रहा।

बोधा प्रधान ने फिर व्याकुल भाव से निवेदन किया, "अपराध क्षमा हो धर्मावतार! हमें यहाँ से हट जाना चाहिए। शीघ्रता करें, मेरा चित्त उद्विग्न है।"

उठना पड़ा, किन्तु मेरे चित्त का उद्वेग भी बाँध तोड़ देना चाहता है। मैंने उठते हुए कहा, "प्रधान, यदि रानी सचमुच आ गयीं तो?"

"तो वह क्षण मंगल-मुहूर्त्त होगा धर्मावतार! वे आयेंगी, अवश्य आयेंगी, पर उन्हें हम खोज लेंगे। अभी तो यहाँ से चल देना चाहिए। जब मंगलमय भगवान् ने उन्हें यहाँ तक आने का संकल्प दिया है तो आपको खोज लेने की शक्ति भी देंगे। हम कहीं दूर नहीं जायेंगे धर्मावतार! यदि तत्रभवती धीर शर्मा के पास पहुँच जायेंगी तो उन्हें आपको खोजने में कठिनाई नहीं होगी। जैसा होगा, वैसी व्यवस्था हो जायेगी। परन्तु अब देर न करें।"

हम दोनों वहाँ से उठे। बोधा के मन में आशंका थी कि शत्रु आ सकता है, मेरे मन में चिन्ता थी कि मित्र आ सकता है। एक ही परिस्थिति में दो प्रकार की प्रबल सम्भावनाएँ दो चित्तों को आश्रय करके उभर आयी थीं। कैसी विचित्र हैं मनोरथों की धावमान परिणतियाँ!

चारों ओर घने अन्धकार से आच्छन्न गिरि-शृंखलाएँ, उनके भीतर विभिन्न सम्भावनाओं से विचलित दो नगण्य मानव! विपुल अन्धकार में प्रकाश-रेखा की खोज चल रही है।

बोधा प्रधान मैना की बात सोच रहे हैं, उनका चित्त अज्ञात आशंका से उद्विग्न है। मैं रानी चन्द्रलेखा की बात सोच रहा हूँ, मेरा चित्त कल्पित आशा से

उद्वेल है। दोनों अन्धकार में चल रहे हैं, खोये-खोये।

रास्ता भयंकर है। एक पग असावधानी से पड़ा और हड्डी-पसली चूर हुई। घोर अन्धकार है, विकट वन-भूमि है, विषम मार्ग है, पद-पद पर भय है। बोधा प्रधान आगे-आगे चल रहे हैं, मैं पीछे अनुसरण कर रहा हूँ। रास्ता उन्हें भी नहीं मालूम, मुझे भी नहीं, पर चल रहे हैं। इस गहन अन्धकार में प्रकाश की कोई क्षीण रेखा भी दीख जाती !

बोधा भटक गये थे। मैं भी भटक गया। बोले, "दिग्भ्रम हो रहा है धर्मावतार ! हम तो मैदान की ओर चले आये। झर्झर स्रोत की पुलिन भूमि दीख रही है। आगे समतल भूमि है। छिपने के उद्देश्य से चले थे, और भी अरक्षित स्थान में आ गये। लौटें धर्मावतार ! मार्ग सूझ नहीं रहा है।"

मार्ग कहाँ सूझ रहा है ! चलते जा रहे हैं, कल्पित अज्ञात गन्तव्य की ओर अनजाने मार्ग से, अबूझ पहेली सुझाने के उद्देश्य से। सचमुच मार्ग नहीं सूझ रहा है। बोधा कहते हैं, लौट चलो। कहाँ ? अन्धकार से अन्धकार में ? नहीं प्रधान, लौटना सम्भव नहीं है, बहुत दूर बढ़ आये हैं।

झर्झर स्रोत के दूसरे किनारे पर प्रकाश की क्षीण रेखा दिखायी पड़ी। ऐसा जान पड़ता था, उस प्रकाश-रेखा को बाहर जाने से रोकने का प्रयत्न बहुत किया गया है, पर छिप नहीं सका है। कहते हैं, न प्रकाश छिपता है, न प्रेम। दोनों समस्त आवरणों को छिन्न करके फट पड़ते हैं। बोधा प्रधान के सशंक चित्त से प्रश्न उठा, "क्या रहस्य है ?" मेरे उद्वेल चित्त से उत्तर निकला, 'कोई रास्ता सूझेगा।'

बोधा प्रधान ने कहा, "धर्मावतार, कुछ रहस्य जान पड़ता है। ऊपर की ओर चलकर कोई सुरक्षित स्थान खोजा जाये।"

मैंने आपत्ति नहीं की। झर्झर स्रोत को पकड़कर ऊपर की ओर उठे। पर्वतश्रृंग के ऊपर उठकर फिर नीचे की ओर उतरना पड़ा, पर कैसा विधि-विधान है ! जिस प्रकाश-स्थान से बचने के लिए इतना आयास किया वह स्रोत के उस पार नहीं था, इसी पार था। हम ठीक उसी स्थान पर आ पहुँचे। पार्वत्य मार्ग की माया थी। एक उत्तुंग गिरिश्रृंग को घेरकर झर्झर स्रोत यहाँ धनुषाकार वक्र गति में बहा है। जिसे हम उस पार समझ रहे थे वह इसी पार था। मार्ग में दुर्लंघ्य गिरिश्रृंग !

अब ? बोधा प्रधान एकाएक सकपका गये। बिल्कुल बाघ की माँद में आ पहुँचे थे। चुपचाप किसी वृक्ष से लिपट जाने के सिवा चारा नहीं था। पर प्रातः-काल क्या होगा ? बोधा भय से काँप उठे। कहाँ आ फँसे ?

मैंने साहस बटोरा, "डरते क्यों हो प्रधान ? चुपचाप देखो भी तो कि ये लोग कौन हैं ? सब शत्रु ही हैं, ऐसा मान लेना ठीक नहीं है। और यदि शत्रु ही हैं तो इस तलवार पर भरोसा रखो। घबराना तो मूर्खता का ही नामान्तर है।"

बोधा प्रधान मूक, स्तब्ध, जड़ीभूत !

मैंने उन्हें पीछे किया, स्वयं ही कोई ऐसा स्थान ढूँढ़ने लगा जहाँ से छिपकर सबकुछ देखा-समझा जा सके और आवश्यकता पड़ने पर आत्मरक्षार्थ युद्ध भी किया जा सके। जब आ ही गये हैं तो अब डरने से क्या लाभ ? बोधा को भी साहस हुआ। फूँक-फूँककर पग रखते हुए उस विकट गिरि-पृष्ठ पर हमने एक ऐसा स्थान खोज लिया जहाँ से सब-कुछ स्पष्ट दीखता था, परन्तु देखनेवाले को कोई देख नहीं सकता था। यह स्थान आत्मरक्षा के लिए उतना उपयुक्त नहीं था जितना सीधे आक्रमण के लिए। पर आवश्यकता पड़ने पर झर्झर स्रोत में कूदा जा सकता था। हम दोनों उसी स्थान पर छिपकर बैठ गये और साँस रोककर देखने लगे कि वहाँ क्या हो रहा है। उस समय रात आधी बीत चुकी होगी। झर्झर स्रोत में कूदना ही पड़ा तो अन्धकार में विलीन होने के लिए पर्याप्त समय हाथ में था।

पर्वत-पृष्ठ पर एक छोटी-सी कन्दरा थी, जिसके आगे चौरस भूमि थी। जान पड़ता था उसे एकाध दिन पहले ही साफ किया गया था, कदाचित् गोबर से लीपा भी गया था। कन्दरा के सामनेवाली भूमि पर कुछ मण्डलिकाएँ भी थीं, पर स्पष्ट नहीं दीख रही थीं। एक युवती लाल वस्त्र से आच्छादित होकर आरती कर रही थी और मीठी-सुरीली ध्वनि में स्तोत्र का पाठ कर रही थी। बीच-बीच में प्रौढ़वयस्का एक महिला उसे पूजोपचार के लिए आवश्यक सामग्री दे जाया करती थी। कन्दरा के इस ओर के सिरे पर एक कमनीय मूर्त्ति पुरुष स्वच्छ-श्वेत वस्त्रों से आच्छादित होकर बैठा था। उसकी पीठ ही दिखायी दे रही थी। उसके वस्त्र सिले हुए लग रहे थे। उत्तरीय उसने नहीं धारण किया था, रह-रहकर आरती के मृदु प्रकाश में युवती का भक्ति-विह्वल कमनीय मुख दीख जाता था। ठीक गौर वर्ण की वह नहीं थी। आरात्रिक प्रदीप के प्रकाश में उसकी श्यामल कान्ति दमक उठती थी। पूरा मुख तो दिखायी नहीं देता था, पर निस्सन्देह वह अपूर्व सुन्दरी थी। पुरुष शान्त-स्थिर सुखासन में आसीन था। उसे किंचित्-मात्र भी हिलता नहीं देखा जा सका; जान पड़ता था समाधिस्थ था।

मैं आश्वस्त हुआ। बोधा को सम्बोधन करके धीरे-से कहा, "भय की कोई बात नहीं है प्रधान ! यह तो पूजा हो रही है।"

बोधा की दृष्टि स्थिर भाव से जमी हुई थी। उधर से दृष्टि हटाये बिना ही उन्होंने उत्तर दिया, "हुँ !"

मैंने कान लगाकर मृदु भाव से उच्चरित स्तोत्र को समझने की चेष्टा की। कदाचित् वे सप्तशती के ग्यारहवें अध्याय के श्लोक थे। बहुत स्पष्ट तो नहीं सुनायी पड़ा, पर छन्दों की तौल पर मैंने ऐसा ही अनुमान किया।

वातावरण शान्त और उदात्त था। भक्ति का प्रभाव शामक हुआ करता है। मैं एक विचित्र प्रकार की शान्ति अनुभव कर रहा था। बोधा प्रधान की दृष्टि उस दृश्य में चिपक गयी थी। बड़े आयास से धीरे-धीरे उसे वहाँ से हटाते हुए उन्होंने कान में कहा, "शाह का परिवार तो नहीं है ?"

मेरी शिराएँ सनाका खा गयीं। बोधा की दृष्टि फिर यथास्थान स्थिर हो गयी।

बोधा कहते हैं, शाह का परिवार तो नहीं है! सीदी मौला ने बताया था कि शाह की महिषी हिन्दू-पद्धति से पूजा-पाठ किया करती हैं। तो क्या वह रक्ताम्बरा सुन्दरी शाह की रानी हैं? निस्सन्देह उनमें राजमहिषी जनोचित गरिमा और अनुभाव है। श्वेत वस्त्र-समावृत यह पुरुष कौन है? स्वयं शाह ही तो नहीं हैं? जान पड़ता है संकट कट जाने के उल्लास में राजमहिषी ने इस निर्जन स्थान को पूजा के लिए चुना है। शाह इस भक्ति-भाव को अंग-अंग से अनुभव कर रहे हैं। बोधा प्रधान शाह को पहचानते हैं। मेरे अनुचरों में एकमात्र बोधा ही कह सकते हैं कि यह पुरुष शाह है या नहीं। परन्तु अभी तक वे शाह को ठीक-ठीक देख नहीं सके हैं। अनुमान से समझ रहे हैं कि शाह और उनका परिवार है। मुझे ऐसा लगने लगा कि बोधा का अनुमान सोलह आने सही है। यदि यही शाह हैं तो निस्सन्देह ये श्लाघ्यचरित होंगे। मेरे मन में श्रद्धा और अनुराग के मिलित भाव का उदय हुआ। शाह श्रद्धेय हैं, शाह प्रीतिपात्र हैं। ऐसा लगा जैसे युग-युग की संचित स्नेहराशि एकाएक उफन आयी हो। शाह मेरे मित्र हैं, शाह प्रीति के उपयुक्त पात्र हैं। मानो जन्म-जन्मान्तर का स्नेह-भाव शाह के रूप में विग्रह धारण कर गया हो। बोधा भी सोच रहे हैं। वे और भी निपुण भाव से परीक्षा कर रहे हैं कि उनका अनुमान कहाँ तक ठीक है।

अचानक भक्ति-भाव में रौद्र रस का संचार हुआ। अक्षोभ्य भैरव आँधी की तरह वहाँ आ उपस्थित हुए। उनके जटिल असंस्कृत केश छितराये हुए थे, आँखें लाल थीं, वस्त्र अस्त-व्यस्त थे; वे बुरी तरह हाँफ रहे थे। वे एकाएक चिल्ला उठे, "भद्रकाली, भद्रकाली, मेरी प्यारी बेटी भद्रकाली!"

आरती करनेवाली युवती ,फड़फड़ाकर उठ गयी। श्वेत वस्त्रवाला पुरुष साध्वसवश उठ खड़ा हुआ।

उसके मुँह की एक झलक बोधा को दीख गयी। उल्लसित भाव से बोले, "शाह ही हैं धर्मावतार!"

परन्तु घटनाचक्र बड़ी तेजी से चल पड़ा। जब तक मैं कुछ और सोचूँ तब तक भैरवपाद चिल्ला उठे, "भद्रकाली का अपहर्त्ता मिल गया है। मैनसिंह, मैनसिंह, इस नरक के कीड़े को अपनी जगह भेज दो!"

बिजली की तरह मैनसिंह अक्षोभ्य भैरव के पीछे से झपटा और अपने विशाल कुन्त की एक ही चोट में शाह को धराशायी बना दिया। बोधा पहले से ही कुछ आशंकित थे। जब तक 'रुक जा, रुक जा मैना!' कहकर वे उधर लपके तब तक शाह कन्दरा-मुख में स्थित नीलतारा की छोटी मूर्त्ति के चरणों में लोट गये। भद्रकाली परकटे पक्षी की तरह शाह पर गिर गयी, "हाय पिता-जी, मेरा सुहाग लूट लिया!"

एक क्षण मैं स्तब्ध सुन्न-सा खड़ा रहा। फिर तेजी से शाह के शव की ओर

लपका, परन्तु तब तक आरती का दीप बुझ गया था। अक्षोभ्य भैरव करुण चीत्कार कर उठे, "हाय बेटी!"

देखते-देखते नीलतारा के चरणों में तीन भक्त ढेर हो रहे। प्रौढ़ वयस्का महिला धाड़ें मारकर रो पड़ी और छाती पीटती हुई शव-समूह पर लुढ़क गयी। बोधा का सिर घूम गया। मेरी वाणी को काठ मार गया। केवल यही कह सका, "'हाय मैना, यह तूने क्या किया? तेरे ही हाथों से मित्रघात होनेवाला था?"

एक क्षण में क्या-का-क्या हो गया! अशोक चल्ल को दिये वचन पूरे हो गये। बोधा प्रधान की कूटनीति फलवती हुई, अक्षोभ्य भैरव की नीलतारा-साधना चरितार्थ हो गयी, मैना की प्रतिज्ञा पूरी हुई, धर्मबन्धन से मेरी मुक्ति हो गयी। कह नहीं सकता कि क्या हुआ! दूर से करुण चीत्कार सुनायी पड़ा, 'बचाओ-बचाओ!' कण्ठ परिचित जान पड़ा। बिजली-सी कौंध गयी। बोधा प्रधान ने भी सुना। यन्त्रचालित की भाँति हम दोनों दौड़ पड़े। कुररी की भाँति चीत्कार करके कोई चिल्ला रहा था—'बचाओ, बचाओ!'

शब्द का अनुसरण करते हुए हम दोनों पहुँचे तो मैना रक्त से भीगी हुई एक अपूर्व तेजस्विनी महिला की गोद में गिरी पड़ी है। अन्धकार में केवल शब्द सुनायी दे रहा था—'बचाओ!' मैना ने अपने भाले से अपने को ही भोंक दिया था, पर यह महिला कौन है जिसकी गोद में मैना पड़ी है? दुर्भाग्य का परिहास बड़ा ही विकट था। यह रानी चन्द्रलेखा थीं। मैना ने इन्हें पीछे रखकर शीघ्र ही लौट आने का वचन दिया था। मेरी बात से वह समझ गयी थी कि उसने कोई बड़ा अनर्थ कर दिया है। प्रायश्चित-स्वरूप उसने अपने को ही समाप्त कर देने का प्रयास किया था। रानी मुझे पहचान गयीं। केवल करुण-कातर ध्वनि में इतना ही कह सकीं—'हाय महाराज!' और मैना के शरीर पर पछाड़ खाकर गिर पड़ीं।

महाराज सातवाहन से मिलने के लिए व्याकुल रानी का यही मिलन हुआ। उन्हें होश में लाने में थोड़ा विलम्ब हुआ। फिर बोधा ने मैना के आहत शरीर को उठा लिया और यह कहते हुए कि 'जल्दी महाराज, जल्दी भागिए!' रानी को और मुझे घसीटते हुए पर्वत-वनस्थली में घुस गये। रानी पहले से ही थकी हुई थीं, अब तो उनमें चलने की शक्ति ही नहीं थी। मैंने उन्हें बलात् पीठ पर लाद लिया। घने अन्धकार में विकट वनभूमि के मार्ग से हम लोग भागे। सोचने का अवसर ही नहीं मिला।

उपसंहार

कथा का इतना ही अंश अघोरनाथ से प्राप्त हुआ है। पं० व्योमकेश शास्त्री ने इस कथा के सम्बन्ध में यह टिप्पणी भेजी थी :

"अघोरनाथ ने शिला पर उट्टंकित लेख से इस कथा के उद्धार करने का दावा किया है। परन्तु दो बातें इसमें चिन्त्य हैं—प्रथम तो यह कि इस पूरी (या वस्तुत: अधूरी) कथा में चन्द्रलेखा का लिखा अंश बहुत कम है। बाकी अंश जो राजा सातवाहन के मुख से कहलाया गया है, किस प्रकार संगत है, यह स्पष्ट नहीं होता। इस सम्बन्ध में पूछने पर अघोरनाथ बहुत असन्तुष्ट हो गये थे और ज्ञानी के लहजे में बोल उठे थे कि पत्थर पर खुदी हुई बातें ही सत्य नहीं होतीं, समाधिस्थ चित्त में प्रतिफलित बातें भी इतनी ही सत्य होती हैं। इसका मतलब यह हुआ कि कुछ बातें उनके समाधिस्थ चित्त में भी प्रतिफलित हुई थीं। दूसरी बात यह है कि कथा में अनेक प्रसंगों में परवर्त्ती ग्रन्थों की चर्चा की गयी है; एक दोहा तो 'बिहारी सतसई' का भी आ गया है। अरबी-फारसी के शब्द भी प्रचुर मात्रा में आये हैं।

ऐतिहासिक दृष्टि से कथा में असंगति नहीं है। ऐसा लगता है कि किसी ने ऐतिहासिक तथ्यों को सोच-विचारकर इसमें पिरोया है। फिर भी उज्जयिनी के राजा सातवाहन का कोई प्रमाण नहीं है। सबसे खटकनेवाली बात इसकी शैली है। शिला पर उट्टंकित लेख पहले से लिखा गया होता है, परन्तु कथा दैनन्दिनी शैली में है। लेखक आगे घटनेवाली घटनाओं से एकदम अपरिचित जान पड़ता है।

अघोरनाथ आधुनिक विचारों के, पुरानी परिपाटी में शिक्षित, सिद्ध हैं। वे भावुक और कल्पनाप्रवण जीव हैं। कथा में ऐसे विचार मिलते हैं जो आधुनिक युग की देन हैं, पर सर्वत्र उन पर पुराने ढंग की भाषा का आवरण है।

कथा में सांस्कृतिक और धार्मिक तत्त्व हैं, पर उन्हें आधुनिक शिक्षाप्राप्त व्यक्ति के संस्कार से समावृत होना पड़ा है। यह एक विचित्र बात है कि हर तान्त्रिक साधना का मनोवैज्ञानिक अर्थ इस कथा में खोजा जा सकता है। जिन बातों का समाधान कथा में नहीं मिलता उनकी व्याख्या आधुनिक ज्ञान के आलोक में हो जाती है। इल्मिशखाँ की समाधि के पास पाये गये अग्निगर्भ मिट्टी के ढेलों का रहस्य उस क्षेत्र में पाये गये केरोसिन और पेट्रोलियम की जानकारी से समाधेय हो सकता है। सीदी मौला के रसेश्वरी मत को आधुनिक युग के इलेक्ट्रॉन और प्रोटोन के तोड़ने के प्रयत्नों से ठीक-ठीक समझा जा सकता है।

ये मेरे मन में कथा की प्रामाणिकता के विषय में उठी शंकाएँ हैं। परन्तु कथा का स्वर विश्वसनीय है। अघोरनाथ के लिए भी यह असम्भव ही जान पड़ता है कि इसमें से तथ्य और कल्पना को अलग-अलग करके दिखा दें। वस्तुतः इस दृष्टि से कथा में एक जीवन्त ऐक्य है। साहित्य के शिक्षार्थी के लिए यह बात कम महत्त्वपूर्ण नहीं है।

परिशिष्ट

1. तुलनीय—मिनाहज सिराज लिखित (1193-1226) 'तबक़ाते नासिरी' 199।
2. तुलनीय—'प्रबन्ध कोश', 'हर्ष-प्रबन्ध' और 'पुरातन प्रबन्ध-संग्रह', 'जयित्र-चन्द्र प्रबन्ध'।
3. केरोसिन तेल के आविष्कार के पहले का रूप।
4. 'पुरातन प्रबन्ध-संग्रह' में।
5. तुलनीय—दुर्वारस्फारगौड़ द्विरदरवघटाकुम्भनिर्वेदभीमो
   हम्मीरं न्यस्तवैरं मुहुरिह समरक्रीडया यो विधत्ते
   शाश्वतसंचारिवल्गत्तुरगखुरपुटोल्लेखमुद्रासनाथ-
   क्षोणीस्वीकारदक्षः स इह विजयते प्रार्थनाकल्पवृक्षः ॥
   —1109 ई. का गोविन्दचन्द्र का ताम्रपत्र (एपिग्राफिका इंडिका, जिल्द 18, पृ. 15)
6. सर्वानन्द की 'अमरकोष' की टीका में उद्धृत कश्मीरी कवि वल्लभदेव की 'सुभाषितावली' से गृहीत श्लोक से तुलनीय।
7. 'वेणीसंहार' नाटक 3-6 से तुलनीय।
8. 'बृहत्कल्प भाष्य' नामक जैन-ग्रन्थ की निम्नलिखित गाथाओं से तुलनीय—
   मा एवमसग्गाहं गिण्हसु सुयं तइय चक्खु। किं वा तुमे निलसुतो न स्सुयपुव्वो अवो राआ ॥1154॥ जव राआ दीहपट्ठो सचिवो पुत्तो अ गद्दभो तस्स। धूता अडोलिया गद्दभेण छूढा य अगडम्मि ॥1155॥ पव्वयणां च नरिंदे पुणरागमणं डोलि खेलणं चेडा। जव पत्थणं खररसा उवस्सवो फरुस सालाए ॥1556॥
9. अभ्रकस्तव बीजन्तु, मम बीजन्तु पारदः। अनयोर्मेलनं देवि मृत्युदारिद्र-नाशनम् ॥—सर्वदर्शनसंग्रह, पृ. 274॥
10. प्राणतोषिणी में 'नारद-पाँचरात्र' से तुलनीय।
11. 'स्वतन्त्र-तन्त्र' में छिन्नमस्ता के रूप में उद्भव का जो कारण दिया हुआ है, उसमें देवी के असन्तोष और चण्डभाव का रहस्य है।
12. रुद्रयामल के अनुसार सोलह कुमारियों के नाम इस प्रकार हैं—सन्ध्या, सरस्वती, त्रिधामूर्ति, कालिका, सुभगा, उमा, मालिनी, कुब्जिका,

कलसन्दर्भा, अपराजिता, रुद्राणी, भैरवी, महालक्ष्मी, पीठनायिका, क्षेत्रज्ञा और अम्बिका।

13. तुलनीय—'साधनामाला' : आर्यनागार्जुनपादैः भोटेषु समुद्धृतम्।
14. तु०—तारायाः दक्षिणे पार्श्वे अक्षोभ्यं परिपूजयेत्।
    समुद्रमन्थे देवि, कालकूटं समुत्थितम्।
    सर्वे देवाः सदाराश्च महाक्षोभमवाप्नुयुः।
    क्षोभादिरहितं यस्मात् पीतं हालाहलं विषम्।
    अतएव महेशानि अक्षोभ्यं परिकीर्तितः।
15. तुलनीय—"अहोमूर्खता लोकस्य। केचिद्वदन्ति शुभाशुभकर्म विच्छेदनं मोक्षः, केचिद्वदन्ति वेदपाठश्रितो मोक्षः, केचिद्वदन्ति निरालम्ब-लक्षणो मोक्षः" इत्यादि।—'अमरौघशासनम्', पृ. 8-9।
16. तुलनीय—षट्चक्रं षोडषाधारं द्विलक्ष्यं व्योमपञ्चकम्।
    स्वदेहे ये न जानन्ति कथं सिद्ध्यन्ति योगिनः।
    एकस्तम्भं नवद्वारं गृहं पंचाधिदैवतम्।
    स्वदेहे ये न जानन्ति, कथं सिद्ध्यन्ति योगिनः॥ गोरक्षशतक 13-14॥
17. तुलनीय—'अमरौघशासनम्', पृ. 8।
18. मैं यमुना पुलिन पर घर के काम के लिए पानी लाने गयी थी। उसी समय घनघोर उमड़ते हुए मेघों से आसमान सब ओर से काला हो उठा। गरजती हुई धारासार वर्षा से मैं असहाय होकर धरती पर गिर गयी। अचानक चतुर नट के समान कलाबाज़ कोई चपल आया और मुझे गोद में उठा लिया। उस चपल की जय हो!
19. भागवत के इस श्लोक से तात्पर्य जान पड़ता है : यदयुज्यतेऽसु वसुकर्मवचो मनोभिर्देहात्मजादिषु नृभिस्तदसत् पृथक्त्वात्। तैरेव सद्भवति चेत् क्रियतेऽपृथक्त्वात्सर्वस्य तद्भवति मूलनिषेचनं यत्॥
20. तुलनीय—पृथ्वीराज रासो : इंछिनी विवाह प्रसंग।
21. मुनि लोग इसे देवताओं का चाक्षुष यज्ञ कहते हैं।
22. इतिहास के पण्डित महाराज हरिश्चन्द्र के नाम से प्राप्त दानपत्रों की समस्या सुलझाने में अभी सफल नहीं हुए हैं। साधारणतः विश्वास किया जाता है कि चन्दावर की लड़ाई में गाहड़वार राजाओं का अन्त हो गया। फिर भी, बहुत बाद तक जयित्रचन्द्र के पुत्र महाराजा हरिश्चन्द्र के दानपत्र मिलते हैं। इधर तिब्बती यात्री धर्मस्वामी (जो 1232 से 33 तक बिहार में था) का यात्रा-विवरण प्रकाशित हुआ है, जिसमें लिखा है कि कोई चन्द्र नामक हिन्दू राजा तुर्कों की सहायता कर रहा था। चन्द्र का हरिश्चन्द्र होना सम्भव है।
23. अशोक चल्ल के दानपत्र बोधगया में प्राप्त हुए हैं। इन दानपत्रों में उन्हें सपादलक्ष (शिवालिक) का राजा बताया गया है।

24-25. तुलनीय—ताराभक्तिसुधार्णव, षष्ठ तरंग।

26. तुलनीय —ताराभक्तिसुधार्णव, सप्तम तरंग।

27. हाल ही में धर्मस्वामी नामक तिब्बती बौद्ध भिक्षु का यात्रा-विवरण प्रकाशित हुआ है। ये सन् 1232 ई. में आये थे। उन्होंने लिखा है कि नालन्दा में 7 मन्दिर, 14 बड़े और 84 छोटे विहार ध्वस्त हो गये थे। सिर्फ एक विहार बचा था, जिसमें प्रधानाचार्य राहुल भद्र सत्तर भिक्षुओं के साथ रहते थे। बुद्धगया के राजा बुद्धसेन इनकी मदद करते थे, पर उन्हें भी भागना पड़ा। तब ओदन्तपुरी के धनी ब्राह्मण जयदेव उन्हें सहायता पहुँचाने लगे। उन्हें तुर्कों ने कारागार में डाल दिया। तब भी वे सहायता पहुँचाते रहे। धर्मस्वामी ने भी राहुल भद्र से पढ़ा था। उन्होंने उनकी आयु 90 वर्ष लिखी है। कारागार में ही जयदेव को पता लगा था कि नालन्दा पर दूसरा आक्रमण होगा। उनसे सूचना पाकर भिक्षु लोग भाग गये, पर राहुल भद्र और धर्मस्वामी नहीं भागे।

28. तुलनीय—

कहौ तोहि प्रन्नाम मो सिद्धि देवी। प्रकारं सुधारं विवद्धी सुसेवी॥
अहौं मोकल्यौ हाहुली पास काजं। तितं प्रच्छमं माव सा क्रित्त राजं॥
कहौ कारनं अम्ब साराज अम्बी। पहं पंजली छंहि सीसं सुलम्बी॥
रहौ आप थट्टं दुअं पानि मण्डी। अगं कारनं जानि बोली न चण्डी॥

'पृथ्वीराजरासो'; छन्द 723-724

29. तुलनीय—भीता रुवंति कु कु क्विति ताम्रचूडा-
स्त्यक्त्वा रुतानि भयदान्यपराणि रात्रौ।
स्वस्थैः स्वभावविरुतानि निशावसाने
ताराणि राष्ट्रपुरपार्थिववृद्धिदानि॥

—वराहमिहिर की 'बृहत्संहिता' 88।34

30. तुलनीय —उच्चैर्वोरंवर्गमुच्चार्य पूर्वं पश्चात् क्रोशेत् क्रोष्टुकस्यानुरूपम्।
या सा क्षेमं प्राह वित्तस्य चाप्ति संयोगं वा प्रोषितेण प्रियेण॥

—'बृहत्संहिता', 90।15

***